हिन्दी

विश्व-भारती

ज्ञान विज्ञान का प्रामाणिक कोश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दी
विश्व-भारती

: ज्ञान-विज्ञान का प्रामाणिक कोश :

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिन्दी विश्व-भारती

ज्ञान-विज्ञान का प्रामाणिक कोश

भारत सरकार के अनुदान से प्रकाशित
हिन्दी के सुप्रसिद्ध ज्ञानकोश का
संशोधित संस्करण

संपादक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

खंड

१०

हिन्दी विश्व-भारती

ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की प्रमुख प्रकाशन-संस्था

कमलाश्रम, चारबाग, लखनऊ-२२६००१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक
राजराजेश्वरप्रसाद
कमलाश्रम, चारबाग, लखनऊ

4636
~~4627~~
~~4637~~

नवीन संशोधित संस्करण

सर्वाधिकार स्वरक्षित

मूल्य
प्रति खंड : चालीस रुपये

State Museum Library Lucknow

मुद्रक
मुद्रण-कला-मंदिर, लखनऊ,
तथा स्वस्तिक प्रिन्टिङ्ग प्रेस, लखनऊ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रंथ-परिचय

अपने जन्म के ३६ वर्ष बाद, 'हिन्दी विश्व-भारती' का यह पुनर्संस्करण प्रस्तुत करते समय, अब फिर से नए सिरे से उसका परिचय देने की वैसे तो कोई आवश्यकता नहीं है, कारण देश में ऐसी कोई भी हिन्दी की शिक्षण-संस्था अथवा पुस्तकालय नहीं है, जिनके लिए यह प्रकाशन आज एक अपरिचित या अज्ञात वस्तु हो। परन्तु चूँकि केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के आदेशानुसार उसके नवीन स्वरूप का निर्माण करते समय ग्रंथ की मूल रूपरेखा और व्यवस्था में बहुत-कुछ उलटफेर करना पड़ा है तथा उसकी सजधज आदि में भी एक क्रांतिकारी परिवर्तन का समावेश हुआ है, अतः उसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

सबसे पहले तो हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि पठन-सामग्री एवं उपादेयता के नाते यह ग्रंथ एक 'एनसाइक्लोपीडिया' (या विश्वकोश) की कोटि में निर्विवादतः परिगणित हो सकता है, तथापि इसे एक 'ज्ञानकोश' कहकर पुकारना हमने कहीं अधिक उपयुक्त समझा है; कारण, यह अकारादि क्रम से निर्मित कोई निर्देश-ग्रंथ नहीं है, जैसा कि आम तौर पर लोग 'एनसाइक्लोपीडिया' (या ज्ञानकोश) का अर्थ लगाते हैं। वस्तुतः इसका प्रयोजन एक सर्वतोमुखी शिक्षक की पूर्ति करना है – उस शिक्षक की नहीं, जो विद्यालय की चहारदीवारी के घरौंदे में अपने को सीमित रखते हुए, निरी टकसाली पाठ्यपुस्तकों की जानकारी करा देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठे, प्रत्युत एक ऐसे जीवन-पथप्रदर्शक की, जो मानव-जीवन के विकास से सम्बन्धित समस्त पहलुओं का ज्ञान कराकर हमारी बहुमुखी उन्नति में सहायक बन सके।

इसी अभिप्राय से 'हिन्दी विश्व-भारती' के इस संस्करण का नियोजन और निर्माण उसे एक विशिष्ट साँचे में ढालकर किया गया है। इसके आगे सूचित १६ भाग हैं, जिनके अंतर्गत दी जानेवाली पाठ्य-सामग्री का संकलन इस प्रकार किया गया है कि पहले अधिक सरल, रुचिकर एवं बोधगम्य विषय पाठकों के सामने आएँ, तदनंतर क्रमशः अधिक गम्भीर विषयों के साथ उनका साक्षात्कार हो। यही नहीं, एक ही विषय या विभाग की सामग्री पाठक के लिए बोझिल न बन जाय, इस उद्देश्य से उसे कई अंशों में विभक्त करके अलग-अलग खंडों में बिखेर दिया गया है – इस बात का ध्यान रखते हुए कि उसका नैसर्गिक तारतम्य टूटने या बिगड़ने न पाए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: 'हिन्दी विश्व-भारती' के विविध विभाग :

१. **विशाल मानव परिवार**—पृथ्वी के विभिन्न भूभागों में बिखरे हुए मानव-जाति के विशाल परिवार की विविध शाखाओं का परिचय । **(नृतत्व-शास्त्र)**

२. **प्रकृति पर विजय**—मनुष्य ने पहले-पहल औजार बनाना सीखा, तब से वायुयान, रेडियो, टेलीविजन और कृत्रिम उपग्रहों के निर्माण के इस युग तक मनुष्य द्वारा प्रकृति पर विजय पाने की अमर गाथा । **(आविष्कार, अनुसंधान, आदि)**

३. **विश्व की झाँकी**—दृश्य जगत् के अनन्त रूप—सर्वव्यापक आकाश—के अंचल में बिखरे हुए कोटि-कोटि नक्षत्रों, नीहारिकाओं एवं ग्रहों-उपग्रहों की कहानी । **(ज्योतिष)**

४. **जन्तु-जगत्**—भाँति-भाँति के रंग-रूप और विविध प्रकार के रहन-सहनवाले अनगिनत प्राणियों की अद्भुत जीवनलीला का मनोरंजक विवरण । **(जीव-विज्ञान)**

५. **मनुष्य की युगयात्रा**—संगी-साथी जानवरों को पीछे छोड़ता हुआ मनुष्य जिस दिन जंगलों से बाहर निकला था, तब से आज तक की उसकी विकास-यात्रा की गौरव-गाथा । **(विकासवाद, इतिहास, आदि)**

६. **हमारी क्रीड़ाभूमि पृथ्वी**—जिस पर अपने जीवन का खेल रचकर हम इस ब्रह्माण्ड की यात्रा कर रहे हैं, उस धरती की भौतिक और भौगोलिक रूपरेखा का परिचय । **(भूविज्ञान और भूगोल)**

७. **वनस्पति-संसार**—जिनके बिना हमारी यह धरती एक विशाल मरुप्रदेश जैसी होती और किसी भी प्राणी का उस पर पैदा होना या जीवित रहना असंभव होता, उन अचरजभरे पेड़-पौधों की कहानी । **(वनस्पति-विज्ञान)**

८. **महापुरुष**—मनुष्य जाति के उन महान् प्रकाशस्तम्भों का परिचय, जो अपनी ज्योति द्वारा युग-युग तक हमारे अंधकारमय पथ को आलोकित कर संसार का पथ-निदर्शन करते रहेंगे । **(जीवन-चरित्र)**

९. **द्रव्य-जगत्**—उन तत्त्वों और प्राकृतिक शक्तियों की कहानी, जिनसे विश्व के भौतिक कलेवर की रचना हुई है, तथा जिनके समवाय से इस सृष्टि का संचालन होता है । **(भौतिक और रसायन विज्ञान)**

१०. **मानव-शरीर**—जीव-जगत् के एक सदस्य के नाते मनुष्य के स्थूल भौतिक कलेवर की रचना एवं क्रिया-प्रक्रियाओं का अध्ययन । **(शरीर-शास्त्र)**

११. **कला**—शिल्प, संगीत और नृत्य आदि के रूप में अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती हुई चिरतन मानवीय पिपासा और उसके फलस्वरूप उपजी अद्भुत भावसृष्टि की कहानी । **(चित्रकला, शिल्प, संगीत, आदि)**

१२. **भारतभूमि**—अपनी मातृभूमि की भौतिक रूपरेखा और सांस्कृतिक विरासत की झाँकी । **(भारत-दर्शन)**

१३. **समाज**—मनुष्य-जीवन के सामुहिक स्वरूप और उससे उत्पन्न आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं का विवेचन **(समाज-विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र)**

१४. **साहित्य**—दृश्य जगत् का अनुभव-ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ विचारों और भावनाओं के कल्पनालोक में अनुभूत भावों को भाँति-भाँति के प्रबन्ध-जाल में बुनकर अक्षरबद्ध अथवा छंदोबद्ध करने का जो प्रयास मानव मस्तिष्क द्वारा किया गया है, इसकी रोचक कहानी । **(विश्व-साहित्य)**

१५. **मनोविज्ञान**—जिसकी बदौलत उन्नति की दौड़ में अन्य जीवधारियों को पीछे छोड़कर मनुष्य कहाँ से कहाँ उठ गया है, उसकी उस अद्भुत संपत्ति 'मस्तिष्क' या 'मन' की रहस्यमयी क्रिया-प्रक्रियाओं का परिचय । **(मनोविज्ञान)**

१६. **सत्य की खोज**—एक अद्भुत पहेली की तरह हजारों वर्षों से मनुष्य की बुद्धि को उलझन में डाले हुए इस अचरजभरे सृष्टि-प्रपंच के रहस्यों के संबंध में संचित तत्व-ज्ञान का विवेचन । **(दर्शन तथा अध्यात्म)**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेखक-मंडल

डॉ० गोरखप्रसाद, डी०एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, आचार्य, गणित-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय ।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, डी० एस-सी० (लंदन), अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय; तदनंतर उप-कुलपति, सागर-विश्वविद्यालय ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पी-एच०डी०, डी० लिट्, अध्यक्ष, प्राच्यविद्या - विभाग काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय ।

श्री वीरेश्वर सेन, एम० ए०, वाइस-प्रिंसिपल, राजकीय कला-महाविद्यालय एवं तदनंतर डायरेक्टर, डिजाइन सेंटर, लखनऊ ।

डॉ० शिवकण्ठ पांडे, डी० एस-सी०, आचार्य, वनस्पति-विज्ञान-विभाग, लखनऊ विश्व-विद्यालय ।

श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम०एस-सी० एल-एल० बी०, आचार्य, भौतिक विज्ञान, धर्मसमाज-कॉलेज, अलीगढ़ ।

श्री श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०,प्राध्यापक, जीवविज्ञान-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय ।

श्री मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, प्रिंसिपाल, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ ।

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्य, इतिहास-विभाग, विक्रम-विश्वविद्यालय ।

डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० सत्यनारायण, पी-एच० डी० (हाइडेल-बर्ग), प्रख्यात लेखक, पत्रकार एवं भू० संसद सदस्य ।

श्री रामनिहोर चतुर्वेदी,एम० ए०,एल०टी०, प्रिंसिपाल, महात्मा गांधी विद्यालय, बछरावाँ (रायबरेली)

डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० शंकरलाल यादव, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिन्दी - विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डॉ० जे० एन० राय, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, वनस्पति-विज्ञान विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० सी० एस० अवस्थी, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय ।

श्री रामनारायण कपूर, बी० एस-सी०, मेटलार्जिस्ट, इंडियन आयर्न एण्ड स्टील कं०, पश्चिमी बंगाल ।

श्री हरीश चन्द्र निगम, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, जीव-विज्ञान-विभाग, क्रिश्चियन-कॉलेज, लखनऊ ।

श्री श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न, अतिरिक्त जिला जज, मध्य प्रदेश ।

श्री तिलकसिंह परमार, एम०ए०, साहित्य-रत्न, भूतपूर्व संपादक, 'पांचजन्य' ।

श्री चन्द्रोदय दीक्षित, एल-एल० एम०, संपादकीय विभाग, 'पायनियर' लखनऊ ।

श्री रामकृष्ण अवस्थी, एम० ए०, संपादकीय विभाग, 'नेशनल हेराल्ड,' लखनऊ ।

श्री शिवप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, बी०एड०, प्राध्यापक, महात्मा गांधी महाविद्यालय, बछरावाँ ।

श्री रमेशदत्त मिश्र, एम० ए०, दर्शन-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

श्री भुवनेश्वर, लेखक एवं नाटककार ।

श्री नीलकण्ठ तिवारी, एम० ए०, कवि एवं गीतकार ।

श्री ब्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ ।

श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र, 'अरुण', लेखक एवं पत्रकार, लखनऊ ।

श्री रमाकान्त शास्त्री, भूतपूर्व संपादक, 'संघर्ष', लखनऊ ।

श्री सदाशिव शुक्ल, बी० ए०, अध्यापक, मंसादीन शुक्ल इन्टर कॉलेज, लखनऊ ।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, प्राध्यापक, आई० टी कॉलेज, लखनऊ ।

श्री गोविन्दनारायण नातू, एम० म्यु०, प्रिंसिपाल, भातखण्डे संगीत-महाविद्यालय, लखनऊ ।

श्री एम० एस० कल्याणपुरकर, नृत्य-निपुण, अध्यक्ष, नृत्य-विभाग, भातखण्डे संगीत-महाविद्यालय, लखनऊ ।

श्रीमती वैण्डी वोहरा ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषयानुक्रम

: वनस्पति-संसार :

पौधे के विशेषांग--(२) फूलों का कार्य :: परागण तथा गर्भाधान [डॉ० जे० एन० राय]

परागण-क्रिया—स्वयं-परागण—पर-परागण—गर्भाधान।

पृ० ३६१९-३६२३

पौधे के विशेषांग--(३) फल :: रचना, भेद और विकिरण [डॉ० जे० एन० राय]

एकिफल—पुंजफल—संग्रथित फल—फलों एवं बीजों का विकिरण—वायु द्वारा विकिरण—जल द्वारा विकिरण—जन्तुओं द्वारा विकिरण—फलों के स्वयंस्फुटन द्वारा विकिरण-क्रिया।

पृ० ३६२४-३६३०

पौधे के विशेषांग--(४) बीज का विकास, रचना तथा अंकुरण [डॉ० जे० एन० राय]

भ्रूण का विकास :: भ्रूणपोष—बीजों की रचना—बीजों का अंकुरण—उपरिभूमिक अंकुरण—अधोभूमिक अंकुरण—अंकुरण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ।

पृ० ३६३१-३६३७

पौधों के समुदाय विशेष :: वातावरण के प्रति अनुकूलता [डॉ० जे० एन० राय]

जलोद्भिद (हाइड्रोफाइट्स)—समुद्भिद (मीजोफाइट्स)—शुष्कोद्भिद (जीरोफाइट्स)—आर्द्रतोद्भिद (हाइग्रोफाइट्स)—लवणोद्भिद (हैलोफाइट्स)।

पृ० ३६३८-३६४४

: साहित्य :

पाश्चात्य वाङ्मय--(१) लैटिन, इटैलियन, जर्मन, स्पेनिश, फ्रेंच साहित्य [डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित]

लैटिन साहित्य का स्वर्णयुग :: वर्जिल, होरेस, ओविद—ईसाई साहित्यकार—पुर्नजागरण-युग—**इटैलियन साहित्य**—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाकवि दाँते—पेट्रार्क और बोकाचियो—मध्यकालीन काव्य और नाटक—गोल्डोनी, आल्फियेरी और मान्जोनी—लियोपार्डी, कार्डूची, द-एनुनजिओ, पिरेन्डेलो आदि—**जर्मन साहित्य**—लेसिंग, हरडर, आदि—गेटे, शिलर, हाइने—यथार्थवादी धारा का विकास—आधुनिक काल—**स्पेनिश साहित्य**—सरवान्तिस और एनसीना—१८वीं शताब्दी और उसके बाद—**फ्रेंच साहित्य**—राबेले, काल्वें, मॉन्टेन—सत्रहवीं शताब्दी :: कोरनिल, रासिन, मौलिये, ला फॉन्तेन, बूलों—अठारहवीं शताब्दी :: वाल्तेयर, मॉन्टेस्क, रूसो—दिदेरो, द-लेम्बर्त, लि साग आदि—उन्नीसवीं शताब्दी—उपन्यास :: ह्यूगो, बाल्जाक, फ्लोबेयर—दोदे, मोपासाँ, जोला, ड्यूमा—बीसवीं शताब्दी :: उपन्यास :: अनातोले फ्रान्स, प्रूस, आन्द्रे जीद, रोम्या रोलाँ आदि—काव्य :: वेलेरी आदि—नाटक :: मेटरलिंक और रोस्तेन्द—अस्तित्ववादी धारा :: सार्त्र आदि।

पृ० ३६४७-३६६५

पाश्चात्य वाङ्मय—(२) अंग्रेजी साहित्य :: १८ वीं शताब्दी तक [श्री० भुवनेश्वर]

वीरगाथा-काल की उपलब्ध कृतियाँ—गद्य का आरम्भ—फ्रेंच का प्रभाव—अंग्रेजी काव्य का उत्कर्ष :: महाकवि चॉसर—इस युग के अन्य साहित्यकार—अंग्रेजी साहित्य का पुनरुज्जीवनकाल :: एलिजाबेथन युग—गद्य :: फ्रान्सिस बेकन—पद्य :: स्पेन्सर, डॉन, मार्लो, शेक्सपियर, बेन जान्सन—नाटक :: मार्लो, शेक्सपियर और बेन जान्सन—महाकवि शेक्सपियर—शेक्सपियर के बाद :: रेस्टोरेशन-काल—काव्य—गद्य—नाटक—अठारहवीं शताब्दी—गद्य—उपन्यास और कहानी—काव्य—नाटक।

पृ० ३६६६-३६८३

पाश्चात्य वाङ्मय—(३) अंग्रेजी साहित्य :: १९वीं-२०वीं शताब्दी [डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव]

वर्डस्वर्थ, कोलरिज, बायरन, शेली और कीट्स—विक्टोरियन युग :: काव्य :: टेनिसन, ब्राउनिंग, मैथ्यू आर्नल्ड, आदि—उपन्यास :: जेन ऑस्टिन और वाल्टर स्कॉट—डिकेन्स, थेंकरे, हार्डी, मेरेडिथ, आदि—उन्नीसवीं सदी में नाटक—गद्य :: कार्लाइल, रस्किन, मेथ्यू आर्नल्ड आदि—बीसवीं शताब्दी :: काव्य :: यीट्स, इलियट, आदि—नाटक :: बर्नार्ड शॉ, आदि—उपन्यास :: गिसिंग, किपलिंग, वेल्स, गाल्सवर्दी, हक्सले, समरसेट मॉम, आदि—अमेरिकन साहित्य।

पृ० ३६८४-३६९५

पाश्चात्य वाङ्मय—(४) नार्वेजियन और स्वीडिश साहित्य [डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव]

नया मोड़ :: होल्बर्ग और बर्गलैण्ड—युगप्रवर्तक नाटककार इब्सन—नार्वेजियन साहित्य की महाविभूति ब्योर्न्सन—नवरोमान्टिक धारा :: योनास ली और गर्बोर्ग—आधुनिक काल :: क्नुत हाम्सुन, सीग्रिद उन्डसेत, आदि—**स्वीडिश साहित्य**—मध्ययुगीन साहित्य-सृष्टा—स्वीडिश साहित्य का स्वर्णयुग—उपन्यासों और नाटकों का युग—स्ट्रिन्डबर्ग और हाइडेन्स्टाम—बीसवीं सदी।

पृ० ३६९६-३७०१

पाश्चात्य वाङ्मय—(५) रूसी साहित्य [डॉ० शंकरलाल यादव]

प्राचीन काल :: (क) कीव-युग; (ख) सामन्ती-युग; (ग) मास्को-युग—वर्तमान काल :: पुश्किन से पहले—अलेक्जेंडर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सर्जेविच पुश्किन—पुश्किन के बाद :: लेरमोन्तोव, गोगोल, आदि—तुर्गनेव—तॉल्स्ताय—दास्त्वाएव्स्की—एंटन च्येखव—मैक्सिम गोर्की।

पृ० ३७०२-३७०८

अरबी और फारसी साहित्य [डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित]

'कसीदा' आदि काव्य-शैलियों का विकास—'कुरान शरीफ'—अरबी साहित्य का नया युग :: महान् अनुवाद-कार्य—इतिहास, भाषाशास्त्र और काव्य के ग्रंथ—अलिफलैला या सहस्ररजनीचरित्र—अरबी साहित्य का वर्तमान युग—**फारसी साहित्य**—सासानी युग की महान् वसीयत—फारसी लिपि और साहित्य का प्रादुर्भाव—फारसी का पहला महाकवि रुदागी—'शाहनामा' का रचयिता महाकवि फिरदौसी—महाकवि निजामी—उमर खैयाम—शेख सादी और हाफिज शीराजी।

पृ० ३७०९-३७१४

ः मनुष्य की युगयात्रा ः

मध्यकालीन योरप :: मुख्य युग-प्रवृत्तियाँ [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

मध्यकालीन योरप की मुख्य प्रवृत्तियाँ :: १. चर्च के प्रभाव में वृद्धि; २. पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना; ३. सामन्त-प्रणाली का विकास; ४. चर्च और राज्य का संघर्ष; ५. धर्म-युद्ध (१०९५-१२९१ ई०); ६. नगरों का विकास—मध्यकालीन योरप की दशा—मध्यकालीन योरप की देन।

पृ० ३७१७-३७३३

सांस्कृतिक पुनरुत्थान और धर्म-सुधार आन्दोलन [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

सांस्कृतिक पुनरुत्थान—धर्म-सुधार आन्दोलन—इंगलैण्ड में धर्म-सुधार—धार्मिक असहिष्णुता का नंगा नाच—'धर्म-सुधार विरोधी आन्दोलन'—धर्म-सुधार आन्दोलन का परिणाम।

पृ० ३७३४-३७४३

निरंकुश राष्ट्रीय राजतंत्रों का उदय और विकास [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

स्पेन—फ्रांस—ऑस्ट्रिया, प्रशा (जर्मनी) तथा रूस—इंगलैण्ड।

पृ० ३७४४-३७५२

उत्तरमध्यकालीन भारत :: मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

बाबर (१४८३-१५३० ई०)—हुमायूँ (१५३०-१५५६ ई०)—अफगानों का पुनरोदय :: शेरशाह सूरी—अकबर (१५५६-१६०५ ई०)—जहाँगीर (१६०५-१६२७ ई०)—शाहजहाँ (१६२७-१६५८ ई०)—औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०)—मराठों का उत्कर्ष :: छत्रपति शिवाजी—मुगल साम्राज्य का क्षय एवं अवसान—मुगल-शासन-व्यवस्था—आर्थिक परिस्थिति—शिक्षा, साहित्य आदि।

पृ० ३७५३-३७६४

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महान् पटपरिवर्तनकारी हलचलें :: आर्थिक, बौद्धिक, राजनीतिक [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

१. औद्योगिक क्रान्ति—२. उपनिवेशवाद :: उद्‌भव और प्रसार—३. निरंकुश राजतंत्रों का ह्रास और प्रजातांत्रिक शक्तियों का उत्थान—४. अमेरिकन स्वातंत्र्य-संग्राम—५. बौद्धिक क्रान्ति—६. फ्रांस की राज्य-क्रान्ति; नेपोलियन बोनापार्ट—७. प्रतिक्रिया की लहर और क्रान्ति का पुनरुत्थान।

पृ० ३७६५-३७८१

उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीय और साम्राज्यवादी लहरें [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

इटली की स्वाधीनता—जर्मनी का एकीकरण—भारत में साम्राज्यवाद का प्रसार—१८५७ ई० की भारतीय क्रान्ति—प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम के क्रान्तिकारी नेता—चीन में उथलपुथल—जापान का उदय—लोकतंत्र का विकास—साम्राज्यवाद—समाजवाद एवं साम्यवाद की लहर।

पृ० ३७८२-३७९५

प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध और बीसवीं सदी की अन्य हलचलें [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

गुटबन्दी का विषैला वातावरण—प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात—तुर्की का उत्थान—राष्ट्र-संघ (लीग ऑफ नेशन्स)—अधिनायकतंत्र बनाम लोकतंत्र—रूस की राज्य-क्रान्ति :: लेनिन—इटली में फासिस्टवाद और मुसोलिनी का उदय—हिटलर का अभ्युत्थान :: नाजी जर्मनी—द्वितीय महायुद्ध—संयुक्त राष्ट्र-संघ (युनाइटैड नेशन्स)—भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन—विश्व-शान्ति की समस्या।

पृ० ३७९६-३८१०

: विशाल मानव परिवार :

संसार के देश और उनके निवासी—(१) एशिया महाद्वीप [श्री चन्द्रोदय दीक्षित]

नेपाल—लंका—पाकिस्तान—बर्मा—थाईलैंड—मलयेशिया—उत्तरी और दक्षिणी वीतनाम—लाओस और कम्बोडिया—हिन्देशिया—फिलीपाइन्स—जापान—कोरिया—चीन—फारमोसा - ताइवान्—तिब्बत—मंगोलिया—अफगानिस्तान—ईरान—इराक—सीरिया—लेबनान—जोर्डान—सऊदी अरब—यमन, अदन, आदि—इसराइल।

पृ० ३८१३-३८४८

संसार के देश और उनके निवासी—(२) अफ्रीका महाद्वीप [श्री चन्द्रोदय दीक्षित]

संयुक्त अरब गणराज्य—**उत्तरी अफ्रीका** :: अलजीरिया :: मोरक्को :: ट्यूनीसिया :: लीबिया :: स्पेनिश पश्चिमी अफ्रीका :: सहारा रेगिस्तान—**मध्य अफ्रीका** :: घाना :: नाइजीरिया :: सूदान :: कांगो-संघ :: इथियोपिया :: केनिया, उगांडा और टंगानिका :: जंजीबार :: सोमालीलैंड—**दक्षिण अफ्रीका** :: दक्षिण अफ्रीकी संघ-राज्य :: मोजाम्बिक :: मैडागास्कर :: दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका :: रोडेशिया :: बसूतोलैंड :: बेचुआनालैंड :: स्वाजीलैंड :: अंगोला।

पृ० ३८४८-३८५९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसार के देश और उनके निवासी—(३) यूरोप [श्री चन्द्रोदय दीक्षित]

नार्वे—स्वीडन—डेनमार्क—ग्रेट ब्रिटेन—आयलैंड—हॉलैंड—बेल्जियम—फ्रांस — स्पेन — पुर्तगाल — इटली—स्विट्जरलैंड—जर्मनी—ऑस्ट्रिया—हंगरी— चैकोस्लोवाकिया—पोलैण्ड— फिनलैंड — सोवियत रूस— **बालकन प्रदेश** :: युगोस्लाविया :: यूनान :: बलगारिया :: रूमानिया :: अल्बानिया—तुर्की।

पृ० ३८६०-३९१०

संसार के देश और उनके निवासी--(४) उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका [श्री चन्द्रोदय दीक्षित]

कनाडा—संयुक्त राज्य—मैक्सिको—**मध्य अमेरिका** :: ग्वाटामाला :: हांडुरास :: एल सलवाडोर :: निकारागुआ :: कोस्टारीका :: पनामा :: क्यूबा, हैती, आदि पश्चिमी द्वीप-समूह के देश—**दक्षिणी अमेरिका** :: ब्राजील :: अर्जेन्टाइना :: बोलीविया :: चाइल :: कोलम्बिया :: इक्वेडोर :: पीरू :: परागुए :: उरूगुए :: वेनुजुला :: गायना-क्षेत्र।

पृ० ३९११-३९२८

संसार के देश और उनके निवासी--(५) ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड [श्री चन्द्रोदय दीक्षित]

ऑस्ट्रेलिया—न्यूजीलैंड।

पृ० ३९२९-३९३२

: महापुरुष :

आधुनिक भारत की दो महाविभूतियाँ--श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानंद [श्री सदाशिव शुक्ल]

आरंभिक जीवन :: विचित्र भावोन्माद—परम सिद्धि के शिखर पर—उनके उपदेशों का सार—**स्वामी विवेकानन्द** :: आरम्भिक जीवन—श्रीरामकृष्ण के चरणों में—परिव्राजक के रूप में देश-भ्रमण—अमेरिका में :: विश्व-धर्म-परिषद् में शंखनाद—वापस स्वदेश में :: भाषणों का ताँता—'रामकृष्ण-मिशन' का संगठन और इहलोक से प्रयाण।

पृ० ३९३५-३९४१

'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' के महान् उद्गाता :: विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर [श्री सदाशिव शुक्ल]

साहित्य-साधना के प्रथम अंकुर—विश्व-भारती की स्थापना—पारिवारिक आघात और नई दिशाएँ—विदेशों में ख्याति और नोबल-पुरस्कार द्वारा सम्मान—रवीन्द्रनाथ की चित्रकला।

पृ० ३९४२-३९४६

भारतीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन के महान् सूत्रधार :: लोकमान्य तिलक [श्री सदाशिव शुक्ल]

जीवन की आरम्भिक पृष्ठभूमि—सार्वजनिक क्षेत्र में—कांग्रेस में उग्र पक्ष के प्रतिपादक—महान् तत्त्वदर्शी विद्वान्—'जनता के देवता'—लौह-पुरुष।

पृ० ३९४७-३९४९

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य जगत् की अनोखी विभूति :: लिओ ताल्स्ताय [श्री ब्रजमोहन तिवारी]

मानव दुःखी क्यों है :: वह प्रकृति की तरह मुक्त क्यों नहीं—साहित्य के आँगन में पहला कदम—विवाह और पारिवारिक जीवन—व्यक्तिगत जीवन की कुछ झाँकियाँ—ताल्स्ताय की कृतियाँ।

पृ० ३९५०-३९५४

'सत्य' और 'अहिंसा' के अवतार :: राष्ट्रपिता महात्मा गांधी [श्री सदाशिव शुक्ल]

जन्मजात सत्यनिष्ठा :: विद्यार्थी-जीवन के प्रसंग—वकालत का आरंभ :: अफ्रीका में—स्वदेश वापस आए :: स्वाधीनता-आन्दोलन—महान् शान्ति-दूत—बलिदान—उनकी महान् देन का अंदाज कोई क्या करे।

पृ० ३९५५-३९५९

स्वतंत्र भारत के कर्णधार :: पं० जवाहरलाल नेहरू [श्री सदाशिव शुक्ल]

जीवन की प्रारंभिक पृष्ठभूमि—राजनीति के प्राङ्गण में :: गांधीजी से भेंट—कांग्रेस का नेतृत्व और जेल-यात्राएँ—स्वाधीनता-प्राप्ति :: प्रथम प्रधान मंत्री—नवनिर्माण के भगीरथ—अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व :: शान्ति के महान् पृष्ठ-पोषक—साहित्यकार नेहरू।

पृ० ३९६०-३९६३

आधुनिक विज्ञान के युग-पुरुष :: अलबर्ट आइन्स्टाइन [श्री सदाशिव शुक्ल]

प्रारंभिक जीवन की झलक—विज्ञान का महान् मोड़ :: सापेक्षवाद के सिद्धान्त की प्रस्थापना—महान् मानवतावादी।

पृ० ३९६४-३९६६

: सत्य की खोज :

दर्शन—क्या और क्यों :: तत्त्व-साक्षात्कार की भूख या 'जिज्ञासा' [डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल]

महान् जिज्ञासु नचिकेता—दर्शन :: क्या और क्यों—'फिलासफी' और 'आन्वीक्षिकी' का अर्थ-भेद—निरा बुद्धि-कुतूहल दर्शन नहीं।

पृ० ३९६९-३९७१

भारतीय दर्शन :: विविध धाराएँ और सम्प्रदाय [डॉ० सी० एस० अवस्थी]

भौतिकवादी धारा :: लोकायत या चार्वाक दर्शन—बौद्ध दर्शन—जैन दर्शन—सांख्य दर्शन—योग दर्शन—वैशेषिक और न्याय दर्शन—पूर्व मीमांसा दर्शन—उत्तर मीमांसा या वेदान्त।

पृ० ३९७२-३९७७

पाश्चात्य दर्शन :: प्रमुख चिन्तन-धाराएँ CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh [श्री रमेशदत्त मिश्र]

आदि काल :: प्राचीन यूनान की चिन्तन-धारा—मध्यकाल :: ईसाई तत्त्व-चिन्तक—पुनर्जागरण-काल की विचार-धारा—आधुनिक काल :: बुद्धिवाद का उदय—प्रत्ययवाद—विविध विचारधाराओं के समन्वय का प्रयत्न :: काण्ट, फिख्ते, हेगेल आदि महान् जर्मन तत्त्ववेत्ताओं का युग—अन्य धाराएँ—विकासवाद—हेगेल के बाद की जर्मन विचार-धारा—नवीन प्रत्ययवाद—व्यावहारिक उपयोगितावाद—स्फूर्तिवाद—नवीन वस्तुवाद—तार्किक विश्लेषण तथा अनुभववाद—तार्किक भाववाद—अस्तित्ववाद।

पृ० ३९७८-४०००

* * *

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

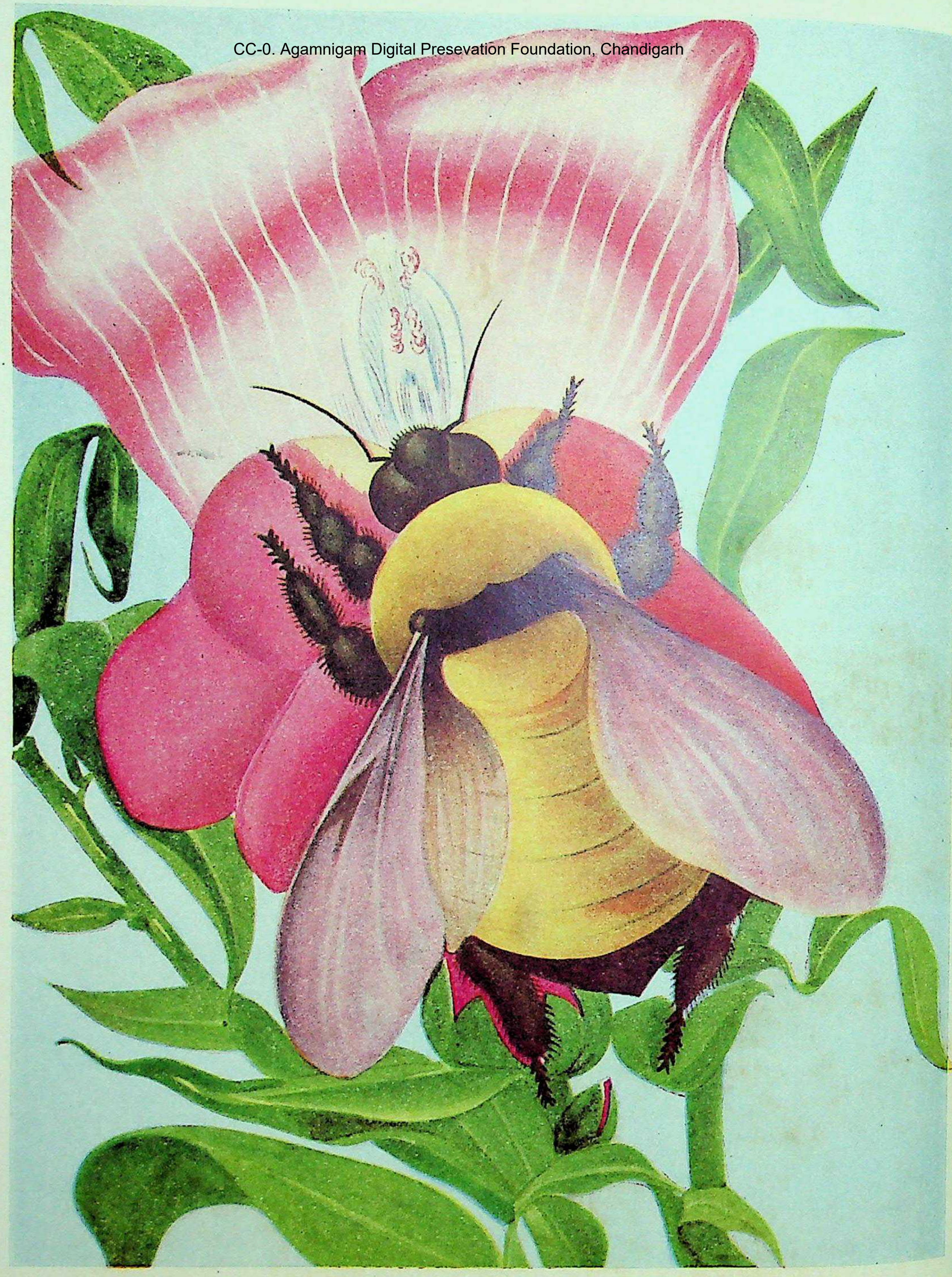

परागण-क्रिया की एक महत्वपूर्ण विधि :: कीट-परागण

फूलों के भड़कीले रंग और मधुर सुगन्ध से आकर्षित होकर मधुमक्खी, भौंरे, तितली आदि मकरन्द के लोभी कीट उन पर पहुँचा करते हैं। चूँकि मकरन्द-कोष पुष्प के अंदर बहुधा दलों के निचले भाग में छिपे रहते हैं, अतः उन तक पहुँचने के प्रयास में सहज ही इन कीटों के अंगों पर पुष्प के परागकण चिपक जाते हैं। जब ये ही कीट उड़कर अन्य पुष्पों पर जाते हैं, तो उनके संपर्क से ये परागकण उन पुष्पों के चिपचिपे वर्तिकाग्रों पर छूट जाते हैं। इस प्रकार परागण की क्रिया संपन्न हो जाती है [दे० पृ० ३६२१-३६२२ का मैटर]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पौधे के विशेषांग—(२)
फूलों का कार्य :: परागण तथा गर्भाधान

हमारी दृष्टि में फूल सौन्दर्य के प्रतीक हैं—उनकी सुन्दरता और सुगन्ध से हम सभी परिचित हैं। परन्तु पौधे के निजी जीवनक्रम में फूलों का अपना विशिष्ट महत्व है—उसके लिए फूलों के सौन्दर्य और सुगन्ध का विशेष प्रयोजन है। ये उसके एक महत्वपूर्ण कार्य—लैंगिक प्रजनन—को सम्पन्न करने में सहायक होते हैं। फूलों में 'लैंगिक प्रजनन' के उपरान्त ही फल उपजते, जिनसे बीजों की उत्पत्ति होती है। इसी क्रिया के फलस्वरूप नए पौधों का जन्म होता है और उनकी वंश-वृद्धि होती है। प्रस्तुत और आगे के अध्यायों में इसी महत्वपूर्ण विषय का विवेचन किया जा रहा है।

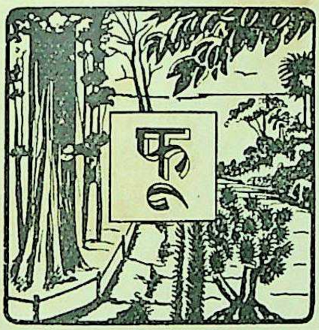

फूलों की रचना विषयक पिछले प्रकरण में आप देख चुके हैं कि साधारणतया पुष्प में चार चक्र होते हैं। सर्वप्रथम बाहर की ओर 'वाह्यदल चक्र' होता है, जिसकी पत्तियाँ हरी होती हैं। तदुपरान्त रंगीन एवं आकर्षक पत्तियोंवाला वह भाग होता है, जिसे 'दलचक्र' कहते हैं। तृतीय चक्र 'पुमंग' (लिंगचक्र) का होता है और अन्तिम मध्यस्थित चक्र 'जायांग' (योनिचक्र) का होता है। पुमंग और जायांग, जो क्रमशः पौधे के नर और मादा अंगों के समूह होते हैं, फूलों के 'आवश्यक अंग' कहे जाते हैं, क्योंकि इन्हीं विशेषांगों के द्वारा पौधों में 'लैंगिक प्रजनन' होता है। प्रत्येक नर अंग को 'पुंकेसर' और स्त्री या मादा अंग को 'स्त्री-केसर' कहते हैं।

परागण-क्रिया

पौधों में फूलों का मुख्य कार्य 'लैंगिक प्रजनन' ही है। यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है, जब स्त्रीकेसर के अन्दर स्थित बीजाण्डों का परागकणों से उत्पन्न नर-युग्मकों द्वारा गर्भाधान हो। फूलों में स्त्रीकेसर और पुंकेसर दो पृथक्-पृथक् अंग हैं, अतएव गर्भाधान के लिए यह आवश्यक है कि पुंकेसर के परागकोष से निकलकर परागकण किसी प्रकार स्त्रीकेसर के वर्तिकाग्र तक पहुँचें। परागकणों के परागकोष से निकलकर स्त्रीकेसर के वर्तिकाग्र तक पहुँचने की इस क्रिया को 'परागण' कहते हैं। पौधों में परागण की अनेकों विधियाँ तथा माध्यम हैं। फूलों के अनावश्यक प्रतीत होनेवाले अंग—विशेषकर दलचक्र—इस कार्य को पूरा करने में विशेष रूप से सहायक होते हैं।

फूलों में परागण साधारणतया दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम ऐसी अवस्था में होता है, जब किसी एक फूल के परागकण उसी फूल के वर्तिकाग्र पर या उसी पौधे के किसी दूसरे फूल के वर्तिकाग्र पर जा गिरें। इस प्रकार की अवस्था में होनेवाले परागण को 'स्वयं-परागण' कहते हैं। जब एक फूल के परागकण किसी अन्य पौधे पर स्थित फूल के वर्तिकाग्र पर जा गिरें (जिसके लिए यह आवश्यक है कि यह दूसरा पौधा उसी जाति या 'स्पीसीज' का हो), तो इस प्रकार होनेवाले परागण को 'पर-परागण' कहते हैं। साधारणतया पर-परागण से उत्पन्न होनेवाले बीज स्वयं-परागित फूलों से उत्पन्न बीजों से संख्या में अधिक और अच्छे पौधों को जन्म देनेवाले होते हैं।

स्वयं-परागण

ऐसे फूलों में जिनमें स्वयं-परागण होता है, कुछ ऐसी प्राकृतिक रचनात्मक विशेषताएँ एवं अंग होते हैं, जिनसे उनके लिए परागण सरल हो जाता है। इन्हीं विशिष्टताओं का संक्षेप में यहाँ हम उल्लेख करेंगे।

स्वयं-परागित फूलों के लक्षण—साधारणतया ऐसे सभी फूल, जिनमें स्वयं-परागण होता है, द्विलिंगी होते हैं एवं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके परागकण तथा बीजाण्ड एक साथ पककर तैयार होते हैं। इक्सोरा, गार्डीनिया और विंका (सदाबहार) के फूल इसके विशिष्ट नमूने हैं। इन फूलों में पुंकेसर की स्थिति प्रायः ऐसी होती है कि उनके परागकोश स्त्रीकेसर के वर्तिकाग्र से ऊँचे उठे रहते हैं। पुंकेसर के पकते ही परागकण परागकोष से निकलकर वर्तिकाग्र पर गिर पड़ते हैं। ऐसे फूल प्रायः बहुत छोटे और अनाकर्षक होते हैं, क्योंकि परागण के लिए इन्हें कीटों आदि को आकर्षित करने की आवश्यकता नहीं होती। अनेक स्वयं-परागित फूल ऐसे भी हैं, जो कली की अवस्था ही में रहते हैं--वे कभी खुलते नहीं। फूलों के न खिलने पर भी बन्द कली में पुंकेसर और स्त्रीकेसर बनते रहते हैं। परागकणों के पककर तैयार होते ही परागकोष फट जाता है और परागकण अविकसित फूल के वर्तिकाग्र पर गिर पड़ते हैं। कोमेलिना, पैन्जी और ड्रासेरा के फूलों में परागण इसी विधि से सम्पन्न होता है।

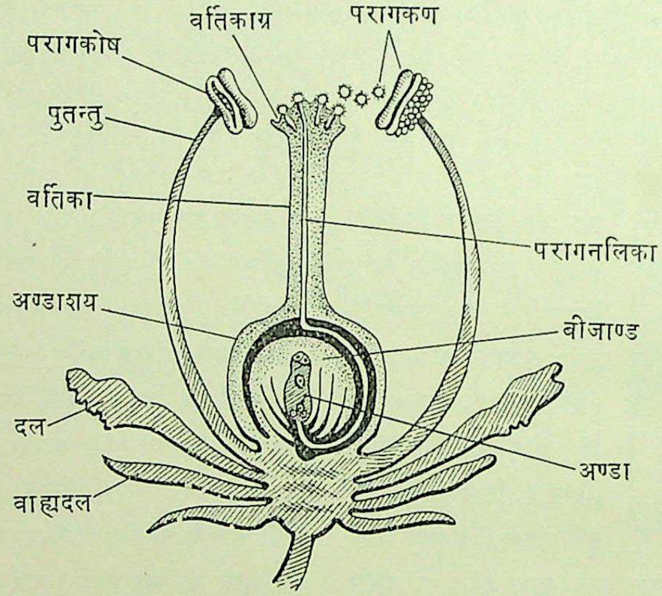

पुष्प में गर्भाधान की क्रिया :: फूल को लंबा काटकर विभिन्न अंग दिखाए गए हैं। वर्तिकाग्र पर अंकुरित परागकण और वर्तिका से होकर बीजाण्ड तक पहुँचती हुई परागनलिका देखिए। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]

स्वयं-परागित फूलों में परागण के लिए किसी विशेष माध्यम की आवश्यकता नहीं होती, जैसी कि पर-परागित फूलों के लिए अनिवार्य है। कुछ स्वयं-परागित पौधों में कीटों के माध्यम से भी अनायास ही परागण सम्पन्न हो जाता है, परन्तु इसके लिए उन कीट-विशेषों का होना अनिवार्य नहीं है। ऐसा कतिपय स्वयं-परागित फूलों में हो जाता है, जिसमें मधुमक्खियाँ एक वृक्ष के फूल के परागकणों को दूसरे वृक्ष के फूल के वर्तिकाग्र पर पहुँचाती रहती हैं। अतएव अवस्थानुसार स्वयं-परागित फूलों में पर-परागण भी हो जाता है।

सूर्यमुखी-वंश के फूल, जिनमें साधारणतया पर-परागण होता है, किसी विशेष परिस्थिति में स्वयं-परागित भी होते हैं। पुष्पी पादपों में सूर्यमुखी-वंश एक बहुत सफल कुल माना गया है, क्योंकि इसके वंशजों की संख्या अन्य किसी वंश के फूलों से बहुत अधिक है। वंशजों की इस अधिकता का एक विशिष्ट कारण उनकी विलक्षण परागण-विधि भी है। एक ओर जहाँ अन्य कुलों के पर-परागित फूलों में, यदि किसी कारणवश पर-परागण न हो सका, तो उन फूलों का ह्रास हो जाता है एवं उनमें बीज उत्पन्न नहीं होते, वहाँ सूर्यमुखी-वंश के फूलों में--जिनमें साधारणतया स्वयं-परागण सम्भव नहीं होता, क्योंकि फूलों का वर्तिकाग्र पुंकेसर से बहुत ऊँचा होता है--वर्तिकाग्र बढ़कर नीचे की ओर मुड़ जाता है और परागकोश की सतह को छू लेता है। इस प्रकार परागकण वर्तिकाग्र से चिपककर परागण करते हैं और फूल नष्ट होने से बच जाता है।

पर-परागण

अधिकांश फूलों में पर-परागण होता है। फूलों की सुगन्ध, मधु एवं उनके आकर्षक रंग तितलियों, भौरों, कीटों आदि को (जिनका पर-परागण के लिए बड़ा महत्व है) अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस कार्य की सम्पन्नता के लिए पौधों में आश्चर्यजनक और विचित्र रचनाएँ होती हैं। इन्हीं रचनाओं के कारण इन फूलों में 'स्वयं-परागण' असम्भव होता है। कुछ फूलों में पुंकेसर और वर्तिकाग्र तथा अण्डाशय एक साथ तैयार न होकर भिन्न-भिन्न समय पर पकते हैं, अतएव इनमें स्वयं-परागण नहीं हो सकता। दूसरी दशा ऐसी होती है, जब पुंकेसर तो पककर तैयार हो जाता है, पर स्त्रीकेसर अविकसित अवस्था ही में रहते हैं। इस दशा को 'पूर्वपुंपक्व' कहते हैं। इसके विपरीत जब अण्डाशय पुंकेसर से पहले पककर तैयार हो जाता है, तो उस दशा को 'पूर्वस्त्रीपक्व' कहते हैं। एकलिंगी फूल एवं ऐसे फूल, जिनमें वर्तिकाग्र पुंकेसर से ऊँचे स्थित होता है, स्वयं-परागित नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त चाय और मालवा के फूलों में स्वयं-बन्ध्यता की दशा भी देखी जाती है। ऐसे फूलों में यदि उसी फूल के परागकण किसी प्रकार उसके वर्तिकाग्र तक पहुँच भी जायँ, तो भी उस फूल में गर्भाधान की क्रिया नहीं हो सकती। ऐसे सभी फूलों में पर-परागण आवश्यक है।

पर-परागण के माध्यम—पर-परागण के लिए आवश्यक है कि एक फूल के परागकण उसी कुल के अन्य किसी फूल के वर्तिकाग्र तक पहुँच सकें। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए मुख्य माध्यम हैं वायु, कीट, जल तथा जन्तु। आइए, प्रत्येक माध्यम द्वारा परागित फूलों की रचना एवं लक्षणों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१. वायु-परागण—पर-परागण का सब से सरल माध्यम वायु है। वायु-परागित फूलों में परागण के हेतु कीट, मक्खी या जन्तु को आकर्षित करने की आवश्यकता नहीं होती, अतएव ऐसे फूल प्रायः छोटे, एक-लिंगी एवं अनाकर्षक होते हैं। साधारणतया इनमें न तो सुगन्ध ही होती है और न मकरन्द-कोष ही होता है। वायु के माध्यम द्वारा परागण होने में परागकणों के अधिक संख्या में व्यर्थ हो जाने की संभावना होने के कारण ऐसे फूलों में परागकण काफी अधिक संख्या में बनते हैं। ये परागकण सर्वदा छोटे, सूखे तथा हल्के होते हैं, जिससे वायु द्वारा आसानी से इनका वहन हो सके। ऐसे फूलों की वर्तिका तथा वर्तिकाग्र रोएँदार एवं झाड़ीनुमा होते हैं, जिससे वायु में उड़ने-वाले परागकण आसानी से इनमें उलझ सकें। मक्का के मादा फूल में लम्बे रेशमी बालोंवाली रचना वर्तिका ही है। इसी प्रकार गेहूँ और जौ आदि के फूलों का वर्तिकाग्र भी काफी रोएँदार होता है एवं वायु-परागित होने के लिए वह प्रायः फूल से बाहर निकला रहता है।

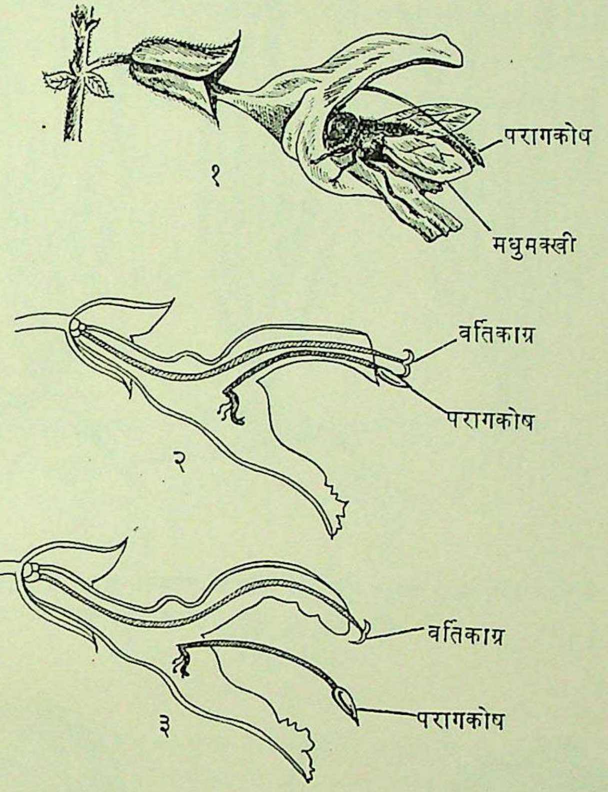

सालविया के फूल में मधुमक्खी द्वारा परागण :: (१) फूल के अन्दर प्रविष्ट मधुमक्खी, जिसकी पीठ पर परागकोष रगड़ खा रहा है; (२) बीच से काटकर दिखाई गई फूल की झाँकी, जिसमें मधुमक्खी के प्रवेश से पहले पुंकेसर की अवस्था एवं उसकी विचित्र बनावट दिग्दर्शित है; (३) मधुमक्खी का प्रवेश होने के पश्चात् पुंकेसर की अवस्था :: परागकोष नीचे आ गया है। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'सामान्य वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]

वायु-परागित फूलों (यथा गेहूँ, जौ, मक्का आदि) के परागकण अन्य फूलों के परागकणों की तुलना में सूखे और हल्के होते हैं। इसी कारण ये वायु में सरलतापूर्वक उड़ सकते हैं। कुछ परागकणों का आकार ऐसा विशिष्ट प्रकार का होता है, जिससे उन्हें उड़ने में सहायता मिलती है; जैसे चीड़ के फूल के पंखदार परागकणों में। ऐसे फूलों के पुंकेसर के पुंतन्तु प्रायः पतले तथा लम्बे और परागकोष बड़े होते हैं। उक्त परागकोष फूल के बाहर लटकते रहते हैं। गेहूँ के फूल इसके उदाहरण हैं। इन परागकोषों के फटने पर इनसे निकलकर परागकण वायु के झोंके के साथ सरलता से उड़ सकते हैं।

२. कीट-परागण—पर-परागण का यह सब से महत्वपूर्ण माध्यम है। कीट-परागण में भाग लेनेवाले कीटों में मधुमक्खी, तितली, भौंरा आदि मुख्य हैं। ये कीट फूलों के आकर्षक रंग और मधुर सुगन्ध से खिचकर मकरन्द (मधु) की खोज में एक फूल से दूसरे फूल पर उड़ते फिरते हैं। ऐसे फूलों में मकरन्दकोष बहुधा फूल के अन्दर दलों के निचले भाग में छिपा रहता है। कीट दलचक्र पर बैठकर मकरन्दकोष तक पहुँचने के प्रयत्न में अपने शरीर एवं पंखों को फूल के परागकोषों से रगड़ते हैं। इसके फलस्वरूप कीट-परागित फूलों के कटीले और चिपचिपे परागकण कीटों के शरीर, टाँग अथवा बालों में चिपक जाते हैं। यह कीट पुनः जब अन्य किसी फूल पर मकरन्द की खोज में पहुँचता है, तो उसकी टाँगों, बाल और शरीर पर लदे परागकण अनायास ही फूलों के चिपचिपे वर्तिकाग्र तक पहुँच जाते हैं, जिससे परागण की क्रिया सम्पन्न हो जाती है।

सभी एकलिंगी तथा अधिकांश द्विलिंगी फूलों में कीट-परागण होता है। ऐसे कीट-परागित फूल प्रायः रंगीन और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आकर्षक होते हैं, विशेषकर उनका दलचक्र रंगीन तथा चटकीला होता है। गुलाब, गुड़हल और कमल आदि के फूल इसी जाति के हैं। कुछ फूलों के दल स्वयं तो आकर्षक नहीं होते, वरन् उनके अन्य अंग रंगीन और आकर्षक बन जाते हैं, जैसे बागेनविलिया के फूल स्वयं तो छोटे और अनाकर्षक होते हैं, पर उनके निपत्र सुन्दर और रंगीन होते हैं। यही बात लाल पत्ते के फूल के बारे में भी सत्य है। कुछ फूल ऐसे भी हैं, जो स्वयं तो छोटे और असुन्दर होते हैं पर उनका पुष्पक्रम (पुष्प-समूह) उन्हें आकर्षक बना देता है। साधारणतया उन फूलों में, जिनमें कीट-परागण होता है, मकरन्द की उपस्थिति के कारण उत्पन्न सुगन्ध से कीट आकर्षित हुआ करते हैं। कीटों द्वारा परागित होनेवाले फूलों के परागकण तथा वर्तिकाग्र में कुछ विशेषताएँ होती हैं। इनके परागकण चिपचिपे और काँटेदार होते हैं, जिसके कारण ये कीटों के शरीर पर आसानी से चिपक जाते हैं।

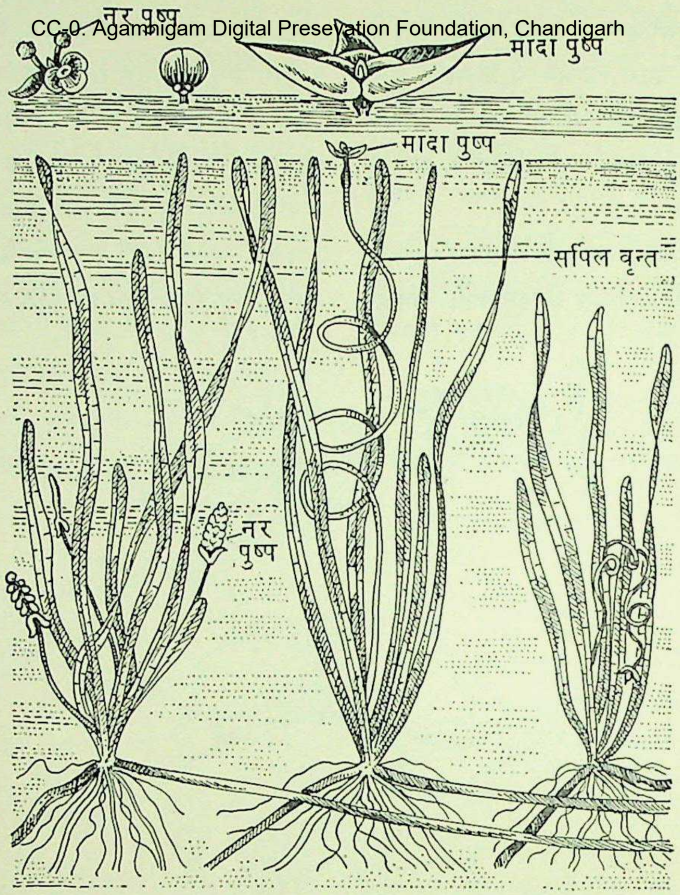

वैलेसेनरिया के जलमग्न पौधों में जल के माध्यम द्वारा परागण। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]

दूसरी ओर इनका वर्तिकाग्र भी लसदार और चिपचिपा होता है। इस कारण कीटों द्वारा लाया गया पराग अप्रयास इनमें चिपककर परागण को सम्भव बनाता है।

ऊपर उल्लिखित विशेषताएँ तो साधारणतया सभी कीट-परागित फूलों में पाई जाती हैं, पर कुछ विशिष्ट फूलों की रचना इस प्रकार की भी होती है कि उनमें विशेष कीटों द्वारा ही परागण सम्भव है। साल्विया या तुख्मे-मालंगा का फूल इसका एक उदाहरण है। लाल रंग के इस आकर्षक फूल में पुंकेसर, वर्तिका तथा वर्तिकाग्र की रचना कुछ ऐसी होती है, जिससे इसमें मधुमक्खी द्वारा ही परागण सम्भव है। इसके दलपत्र जुड़कर एक कीप का आकार ले लेते हैं। इसी के भीतर दो 'पुंकेसर' और एक 'स्त्रीकेसर' होता है। दोनों परागकोषों में से परागकण केवल ऊपरवाले कोष में बनते और पकते हैं; निचला कोष नपुंसक होता है। जिस समय मधुमक्खी दलपुंज में घुसती हैं, उसका

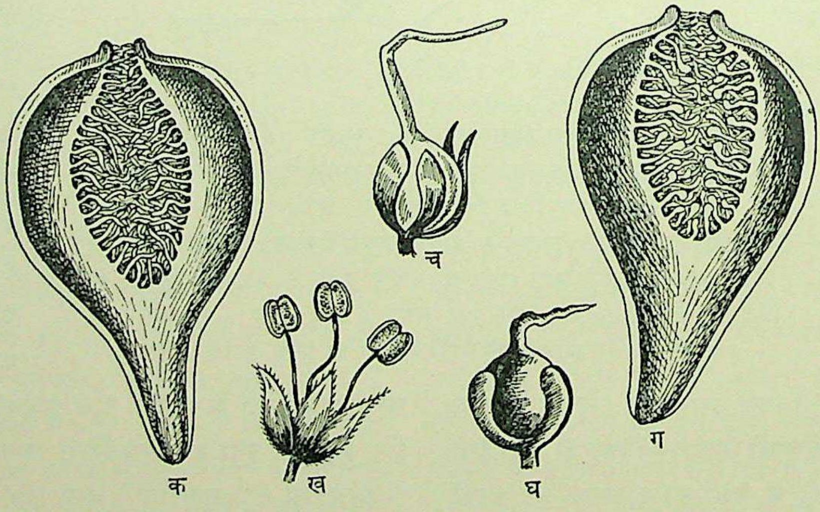

गूलर के फूल में परागण अति सूक्ष्म कीटाणुओं द्वारा होता है—(क) गूलर के विशेष पुष्पक्रम का लम्ब काट, जिसमें मादा पुष्प दिखाई दे रहे हैं; (ख) एक नर पुष्प; (ग) पुष्पक्रम, जिसमें नीचे की ओर मादा पुष्प और ऊपर की ओर नर पुष्प हैं; (घ) और (च) छोटी तथा लम्बी वर्तिकावाले मादा पुष्प। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामना पुंकेसर के नपुंसक कोष से होता है। उसे ढकेलती हुई मधुमक्खी जब आगे बढ़ती है, तो ऊपरवाला परागकोष कीट की पीठ पर आ फूटता है। यही कीट जब अन्य किसी साल्विया के फूल में प्रवेश करता है, तो उसके फूल में घुसते समय वर्तिकाग्र झुककर कीट की पीठ से रगड़ खाता है और पहले से उस पर चिपके हुए परागकण वर्तिकाग्र पर चिपक जाते हैं। इस प्रकार उक्त फूल में परागण की क्रिया सम्पन्न होती है।

३. जल-परागण—कुछ जलीय पौधों में परागण जल के माध्यम से होता है। ऐसे पौधों में फूल छोटे और अनाकर्षक होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि जल में उत्पन्न सभी फूलों में जल-परागण ही हो। उदाहरणार्थ, कमल के आकर्षक फूल में (जलीय होने पर भी) कीटों द्वारा परागण होता है।

जलीय पौधों में परागण विचित्र एवं विशिष्ट विधियों द्वारा होता है। वैलेसेनरिया नामक एकलिंगी पौधे में नर और मादा पुष्प पृथक्-पृथक् पौधों पर होते हैं। नर पुष्प आरम्भ में तो जल के अन्दर रहते हैं, पर पूर्ण वृद्धि के पश्चात् पुष्पक्रम से निकलकर जल की सतह पर आ जाते हैं। उधर मादा पुष्प एकाकी, बड़े तथा लम्बे वृन्त पर लगे रहते हैं। ये फूल छोटे और अनाकर्षक होते हुए भी बनावट में बड़े विचित्र होते हैं। इन फूलों के लम्बे और सर्पिल वृन्त परागण के समय इतना बढ़ जाते हैं कि मादा फूल जल की सतह पर पहुँच जाते हैं, जहाँ पर तैरते हुए नर पुष्पों के परागकणों से इनका परागण हो जाता है। परागण के उपरान्त सर्पिल पुष्पवृन्त के सिकुड़ने से मादा पुष्प फिर जल के अन्दर चला जाता है, जहाँ इसमें बीज बनते हैं।

४. जन्तु-परागण—कीटों के अतिरिक्त कुछ जन्तुओं द्वारा भी फूलों में परागण होता है। इनमें चिड़ियाँ और गिलहरी मुख्य हैं। परागकणों को खाने के लिए पक्षी जब अपनी चोंच फूल में डालते हैं, तो उनकी चोंच में कुछ न कुछ परागकण अवश्य लगे बच रहते हैं। उसी जाति के अन्य फूल में पुनः चोंच डालने पर पूर्ववर्ती फूल के परागकण इस फूल के वर्तिकाग्र पर चिपके रहकर परागण कर देते हैं। इसी प्रकार गिलहरी के गलमुच्छों तथा होठों पर भी परागकण लगे रहकर एक फूल से दूसरे फूल पर पहुँचते और परागण किया करते हैं। सेमल, आम, बबूल तथा बिगोनिया में कीटों के अतिरिक्त कौए, कोयल, बुलबुल और लाल मुनिया द्वारा भी परागण होता है।

जिन फूलों में पर-परागण होता है, उनके बीज स्वस्थ होते और उनसे उत्पन्न होनेवाले पौधे भी उत्तम होते हैं। वे स्वयं-परागित फूलों के मुकाबले में अच्छे और अधिक संख्या में बीजों को उत्पन्न करते हैं। इस परागण-विधि में दो भिन्न पौधों के उत्तम गुणों के सम्मिश्रण से नई नस्ल के पैदा होने की सम्भावना रहती है, जो पैतृक पौधों से बेहतर हो सकती है।

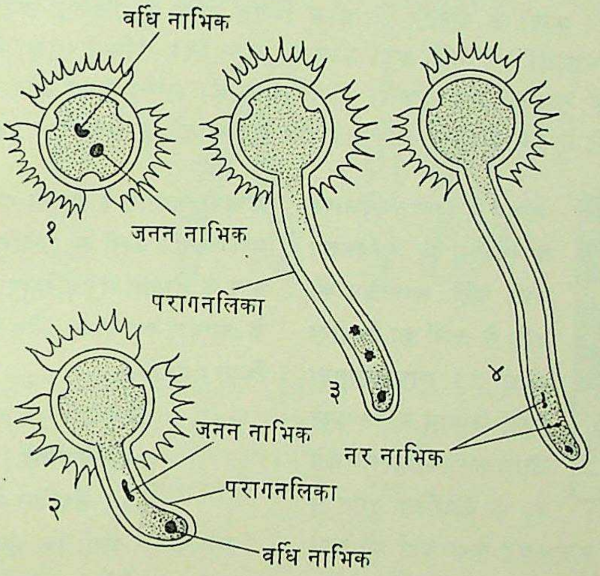

परागकण के अंकुरण तथा परागनलिका के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ :: १. परागकण; २. ३. ४. परागकण के अंकुरण की विभिन्न अवस्थाएँ। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]

गर्भाधान

परागण के पश्चात् परागकणों से उत्पन्न नर-युग्मकों का मिलाप बीजांड-स्थित मादा-युग्मकों से होता है। इसे पौधे की 'गर्भाधान-क्रिया' कहते हैं। परागण होने पर वर्तिकाग्र पर पड़े हुए परागकणों का अंकुरण होता है, जिसके फलस्वरूप इनका वाह्य चोल फट जाता है और अन्दर से एक परागनलिका का विकास आरम्भ हो जाता है। यह नलिका वर्तिका में राह बनाती हुई बीजाण्ड तक पहुँच जाती है। बीजाण्ड के अंदर मादा-युग्मक या अण्डा स्थित होता है। इधर परागनलिका में जनन-नाभिक के विभाजन से दो नर-युग्मक बनते हैं। बीजाण्ड तक पहुँचकर परागनलिका का शीर्षभाग फट जाता है और दो नर-युग्मकों में से एक का मादा-युग्मक से मिलाप होता है और दूसरे नर-युग्मक का बीजाण्ड के मध्यस्थित नाभिक से। यही क्रिया गर्भाधान कहलाती है। इस संसेचन-क्रिया के बाद अण्डाशय के अतिरिक्त फूल के अन्य अंगों का कार्य पूर्ण हो जाने के कारण वाह्यदल, दलपत्र, पुमंग और जायांग का सूखना आरम्भ हो जाता है और अन्त में वे मुरझाकर गिर जाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पौधों के विशेषांग—(३)
फल :: रचना, भेद और विकिरण

'गर्भाधान' की क्रिया सम्पन्न होने पर अंडाशय की वृद्धि के फलस्वरूप फल का निर्माण होता है। ये फल विविध प्रकार के होते हैं। फलों के अन्दर ही बीज स्थित रहते हैं, जिनके अंकुरण से नए पौधों को जन्म मिलता है। नए पौधे ऐसे स्थानों पर उगें, जहाँ उन्हें वृद्धि के लिए उचित मात्रा में धूप, जल और खाद्य द्रव्य (खनिज लवण) मिल सकें, इसके लिए प्रकृति ने परागण की भाँति फलों और बीजों के विकिरण के लिए भी कई विशिष्ट साधन एवं माध्यम बनाए हैं। इन सब बातों का विवेचन हम इस प्रकरण में करेंगे।

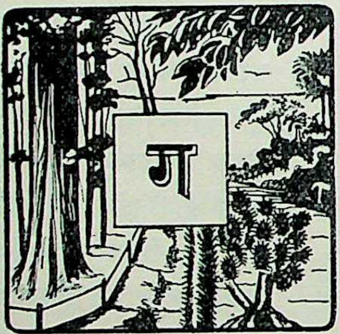

गर्भाधन के पश्चात् बीजाण्ड के विकास के फलस्वरूप बीज और अण्डाशय की वृद्धि से फलों का निर्माण होता है। साधारणतया फलों के नाम से हम खाने योग्य फलों को ही समझते हैं, पर वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भाधान के पश्चात् फूलों से उत्पन्न हुई ऐसी कोई भी वस्तु फल है, जिसके अन्दर एक या अधिक बीज स्थित होते हैं।

स्त्रीकेसर के अन्दर बीजाण्ड होते हैं। गर्भाधान के पश्चात् साधारणतया फूल के अन्य अंग--वाह्यदल, दलपत्र, पुमंग और जायांग--तो सूखकर गिर जाते हैं, पर अण्डाशय और उसके अन्दर के बीजाण्डों का विकास होता रहता है, जिसके फलस्वरूप अण्डाशय-भित्ति के अन्दर बन्द बहुत-से बीज बनते हैं। इस संपूर्ण वस्तु को 'फल' कहते हैं। कुछ विशेष फूलों में अंडाशय के अतिरिक्त पुष्प के कुछ अन्य अंग भी फल के बनने में भाग लेते हैं। साधारणतया फलों के दो भाग होते हैं--१. अण्डाशय-भित्ति से निर्मित फल-भित्ति, जिसे 'फलावरण' कहते हैं, और २. अन्दर के 'बीज', जो बीजाण्डों से बनते हैं। फलावरण और बीजों से निर्मित ये फल विभिन्न रूप और आकार के होते हैं, जिनका विवरण हम प्रस्तुत करेंगे।

फूलों की रचना के वर्णन के सिलसिले में आप जान चुके हैं कि जायांग एकाण्डप या बहुअंडपी दोनों ही हो सकते हैं। बहुअण्डपी जायांग के भी दो रूप होते हैं--पृथक्अण्डपी और युक्ताण्डपी। फलों के प्रारम्भिक विभाजन का मुख्य आधार फूल के जायांग में स्त्रीकेसर की रचना ही है। इसी विभिन्नता के आधार पर निम्न तीन मुख्य वर्गों में फलों का विभाजन किया गया है--

(१) एकिफल या सरल फल;

(२) पुंजफल;

(३) संग्रथित फल या गुच्छिफल।

एकिफल—जैसा कि इनके नाम ही से विदित है, ये फल या तो एक स्त्रीकेसरवाले फूल से बनते हैं, (जैसे मटर, सेम आदि); या युक्ताण्डपी स्त्रीकेसरवाले फूल से निर्मित होते हैं (जैसे सरसों या पोस्ते के फूल से)।

पुंजफल—इस वर्ग के फल प्रायः उन फूलों से बनते हैं, जिनमें जायांग कई स्त्रीकेसरों से बना होता है। प्रत्येक स्त्रीकेसर पृथक् होता है तथा एक-एक फल बनाता है। इस प्रकार एक फूल से केवल एक फल ही नहीं, वरन् छोटे-छोटे फलों का एक गुच्छा बन जाता है, जिसे 'पुंज' कहते हैं। पुंजफल के नमूने एकीन, फालिकिल, ड्रूप तथा बेरी के पुंज हैं। चम्पा, शरीफा और स्ट्राबेरी आदि इसी वर्ग में सम्मिलित हैं।

संग्रथित फल—इस वर्ग के फल एक फूल से न बनकर पूरे पुष्पक्रम से बनते हैं। ये फल अपने रसीले वाह्यदलों द्वारा एक दूसरे से जुड़े रहते हैं, साथ ही इनका पुष्पदण्ड लम्बा और गूदेदार हो जाता है। कटहल, शहतूत और अनन्नास इसी प्रकार के फल हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एकफल

एकफलों का विभाजन पुनः दो वर्गों में किया जाता है—(१) सूखे फल, जिनमें फलावरण सूखा और कड़ा होता है और (२) सरस फल, जिनमें फलावरण मुलायम, मांसल और रसदार होता है।

सूखे फल—फलों के फटने से बीज-वितरण होने की विधियों के आधार पर सूखे फलों के पुनः निम्न तीन भेद किए गए हैं—१. एकीनिपल; २. स्फोटशीलक; ३. वेश्मस्फोटी।

एक बीजवाले सूखे फलों को, जिनका फलावरण बीजांकुरण के पहले नहीं फटता, 'एकीनिपल' कहते हैं। इस वर्ग में भी तीन जाति के फल होते हैं—एकीन, सपक्ष और नट। 'एकीन' ऐसा फल है, जिसका फलावरण पतला और चर्म-सदृश्य होता है। सपक्ष ऐसा एकीन है, जिसका फलावरण पंखदार होता है—इसी कारण इस फल को वायु-विकिरण में सहायता मिलती है। 'नट' एक ऐसा एकीन है, जिसका फलावरण बहुत कड़ा और काष्ठवत् होता है।

'स्फोटशीलक' फल बहुत बीजवाले सूखे फलों को कहते हैं, जिनका फलावरण सूखने पर स्वयं फट जाता है और बीज झटके के साथ बाहर निकल पड़ते हैं। इस वर्ग के फल भी विविध प्रकार के होते हैं, जैसे, एकसेवनी, शिंब, सिलिक्वा और कैपस्यूल।

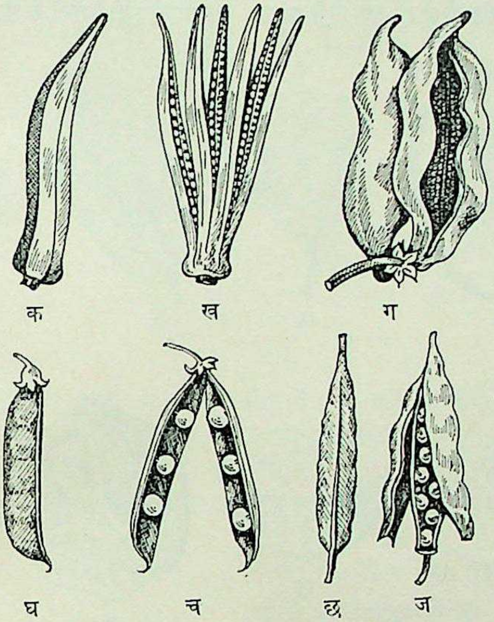

सूखे फलों के कुछ उदाहरण :: (क-ख) भिंडी का कैपस्यूल; (ग) मदार की एक सेवनी; (घ-च) मटर का शिंबफल; (छ-ज) सरसों का सिलिक्वा। [चित्र:: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]

एकसेवनी ऐसा फल है, जो एक स्त्रीकेसरवाले अण्डाशय से बनता है और उसकी फली केवल एक ओर ही से फटती है, जैसे मदार का फल (फली)। शिंबफल भी एक स्त्रीकेसर वाले अण्डाशय से बनते हैं, पर इनमें फली पकने पर दोनों किनारों से फटती है, जैसे मटर, सेम, लोबिया, मूँग तथा अरहर में पाया जाता है। सिलिक्वा एक ऐसा स्फोटशीलक फल है, जिसमें पकने पर फल की दोनों भित्तियाँ अलग हो जाती हैं और बीज बीच में एक कूट पट पर लगा रहता है। ऐसी अवस्था सरसों के फल में पाई जाती है। कैपस्यूल बहुअण्डपी युक्ताण्डप जायांग द्वारा बनते हैं और एक-कोष्ठी या बहुकोष्ठी होते हैं। सूखने पर विविध विधियों द्वारा इन फलों की भित्तियाँ फट जाती हैं और उनसे बीज निकल पड़ते हैं। उदाहरणतः पोस्ते के फल के सूखने पर फल के ऊपरी भाग में बहुत-से छिद्र हो जाते हैं, जिनके द्वारा बीज बाहर निकलते हैं।

वेश्मस्फोटी फल भी बहुबीजी सूखे फल होते हैं, जो पकने पर अनेक एकबीजी भागों में विभक्त हो जाते हैं। ऐसा प्रत्येक विभाजित भाग एकीन की तरह का एक पृथक् बन्द फल होता है।

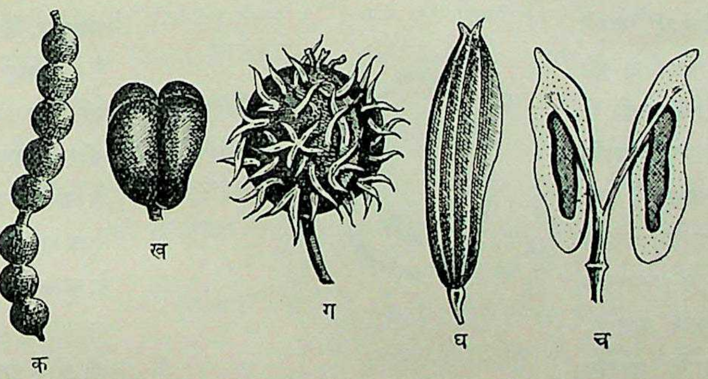

वेश्मस्फोटी फलों के कुछ उदाहरण :: अनेक (दो या उससे अधिक) बीजवाले ये फल पकने पर एकबीज भागों में विभक्त हो जाते है :: (क) अकेशिया (बबूल) का फल; (ख) तुलसी का चारबीजी फल; (ग) अरंड का फल; (घ) और (च) कोरियेंडर का फल। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]

सरस फल—रसीले फलों को 'सरस फल' कहते हैं। इन फलों में फलावरण मोटा होकर तीन पर्त बना लेता है—बाह्य चोल, (एपीकार्प), मध्य चोल (मीजोकार्प) और अन्तर चोल

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(एण्डोकार्प)। इसी आन्तरिक रचनात्मक विभिन्नता के कारण सरस फलों का विभाजन भी तीन वर्गों में किया गया है:—

(१) गुठलीदार फल;

(२) बेरी;

(३) सेविया।

जैसा कि नाम से ही विदित है, गुठलीदार फल ऐसे सरस फल हैं, जिनके अंदर एक गुठली होती है। ऐसे फलों में फलावरण की तीनों पर्तें होती हैं। सब से ऊपर फल की बाहरी त्वचा होती है, जिसे 'एपीकार्प' कहते हैं। उसके बाद बीच का रसीला और मांसल भाग 'मिजोकार्प' होता है और सब से अन्दर गुठली का कड़ा भाग होता है, जिसे 'एण्डोकार्प' कहते हैं। यह गुठली ही फल के बीज की रक्षा करती है। इस जाति के फलों के विशिष्ट उदाहरण आम, आड़ू, आदि के फल हैं। आम के फल में जो रसीला मांसल भाग खाया जाता है, वह मिजोकार्प ही है। यद्यपि नारियल भी एक गुठलीदार फल है, पर रचनात्मक विभिन्नता के कारण वह अन्य गुठलीदार फलों से भिन्न है। इसके फलावरण के भी तीन भाग होते हैं— बाहर की ओर पतला किन्तु मजबूत एपीकार्प; अन्दर की ओर मोटा काष्ठरूपी एण्डोकार्प और बीच में बहुत मोटा रेशेदार मिजोकार्प। फलावरण के अन्दर बीज होता है, जिसका खाये जानेवाला गूदेदार भाग 'भ्रूणपोष' होता है।

बेरी एक अति सरलरूप मांसल रसीला फल होता है, जिसमें सारा फलावरण मांसल और रसदार हो जाता है। इसके बीज प्रायः कड़े होते हैं और वे रसीले भाग में स्थान-स्थान पर लगे रहते हैं। इसके फलावरण का एण्डोकार्प गुठलीदार नहीं होता। बेरी का एक उदाहरण टमाटर का फल है। यह फल दो स्त्रीकेसरों के सायुज्य से बनता है। पकने पर फलावरण बहुत मोटा और रसदार हो जाता है। बाहर की ओर लाल रंग की पतली रचना एपीकार्प होती है और उसके अन्दर पीले-लाल रंग का मांसल भाग होता है, जिसमें बहुत-से बीज लगे होते हैं। बेरी वर्ग के फलों के अन्य विशिष्ट उदाहरण अंगूर, अनार, सन्तरा, अमरूद, केला, तरबूज आदि के फल हैं। सेविया एक विशेष प्रकार के सरस फलों का वर्ग है, जिसके उदाहरण सेव और नाशपाती के फल हैं। इस वर्ग के फल केवल अण्डाशय से न बनकर फूल के पुष्पाक्ष से भी बनते हैं। सेब के फूल में अण्डाशय पाँच युक्त-स्त्रीकेसरों से बना होता है और बाहर की ओर इसका सम्बन्ध पुष्पाक्ष से भी रहता है। गर्भाधान के पश्चात् पुष्पाक्ष के फूलने और बढ़ने पर फल का मांसल भाग बन जाता है और जायांग की वृद्धि से अन्दर के उन भागों का निर्माण होता है, जिसके अन्दर बीज पाया जाता है। सेब और नाशपाती के फलों में खाने के प्रयोग में आनेवाला मांसल भाग पुष्पाक्ष की वृद्धि से ही बनता है।

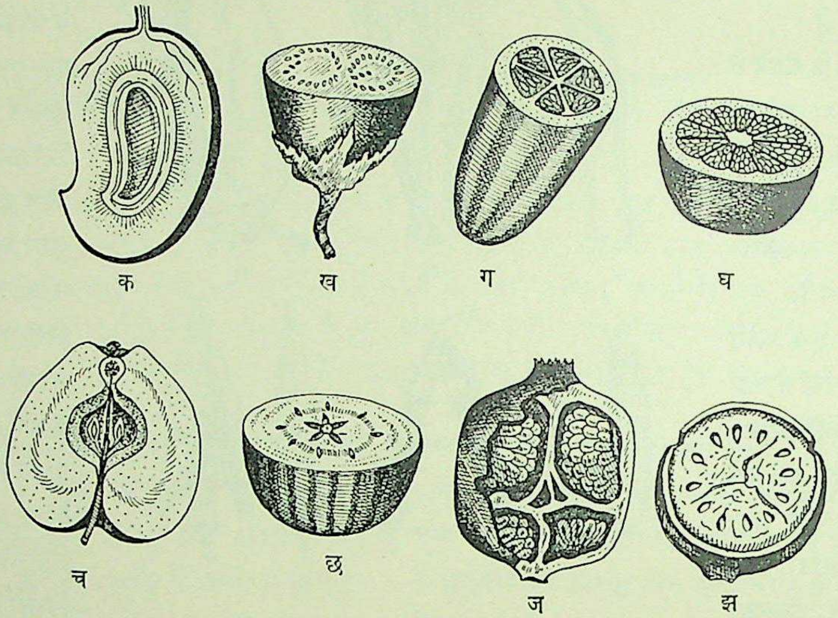

सरस फलों के कुछ उदाहरण (सभी नमूनों को बीच में से काटकर दिखाया गया है) :: गुठलीदार—क. आम; बेरी—ख. बैंगन; ग. खीरा; घ. संतरा; सेविया—च. सेव; छ. नाशपाती; बेरी—ज. अनार; झ. बेल। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]

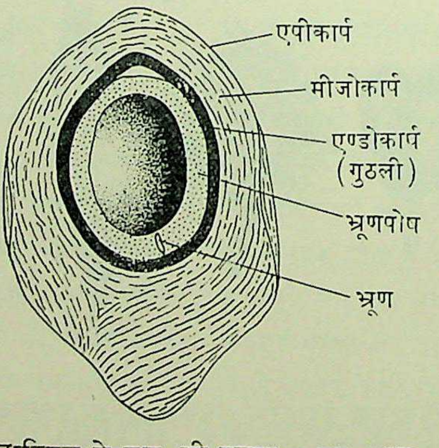

नारियल के फल की रचना :: यह अन्य गुठलीदार फलों से भिन्न होता है, यद्यपि इसमें भी फलावरण के तीन भाग होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

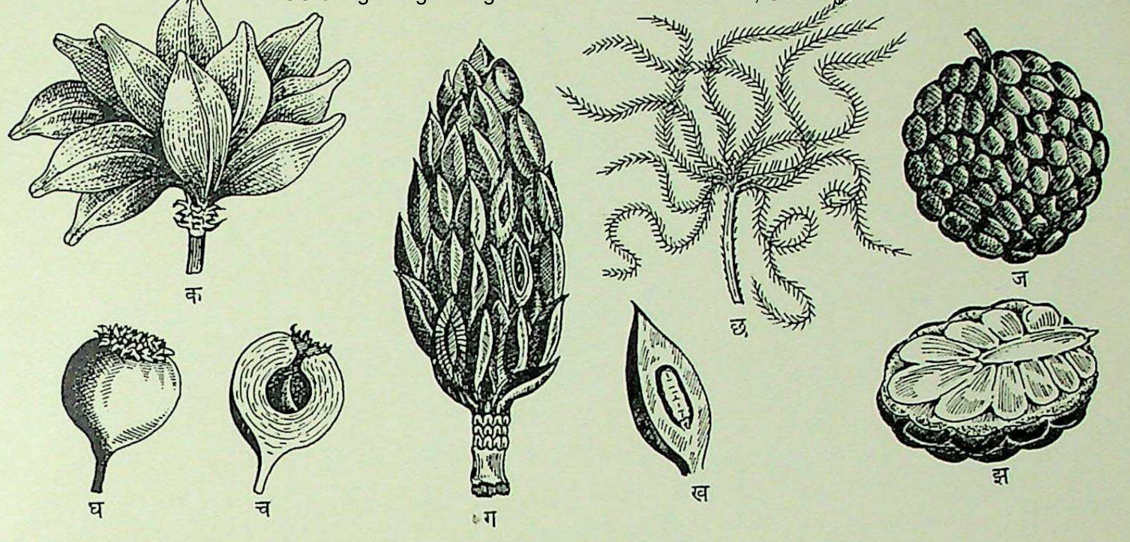

पुंजफल के कुछ उदाहरण :: (क) बेरी का समूहफल; (ख) बेरी के एक फल का बीच से कटा दृश्य; (ग) सेवनी का एक समूहफल; (घ-च) गुलाब का समूहफल; (छ) क्लिमेटिस के एकीन का समूहफल; (ज) शरीफा का गुठलीदार समूहफल; (झ) शरीफे के फल का बीच से आधा कटा अंश, जिसमें प्रत्येक फल पृथक् दिखाई दे रहा है [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]।

पुंजफल

इस वर्ग के फल विविध प्रकार के एकिफलों के समूह से बनते हैं। इसी कारण इन्हें 'समूहफल' भी कहते हैं। ये ऐसे फूलों के फलस्वरूप बनते हैं, जिनका जायांग बहुअण्डपी और पृथक्अण्डप होता है। गर्भाधान के पश्चात् प्रत्येक स्त्रीकेसर के अण्डाशय से एक फल का निर्माण होता है, और उस फूल के सभी स्त्रीकेसरों के विकास से बने हुए फलों को मिलाकर एक समूहफल बन जाता है। इस प्रकार के समूहफल विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, जैसे एकीन का समूहफल, जिसके उदाहरण क्लिमेटिस और नरावीलिया के फल हैं, या गुठलीदार समूहफल, जिसके उदाहरण शरीफा और स्ट्राबेरी के फल हैं।

संग्रथित फल

इस वर्ग के फल एक फूल से न बनकर पूरे पुष्पक्रम के अनेकों फूलों को मिलाकर बनते हैं। ऐसे फलों के रसीले वाह्यदल आपस में जुड़े रहते हैं; साथ ही इनका पुष्पदण्ड लम्बा और गूदेदार हो जाता है। शहतूत, गूलर, अंजीर, कटहल तथा अनन्नास के फल इसी जाति के हैं। ऐसे फलों को 'मिश्रित फल' भी कहते हैं। शहतूत का फल एक पूरा पुष्पक्रम होता है, जिसका प्रत्येक फूल गर्भाधान के बाद एक सरस फल बन जाता है। इसके फूल एकलिंगी और छोटे होते हैं और मादा फूलों के पुष्पक्रम से ही फलों का निर्माण होता है। इसी प्रकार गूलर का फल भी एक मिश्रित फल है। अनन्नास का फल, जो इसी वर्ग के अन्दर आता है, अपनी विशिष्ट रचना के कारण भिन्न है। यद्यपि यह फल भी पूरे पुष्पक्रम से ही बनता है, पर इसके निर्माण में फूलों के अतिरिक्त पुष्पक्रम, वृन्त और निपत्र भी भाग लेते हैं। ये सभी अंग फल के पकने पर रसदार तथा मांसल हो जाते हैं। इस प्रकार अनन्नास के पीपाकार फल की रचना पूर्ण होती है। इस फल के बाहर जो चौकोर अक्ष या आँखें दिखाई पड़ती हैं, वे एक-एक फूल की वृद्धि से बने फल के भिन्न-भिन्न भाग ही हैं। फल का निर्माण हो चुकने के बाद भी वृन्त की वृद्धि होती रहती है और इससे ऊपर की ओर पत्तियों के एक गुच्छे का निर्माण होता है। इसी कारण अनन्नास के प्रत्येक फल के ऊपर पत्तियों का एक पूरा समूह भी दिखाई पड़ता है।

फलों एवं बीजों का विकिरण

किसी भी पौधे से उत्पन्न होनेवाले बीजों की संख्या बहुत अधिक होती है। कुछ पौधों--विशेषकर वृक्षों--से तो प्रतिवर्ष लाखों बीज उत्पन्न होते हैं। सोचिए, यदि ये सारे के सारे बीज मातृपौधे के पास ही गिर पड़ें, तो क्या दशा हो! प्रायः वृक्ष की छाया में गिरे बीजों में से बहुतों का अंकुरण ही न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

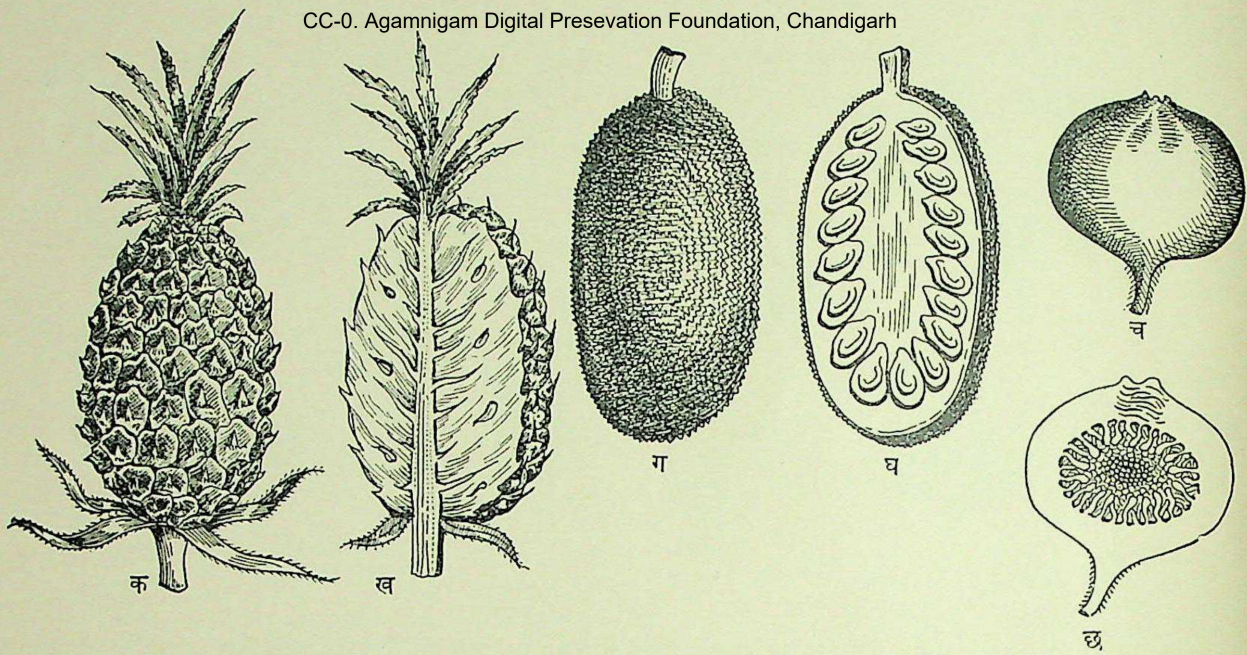

संग्रथित फलों के कुछ उदाहरण :: (क) अनन्नास का पूरा फल; (ख) वही फल लम्बाई में बीच से आधा काटा हुआ; (ग-घ) कटहल का संग्रथित फल और काटने पर उसकी झाँकी; (च-छ) गूलर का संग्रथित फल और उसकी भीतरी झाँकी [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली कृत 'वनस्पतिशास्त्र' के प्रति आभारपूर्वक]।

होगा और जिनका अंकुरण सम्भव भी होगा, उनकी वृद्धि नहीं हो सकेगी; कारण उस थोड़ी-सी जगह की भूमि से सभी पौधों की जड़ें आवश्यकतानुसार जल या अन्य खाद्य पदार्थ प्राप्त न कर सकेंगी। पौधों की वंशवृद्धि के लिए न केवल यही आवश्यक है कि उनमें अच्छे बीज उत्पन्न हों, वरन् यह भी उपादेय है कि बीज पैतृक पौधे से दूर के स्थानों पर गिरें, ताकि दूर-दूर तक पौधे का विस्तार हो और उन्हें भोजन, जल, प्रकाश आदि आवश्यक वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में सुलभ हो सके। बीजों की दूर तक बिखरने की इस क्रिया को 'विकिरण' कहते हैं। परागण की भाँति विकिरण भी अनेक विधियों और माध्यमों से संपन्न होता है। इनमें सब से महत्वपूर्ण हैं--वायु, जल और जीव-जन्तु के माध्यम तथा फलों के स्वयं जोर से फटने की विधि से सम्पन्न होनेवाली विकिरण की क्रियाएँ।

बहुत-से बीज इतने हलके होते हैं कि वायु के मामूली झोंके से ही वे दूर तक उड़ जाते हैं। ऐसे बीजों का विकिरण अत्यन्त सरल होता है। अनेक बीज इतने भारी होते हैं कि वे वायु द्वारा विकिरित नहीं हो सकते। ऐसे बीजों के विकिरण के भिन्न-भिन्न साधन एवं माध्यम हैं। कुछ बीजों का विकिरण तो बीज के रूप ही में होता है, विशेषकर ऐसे फलों में जिनमें फल के पकने पर बीज फटकर बाहर निकल आते हैं। पर कुछ पौधों के बीज ऐसे होते हैं, जो पकने पर भी फल के अन्दर ही रहते हैं, अतः ऐसी दशा में बीजों के स्थान पर सम्पूर्ण फलों का ही विकिरण होता है।

वायु द्वारा विकिरण

फलों और बीजों के विकिरण का यह सब से सरल साधन है। इस प्रकार विकिरित बीजों की आकृति और उनकी विशिष्ट रचना वायु में उनको सरलतापूर्वक उड़ने योग्य बनाती है। अतएव वायु के द्वारा दूर-दूर तक उनका विकिरण सम्भव होता है। आरकिड सरीखे कुछ पौधों के बीज आकार में छोटे और इतने हलके होते हैं कि वायु में सरलता से उड़ सकने के कारण उनकी पहुँच अनायास ही दूर-दूर तक हो जाती है। पोस्ते के बीज में एक अन्य विधि पाई जाती है। जब वायु अधिक वेग से चलती है, तो उसके झोंके से फल में से कुछ बीज निकलकर वायु में उड़ जाते हैं। इस प्रकार सारे बीज एक साथ न निकलकर थोड़ी-थोड़ी संख्या में कई बार में निकलते हैं। इस विकिरण-प्रणाली को 'समुच्छल विधि' कहते हैं।

कुछ पौधों के बीज या फल चपटे और पतले होते हैं, अतः वे सरलता से हवा में उड़ सकते हैं। चिलबिल का सपक्ष फल वायु द्वारा विकिरण का एक अच्छा उदाहरण है। चिलबिल का फल एकबीजी पंखदार सूखा फल होता है। इस सपक्ष फल के पंखों का विशिष्ट कार्य होता है इस फल को उड़ने में सहायता पहुँचाना। कुछ अन्य फल दोहरे सपक्ष भी

होते हैं, जिनमें एक के स्थान पर दो पंख होते हैं। मधुलता और गरजन के फल इस प्रकार के उदाहरण हैं। मदार, कनेर, कपास तथा सेमल आदि के बीज हलके होने के साथ रोएँदार भी होते हैं। इन रोमों के सहारे बीज या फल बहुत सरलता से वायु में उड़कर दूर-दूर तक पहुँच जाते हैं। इस प्रकार इन फलों और बीजों का वायु द्वारा सफल विकिरण हो जाता है।

क्लिमेटिस के फल की वर्तिका रोएँदार होती है, जो फूल के अन्य अंगों के सूख जाने के बाद भी बनी रहती है और वायु द्वारा फल के विकिरण में सहायता पहुँचाती है। इसी प्रकार सूर्यमुखी-वंश के अधिकांश फलों के ऊपर की रोएँदार रचनाएँ भी उनके उड़ने में सहायक होती हैं। पंखों या रोओं के सहारे दूर-दूर तक उड़ने की इस विधि को 'वायुछत्रत्व विधि' कहते हैं, क्योंकि इन फलों के पंख तथा रोएँ उन्हें उड़ाते समय वायुछत्र का कार्य करते हैं।

वायु द्वारा विकिरण फलों और बीजों के वितरण का न केवल सबसे सरल वरन् सब से सुगम और अच्छा साधन है, क्योंकि इस माध्यम के द्वारा विकिरण बहुत दूर तक हो सकता है।

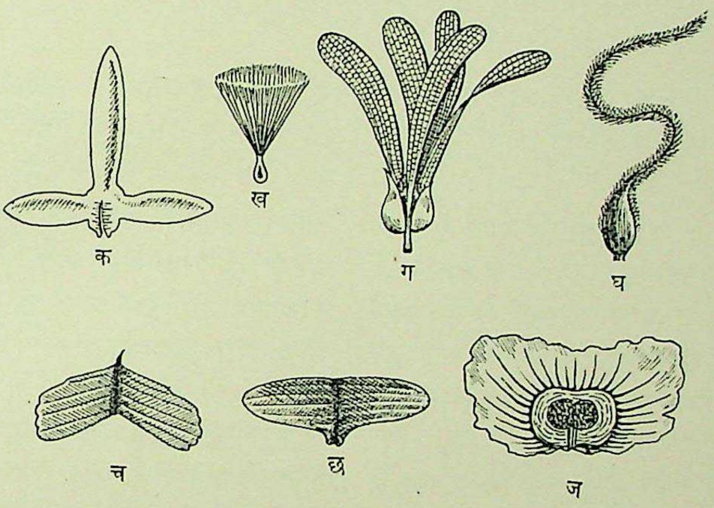

वायु द्वारा विकिरित होनेवाले कुछ फल तथा बीज :: (क) मधुलता का पंखदार फल; (ख) सूर्यमुखी-वंश का रोएँदार फल; (ग) साल का पंखदार फल; (घ) क्लिमेटिस के फल की रोएँदार वर्तिका; (च-छ) होलक का पंखदार फल; (ज) सोना (आराक्सीलम) का सपक्ष बीज ! [चित्र :: दत्त कृत 'वनस्पति-विज्ञान की पाठ्यपुस्तक' के आधार पर आभारपूर्वक]

जल द्वारा विकिरण

जल के माध्यम द्वारा फलों का विकिरण साधारणतया जलाशयों के किनारे उगनेवाले अथवा जलीय पौधों ही में होता है। ऐसे फलों और बीजों की यह विशेषता होती है कि वे अधिकांशतः हलके होते हैं और जल में तैरते रह सकने के लिए उनमें विशिष्ट साधन भी होते हैं। नारियल का फल जल द्वारा विकिरण का उत्तम उदाहरण है। नारियल के वृक्ष अधिकतर समुद्र के किनारों पर ही पाए जाते हैं। उनके फल जब समुद्र में गिरते हैं, तो फलावरण के मिजोकार्प की रेशेदार जटाएँ और उसके बीच की वायु की उपस्थिति से हलके हो जाने के कारण ये फल सैकड़ों मील तक समुद्र में तैरते चले जाते हैं ! इस प्रकार कहीं दूर के किनारे पर पहुँचकर अंकुरित हो वे वहाँ एक नए पौधे को जन्म देते हैं।

कमल का फल भी जल द्वारा विकिरण का एक प्रसिद्ध उदाहरण है। कमल में पुष्पाक्ष छिद्रिष्ट (स्पंजी) होता है, जिसके कारण फल जल में तैरता रहता है। कुछ अन्य जलीय पौधों के बीज के चारों ओर एक स्पंजी ऊतक भी होता है, जिसे 'एरिल' कहते हैं। इसमें बहुतेरे वायु के बुलबुले भरे रहते हैं, जिसके कारण बीज हलका हो जाता है और उसे जल में तैरने में सहायता मिलती है। कुछ समय पश्चात् वायु के ये बुलबुले समाप्त हो जाते हैं और बीज पानी के तले में बैठ जाता है। तत्पश्चात् तले में ही उस बीज का अंकुरण होता है और जल के अन्दर एक नए पौधे को जन्म मिलता है। ऐसी दशा 'श्वेत लिली' नामक जलीय पौधे में पाई जाती है। अन्य कुछ जलीय पौधों के बीज विशेष साधनों के न होने पर अपने छोटे और हलके आकार के कारण जल में ही तैरते रहते हैं। अन्य कुछ जलमग्न जलीय पौधों के फल या बीज नाल के अन्दर बनते हैं। इनमें भी जल में तैरते रहने के लिए यद्यपि कोई साधन नहीं होते, पर ये जल के अन्दर ही अन्दर लहरों द्वारा दूर तक बहाकर ले जाए जाते हैं।

जन्तुओं द्वारा विकिरण

कुछ पौधों के फलों और बीजों का विकिरण जन्तुओं द्वारा भी होता है। पशु, पक्षी तथा मनुष्य भी किसी-न-किसी रूप में फलों का विकिरण किया करते हैं। यह विकिरण प्रायः दो प्रकार से होता है। एक तो जन्तुओं के भोजन के माध्यम से दूसरे जन्तुओं के शरीर से चिपककर।

यह पूछना न्यायसंगत ही है कि भोजन का विकिरण से क्या सम्बन्ध है ? फिर भी यथार्थ यह है कि अनेकों पौधों के बीजों का विकिरण इसी माध्यम से होता है; विशेषकर, रसदार फलों का, जिनमें अनेकों गुठलीदार फल और कुछ प्रकार की बेरियाँ शामिल हैं। पशु जब इन फलों को खाते हैं, तो फलों के बाकी भाग तो उनके आमाशय में पहुँचकर पच जाते

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

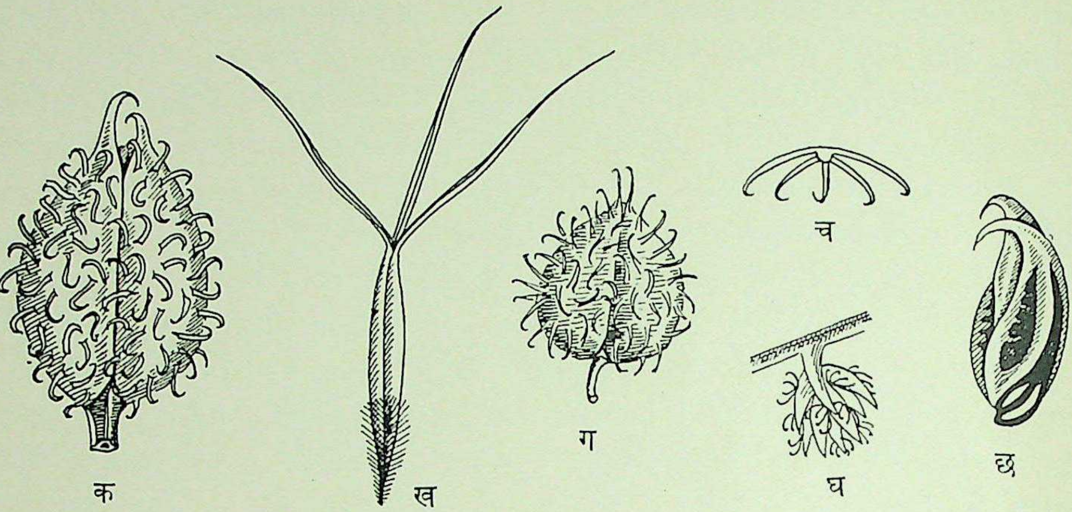

जन्तुओं द्वारा बीज के विकिरण की क्रिया संपन्न करनेवाले कुछ काँटेदार, हुकदार एवं चिपचिपी ग्रन्थियोंवाले फलों के उदाहरण :: (क) चीरु; (ख) जंगली जौ; (ग) बनओखरा; (घ) दुयाकुया; (च) दुयाकुया के फल के हुकदार बाल; (छ) बघनखी। [चित्र :: दत्त कृत 'वनस्पति-विज्ञान की पाठ्यपुस्तक' के आधार पर आभारपूर्वक]

हैं, परन्तु बीजों के ऊपर जो कड़ा एण्डोकार्प होता है, उसके कारण स्वस्थ और बिना पचा हुआ बीज मल के साथ बाहर निकल आता है और पशु के द्वारा स्थान-स्थान पर मल त्यागे जाने के कारण इनका दूर-दूर तक विकिरण हो जाता है। इस प्रकार का विकिरण आम, अमरूद, अंगूर, खजूर, छुहारा अंजीर आदि के फलों में होता है।

अनेकों फल पकने पर रंगीन और अत्यधिक आकर्षक हो जाते हैं, जिनके सौन्दर्य से आकृष्ट होकर पक्षी या अन्य जन्तु उन्हें ग्रहण करने के लिए बाध्य होते हैं। इन पक्षियों के द्वारा फलों का मांसल भाग तो खा लिया जाता है और गुठलीदार भाग या बीज आदि उसी स्थान पर बचे पड़े रह जाते हैं। इस प्रकार अनायास ही जन्तु या मनुष्य भी बीजों का विकिरण करने में सहायक होते हैं।

कुछ फलों या बीजों में––विशेषकर सूखे फलों में––बाहरी सतह पर हुक, काँटे, कड़े बाल या कुछ चिपचिपी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनके द्वारा फल या बीज पशुओं और पक्षियों के शरीर से चिपककर बहुत दूर तक चले जाते हैं। चीरू, जंगली जौ, बघनखी, लटजीरा, ओकड़ा, गोखरू और दुयाकुया के फलों का विकिरण इसी विधि से होता है।

फलों के स्वयंस्फुटन द्वारा विकिरण-क्रिया

बीजों की इस विधि में विकिरण का माध्यम स्वयं फल ही हैं। इस विधि से फलों के स्थान पर केवल बीजों ही का विकिरण होता है। इस वर्ग के फल पकने पर झटके के साथ फट जाते हैं, जिससे उनके बीज पैतृक पौधे से अलग कुछ दूरी पर जा गिरते हैं। ऐसा अधिकांशतः सूखे फलों ही में होता है, जो आन्तरिक तनाव की अधिकता के कारण छूते ही या वायु के वेगपूर्ण झटके के कारण स्वयं ही फट जाते हैं। आपने कदाचित गुलमेंहदी का सूखा फल अवश्य देखा होगा। इस फल में विकिरण इसी प्रकार होता है। रुएलिया के सूखे फल की दीवारें नमी मिलते ही जोर से दो भागों में फट पड़ती हैं। फटने के झटके के कारण बीजों का विकिरण दूर तक हो जाता है। कुछ मटर की फलियों की दीवारें भी सूखने पर फटकर झटके के साथ ऐंठ जाती हैं। इनके फटते ही बीज बाहर निकलकर दूर जा गिरते हैं।

ऊपर उल्लिखित विधियों के अतिरिक्त कृषि और बागबानी के सिलसिले में एक क्षेत्र में उपजनेवाले फलों के बीजों को किसी अन्य क्षेत्र में ले जाकर बोने और उपजाने के प्रयास में, कृत्रिम उपायों द्वारा बीजों एवं फलों का विकिरण करके मनुष्य भी इस कार्य में पर्याप्त सहायता पहुँचाता है। अच्छे बीजों को, विशेषकर खाद्यान्नों के बीजों को, एकत्रित करके मनुष्य उन्हें दूर-दूर के स्थानों पर कृषि के लिए या बाग-बगीचों के लिए भेजता रहता है। प्रायः अपने आहार के लिए प्रयोग में लाते समय भी मनुष्य फल आदि की गुठलियों को यहाँ-वहाँ फेंकता रहता है। इस प्रकार मनुष्य द्वारा भी बीजों के विकिरण में पर्याप्त सहायता मिलती रहती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पौधे के विशेषांग—(४)
बीज का विकास, रचना तथा अंकुरण

बीज क्या हैं? इनका निर्माण कैसे होता है? कार्य की समानता होते हुए भी विभिन्न पौधों के बीजों के आकार, रूप, रचना आदि में भिन्नता क्यों होती है? अंकुरण क्या है तथा अंकुरण के समय बीज में क्या परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं? इन सभी बातों का वर्णन इस प्रकरण में किया जा रहा है।

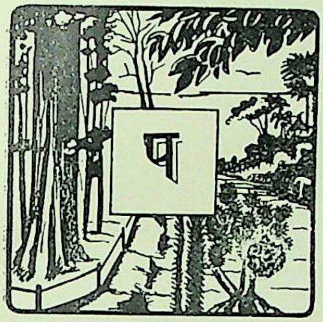

रागकणों से उत्पन्न नर-युग्मक का बीजाण्डस्थित अण्डे के सायुज्य के साथ ही गर्भाधान की क्रिया समाप्त हो जाती है और बीज का विकास आरम्भ हो जाता है। गर्भित अंडे की वृद्धि से भ्रूण का विकास होता है और परवर्ती नाभिक से भ्रूणपोष बनता है। इस क्रिया के साथ ही बीजाण्ड में अन्य परिवर्तन भी होने लगते हैं। ये परिवर्तन क्या हैं, आइए, देखें!

भ्रूण का विकास :: भ्रूणपोष

गर्भाधान के पश्चात् अण्ड-कोशिका का दो पृथक् कोशिकाओं में विभाजन हो जाता है। ऊपरवाली कोशिका को 'भ्रूण-कोशिका' और नीचेवाली को 'सस्पेन्सर' कहते हैं। भ्रूण-कोशिका के विभाजन से ही भ्रूण का निर्माण और विकास होता है। पूर्ण विकसित भ्रूण के चार मुख्य भाग होते हैं—१. प्रांकुर, जिससे पौधे के प्रारोह-संस्थान (तने एवं पत्तियाँ) बनते हैं; २. मूलांकुर, जो पौधे के जड़-संस्थान को जन्म देता है; ३. बीजपत्र, जो कुछ बीजों में अंकुरण के समय नवोद्भिज की पहली पत्तियाँ बनाते हैं, या कुछ बीजों में जिनमें खाद्य पदार्थ संचित होता है, और ४. बीजोधर, जो मूलांकुर और प्रांकुर के बीच का भाग होता है। द्विबीजपत्री पौधों के भ्रूण में दो बीजपत्र होते हैं और एकबीजपत्री पौधे में एक ही बीजपत्र होता है!

परवर्त्ती नाभिक के साथ दूसरे नरयुग्मक के सायुज्य से भ्रूणपोष का विकास आरम्भ होता है। इस भ्रूणपोष में नाभिक के लगातार विभाजन के पश्चात् प्रत्येक नाभिक के चारों ओर जीवद्रव्य एकत्रित होता है और अन्त में उसके बीच कोशिकाभित्ति का निर्माण होता है। इस प्रकार एक विशेष ऊतक, जिसे 'भ्रूणपोष' कहते हैं, बन जाता है। इस ऊतक में विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ संगृहीत एवं संचित रहते हैं। जैसा कि इसके नाम से ही विदित है, इसका कार्य भ्रूण का पोषण करना है। यदि बीज के बनने में भ्रूण की वृद्धि तीव्र गति से हुई, तो भ्रूणपोष का सारा संचित खाद्य पदार्थ पहले ही समाप्त हो जाता है और पूर्णपक्व बीज भ्रूणपोषरहित होता है। ऐसे बीजों को 'अभ्रूणपोषी' कहते हैं। इन अभ्रूणपोषी बीजों में खाद्य पदार्थ बीजपत्रों में संचित रहता है। यही कारण है कि अधिकतर अभ्रूणपोषी बीजों के बीजपत्रों में समुचित मात्रा में खाद्य पदार्थ संगृहीत होते रहने के कारण ये बीजपत्र मोटे और मांसल हो जाते हैं। इस प्रकार के अभ्रूणपोषी बीजों में सेम, मटर आदि के बीज प्रमुख हैं। इसके विपरीत ऐसे बीज, जिनमें भ्रूणपोष का सारा संचित खाद्य पदार्थ समाप्त हो चुकने के पहले ही भ्रूण की वृद्धि समाप्त हो जाती है और जिसके फलस्वरूप पूर्णपक्व बीज में भ्रूणपोष उपस्थित रहता हैं, 'भ्रूणपोषी' कहते हैं। ऐसे बीजों के उदाहरण गेहूँ, जौ, मक्का, अरंड (रेंडी), नारियल इत्यादि के बीज हैं।

भ्रूण और भ्रूणपोष के निर्माण के साथ ही बीजाण्ड में अन्य परिवर्तन भी होते हैं। बीजाण्ड की बाहरी भित्ति से बीजकवच और भीतरी भित्ति से अन्तःकवच बनते हैं। कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बीजों में केवल बीजकवच का ही विकास होता है। बढ़ते हुए बीज के विकासक्रम में धीरे-धीरे जल की मात्रा कम होते जाने पर पहले का मुलायम और रसदार बीजाण्ड एक कड़े और सूखे बीज के रूप में परिवर्तित हो जाता है और पूर्णवृद्धि-प्राप्त भ्रूण सुषुप्तावस्था में चला जाता है। स्पष्ट है कि बीज वास्तव में एक पका हुआ बीजाण्ड है, जो गर्भाधान के फलस्वरूप बनता और जिसके अन्दर सुषुप्त भ्रूण स्थित रहता है।

बीजों की रचना

जैसा कि आप देख चुके हैं, बीज साधारणतया चारों ओर से बीजकवच द्वारा घिरा हुआ एक भ्रूण होता है। रचनात्मक दृष्टि से प्रत्येक बीज के रूप और आकार में पर्याप्त अन्तर रहता है। इस तथ्य को जानने के लिए हम कुछ सामान्य द्विबीजपत्री और एकबीजपत्री बीजों की रचना का यहाँ वर्णन करेंगे।

सेम का बीज—यह एक द्विबीजपत्री भ्रूणपोषविहीन बीज है, जो प्रायः गुर्दे के आकार का होता है। इसमें सब से ऊपर भूरे या काले रंग का छिलका होता है, जिसे 'बीजकवच' कहते हैं और जिसका निर्माण बीजाण्ड की बाहरी भित्ति से होता है। बीजकवच बीज के अन्दर के कोमल अंगों की रक्षा करता है। बीज के एक ओर एक लम्बी सफेद धारी होती है, जिसे 'वृन्तक' (हाइलम) कहते हैं। वृन्तक बीज का वह भाग है, जहाँ पर बीज फल के जरायु से जुड़ा रहता है। इसके ऊपरी भाग पर एक छोटा सा छिद्र होता है, जिसे 'अण्डद्वार' कहते हैं। यह छिद्र उस बीजाण्ड के अण्डद्वार का द्योतक है, जिससे बीज की रचना हुई है। यह तो हुई बीज की वाह्य रचना। उसकी आन्तरिक रचना देखने के लिए बीजकवच को निकालने पर हमें एक सफेद आकार मिलता है। यही 'भ्रूण' है। इसके दो पृथक् भाग होते हैं—

१. दो बड़ी सफेद और गूदेदार आकृतियाँ, जिन्हें 'बीजपत्र' कहते हैं। इन्हीं में बीज का भोजन संचित एवं संगृहीत रहता है। सेम का बीज भ्रूणपोष-विहीन होता है, अतः भ्रूणपोष की अनुपस्थिति में इसके बीजपत्र बहुत गूदेदार और मोटे हो जाते हैं।

२. इन बीजपत्रों को सावधानी से पृथक् करने

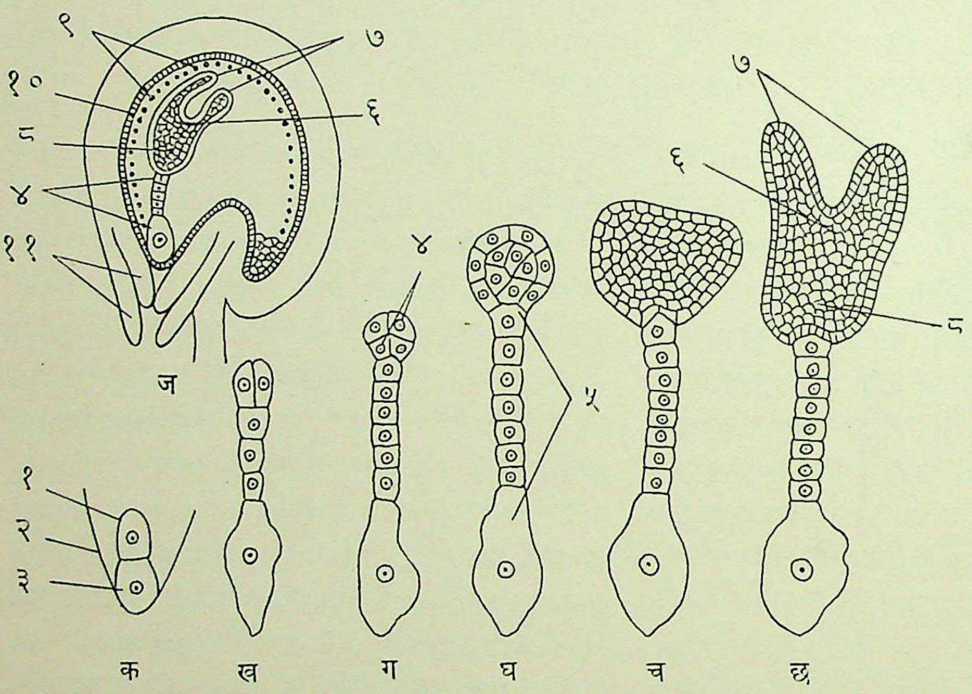

(क-छ) भ्रूण के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ; (ज) पूर्णपक्व बीजाण्ड का लम्ब काट, जिसमें भ्रूण पूर्णविकसित हो गया है। १. भ्रूण-कोशिका; २. भित्ति; ३. सस्पेन्सर कोशिका; ४. भ्रूण-कोशिका-विभाजन; ५. सस्पेन्सर; ६. प्रांकुर-विकास-कोशिकाएँ; ७. बीजपत्र; ८. मूलांकुर-विकास-कोशिकाएँ; ९. भ्रूणपोष-नाभिक; १०. न्यूसेलस ११. बीजाण्ड-भित्ति।

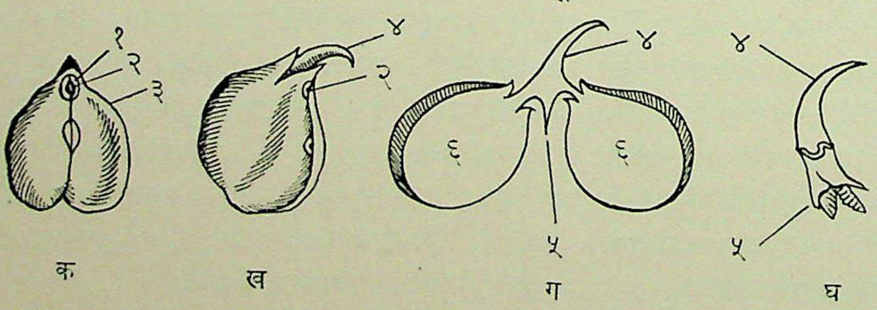

चने के बीज की रचना :: (क) पूर्ण बीज; (ख) अंकुरित बीज; (ग) खुले हुए बीजपत्र; (घ) अक्ष; १. अण्डद्वार; २. वृन्तक; ३. बीजकवच; ४. मूलांकुर; ५. प्रांकुर; ६. बीजपत्र। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली एवं दत्त के प्रति आभारपूर्वक]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

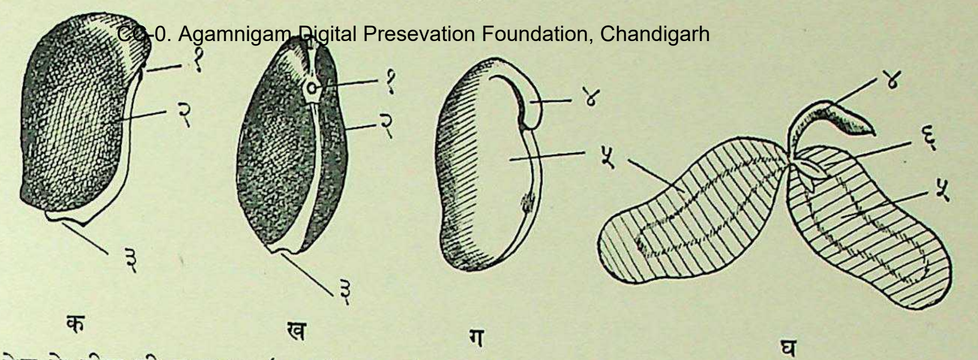

सेम के बीज की रचना :: (क-ख) पूरा बीज (पार्श्व व सामने से); (ग) भ्रूण, जिस पर से बीजकवच निकाल दिया गया है; (घ) बीच से खुले हुए बीजपत्र। १. अण्डद्वार; २. बीजकवच; ३. वृन्तक; ४. मूलांकुर; ५. बीजपत्र; ६. प्रांकुर।

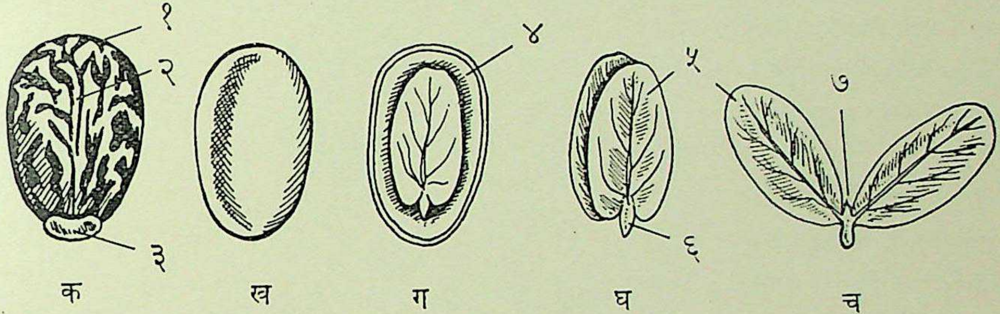

अरंड के बीज की रचना :: (क) पूरा बीज; (ख) बीजकवच से निकाला हुआ बीज; (ग) लम्बाई में बीच से कटा हुआ बीज; (घ) भ्रूण; (च) बीच से खुला हुआ भ्रूण। १. बीजकवच; २. राफे; ३. बीजोपांग; ४. भ्रूणपोष; ५. बीजपत्र; ६. मूलांकुर; ७. प्रांकुर। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली के प्रति आभारपूर्वक]

पर एक लंबा और पतला अक्ष दृष्टि-गोचर होता है, जिसके द्वारा दोनों बीजपत्र जुड़े रहते हैं। इस अक्ष के भिन्न आकार इस प्रकार हैं-- १. अक्ष का ऊपरी गोलाकार एवं नुकीला भाग, जिसे 'मूलांकुर' कहते हैं। जैसा कि नाम ही से विदित है, इसी से कालान्तर में पौधे के मूल या जड़-संस्थान का निर्माण होता है। मूलांकुर का नुकीला भाग अण्डद्वार की ओर होता है। २. अक्ष का निचला पत्तीरूपी वह भाग, जो बीजपत्रों के बीच में छिपा रहता है। इसी को 'प्रांकुर' कहते हैं। इससे पौधे के प्रारोह-संस्थान या तने का निर्माण होता है। ३. मूलांकुर और प्रांकुर के बीच का वह भाग, जो दोनों को एक-दूसरे से जोड़े रखता है; इसे 'बीजोधर' कहते हैं। रूप और आकार में भिन्न होते हुए भी मटर के बीज की रचना भी सेम के बीज की तरह होती है।

अरंड का बीज—यह द्विबीजपत्री भ्रूणपोषयुक्त बीज है, जो रचना में सेम के बीज से भिन्न होता है। इसका बीज-कवच बहुत कड़ा और कत्थई रंग का धब्बेदार एवं चिकना होता है। इसके सिरे पर एक विशेष आकार होता है, जिसे 'बीजोपांग' कहते हैं। इसके द्वारा बीज के वृन्तक और अण्डद्वार ढके रहते हैं। भ्रूण की रचना कुछ-कुछ सेम के बीज जैसी ही होती है, जिसमें दो बीजपत्र, मूलांकुर और प्रांकुर होते हैं, परन्तु इसके बीजपत्र मोटे और गूदेदार न होकर बहुत पतले आकार के होते हैं। इन बीजपत्रों में सेम के बीज जैसा खाद्य पदार्थ संगृहीत नहीं रहता। अरंड के बीज का संचित भोजन, जो विशेषकर तेल और कुछ प्रोटीन के रूप में होता है, इसके भ्रूणपोष में पाया जाता है और भ्रूण के बाहर रहता है।

द्विबीजपत्री बीजों के अन्य उदाहरण हैं--चना, मटर, आम, इमली, मसूर, उर्द, सरसों, टमाटर आदि के बीज। इन सब का आकार और रूप यद्यपि भिन्न होता है, पर उनमें रचनात्मक समानता पाई जाती है। द्विबीजपत्री बीजों में, चाहे वे भ्रूणपोषी हों अथवा अभ्रूणपोषी, सदैव दो बीजपत्र पाए जाते हैं। इन बीजपत्रों के कार्य भिन्न हैं। अभ्रूणपोषी बीजों में बीजपत्र खाद्य पदार्थ संगृहीत करने का कार्य करते हैं और अभ्रूणपोषी बीजों में ये अवशोषण-अंगों का कार्य करते हैं। भ्रूणपोष में संचित भोजन इनके द्वारा अवशोषित होकर बढ़ते हुए भ्रूण को प्राप्त होता है। इनमें 'एन्जाइम' बनते हैं, जो भ्रूणपोषों में एकत्रित अघुलनशील खाद्य पदार्थों को घुलनशील रूप में परिवर्तित करके मूलांकुर और प्रांकुर तक पहुँचाते हैं। कुछ बीजों में अंकुरण के समय ये हरे होकर नवोद्भिज की पहली पत्तियाँ बनाते हैं। इस प्रकार जब तक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नवोद्भिज के यथार्थ पत्र नहीं बन जाते, ये उनके लिए प्रकाश-संश्लेषण का कार्य भी करते हैं।

मक्का का बीज—यह एकबीजपत्री भ्रूणपोषी पौधे के बीज का अच्छा उदाहरण है। इसकी रचना सेम, अरंड या अन्य द्विबीजीपत्र पौधों के बीज से भिन्न होती है। मक्का का दाना, वैज्ञानिक दृष्टि से, वास्तव में बीज न होकर फल है; क्योंकि इसमें बीजकवच और फलावरण के सायुज्य से ऐसा आकार बनता है, जिसे 'बीजावरण' कहते हैं। ये दोनों भाग एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। इस प्रकार के बीजों के अन्य उदाहरण गेहूँ, जौ, धान आदि के दाने हैं। मक्का के दाने में एक ओर जो नुकीला सफेद भाग होता है, उसके ही अन्दर भ्रूण स्थित होता है। भ्रूण में नीचे के नुकीले भाग में मूलांकुर तथा ऊपर की ओर प्रांकुर और एक बीजपत्र होता है, जो बहुत पतला और भ्रूणपोष से चिपका रहता है। ऐसे विशिष्ट बीजपत्रों को 'बरूथिका' कहते हैं। दाने के बाकी भाग में भ्रूणपोष होता है, जिसमें खाद्य पदार्थ संचित रहता है। अधिकांशतः एक बीजपत्री पौधों के बीज (दाने) भ्रूणपोषी होते हैं और इनमें बीजपत्र का कार्य भ्रूणपोष से चिपके रहकर भ्रूण की वृद्धि के लिए भोजन का शोषण करना होता है।

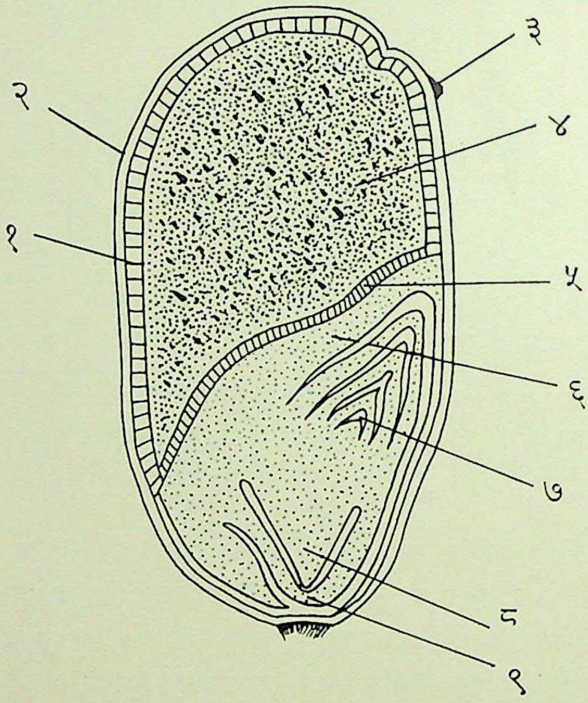

मक्का के दाने की रचना (लम्बाई में बीच से कटा हुआ दाना) :: १-२. बीजावरण; ३. वर्तिकांश; ४. भ्रूणपोष; ५. वाह्य पर्त; ६. बरूथिका; ७. प्रांकुर; ८. मूलांकुर; ९. मूलछद (कोलियप्टाइल)।

बीजों का अंकुरण

पैतृक पौधे से अलग होकर विभिन्न समयों तक सुषुप्तावस्था में रहने के पश्चात्, उचित ताप और नमी की प्राप्ति पर बीजों के भ्रूणों में एक नए पौधे को जन्म देने की शक्ति उत्पन्न होती है और बीज सुषुप्तावस्था त्यागकर जागृतावस्था प्राप्त करता है। अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर बीजों का अंकुरण होता है, जिसके फलस्वरूप भ्रूण सक्रिय होकर एक नवोद्भिज को जन्म देता है। सुषुप्त भ्रूण के सक्रिय होकर नवोद्भिज को जन्म देने की क्रिया को ही 'अंकुरण' कहते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से बीजों में दो प्रकार का अंकुरण होता है—१. उपरिभूमिक, और २. अधोभूमिक। उपरिभूमिक अंकुरण में बीजपत्र मिट्टी के ऊपर आ जाते हैं और प्रायः उनसे ही नवोद्भिज की पहली पत्तियाँ बनती हैं। अधोभूमिक अंकुरण में बीजपत्र मिट्टी के अन्दर ही रह जाते हैं।

अंकुरण की प्रथम क्रिया है बीज द्वारा जल-अवशोषण। साधारणतया एक पके हुए बीज में उसके भार का लगभग १० प्रतिशत जल होता है, परन्तु अंकुरण के समय जल का अत्यधिक मात्रा में शोषण होता है। उदाहरण के लिए, सेम का बीज अंकुरण के समय अपने भार का १५० प्रतिशत तक जल शोषित करता है! अंकुरण के पश्चात बीज के अन्य भागों —भ्रूण और भ्रूणपोष— में भी सक्रियता आ जाती है; बीज के अन्दर के पाचक एन्जाइम भी सक्रिय हो जाते हैं और भ्रूणपोष या बीजपत्र में संचित खाद्य पदार्थों का ऐसे रूपों में रूपान्तर आरम्भ हो जाता है, जो बढ़ते हुए भ्रूण की श्वसनक्रिया और वृद्धि में सहायक होते हैं। इस प्रकार संचितस्टार्च का शर्करा (ग्लूकोज) के रूप में, तेलों का उनके घुलनशील अम्लों के रूप में और प्रोटीन का एमीनों-अम्ल जैसे सरल रूपों में रूपान्तर हो जाता है। इन सरल रूपों में रूपान्तरित खाद्य पदार्थ को ग्रहण करने से भ्रूण में तीव्र गति से वृद्धि आरम्भ हो जाती है। अंकुरण की इस समय तक की अवस्थाएँ तो प्रायः सभी बीजों में समान होती हैं, परन्तु इसके आगे के परिवर्तन भिन्न-भिन्न वर्ग के बीजों में भिन्न प्रकार के होते हैं।

उपरिभूमिक अंकुरण

सेम का बीज उपरिभूमिक अंकुरण का एक विशिष्ट उदाहरण है, जिसकी रचना के बारे में आप ऊपर पढ़ चुके हैं। अनुकूल परिस्थिति और पर्याप्त नमी मिलने पर बीज में जल का अवशोषण प्रारम्भ हो जाता है, जिससे बीज फूलने लगता है।

इसके फलस्वरूप बीजकवच फट जाता है और मूलांकुर निकलकर बाहर आ जाता है एवं वह नीचे की ओर बढ़ना आरंभ कर देता है। यही कालान्तर में पौधे के जड़-संस्थान को जन्म देता है। मूलांकुर के पश्चात बीजोधर का भाग मिट्टी से बाहर निकलकर एक मेहराब का आकार बनाता है और इसकी वृद्धि के साथ ही साथ बीजपत्र भी खिंचकर बाहर निकल आते हैं। तत्पश्चात् बीजोधर सीधा हो जाता है और इसके ऊपर बीजपत्र लगे होते हैं, जिनके अन्दर प्रांकुर छिपा रहता है। मिट्टी के बाहर आकर भी बीजपत्र बढ़ते हुए नवोद्भिज को कुछ काल तक भोजन पहुँचाते रहते हैं। प्रांकुर पौधे के प्रारोह-संस्थान को जन्म देता है और इसकी वृद्धि से नवोद्भिज की प्रथम पत्तियों और तने का निर्माण होता है। खोखला बीजावरण मिट्टी ही में रह जाता है। कालान्तर में जब नवोद्भिज की नई पत्तियाँ बन जाती हैं, तो बीजपत्रों का काम समाप्त हो जाता है और वे झड़कर गिर जाते हैं। सेम के बीज के बीजपत्र बहुत मोटे एवं मांसल होते हैं और उनमें प्रचुर मात्रा में खाद्य पदार्थ संचित रहता है। ये बीजपत्र बढ़ते हुए नवोद्भिज को तब तक भोजन पहुँचाते रहते हैं, जब तक कि नवोद्भिज की नवविकसित पत्तियाँ प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया द्वारा पौधे का भोजन स्वयं बनाना आरम्भ नहीं कर देतीं।

अरंड के बीज में भी उपरिभूमिक अंकुरण होता है, परन्तु इसकी कुछ अवस्थाएँ सेम के बीज से भिन्न होती हैं। इसमें बीजपत्र ऊपर आकर नवोद्भिज की प्रथम हरी पत्तियाँ बनाते हैं। जैसा कि आप पहले पढ़ चुके हैं, अरंड का बीज एकभ्रूणपोषी बीज है, जिसमें खाद्य पदार्थ बीजपत्रों में संचित न होकर भ्रूणपोष में होते हैं, अतः इसमें अंकुरण आरम्भ होने के पहले और कुछ समय बाद तक बीजपत्र बीज के अन्दर ही रहते हैं। इस समय भ्रूणपोष से खाद्य पदार्थ का अवशोषण होता रहता है और उनके आकार में वृद्धि होती रहती है। इसके बाद बीजोधर की आकृति मेहराब की तरह की हो जाती है और अपनी वृद्धि के साथ वह बीजपत्रों को ऊपर खींच लाता है, जो सूर्य के प्रकाश में नवोद्भिज की प्रथम हरी पत्तियाँ बनाते हैं। प्रांकुर की वृद्धि के बाद जब नवोद्भिज की नई पत्तियाँ बन कर प्रकाश-संश्लेषण का कार्य आरम्भ कर देती हैं, तो बीजपत्र अब सूखकर झड़ जाते हैं।

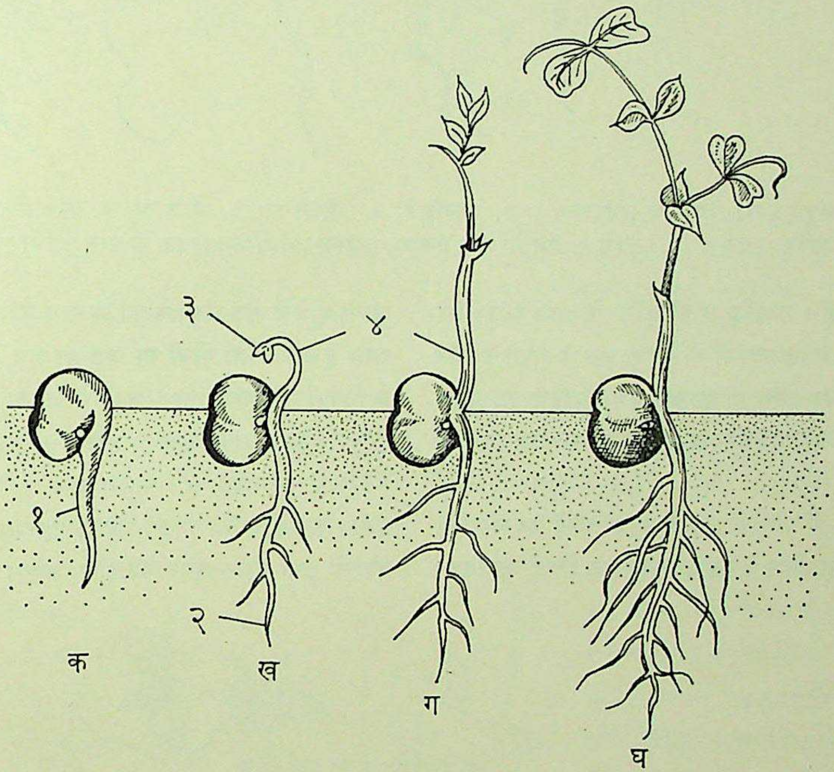

(क–घ) मटर के बीज के अधोभूमिक अंकुरण की विभिन्न अवस्थाएँ :: १. मूलांकुर; २. मूल; ३. प्रांकुर; ४. बीजोधर। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली के प्रति आभारपूर्वक]

अधोभूमिक अंकुरण

अधोभूमिक अंकुरण का विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत करने के लिए हम द्विबीजपत्री और एकबीजपत्री दोनों प्रकार के बीजों की क्रियाओं का वर्णन करेंगे। द्विबीजपत्री बीजों के अधोभूमिक अंकुरण का उदाहरण मटर के बीज का अंकुरण है। इसमें बीजपत्र मिट्टी से बाहर नहीं आते। यहाँ अंकुरण आरम्भ होने पर अण्डद्वार के छिद्र से निकलकर मूलांकुर नीचे की ओर बढ़ता है। इसके बाद बीजोधर ——जो भ्रूण के अक्ष का वह भाग है, जिससे प्रांकुर जुड़ा रहता है,——लम्बाई में बढ़ता है और अपने साथ प्रांकुर को बाहर खींच लाता है। बीजपत्र मिट्टी के अंदर ही रह जाते हैं और बढ़ते हुए भ्रूण (नवोद्भिज) को खाद्य पदार्थ पहुँचाते रहते हैं। इस प्रकार मूलांकुर से पौधे की जड़ें और प्रांकुर से पत्तियाँ तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

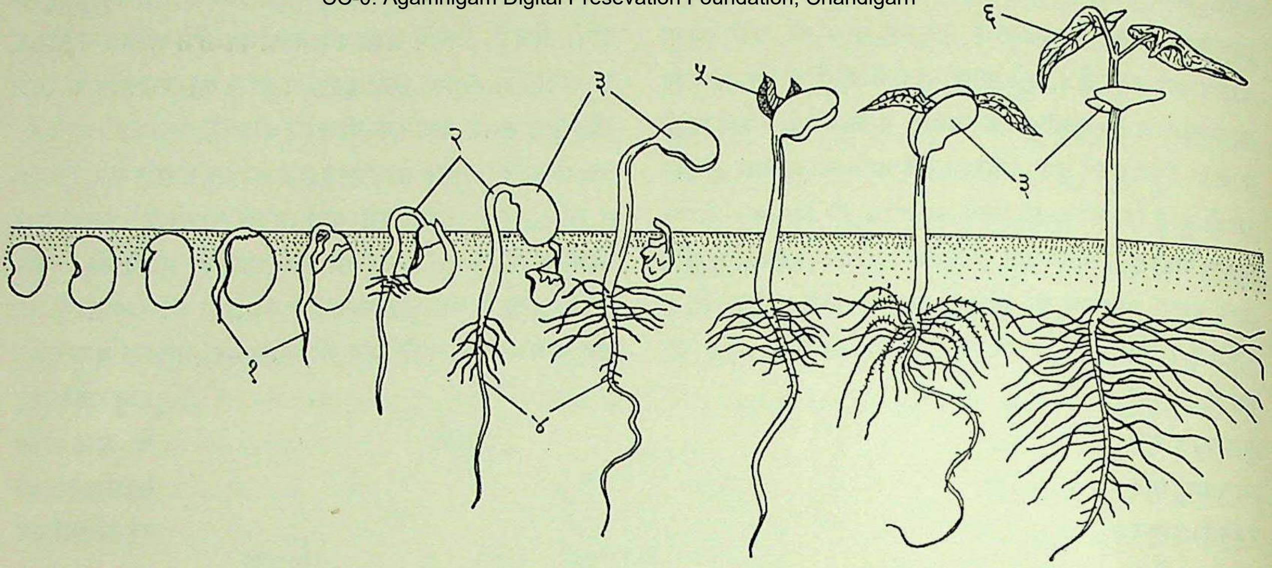

सेम के बीज के अंकुरण की विभिन्न अवस्थाएँ :: १. मूलांकुर; २. बीजोधर; ३. बीजपत्र; ४. प्राथमिक मूल; ५. प्रांकुर; ६. प्राथमिक पत्तियाँ। [चित्र :: गैनांग कृत वनस्पतिशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के प्रति आभारपूर्वक]

तने के भाग बनते हैं। नवोद्भिज की वृद्धि के साथ धीरे-धीरे बीजपत्रों में संचित खाद्य पदार्थों की मात्रा घटती जाती है और उनका आकार छोटा होता जाता है। उधर प्रांकुर से उत्पन्न नवोद्भिज की हरी पत्तियाँ प्रकाश-संश्लेषण का कार्य आरम्भ कर देती हैं।

मक्का के बीज में भी, जो एकबीजपत्री पौधे का बीज है, अधोभूमिक अंकुरण होता है। इसमें बीजपत्र, जिन्हें बरूथिका भी कहते हैं, बीज के अन्दर ही रहकर भ्रूणपोष से खाद्य पदार्थ के अवशोषण का कार्य करते हैं। इसके अंकुरण में सर्वप्रथम मूलांकुर निकलकर नीचे की ओर बढ़ता है, पर कुछ समय के पश्चात् इसकी वृद्धि रुक जाती है, कारण कि उससे पौधे के जड़-संस्थान का विकास नहीं होता। मक्का एवं अन्य एकबीजपत्री पौधों का जड़-संस्थान तने के निचले भाग से निकली हुई अस्थानिक जड़ों से बनता है। ऊपर की ओर प्रांकुर बढ़कर नवोद्भिज के प्रारोह-संस्थान (पत्तियाँ तथा तने) को जन्म देता है। पतला तथा नुकीला होने के कारण मक्का के बीज का प्रांकुर बिना मेहराब बनाए मिट्टी को चीरता हुआ सीधा ऊपर की ओर बढ़ता है। धान, गेहूँ, जौ, बाजरा आदि के बीजों का भी मक्का के बीज जैसा ही अधोभूमिक अंकुरण होता है।

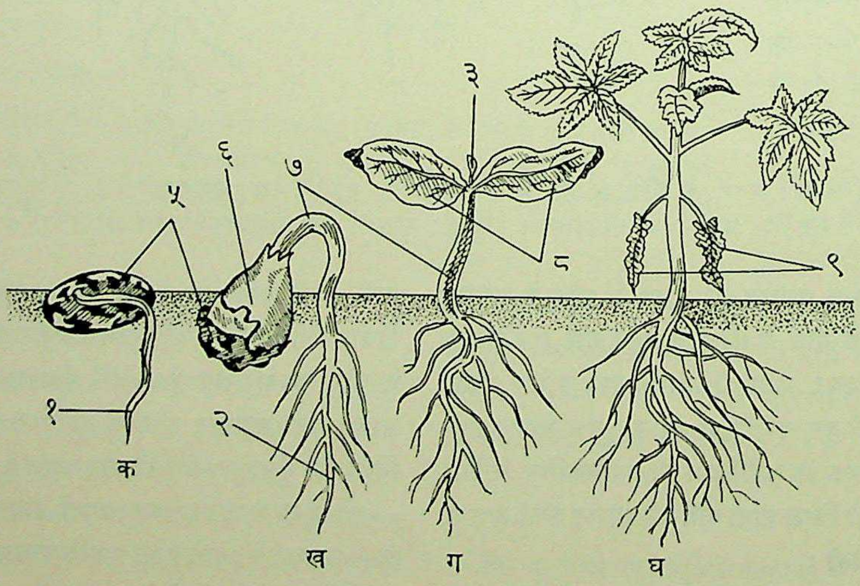

(क-घ) अरंड के बीज के अंकुरण की विभिन्न अवस्थाएँ :: १. मूलांकुर, २. प्राथमिक मूल; ३. प्रांकुर; ५. बीजकवच; ६. भ्रूणपोष; ७. बीजोधर; ८. बीजपत्र ९. मुरझाते हुए बीजपत्र। [चित्र :: मुकर्जी और गांगुली के प्रति आभारपूर्वक]

अंकुरण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ

बीजों के अंकुरण के लिए तीन बातों का होना अति आवश्यक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है—(१) उपयुक्त ताप, (२) पर्याप्त आर्द्रता और (३) उचित ऑक्सिजन से युक्त हवा। यदि इन तीनों में से एक का भी अभाव या कमी हुई, तो बीज का अंकुरण नहीं होगा और यदि वह हुआ भी तो निश्चित रूप से उसकी वृद्धि कुछ समय बाद अवश्य रुक जायगी। बीज के अंकुरण के लिए हवा, जल और उचित ताप की अनिवार्यता को हम एक साधारण प्रयोग द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं। एक बीकर में आधी दूर तक उबालकर ठण्डा किया हुआ जल भर दीजिए। उबालकर ठण्डा कर लेने से पानी में घुली हुई वायु की काफी मात्रा निकल जाती है। अब एक काँच की पट्टी पर सेम के तीन बीज इस प्रकार से बाँधिए कि एक बीज पूरी तरह जल में, दूसरा आधा जल में और आधा वायु में एवं तीसरा केवल वायु में ही रहे। तब बीकर को ऐसे स्थान में रख दीजिए, जहाँ पर्याप्त हवा और प्रकाश उपलब्ध हो। कुछ समय के पश्चात् इन बीजों का निरीक्षण करने पर आप देखेंगे कि जो बीज आधा जल और आधा वायु में था, वह तो भली भाँति अंकुरित हो गया है; जो पूरा जल में था, उसका अंकुरण तो हुआ पर आरम्भ होकर रुक गया; और वह बीज जो वायु में था, उसका अंकुरण ही नहीं हुआ (बाईं ओर का चित्र देखिए)। कारण स्पष्ट है। जो बीज पूर्ण रूप से जलमग्न था, उसे उचित ताप और जल तो मिला, पर पर्याप्त ऑक्सिजनयुक्त हवा के अभाव में इसका अंकुरण आरंभ होकर रुक गया। सब से ऊपर वाले बीज को, जो केवल वायु में था, उचित ताप और वायु तो मिली, पर पर्याप्त नमी के अभाव में उसका अंकुरण आरम्भ ही नहीं हुआ। इसके विपरीत जो बीज आधा जल और आधा वायु में स्थित था, वह पर्याप्त हवा, नमी और ताप की उपलब्धि के कारण पूर्णतया अंकुरित हुआ। इस प्रयोग से अंकुरण के लिए हवा, जल और उचित ताप की अनिवार्यता एवं उपादेयता स्पष्ट हो जाती है।

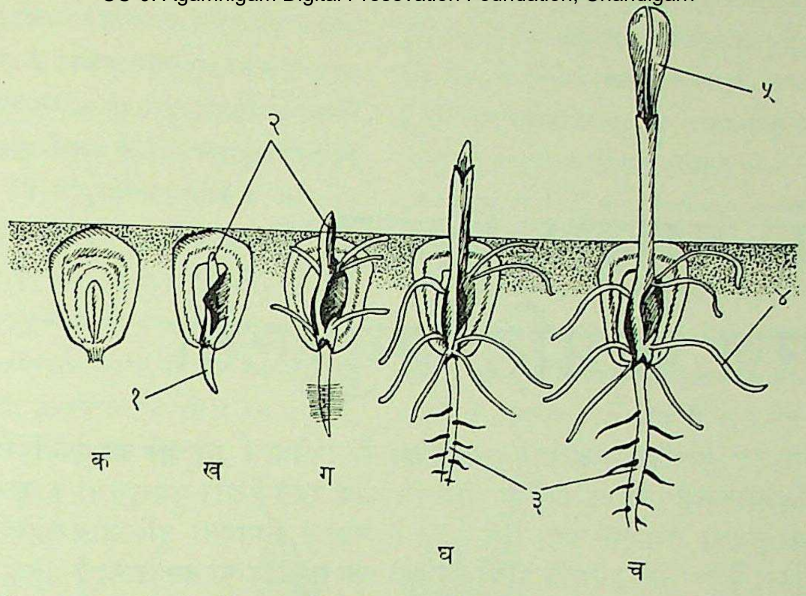

(क-च) मक्का के बीज के अधोभूमिक अंकुरण की विभिन्न अवस्थाएँ :: १. मूलांकुर; २. प्रांकुर; ३. प्राथमिक मूल; ४. अस्थानिक मूल; ५. प्राथमिक पत्तियाँ। [चित्र :: दत्त कृत वनस्पतिशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के प्रति आभारपूर्वक]

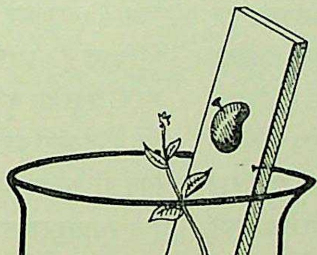
अंकुरण के लिए जल, वायु और उचित ताप की आवश्यकता प्रदर्शित करते हुए तीन बीजों का प्रयोग। मध्यस्थित बीज ही अंकुरित हो पाया है।

तो, आपने देखा कि जन्तु-जगत् की भाँति वनस्पतियों की दुनिया में भी विविध जातियों का अस्तित्व बनाए रखने और उनकी वंश-वृद्धि करने के लिए प्रकृति ने कैसे-कैसे अनूठे और पेचीदा उपाय किए हैं! चूँकि कुदरत के आँगन में यह लीला सदैव मानो परदे के पीछे चुपचाप चला करती है, अतः उसके आश्चर्य-पूर्ण चमत्कारों पर प्रायः हमारा ध्यान नहीं जाता! अन्यथा जन्तुओं के जीवन-नाटक की भाँति पेड़-पौधों की जीवन-लीला का प्रजनन एवं बीजांकुरण-संबंधी यह अध्याय भी प्रकृति की सब से अद्‌भुत एवं दिलचस्प कहानियों में से एक है! सब से बड़ी बात तो यह है कि उसका हमारे अपने जीवन के अस्तित्व को बनाए रखने से भी सीधा संबंध है; कारण, हम अपने आहार के लिए मुख्य रूप से वनस्पतियों द्वारा प्रदत्त फल, बीज आदि पर ही निर्भर हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पौधों के समुदाय विशेष :: वातावरण के प्रति अनुकूलता

जिस प्रकार किसी एक परिस्थिति और स्थान विशेष में रहनेवाले मनुष्यों का एक विशिष्ट समाज बन जाता है, जिसमें कि छोटे-बड़े विभिन्न वर्गों के लोग एक साथ रहते हैं और पृथक् वर्णों के होने एवं पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए भी उनकी वेशभूषा तथा रहन-सहन में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार किसी एक वातावरण विशेष में रहनेवाले पौधों का भी एक समुदाय-सा बन जाता है, जिसमें बड़े-छोटे सभी प्रकार के पौधों के रूप तथा आकार में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी समानताएँ पाई जाती हैं, जो उन्हें उस वातावरण के अनुकूल बना देती हैं। कैसे ? आइए, देखें।

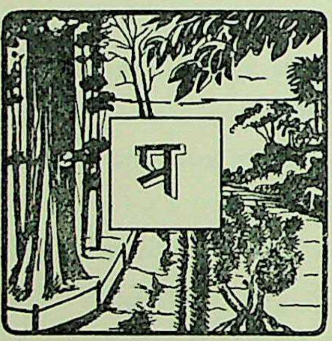

प्रत्येक जीवित वस्तु का, चाहे वह जन्तु हो या वनस्पति, अपने वातावरण से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। फलतः उस जीव या पौधे के विकास पर उस परिस्थिति का समुचित प्रभाव पड़ता है, जिसमें कि वह उत्पन्न होता है। विज्ञान की उस शाखा को, जो जीवित वस्तुओं पर उनकी परिस्थिति (वातावरण) के प्रभाव तथा तत्संबंधी बातों का अध्ययन करती हैं, 'परिस्थितिकी' के नाम से पुकारते हैं।

जीवधारी और निर्जीव वस्तुओं में एक मुख्य अन्तर यह भी है कि जहाँ पर निर्जीव वस्तुएँ किसी भी परिस्थिति या वातावरण में रखी जा सकती हैं, वहाँ जीवित वस्तुओं के लिए एक अनुकूल वातावरण का होना अनिवार्य है। यदि वातावरण अनुकूल न हुआ, तो जीवधारी कुछ अंश तक तो अपने को उस वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयास में यदि वह सफल हुआ, तो वह जीवित बचता है, अन्यथा उसका विनाश हो जाता है। इस प्रकार वाह्य रूप में भिन्नता होने पर भी किसी एक विशेष वातावरण में रहनेवाले पौधों में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो उन्हें उस वातावरण के अनुकूल बनाती हैं और पनपने में मदद देती हैं।

पौधों से सम्बन्धित किसी भी स्थान का वातावरण वहाँ की भौगोलिक दशा, मिट्टी, ताप, जल, वर्षा (या जल की पूर्ति), वायु और प्रकाश की दशा पर निर्भर रहता है। इनके अतिरिक्त उस वातावरण में रहनेवाले अन्य जीवधारियों का--विशेषकर पौधों तथा जीवाणुओं का--भी समुचित प्रभाव उस पर पड़ता है। अंकुरण तथा पौधे की वृद्धि के लिए ये सारी दशाएँ आवश्यक हैं। इनमें से किसी एक के अभाव या अपूर्णता में उनकी समुचित वृद्धि और विकास नहीं हो सकता। इसके लिए एक ओर जहाँ उपजाऊ मिट्टी का होना अति आवश्यक है, वहाँ साथ ही पर्याप्त वायु, प्रकाश और समुचित ताप भी आवश्यक हैं। साधारणतया जहाँ वनस्पतियाँ पाई जाती हैं, वहाँ ये सभी बातें समुचित मात्रा में उपस्थित होती हैं। परन्तु इन सब में से जिस दशा का पौधों की वृद्धि और विकास पर सब से अधिक प्रभाव पड़ता है, वह है वर्षा या जल की पूर्ति, जिसकी मात्रा विभिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न होती है और यही कारण है कि और सब दशाओं की समुचित मात्रा होने पर भी किसी भी वातावरण में पौधों के किसी समुदाय विशेष के विकास पर जल का प्रभाव सब से अधिक पड़ता है।

विकिरण के समय पौधों के फल, बीज या बीजाणु किसी भी स्थान पर गिर सकते हैं, परंतु सब स्थानों पर सब प्रकार के पौधे नहीं उग पाते। इसका क्या कारण है? इसका कारण वातावरण की अनुकूलता या प्रतिकूलता है। यदि वातावरण अनुकूल न हुआ, तो पहले तो कदाचित् बीज का अंकुरण ही नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

होगा और यदि अंकुरण हो भी गया, तो पौधों की वृद्धि ही नहीं होगी और कुछ समय बाद वे मर जाएँगे। इस परिस्थिति के फल-स्वरूप विशेष वातावरण में उगनेवाले विभिन्न वर्ग के पौधों का एक विशेष समाज या समुदाय बन जाता है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न वातावरण मिलता है, और जैसा हम पहले ही बता चुके हैं, पौधों के इस सामुदायिक विकास पर जल का विशिष्ट प्रभाव होता है। जल की न्यूनता, अधिकता या और किसी विशिष्टता के कारण पौधों का यह समाज भी भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। वनस्पतियों का इस प्रकार का सामुदायिक विभाजन मुख्यतया तीन भागों में किया गया है :--

(१) स्वच्छ जल में उगनेवाले ऐसे पौधों का समुदाय, जिन्हें जलोद्भिद (हाइड्रोफाइट्स) कहते हैं।

(२) साधारण वातावरण में उगनेवाले ऐसे पौधों का समुदाय; जिन्हें समुद्भिद (मीजोफाइट्स) कहते हैं।

(३) मरुस्थली और बहुत सूखे वातावरण में उगनेवाले उन पौधों का समुदाय, जिन्हें शुष्कोद्भिद (जीरोफाइट्स) कहते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ विशेष वातावरण में उगनेवाले पौधों के अन्य समुदाय भी हैं, जैसे :--

(४) अधिक नमी और छाया में उगनेवाले पौधों का समुदाय; इन्हें आर्द्रतोद्भिद् (हाइग्रोफाइट्स) कहते हैं।

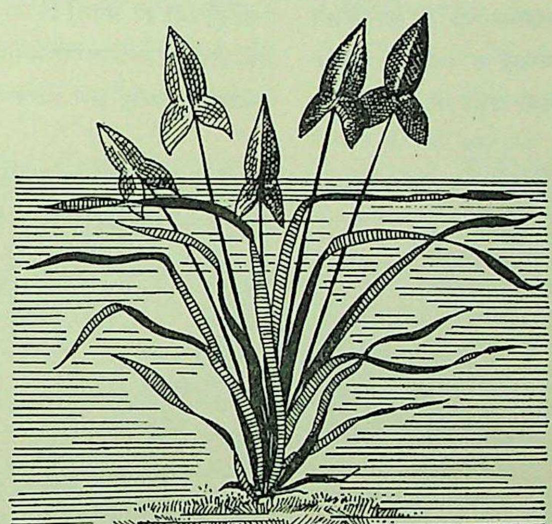

जलोद्भिद का एक उदाहरण : 'सैजिटेरिया सैजिटीफोलिया' नामक पौधा, जिसकी कुछ पत्तियाँ तो जलमग्न हैं और कुछ बाहर निकली। जलमग्न और बाहर निकली हुई पत्तियों के रूप की भिन्नता देखिये।

(५) खारे जल तथा ऐसे स्थानों में उगनेवाले पौधों का समुदाय, जहाँ मिट्टी में लवण की मात्रा अधिक होती है; इन्हें लवणोद्भिद (हैलोफाइट्स) कहते हैं।

ऊपर गिनाए गए प्रत्येक समुदाय के पौधों में अपने वातावरण विशेष के अनुकूल कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। इन्हीं का उल्लेख हम यहाँ करेंगे।

जलोद्भिद (हाइड्रोफाइट्स)

यह उन पौधों का समुदाय है, जो जल में पाये जाते हैं। ये या तो जल में पूरे डूबे हुए होते हैं, जैसे हाइड्रिला, वैलिसनेरिया आदि; या इनका अधिक भाग जल में डूबा हुआ होता है, जैसे कमल, सिंघाड़ा आदि; या वे जल की सतह पर तैरते हुए होते हैं, जैसे एजोला, सैलवीनिया, युट्रिकुलेरिया आदि। इन पौधों में निम्नलिखित रचनात्मक विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो जल की अधिकता और वातावरण में वायु (ऑक्सि-जन) की न्यूनता के कारण होती हैं :--

इस वर्ग के पौधों की पत्तियों और तने की वाह्यत्वचा पर वाह्यचर्म नहीं होता, क्योंकि जलीय पौधों में वाह्यत्वचा का मुख्य कार्य आन्तरिक ऊतकों की रक्षा के स्थान पर जल का अवशोषण हो जाता है। इनकी जड़-प्रणाली अवशोषण का कार्य न करके पौधे को केवल यथास्थान पकड़े रखने का कार्य करती हैं। इसलिए जड़ें संख्या में बहुत कम और अविकसित होती हैं। कुछ पौधों में--जैसे जलकुम्भी (युट्रिकुलेरिया) और सिरेटोफिलम में--जड़ें बिलकुल होती ही नहीं और ये पौधे जल में तैरते रहते हैं। इनकी जड़ों में मूलरोम की अत्यधिक न्यूनता या पूर्ण अभाव होता है। साथ ही इनमें मूलछद भी नहीं होता। इनका तना बहुत मुलायम, पतला और स्पंजी होता है और तने के अन्दर बहुत अधिक मात्रा में वायुस्थान मिलते हैं, जो पौधे को जल में तैरते रखने में सहायक होते हैं।

साधारण पौधों में जल तथा खाद्य पदार्थ ले जाने-वाली जाइलेम - वाहिनियाँ (काष्ठ-नलिकाएँ) नामक नलिकाओं तथा फ्लोयम की संख्या बहुत कम होती है। जो काष्ठनलिकाएँ उनमें होती भी हैं, वे बहुत पतली और अविकसित होती हैं, क्योंकि इन पौधों में जल-स्थानान्तरण की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इनमें तना अपने सहारे न खड़ा होकर जल के सहारे तैरता हुआ खड़ा रहता है। अतएव उसमें अतिरिक्त शक्ति प्रदान करने वाले दृढ़ोतक ऊतकों का भी अभाव ही होता है।

इनकी जल के अन्दर डूबी हुई पत्तियों में रन्ध्रों का अभाव होता है। जिन पौधों की पत्तियाँ पूर्णतया जलमग्न होती हैं, वे अधिकतर पतली, फीते की तरह या अधिक कटी हुई होती हैं, जिससे जल की तरंगों से वे फट न सकें।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कुछ पौधे ऐसे भी होते हैं, जिनकी कुछ पत्तियाँ या उनका कतिपय भाग तो जलमग्न होता है और कुछ भाग जल के बाहर निकला रहता है। ऐसी पत्तियों में दोनों प्रकार के लक्षण पाए जाते हैं। जलमग्न भाग में तो पूर्णतया जलमग्न पत्तियों के लक्षण पाए जाते हैं और बाकी भाग में ऐसी ही स्थितिवाले अन्य जलोद्भिद पौधों की पत्तियों के लक्षण होते हैं। जल के अन्दर प्रकाश की न्यूनता के कारण जलमग्न पत्तियों में लम्ब ऊतक का पूर्णतया अभाव होता है और वाह्य त्वचा की कोशिकाओं में पर्णहरिम भी होता है, जिससे कम प्रकाश में प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया भली प्रकार हो सके।

जिन पौधों की पत्तियाँ जल की सतह पर तैरती रहती हैं, उनकी निचली सतह पर तो रंध्र नहीं होते, पर पत्ती की ऊपरी सतह पर वाह्यचर्म, रंध्र तथा मोम की एक पर्त्त होती है, जिससे उस सतह पर जल का प्रभाव न पड़ सके। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण कमल, कुमुदिनी आदि की पत्तियाँ हैं।

जलोद्भिदों के प्रत्येक अंग, जड़, तना तथा पत्तियों में बहुत अधिक मात्रा में वायुस्थान होते हैं। ये पौधे के जल में तैरने में तो सहायक होते ही हैं, साथ ही इनका मुख्य कार्य पौधे की वायु की आदान-प्रदान की आवश्यकता को पूरा करना भी होता है। जैसा कि आप पहले पढ़ चुके हैं, पौधों को भी श्वसन के लिए ऑक्सिजन की आवश्यकता होती है और प्रकाश-संश्लेषण के लिए कार्बन डाइ-ऑक्साइड की भी जरूरत उन्हें पड़ती है। साधारण स्थलीय पौधों में तो यह आवश्यकता बहुत सरलतापूर्वक वायुमंडल में प्रचुर मात्रा में उपस्थित ऑक्सिजन और कार्बन डाइ-ऑक्साइड से पूरी हो जाती है, परन्तु जलीय पौधों को तो जल में घुलित ऑक्सिजन और कार्बन डाइ-ऑक्साइड पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जलोद्भिदों की अपनी विशेषता के कारण, जल में घुलित ये गैसें पौधों के वायुस्थानों में एकत्रित होती हैं, जहाँ श्वसन तथा प्रकाश-संश्लेषण जैसे कार्यों के लिए इनका प्रयोग होता है।

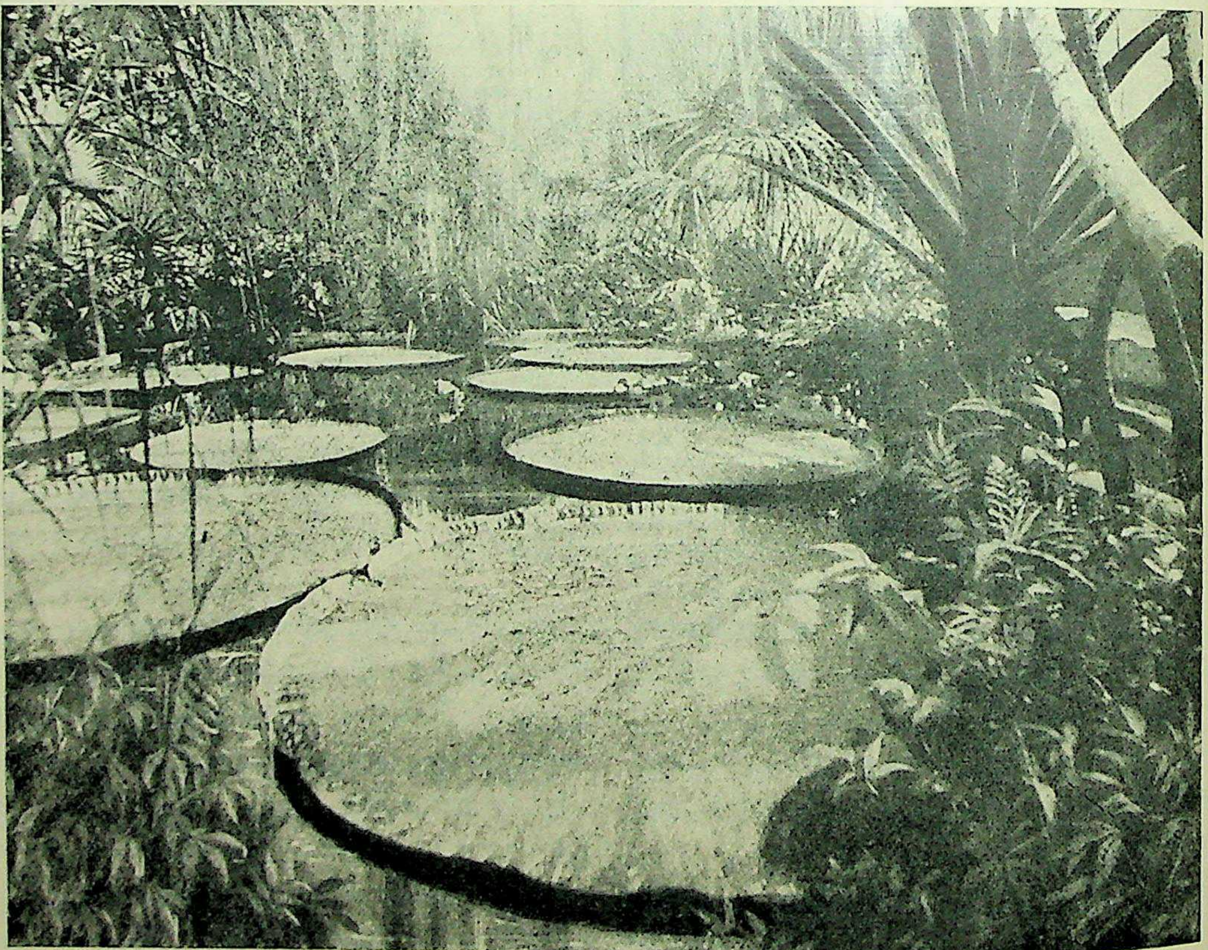

प्रस्तुत चित्र में जलोद्भिद समुदाय की 'विक्टोरिया रीजिया' नामक सुप्रसिद्ध कुमुदिनी की पानी पर तैरती हुई विशालकाय थालीनुमा पत्तियों की अद्भुत झाँकी प्रदर्शित है। इन पत्तियों का यह बृहत् आकार एवं उनके अन्य लक्षण अपने विशिष्ट वातावरण के प्रति अनुकूल बनने में विशेष रूप से सहायक हैं।

समुद्भिद (मीज़ोफाइट्स)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह सामान्य वातावरण में पाये जानेवाले उन स्थलीय पौधों का समुदाय है, जो साधारण ताप, साधारण वर्षा (जल-पूर्ति) तथा कम वायुवेग की दशा में उगनेवाले होते हैं। जिस मिट्टी में ये पौधे उगते हैं, वह भी सामान्य रूप की उपजाऊ मिट्टी होती है, जिसमें न लवणों की मात्रा अधिक होती है, न जल की। इस प्रकार ये समुद्भिद मानो जलीय और मरुस्थलीय पौधों के बीच की स्थिति दरसाते हैं। इसी कारण इन्हें मध्य श्रेणी के पौधे भी कहते हैं। इन पौधों में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं :--

ऐसे पौधों की जड़-प्रणाली पूर्ण रूप से विकसित होती है। द्विबीजपत्री पौधों की मूसला जड़ें और उनकी शाखाएँ तथा एकबीजपत्री पौधों की अस्थानिक जड़ें विकसित और फैली हुई होती हैं। मिट्टी से भलीभाँति जल-अवशोषण के लिए इनमें अधिक संख्या में मूलरोम पाये जाते हैं। तना जलोद्भिदों के तने के विपरीत स्पंजी न होकर प्रायः ठोस और काष्ठीय होता है। जाइलेम-वाहिनियाँ (काष्ठ-नलिकाएँ), फ्लोयम तथा अन्य दृढ़ोतक पूर्ण विकसित होते हैं। तने की सतह पर काँटे इत्यादि या तो पाये ही नहीं जाते, या वे बहुत कम संख्या में होते हैं। पत्तियों, तनों तथा उसकी शाखाओं पर वाह्यचर्म की एक पर्त मिलती है। पत्तियाँ चपटी तथा फैली हुई होती हैं, जिनकी निचली सतह पर बहुत अधिक संख्या में रंध्र मिलते हैं। ऊपरी सतह पर रंध्रों की संख्या बहुत कम होती है या उनका पूर्णतया अभाव होता है। कुछ समुद्भिदों में--विशेषकर एकबीजपत्री पौधों में, जिनकी पत्तियाँ फैली हुई न होकर खड़ी होती हैं--रंध्रों की संख्या ऊपरी और निचली सतह पर करीब-करीब बराबर होती है। शाकीय, क्षुप तथा वृक्ष आदि सभी प्रकार के पौधों में समुद्भिदों के उदाहरण मिलते हैं, जैसे मटर, टमाटर, मूँग, अरहर, खीरा, आम, अमरूद इत्यादि।

शुष्कोद्भिद (जीरोफाइट्स)

इस वर्ग के पौधे मरुस्थल या बहुत ही सूखे स्थानों में उगनेवाले होते हैं और बहुत अधिक समय तक सूखे वातावरण में रहने पर भी ये जीवित और हरे-भरे रह सकते हैं। ऐसे वातावरण में अधिकतर धूप तेज होती और तापमान तथा वायुवेग अधिक रहता है, जिससे एक ओर तो उत्स्वेदन द्वारा जल के ह्रास की सम्भावना अधिक हो जाती है और दूसरी ओर मिट्टी तथा वायुमंडल में जल की न्यूनता के कारण जल-अवशोषण कठिन या प्रायः असंभव-सा हो जाता है। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि ये पौधे अपनी सतह से उत्स्वेदन द्वारा जल के ह्रास को कम करें और रोकें तथा अपने अन्दर अधिक से अधिक मात्रा में जल संचित रक्खें, जो बहुत सूखी दशा में लम्बे समय तक इन पौधे की जीवन-क्रियाओं को सुचारु रूप से चलाते रहने में सहायक हो। इसके अतिरिक्त इन पौधों के जीव द्रव्य में भी ऐसी शक्ति होती है कि जल की बहुत कमी होने पर भी वह जीवित रहता है। इस प्रकार इन पौधों की वाह्य और आन्तरिक ऊतकों की रचना इन्हीं दो मुख्य आवश्यकताओं--जल के ह्रास को रोकना और जलसंचन--के अनुरूप होती हैं।

शुष्कोद्भिदों के लक्षण बहुत ठंडे स्थानों, जैसे आर्कटिक प्रदेशों या बहुत ऊँचे पहाड़ों या कंकड़ीली अथवा बलुई मिट्टी में उगनेवाले पौधों में भी मिलते हैं। ऐसे वातावरणों में भी प्रायः जल की न्यूनता और वायुवेग की अधिकता होती है, जिससे जल की प्राप्ति कम और ह्रास अधिक होने की संभावना रहती है। शुष्कोद्भिदों में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं :--

ऐसे पौधों की जड़ें बहुत लम्बी होती है और जल की खोज में वे बहुत नीचे तक चली जाती हैं। कुछ मरुस्थली पौधों में, जो अल्पायु होते हैं, अधिक मात्रा में ऊपरी जड़ें निकल आती है, जो अल्प वर्षा-जल का अवशोषण करती हैं।

जड़ों द्वारा अवशोषित जल को रोकने के लिए इनके तने और पत्तियाँ बहुत मोटी तथा मांसल हो जाती हैं और इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए इनके अन्दर विशेष ऊतक बन जाते हैं, जैसा नागफनी या थूहड़ के पौधों में होता है। इनका तना प्रायः पर्णकाय स्तम्भ में परिणत हो जाता है, जिसका रूप और कार्य पत्तियों जैसा हो जाता है। इस प्रकार इनमें अधिक मात्रा में जल तथा भोजन संचित हो सकता है; साथ ही साथ ये पत्तियों के प्रकाश-संश्लेषण का कार्य भी करते हैं।

इन पौधों की पत्तियों तथा तने के ऊपर वाह्यचर्म की एक मोटी पर्त होती है, जो उत्स्वेदन द्वारा जल के ह्रास को रोकती है। कुछ पौधों में पत्तियों की सतह पर मोम की भी एक पर्त पाई जाती है।

इनकी पत्तियाँ बहुत छोटी और शल्करूपी हो जाती हैं, जैसे केज़ूराइना और इक्वीसीटम के पौधे में। उत्स्वेदन की सतह कम करने के लिए पत्तियों का और कभी-कभी तने का भी काँटों में रूपान्तर हो जाता है, जैसा नागफनी या इसी प्रकार के अन्य पौधों में आपने देखा होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

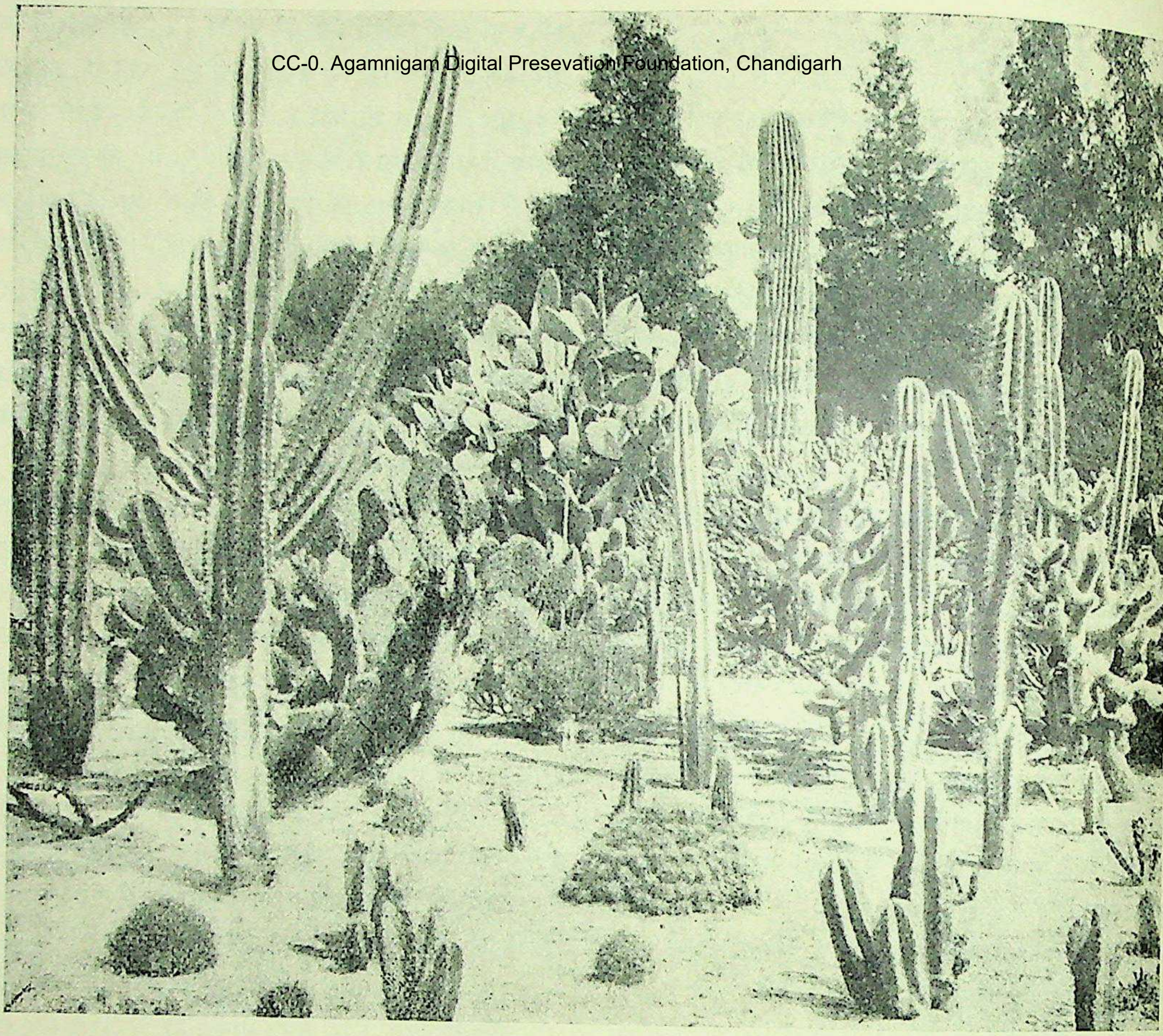

शुष्कोद्भिद (जीरोफाइट्स) समुदाय के पौधों की एक झाँकी :: थूहड़ और नागफनी वर्ग के पौधों की अनेक जातियों का जमघट इस चित्र में आप देख सकते हैं। इन पौधों के तने बहुत मोटे और मांसल हैं तथा उत्स्वेदन द्वारा जल के ह्रास को रोकने के लिए इनके तनों पर पत्तियों का काँटों में रूपान्तर हो गया है।

ऐसे पौधों की पत्तियों, तनों या शाखाओं पर घने बाल होते हैं और इन बालों की उपस्थिति से भी उत्स्वेदन कम हो जाता है। रंध्रों की संख्या बहुत कम होती है और ये पत्तियों की सतह पर न होकर गड्ढों में पाये जाते हैं, जिनमें कभी-कभी रोयें भी होते हैं। यह भी उत्स्वेदन द्वारा जल के ह्रास को रोकने की एक विशेष विधि है। इसका उदाहरण कनेर या चीड़ की पत्तियों में मिलता है। कुछ पत्तियाँ अधिक सूखी हवा होने पर वाह्यत्वचा की विशेष कोशिकाओं के कारण अन्दर की ओर मुड़ जाती हैं, जिससे उनकी वाह्यसतह कम हो जाती है और इसके फलस्वरूप उनका उत्स्वेदन भी कम हो जाता है। इसका उदाहरण बहुत-सी घासों की पत्तियों में मिलता है। शुष्कोद्भिदों के अन्य उदाहरण विभिन्न जाति के कैक्टस, नागदामन, कुलफा, गोखरू, पत्थरचट्टा, मदार, कांस और मूँझ हैं।

आर्द्रतोद्भिद (हाइग्रोफाइट्स)

यह उन पौधों का समुदाय है, जो जल में न उगकर ऐसे स्थानों में उगते हैं, जहाँ अधिक नमी और छाया होती है, जैसे नदी और तालाब के किनारे या दलदली स्थानों पर। इस प्रकार ये पौधे जलोद्भिदों के बहुत निकट संबंधी हैं और इनकी कुछ विशेषताएँ उनसे मिलती-जुलती होती हैं। इन पौधों की वर्द्धनशीलता अच्छी होती है। नमी की अधिकता के कारण इनकी जड़-प्रणाली बहुत विकसित नहीं होती। ये पौधे प्रायः छोटे होते हैं और इनका तना प्रायः कंद के रूप में मिट्टी के अन्दर होता है। पत्तियाँ पूर्ण विकसित और फैली हुई होती हैं, जिनमें बहुत अधिक संख्या में रंध्र होते हैं। प्रायः उनका अग्र भाग नुकीला होता है, जहाँ से अधिक मात्रा में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवशोषित जल बूँदों के रूप में निकलता रहता है। इनकी पत्तियाँ चिकनी और चमकदार होती हैं और उनका वाह्यचर्म बहुत पतला होता है। इनमें दृढ़ोतक तथा वाहिनी-बंडल का विकास बहुत कम होता है और आन्तरिक ऊतकों में बहुत अधिक मात्रा में वायुस्थान होते हैं, जिससे इनके अंग मुलायम और स्पंजी होते हैं। ऐसे आर्द्रतोद्भिदों के उदाहरण फर्न, मॉस, बिगोनिया आदि के पौधे हैं।

लवणोद्भिद (हैलोफाइट्स)

ये ऐसे स्थानों में उगनेवाले पौधे हैं, जहाँ की मिट्टी में लवणों की अधिकता होती है। इस प्रकार की मिट्टी समुद्र के किनारे पर, कतिपय खारी झीलों में या उनके तट पर, लवण के सोतों के आसपास या अन्य ऐसे स्थानों पर पाई जाती है, जहाँ लवणों की मात्रा बहुत अधिक होती है। ऐसी मिट्टी या जल में पाये जानेवाले पौधों को लवणोद्भिद कहते हैं। इन पौधों में भी कुछ अपनी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो बहुत कुछ शुष्कोद्भिदों से मिलती-जुलती हैं। इनमें भी जल के ह्रास को रोकने की विभिन्न विधियाँ पाई जाती हैं। मिट्टी में जल की अधिकता होने पर भी उक्त जल में लवण की मात्रा की अधिकता के कारण पौधों द्वारा पानी का अवशोषण कठिन होता है। लवणोद्भिद वर्ग के पौधों में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं :--

इनकी पत्तियाँ बहुधा छोटी, मोटी और मांसल हो जाती हैं। कभी-कभी ये शल्करूपी भी होती हैं। इनका तना भी मोटा और मांसल हो जाता है। जल की हानि को रोकने के लिए कुछ पौधों में पत्तियों का काँटों में रूपान्तर हो जाता है। वृक्षों तथा क्षुपों की पत्तियाँ विशेषकर मोटी और चमकदार होती हैं, जिनमें कोशिका-द्रव्य की अधिकता और पर्णहरिम की न्यूनता पाई जाती है। कुछ पौधों की पत्तियों की ऊपरी सतह पर मोम की एक पर्त भी पाई जाती है।

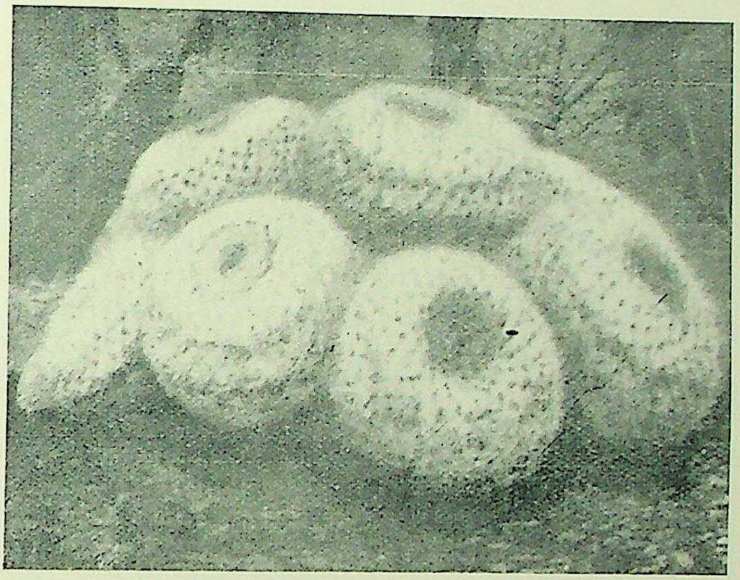

शुष्कोद्भिद समुदाय के कैक्टस-वर्ग के इस पौधे के ऊपर के रोएँ और काँटे रूपान्तरित पत्तियाँ हैं। ये उत्स्वेदन द्वारा जल का ह्रास रोकने में विशेष सहायक होते हैं।

समुद्र के किनारे उगनेवाले ऐसे पौधों का एक अलग से विशेष समुदाय ही होता है। उनमें ऊपर उल्लिखित विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य खूबियाँ भी पाई जाती हैं। पौधों के इस समुदाय को 'मैनग्रूव' या 'कच्छ-वनस्पति' के विशेष नाम से पुकारते हैं। हमारे देश में ऐसी वनस्पतियाँ विशेषकर सुन्दरवन तथा गंगा, महानदी आदि बड़ी नदियों के मुहानों पर मिलती हैं। ऐसी दशा में उगनेवाले पौधे समुद्र के ज्वार-भाटा के कारण कुछ समय तक जल के अन्दर और कुछ समय तक जल के बाहर रहते हैं। चूंकि ऐसी जगहों की मिट्टी में जल और लवण की मात्रा सदैव ही अधिक रहती है, अतः उसमें उगनेवाले इन पौधों में लवणोद्भिदों के लक्षण तो होते ही हैं, साथ ही निम्नलिखित अन्य विशेषताएँ भी पाई जाती हैं:--

मिट्टी में जल की अधिकता के कारण जड़ों में वायु का आदान-प्रदान समुचित रूप से नहीं हो पाता, इस कारण इन पौधों में एक विशेष प्रकार की जड़ें, जिन्हें 'श्वसन-जड़ें' कहते हैं, पाई जाती हैं। ये मिट्टी के ऊपर निकली हुई होती हैं। इन जड़ों में से प्रवेश करके वायु नीचे की जड़ों में जाती है, जिससे जड़ की कोशिकाओं के श्वसन के लिए पर्याप्त ऑक्सिजन प्राप्त हो जाती है। ऐसी श्वसन-जड़ें एवीसीनिया, करापा और सोनेरेशिया आदि पौधों में पाई जाती हैं। इन पौधों में एक और विचित्रता पाई जाती है। बीजों के अंकुरण के बारे में आप पढ़ चुके हैं कि उन्हें उचित ताप, पर्याप्त नमी और समुचित ऑक्सिजन (वायु) की आवश्यकता पड़ती है। इन पौधों के फल या बीज यदि नीचे मिट्टी में गिर जाएँ, तो इन्हें अंकुरण के लिए जल और उचित ताप तो मिल जायगा, पर उस मिट्टी में ऑक्सिजन

की न्यूनता और लवण की अधिकता के कारण उनका पूर्ण-रूपेण अंकुरण नहीं हो पाएगा। इस कमी को पूरा करने के लिए इन पौधों में एक विचित्र साधन होता है, जिसे 'विवीपैरी' कहते हैं। ऐसे पौधों के बीजों का अंकुरण पैतृक पौधे से अलग होने के पूर्व ही हो जाता है और वे एक नवोद्भिद को जन्म देते हैं, जिसमें जड़, तना तथा पत्तियाँ बन जाती हैं। इस अवस्था में जब फल पैतृक पौधे से अलग होता है, तो नीचे गिरते ही नवोद्भिद की जड़ें मिट्टी में स्थापित हो जाती हैं। इस तरह नए पौधे का विकास आरम्भ हो जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो आपने देखा कि किसी भी वातावरण में रहनेवाले पौधों में उस वातावरण के अनुकूल बनने के लिए किस प्रकार खास तरह की विशेषताएँ पैदा हो जाती हैं, जिनके कारण उक्त वातावरण में उन पौधों का समुदाय भली भाँति बढ़ता और पनपता है! वनस्पतियों के विकास पर जहाँ वातावरण का काफी प्रभाव पड़ा करता है, वहाँ किसी एक स्थान विशेष के वातावरण के विकास पर वहाँ की वनस्पतियों का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। प्रायः वनस्पतियों के कारण ही किसी स्थान का वातावरण अधिक नमीवाला या सूखा हो जाता है या वहाँ की मिट्टी की उपजाऊ शक्ति बढ़ जाती है। वहाँ के प्रकाश की दशा पर भी कुछ प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उस स्थान का वानस्पतिक विकास विशेष प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ, यदि आप किसी बंजर स्थान के वानस्पतिक विकास को देखें, तो पाएँगे कि प्रथम वर्ष में वहाँ जंगली घास या ऐसी ही बहुत-सी छोटी-छोटी वनस्पतियाँ पर्याप्त दूरी पर उगती हैं। दूसरे वर्ष पौधों की संख्या में वृद्धि होती है और घासों के अतिरिक्त बहुत से एकवर्षीय, कतिपय द्विवर्षीय और कुछ बहुवर्षीय पौधे भी उग आते हैं। इन पौधों का विकास बीज और वर्धीप्रचारण दोनों विधियों से होता है। तत्पश्चात् इन पौधों में खाद्य पदार्थ, प्रकाश और जल की प्राप्ति के लिए आपस में होड़ आरम्भ हो जाती है, जिसके कारण एकवर्षीय पौधे (जिन्हें प्रतिवर्ष अपना नया जीवन आरम्भ करना पड़ता है) धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं और उनके स्थान पर बहुवर्षीय पौधों की संख्या बढ़ती जाती है। उनमें भी कुछ पौधों की वृद्धि औरों की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है। अंत में ऐसे विभिन्न प्रकार के पौधों को मिलाकर उनका एक समुदाय विशेष बन जाता है, जिसे 'चरमावस्था का समुदाय' कहते हैं। विभिन्न वातावरणों और जलवायु के चरमावस्था के समुदायों में भी भिन्नता पाई जाती है।

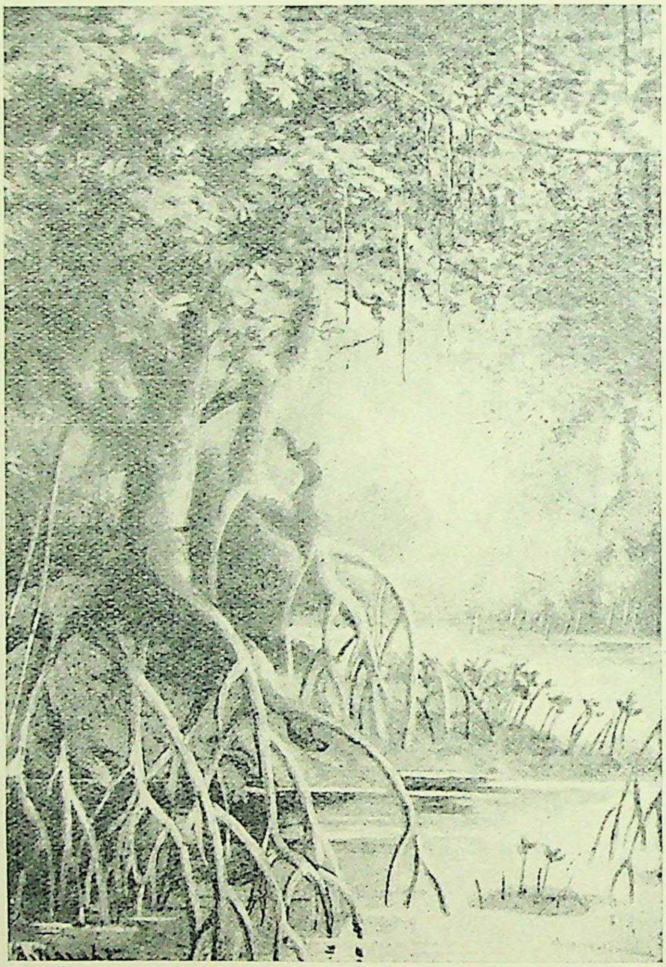

लवणोद्भिद (हैलोफाइट्स) समुदाय के पौधों का एक उदाहरण :: मैनग्रूव या 'कच्छ-वनस्पति'। मिट्टी से ऊपर निकली हुई श्वसन-जड़ें देखिए!

वानस्पतिक विकास का यह क्रम आदिकाल से चलता चला आ रहा है। किसी भी देश या महाद्वीप के अंतर्गत विभिन्न स्थानों के जलवायु में जो भिन्नता पाई जाती है, उसके फलस्वरूप वहाँ की वनस्पतियों में भी समुचित भिन्नता हमें मिलती है। किसी एक जलवायु विशेष में उगनेवाले वनस्पतियों की ऐसी बड़ी इकाई को पौधों का संघटन (फार्मेशन) कहते है। शीतोष्णपरिमित वन, शुष्क नित्यहरित वन, कोनिफर वन इत्यादि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। ऐसे प्रत्येक संघटन के अन्तर्गत वनस्पतियों की छोटी इकाइयाँ भी होती है, जिन्हें साहचर्य (एसोशियेशन) कहते हैं और प्रत्येक साहचर्य के अन्तर्गत उससे भी छोटी इकाइयाँ होती हैं, जिन्हें संघात (कन्सोशियेशन) कहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

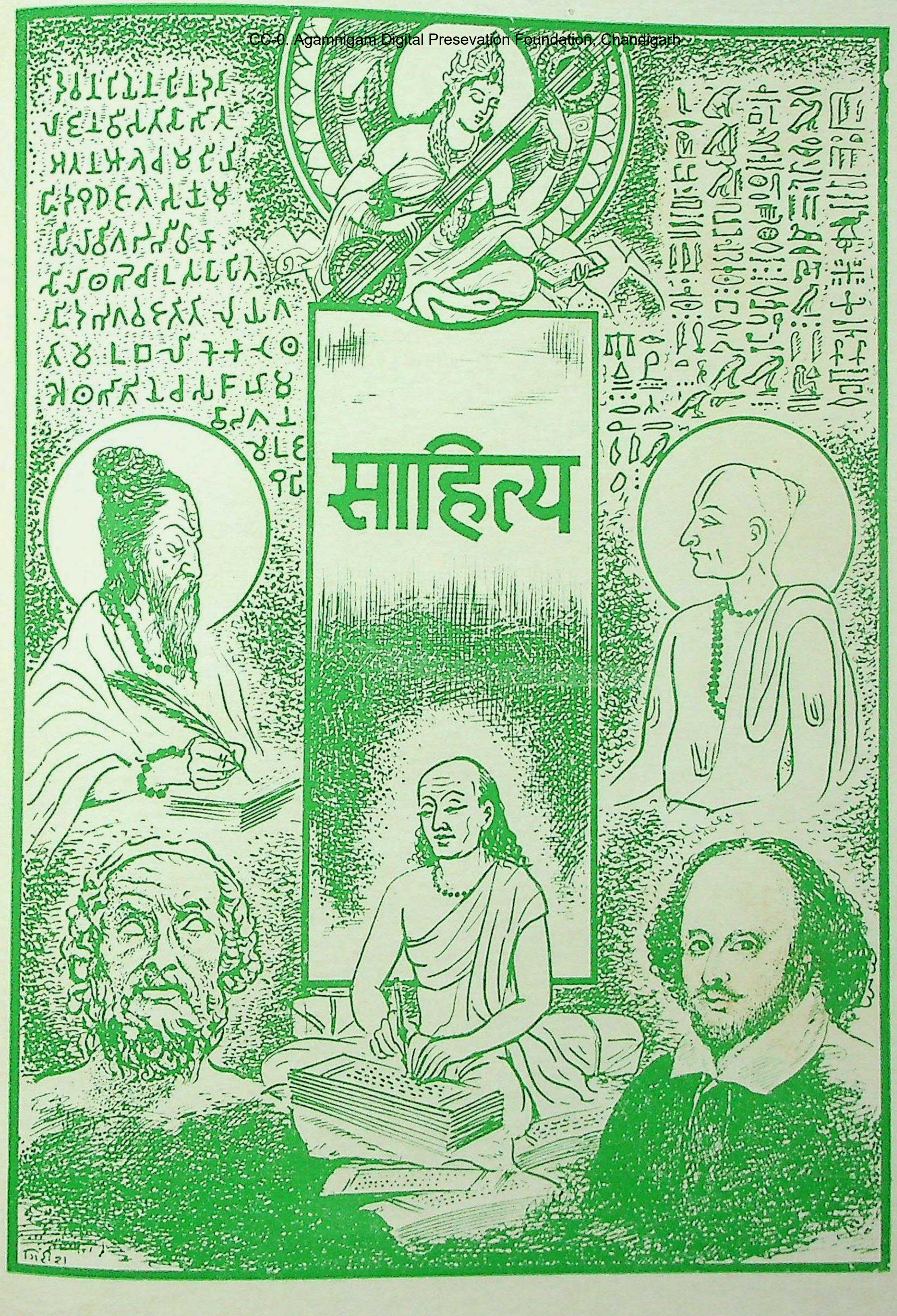

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य वाङ्मय के मुकुटमणि महाकवि शेक्सपियर के सर्वश्रेष्ठ दुःखान्त नाटक 'हैमलेट' की एक झाँकी

श्मशान-भूमि में खोदी जा रही कब्र का दृश्य देखकर जीवन की निस्सारता से अभिभूत डेनमार्क के राजकुमार की यह मार्मिक छवि महान् फ्रेंच कलाकार देलाक्रोया की कल्पना का प्रसाद है [दे० पृ० ३६७४]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य वाङ्मय—(१) लैटिन, इटैलियन, जर्मन, स्पेनिश, फ्रेंच साहित्य

प्राचीन ग्रीक-लैटिन से लेकर अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, इटैलियन, स्पेनिश, नार्वेजियन, स्वीडिश, डैनिश, पोलिश, रूमानियन आदि विविध आधुनिक योरपीय भाषाओं की सुसमृद्ध साहित्य-निधि से गौरवान्वित पाश्चात्य वाङ्मय की इयत्ता इतनी बड़ी है कि उसका पुरा लेखा-जोखा इन थोड़े-से पृष्ठों में देना दुष्कर कार्य है। अतः इस बृहत् वाङ्मय के विविध अंगों का अति संक्षिप्त पर्यालोचन ही इस लेखमाला में क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। प्राचीन ग्रीक साहित्य का विवरण तो इससे पहले ही पिछले खंड में दिया जा चुका है। आइए, अब लैटिन से आरंभ करके पाश्चात्य वाङ्मय के अन्य अंगों का परिचय प्राप्त करें।

प्राचीनतम लैटिन साहित्य के नमूने रोमन कानून के बारह खाकों में उपलब्ध होते हैं। वैसे लैटिन के प्राचीनतम साहित्यिक रूप का पता सिसरो की रचनाओं से चलता है। सिसरो से भी पूर्व एक विद्वान् लिवियस आन्द्रोनिकस के होने के भी प्रमाण मिलते हैं। लिवियस न केवल होमर तथा ग्रीक नाटकों का लैटिन में अनुवादक ही था, अपितु वही लैटिन का प्रथम नाटककार भी था। लिवियस के समकालीन क्विन्टस इनियस नामक विद्वान् ने १८ खण्डों में 'एनालस' नामक वीर काव्य की रचना की थी। अन्य परवर्ती नाटककारों में पासूवियस, प्लातस, सिसीलियस स्तातियस तथा तेरेन्तियस आफेर के नाम अविस्मरणीय हैं।

ई० पू० तीसरी शती में कालिमाचुस हुआ। लैटिन में गीत एवं स्केच का विकास उसके प्रभाव से ही हुआ। लघु कविताएँ लिखनेवाले कवियों में लूताशियस कातुलस, वालेरियस इदीतुअस तथा पोर्सियस लिसिनस ने अधिक ख्याति अर्जित की थी। अन्य कवियों में लीवियस, फूरियस बिबाकुलस, हेल्वियस सिन्ना, कातुलस तथा दार्शनिक कवि लुक्रेशियस के नाम उल्लेखनीय हैं। लैटिन का प्रथम गद्यकार कातो था। उसके पश्चात् मार्कस तेरेन्तियस वारो इस क्षेत्र में आगे बढ़ा। उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उसने भाषाशास्त्र तथा अन्य गम्भीर विषयों पर सफलतापूर्वक रचनाएँ की थीं। उसने लगभग ४० ग्रन्थों का प्रणयन किया था। परन्तु गद्यकारों में महान् वक्ता सिसेरो का नाम सब से आगे की पंक्ति में प्रतिष्ठित है। सिसेरो के साहित्य पर उसके व्यक्तित्व की प्रखर छाप मिलती है। उसकी रचनाएँ पद-पद पर मार्मिकता तथा तर्क से युक्त हैं। उसने दर्शनशास्त्र पर भी लगभग एक दर्जन ग्रन्थ लिखे थे! जूलियस सीजर का भी गद्य पर पूर्ण अधिकार था। गॉल के युद्ध संबंधी उसकी कृति लैटिन गद्य की अमर थाती है।

लैटिन साहित्य का स्वर्णयुग :: वर्जिल, होरेस, ओविद

ऑगस्टस का युग लैटिन साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। उसके दरबार में वर्जिल, होरेस तथा प्रोपर्तियस जैसे उच्च कोटि के कवि थे। इन सब ने अपनी रचनाओं में बड़ी ही कोमल भावनाओं का चित्रण किया है। स्वर्णयुग के अन्य कवियों में कातुलस, तिबुलस तथा ओविद ने अधिक ख्याति प्राप्त की। इन सभी कवियों ने बहुत ही मार्मिक शोक-काव्य लिखे। ओविद की 'एलेजी' प्रसिद्ध है। होरेस की महान् कृतियाँ 'ओड' नामक लिरिक कविताएँ तथा 'एपिस्तल' हैं। वर्जिल की महान् रचना 'एनिड' नामक महाकाव्य है, जिसे संसार की सब से अधिक विषादपूर्ण कृति कहा गया है!

१४ ई० से ११७ ई० के बीच के काल को लैटिन का रजतयुग माना जाता है। यह युग प्रधानतः गद्य के विकास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का काल है। इस युग में सुतोनियस ने रोमन सम्राटों का इतिहास लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार तासितस तथा प्रतिभाशाली गद्य-लेखक प्लिनी भी इसी काल में हुए। व्यंग्य-लेखकों में पर्सियस फ्लाकस तथा जुवेनाल के नाम उल्लेखनीय हैं। ये दोनों लेखक समकालीन समस्याओं पर तीव्र व्यंग्य की रचना करने में बहुत सफल हुए। जुवेनाल प्रायः दुराचारी व्यक्तियों पर छींटाकशी किया करता था। इसी प्रसंग में एक अन्य विद्वान् का नाम भी उल्लेखनीय है। वह था क्विन्तिलियन, जिसका 'ओरेटरी' नामक ग्रन्थ एक युगान्तरकारी रचना है। इस कृति में वक्तृत्व-कला, अलंकार, साहित्य-मीमांसा तथा शिक्षा आदि विषयों पर गहरा प्रकाश डाला गया है। क्विन्तिलियन ने अपने समय में आलोचक के रूप में विशिष्ट ख्याति प्राप्त की थी।

प्रथम शताब्दी ई० के साहित्यकारों में लुकानस तथा मार्तियल अधिक प्रसिद्ध हुए। कवि मार्तियल असाधारण प्रतिभा से युक्त था। उसके काव्य में रोम के घृणित जीवन का यथातथ्य चित्रण हुआ है। द्वितीय शताब्दी ई० के मध्य में अपूलियस का आविर्भाव हुआ। उसने गद्य के माध्यम से रोम की ह्रासकालीन सांस्कृतिक स्थिति का सफल चित्रण किया है।

ईसाई साहित्यकार

उत्तरकालीन लैटिन साहित्य प्रधानतः 'ईसाई साहित्य' कहा जा सकता है। इस युग का प्रथम ईसाई गद्यकार था तरतूलियन। उसके दो गद्य-ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हुए। ये हैं--'अपोलो जेतिकस' तथा 'द प्रिस्क्रिप्तिओने हिरेतिकोरम'।

लैटिन-साहित्य के स्वर्णयुग की दो विभूतियाँ :: (ऊपर) लोकप्रिय कवि ओविद; (नीचे) महाकवि वर्जिल।

इस काल के अन्य ईसाई गद्यकारों में मिनूसियस फेलिक्स, अर्नोबियस तथा लाक्तान्तियस के नाम उल्लेखनीय हैं। इन तीनों ही गद्यकारों ने ईसाई धर्म के प्रचारार्थ क्रमशः 'आक्तावियस', 'अदवसर्स नातिओनिज' तथा 'इन्स्तुतिओनिज दिवीनी' नामक सुप्रसिद्ध लैटिन ग्रन्थों की रचना की थी।

ईसाई साहित्यकारों में कई कवि भी हुए। उनमें संत आगस्तिन, संत जेरोम, संत अम्ब्रोस तथा पॉलिनस प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने मार्मिक धर्मप्रधान कविताओं की रचना की। इनका आदर्श बाइबिल थी। फलतः इनके काव्य में आचार और नैतिकता का विशेष पुट मिलता है। दोनेतस तथा कापेला इस समय के दो अन्य प्रकाण्ड ईसाई विद्वान् हुए। दोनेतस प्रसिद्ध वैय्याकरण था एवं कापेला प्रख्यात भाषा-शास्त्री। ईसाई धर्म के उत्कर्ष से उत्पन्न धार्मिक द्वन्द्व से योरप में एक विशिष्ट साहित्यिक परम्परा का विकास हुआ। शनैः-शनैः जब उच्च वर्ग के लोग भी ईसाई धर्म में प्रविष्ट होने लगे, तो धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में लैटिन को बड़ा बल मिला। इस युग के साहित्यकारों में बोथीयस, कासियोदोरस, संत बेनीदिक्त, पोप ग्रेगरी, संत ईसीदोर, कवि सेदूलियस, सूक्तकार फोरतुनातस, इतिहासकार बीदी एवं कोलम्बानस, अलकुइन, ह्राबानुस मॉरस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय के कवियों में स्ट्राबो ने प्रकृति-काव्य तथा गोत्सचाक ने गीति-काव्य लिखकर विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। दसवीं शती ई० में साम्राज्य के विभाजन के कारण लैटिन साहित्य ह्रासोन्मुख रहा, यद्यपि गर्बर्ट तथा भिक्षुणी ह्रविथा जैसी कुछ विभूतियाँ उसके सर्जन में थोड़ा-बहुत योग देती

रहीं। ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई० में योरप में कई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इन विश्वविद्यालयों से लैटिन के अध्ययन को काफी बल मिला। इस युग में क्लासिकल तथा जन-साहित्य दोनों को बढ़ावा मिला। इस काल के प्रमुख रचनाकार हैं--आन्सेलम, सेंट पीटर दामियान, आबेलार्द, जॉन ऑफ सैलिस्बरी, सेंट बर्नार्ड तथा सेंट टामस अक्विनास।

उत्तरमध्यकाल में लैटिन साहित्य के प्रांगण में काव्य-ग्रन्थों की अधिक रचना हुई। इस समय की लैटिन काव्य-धारा पर इटैलियन भाषा के महाकवि दाँते का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

पुनर्जागरण-युग

१४वीं शती ई० के लगभग लैटिन साहित्य में पुनर्जागरण की लहर उठी। इस युग में कला और साहित्य दोनों में नई अभिरुचियों को प्रश्रय मिला और प्रधानतः मानवतावादी कविताएँ लिखी गईं। इन कृतियों में मध्ययुगीन बर्बरता की खुलकर आलोचना की गई तथा साहित्यकारों ने एक नवीन जीवन-दर्शन अपनाया। इस काल के साहित्यकारों में प्रमुख हैं--टामस कैम्पिस, फ्रांसिस्कस पेत्रार्का, वल्ला, मुरेतस तथा पोप लियो दशम। इस युग का एक प्रकाण्ड विद्वान् इरेस्मस था, जो ग्रीक-लैटिन का माना हुआ पंडित था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लैटिन साहित्य के इतिहास में १६ वीं शती ई० प्रधानतः भावुक कवियों का युग है। इस शती के प्रमुख कवि स्कालीगर्स, कासौबन, लिप्सियस तथा सल्मासियस हैं। १७ वीं शती ई० का प्रमुख लैटिन साहित्यकार रिचर्ड बेन्टली था। मिल्टन तथा बेकन ने भी कई एक रचनाएँ लैटिन में ही प्रस्तुत की थीं। उधर सारबिव्स्की ने लैटिन में एक महाकाव्य की रचना करने के अलावा चार अन्य काव्य-ग्रन्थों की भी भेंट दी थी। महान् गणितज्ञ न्यूटन ने भी अपनी ख्यातिप्राप्त पुस्तक 'प्रिन्सिपिया' को लैटिन में ही प्रस्तुत किया था। सुकुमार एवं अन्य भावों को कलात्मक अभिव्यक्ति देनेवाले इस युग के कवियों में रेपिन, आन्द्रियास स्कॉट तथा हारदुइन के नाम उल्लेखनीय हैं।

लैटिन भाषा का प्रभाव पश्चिमी दुनिया में १९ वीं शती ई० तक बना रहा। उसमें साहित्य की प्रायः सभी विधाओं की रचना होती रही तथा उसके द्वारा सुकुमार भावनाओं को सफलता के साथ व्यक्त किया जाता रहा। तब समय ने पलटा खाया और प्रत्येक देश में राष्ट्रीयता का नारा बुलन्द हुआ। फलतः योरप के हर देश ने अपनी-अपनी भाषा को प्रधानता दी। इस प्रकार योरपीय साहित्यकारों ने जब लोकभाषाओं का पल्ला पकड़ा, तो उसका परिणाम यह हुआ कि बीसवीं शती ई० तक आते-आते योरप में लैटिन साहित्य की प्रबल धारा सर्वथा सूख गई।

इटैलियन साहित्य

इटैलियन भाषा का उद्भव और विकास रोमन राजभाषा प्राचीन लैटिन की वंशानुगत स्वाभाविक उत्तराधिकारिणी के रूप में हुआ था। रोमन साम्राज्य का अवसान होने पर जब लैटिन का सितारा क्रमशः अस्त हो चला, तब इटैलियन को बढ़ावा मिला। वैसे ईसाई धर्मगुरुओं का आश्रय पाकर बाद की सदियों में भी लैटिन में लिखना-पढ़ना जारी रहा, परन्तु तेरहवीं शताब्दी ईस्वी तक आते-आते इटली में बोलचाल के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र में भी लोकभाषा इटैलियन का प्रतिष्ठित स्थान बन गया।

महाकवि दाँते

साहित्य के प्रांगण में इटैलियन को वास्तविक प्रतिष्ठा प्रदान करके उसके गौरव में चार चाँद लगाने का सर्वाधिक श्रेय तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के संधिकाल में आविर्भूत महाकवि दाँते (१२६५-१३२१ ई०) को है, जिनकी महान् कृति 'दिवाइना कोमेडिया' (डिवाइन कामेडी) न केवल इटैलियन साहित्य का ही वरन् विश्व-वाङ्मय का अन्यतम रत्न है। यह कृति दाँते ने लगभग पंद्रह वर्षों में लिखकर पूरी की थी। यह एक रूपकथाकाव्य है, जिसमें 'विवेक' के प्रतीक पूर्ववर्ती महाकवि वर्जिल के पथनिदर्शन में दाँते क्रमशः 'इन्फर्नो (नरक), 'पर्गेटरी' (मध्यवर्ती लोक) एवं 'पेरेडाइज' (स्वर्ग) नामक विश्व-ब्रह्माण्ड के तीन लोकों की सैर करता और अंत में 'ट्रिनिटी' के रूप में परमेश्वर के साथ मानव आत्मा के एकीकरण का दिव्य रहस्य-ज्ञान प्राप्त करता है। इस काव्य को महाकवि ने बीएट्रिस नामक सुंदरी के प्रति अपने दिव्य प्रेम से प्रेरित होकर लिखा था। 'डिवाइन कामेडी' के अतिरिक्त दाँते की चार अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध हैं। परवर्ती योरपीय साहित्य पर दाँते का गहरा प्रभाव पड़ा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पेट्रार्क और बोकाचियो

इटैलियन साहित्य की अभ्युदयकालीन विभूतियों में महाकवि दाँते के बाद सब से उल्लेखनीय नाम महान् गीतलेखक पेट्रार्क और कथाकार बोकाचियो के हैं। ये दोनों न केवल इटैलियन के ही, वरन् योरपीय वाङ्मय के महान् स्तंभ हैं।

पेट्रार्क को इटैलियन साहित्य का प्रथम आधुनिक पुरुष कहा जाता है। उसका समय १३०४ से १३७४ ई० रहा है। उसने इटैलियन भाषा में केवल एक "साँग बुक" या गीतिग्रन्थ की सृष्टि करके ही अमरत्व प्राप्त कर लिया। लैटिन भाषा में भी उसने रचनाएँ की हैं, किन्तु उसकी ख्याति इटैलियन भाषा में रचित कविताओं के कारण ही है। पेट्रार्क के गीत संसार के महानतम् गीतिकाव्य के संग्रहों में सम्मिलित करने योग्य हैं। परवर्ती इटैलियन साहित्य पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है।

१३१३-१३७५ ई० के मध्य इटली में बोकाचियो नामक अन्य एक साहित्यिक प्रतिभा का उदय हुआ। उसे इटली ही नहीं, संसार का बहुत बड़ा कहानीकार माना गया है। कहानियों के अतिरिक्त उसने सोनेट, महाकाव्य और व्यंग्यकाव्य भी लिखे। पेट्रार्क की भाँति बोकाचियो ने भी लैटिन एवं इटैलियन दोनों भाषाओं में साहित्य रचा। उसके ग्रन्थों में 'फिलोकोपो', 'फियामेत्ता' और 'देकामेरन' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। 'देकामेरन' का समूचे परवर्ती योरपीय साहित्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है और अनेक लेखक इससे प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। बोकाचियो इटैलियन गद्यकार के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा।

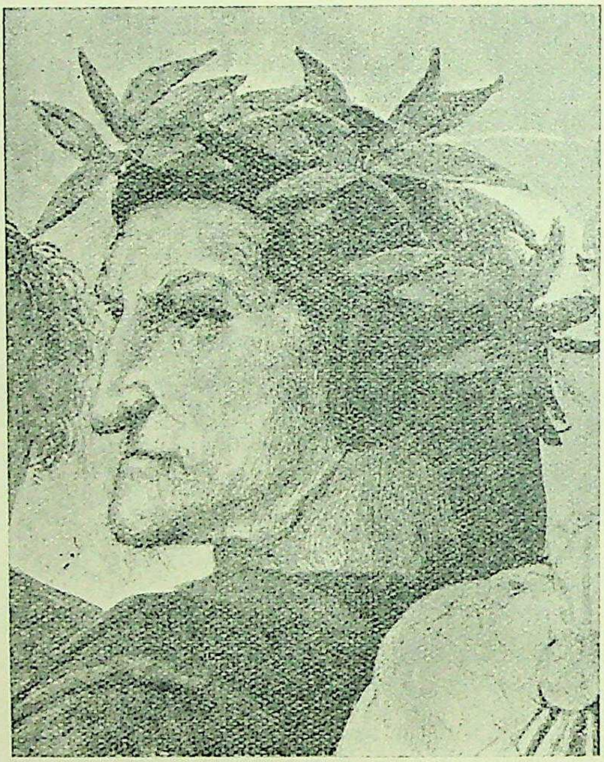

इटैलियन साहित्य के सिरमौर महाकवि दाँते।

मध्यकालीन काव्य और नाटक

इटली के साहित्य पर पन्द्रहवीं शताब्दी की मानवतावादी धारा का गहरा प्रभाव पड़ा। पुल्सी (१४३२-१४८४ ई०), बोइआर्डो (१४२०-१४९४) एवं ऐरिओस्तो (१४७४-१५३३) नामक लेखक इस धारा में रोमान्टिक साहित्य के प्रमुख सर्जक थे। पुल्सी के ग्रन्थों में 'मोरगान्ते माजिओरे' नामक काव्य विशेष प्रसिद्ध हुआ। इसमें मनोरंजकता एवं व्यंग्य का गहरा पुट है। इस ग्रन्थ का परवर्ती रोमान्टिक साहित्य पर काफी प्रभाव माना गया है। बोइआर्डो की प्रसिद्ध रचना "ओर्लैण्डो इन्नामोरेतो" है। ऐरिओस्तो रोमान्टिक काव्य लिखनेवालों में अग्रणी माना गया है। उसका "ओरलैण्डो फ्यूरिओसो" नामक काव्य बहुत समादृत हुआ है। यह काव्य-ग्रन्थ योरप की प्रायः समस्त भाषाओं में अनूदित हो चुका है।

पश्चिमी योरप की अन्य भाषाओं की भाँति इटैलियन में भी पुनरुत्थान-काल में आकर मध्यकालीन नाटक का क्षीण प्रभाव रह गया था। १४७२ ई० के लगभग एंजिलो एमब्रोजिनो पोलिजियेनो (१४५४-१४९४) ने 'लाँ फेबोला द ऑर्फियो' नामक नाटक लिखा और १४९४ ई० के आसपास बोइआर्डो ने "तिमोने" नाटक की रचना की, जिसका मूल स्वर नीतिपरक है। मध्यकालीन प्रभाव को व्यक्त करनेवाले उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त दुःखान्त, सुखान्त एवं प्रकृति से साहचर्य व्यक्त करनेवाले अन्य नाटक भी लिखे गए। इन दुःखान्त नाटकों में कोई विशेषता न थी। इनकी तुलना में तो सुखान्त नाटक ही अधिक अच्छे थे। प्रकृति से साहचर्य व्यक्त करनेवाले नाटकों में महत्वपूर्ण कृति "पास्तर फिदो" है, जिसकी रचना बेतिस्ता-गुरिनी ने की थी। इसके ८० से अधिक संस्करण मुद्रित हो चुके हैं। आलोचकों के अनुसार इस नाटककार का शेक्सपियर और मार्लो पर भी प्रकट या परोक्ष प्रभाव पड़ा था।

इसी युग में तासो (१५४४-१५९५ ई०) नामक प्रसिद्ध साहित्यकार हुआ, जिसने इटैलियन भाषा में गीतिकाव्य, नाटक और प्रबन्ध-काव्य की रचना की। उसके द्वारा प्रणीत

'आमिन्ता' (१५७३ ई०) नामक नाटक एवं "जेरूसलेम लिबराता" (१५७५ ई०) नामक महाकाव्य ने विशेष ख्याति प्राप्त की। 'आमिन्ता' का काव्य-सौन्दर्य दर्शनीय है। आलोचकों ने विचार व्यक्त किया है कि इसका प्रभाव कदाचित् शेक्सपियर पर भी पड़ा था। 'जेरूसलेम लिबराता' में युद्ध-वर्णन, चरित्रांकन आदि का महत्व तो है ही, साथ ही उसका मुख्य आकर्षण उसकी प्रेम-कहानियाँ हैं। वेदना और रोमान्स की भावना को प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णन करने की तासो में विलक्षण क्षमता थी। इटैलियन साहित्य की इस मध्यकालीन रत्नमाला के दो और मनके विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये हैं—अपनी विशिष्ट राजनीति पर प्रकाश डालनेवाले 'प्रिन्स' नामक नाटक और अन्य रचनाओं का प्रस्तुतकर्त्ता निकोलो मेकियावेली (१४६९-१५२७ ई०), जिसे 'योरप का चाणक्य' कहा गया है तथा प्रसिद्ध मूर्तिकार बेन्वेन्यूतो सेलीनी, जिसकी 'आत्मकथा' योरपीय वाङ्मय की स्थायी निधि मानी जाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सत्रहवीं शताब्दी ई० का प्रतिनिधि कवि मेरिनो (१५६९-१६२५ई०) था। उधर नाटककारों में एण्ड्राइनी उल्लेखनीय है, जिसने 'आदामो' नामक दुःखान्त नाटक प्रस्तुत किया।

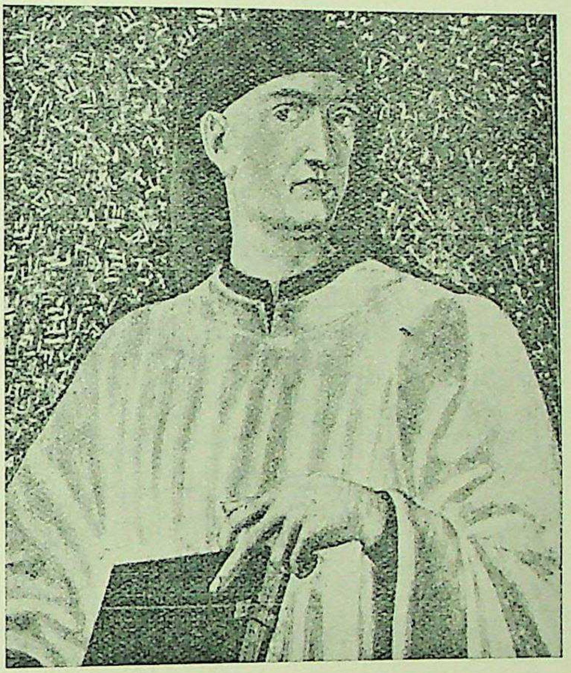

महान् कथाकार बोकाचियो, जिसकी अद्भुत कृति 'देकामेरन' इटैलियन कथा-साहित्य की सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त रचना है।

गोल्डोनी, आलफियेरी और मान्जोनी

अठारहवीं शताब्दी में इटैलियन साहित्य में काफी उन्नति हुई। इस समय के लेखकों ने प्राचीन ग्रीक-लैटिन एवं फ्रेंच रचनाकारों से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की। इस सम्बन्ध में गोल्डोनी एवं आलफियेरी नामक नाटककारों के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में इटैलियन साहित्य पर यथार्थवाद का प्रभाव बढ़ने लगा और रोमान्टिक काव्यधारा के प्रति विरोध व्यक्त हुआ। गोल्डोनी (१७०७-१७९३ ई०) को इटैलियन भाषा का मोलियर कहा गया है। उसने फ्रांसीसी नाट्यकार मोलियर के सुखान्त नाटकों के आदर्श को सामने रखकर मानव चरित्र तथा जीवन के प्रति वास्तविकता की दृष्टि रक्खी। उसने १२० सुखान्त नाटकों की रचना की थी। आलफियेरी (१७४९-१८०३ ई०) ने कई दुःखान्त नाटकों की रचना की, जिनमें 'साल', 'फिलिप्पो', 'ब्रूटो सेकेण्डो' इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में इतिहास का आधार ग्रहण किया गया है।

इटैलियन साहित्य में मान्जोनी (१७८५-१८७३ ई०) का कृतित्व बहुमुखी था। उसने गीति-काव्य, नाटक और उपन्यास सब कुछ रचे। उसके गीतिकाव्य में आन्तरिक प्रेरणा है एवं भावनाओं की सवेग व्यंजना हुई है। उसके एक गीतिकाव्य 'पाँच मई' को अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। ऐतिहासिक विषय के आधार पर उसने दो दुःखान्त नाटकों की भी रचना की थी। ये हैं—'कोण्त द-कारमाग्नोला' एवं 'आडेल्की'। मान्जोनी इतिहास के तथ्यों के प्रति इतना जागरूक था कि नाटकीय संविधान की आवश्यकता होने पर भी उसने ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन नहीं किया। इसीलिए उसके नाटक नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से दुर्बल हो गए। १८२३ ई० में उसने 'आइ प्रामेसी स्पोसी' नामक एकउपन्यास भी प्रस्तुत किया, जिसको इटैलियन भाषा का महान् उपन्यास कहा गया है। इसकी प्रशंसा स्कॉट एवं गेटे तक ने की है। इसमें कथानक, चरित्रशैली और हास्य के तत्त्व भलीभाँति प्रतिष्ठित हुए हैं।

लियोपार्डी, कार्डूची, द-एनुनजिओ, पिरेन्डेलो आदि

उन्नीसवीं शताब्दी में इटैलियन साहित्य की सभी विधाओं में उन्नति का ज्वार आया था। इस युग का प्रतिनिधि कवि था लियोपार्डी (१७९८-१८३७ ई०)। वह गीतकार, दार्शनिक, आलोचक और निबन्धकार था। तासो के उपरान्त वह इटैलियन भाषा का सब से बड़ा कवि माना गया है। उसकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसिद्धि का मुख्य आधार उसकी नवीन 'श्रोड्स' हैं, जिनमें उसका व्यक्तिवाद और नैराश्य सम्मिलित रूप से व्यक्त हुआ है। उसका महत्व प्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड के इन शब्दों से प्रकट होता है--'लियोपार्डी का उल्लेख मिल्टन और दाँते के साथ किया जा सकता है!

इस काल का दूसरा महान् स्तंभ था, कारडूची (१८३५-१९०७) जो वक्ता, अध्यापक, आलोचक और कवि था। उसके काव्य में मानवतावाद, देशभक्ति, पुरातनवाद आदि का प्रभाव स्पष्ट है। उसने अपनी विचारधारा को बड़ी भावुकता के साथ व्यक्त किया है। कारडूची मूल रूप में एक गीतकार और कवि ही था। उसने ग्रीक और रोमन जीवन की प्राचीनता को विषय रूप में लिया और अपनी कृतियों में क्लासिकल प्रभाव उत्पन्न किया। उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं--'पोइसी', 'राइम नुओवे', और 'ओदे बार्बरी'। कारडूची वक्ता के रूप में भी स्मरणीय है। १८८२ ई० में उसने गेरीबाल्डी के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण भाषण दिया था, जो इटैलियन गद्य के इतिहास में अमर रहेगा।

बीसवीं शती के इटैलियन साहित्य की विभूतियों में सब से पहले गाब्रिएले द-एनुनजिओ (१८६३-१९३८ ई०) का नाम हमारे समक्ष आता है। वह कवि, उपन्यासकार, नाटककार और सैनिक सब कुछ था। उसकी प्रसिद्धि विशेषरूप से एक सौन्दर्यप्रेमी कवि के रूप में हुई। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उसने भौतिक सुन्दरता के अनेक स्थूल चित्र खींचे हैं। उसकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध हैं--'कान्ती नुओवी', 'प्राइमोवेरे' (१८७९) और 'ला चिमैरा' (१८८८)। उसके उपन्यासों में 'इल पायासेरे,' 'इल इनोसेंट' आदि प्रसिद्ध हैं। उसके नाटक समादृत नहीं हो पाए।

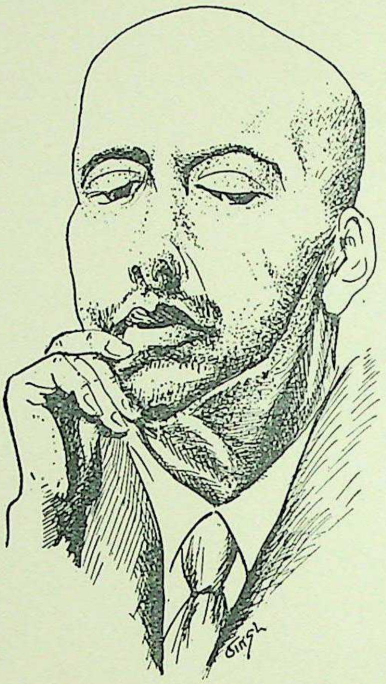

अद्भुत बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न इटैलियन कवि गाब्रिएले द-एनुनजिओ।

इस काल का दूसरा नाम लुइगी पिरेन्डेलो (१८६७-१९३६) का है, जिसने कवि के रूप में साहित्य-सर्जन प्रारम्भ किया, परन्तु उसे ख्याति वस्तुतः अपने नाटकों के कारण मिली। अपने दुःखी जीवन के कारण उसके साहित्य में निराशा घनीभूत हो उठी है। उसने ३८ नाटक लिखे, जिनमें 'एन्रिको फोर्थ', 'तुत्तो पर बेने', 'कोसे ई से वि पारे' आदि प्रसिद्ध हैं।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दियों के अंचल में पसरे हुए इटैलियन साहित्यकारों में अन्य उल्लेखनीय नाम हैं--काव्य के क्षेत्र में जियोसेपे जिउस्ती, ग्रेबिएल रोसेती, जियोसेपे जियो कीनो, जिआनोने, आलर्डी, आदि; नाटक के क्षेत्र में निकोलिनी, कोसा, जिरोलामो रोवेत्ता, फेरारी, जियाकोजे, ब्राको, कियारेली आदि; और उपन्यास के क्षेत्र में ओरियानी, सिलोन बोईतो, तथा श्रीमती ग्रेजिया देलेद्दा। इनमें देलद्दा को नोबुल-पुरस्कार मिल चुका है।

: जर्मन साहित्य :

जर्मन साहित्य का आदियुग जाति के शूरवीरों के विरुद में रचे गए वीरकाव्यों या बैलेडों का युग है, जिसका विस्तार नवीं से तेरहवीं शताब्दी ई० तक फैला हुआ है। ऐसे वीरकाव्यों में से एक है 'निबेलुंगेनलीड', जिसमें राजा गुंथर के वीर सामन्त हागेन की आदर्श स्वामिभक्ति का चित्रण है। इस काल में अनेक प्रणय-कथाएँ भी काव्य-बद्ध हुईं। सोलहवीं सदी के ईसाई धर्म-सुधार आंदोलन का जर्मन साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। ब्रैंट और इरेस्मस ने अपनी कृतियों में भ्रष्ट पादरियों का व्यंग्य चित्र उपस्थित किया। मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६) ने बाइबिल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया और उलरिख हुट्टन, रुखलिन आदि ने भी गद्य की कतिपय पुष्ट रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इस समय के अन्य लेखकों में हांस साख्स उल्लेखनीय है। उसने कविता के अलावा नाटक भी लिखे थे।

सत्रहवीं शताब्दी में कविता के क्षेत्र में मार्टिन ओपित्ज, फ्रेडरिख फॉन लोगेयू, पॉल फ्लेमिंग तथा पॉल गरहार्ट सामने आए। गरहार्ट ने सुन्दर धार्मिक कविताएँ लिखीं। नाटक के क्षेत्र में ग्राईफियस ने सुखान्त-दुःखान्त दोनों प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उसके दुःखान्त नाटकों में 'लियो आरमीनियस' और सुखान्त नाटकों में 'डी गेलिते दार्नरोज' प्रसिद्ध हैं। इन्हीं दिनों ग्रीमेल्सहाउसेन ने 'सिम्पलिसिसिमस' नामक महान् औपन्यासिक कृति प्रस्तुत की, जिसे उक्त शताब्दी की सर्वश्रेष्ठ गद्य-रचना कहा गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेसिंग, हरडर, आदि

अठारहवीं शताब्दी ई० के मध्य से जर्मन साहित्य ने प्रगति का पथ पकड़ा। उसके उपरान्त उसके प्रांगण में कई महान् साहित्यकार आविर्भूत हुए। इस समय का उपन्यास-साहित्य क्रिस्टोफ मार्टिन वीलैण्ड (१७३३-१८१३ ई०) से प्रारम्भ होता है। उसके उपन्यासों में 'आगाथान', 'गिरोन डर एडलिज' आदि उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों का मनोविज्ञान-सम्बन्धी आधार पुष्ट है। वीलैण्ड ने 'मुसारिआन', 'ओबेरान' आदि कतिपय काव्य भी लिखे। परंतु इस युग का सब से महान् व्यक्तित्व तो लेसिंग (१७२९-१७८१ ई०) के रूप में सामने आया, जिसने नाटक के क्षेत्र में 'मिस सारा सेम्पसन', 'फिलोटास', 'एमीलिया गालोटी', 'नेथन डेर वाइज', 'मीना फॉन बार्नहेम' आदि विख्यात कृतियाँ भेंट कीं। गेटे के उत्थान के पूर्व जर्मनी का सब से बड़ा साहित्यकार लेसिंग ही था। उसके नाटकों को जर्मन वाङ्मय में बड़े आदर का स्थान प्राप्त है। नाटकों के अतिरिक्त लेसिंग ने 'हाम्बुर्गशे ड्रामाटर्जी', 'लिटरेचरब्रीफे' एवं 'लाओकून' जैसे अपने गंभीर मीमांसा-ग्रन्थों द्वारा साहित्य और कला के आधारभूत आलोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया। वस्तुतः गेटे और शिलर जैसे महान् साहित्यकारों के लिए पूर्वभूमिका तैयार करने का अधिकांश श्रेय लेसिंग को ही प्राप्त है।

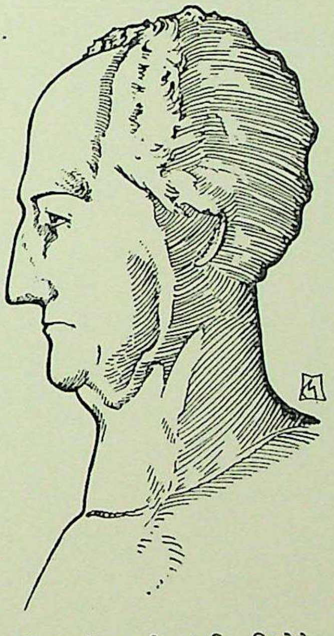

जर्मन साहित्य की महाविभूति गेटे।

जोहान गोटफ्राइड हरडर (१७४४-१८०३ ई०) भी इस युग के जर्मन साहित्य का अति महत्वपूर्ण लेखक था। वह 'स्टूर्म उण्ड डांग' नामक युगान्तरकारी साहित्यिक आंदोलन का प्रधान प्रेरक था। उसने शुष्क बुद्धिवाद एवं अनुकरण-वृत्ति पर जोरों से प्रहार किया। उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानव इतिहास के दार्शनिक तत्त्व पर रचित एक पुस्तक है, जिसमें उसने साहित्य, दर्शन और संस्कृति विषयक अपने विचार व्यक्त किए हैं। हरडर को विविध देशों के १८२ लोकगीतों का संग्रह करके जर्मन भाषा में उन्हें प्रस्तुत करने का श्रेय भी प्राप्त है। जर्मन साहित्य एवं शेक्सपियर पर लिखित उसके समीक्षा-ग्रन्थ भी बड़े मार्के के हैं। विचारों में हरडर रूसो का अनुगामी था। रूसो की भाँति उसका भी अपने युग पर व्यापक प्रभाव पड़ा। हरडर का ही समकालीन था फ्रेडरिख गॉटलिब क्लोपस्टॉक (१७२४-१८०३ ई०), जो अपने युग के महान् गीतिकाव्यकार के रूप में प्रख्यात हुआ। कतिपय सुन्दर गीतों की रचना करने के साथ-साथ उसने छः नाटक भी लिखे।

गेटे, शिलर, हाइने

जर्मन साहित्य की रत्नमाला में गेटे (१७४९-१८३२ ई०) का स्थान कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ जैसा है। इस महाकवि ने गीत, बैलेड, महाकाव्य, उपन्यास और नाटक सभी कुछ की सृष्टि की। उसके द्वारा रचित गीत और बैलेड जर्मन वाङ्मय की स्थायी निधि बन गए हैं। 'हरमेन उण्ड डोरोथिया' उसका प्रसिद्ध महाकाव्य है। उपन्यासों में 'डी लाइडेन डेस जंगु'न वर्दर्स' (वर्दर का विषाद) और 'विल्हेम मेइस्तर' उल्लेखनीय हैं। नाटकों के क्षेत्र में 'एगमोन्ट', 'इफीजीनी आउफ टारिस', 'टरक्वाटो टास्सो' एवं 'फॉस्ट' प्रमुख हैं। 'फॉस्ट' नामक दुःखान्त काव्य-नाटक गेटे की सर्वोत्तम कृति माना जाता है। इसी के बल पर यह महाकवि संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में परिगणित हुआ है।

गेटे का ही समकालीन अन्य एक महान् साहित्यस्रष्टा था शिलर (१७५९-१८०५ ई०), जिसका स्थान जर्मन वाङ्मय की प्रथम पंक्ति में प्रतिष्ठित है। वह एक विख्यात नाटककार, इतिहासकार, कवि, दार्शनिक और गद्य निबंध-लेखक था। उसकी प्रसिद्ध नाट्य-रचनाओं में 'डी राउबर', 'वालेन्स्टाइन', 'डान कारलोज इन्फेंट फॉन स्पेनियेन', 'काबाले उण्ड लीबे',

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'विलियम टेल', 'मारिया स्टुअर्ट', 'डी जुङ्फ्रौ फॉन ओर्लियन्स' आदि प्रमुख हैं। नाटकों के अलावा उसने गीत, निबन्ध आदि भी लिखे थे। उसके दार्शनिक निबन्ध, बैलेड और गीत जर्मन वाङ्मय की मूल्यवान् संपत्ति हैं। गेटे की तरह शिलर का भी अपने युग और परवर्ती योरपीय साहित्यधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

उन्नीसवीं शताब्दी का जर्मन साहित्य रोमान्सवाद, यथार्थवाद और प्रकृतिवाद इन तीनों ही धाराओं में प्रवाहित हुआ। रोमान्सवादी कवियों में होल्डरलिन, आइखेनडार्फ, ब्रेन्टानो, आर्निम, मूलर, मोरिके और हेनरिख हाइने (१७९७-१८५६ ई०) के नाम अग्रणी हैं। इनमें होल्डरलिन ने प्रवेगपूर्ण गीतिकाव्य लिखा और हाइने ने गीत और बैलेड दोनों की रचना की। होल्डरलिन प्राचीन ग्रीस का अनन्य भक्त था, साथ ही वह गेटे की 'वर्दर' जैसी घोर निराशावादी रचनाओं से भी प्रभावित हुआ था। हाइने की प्रसिद्धि उसके अनूठे गीतों (लिरिकों) की बदौलत है, जिसके कई संग्रह प्रकाशित हुए। उसकी कतिपय गद्य-कृतियाँ भी, जिनमें यात्रा संबंधी रचनाएँ प्रमुख हैं, पठनीय हैं। नाटक के क्षेत्र में इस काल में हेनरिख फॉन क्लाइस्त (१७७७-१८११ ई०) ने 'डेर प्रिंस फॉन हामबुर्ग' जैसी उत्कृष्ट कृति की रचना की और फ्रेंक ग्रिलपारजर (१७९१-१८७२ ई०) ने 'डी आन्फ्राउ', 'सैफो', इत्यादि अनेक विचारोत्तेजक नाटक लिखे। ग्रिलपारजर इस युग का महान् नाटककार था। उसके नाटक अब तक अध्ययन की वस्तु बने हुए हैं। उसी के समसामयिक फ्रेडरिख हेबेल और रिचर्ड वैगनर थे। हेबेल (१८१३-१८६३ ई०) ने अपने नाटकों में यथार्थवाद का प्रवर्तन किया, जिसकी झलक हमें 'जूडिथ', 'जेनोविवा', 'एग्नीज बर्नार', 'गीगेज उंड साइन रिंग' और 'निबेलुंग' नामक उसकी सभी कृतियों में देखने को मिल सकती है। परवर्ती योरपीय साहित्य हेबेल का बहुत-कुछ ऋणी है। वैगनर ने अपने प्रख्यात नाटकों और ओपेराओं में यथार्थवाद से [illegible] देश और जाति के पुरातन गौरव का चित्र सामने रक्खा। 'डर फ्लिगैन्डे हालैण्डर', 'त्रिस्तन उंड इसोल्डे', 'डेर रिंग डेस निबेलुंगेन' आदि उसकी प्रख्यात कृतियाँ हैं।

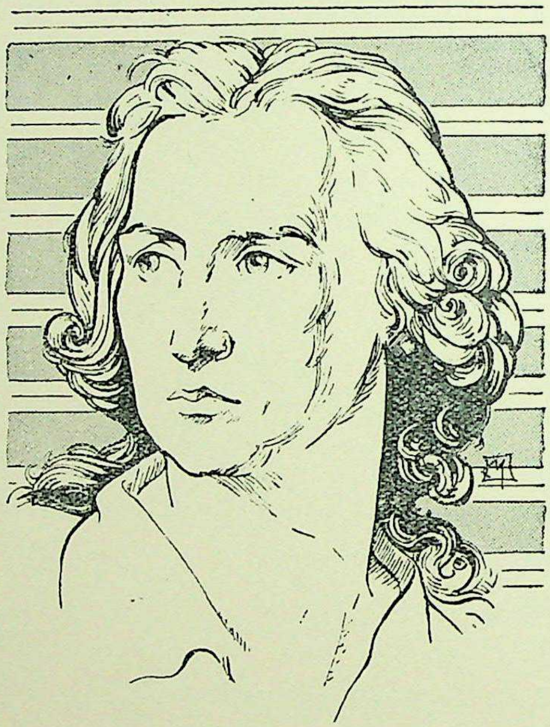

महान् साहित्यस्रष्टा शिलर।

यथार्थवादी धारा का विकास

इस युग के उपन्यासकारों में (फ्रेडरिख रिख्तर) जीन पॉल और अर्नेस्ट थिओडोर हाफमान के नाम उल्लेखनीय हैं। जीन पॉल ने कई मौलिक उपन्यास और कहानियाँ लिखीं—'टाइटन' और 'हेस्पेरस' उसकी प्रमुख कृतियाँ हैं। हाफमान ने भी जीवन की विभीषिका से सम्बन्धित अनेक उपन्यास लिखे, जिनमें 'डी एलेग्सीर द त्यूफेल्स' और 'डर गोल्डन तोफ' प्रसिद्ध हैं। हाफमान की कहानियाँ सर्वाधिक प्रिय हैं। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध जर्मन साहित्य में यथार्थवाद और प्रकृतिवाद का युग है। इस क्षेत्र में हेबेल के बाद ओटो लुडविग (१८१३-१८६५), हरमेन सुडरमान (१८५७-१९२८) और गर्हर्ट जोहान हाउप्तमान (१८६२-१९४६) के नाम प्रसिद्ध हैं। इन सब ने मुख्य रूप से नाटक लिखे। लुडविग की प्रसिद्ध कृति 'डेर एर्बफार्स्टर' है। सुडरमान के नाटकों में 'मागदा', 'डी एहरे' उल्लेखनीय हैं। हाउप्तमान की कृतियों में आकर प्रकृतिवादी धारा सब से अधिक मुखरित हुई है। उसके प्रख्यात नाटक हैं—'डि वीबर', 'डि वर्सङ्कने ग्लोके', 'हेनेलीज हिमेलफार्त', 'डेर बीबेरपेल्त्स' आदि। उसने कविता, कहानी और कुछ उपन्यास भी लिखे।

उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में यथार्थवादी धारा बहानेवालों में इमरमान (१७९६-१८४०), गस्टव फ्रेताग (१८१६-१८९५) आदि उल्लेखनीय हैं। फ्रेताग ने 'सोल उण्ड हेबेन' नामक कृति में जर्मन व्यावसायिक जीवन का यथार्थ चित्रण किया। कहानी-लेखकों में थियोडर स्टोर्म (१८१७-१८८८) और गोटफ्राइड केलर (१८१९-१८९०) ने विशेष लोकप्रियता प्राप्त की। केलर को जर्मन साहित्य का

सर्वश्रेष्ठ कहानीकार कहा गया है। इसी काल में कोनरेड फरडिनेन्ड मेयर (१८२५-१८९८) ने उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्धि पाई। 'डेर हाइलीगे', 'डास एम्यूलेट', इत्यादि उसके बहुर्चाचित उपन्यास हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन वाङ्मय की श्रीवृद्धि करने में कान्ट, हैगेल, शोपेनहार, शेलिंग, नित्शे, कार्ल मार्क्स, आदि उन तत्त्ववेत्ताओं ने भी कम योगदान नहीं दिया, जिनकी कृतियाँ न केवल चिंतन के क्षेत्र की संसार की महान् निधि हैं, प्रत्युत जर्मन गद्य की भी अनूठी उपलब्धियाँ हैं।

आधुनिक काल

बीसवीं शताब्दी के जर्मन साहित्य में यथार्थवाद और नियोरोमान्सवाद का प्राधान्य है। प्रथम महायुद्ध के समय जर्मन भाषा में अनेकानेक राष्ट्रीय काव्य, यथार्थवादी नाटक और उपन्यास लिखे गए। इस काल के जर्मन कहानीकारों और उपन्यास-लेखकों में हरमैन स्तेर, हेनरिख मान, हैन्स ग्रिम, हरमेन हेस, फ्रैंज कफका, जेकोब वासरमान, टामस मान, फ्रैंज वरफेल और मारिया रोमार्क इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें फ्रैंज वरफेल, हरमेन हेस, टामस मान, फ्रैंज कफका और वासरमान के उपन्यासों ने सर्वाधिक ध्यान खींचा। टामस मान (१८७५-१९५५ ई०) को इस काल के जर्मन वाङ्मय की महाविभूति कहना अनुपयुक्त न होगा। १९२९ ई० में उसे अपनी साहित्यिक देन के उपलक्ष्य में नोबुल-पुरस्कार प्रदान किया गया। उसके महान् उपन्यास हैं--'बुडेनब्रुक्स', 'डेर जाबरबर्ग' (जादुई पर्वत), 'टोनियो क्रूगर' और 'जोजफ'। वर्फल की सब से लोकप्रिय कृति 'डास लिएड फॉन बर्नाडेटी' है, जिसकी फिल्म भी बन चुकी है।

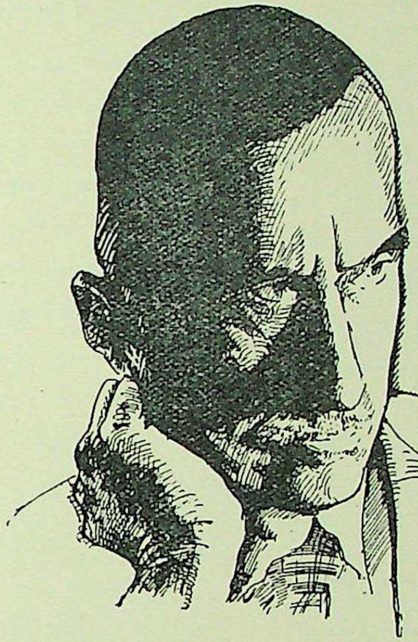

नोबुल-पुरस्कार-विजेता टामस मान।

इस शताब्दी के प्रारंभ में प्रचुर गीतिकाव्य भी लिखा गया, जिस पर अभिव्यञ्जनावाद का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार के प्रमुख गीतिकाव्यकार थे--डेह्मेल, स्टीफेन जार्ज, हाफमानस्ताल और रेनर मेरिया रिल्के। इनमें डेह्मेल पर नीत्शे का गहरा प्रभाव था। उसके काव्य में यथार्थवाद, रोमांसवास, रहस्यवाद और बुद्धिवाद सभी का घालमेल है। स्टीफेन जार्ज यथार्थवाद और प्रकृतिवाद का घोर विरोधी था--उसने नैतिक आदर्शवाद का नारा बुलन्द किया। रिल्के में भावुकता के साथ अभिव्यंजनावाद की पुट है।

नाटक के क्षेत्र में इस युग के प्रमुख लेखकों में श्नीट्जलर, वेदेकाइंड, कैसर और अर्नेस्ट टॉलर के नाम उल्लेखनीय हैं। आर्थर श्नीट्जलर के नाटकों में 'डास वरमाख्तनिस' प्रसिद्ध हैं। फ्रैंक वेदेकाइंड पर अश्लील नाटककार होने का आरोप लगाया गया है, यद्यपि उसके नाटकों के सबल स्वर का आलोचकों ने समर्थन भी किया है। अभिव्यञ्जनावाद से प्रभावित आधुनिक नाटककारों में जार्ज कैसर का 'डी जूडिश वित्वे' नामक व्यंग-नाटक उल्लेखनीय है। अर्नस्ट टॉलर (१८९३-१९३९) ने समसामयिक समाज की कुरीतियों की आलोचना करनेवाले नाटक लिखे। उसकी 'डी वांडलुंग' और 'डी मेशीनस्टार्मर' अपने ढंग की अनूठी कृतियाँ हैं।

: स्पेनिश साहित्य :

अन्य योरपीय भाषाओं की भाँति रेनासाँ या पुनरुत्थानकाल में स्पेनिश भाषा में भी काव्य, उपन्यास, नाटक इत्यादि के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। गीतिकाव्य के क्षेत्र में जुआन बोस्कन अलमोगेवर पुनरुत्थानकाल का महत्वपूर्ण कवि था। उसने काव्य-कला में नवीन प्रयोग किए थे। गारसिलेसो द ला वेगा (१५०३-१५३६) को 'त्रुटिविहीन कवि' कहा गया है। उसने कविताएँ रची तो कम थीं, किन्तु उनकी कला-सम्बन्धी पूर्णता उल्लेखनीय थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसका मुख्य विषय प्रेम था। फ्रे लुई द लिग्रोन (१५२७-१५९१) स्पेनिश भाषा का सब से बड़ा गीतिकाव्यकार माना गया है। वह प्रकृतिप्रेमी था। 'नोशे सीरिना' और 'वीदा रेताइरादा' उसके सुप्रसिद्ध गीत हैं। उसने उच्चकोटि का गद्य भी लिखा था। इसी युग में होनेवाले सान जुग्रान द ला क्रुज (१५४२-१५९१) को स्पेनिश भाषा का सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि कहा गया है। पुनरुत्थानकाल में महाकाव्यों की भी रचना हुई, परन्तु उनमें विशेषता नहीं है।

सरवान्तिस और एनसीना

इस युग में सब से उल्लेखनीय कार्य उपन्यास के क्षेत्र में हुआ। इस काल के कथा-साहित्य में आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों प्रकार के उपन्यास रचे गए। यथार्थवादी उपन्यास का अभ्युदय पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ। इस समय के उपन्यासों में 'सिलेस्तीना' की बड़ी ख्याति है। इसका अपने युग पर व्यापक प्रभाव स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार 'लाजारिल्लो द तोरमेज' भी इस काल की एक महत्वपूर्ण कृति है। उधर मातियो आलेमान (१५४७-१६१० ई०) ने 'गुजमान द एलफाराचे' नामक उपन्यास लिखा। यह स्पेनिश भाषा के महत्वपूर्ण उपन्यासों में गिना जाता है। इसी कोटि के और भी कई उपन्यास लिखे गए, किंतु इस युग की सब से लोकप्रिय और प्रसिद्ध कृति तो वस्तुतः मिग्युएल द सरवान्तिस सावेद्रा (१५४७-१६१६ ई०) के 'दोन कुइजोते' (डॉन क्विक्जोट) के रूप में सामने आई। इस व्यंगपूर्ण उपन्यास का संसार की समस्त सभ्य भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

महान् उपन्यासकार सरवान्तिस।

नाटक के क्षेत्र में इस युग में जुग्रान देल एनसीना (१४६९-१५२९ ई०) की प्रसिद्धि सब से अधिक है। उसे स्पेनिश नाटक का जनक कहा गया है। उसके नाटकों में मुख्य हैं-- 'एग्लोग द क्रिस्तिनो इ फेबी', 'एग्लोग द त्रेस पेस्तोरी' आदि। इन्हीं दिनों का एक मौलिक तथा शक्तिशाली नाटककार था बारटोलोमी द तोरेस नहारो। उसकी उल्लेखनीय रचनाएं हैं--'सेराफिना' और 'ला यमेनिया'। इन्हीं का समकालीन लोप द वेगा कार्पिग्रो (१५६२-१६३५) को संसार के बहुत बड़े नाटककारों में परिगणित किया गया है। उसने चार सौ के ऊपर सुखान्त नाटक लिखे थे! वह एकांकी नाटकों के लेखक के रूप में भी प्रख्यात है। उसने अपने नाटकों के कथानक इतिहास, प्रेम और ग्रामीण जीवन आदि सभी विषयों से लिए। उसके नाटकों में से महत्वपूर्ण ये हैं-- 'रोमा अब्रासादा', 'फुएन्ते ओवेजूना', 'एल एसेरो द माद्रिद' और 'एल कास्तिगो सिन वेन्गान्जा।' लोप द वेगा का शिष्य तिर्सो द मोलीना चरित्रांकन और काव्यतत्त्व के नाटकीय प्रयोग की दृष्टि से शेक्सपियर के निकट माना गया है। उसकी रचनाओं में से प्रसिद्ध हैं--'ला प्रूडेंशिया एन ला मुजेर', 'एल बर्लादोर द सेविल।' और 'दॉन गिल द लास काल्जाज वर्दी।' इस युग के अन्य एक महान् नाट्यकार जुग्रान रुइज द एलारकोन ई मेन्डोजा ने स्पेनिश ड्रामा में गंभीरता एवं नैतिकता का प्रवेश कराया। उसका सुखान्त नाटक लिखनेवालों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उसकी रचनाओं में 'लास पारिदीस ओयेन' और 'ला वर्देद सोस्पेचोसा' उल्लेखनीय हैं। इस समय के नाटककारों में पेद्रो काल्देरान द ला बारका (१६००-१६८१) भी उल्लेखनीय है। उसने १८० नाटक लिखे हैं, जिन्हें धार्मिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक इत्यादि विविध वर्गों में बाँटा गया है। 'एल प्रिन्सिप कान्स्तेन्ते', 'ला विदा एस नो', 'एल सुए अलकाल्दे द जलामिया', 'एल मेडिको द सु ऑनरा' और 'एल पिन्तोर द सु देशोनरा' उसके प्रमुख नाटक हैं।

उपर्युक्त नाटककारों में से बहुतों ने नाटक के अतिरिक्त कथा-साहित्य, काव्य, निबंध आदि के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भेंटें दीं। इनमें सबसे उल्लेखनीय कृतित्व लोप द वेगा का था। पुनरुत्थानकाल में बहुत अधिक मात्रा में धार्मिक एवं दार्शनिक गद्य भी लिखा गया था। इस क्षेत्र में सान्ता तेरेसा द जीसस् (१५१५-१५८२) और बाल्तसर ग्रासियाँ (१६०१-१६५८) का कार्य समादृत है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अठारहवीं शताब्दी और उसके बाद

१७०० ई० के उपरान्त भी स्पेनिश साहित्य में उपन्यास, नाटक, कविता आदि सभी विधाओं में उल्लेखनीय कार्य हुआ। अठारहवीं शताब्दी का सब से प्रसिद्ध स्पेनिश उपन्यासकार जोसे फ्रेन्सिस्को द इसला इ रोजो (१७०३-१७८१) था, जिसके 'हिस्तोरिया देल फेमसो प्रेडिकेडार फ्र जीरन्दियो' नामक ग्रन्थ की काफी चर्चा हुई है। इस युग में सैकड़ों ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए, किन्तु उनका कोई महत्व नहीं है। क्षेत्रीय उपन्यास के रचयिताओं में सेसिलिया बोल वोन फेबर (१७९६-१८७०) का स्थान महत्वपूर्ण है। इसी कोटि के उपन्यास-लेखकों में जुआन वेलेरा इ ऐलकाला गेलियानो (१८२४-१९०५), एनटोनियो द एलारकन अरीजा (१८३३-१८९१), जोसे मारिया द पेरेदा (१८३३-१९०६) इत्यादि के भी नाम लिए जा सकते हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों की विषयवस्तु के रूप में क्षेत्रीय जीवन को ग्रहण किया।

अठारहवीं शताब्दी के दुःखान्त नाटकों में बड़ी कृत्रिमता थी और वे भद्दे थे, पर इस युग में कई अच्छे सुखान्त नाटक लिखे गए। इनमें रामन द ला क्रूज कानो इ ओलमेदिल्ला (१७३१-१७९४) के यथार्थवादी सुखान्त नाटक बहुत सुन्दर हैं। उन्नीसवीं सदी में फ्रान्सिसको मार्टिनेज द ला रोजा ने 'ला कान्जुरेशियों द वेनीशिया' नामक एक रोमान्टिक नाटक लिखा। उधर ड्यूक ऑफ रिवाज द्वारा इसी युग का 'डान अल्वारो' नामक प्रसिद्ध दुःखान्त नाटक रचा गया। अन्य नाटककारों में यथार्थवादी ब्रेटोन डि ला हैरेरस (१७९६-१८७३) और जनवादी नाटककार जोएश्विन दसेन्टा (१८६३-१९१७) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। बीसवीं शताब्दी में जैसिन्तो बेनावेन्ते इ मार्टीनेज (१८६६-१९५४) ने उत्कृष्ट बालनाटक तथा सामाजिक व्यंग लिखे। इस समय के नाटककारों में फेडरिको गारशिया लोरका (१८९८-१९३६) बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटक लिखे। उसके प्रसिद्ध नाटकों की तालिका इस प्रकार है—'बोदास द सांग्री', 'यरमा', 'ला कासा द बर्नार्दा अल्बा'।

अठारहवीं शताब्दी की अधिकांश स्पेनिश कविता वर्णनात्मक और व्यंगात्मक है। इस काल के कवियों में टामस द इरीयारते (१७५०-१७९१ ई०) ने नैतिक कहानियों को काव्यरूप प्रदान किया। उधर गेस्पर मेलकोर द जोवेलानोस (१७४४-१८११ ई०) ने व्यंगकाव्य लिखा। उन्नीसवीं सदी में रोमान्टिक काव्य भी लिखा गया, जिसका महान् प्रतिनिधि जोसे द एस्प्रोन्सेडा देलगाडो (१८०८-१८४२) नामक कवि हुआ। उसकी कविता निराशामय भावना से आच्छादित है। इस शताब्दी के वर्णनात्मक काव्य के रचयिताओं में रेमोन द कैम्पोमोर (१८१७-१९०१) तथा गेस्पर न्यूनेज द आर्से (१८३२-१९०३) के नाम उल्लेखनीय हैं।

बीसवीं शताब्दी से स्पेनिश कविता का आधुनिक काल आरम्भ होता है। इस युग की नवीन स्पेनिश काव्यधारा फ्रेंच प्रतीकवाद से बहुत-कुछ प्रभावित है। इस कोटि के कवियों ने व्यक्तिवाद पर विशेष जोर दिया है। इस धारा के प्रमुख आधुनिक कवियों में र्यूबेन दारियो, मेनुअल मेकेडो, ऐन्टोनियो मेकेडो, जुआन जिमेनेज इत्यादि की गणना की जाती है। र्यूबेन दारियो इस वर्ग का नेता है।

: फ्रेंच साहित्य :

पश्चिमी योरप में पन्द्रहवीं शताब्दी ई० के लगभग सभी कलाओं के क्षेत्र में एक नवीन जीवनी-शक्ति का संचार हुआ। तत्कालीन एवं तुरन्त बाद की पीढ़ियों द्वारा स्पष्ट रूप से अनुभूत परिवर्तन की इस नई लहर की अभिव्यक्ति कई रूपों में हुई, जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

(१) ईसाई धर्म के संकुचित दृष्टिकोण से छुटकारा, (२) पुराने ढर्रे के अव्यावहारिक पांडित्य से मुक्ति, (३) मनुष्य के गौरव एवं ऐहिक (लौकिक) जीवन के श्रेयस्कर होने की भावना में विश्वास, (४) जीवन को हर भाँति सुन्दर बनाने का प्रयास, चाहे वह वस्त्राभूषण या रहन-सहन के रूप में हो अथवा गृहसज्जा, बागवानी या कला आदि के रूप में।

यह नवीन जागृति कुछ अंशों में जनता द्वारा ईसाई धर्म के कठोर नियमों के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप हुई थी, किन्तु मुख्यतः यह ग्रीक और रोमन जीवन-दर्शन की श्रेष्ठता में एक नवजात विश्वास द्वारा प्रेरित थी।

सोलहवीं शताब्दी ई० के फ्रेंच साहित्य का प्रमुख अंग गीत था। इस पर नवीन विचारधारा का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। पुनरुज्जीवनकाल के गीतकारों में पहला नाम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

क्लेमाँ मारो का आता है। उसकी 'ऐथिन' नामक रचनाएँ इसके चमत्कारपूर्ण गीतों के रूप में प्रस्तुत पत्रों की शैली में हैं। १५४९ ई० में फ्रेंच भाषा-परंपरा के प्रतिपादन में द्यु बैले की एक रचना प्रकाशित हुई, जिसमें साहित्य का नवीन रूप-औचित्य सिद्ध किया गया। द्यू बैले स्वयं एक प्रतिभाशाली कवि था। उसकी रचनाएँ 'ल ऑलिव', 'ले रिगरेट्स', 'ले एन्टीक्वीटीस द रोम' आदि संग्रहों में संकलित हैं।

इसी परंपरा का दूसरा कवि रोंसार था। वह एक अत्यन्त मेधावी एवं सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न कवि था। वह एक कुशल सोनेट-लेखक तो था ही; इसके अलावा उसने प्राचीन भाषाओं (ग्रीक और लैटिन) में प्रचलित सभी छन्दों में भी उच्चकोटि की मौलिक कविताएँ लिखी थीं।

किन्तु रेनासाँ-काल की कविता इन दो कवियों तक ही सीमित नहीं थी। मौरिस स्केव, लुई लबे, द्यु वार्ता, द वीञ्ज्म एवं मालैर्व इस युग के अन्य उल्लेखनीय साहित्यकार थे, जिन्होंने अपनी-अपनी रचनाओं से फ्रेंच काव्यधारा का दिशा-निर्धारण किया। द मालैर्व की प्रसिद्ध रचनाएँ 'कॉमोनत्येर सुर द्युस्पोट्स' तथा 'कन्सोलासियों माँसिए द्यु पैरिए' हैं। इनमें से एक में उसने फ्रेंच भाषा और छंद में सुधार की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की है और दूसरी में इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार स्वयं साहित्य-रचना की है। उसके प्रयोग के बाद 'ट्वेल्व सिलैब्ल एलेक्जांद्रिन' छंद फ्रेंच भाषा के सर्वमान्य छंद के रूप में सदैव के लिए प्रतिष्ठित हो गया।

राबेले, काल्वें, मॉन्टेन

विचार के क्षेत्र में सोलहवीं शताब्दी में राबेले, काल्वें तथा मॉन्टेन नामक तीन महान् दार्शनिक विभूतियाँ आविर्भूत हुईं। राबेले ने रोमांस के रूप में 'गारग्वांनटुआ एण्ड पैन्टाग्रुएल' नामक एक कृति लिखी, जिसके नायक पैन्टाग्रुएल के साहसिक कार्यों से सम्बद्ध घटनाएँ विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना में सहायता करती हैं।

मिशैल द्यु मॉन्टेन द्वारा लिखित निबन्धों का कथा-विषय लेखक स्वयं ही है। इनमें ग्रन्थकार ने मानव मन की कार्य-पद्धति को समझने के लिए स्वयं अपना ही अध्ययन किया है। इसी प्रयास में उसके समक्ष विचार के लिए बहुत से विषय उपस्थित होते हैं और उनके लिए उसके पास उतने ही उत्तर हैं, जितने कि दार्शनिक प्रणालियाँ हैं। एक सच्चे जिज्ञासु की भाँति वह कोई कारण नहीं पाता कि एक हल को दूसरे की अपेक्षा बेहतर कैसे समझा जाय। यह संदेहवादी वृत्ति इस युग का विशिष्ट लक्षण है, जबकि पुराने निर्णय, चर्च और अरि-स्टॉटल के सिद्धान्त तथा मध्यकालीन विद्वानों द्वारा सुझाये गए अन्य समाधान तो अपरिपक्व एवं अव्यावहारिक समझकर तिरस्कृत कर दिए गए थे, किन्तु उनके बदले अभी नवीन मान्यताओं की प्रस्थापना नहीं हो पाई थी। इन नवीन मान्यताओं में से एक ईसाई धर्म का सुधारवादी आन्दोलन 'प्रोटेस्टैन्टिज्म' भी था। फ्रान्स में इस धारा का महान् विचारक काल्वें था, जिसकी रचना 'ल-इन्सटीट्यूशन द ला रिलिजन क्रीश्चियने' विषय की दृष्टि से इतिहास का ग्रंथ होते हुए भी अपनी भाषाशैली के लिए साहित्य में भी प्रतिष्ठित है।

नाटक के क्षेत्र में इस युग में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। हाँ, फ्रेंच गद्य को साहित्य के माध्यम के रूप में ढालने के प्रयासों में काफी सफलता मिली। राबेले, काल्वें, मॉन्टेन आदि की रचनाओं के अलावा इटैलियन कहानी-संग्रह 'देकामेरान' के आधार पर मरग्युरेट द्यु नवान्न कृत 'हैप्टामेरन' भी इस काल की उल्लेखनीय रचना है।

सत्रहवीं शताब्दी :: कोरनिल, रासिन, मौलिये, ला फॉन्तेन, बूलो

साहित्य की दृष्टि से सत्रहवीं शताब्दी पूर्वगामी शताब्दी की ही एक अविच्छिन्न एवं चरम शृंखला प्रतीत होती है। रेनासाँ-काल के कवियों ने अपने युग में आदर्श साहित्य के जो सपने देखे थे, वे सोलहवीं शताब्दी में केवल आंशिक रूप में ही सत्य हो पाए थे। उनकी पूर्ति का दायित्व बड़ा ही कठिन कार्य था, जिसकी ओर पहला महत्वपूर्ण कदम १६३६ ई० में फ्रेंच अकादमी की संस्थापना के साथ उठाया गया। इस घटना के द्वारा रेनासाँ के कार्यक्रम को औपचारिक रूप से राष्ट्रीय मान्यता प्रदान की गई। जब साहित्यिक मान्यताएँ सिद्धान्तों के रूप में दृढ़ हुईं, तो इतिहास में प्रथम बार फ्रांस के चालीस प्रमुख विद्वान् साहित्यिक विषयों पर अपना निर्णय देने के लिए एक साथ बैठे। इन प्रयासों का प्रभाव हमें इतने स्पष्ट रूप से कहीं भी देखने के नहीं मिलता, जितना कि फ्रेंच नाटक के क्षेत्र में! इस युग के नाटक को उन्नत बनानेवालों में पहला नाम हमारे सामने पियरे कोरनिल का आता है। उसने कुछ मनोरंजक सुखान्त नाटकों की सृष्टि के बाद अपने दुःख-सुखान्त नाटक 'सिड' द्वारा पेरिस की जनता का मन जीत लिया। 'होरेस', 'सिन्ना' तथा 'पॉलियक्त' आदि अपने अन्य महत्वपूर्ण नाटकों के प्रकाशन के साथ उसकी ख्याति में निरंतर वृद्धि होती गई। उसके नाटकों का कथानक जटिल नहीं होता था और उनमें प्रत्येक चरित्र केवल एक ही मूलप्रवृत्ति या गुण के प्रभाव से प्रेरित होकर कार्य करता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस युग का दूसरा सफल दुःखान्त नाटककार जीन रासीन था। उसने 'ऐन्द्रोमाक' से लेकर 'फैद्र' तक प्रथम दस वर्षों में कुल सात नाटक लिखे। तदुपरान्त दस वर्ष बाद बाइबिल पर आधारित दो अन्य नाटक 'एस्थर' तथा 'एथेली' भी उसने रचे। जिन दिनों एक ओर रासीन के ये गम्भीर नाटक दर्शकों की आँखों में आँसुओं की झड़ी लगवा देते थे, उन्हीं दिनों दूसरी ओर हास्यप्रिय लोगों के लिए मौलिये के गुदगुदी पैदा करनेवाले नाटक आकर्षण का केन्द्र बने हुए थे। मौलिये के श्रेष्ठ नाटक थे 'तारतुफ', 'डॉन जुआन', 'ल्यु मिसांथोर्प' और 'ले फेम्म सर्वांट्सि'। इस महान् कलाकार से पहले कोई सफल हास्य-नाटक-लेखक फ्रांस में नहीं पैदा हुआ था। मौलिए के नाटक आरंभ में छोटे अपूर्ण हास्य-दृश्यों से प्रारम्भ होकर चरित्र तथा रीति-रिवाज की सर्वोत्कृष्ट झाँकियों के चरमोत्कर्ष तक ऊपर उठते चले गए थे। इस प्रकार वे अकेले ही फ्रेंच सुखान्त नाटक का सम्पूर्ण विकास प्रस्तुत करते हैं। मौलिये की विशेषता यह थी कि वह चरित्र के किसी अवगुण को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता और फिर बड़ी ही सरल घटनाओं की इस प्रकार से योजना करता था कि उक्त चरित्र का निचोड़ स्वतः ही निकल आता था!

मौलिये तथा रासीन के समकालीन कवि ला फॉन्तेन का भी इस युग के साहित्यकारों में अति प्रतिष्ठित स्थान है। उसकी कविताओं के मुख्य विषय थे जन्तुओं पर आधारित आख्यान। वाक्चातुर्य की मधुरता और सूक्ष्मता के लिए यह कवि अपने युग के साहित्य-स्रष्टाओं में बेजोड़ था।

इन्हीं दिनों बुलों ने कतिपय व्यंग्य और शिक्षात्मक कविताएँ रचीं। साथ ही उसने 'आर्ट पोयटीक' नामक एक आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखा, जो अत्यधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। अठारहवीं शताब्दी के फ्रेंच साहित्यकारों के लिए इस ग्रन्थ के निर्णय प्रमाणरूप थे।

रेनासाँ-काल में फ्रांस में उपन्यास सर्वथा अज्ञात था। इसका जन्म दुर्फ तथा सेन्द्रीस की लम्बी रचनाओं के रूप में सत्रहवीं शताब्दी में आकर हुआ। मादाम द्यु लैफाइन का उपन्यास 'प्रिन्सेस द क्लीव्स' इस महत्वपूर्ण शाखा को कलात्मक रूप देने का संभवतः प्रथम प्रयास कहा जा सकता है।

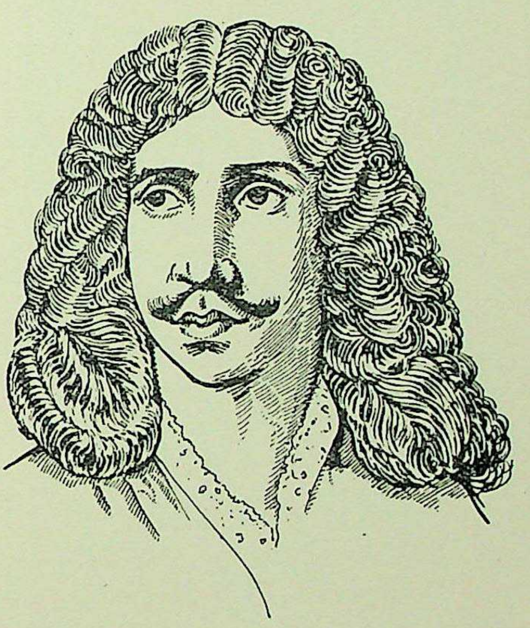

महान् फ्रेंच नाटककार मौलिये।

इस काल की अन्य गद्य-कृतियों में बासिए के हृदयग्राही, गरिमामय एवं उदात्त धार्मिक प्रवचन; ला रॉशेफॉंद की सूक्तियाँ; मादाम द सैवाइन के 'पुत्री के नाम पत्र' तथा ला ब्रूईयेर के चरित्र-चित्र (जिनमें कि तत्कालीन समाज की विशेषताओं का बड़ी खूबी से चित्रण किया गया है) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें सर्वाधिक सम्मानित नाम सेन्ट सायमन का है, जिसके 'संस्मरण' इस युग की परिस्थितियों का अत्यंत आकर्षक विवरण प्रस्तुत करते हैं। उधर अपने व्यापक प्रभाव की दृष्टि से इस काल के सर्वाधिक महत्वपूर्ण गद्य-ग्रन्थ हैं विख्यात दार्शनिक देकार्त तथा पास्कल की कृतियाँ। देकार्त का 'डिस्कोर्स द ला मैथड' विशुद्ध बौद्धिक तरीके को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में (यहाँ तक कि धर्म में भी) प्रतिष्ठापित करने का महान् प्रयास है। इस ग्रन्थ का योरप के बुद्धिजीवियों पर यथेष्ट काल तक गहरा प्रभाव रहा है। उधर पास्कल ने 'लैंतरेस प्राविन्सियेल' नामक अपने ग्रन्थ में देकार्त की वैज्ञानिक अनुसंधान-पद्धति का धर्म की गुत्थियाँ सुलझाने में प्रयोग किया है। कुछ समय बाद पास्कल ने 'पैन्सीज' नामक अन्य एक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें धर्म के प्रति बुद्धिवाद की अपेक्षा रहस्यवादी दृष्टिकोण अपनाने का प्रयत्न उसने किया। ये दोनों ही कृतियाँ फ्रेंच वाङ्मय की स्थायी निधि हैं।

अठारहवीं शताब्दी :: वाल्तेयर, मॉन्टेस्क, रूसो

योरपीय इतिहास में अठाहरवीं शताब्दी बुद्धिवाद का युग माना जाता है। इस युग में देकार्त द्वारा सुझाए गए तरीकों को अपनाकर विचारकों ने उन सभी क्षेत्रों को बुद्धि की तराजू पर तौलना शुरू किया, जो कि अभी तक पवित्र समझे जाते थे (जैसे कि धर्म, ईश्वर का अस्तित्व, राज्य का रूप, नीतिशास्त्र आदि)। पास्कल, देकार्त आदि ने जहाँ तर्क का प्रयोग धर्म के समर्थन में किया था, वहाँ अठारहवीं शताब्दी में आकर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन शस्त्रों का अधिकतर प्रयोग धर्म की जड़ें खोखली करने में ही हुआ। पियरे बाइल ने अपनी एक कृति में बाइबिल की यथार्थता और ईसाइयत के आधारभूत सिद्धान्तों की सत्यता में सन्देह प्रकट किया। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि ये विचारक पूरी तरह से नास्तिक थे--वे निराकार ईश्वर में विश्वास करते थे, जिसे वे संसार का निर्माण करने के बाद उससे अलग हो गया मानते थे। उनका मत वस्तुतः एक प्रकार का निराशामूलक भाग्यवाद था। इस मत का सब से महान् प्रतिपादक था वाल्तेयर। इन विचारकों ने ईसाई आचार-शास्त्र का तिरस्कार कर देने के बाद उसका स्थान प्रकृति के नियम को दिया था। उनके अनुसार मनुष्य स्वभावतः पवित्र और शुभ की ओर अग्रसर होनेवाला होता है, यदि उसकी प्रवृत्तियाँ सभ्यता द्वारा कलुषित न कर दी जाएँ।

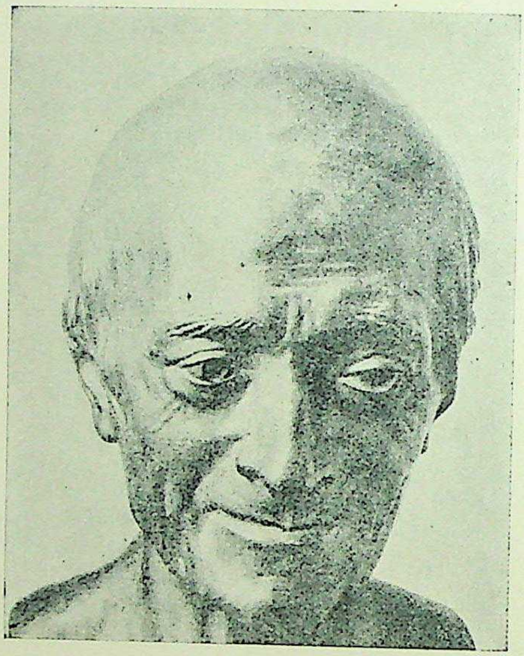

सत्रहवीं शताब्दी के फ्रेंच साहित्य की महाविभूति व्यंगलेखक वाल्तेयर।

वाल्तेयर ने अनेक पैम्फलेट, कहानियाँ और कविताएँ लिखीं, जिनके द्वारा उसकी दार्शनिक और राजनीतिक विचार-धाराओं का जनसाधारण में आसानी से प्रचार हो गया। कहानी, इतिहास, कविता, नाटक, आलोचना, आदि सभी क्षेत्रों में की गई उसकी संपूर्ण कृतियाँ ९७ जिल्दों में संगृहीत हैं! इन कृतियों में 'कंडाइड' (व्यंगपूर्ण कहानी), 'ओडिपी' (नाटक), 'ब्रूटस' (नाटक), और 'हेनरिएड' (महाकाव्य) उल्लेखनीय हैं। परंतु उसकी विशिष्ट ख्याति वस्तुतः उसके विविध आलोचनात्मक और दार्शनिक निबंधों पर स्थापित है, जिसमें उसके अद्भुत विचारों की सबसे प्रखर अभिव्यक्ति हुई है।

इस नवीन विचारधारा के अनुसार चूँकि व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक व्यवस्था की एक प्रक्रिया मात्र थी, अतः समस्या को सुलझाने के क्रम में अनेकानेक प्रश्न सामने आए, जैसे कि समाज की उत्पत्ति, शासक तथा शासित के अधिकार, धार्मिक संस्था तथा राज्य के बीच सम्बन्ध आदि। इन प्रश्नों के समाधान के जो प्रयास हुए, उनके संबंध में दो ग्रंथ उल्लेखनीय हैं--मॉन्टेस्क का 'स्पिरिट ऑफ लॉ' (१७४८ ई०) तथा रूसो का 'सोशल कान्ट्रेक्ट' (१७६२ ई०)। रूसो ने सामाजिक अनुबंध को समाज का मूलभूत सिद्धान्त माना। उसके अनुसार समाज की सत्ता व्यक्ति के लाभ के लिए है, किन्तु व्यक्ति को सार्वजनिक श्रेय की खातिर अपने कुछ अधिकारों का त्याग करना पड़ता है। मॉन्टेस्क ने सम्राट्तंत्रीय, तानाशाही और प्रजातांत्रिक राज्य-व्यवस्थाओं पर तुलनात्मक प्रकाश डाला।

दिदेरो, द-लेम्बर्त, लि साग आदि

इस युग में विज्ञान-विषयक ग्रंथों के प्रकाशन की प्रवृत्ति भी जोरों से उमड़ी। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ था 'एन्साइक्लोपीडिया', जिसका निर्माण दिदेरो तथा जीन ले राँद द-लेम्बर्त की अध्यक्षता में हुआ। बुफों की 'नेचुरल हिस्ट्री' भी इस कोटि की एक उल्लेखनीय रचना थी। विज्ञान का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक होने का श्रेय इस काल में देनिश दिदेरो को ही प्राप्त हुआ। अपने ग्रन्थों में इस विचारक ने विकासवाद के सिद्धान्तों का उसके मूल रूप में बड़े उत्तम ढंग से प्रतिपादन किया है।

जैसे-जैसे यह सदी आगे बढ़ती चली गई, उपन्यास अधिक-से-अधिक लोकप्रिय होता गया। लि साग का 'गिल-ब्लास', मारिवेर का 'मैरियान्न' तथा 'रेशन परवीन्न' जैसे उपन्यास इस काल की फ्रेंच जनता के जीवन और रहन-सहन की बड़ी मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इस काल का सब से मार्के का उपन्यास अबे प्रिवॉस्त का 'माने ल्युसान्त' है, जो कथा-शिल्प के लिए विख्यात है।

इस युग में लिखे गए नाटक अधिकतर सुखान्त हैं। लि साग के 'तुरकारेत' के सूक्ष्म चरित्र-चित्रण से लेकर मारिवेर के कोमल चित्ताकर्षक वर्णनों और बोमारशे की सजीव रचनाओं तक इन सभी नाटकों का स्थायी भाव हास्य ही है। दिदेरो ने नाट्यकला का प्रतिपादन 'एन्ट्रेतेन' तथा 'पेरेडॉक्स सुर ल कामेडीन' नामक कृतियों में किया है। पर उसके अपने आँसू भरे नीरस नाटक उसके श्रेष्ठ आलोचनात्मक सिद्धान्तों के ठीक उल्टे हैं। इसी शताब्दी में लिखी गई आंद्रे शेनियेर की क्रांति-सम्बन्धी रचनाएँ नये युग के साहित्य का पूर्वाभास देती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पुनर्जागरणकाल की भाँति अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक और राजनीतिक क्रान्ति के युग में भी फ्रान्स में एक नवीन साहित्यिक धारा का ज्वार उमड़ पड़ा। अब ग्रीक और लैटिन साहित्य की प्रेरणा को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। अतीत तथा वर्तमान के बीच परिवर्तन के इस संधिकाल में मादाम द स्ताइल तथा शातोब्रिआँ नामक दो विभूतियाँ सामने आई। स्ताइल के 'डेलफिन' तथा 'कोरिन' नामक उपन्यासों में नवीन स्त्रीत्व की कमनीयता के दर्शन होते हैं। मादाम द स्ताइल से कहीं अधिक समय तक जीवित रहने के कारण शातोब्रिआँ साहित्य के रोमानी आंदोलन का पूर्ण अभ्युदय देखने में समर्थ हो सका, जिसके प्रारंभिक काल में उसने 'अताला' और 'रेनी' जैसी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। फ्रान्स में इस नवीन युग के उद्भव का प्रथम चिन्ह गीत का पुनरोदय था। १८२० से १८५० ई० के बीच फ्रेंच साहित्य में जैसे उत्कृष्ट गीतों की उपज हुई, वैसे गीत उसके इतिहास में पहले केवल दो ही बार और उपजे थे——प्रथम रोंसार तथा द्युबैले के युग में और दूसरे 'त्रुवादोर' नामक चारण गीतकारों के समय में। इस उत्थान की पहली उड़ान लामारतीन, मुस्से, विनी तथा ह्यूगो की रचनाएँ थीं। लामारतीन की पुस्तकों के नाम स्वयं ही अपने विषयों के द्योतक थे, जैसे 'ला मेडिटेशन्स पोयटिक', 'हारमनीज पोयटिक एट रिलीजसेस' आदि। अल्फ्रेड द मुस्से प्रयोगशील प्रकृति का कलाकार था। उसकी प्रारंभिक कृति 'कांते द एस्पेने एत द इताली' की ध्वनि हास्य तथा व्यंग से आच्छादित है। किन्तु उसकी प्रतिभा की विशिष्ट और श्रेष्ठ अभिव्यक्ति निशा-सम्बन्धी उसकी चार प्रसिद्ध काव्य-रचनाओं में हुई है। ये अत्यंत भावपूर्ण, मधुर एवं श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। अल्फ्रेड द विनी की कविताएँ विचारमूलक एवं अधिकतर वर्णनात्मक हैं। वे अकसर किसी एक विशिष्ट विचार का प्रतिपादन करती हैं। उसकी रचनाओं में किसी में प्रतिभाशाली व्यक्ति के एकाकीपन का, किसी में तापस जीवन की महत्ता का और किसी में नारी की तुच्छता का विवरण मिलता है।

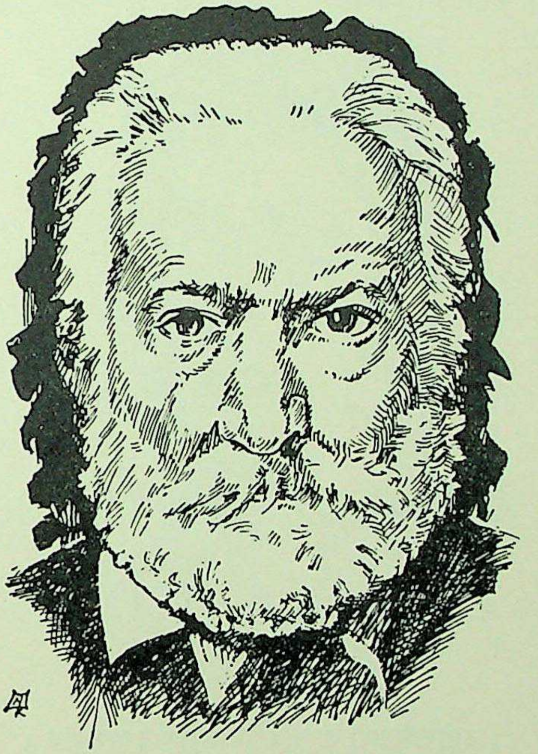

महान् उपन्यासकार और कवि विक्टर ह्यूगो।

परन्तु प्रतिभा, बहुलता तथा सर्जनशक्ति में इन सभी से श्रेष्ठ था विक्टर ह्यूगो। उसने लगभग साठ साल तक साहित्य-सृष्टि की। उसकी रचनाओं का सर्वाधिक और सर्वोत्कृष्ट भाग उसके गीत ही हैं। उसकी कुल कविताएँ पच्चीस जिल्दों में संगृहीत हैं। उसने सभी विषयों पर, सभी छंदों में और सभी भावों को लेकर कविताएँ रचीं। उसकी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ 'लीजेण्ड द साइक्लीज' नामक पुस्तक में संगृहीत हैं।

उन्नीसवीं सदी के कवियों की दूसरी पीढ़ी की रचनाएँ शिल्प की दृष्टि से अधिक सुरुचिपूर्ण और विशेष ध्यानपूर्वक लिखी गई मालूम देती हैं। इस युग की कविता का एक संग्रह १८६६ ई० में 'ला पारनेसी' के नाम से प्रकाशित हुआ था। फलतः ये कवि 'पारनेसियन' कहलाए। इनमें थियोफिल गोतिए की कविताएँ अत्यंत उच्छृंखल रूप में रोमानी होते हुए भी एक विशिष्ट प्रकार की उपलब्धि का संकेत देती और बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। कठिन प्रयास और मनोयोग से लिखी गई इन कविताओं का शिल्प मानो किसी जौहरी की कला का ध्यान दिलाने लगता है।

इन कवियों में शायद ही किसी का काव्य इतना सुरुचिपूर्ण और तराशा हुआ होगा, जैसा कि जोशे मारिया द हेरेदिया के सोनेट हैं। इसी प्रकार लेकान्ते द लिल्ल की कविताएँ भी बेजोड़ हैं। परन्तु इस युग के कवियों में सर्वाधिक आकर्षक कृतित्व वस्तुतः चार्ल्स बौदलेयर का है, जिसकी कविता में वैषम्य, भय और घृणा का बाहुल्य होते हुए भी एक अद्भुत आकर्षण है। बौदलेयर ने हर प्रकार के आडंबर, दकियानूसीपन और थोथी मर्यादाओं के विरुद्ध आजीवन अपना स्वर बुलन्द किया। उसका सब से प्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'ला फ्लॉअर द माल' है। इस कवि ने अपनी कला द्वारा अरुचिकर से अरुचिकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषयों को भी अत्यंत आकर्षक कविता का रूप दे दिया है! कुछ आलोचक बौदलेयर को न केवल अपनी पीढ़ी का, बल्कि सम्पूर्ण शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ फ्रेंच कवि मानते हैं!

उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों के अंतिम वर्ग की विशेषता प्रतीक की खोज थी। उनका लक्ष्य बोधगम्य साधनों द्वारा अस्पष्ट और रहस्यमय की अभिव्यक्ति करने का था। ये कवि 'प्रतीकवादी' कहलाए। इनका दावा था कि मानवीय विचार, भावनाएँ आदि पूर्णरूपेण व्यक्तिगत अनुभव की वस्तु हैं, अतः उन्हें भाषा के सामान्य साधन की सहायता से यथार्थ रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस कार्य के लिए ऐसे विशिष्ट साधनों की आवश्यकता होती है, जो मन के अचेतन तत्त्व को प्रकाशित कर सकें। ये साधन प्रतीकरूप ही हो सकते हैं।

इस वर्ग के प्रतिनिधि कवि थे वैरलेन, मलार्मे तथा रिंबो। इन कवियों ने कविता में संगीत की विशुद्ध अर्थ-निरपेक्ष अनुभूति प्राप्त करने का प्रयास किया।

उपन्यास :: ह्यूगो, बालजाक, फ्लोबेयर

कविता के उत्तरोत्तर जटिल और रहस्यमय होते चले जाने के कारण इस शताब्दी में आकर उपन्यास साहित्य का अति लोकप्रिय अंग बन गया। इस समय के अधिकांश उपन्यासों में सामयिक घटनाओं, रीति-रिवाजों तथा सामाजिक समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया गया। कुछ लेखकों ने अपनी कृतियों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर विशेष बल दिया तथा उन छोटी-छोटी घटनाओं को वर्णन का माध्यम बनाया, जिनके योग से जीवन बनता है। इस काल के महान् उपन्यासकारों में सबसे पहले हमारे सामने विक्टर ह्यूगो का नाम आता है, जिसने 'नॉत्रेडाम द्यु पैरी' और 'ला मिजरेबल' जैसी विश्वविश्रुत कृतियों की सृष्टि करके फ्रेंच उपन्यासों की महान् परंपरा को विकसित करने में अमूल्य योग दिया। उसकी अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ थीं 'ला त्रावेलेर्स द ला मेर' एवं 'क्वात्रे-वित-त्रेज'।

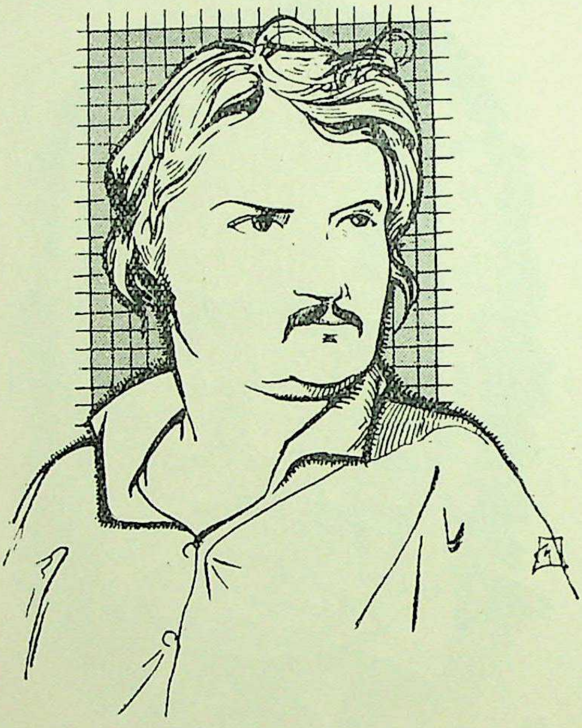

उन्नीसवीं सदी का अद्वितीय कथाकार बालजाक।

ह्यूगो का समसामयिक था प्रौस्पर मेरीमी, जिसने फ्रेंच वाङ्मय में ऐतिहासिक उपन्यास का रूप विकसित किया। 'ला क्रॉनीक द्यू रेन्न द्यु चार्ल्स नौं' उसकी महान् कृति है। उसने उत्कृष्ट कहानियाँ भी लिखी थीं। उसका स्थान रोमाण्टिक और यथार्थवादी कथाकारों के बीच माना गया है।

इस काल का तृतीय महान् उपन्यासकार था स्तेनधाल, जिसकी प्रसिद्ध कृतियाँ 'ल्यु रूज ए ला न्वार' तथा 'ला चार्त्रे द पार्मे' शैली में एक-दूसरे से भिन्न हैं। प्रथम उपन्यास चरित्र एवं घटनाओं के सम्बन्ध में यथार्थवादी है, तो दूसरे का झुकाव भावनाओं के यथार्थ चित्रण की ओर है।

इसी समय असाधारण प्रतिभा का एक और कथाकार फ्रेंच साहित्य के प्रांगण में उपजा, जिसने चन्द वर्षों में कई चमत्कारपूर्ण उपन्यास लिख डाले। यह अद्भुत कथाकार था बालजाक (१७९९-१८५० ई०), जिसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'ला कॉमेडी ह्यूमेन' एक साहसपूर्ण और मौलिक साहित्यिक अनुष्ठान था। यह एक पुस्तक नहीं, बल्कि कई उपन्यासों की एक बृहत् शृंखला थी, जिसमें फ्रेंच समाज के सभी पहलुओं का चित्रण करने का अनुष्ठान लेखक ने रचा था। इस उपन्यासमाला के कथानक का तन्तु न केवल पेरिस, अपितु फ्रान्स के सभी प्रांतों में बुनने की योजना बालजाक ने बनाई थी! परन्तु आयोजन इतना विशाल था कि उसकी पूर्ति करते समय लेखक गड़बड़ में फँस गया! यद्यपि इस शृंखला के कई उपन्यास उसने लिख डाले, तथापि पूर्वनिश्चयानुसार बालजाक इस बृहत् अनुष्ठान को पूरा न कर सका। बालजाक के उपन्यासों के कथानक अवश्यम्भावी, चरित्र वास्तविक और वर्णन विश्वसनीय हैं।

बालजाक के कृतित्व में जो कुछ रूखा और रूपहीन था, उसे फ्लोबेयर ने तराशकर सुरुचिपूर्ण बना दिया। जहाँ पर 'कॉमेडी ह्यूमेन' समाप्त हुई थी, वहीं से 'मादाम बोवेरी' प्रारम्भ हुई। फ्लोबेयर के मुख्य उपन्यास ये हैं—'मादाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बोवेरी', 'सालाम्बो', 'ल एजूकेशन सेंटिमेंटेल', 'ल टेंटेशन द सेंट एंटोनी' आदि। इनमें रचना की दृष्टि से 'मादाम बोवेरी' संसार का सर्वाधिक पूर्ण और त्रुटिरहित कथानक माना जाता है। फ्लोबेअर अनुपात, गति और वैविध्य के रहस्य को समझनेवाला महान् कलाविद् था। तद्विषवक उसकी क्षमता का परिचय हमें पग-पग पर मिलता है।

दोदे, मोपासाँ, जोला, ड्यूमा

इसी काल में फ्रेंच कथा-साहित्य के प्रांगण में अन्य दो कलाकार सामने आए। ये थे अल्फांसो दोदे और गाई द मोपासाँ। ये दोनों फ्लोबेअर को अपना गुरु मानते थे। इन दोनों कलाकारों ने गल्प के क्षेत्र में बड़ी प्रसिद्धि पाई। दोदे ने सामयिक समस्याओं को लेकर कुछ उपन्यास भी लिखे थे, जिनमें 'साफो' प्रसिद्ध है। पर इनमें उसे विशेष सफलता नहीं मिल पाई। मोपासाँ ने भी अपनी विश्वविश्रुत कहानियाँ लिखने के साथ-साथ कुछ प्रशंसनीय उपन्यास लिखे, जिनमें 'फोर कोम ला मोर' उल्लेखनीय है। इस कृति का कथानक और चरित्र-चित्रण अत्यन्त दृढ़ है। फिर भी मोपासाँ की यथार्थ कीर्ति गल्प-क्षेत्र की उसकी उपलब्धि पर ही स्थापित है। वह फ्रेंच वाङ्मय का सब से समर्थ और लोकप्रिय कहानी-लेखक माना गया है।

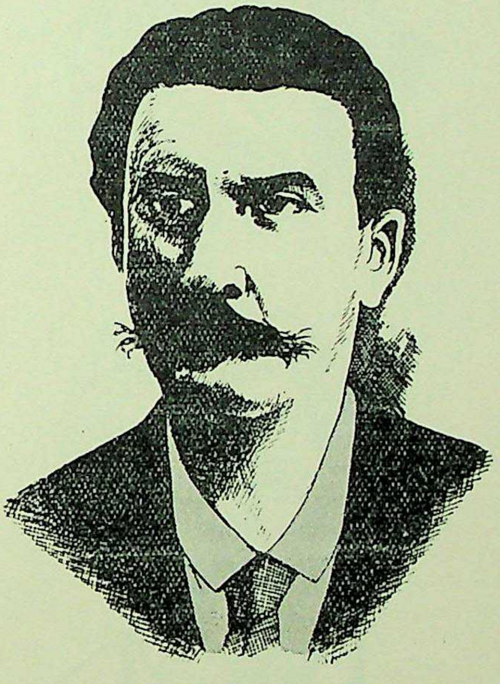

फ्रेंच कहानीकारों का सिरमौर मोपासाँ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकारों में एमिल जोला और एलैक्जेण्डर ड्यूमा दो ऐसे लेखक हुए हैं, जो कला-विधान के लिहाज से फ्लोबेयर और विषय-विस्तार तथा शैली आदि में बालजाक जैसे महान् पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के आगे फीके जान पड़ते हैं, तथापि उनकी उत्पादन-क्षमता अतुलनीय है। ड्यूमा की समस्त कृतियाँ लगभग तीन सौ जिल्दों में समाई हुई हैं! जोला ने भी अकेले उपन्यास के आँगन में कोई पचीस से अधिक कृतियों की भेंट दी है! ड्यूमा के उपन्यास केवल सनसनीखेज कथानकों की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। हाँ, जोला ने तत्कालीन जीवन के अत्यन्त सूक्ष्म रूपों के वर्णन का प्रयास किया है। परन्तु भद्दे विषय तथा तुच्छ बातों के चयन और जीवन के अप्रिय रूपों के प्रकाशन में विशेष रुचि लेने की वजह से वह परवर्ती यथार्थवादियों से भिन्न माना गया है। उसके उपन्यासों की प्रवृत्ति साहित्यिक न होकर अधिकतर वैज्ञानिक और समाज-शास्त्रीय है। उनमें कथा के प्रवाह से कहीं अधिक अध्ययन की छाप है। उसके प्रसिद्ध उपन्यास 'जरमिनाल', 'नाना' तथा 'ला देबाकल' हैं। ड्यूमा के उपन्यासों में 'ला त्रोइ मस्केतियेर', 'ले काम्ते द मांते क्रिस्तो', 'ला त्यूलिप नॉइरे' एवं 'विंगत आंस आप्रेस' सब से मशहूर हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रेंच साहित्यस्रष्टाओं में 'जॉर्ज साँ' के छद्म नाम से लगभग सौ उपन्यास प्रस्तुत करनेवाली एक महिला लेखिका का भी उल्लेख आवश्यक है, जिसकी कृतियों को अपने जमाने में काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। इस लेखिका के केवल पत्र ही छः जिल्दों में संगृहीत हैं।

उन्नीसवीं सदी में फ्रेंच में यद्यपि कई एक नाटक लिखे गए, लेकिन कोई उत्कृष्ट कोटि की कृति इस क्षेत्र में इन दिनों नहीं बन पड़ी। हाँ, ड्यूमा और ह्यूगो के नाटक तीव्र भावोद्रेक और हृदय हिलानेवाली घटनाओं से भरे हुए हैं। ह्यूगो का 'हरनानी' अपने ढंग का प्रतिनिधि नाटक है। 'क्रॉमवेल' और 'राय ब्लास' उसकी अन्य प्रसिद्ध नाट्यकृतियाँ हैं। ड्यूमा के नाटकों में 'हेनरी तृतीय' और 'एंटनी' नामक कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आलोचना के क्षेत्र में इस काल में सान्त ब्योव ने जहाँ आलोचनात्मक जीवनी के तरीके का प्रचार किया, वहाँ ब्रूनेतिए और फाँगे के हाथों साहित्यिक इतिहास का विकास हुआ। उधर कॉम्ते और रेनाँ की सुरुचिपूर्ण रचनाओं की बदौलत साहित्य के क्षेत्र में दर्शनशास्त्र ने प्रवेश किया। इसी प्रकार तेन और मिचेलेत की उपलब्धियों से इस काल का ऐतिहासिक साहित्य गौरवान्वित हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बीसवीं शताब्दी :: उपन्यास––अनातोले फ्रान्स, प्रूस, आंद्रे जीद, रोम्याँ रोलाँ आदि

उन्नीसवीं की भाँति बीसवीं शताब्दी भी फ्रेंच साहित्य में मुख्य रूप से उपन्यास का युग है। इस काल में सब से पहले हमारे सामने अनातोले फ्रान्स की रचनाएँ आती हैं, जो उन्नीसवीं और बीसवीं दोनों शताब्दियों में बिखरी हुई हैं। इनमें से कुछ ऐतिहासिक उपन्यास हैं और अन्य कृतियाँ तत्कालीन वातावरण को ही लेकर लिखी गई हैं। अनातोले की सब से प्रसिद्ध कृति 'थाया' है। अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं––'ले क्राइम द सिल्वेस्त्रे बोनार्द', 'ले प्रोक्यूरेचर द जूडी', 'इस्त्वार कांतेपोरेने', 'ल-ओर्मे द्यु मेल', 'ले मेने-क्वीन द-ओसिये', 'ले एन्यू द-एमेथिस्त', 'ला रिवोल्ते दे एंजीस' आदि। अनातोले फ्रान्स के उपन्यास शैली और कल्पना को परस्पर बुनकर रचे गए हैं, अतएव वे बड़े ही मनोहारी और सुखद हैं।

इस काल का अन्य एक महान् उपन्यासकार है मार्सेल प्रूस, जिसकी कृतियों में 'आ ला रिशार्श दु ताँप पर्दू' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। प्रूस की रचनाओं में उपन्यास, आत्मकथा तथा सामाजिक अध्ययन तीनों का संगम पाया जाता है! वे तत्कालीन समाज का चित्रण करती, रचयिता के जीवन का वृत्तांत भी देती एवं लोगों के क्रिया-कलापों की कहानियाँ भी सुनाती हैं। प्रथम झाँकी में प्रूस का उपन्यास एकाएक स्मृतियों का संगृहीत ढेर-सा लगता है, किन्तु जरा ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर इस विशाल ढेर की नाजुक कलात्मक रचना स्पष्ट हो जाती है। यहाँ छोटी-छोटी घटनाएँ वर्णन को आकर्षक बनाने के लिए नहीं हैं, जैसा कि बालजाक ने किया है। इसके विपरीत यहाँ प्रत्येक बात भावनात्मक मूल्यों से भरी देख पड़ती है।

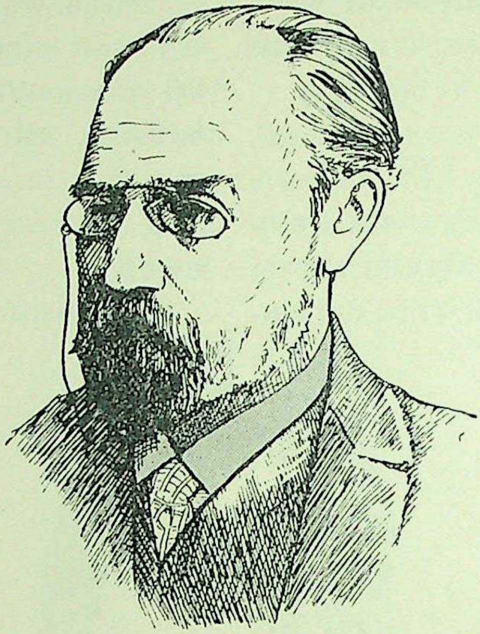

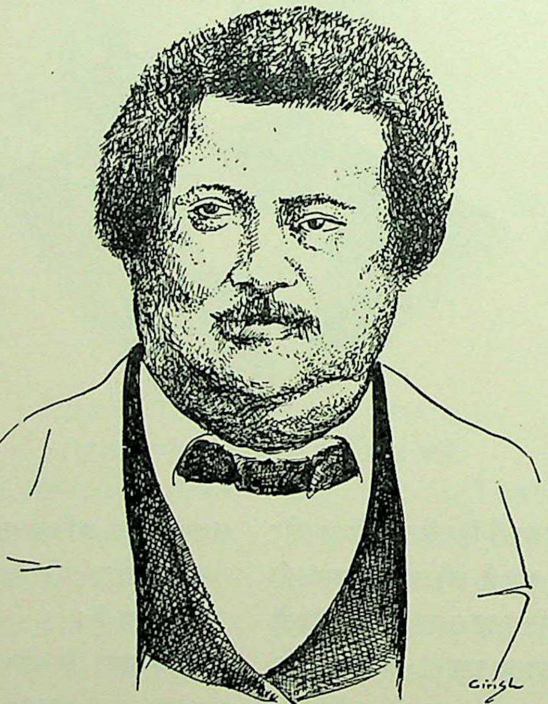

उन्नीसवीं सदी के दो लोकप्रिय उपन्यास-लेखक :: (ऊपर) एमिल जोला; (नीचे) एलेक्जेण्डर ड्यूमा।

इसी काल का अन्य एक प्रसिद्ध उपन्यासकार आंद्रे जीद है, जिसने अपनी कृतियों में यह प्रश्न उठाया है कि आया यौन असंतुलन साहित्य-रचना का उचित विषय हो सकता है या नहीं? 'ले नूरितिर तैरेस्त्र' के अबाध संगीत से लेकर 'ले काव द्य वातिकन' के व्यंगबाहुल्य तक जीद का कलाशिल्प अलग - अलग उपन्यासों में भिन्न - भिन्न प्रकार का है। इस उपन्यासकार की अधिकतर कृतियाँ आत्मकथापरक हैं। अनेक खंडों में प्रकाशित उसका 'जर्नल' (रोजनामचा) फ्रेंच साहित्य की एक महान् थाती मानी जाती है।

उपन्यास के क्षेत्र में बीसवीं सदी की एक विशिष्ट देन 'उपन्यासचक्र' (साइकिल नॉवेल) का आविर्भाव है। इस प्रकार का पहला उपन्यास रोम्याँ रोलाँ का 'जीन क्रिस्ताफी' है, जिसमें एक जर्मन संगीतज्ञ की तूफानी जिन्दगी के धागे पर विशाल सामाजिक घटनाचक्र और उससे भी अधिक मार्मिक सामाजिक आलोचना का ताना-बाना रचा गया है। इस ग्रंथ पर रोम्याँ रोलाँ को साहित्य का नोबुल-पुरस्कार भी

प्राप्त हो चुका है। इसके अलावा जार्ज दुहमेल, जल रोमाँ, रोजर मार्तिन दु गार आदि ने भी इसी प्रकार के शृंखलाबद्ध उपन्यास-चक्र की भेंट आधुनिक फ्रेंच वाङ्मय को दी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काव्य :: वेलेरी आदि

बीसवीं सदी की फ्रेंच कविता अनेकानेक नवीन वादों और प्रयोगों से भरी हुई है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद काफी समय तक फ्रांस में 'सरियालिज्म' (अतियथार्थवाद) का बोलबाला रहा। इस मत के अनुसार कवि और कलाकार का मुख्य कार्य अपनी आंतरिक आवाज--'अचेतन मन'--को प्रकट करना होता है। इसके लिए उसे चाहे सर्वथा अर्थहीन ही कविता क्यों न करनी पड़े, तो भी कोई बुराई की बात नहीं है! 'सरियालिज्म' के अधिकांश अनुयायियों ने अपनी शक्ति दुर्भाग्यवश वास्तविक साहित्य-सर्जन की अपेक्षा सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अधिक लगाई है। इस युग के फ्रेंच साहित्यकारों में केवल पॉल वेलेरी का नाम ही अपवादरूप है, जिसकी रचनाओं की आधारशिला दार्शनिक भित्ति पर स्थापित है। 'ला ज्युन पार्क' तथा 'ल्यु सिमितिये मारे' जैसी उसकी कविताओं को यदि एक बार गहराई से समझ लिया जाय, तो पढ़नेवाले को उनके द्वारा असाधारण कलात्मक तृप्ति का अनुभव होता है।

नोबुल-पुरस्कार-विजेता मॉरिस मेटरलिंक।

नाटक :: मेटरलिंक और रोस्तेन्द

बीसवीं सदी में आकर नाटक के क्षेत्र में भी नई राह और नवीन दिशा पकड़ने की प्रक्रिया जारी रही। फलतः इस युग में फ्रेंच नाट्यकला के प्रत्येक अंग--जैसे अभिनय, वस्तु-सज्जा, प्रकाश, संगीत आदि--में बहुत-अधिक फेरफार और संशोधन हुआ। इसके लिए गॉस्तन, बाती, जार्ज दूले, जैक कोपो तथा जीन कोक्तो जैसे नई धारा के निर्माताओं के दल ने विशेष योग दिया। किन्तु तकनीक के क्षेत्र में प्रशंसनीय प्रगति होने पर भी इस उलटफेर के कारण साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व के नाटकों का निर्माण नहीं हो सका। इस काल की मुख्य उपलब्धि केवल पॉल जेराल्डी, फ्लेर, कैलेवे और मार्सेल पागनोल के हास्य-नाटक हैं। गम्भीर नाटक के क्षेत्र में हेनरी बर्न्स्टाइन तथा फ्रें क्वा द्यु कुरेल का कृतित्व उल्लेख योग्य है, जिन्होंने उन्नीसवीं सदी की परंपरा को कायम रखा। इसके अलावा मॉरिस मेटरलिंक के स्वप्निल नाटकों तथा रोस्तेन्द के अतिभावुकतावादी नाटिकाएँ भी उल्लेखनीय हैं। मेटरलिंक के नाटकों में सब से मशहूर है 'नीला पक्षी', जो नन्हें बालक-बालिकाओं से लेकर विचारशील वयस्कों तक सभी को मंत्रमुग्ध कर देनेवाली अनूठी कृति है। १९११ ई० में इस महान् साहित्य-स्रष्टा को नोबुल-पुरस्कार भी प्रदान किया गया। उसकी अन्य नाट्य-कृतियाँ हैं--'पेलास' और 'मेलेसाँद'। रोस्तेन्द के रोमांटिक नाटकों में 'सेरानो द बर्जेराक' सब से प्रसिद्ध है।

इस काल में समालोचना तथा दर्शन पर अनेकों उच्च-कोटि के ग्रन्थ लिखे गए। इस क्षेत्र का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व बर्गसाँ का था, जिसकी यह मान्यता थी कि सत्य का वास्तविक और विश्वसनीय आधार बुद्धि नहीं, बल्कि अन्तर्दृष्टि है।

अस्तित्ववादी धारा :: सार्त्र आदि

पिछले दिनों 'एक्जिस्टेंशिएलिज्म' या 'अस्तित्ववाद' के नाम से एक नवीन चिन्तनधारा योरप में उमगी है, जिसके उद्गाताओं में कार्ल यास्पर्स, कीर्कगार्ड, मार्टिन हैडेगर और सार्त्र नाम चिन्तक प्रमुख हैं। इनमें सार्त्र ने इस नूतन दार्शनिक धारा का प्रतिपादन करते हुए कतिपय बहुत ऊँचे दर्जे के उपन्यास और नाटक आधुनिक फ्रेंच वाङ्मय की वेदी पर भेंट किए हैं। इसी धारा का अन्य एक महान् उपन्यासकार और नाटकलेखक एलबर्ट केमु है, जिसकी 'ल होमे रिवोल्ते' नामक कृति प्रसिद्ध है। उसे नोबुल-पुरस्कार भी मिल चुका है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य वाङ्मय—(२)
अंग्रेजी साहित्य :: १८वीं शताब्दी तक

चॉसर, स्पेन्सर, शेक्सपियर, बेकन, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, स्कॉट, टेनिसन, ब्राउनिंग, थैकरे, डिकेन्स, हार्डी, बर्नार्ड शा, यीट्स और इलियट जैसी महान् साहित्य-विभूतियों की भेंट देनेवाले अंग्रेजी साहित्य को न केवल योरपीय वाङ्मय में ही प्रत्युत विश्व-वाङ्मय में गौरव और प्रतिष्ठा का पद प्राप्त है। पिछली दो शताब्दियों के घनिष्ठ संपर्क के कारण हम भारतवासियों का भी अंग्रेजी भाषा और साहित्य के साथ एक विशिष्ट नाता हो गया है। उधर इसी व्यापक साहित्य की एक शाखा के रूप में गत दो शताब्दियों की अवधि में अमेरिकन लोगों ने भी वाङ्मय के क्षेत्र में उल्लेखनीय देन दी है। आइए, इस महान् साहित्य की विविध विधाओं एवं उसे गौरवान्वित करनेवाली विभूतियों का परिचय प्राप्त करें।

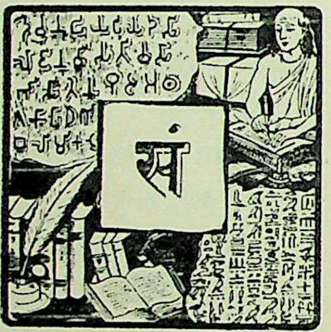

संसार के अन्य साहित्यों की तरह अंग्रेजी साहित्य का मूल स्रोत भी जाति की प्राचीन आस्थाओं और धार्मिक कृतियों में निहित है। ईसाई धर्म के अभ्युदय से पहले के अंग्रेजी (ऐंग्लो-सैक्सन) साहित्य की रूपरेखा की कल्पना करना संभव नहीं है, लेकिन यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि इस काल से जो परंपरा और धरोहर साहित्य को मिली होगी, वह उन चारणों और भाटों की स्फूर्तिवान् वाणी का ही प्रसाद होगी, जिससे राजाओं और सामंतों के दरबार बहुत काल तक गूँजते रहे हैं। चारणों की इन प्रशस्तियों का विषय जाति के वीरों और दूसरे विशिष्ट व्यक्तियों के वीरतापूर्ण कृत्यों का वर्णन था। इनका पिङ्गल सीधा-सादा, किंतु बहुत ही पुष्ट था। इन प्रशस्तियों को गीत की तरह गाने का नहीं, बल्कि वाद्ययंत्र के साथ पढ़ने का रिवाज था।

वीरगाथा-काल की उपलब्ध कृतियाँ

ईसाई धर्म के प्रचार और पुष्टिकरण के बाद भी चारणों ने अपनी वह परंपरा पूर्णतया नहीं त्याग दी। चौदहवीं शताब्दी ई० तक ये गीत प्रायः अपने मूल रूप में जनता में प्रचलित थे। इस वीरगाथा-साहित्य की चार पुस्तकें पूर्ण या आंशिक रूप में आज भी उपलब्ध हैं। ये हैं—(१) बियोवूल्फ, (२) विदसिद, (३) फिन्सबर्ग:, और (४) वाल्डेयर। 'बियोवूल्फ' में इसी नाम के एक पराक्रमी वीरपुरुष द्वारा विशेषतः ग्रेन्डेल नामक दैत्य के साथ युद्ध और अंत में उसके संहार की कहानी है। 'विदसिथ' एक घुमक्कड़-कथा है। अन्य दो काव्य 'फिन्सबर्ग' और 'वाल्डेयर' 'बियोवूल्फ' की तरह जर्मन अनुश्रुति से संबंधित हैं। इनमें 'बियोवूल्फ' सब से महत्वपूर्ण कृति है, जो इस समय पश्चिमी सैक्सन बोली में १००० ई० की एक पांडुलिपि में प्राप्त है, यद्यपि उसकी रचना वस्तुतः ७०० ई० के लगभग हो चुकी थी। वैसे इसका कथानक अनुश्रुति-रूप में पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० में ब्रिटेन में ऐंग्लो-सैक्सन लोगों के साथ आया था, जिन्होंने रोमन आधिपत्य की समाप्ति पर इस द्वीपखंड के आदि-वासी केल्ट लोगों को पराजित कर यहाँ न केवल अपनी राजनीतिक सत्ता ही स्थापित की थी, प्रत्युत एक नवीन संस्कृति और भाषा की भी नींव डाली थी। उन्हीं की बोली, जो मूलतः ट्यूटानिक या जर्मन परिवार की भाषा थी, अनेक प्रभावों और संमिश्रणों से सँवरती-सुधरती हुई अंत में उस महिमामय रूप को प्राप्त हुई, जिसे आज हम 'अंग्रेजी' के नाम से पहचानते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इंगलैंड में ईसाई धर्म के प्रचार के साथ पूर्वोक्त चारण काव्य-परंपरा में एक मौलिक परिवर्तन आ गया। अब चारणों की वीरगाथा-कविता को प्रायः तोड़-मरोड़कर ईसाइयत के अनुकूल बना लिया गया। इस युग का धार्मिक काव्य सारा का सारा उन गृहत्यागी भिक्षुओं द्वारा लिखा गया था, जो लैटिन भक्तिकाव्य के रंग में पूरी तरह से रँगे हुए थे। इसलिए इस कविता में मौलिकता बहुत कम मिलती है। कहीं-कहीं तो लैटिन कविताओं के भाव बिल्कुल वैसे-के-वैसे ही रख दिए गए हैं। फिर भी इस कविता की न केवल आत्मा बल्कि बाह्य स्वरूप और काव्य-विधान बहुत-कुछ वीरगाथा-काल का ही है। उसमें अनुप्रास की वही भरमार मिलती है और उसका पिङ्गल उसी तरह मंथर गति से डोलते हुए चलता है। मुख्यतः सातवीं और आठवीं शताब्दी ई० में लिखे गए इस पद्य-साहित्य की 'जूडिथ' और 'एलीनी' दो उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इस युग के कवियों में सब से पहला नाम जो हमारे सामने आता है, वह है कीडमॉन का, जिसने ६७० ई० के आसपास ईसाई धर्मग्रन्थों के कुछ अंशों को पद्यबद्ध किया था। उसी का एक समकालीन कवि था साइनवुल्फ, जिसका अनुसरण करके अगले सौ-पचास वर्षों में कई कविताएँ रची गईं।

गद्य का आरंभ

अंग्रेजी साहित्य की अनेक विशेषताओं में से एक यह भी है कि उसका गद्य करीब-करीब पद्य-साहित्य के साथ ही साथ विकसित हुआ। यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि सम्राट् एल्फ्रेड के समय में अंग्रेजी गद्य का पूरी तौर से प्रचलन हो गया था। अनुमान किया जाता है कि किसी न किसी तरह का गद्य इसके पहले भी लिखा जाता रहा होगा। 'एथेलबर्ट का कानून', जो सातवीं शताब्दी ई० के आरंभ में मौजूद था, अनुमानतः गद्य ही में लिखा हुआ था। परंतु चूँकि सातवीं से नवीं शताब्दी ई० तक साहित्यिक भाषा के पद पर अभी लैटिन ही प्रतिष्ठापित थी, फलतः साहित्यिक आकांक्षा रखनेवाले सभी लोग प्रायः लैटिन में ही लिखते थे।

इस काल के गद्य-लेखकों में स्वयं सम्राट् एल्फ्रेड के अतिरिक्त जिन दो विभूतियों के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे--वे हैं माल्म्सबरी के मठाधीश आल्धेल्म तथा सुप्रसिद्ध ईसाई धर्म-इतिहासकार महापंडित बीड। यद्यपि ये दोनों विद्वान् मुख्यतः लैटिन के लेखक थे, तथापि तत्कालीन साहित्यिक गतिविधि पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा था। बीड की 'एक्लीजियास्टिकल हिस्ट्री' नामक लैटिन कृति का अंग्रेजी अनुवाद स्वयं सम्राट् एल्फ्रेड ने प्रस्तुत किया था। इस साहित्यप्रेमी शासक ने और भी कई लैटिन कृतियाँ अंग्रेजी में अनूदित की थीं। परन्तु उसका सब से महत्वपूर्ण स्मृति-ग्रंथ तो है 'ऐंग्लो-सैक्सन क्रॉनिकल' नामक कई भागों में संगृहीत इतिहास-ग्रंथ, जो इस युग की सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है।

सम्राट् एल्फ्रेड और उसके आश्रित विद्वानों द्वारा प्रस्तुत यह समूचा गद्य-साहित्य तत्कालीन पद्य की तरह प्रायः धार्मिक साहित्य ही था। लेकिन ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक पहुँचते-पहुँचते उसमें एक बहुत बड़ा अन्तर पैदा हो गया। अब अंग्रेजी ही में ज्योतिष, गणित, नीतिशास्त्र, इतिहास आदि सभी विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं, यद्यपि इन सब का मूलाधार अभी भी लैटिन ही थी।

फ्रेञ्च का प्रभाव

ग्यारहवीं शताब्दी ई० के बाद अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर एक और सशक्त एवं विशिष्ट प्रभाव पड़ा फ्रेंच भाषा का। नार्मनों द्वारा इंगलैंड की विजय के बाद यहाँ के सांसारिक और धार्मिक जीवन के सभी क्षेत्रों में फ्रेंच प्रभाव की बहुलता हो गई। इस युग में आकर ईसाई मठ और विहार फ्रेंच पादरियों से भर गए थे और देश के उच्च अमीर वर्गों ने भी नार्मन प्रभाव में आकर रूखी देशी भाषा छोड़कर मधुर फ्रेंच को अपना लिया था। इससे इंगलैंड की अब तक की साहित्यिक भाषा में एक अद्भुत परिवर्तन आ गया। अब लैटिन की दुरूहता से किनारा कसकर अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण और हिज्जे ने फ्रेंच ध्वनिशास्त्र के नियमों के अधिक अनुरूप बाना पहनना शुरू कर दिया। यद्यपि अभी भी युग का साहित्य अधिकांशतः धर्मबहुल बना रहा, तथापि फ्रेंच के प्रभाव से रोमान्टिक प्रवृत्ति का भी उदय और प्रसार हुआ।

अंग्रेजी काव्य का उत्कर्ष :: महाकवि चॉसर

साधारणतया अंग्रेजी साहित्य का क्रमागत इतिहास चॉसर से ही शुरू होता है। वही अंग्रेजी साहित्य का आदिकवि माना गया है। अपने समय के अन्य कवियों की भाँति चॉसर (१३४०-१४०० ई०) ने भी प्रारम्भ में फ्रेंच से प्रभावित होकर एक कृत्रिम काव्य-शैली अपनाई थी, यद्यपि इन प्रारंभिक दिनों में भी उसकी अनुभूति की जड़ें पूरी तरह अपनी मातृभूमि के इतिहास और जन-भावना में ही जमी हुई थीं। समालोचकों का कहना है कि उसके इस प्रारम्भिक काव्य में भी तत्कालीन लंदन का एक धुँधला लेकिन बहुत ही प्रभावशाली चित्र हमें मिल जाता है--उसमें मानो लंदन की मनोरम वाटिकाओं की सुगंध बसी है और वहाँ के पक्षियों का चहचहाना सुना जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता है ! इसी जमाने में, जब कि चॉसर एक ओर फ्रेंच प्रभाव से छका हुआ था, उस पर इटली के नए काव्यादर्शों का भी गहरा प्रभाव पड़ा।

चॉसर केवल अन्तःस्फूर्ति और प्रेरणा से संचालित अटपटी वाणी का गायक ही नहीं था; वह एक अति चतुर और चेतनाशील कलाकार था, जो अचेतन रूप में अपने महान् ऐतिहासिक दायित्व के प्रति हर कदम पर जागरूक था। यद्यपि उसने अपने काव्य में पुरानी कहानियों को ही दोहराया, लेकिन अपनी कल्पना और आश्चर्यमयी अनुभूति के द्वारा उसने उन कहानियों का मानो पुनर्निर्माण कर दिया––यही नहीं, उसके द्वारा कही गई कहानियों में आधुनिक कहानी-कला के गुण भी मौजूद हैं। घटनाओं की क्रमबद्धता, चरित्र - चित्रण और वातावरण के सधे हुए प्रभाव आदि सभी बातों में चॉसर अद्भुत शक्तिसंपन्न है। अंग्रेजी साहित्य को इस कवि पर जो गर्व है, वह सर्वथा उचित ही है।

चॉसर की कृतियों में सर्वश्रेष्ठ 'ट्रॉयलस एण्ड क्रिसिडी', 'कैन्टरबेरी टेल्स' और 'लीजेन्ड ऑफ गुड वीमेन' नामक काव्य-रचनाएँ हैं। इनमें 'कैन्टरबेरी टेल्स' का स्थान सर्वोपरि है, यद्यपि वह एक अपूर्ण रचना है ! इस काव्यकृति में कैंटरबरी नामक ईसाई धर्मस्थल की तीर्थयात्रा करनेवालों की कथाएँ दी गई हैं। 'ट्रॉयलस एण्ड क्रिसिडी' प्रख्यात इटैलियन कथाकार बोकाचियो की एक रचना के आधार पर काव्यरूप में प्रस्तुत एक प्रेमकथा है। तीसरी रचना में क्लियोपाट्रा, फिलोमेला, थिस्बी आदि प्राचीन नारियों के चरित्रों का विवेचन है। इनके अतिरिक्त 'हाउज ऑफ फेम' और 'बुक ऑफ डचेज' नामक उसकी आरंभिक रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

इस युग के अन्य साहित्यकार

अपने युग का चॉसर ही अकेला उल्लेखनीय कवि नहीं है। उसके समकालीन अज्ञात कवियों में से––जिनकी रचनाएँ आज 'टेक्स्ट ए' और 'टेक्स्ट बी' के गुमनाम नामों से ही पहचानी जा सकती हैं––कइयों की प्रतिभा चॉसर से टक्कर लेती थीं और उनमें से कुछ तो भावों में उससे भी बढ़कर थे ! इनमें 'पिअर्स प्लोमेन' के रचयिता विलियम लैंगलैंड तथा जान गॉवर के नाम उल्लेखनीय हैं। 'पिअर्स प्लोमेन' 'कैंटरबेरी टेल्स' के बाद इस युग की सब से मार्के की कृति मानी जाती है। चॉसर के अपने जमाने में ही और तत्कालीन बाद के युग में उससे प्रभावित कवियों की मानो एक तरह से बाढ़ आ गई ! ऐसे कवियों में लिडगेट, ओक्लीव और हाउज के नाम उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि स्वयं चॉसर ने गद्य को बिल्कुल छुआ ही नहीं, परन्तु उसके बाद पंद्रहवीं शताब्दी ई० में धर्म और शिक्षा सम्बन्धी बहुत-सा गद्य लिखा गया। इस काल के गद्य-लेखकों में उल्लेखनीय हैं––जॉन कैपग्रेव, रेजीनेल्ड पेकाक, सर जॉन फार्टेस्क्यू, विलियम कैक्स्टन और सर टामस मेलारी। कैक्स्टन ने इंगलैंड में पहला छापाखाना कायम करके सांस्कृतिक प्रसार के कार्य में एक क्रांति उपस्थित कर दी और इस प्रकार साहित्य का स्वरूप और विधान ही बदल दिया। वह स्वयं एक सिद्धहस्त लेखक और अनुवादक था। उसके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में चॉसर की 'कैन्टरबेरी टेल्स' और सर टामस मेलारी का 'आर्थर का निधन' जैसी रचनाएँ भी थीं। 'आर्थर का निधन' में फ्रेंच सूत्रों से संगृहीत आर्थर संबंधी अनुश्रुतियों का गद्यानुवाद प्रस्तुत किया गया था। यह कृति पंद्रहवीं शताब्दी के अंग्रेजी गद्य की सब से महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

अंग्रेजी साहित्य का पुनरुज्जीवनकाल :: एलिजाबेथन युग

अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में सर टामस मोर की 'यूटोपिया' (जो प्लेटो के ढंग पर एक नवीन समाज-व्यवस्था की कल्पना करने का पहला प्रयत्न था) से लेकर मिल्टन तक के साहित्यिक दौर में एक ऐसी क्रमागत एकता है कि समालोचक इस कालावधि को साहित्य के एक युग के रूप में देखते हैं। अंग्रेजी जीवन और साहित्य के इस रेनासाँ या पुनरुज्जीवनकाल में अंग्रेजी प्रतिभा अतीत और भविष्य दोनों के बीच एक अद्भुत् समन्वय स्थापित करने में सफल हुई थी। इस काल को मोटे तौर पर 'एलिजाबेथन काल' के नाम से पुकारा जाता है और उसकी प्रमुख विभूति है शेक्सपियर। लेकिन शेक्सपियर के बारे में यह सोचना सही नहीं होगा कि वह अंग्रेजी रेनासाँ का जनक था। सच तो यह है कि वह रेनासाँ की सर्वोत्कृष्ट उपज था। इस काल ने न केवल शेक्सपियर जैसी महान् विश्व-विभूति की ही भेंट दी, प्रत्युत उसने स्पेन्सर जैसा संपन्न कवि, सर टामस मोर जैसा महान् मानवधर्मी और इरेस्मस और टिन्डेल जैसे दार्शनिक भी उत्पन्न किए।

रेनासाँ (पुनरुज्जीवन) का आंदोलन इटली में उत्पन्न हुआ था और आल्प्स पार करके वह जर्मनी और फ्रांस होते हुए इंगलैंड में आया था। इसने वह परिस्थिति पैदा कर दी, जिससे पूरे योरप में एक सी साहित्यिक धारा बहने लगी और विविध देशों एवं संस्कृतियों में परस्पर आदान-प्रदान की राहें खुल गई। इस परिवर्तन के कारण अंग्रेजी भाषा और साहित्य में अद्भुत और सर्वव्यापी सुधार हुआ। सामाजिक क्षेत्र में इस आंदोलन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की विशिष्ट देन यह थी कि उसने मानवता के सिद्धांतों को ऊँचा उठाकर लोगों के मस्तिष्क को धर्म के बाह्य आडंबर और यंत्रवत् अनुशासन से मुक्त कर दिया एवं व्यक्तिवाद की नींव डाली। इस व्यक्तिवाद के सिद्धांत ने साहित्य और कला के क्षेत्र में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। उसने लोगों को मध्य युग की अज्ञानता और भ्रांति से मुक्त कर दिया और उन्हें स्वतंत्रता, प्रेम, सहानुभूति और सहकारिता की भूमिका पर ला खड़ा कर दिया। कहना न होगा कि नवजीवन के इस उल्लास और धूमधड़क्के के अभ्यन्तर में एक दर्द की भी पुट विद्यमान थी, जिसकी सब से मुखर झलक शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों में मिलती है !

एलिजाबेथन युग की देन यों तो साहित्य की सभी विधाओं में व्याप्त है, तथापि मुख्य रूप से उसे नाटक का युग कहा जा सकता है। शेक्सपियर के रूप में अंग्रेजी साहित्य को अपना जो सब से बड़ा कलाकार उपलब्ध हुआ है, वह एलिजाबेथन काल की ही देन है। नाटक के बाद इस युग की दूसरी उल्लेखनीय देन है काव्य के क्षेत्र में, जिसके प्रमुख उद्गाता हैं स्पेन्सर और डॉन। इन दोनों के बाद तीसरा स्थान गद्य का है, जिसकी विभूति बेकन है। आइए, अब इन तीनों ही अंगों को अलग-अलग लेकर इस युग की साहित्यिक उपलब्धियों का लेखा प्रस्तुत करें।

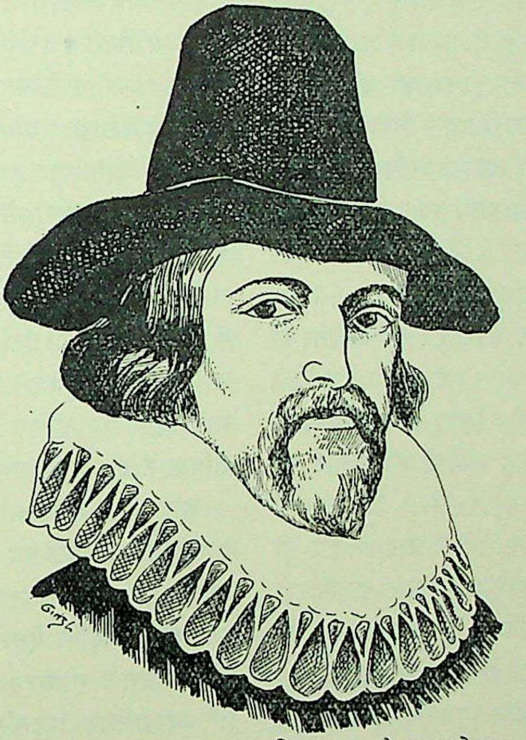

एलिजाबेथन युग का महान् विचारक और गद्य-लेखक फ्रांसिस बेकन।

गद्य :: फ्रान्सिस बेकन

सब से पहले इस युग के गद्य को ही लिया जाय। कोई आश्चर्य नहीं कि आज के प्रांजल अंग्रेजी गद्य को ध्यान में रखते हुए, चार शताब्दी पूर्व की एलिजाबेथन गद्य-शैली प्रथम साक्षात्कार में ही पाठकों को एकदम भारी-भरकम और कृत्रिम-सी जान पड़ेगी। इसमें संदेह नहीं कि पुरासम्मत वाग्मिता के अनुकरण की चेष्टा और नये शब्दों एवं मुहावरों की खोज ने एलिजाबेथन काल के गद्य को बड़ा कृत्रिम और अपभ्रंश बना दिया था। स्वयं शेक्सपियर ने अपने नाटक 'लव्ज लेबर लॉस्ट' में इस गद्य की खूब पैरोडी की है।

फिर भी एलिजाबेथन गद्य की देन कम मूल्यवान् नहीं है। गद्य ही वह सर्वोपयोगी माध्यम था, जिसके जरिये धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक शिक्षा दी जा सकती थी। हम देख चुके हैं कि मध्य युग में अंग्रेजी गद्य में ही अनूदित होकर विदेशी ज्ञान इंगलैण्ड में उपलब्ध हुआ था। एलिजाबेथन काल में यह अनुवाद का काम कहीं अधिक व्यापक रूप से हुआ।

फ्रान्सिस बेकन—१५७९ ई० में सर टॉमस नार्थ ने प्लूटार्क की जीवनियों का अनुवाद प्रकाशित किया था। शेक्सपियर ने अपने कई नाटकों (विशेषकर 'एण्टनी एण्ड क्लियोपाट्रा' और 'कोरियोलेनस') की कथावस्तु उसी से ग्रहण की है। शेक्सपियर ने नार्थ के गद्य के मुहावरों को भी अपनी कविता में उतारने में हिचक नहीं की। लेकिन एलिजाबेथन काल का युगान्तरकारी गद्य-लेखक तो था वस्तुतः फ्रान्सिस बेकन (१५६१-१६२६ ई०)। यद्यपि उसकी अधिकांश कृतियाँ लैटिन में लिखी गई थीं और वे अनुवाद ही में उपलब्ध हैं, फिर भी यह निर्विवाद है कि अपने समय में बेकन अंग्रेजी गद्य का सब से सिद्धहस्त लेखक था। उसकी क्षमता उसकी भाषा के रग-रेशे में व्याप्त है। बेकन की प्रतिभा और चिंतन-शक्ति अद्भुत थी। उसने ही पहलेपहल बादशाह सातवें हेनरी के राज्य-काल का इतिहास लिखकर अंग्रेजी ऐतिहासिक साहित्य की नींव डाली थी। उधर अपने दार्शनिक निबन्धों द्वारा तर्कपूर्ण चिंतन का भी श्रीगणेश उसने ही किया था। उसके चिंतन से ही इंगलैंड में, बल्कि एक तरह से पूरे पश्चिमी योरप में, वैज्ञानिक प्रणाली और खोज की प्रवृत्ति का आरंभ हुआ था।

इस काल की गद्य-कृतियों में एक उल्लेखनीय रचना सर टामस मोर की विख्यात पुस्तक 'यूटोपिया' है, जिसे लेखक ने लिखा तो था लैटिन भाषा में, परन्तु १५५१ ई० में जिसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंग्रेजी अनुवाद भी पाठकों को उपलब्ध हो गया था। इस अनूठी पुस्तक में मोर ने प्लेटो की 'रिपब्लिक' से बहुत-कुछ प्रेरणा ग्रहण करके विवेक-बुद्धि और आर्थिक समानता की बुनियाद पर रचित एक आदर्श समाज की परिकल्पना की थी। इस कृति से प्रेरित होकर बेकन ने भी 'न्यू एटलांटिस' नामक इसी तरह की एक पुस्तक प्रस्तुत की थी।

पद्य :: स्पेन्सर, डॉन, मार्लो, शेक्सपियर, बेन जान्सन

एलिजाबेथन काल में एक नई पद्य-परंपरा का आरम्भ हुआ। सर टामस वायट और हेनरी हावर्ड (अर्ल ऑफ सरे) ने सॉनेट लिखने के नए प्रयोग किए। ये प्रयोग एक तरह से नई साहित्यिक परंपरा के उद्गम कहे जा सकते हैं। सरे ने जिस अतुकान्त कविता की शुरुआत की थी, उसका उसने सबसे पहले वर्जिल के 'एनिड' के अनुवाद में प्रयोग किया था। बाद में इसी अतुकान्त छन्द का मार्लो और शेक्सपियर ने अपने नाटकों में प्रयोग करके उसे अंग्रेजी काव्य का एक प्रमुख उपकरण बना दिया। तदनन्तर मिल्टन ने भी इसी छंद को अपने महाकाव्य 'पैराडाइज लॉस्ट' में प्रयुक्त किया।

स्पेन्सर—जिस काल में वायट और सरे नई कविता को उत्पन्न करने के लिए अपने-अपने प्रयोग कर रहे थे, इंगलैंड ने एक ऐसा कवि पैदा किया, जिसकी प्रतिभा मौलिक थी और शक्ति योरपीय साहित्य के उच्चतम कवियों की टक्कर की थी। यह कवि था स्पेन्सर (१५५२-१५९९ ई०), जिसका नाम चॉसर के साथ लिया जाता है। चॉसर के बाद स्पेन्सर ही ऐसा कवि हुआ, जिसमें अंग्रेजी कविता की प्रभा का फिर से उदय हुआ। चॉसर की तरह स्पेन्सर भी इटली की नवसांस्कृतिक जागृति और नई कविता से प्रभावित था। परन्तु साथ ही ब्रिटेन की मूल अनुश्रुति और पुराण-परंपरा से भी उसका गहरा सम्पर्क था। उसकी प्रथम कृति 'शैपर्डस् कैलैन्डर' हमारे यहाँ की बारहमासी की तरह का एक जनकाव्य है। इस कविता के बाद स्पेन्सर ने अपनी दूसरी विख्यात कृति 'फेयरी क्वीन' की भेंट दी, जिसे स्वयं कवि ने एक ऐतिहासिक रोमान्स कहा है। स्पेन्सर अंग्रेजी का पहला राष्ट्रीय कवि माना जाता है, क्योंकि दरबारी कवि होने के बावजूद उसकी कविता दरबार के कृत्रिम बंधनों में बँधी नहीं रह सकी थी और उसने अपने काव्य-रस से अंग्रेजी जन-जीवन को सिञ्चित किया था।

मार्लो, शेक्सपियर, बेन जान्सन—स्पेन्सर का अनुकरण बहुत-से कवियों ने किया, लेकिन उनमें से किसी में वह शक्ति और सामर्थ्य नहीं थी कि उसकी पूरी कला और अन्तर्दृष्टि को अपने काव्य में उतारता। ज्यादातर ये लोग उसके प्रतीकात्मक काव्य का ही अनुकरण करते रहे। इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य में प्रतीकात्मक खण्डकाव्य की एक सुदृढ़ रूढ़ि-सी पड़ गई। इस रूढ़ि को मार्लो ने 'हीरो एण्ड लिएनडर' और शेक्सपियर ने 'वीनस एण्ड एडोनिस' एवं 'लुक्रेसी' लिखकर तोड़ा। ये तीनों कृतियाँ न सिर्फ किसी प्रतीक-व्यंजना से मुक्त हैं, बल्कि इन पर इटैलियन प्रभाव भी ज्यादा नहीं है। ये हर माने में विशुद्ध अंग्रेजी प्रतिभा की ही उपज हैं और अपनी शक्ति और सौन्दर्य में किसी भी विदेशी खंडकाव्य से घटकर नहीं हैं।

एलिजाबेथन काल की कविता अनेकाङ्गी और अनेकरूपिणी है। उसे किसी एक निश्चित परिभाषा या लटके में बाँधने से बड़ी गलती कोई और नहीं हो सकती। यह सच है कि इस काल की सर्वोत्कृष्ट कविता नाटकों में ही मिलती है, लेकिन इस युग के प्रायः हर एक नाटककार ने नाटकों के अतिरिक्त स्वतंत्र काव्य-रचना भी की है। शेक्सपियर ने असाधारण शक्ति के खंडकाव्य तो लिखे ही हैं--उसके सॉनेट भी अंग्रेजी साहित्य में अमर हैं। उधर बेन जान्सन ने भी, जो अपने जीवन में शेक्सपियर के टक्कर का ही नाटककार और कवि समझा जाता था, ऐसे सुन्दर गीत लिखे हैं कि उनमें से जो अनुवाद मात्र हैं, वे भी मौलिक ही प्रतीत होते हैं! इन लोगों की कविता में एक अपूर्व उल्लास और उत्कर्ष है।

जॉन डॉन--एलिजाबेथन युग के इन कवियों में जिसमें काव्योचित प्रतिभा सब से अधिक सौष्ठव और शक्ति से साकार हुई, वह था जॉन डॉन (१५७२-१६३१ ई०)। इस कवि की दृष्टि ऐसी तीक्ष्ण और प्रतिभा इतनी व्यापक थी कि उसके साधारण से साधारण प्रयास में भी उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति एवं भौतिक भावातिरेक का साथ-साथ अनुभव किया जा सकता है। अपनी उच्चतम अनुभूति के क्षण में उसका सौन्दर्य-बोध हमारे यहाँ के ऋषियों की टक्कर का है। डॉन दरअसल अंग्रेजी साहित्य में अपनी तरह का अकेला कवि है। उसका अनुकरण जिन्होंने किया उन कवियों के नाम हैं--जार्ज हर्बर्ट, हेनरी वान, रिचर्ड क्रॉशा और हेनरी किंग। ये 'धार्मिक वृत्ति के कवि' कहलाते हैं। इन्हीं के समसामयिक टॉमस कैरू, जॉन सर्कलिंग, रॉबर्ट हैरिक और रिचर्ड लवलेस आदि थे, जो 'कैवेलियर परंपरा के कवि' कहलाते हैं।

नाटक :: मार्लो, शेक्सपियर और बेन जान्सन

अंग्रेजी साहित्य की सब से पुरानी नाटकीय कृतियाँ 'मिस्ट्री प्लेज' के नाम से मशहूर हैं, जिनमें हमारे यहाँ की रासलीला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और रामलीला की तरह ईसामसीह की मानवता और उनकी जीवनलीला की नाटकीय ढंग पर रहस्यवादी झाँकी प्रस्तुत की जाती थी। इस आरंभिक नाटक के स्वभावजन्य विकास के फलस्वरूप ही आगे चलकर 'मोरेलिटी प्ले' का उदय हुआ। ऐसे नाटक एक सरल और सर्वग्राही रीति से नाटकीय तत्व-निरूपण द्वारा साधारण जनता को नैतिक शिक्षा प्रदान करते थे। इंगलैंड का इस तरह का सब से विख्यात नाटक 'एवरीमैन' है, जो ईस्टर और दूसरे त्योहारों के अवसर पर हर एक गाँव और हर संपन्न घर में सदियों से अभिनीत होता रहा है।

ट्यूडर-काल में आकर विशिष्ट परिस्थितियों के योग और महत्वशील प्रभावों के फलस्वरूप लौकिक नाटक का जन्म और विकास हुआ। इस काल में हमें कई नाटक और नाटककारों के नाम मिलते हैं। लेकिन उस भावी नाटकीय आन्दोलन में--जिसने शेक्सपियर, मार्लो या बेन जान्सन जैसे नाटककार पैदा किए--उनका क्या योग है, यह कहना कठिन है। इन नाटकों में नवीनता और संगठित प्रयास तो दिखलाई देता है, फिर भी उनमें एक ऐसी अयथार्थता है कि इस काल की असली नाटक-धारा से उसे संबद्ध करना कठिन है।

इस बीच इटली के लैटिन कवि सेनेका के ढंग पर विदेशी कथानकों को लेकर कुछ नाटक लिखे गए। लेकिन अंग्रेज जनता की अभिरुचि वस्तुतः विदेश से आए हुए इस ढंग के नाटकों में नहीं थी। वह तो अपने इतिहास को (जो अत्यधिक घटनाप्रधान था और अनेकों घात-प्रतिघातों से भरा पड़ा था) पुरानी परिपाटी के अनुकूल नाटकीय रूप में चित्रित होते देखना चाहती थी। फलतः कुछ ऐसे नाटक प्रस्तुत किए गए, जो अंग्रेज जनता की अभिरुचि के अधिक निकट थे। इनमें से 'फेमस विक्ट्रीज' और 'हेनरी द फिफ्थ', 'ट्रबलसम रेन ऑफ किंग जॉन' और 'किंग लियर' विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रत्येक नाटक की कथावस्तु पर बाद में स्वयं शेक्सपियर ने भी नाटक लिखे।

उपर्युक्त दोनों ही प्रवृत्तियों का समन्वय सब से पहले टामस किड की 'स्पेनिश ट्रेजडी' और मार्लो के उन छोटे-छोटे दुःखान्त नाटकों में हुआ, जिनका आरंभ 'टैंबरलेन' से हुआ था। इन्हीं नाटकीय प्रयासों ने एलिजाबेथन ट्रेजेडी की महान् परंपरा की आधारशिला रक्खी। एलिजाबेथन काल के नाटक की तीन महान् प्रतिभाएँ मार्लो, शेक्सपियर और बेन जान्सन के रूप में सामने आईं। इनमें शेक्सपियर का स्थान निस्संदेह सर्वोपरि है। उसके संबंध में आगे विस्तृत परिचय दिया गया है। यहाँ मार्लो और बेन जान्सन के कृतित्व की ही चर्चा हम कर रहे हैं।

क्रिस्टॉफर मार्लो (१५६४-१५९३ ई०)--एलिजाबेथन युग में अंग्रेजी साहित्य की वेदी पर जो ज्योतियाँ जगमगाईं, उनमें क्रिस्टॉफर मार्लो की आभा अद्भुत प्रतिभा की लौ लिए हुए थी! यद्यपि यह प्रतिभावान् कलाकार उनतीस वर्ष की अल्पायु में ही चल बसा था, फिर भी वह अंग्रेजी नाट्य-साहित्य को अमूल्य देन दे गया! उसके नाटकों में 'टैंबरलेन दी ग्रेट', 'डॉक्टर फॉस्टस' और 'ज्यू ऑफ माल्टा' उल्लेखनीय हैं। अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'डॉ० फास्टस' में मार्लो ने नैतिकता का समावेश करने के लिए मध्ययुगीन क्राइस्ट-लीलाओं की पूरी प्रतीक-व्यंजना अक्षुण्ण रक्खी है। यह उल्लेखनीय है कि इस कथानक पर आगे चलकर जर्मन महाकवि गेटे ने इसी नाम की अपनी विश्व-विख्यात कृति प्रस्तुत की। मार्लो की नाट्यकला में ही एलिजाबेथन काल की प्रतिभा और कला के हमें पहली बार दर्शन होते हैं।

बेन जान्सन (१५७३-१६३७ ई०)—शेक्सपियर के समकालीन साहित्यकारों में बेन जान्सन को कवि और नाटककार दोनों ही रूप में प्रतिष्ठित पद प्राप्त है। उसने कई मौलिक नाटक लिखे थे, जिनमें कॉमेडी और ट्रेजेडी दोनों वर्ग की रचनाएँ थीं। उसकी कॉमेडियों में 'अल्केमिस्ट', 'बार्थोलोम्यू फेयर', 'साइलैंट वीमेन', 'वोलपोने' आदि तथा ट्रेजेडियों में 'कैटिलीन' और 'सेजेनस' प्रसिद्ध हैं।

महाकवि शेक्सपियर

शेक्सपियर के जीवन के बारे में हम बहुत कम जानकारी रखते हैं। खोजियों और अन्वेषकों ने अथक परिश्रम द्वारा उसके बारे में बहुत सी बातें खोजकर इकट्ठा की हैं, पर उनमें से अधिकतर अप्रासंगिक और बेकार हैं। किसी-किसी ने तो यह भी धारणा प्रस्तुत की है कि शेक्सपियर नाम का कोई व्यक्ति कभी हुआ ही नहीं और उसके नाटक बेकन या अभिजात कुल के अन्य किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिखे हुए हैं! लेकिन अब यह बात निश्चित रूप से मानी जा चुकी है कि विलियम शेक्सपियर नाम का एक व्यक्ति अवश्य था, जिसका जीवन बहुत-कुछ उसी तरह बीता था, जैसा कि जनश्रुति में बयान किया जाता है। उसे समकालीन नाटककारों का पर्याप्त आदर भी प्राप्त था।

शेक्सपियर के जीवन की पहली तिथि, जिसके बारे में हमारी जानकारी है, अप्रैल २६, १५६४ ई०, को स्ट्रेटफर्ड-ऑन-एवोन के छोटे-से गिरजे में उसे बपतिस्मा (ईसाई दीक्षा) दिए जाने की तिथि है। तदनंतर उसके जीवन से संबंधित अन्य एक महत्वपूर्ण उल्लेख २७ नवम्बर, १५८२, को एन हैथवे नामक महिला के साथ (जो उससे आयु में बड़ी थी) उसके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विवाह का मिलता है। शेक्सपियर का प्रारंभिक जीवन स्ट्रैट-फर्ड के कस्बे में ही व्यतीत हुआ था, जहाँ उसका पिता सर-कारी नौकर था। यहीं की पाठशाला में उसकी शिक्षा हुई। यह शिक्षा बहुत ही साधारण थी। संभवतः वह थोड़ी लैटिन और ग्रीक भी जानता था। १५८२-९२ ई० के बीच की उसकी जीवनी के बारे में हमें बिलकुल जानकारी नहीं है। उसके प्रारंभिक नाटकों की छटा देखकर कुछ लोगों का अनुमान है कि वह उन दिनों शायद किसी देहाती स्कूल में पढ़ाने लगा था। इसके बाद वह पहली बार लन्दन आया होगा। उस समय उसने ब्रिटिश स्टेज को अपनी प्रारंभिक अवस्था में पाया होगा। कहते हैं, सब से पहले वह थियेटर के बाहर शौकीन दर्शकों के घोड़े रखवाता था। उसके बाद उसे छोटे-मोटे पार्ट भी मिलने लगे। बहुत जल्द ही वह अपने थियेटर में चोटी का अभिनेता समझा जाने लगा। इसके बाद अपनी व्यापारकुशलता से वह पहले तो उस थियेटर में साझीदार और बाद में उसका मालिक ही हो गया। उसके सर्वोत्तम नाटक इसी काल में लिखे गए थे। बाहर से दूसरों से नाटक काफी कठिनाई और बड़ी रकम खर्च करने के बाद ही मिलते थे। इस-लिए अपनी कम्पनी के लिए उसने खुद ही नाटक लिखना शुरू किया।

शेक्सपियर के कुछ नाटक तो उसके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुके थे। वे 'क्वारटोज' कहलाते हैं। उसकी मृत्यु के बाद १६२३ ई० में उसके अंतरंग मित्र हेमिन्ज और कान्डेल ने--जो उसकी ही कम्पनी में ऐक्टर थे--उसके सभी नाटक इकट्ठा करके छपवाये। यह संस्करण 'फर्स्ट फोलियो' के नाम से मशहूर है। मध्यम श्रेणी के भलेमानसों की तरह शेक्सपियर ने भी काफी रकम कमाकर अपने पेशे से अवकाश ले लिया था और घर बनाकर अपने कस्बे में ही वह बस गया था। वहाँ उसके पुरखों के साथ आज भी उसकी कब्र मौजूद है। उसका देहांत ५२ साल की आयु में १६१६ ई० में हुआ था। संतान के नाम पर उसके एक पुत्र और दो पुत्रियों का उल्लेख स्ट्रेटफर्ड के गिरजे की पुस्तक में मिलता है।

शेक्सपियर ने कुल मिलाकर ३७ नाटक लिखे। इनके नाम ये हैं--'टू जैन्टलमैन ऑफ वेरोना', 'मेरी वाइव्ज ऑफ विंडसर', 'मेजर फॉर मेजर', 'कॉमेडी ऑफ एरर्स', 'मच एडो एबाउट नथिंग', 'लव्ज लेबर्स लॉस्ट', 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम', 'मरचेंट ऑफ वेनिस', 'एज यू लाइक इट', 'द टेमिंग ऑफ द श्रू', 'ऑल्स वेल दैट एण्ड्स वेल', 'ट्वेल्थ नाइट', 'विंटर्स टेल,' 'टेम्पेस्ट', 'किंग जॉन', 'रिचर्ड सैकंड', 'हेनरी फोर्थ' (२ भागों में), 'हेनरी फिफ्थ', 'हेनरी सिक्स्थ' (३ भागों में), 'रिचर्ड थर्ड', 'हेनरी एड्थ', 'ट्रायलस एण्ड क्रेसीडा', 'कोरियोलेनस', 'टाइटस एण्ड्रोनिकस', 'सिम्बे-लाइन', 'पेरिक्लीज', 'रोमियो एण्ड जूलिएट', 'टाइमोन ऑफ एथेन्स', 'जूलियस सीजर', 'एंटनी एण्ड क्लियोपाट्रा', 'मैक-बेथ', 'हैमलेट', 'ओथेलो', और 'किंग लियर'। इनमें प्रथम १४ कॉमेडी, तदनंतर १० ऐतिहासिक नाटक और शेष ट्रेजेडी हैं।

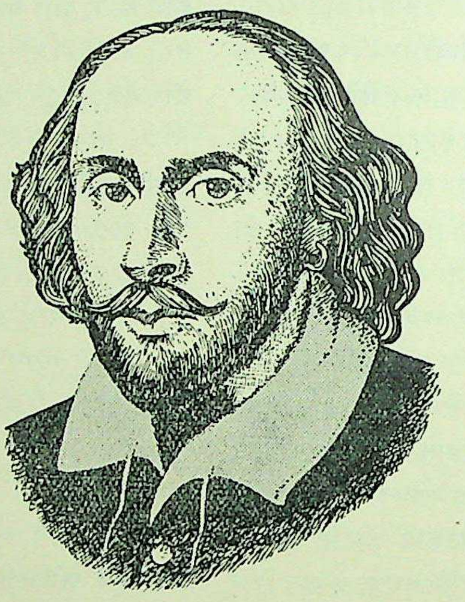

अंग्रेजी साहित्य की महाविभूति विलियम शेक्सपियर।

प्रारंभिक नाट्य-रचनाएँ—काल-विभाजन के अनुसार शेक्स-पियर के नाटक चार खंडों में बाँटे जाते हैं--पहला १५९० से १५९४ ई० तक; दूसरा १५९४-१५९९ ई० तक; तीसरा १५९९ से १६०९ ई० तक (जो महान् ट्रेजेडियों का काल है) और चौथा अंतिम युग, जब कि वह काफी मालदार हो चुका था और ग्लोब थियेटर के अलावा एक और थियेटर में भी उसका कुछ हिस्सा हो गया था।

१५९४ ई० के पहले की शेक्स-पियर की रचनाएँ अपरिपक्व, अमौ-लिक और बाद के नाटकों की सुघ-ड़ता और व्यवस्था की तुलना में अव्यवस्थित और अनगढ़ हैं। परन्तु इस काल में वह एक जनप्रिय ऐक्टर और नाटक-कार हो चुका था और उसने सुखान्त, दुःखान्त और ऐतिहा-सिक सभी तरह के नाटक लिख डाले थे।

इन तीनों श्रेणियों के नाटकों की मिसालें 'कॉमेडी ऑफ एरर्स', 'टाइटस एन्ड्रोनिकस' और 'हेनरी सिक्स्थ' हैं। 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' में (जो दो जुड़वा संतानों के एक से होने के झमेले की एक कॉमेडी है) एक लैटिन नाटक का प्रतिबिंब है। 'टाइटस एन्ड्रोनिकस' में हत्या, अपहरण और हिंसक भाव-नाओं के घात-प्रतिघात का चित्रण है। इस नाटक की कथा-वस्तु सम्पूर्ण है और इसके ऐरोन नामक मनमुखा के चरित्र में तो नाटककार ने अपना कमाल दरसा दिया है। इसकी

कथावस्तु ओविद से और अन्य सामग्री सेनेका के एक दुःखान्त नाटक से उधार ली गई है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'हेनरी सिक्स्थ' और 'हेनरी थर्ड' नाम के ऐतिहासिक नाटकों में शेक्सपियर ने इतिहास के प्रति अपना पूरा रुख दरसा दिया है। ट्यूडर राज्यवंश ने ही इंगलैंड को गृहयुद्ध से मुक्त किया था। उनके राज्यकाल में इंगलैंड जर्मनी की तरह किसान-क्रान्ति और फ्रान्स के धार्मिक युद्ध की आफतों से बचा रहा था। फलतः इंगलैंडवासियों के दिलों में एक गंभीर धार्मिक वृत्ति पैदा हो गई थी। वे समृद्धि को अच्छा और पुण्य का फल समझते एवं कष्ट और अवनति को पाप और कदाचार का दण्ड मानते थे। अपने ऐतिहासिक नाटकों में अपनी स्व-भावजन्य प्रतिभा के साथ शेक्सपियर ने इसी भावना का निरूपण किया है।

शेक्सपियर ने इस काल में तीन कॉमेडियाँ भी लिखीं, जो उसकी साहित्यिक कृतियों में मुख्य स्थान रखती हैं। इनमें 'टू जेन्टलमैन ऑफ वेरोना' में एक लड़की पुरुषों का वेष बना-कर पुरुषों को छकाती है! इससे पुष्ट कॉमेडी 'लव्ज लेबर्स लॉस्ट' है, जिसमें एक राजा और उसके दो मुसाहिब स्त्री मात्र से कोई सरोकार न रखने की कसम खाकर शीघ्र ही पुनः लड़कियों के पीछे भागते हैं! तीसरी कॉमेडी 'टेमिंग आफ द श्रू' है, जिसमें एक कर्कशा और झगड़ालू स्त्री करीब-करीब उन्हीं उपायों से काबू में की जाती है, जिनसे एक बाज या शिकरा पालतू बनाया जाता है! ये नाटक शेक्सपियर ने आज से लगभग चार सौ वर्ष पहले लिखे थे, लेकिन उनसे इस बात की साक्षी मिलती है कि मानव स्वभाव में ऐसा कुछ नहीं था, जिसे यह महाकवि न जानता और समझता हो।

१५९४ ई० के बाद शेक्सपियर के जीवन की दूसरी महत्व-पूर्ण तिथि १५९९ ई० है, जब इंगलैंड के लार्ड चैम्बरलैन ने (जो शेक्सपियर का प्रमुख आश्रयदाता था) नवनिर्मित ग्लोब थियेटर को शेक्सपियर और उसकी कम्पनी के अभिनय के लिए खरीद लिया। इसी साल शेक्सपियर ने अपनी मशहूर ट्रेजेडी 'जूलियस सीजर' प्रस्तुत की थी।

१५९४-९९ ई० के बीच उसने पुनः वैसे ही तीनों तरह के नाटक लिखे, लेकिन अब उनका क्रम बदल गया था। अब उसकी रचनाओं में मुख्य स्थान ऐतिहासिक नाटकों का था, दूसरा स्थान कॉमेडियों का था और ट्रेजडी के नाम पर उसने केवल एक नाटक 'जूलियस सीजर' ही लिखा था।

इस काल में वह इंगलैंड के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में काफी दिलचस्पी रखता दिखलाई देता है। इसीलिए उसके नाटकों में दो शैलियाँ मिलती हैं--एक तो गंभीर और टीमटामवाली, दूसरी सरल और आडम्बरहीन। इस काल के आरंभ में ही शेक्सपियर ने दो और नाटक लिखे थे, जो उसकी कृतियों में सर्वश्रेष्ठ पद पाने के योग्य हैं। ये नाटक हैं--'रोमियो एण्ड जूलिएट', जो एक हल्की-सी ट्रेजडी है और 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम', जो एक अनूठी कॉमेडी है। 'रोमियो और जूलिएट', जिसमें प्रेम और प्रथम मिलन की भावना का अतिरेक दर्शाया गया है, विश्व-साहित्य की विभूति है। लेकिन 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' तो अपनी योजना और वस्तु में करीब-करीब अलौकिक ही है! शेक्सपियर ने अपनी प्रतिभा से इसमें इतने विरोधी पात्रों और तत्वों का सम्मिश्रण किया है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है! राजसी दरबार, जवानी के रस से छके हुए प्रेमी, सीधे-सादे देहाती, परियाँ और प्रेत, कारोबारी जीवन और पागल कर देनेवाली चाँदनी, इन सब के योग से शेक्सपियर ने इस नाटिका में स्वभावजनित उत्फुल्लता का एक संसार खड़ा कर दिया है, साथ ही साथ उसके द्वारा एक सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन का भी सम्पूर्ण चित्र उसने हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है।

इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में पहला स्थान 'किंग जॉन' का है, जो सब मिलाकर एक असंतुलित नाटक है, फिर भी उसमें शेक्सपियर की भाषा में काफी परिष्कार हुआ है। इसके बाद के तीन नाटकों की दूसरी सीरीज में हैं--'रिचर्ड सैकन्ड', 'हेनरी सिक्स्थ' और 'हेनरी फोर्थ'। इन ऐतिहासिक नाटकों को केवल यह समझ लेना कि ये एलिजाबेथ के दर-बार या शेक्सपियर के अन्य आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए लिखे गए थे, गलत होगा। इनमें शेक्सपियर द्वारा पूरी अंग्रेज जाति के ऐतिहासिक तत्त्व का निरूपण किया गया है --उसी तरह जिस तरह कि होमर ने अपनी कृति में यूना-नियों के शौर्यकाल और वर्जिल ने रोम की प्रतिभा का निरू-पण किया था।

महान् ट्रेजेडियाँ--तदनंतर आता है इस महाकवि के काव्योत्कर्ष का मध्याह्नकाल--उसकी महान् ट्रेजेडियों का रचनाकाल। शेक्सपियर के जीवनवृत्त में यह काल सब से अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें उसके विचार प्रौढ़, अन्तर्दृष्टि व्यापक और कला अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई थी। इस काल में शेक्सपियर मानव स्वभाव के गुह्यतम संघर्षों और घात-प्रतिघातों को देखता है। अब तमाम अन्तर्द्वन्द्व एक नैतिक धरातल पर प्रकट होता है और कवि की नाट्य-प्रतिभा उसके कलाकार-रूप की महत्ता को कम नहीं करती। इस काल में महाकवि यदि मानवीय सुख के बजाय मानवीय विकारों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के प्रति अधिक ध्यान देता है, तो केवल इसीलिए कि अब वह सम्पूर्ण मानव चरित्र और प्रवृत्तियों को मानो एक क्रान्तदर्शी ऋषि के अंदाज से देखता है ! उसकी तीक्ष्ण दृष्टि मानव-जीवन के गंभीर स्तरों को, उसकी गहरी से गहरी उलझनों को और उसके गंभीरतम विरोधों को एक सहज कलामय सरलता से बेध जाती है और ईर्ष्या, हिंसा, छल-कपट, संदेह एवं मृत्यु के घात-प्रतिघात के वातावरण में भी वह अपूर्व सौंदर्य की सृष्टि करने में सफल हो जाता है ।

इस काल की शेक्सपियर की मुख्य कृतियाँ वे चार महान् दुःखान्त नाटक हैं, जो न केवल अंग्रेजी साहित्य प्रत्युत विश्व-वाङ्मय की अमर विभूतियाँ हैं। ये नाटक हैं--'हैमलेट', 'ओथेलो', 'मैकबेथ' और 'किंग लियर'। उपर्युक्त चारों ट्रेजेडियों में शेक्सपियर की कलाक्षमता अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी है, और जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, मानव स्वभाव को अब उसके पूरे विस्तार में देखते हुए, उसके विरोधों और घात-प्रतिघातों में वह कल्याण और शुभादर्शों की राह खोजने लगता है। शेक्सपियर के जीवन में यह एक बहुत ही उलझा हुआ काल है, जब एक ओर तो वह प्रतिहिंसा, कलह और विश्वासघात की विनाशकारी भावनाओं से जूझता रहता है, दूसरी ओर मानव स्वभाव के गंभीरतम स्थलों में स्थित कल्याण और सौन्दर्य के चिरप्रवाहित स्रोतों को भी देखता है ! इन दोनों के ज्ञान और आत्मानुभव ने ही उसकी कला को वह अद्भुत परिपक्वता प्रदान की, जिसने इस महाकवि को अपने ही काल और देश का नहीं, वरन पूरी मानवता के कला-उद्योग का शृंगार बना दिया है।

इस काल की कृतियों में यह महाकवि अपनी सामयिक परिस्थिति से पूरा-पूरा ऊपर उठ जाता है और तटस्थ होकर जीवन को उसके नग्नतम स्वरूप में देखता है। एलिजाबेथन काल की समृद्धि, जो अब तक उसे चकित और विस्मयाभूत किए हुए थी, अब उसे तुच्छ मालूम होती है और उसकी संपूर्ण दृष्टि आत्मा की महानता, सत्यप्रियता और वृत्तियों की श्रेष्ठता पर जा केन्द्रित होती है। शान्ति और आत्म-प्रौढ़ता का यह वातावरण उसकी अन्तिम कृतियों में अपनी पूरी शक्ति और प्रसार के साथ व्यक्त होता है।

'कोरियोलेनस', 'एन्टनी एण्ड क्लियोपाट्रा', 'ट्रायलस एण्ड क्रेसीडा' और 'टाइमोन ऑफ एथेन्स' नामक चार रोमन-ग्रीक ट्रेजेडियाँ भी इसी काल की उपज हैं। इस युग की अकेली कॉमेडी 'मेजर फॉर मेजर' (जैसे को तैसा) है, जो एक सर्वाङ्ग-संपूर्ण कॉमेडी होते हुए भी ट्रेजेडी की गंभीरता और गहराइयाँ रखती है। 'टाइमोन ऑफ एथेन्स' और 'मेजर फॉर मेजर' में शेक्सपियर मानवता को क्षत और अपङ्ग करनेवाली शक्तियों और प्रवृत्तियों के बारे में अपनी सम्पूर्ण सहानुभूति से चिंतन करता है और एक महान् नैतिक सुधारक की तत्परता और कठोरता से उनसे परित्राण की राहें खोजता है।

शेक्सपियर की अन्तिम कृति 'टेम्पेस्ट' है, जिसमें इस विचित्र जादूगर ने संसार को अपना अन्तिम संदेश दिया है। इसमें उसकी कला-प्रतिभा और असाधारण प्रज्ञा अपने चरम विकास को पहुँच चुकती हैं और वह उन आदर्शों की स्थापना करता है, जो सदैव से मानवता के आकाशप्रदीप रहे हैं और जिनके सामने देश और काल के भेद तुच्छ एवं सार-हीन दिखलाई देते हैं।

शेक्सपियर के बाद :: रेस्टोरेशन-काल

अंग्रेजी साहित्य की यह समस्या है कि उसके किसी काल को एक निश्चित अवधि और सीमा के अन्दर नहीं घेरा जा सकता है। फिर भी १६६० ई० अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण तिथि है। वह दो महायुगों की संधि पर स्थित एक विभाजक रेखा-सी है। इस तिथि से अंग्रेजी साहित्य के उस नवीन अध्याय का प्रारंभ होता है, जिसके साथ उसकी आधुनिक प्रणाली की नींव पड़ती है। इस तिथि के आसपास का युग इतिहास में 'रेस्टोरेशन-काल' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस काल की महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं-- स्टूअर्ट राजाओं और पार्लामेण्ट का राजनीतिक संघर्ष, उसके फलस्वरूप चार्ल्स प्रथम का वध, क्रॉमवेल के नेतृत्व में प्रजातन्त्र की स्थापना एवं उसकी मृत्यु के बाद चार्ल्स प्रथम के रँगीले पुत्र चार्ल्स द्वितीय के राज्याभिषेक के साथ पुनः सम्राट्-तंत्र की स्थापना। इनमें से अन्तिम यानी इंगलैंड के अल्पजीवी प्रजातन्त्र के अन्त और सम्राट्-तंत्र की पुनर्स्थापना के फलस्वरूप इङ्गलैण्ड के जनजीवन (और साहित्य) में एक उच्छृंखलता, विलासिता और निम्न कोटि की आमोद-प्रवणता का प्रादुर्भाव हुआ। इससे अंग्रेजी साहित्य की प्रकृति और चर्या काफी बदल गई।

यह काल काफी उलझा हुआ है और इस युग में हमें निरंतर परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ पनपते दिखलाई देती हैं। यहाँ एक ओर जहाँ जॉन बनयान की धर्मप्रवण कृति 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' है, वहाँ दूसरी ओर वाइकरली की सम्पूर्णतया ऐहलौकिक और सुखादर्शपूर्ण रचनाएँ भी हैं। एक ओर जहाँ विलासिता साहित्य की सहचरी बनते हमें देख पड़ती है, वहाँ दूसरी ओर रॉयल सोसायटी की स्थापना से साहित्य के उच्चादर्श को राष्ट्रीय स्तर पर संगठित करने का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रयत्न भी होते दिखलाई देता है। इस समय राजदरबार नैतिकता के आदर्श से स्खलित हो चुका था और वहाँ हल्के तथा छिछोरे आमोद-प्रमोद का ही बोलबाला छाया हुआ था, फिर भी दरबारी दुनिया से बाहर अभी बहुत-से ऐसे लोग थे, जो गंभीर और स्वस्थ वृत्तियों के उपासक थे और उन्हीं के द्वारा साहित्य का स्फुरण करना चाहते थे।

काव्य

मिल्टन—इस काल का सब से महान् व्यक्तित्व था महाकवि मिल्टन (१६०८-१६७४ ई०) का, जिसने रेस्टोरेशन-काल की एक-दूसरे से विरोधी धाराओं के बीच की खाई को पाटने का बड़ा ही सुन्दर प्रयत्न किया। मिल्टन की प्रारम्भिक कविताएँ गृहयुद्ध के पहले लिखी गई थीं। उनमें डॉन, स्पेन्सर और कहीं-कहीं शेक्सपियर तक की प्रतिध्वनि साफ सुनाई पड़ती है। गृहयुद्ध और क्रॉमवेल के गणतंत्र के दिनों में मिल्टन बुरी तरह राजनीतिक वितंडावाद में फँस गया था——विशेष करके जब उसने गणतंत्र में एक महत्वशील सार्वजनिक पद का कार्यभार सँभाला और वह क्रॉमवेल का लैटिन सेक्रेटरी नियुक्त किया गया। तदनंतर क्रॉमवेल की मृत्यु के बाद जब फिर से सम्राट्-तंत्र की स्थापना हुई, तब तक मिल्टन बूढ़ा, अपाहिज और दृष्टिहीन हो चुका था। यद्यपि गणतंत्र के अन्य समर्थकों की तरह उसके साथ कठोरता नहीं बरती गई, फिर भी उसका राजनीतिक प्रभाव बिल्कुल नष्ट हो गया था। इन्हीं दिनों उसने अपनी महान् कृतियाँ——'पैराडाइज लॉस्ट', 'पैराडाइज रिगेण्ड' और 'सैमसन एगोनिस्टीज' (एक दुःखान्त नाटक) रचीं। इनमें 'सैमसन एगोनिस्टीज' यथार्थतः रंगमंच के लिए नहीं, वरन् केवल मानसिक नाट्यशाला में ही अभिनय के योग्य कृति थी। उसकी आरंभिक कृतियों में 'कोमस' (एक लाक्षणिक नाटिका) भी उल्लेखनीय है। रेस्टोरेशन के प्रथम पक्ष में जब दरबारी क्षेत्रों में एक तरह से वाजिदअलीशाही छाई हुई थी, मिल्टन ने अपने काव्य द्वारा नैतिक और चारित्र्यिक उच्चता के पवित्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। रेस्टोरेशन-काल के गौण कवियों में एन्ड्रू मार्वेल, अब्राहम काउले, एडमंड वालर, जॉन डेनहेम और सेम्युअल बटलर के नाम उल्लेखनीय हैं। मार्वेल की 'ओड टू क्रॉमवेल' और बटलर की 'हूडिब्रास' ख्यातिप्राप्त कृतियाँ हैं। काउले अपने जमाने में बड़ा लोकप्रिय था और बड़ा कवि माना जाता था, परंतु आज उसकी ख्याति विशेष रूप से उसके निबन्धों की बदौलत ही है।

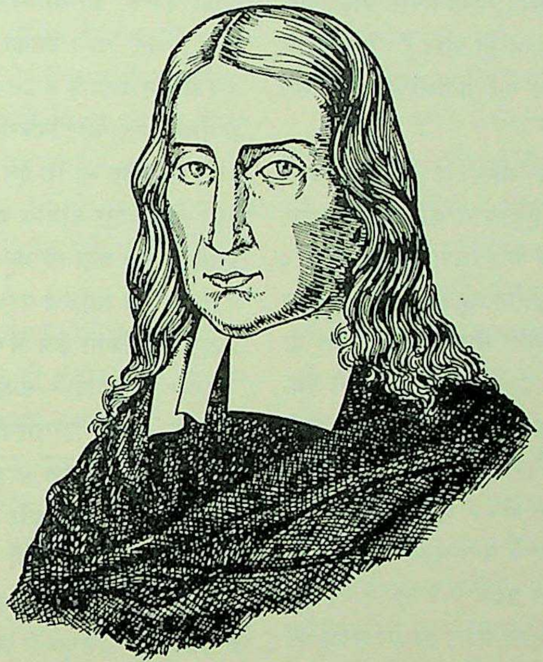

शेक्सपियर के उपरान्त अंग्रेजी का सबसे बड़ा महाकवि मिल्टन।

ड्राइडन—मिल्टन के बाद इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण कवि जॉन ड्राइडन है, जो रेस्टोरेशन-काल का मुख्य कवि और साहित्यकार है। ड्राइडन नाटककार, आलोचक, अनुवादक सभी कुछ था, लेकिन वह मुख्यतया कवि था और कविरूप में भी वह मुख्यतः एक शिल्पी था। ड्राइडन के पाठकों और प्रशंसकों की कभी कमी नहीं रही, लेकिन आम जनता का वह कभी भी प्रियपात्र नहीं रहा। उसके जीवनचरित्र के बारे में हमारी जानकारी बहुत ही कम है। उसने अपने काव्य के विषय समकालीन जीवन से चुने थे, जैसे कि 'एनस-मिराबिलीस' में उसने डच युद्ध और लंदन की आग का चित्रण किया था; 'एबसलोम एण्ड एचीटोफेल' में उसने लार्ड शाफ्टस्बरी की राजनीतिक तिकड़मों और ड्यूक ऑफ मनमथ के विश्वासघात को रूपक का स्वरूप देकर अपना पैना व्यङ्ग्य प्रयुक्त किया था। उसने वर्जिल, जुवेनाल और ओविद का अंग्रेजी में सफलतापूर्वक अनुवाद भी प्रस्तुत किया था।

गद्य

इस युग का गद्य अपनी शक्ति और प्रयोजनीयता में पूर्ववर्ती गद्य से अधिक प्रौढ़ था। मिल्टन, ड्राइडन, बनयान के अतिरिक्त इस काल के महान् गद्य-लेखक हैं——टॉमस ब्राउन, जेरेमी टेलर, सेम्युअल पेपिज, आइजक वाल्टन और रॉबर्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बर्टन। सर टॉमस ब्राउन क्रॉमवेल के प्रजातंत्रकाल का एक प्रसिद्ध चिकित्सक था। १६६० ई० से पहले ही उसने अपनी सुविख्यात पुस्तक 'रिलीजिओ मेडीसी' छपवाई थी। तब १६५८ ई० में उसकी दूसरी पुस्तकें 'हाइड्रोटैफिया' और 'अर्न बरियल' प्रकाशित हुई। ब्राउन का गद्य अपने समय का सर्वोत्तम गद्य है, लेकिन फिर भी हमें उसमें एक अश्लाघ्य न्यूनता और बोझिलपन दिखलाई देता है, जो लैटिन की मध्ययुगीन शास्त्रीय शैलियों की याद दिलाता है। इसी तरह का गद्य प्रसिद्ध धार्मिक उपदेशक जेरेमी टेलर का भी है। स्वयं मिल्टन का गद्य भी यद्यपि एक स्थूलकाय गद्य है, लेकिन जब वह स्फूर्ति और उत्तेजना के साथ किसी सिद्धांत का प्रतिपादन और अनुमोदन करता है, तो उसकी भाषा सरल, वाक्य छोटे और सुडौल तथा शब्द स्वयंस्फुरित हो जाते हैं। ऐसे गद्य के सर्वोत्तम उदाहरण उसकी पुस्तक 'एरियोपेजीटिका' में मिल सकते हैं।

उपर्युक्त भारी-भरकम गद्य के अतिरिक्त रेस्टोरेशन-काल के गद्य की एक धारा की प्रवृत्ति बोलचाल की भाषा की ओर भी झुकते दिखाई दी। यह चार्ल्स के दरबार का प्रभाव था। देशनिकाले के दिनों में चार्ल्स द्वितीय बहुत समय तक फ्रांस में रहा था, इसलिए उसके दरबारी भाषादर्शों पर फ्रांस की बोली का बेहद प्रभाव पड़ा था। इस प्रभाव से अंग्रेजी गद्य-शैली जनता की रोजमर्रा की भाषा के अधिक निकट आते दिखाई दी। यह प्रभाव दरबारी क्षेत्र तक ही सीमित न रह सका। बहुत जल्द ही इसने धार्मिक क्षेत्र में भी एक क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया, जिसके फलस्वरूप जेरेमी टेलर के शास्त्रीय उपकरणों से बोझिल प्रवचनों के स्थान पर अब रॉबर्ट साउथ के सरल, विचारशील और साधारणजन की भाषा में लिखे हुए उपदेश सामने आने लगे।

सेम्युअल पेपिज—इस धारा का प्रतिनिधि गद्य-लेखक सेम्युअल पेपिज था, जो सिर्फ एक रसिया ही नहीं, बल्कि अच्छा खासा छैला भी था। वह सिविल सर्विस का एक बड़ा चतुर और होशियार कार्यवाहक था, साथ ही सङ्गीत में भी दखल रखता था। गीतों और लोकगाथाओं का उसका संकलन और चयन अंग्रेजी साहित्य की स्थाई निधि है। वह रॉयल सोसायटी के आरंभिक सदस्यों में था और अपनी सेवाओं के बल पर उसका सभापति भी चुना गया था। अंग्रेजी साहित्य में उसकी 'डायरी' एक अमर ग्रंथ है। उसने बड़ी विनम्रता और सच्चाई से अपनी जिन्दगी की साधारण से साधारण घटनाओं का जिक्र इस कृति में किया है। उसकी यथार्थवादिता की अन्य मिसाल पूरे अंग्रेजी साहित्य में नहीं है।

ड्राइडन और बनयान—इस समय का सब से सम्मानित गद्यकार जॉन ड्राइडन था, जिसने अपने गद्य में साहित्यसर्जन के बुनियादी सवालों को उठाकर उसके सिद्धान्तों पर खुलकर बहस की थी। उसकी गद्य-कृतियों में विशेषतया उल्लेखनीय हैं––'द एसेज ऑफ ड्रामेटिक पोयजी' और 'फेबिल्स' नामक संग्रह की भूमिका, जिसमें उसने चॉसर और ओविद का तुलनात्मक अध्ययन किया है। ड्राइडन का गद्य पुराने प्रभावों से सर्वथा मुक्त नहीं है, फिर भी वह एक नवीन और विज्ञानप्रेरित सामञ्जस्य की ओर अग्रसर हुआ था। इसी युग के अन्य एक प्रसिद्ध लेखक जान बनयान ने अपनी अद्भुत कृति 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और दूसरे रूपकों द्वारा गंभीर और रहस्यवादी ढंग से आध्यात्मिक और नैतिक तथ्यों का निरूपण करना चाहा था। उसका गद्य पूरे अंग्रेजी साहित्य में अनूठा है। लेकिन बनयान न इस काल की उपज था और न इस काल से उसकी शैली और विचारों को कोई प्रोत्साहन मिला था। यह विचित्र संयोग था कि ऐसे पिछड़े हुए समय में इतना सुलझा हुआ और प्रखर प्रतिभा का आडम्बरहीन लेखक पैदा हुआ! इससे विचित्र बात तो यह थी कि उसकी शैली और विचारों ने समकालीन साहित्य पर बहुत ही कम प्रभाव डाला! उसका प्रभाव यदि किसी क्षेत्र में पड़ा, तो केवल दर्शन के आँगन में।

ह्यूम और लॉक—सत्रहवीं शताब्दी में विज्ञान और दर्शन के प्रति गहरी दिलचस्पी बढ़ने लगी थी। इस प्रवृत्ति के अनुरूप शीघ्र ही एक आडम्बरहीन गद्य-शैली पैदा हो गई। यह शैली हमें टामस स्प्रॉट की 'हिस्ट्री ऑफ रॉयल सोसाइटी' में मिलती है। दार्शनिकों में इस समय का सब से विख्यात व्यक्तित्व डेविड ह्यूम का था, जिसने एक तरह से अंग्रेजी दर्शन की नींव डाली। ह्यूम के अलावा इस काल का दूसरा उल्लेखनीय दार्शनिक लॉक था। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अलावा ये दोनों अपने काल के बहुत बड़े गद्य-लेखक भी थे। ह्यूम के गद्य में एक विशेष सौंदर्य, सादगी और सफाई है। लॉक का गद्य स्वच्छ तो है, लेकिन सौन्दर्यहीन है।

नाटक

इङ्गलैंड में गृहयुद्ध के छिड़ जाने से अंग्रेजी नाटक का स्वर्णयुग––जिसका मार्लो, शेक्सपियर और बेन जान्सन ने सूत्रपात किया था–– समाप्त हो गया, यद्यपि इस अवधि में चैपमैन, डेक्कर, फ्लेचर और ब्योमोन्ट आदि ने कई रचनाएँ प्रस्तुत कीं। चार्ल्स प्रथम के काल में एक विशेष नाटक का उदय हुआ था, जिसे मास्क' कहते हैं। इस प्रकार के नाटक के विशेष लेखकों में चैपमैन और केर्‌यू के नाम प्रसिद्ध हैं। तब क्रॉमवेल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के धर्म-प्रवण शासनकाल में आकर ललित कलाओं का सहसा ह्रास हो गया और लन्दन के प्रायः सभी थियेटर बन्द हो गए। इस प्रकार अंग्रेजी नाटक का विकासक्रम टूट गया। चार्ल्स द्वितीय के राज्याभिषेक के बाद जब लंदन के थियेटर फिर से खुले, तो अंग्रेजी नाटक का प्रवाह पुनः मंथर गति से बह चला। इस काल की मुख्य उपज 'कॉमेडी आव मैनर्स' थी, जो अपने वाह्य स्वरूप और चित्रण से हास्य का उद्रेक करनेवाली रचना थी।

एथरेज, वाइकरली और कान्ग्रीव—इस युग के तीन प्रमुख नाटककार थे——जार्ज एथरेज, विलियम वाइकरली और कानग्रीव। इन तीनों में सर जार्ज एथरेज का दर्जा एक प्रथम श्रेणी के स्रष्टा का था। उसने एक ऐसे नाटकीय संसार की सृष्टि की थी, जो प्रायः सभी नैतिक बंधनों से मुक्त था। उसने अपने जमाने के छैल-छबीले नर-नारियों का (जिनमें ज्यादातर दरबार के लोग थे) आमोद और विलास की पृष्ठभूमि में यथार्थ चित्रण किया था। वाइकरली ने बेन जान्सन, शेक्सपियर और मोलिये के नाटकों का अध्ययन करके उनकी रचनाओं से भरपूर सामग्री उधार ली थी एवं उनसे प्रेरणा भी ग्रहण की थी। 'कन्ट्री वाइफ' और 'प्लेन डीलर' उसकी कृतियों में विशेष सफल हुईं।

विलियम कान्ग्रीव इन तीनों नाटककारों में सबसे अधिक महत्वशील था। उसमें वाइकरली की गंभीरता तो नहीं थी, लेकिन उसके नाटकों का कथोपकथन हास्य और सुभाषितों से प्रदीप्त था। 'डबल डीलर', 'लव फॉर लव' और 'वे ऑफ दि वर्ल्ड' उसकी सम्मानित कृतियाँ हैं।

रेस्टोरेशन-काल की कॉमेडी का वातावरण वस्तुतः एक अनैतिक और कृत्रिम वातावरण था। उसमें दरबारी भ्रष्टाचार और विलासप्रियता अपने नग्नतम रूप में प्रतिबिम्बित है। दरबारी क्षेत्रों में इस तरह की कृतियों का चाहे कितना भी मान-सम्मान हुआ हो, लेकिन साहित्य की पावन और अभिजात परम्परा इसके सर्वथा अनुकूल नहीं थी। इस कृत्रिमता और अनैतिकता के विरुद्ध उसी काल के एक समर्थ आलोचक जेरेमी कोलियर ने जोरदार आवाज उठाई थी।

अठारहवीं शताब्दी

अठारहवीं शताब्दी अंग्रेजी साहित्य की सब से रोचक शताब्दी कही जा सकती है। साहित्यरसिक, समालोचक और इतिहासकार सभी इसकी अनेकानेक विशेषताओं से चकित हुए हैं। इस शताब्दी की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें हमें किसी एक मुख्य प्रवृत्ति या वाद का नहीं, वरन् अनेकता और सर्वप्रियता का बोलबाला देखने को मिलता है! इसको सतह पर देखने पर तो यह शताब्दी केवल पोप या डॉ० जान्सन जैसे साहित्यिक तानाशाहों की शताब्दी प्रतीत होती है, लेकिन यदि निकट से ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो इसमें हमें अनेकों प्रवृत्तियों, असंख्य प्रयोगों और विकास के अनगिनत पहलुओं की झाँकी देखने को मिलेगी।

गद्य

यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि अंग्रेजी साहित्य में अठारहवीं शताब्दी मुख्य रूप से गद्य के उत्कर्ष और विकास की शताब्दी है। इसी शताब्दी में आकर डिफो, रिचर्डसन, फील्डिंग, स्विफ्ट आदि के हाथों अंग्रेजी उपन्यास का जन्म और विकास हुआ तथा एडीसन, स्टील, स्विफ्ट, जान्सन, गोल्डस्मिथ, गिबन और बर्क जैसे समर्थ शिल्पियों के हाथों से मँजकर अंग्रेजी गद्य का यथार्थ रूप निखरा।

डेनियल डिफो—अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी गद्य के निर्माताओं की लंबी तालिका में ऐतिहासिक कालक्रम में सब से पहले हमारा ध्यान जिस नाम के प्रति खिंचता है, वह है डेनियल डिफो का नाम। यद्यपि इस काल का बहुत-सा गद्य उपन्यासों में ही मिलता है, लेकिन कुछ ऐसे उपन्यासकार भी थे, जिनकी प्रतिभा अन्य क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय रूप से चमकी थी। ऐसे लेखकों में डेनियल डिफो का स्थान अग्रदूत का-सा है। डिफो को हम उसकी विश्व-विख्यात कृति 'राबिन्सन क्रूसो' के स्रष्टा के ही रूप में जानते हैं, लेकिन यह बहुत कम लोग जानते होंगे कि उसने ही एक तरह से अंग्रेजी पत्रकार-कला की भी नींव डाली थी। उसने अपने पत्र 'दि रिव्यू' में उन सब गुणों का बीजारोपण किया था, जिनको हम आज अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में फूलते-फलते देखते हैं। डिफो ने ही पत्र-पत्रिकाओं के उस सर्वप्रिय साहित्यिक अंग को जन्म दिया था, जो 'लेख' कहा जाता है। उसने 'एन एसे अपॉन प्रोजेक्ट्स' (१६९८ ई०), 'दि शॉर्टेस्ट वे विथ डिसेन्टर्स' (१७०२ ई०), 'ए जर्नल ऑफ दि प्लेग इयर' जैसे पैम्पलेट और ट्रैक्ट आदि लिखकर अंग्रेजी गद्य को नई राह दिखाई थी।

स्टील और एडीसन—डिफो ने अंग्रेजी गद्य के क्षेत्र में जो काम शुरू किया था, उसे और आगे बढ़ाने का श्रेय स्टील और एडीसन को है। उन्होंने गम्भीर विषयों से लेकर अति साधारण बातों को सरल और आत्मीय ढंग से मध्यवर्गीय पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने की परिपाटी डाली। इन महान् गद्य-लेखकों ने अपने समय के साहित्य की तमाम आवश्यकताओं को समझा, यद्यपि ऐसा करने में एडीसन को अपना शास्त्रीय ढंग छोड़ना पड़ा और साधारण बोली में विषयों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के प्रतिपादन का ढंग अपनाना पड़ा। इन दोनों लेखकों की अधिकांश गद्य-रचनाएँ उनके द्वारा प्रकाशित 'स्पेक्टेटर' और 'टैट्लर' नामक पत्रिकाओं में निकली थीं। स्टील और एडीसन के लेख वार्तालाप के ढंग के थे और उनकी तुलना आधुनिक संसार में रेडियो पर प्रसारित संवादों से की जा सकती है। ये दोनों लेखक अपने पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर ही लिखते थे।

स्विफ्ट—इन्हीं दिनों एक ऐसा लेखक हुआ, जिसे न अपने पाठकों की रुचि का ध्यान था, न उनकी मर्यादा का। इस अनोखे व्यक्ति के सन्मुख लिखते समय किसी तरह का भार नहीं रहता था और जीवन तथा संसार को वह जैसा उसने देखा था वैसा अपनी अभूतपूर्व कल्पनाशक्ति और तीव्र व्यंग-निपुणता से चित्रित करना चाहता था। इस अनोखे लेखक का नाम था जोनाथन स्विफ्ट, जो अंग्रेजी वाङ्मय का सब से बड़ा व्यंगलेखक हैं। उसकी व्यंगकथाओं की सूची 'दि बैटिल ऑफ दि बुक्स' और 'ए टेल ऑफ दि टब' से शुरू होकर विश्व-विख्यात 'गुलीवर्स ट्रावेल्स' तक पहुँचती है। 'गुलीवर्स ट्रावेल्स' में आकर स्विफ्ट का व्यंग बहुत ही कटु हो गया है। बाद की पुस्तकों में उसकी कटुता और भी बढ़ते चली गई है।

स्विफ्ट को लोगों ने अक्सर एक रुग्ण, न्यूरेटिक और मानवमात्र से घृणा करनेवाला व्यक्ति समझा है। वह मानव बन्धुओं को 'याहू' यानी एक तरह के घोड़ों और खच्चरों से भी पतित जानवर समझता था, जिनका चित्रण उसने गुलीवर की कथा के चौथे भाग में किया है!

इसमें संदेह नहीं कि स्विफ्ट सामान्य प्रकृति का मनुष्य नहीं था। आधुनिक मनोविश्लेषक की भाषा में उसका मन विकार-ग्रस्त था, यद्यपि उसका मस्तिष्क सुसंस्कृत था। अपने अन्तरंग जीवन में वह निश्चय ही उलझनों और आपदाओं का शिकार था, तथापि उसकी अन्य एक कृति 'जर्नल टु स्टेला' दिखलाती है कि उसे मानव मन के गुह्यतम भेदों की पूर्ण जानकारी थी एवं मानवोचित कोमल भावनाओं और मानव हृदय के कोमल पक्ष की ओर से भी वह पूर्णतया सजग था। 'ड्रेपियर्स लेटर्स' नामक रचना में उसने राजनीतिक क्षेत्रों की मक्कारी, सिद्धांतहीनता और झूठ पर कसकर व्यंग किए हैं, लेकिन उसके उक्त व्यंग में भी अपने देशवासी आयरिश लोगों के लिए उसकी सहानुभूति पग-पग पर फूटी पड़ती है।

'गुलीवर्स ट्रावेल्स' में उसने बच्चों की-सी सरलता और विस्मय-भावना से एक बहुत ही चतुर और मनोरञ्जक कहानी गढ़ी है, यद्यपि इस कथा में उसने मानव प्रकृति की इसलिए जी भरकर भर्त्सना भी की है कि वह बुद्धि और दया का मार्ग छोड़कर भावना और स्वार्थ का मार्ग चुनती है। वस्तुतः स्विफ्ट चाहता था कि मनुष्य भ्रष्टाचरण और युद्ध से अलग होकर सहानुभूति, करुणा और सहकारिता के सिद्धांतों पर अपना संगठन करे। स्विफ्ट का गद्य अंग्रेजी ही नहीं, पूरे विश्व-साहित्य में अपने ढंग का अनोखा गद्य है, जिसका अनुकरण न कभी हुआ है, न होना ही संभव है। उसने चाहे कितने ही गूढ़ और उलझे हुए विचारों का निरूपण किया हो, लेकिन उसकी भाषा की सरलता और विचारशैली की सुगमता कभी नष्ट होते नहीं दिखाई दी। स्विफ्ट अपने युग का सब से विशिष्ट बुद्धिजीवी था। उसका जीवन कटु था और उसे अपने जीवनकाल में वह समादर और सफलता नहीं मिली थी, जो उसे मिलनी चाहिए थी। लेकिन अपने देशवासियों के प्रति, विशेषकर गरीब आदमियों के प्रति, उसके मन में बहुत सम्मान और प्रेम था। तभी तो सत्तर वर्ष की आयु में जब उसकी मृत्यु हुई, तो उसकी अर्थी के पीछे हजारों आबाल-वृद्ध नरनारी बिलख-बिलखकर रो रहे थे, जैसे उनका कोई अपना संबंधी मर गया हो!

गिबन—स्विफ्ट के बाद इस युग के जिस दूसरे गद्यकार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है, वह है इतिहासकार गिबन। उसकी कृति 'डिक्लाइन एण्ड फाल ऑफ रोमन एम्पायर' १७७६ ई० में शुरू होकर बारह साल बाद समाप्त हुई थी। संसार के इतिहास-ग्रन्थों में यह पुस्तक अनोखी है। इसमें एक देश या जाति के ही इतिहास का निरूपण नहीं किया गया है, बल्कि एक पूरी सभ्यता के आरंभ, विकास और अवनति का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। गिबन का गद्य अंग्रेजी साहित्य का अलंकार है। लेकिन ईसाई धर्म के प्रति उसके विरोध ने उसके महान् ऐतिहासिक ग्रन्थ की अन्तरात्मा को क्षीण कर दिया, जिसका सब से अकल्याण-कारी प्रभाव यह हुआ कि गिबन का प्रगति में विश्वास ही नहीं रहा। यही कारण था कि उस युग में जब रूसो जैसा विचारक योरप में विचारों की क्रान्ति कर रहा था और अमेरिका से इङ्गलैंड का प्रभुत्व उठ रहा था, गिबन वर्तमान से पलायन करके अतीत की कंदराओं में शरण लेते दिखाई दे रहा था!

डॉ० जान्सन—डॉ० सेमुअल जान्सन का व्यक्तित्व पूरे अंग्रेजी साहित्य में अनोखा है। उसका साहित्यिक रोब अतुलनीय था और इसी गुण ने उसे अपने युग का सब से प्रभावशाली और विशिष्ट व्यक्ति बना दिया। डॉ० जान्सन की साहित्यिक ख्याति बहुत-कुछ बॉस्वेल कृत उसकी प्रख्यात जीवनी के कारण है। उक्त जीवनी में जान्सन के व्यक्तित्व की छोटी-छोटी खूबियों और विचित्रताओं को उसके चुभते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए वार्तालाप के साथ इस ढंग से चित्रित किया गया है कि यह पुस्तक अपने ढंग की एक ही कृति बन गई है। लेकिन इस गौरवशाली जीवनी के बावजूद, जान्सन का व्यक्तित्व और उसके साहित्यिक कारनामे ऐसे थे कि वे उसे इतिहास में अमर कर देते। उसकी सर्वोत्तम पुस्तक 'लाइव्स ऑफ पोएट्स' आज भी अपनी तुली हुई आलोचना के लिए पढ़ी जाती है। उसके द्वारा संपादित शेक्सपियर के नाटक और दूसरी कृतियाँ भी ऐतिहासिक महत्व की वस्तु हैं। रेस्टोरेशन-काल में संशोधन और परिवर्द्धन के बहाने शेक्सपियर के नाटकों में जो बुराइयाँ आ गई थीं, उनको दूर करना जान्सन का ही काम था। इसके अलावा जान्सन की कृतियों में एक उल्लेखनीय वस्तु थी अंग्रेजी की वह मशहूर 'डिक्शनरी', जिसे उसने राज्य या धनी-मानी आश्रयदाताओं से निरुत्साहित किये जाने पर भी बड़े परिश्रम और आग्रह से पूरा किया था। इस कृति द्वारा जान्सन ने कोश बनाने की कला को विज्ञान के ऊँचे दरजे पर पहुँचा दिया था। यह कोश एक तरह से जान्सन की साहित्यिक कृतियों का नेत्रविन्दु है। जान्सन ने एडीसन और स्टील के ढंग के कुछ बड़े सधे हुए निबन्ध भी 'रैम्बलर' में लिखे थे। उधर 'रैसेलास' के रूप में उसने एक अत्यन्त सफल दार्शनिक उपन्यास भी प्रस्तुत कर दिखाया था। उसकी मानवीय संवेदना का सबूत उसकी 'ए जर्नी टु वैस्टर्न आइलैण्डस् ऑफ स्कॉटलैंड' में मिलता है। डॉ० जान्सन का गद्य हमेशा वाद-विवाद का विषय रहा है और यह सच है कि कहीं-कहीं उसकी शैली स्थूलकाय और लैटिन प्रभावों से भरी है, लेकिन यह उसकी सामान्य शैली नहीं है। अपनी सादगी, सच्चाई, स्वच्छता और साफ झलकती हुई ईमानदारी में जान्सन की जो सब से बड़ी विशेषता है, वह तो है उसका परास्त कर देनेवाला व्यङ्ग और विनोद। उसका मुकाबला सिवा फ्रेंच लेखक वाल्तेयर के और किसी से नहीं किया जा सकता। इन दोनों प्रतिभाशाली व्यक्तियों की तुलना करते हुए एक समालोचक ने कहा है कि वाल्तेयर की कला ऐसी है जैसे कोई छेनी-हथौड़े से संगमरमर में मूर्ति तराश रहा हो, और जान्सन की मानो समुद्र मौजें मार रहा हो!

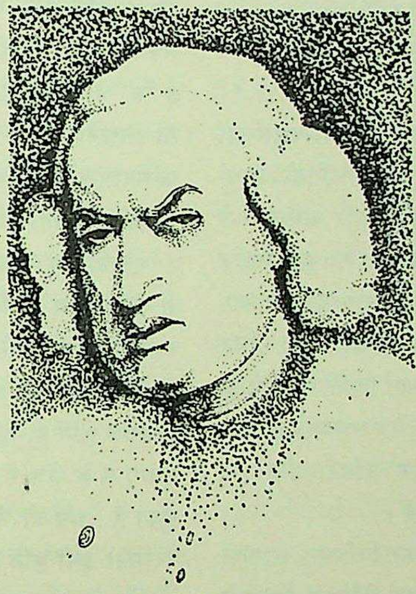

अपने युग के अंग्रेजी साहित्य-संसार का तानाशाह डॉ० जान्सन।

गोल्डस्मिथ—जान्सन से तुलना करने पर ओलिवर गोल्डस्मिथ का मस्तिष्क एक अपरिपक्व और बचकाना मस्तिष्क प्रतीत होगा, लेकिन उसकी सर्जन-शक्ति वस्तुतः जान्सन से कहीं बढ़कर थी। गोल्डस्मिथ की कब्र पर जान्सन ने लिखवाया था कि "साहित्य का ऐसा कोई अंग नहीं है, जिसे गोल्डस्मिथ ने न छुआ हो और ऐसा कुछ नहीं, जो उसके हाथ लगते ही निखर न गया हो।" यह अक्षरशः सत्य था!

गोल्डस्मिथ जान्सन के 'दरबार' के रत्नों में से था और जान्सन का उस पर अटूट स्नेह था। यह आजीवन दरिद्र रहनेवाला भोला-भाला, निरंकुश सैलानी सहृदय और शीघ्र ही सब का विश्वास कर लेनेवाला व्यक्ति था। उसका हृदय और हाथ दोनों ही उन्मुक्त थे और जैसाकि जान्सन ठठोली में कहा करता था 'उसका मस्तिष्क दोनों ओर से खुला हुआ था।' उसकी बातचीत बहुत भोली और कभी-कभी मूर्खतापूर्ण होती थी, लेकिन जब वह लिखता था, तो मानो एक ऋषि हो जाता था! अपने युग के अन्य लेखकों की तरह उसने भी निबन्ध लिखे थे और उसके वे निबन्ध स्टील और एडीसन के मुकाबले में अधिक सहृदय और आत्मीय थे तथा उसकी विचारशैली एक ऐसी दुर्लभ अकृत्रिमता से समृद्ध थी कि उसके साधारण विचार भी दार्शनिक विचारों से ज्यादा गंभीर मालूम होते हैं! निबन्धों के अलावा उसने 'दि विकार ऑफ वेकफील्ड' नामक प्रसिद्ध उपन्यास भी लिखा, जिसने अंग्रेजी साहित्य में घरेलू उपन्यासों की परम्परा की नींव डाली। गोल्डस्मिथ ने कविता भी लिखी थी और नाटक भी रचे थे। इनका जिक्र हम आगे करेंगे।

बर्क—गोल्डस्मिथ के चरित्र से नितान्त विपरीत एडमन्ड बर्क का व्यक्तित्व था। वह एक प्रभावशाली राष्ट्रीय नेता था; अपने युग का वह सब से महान् वक्ता था और प्रकांड राजनीतिक विचारक था। वह भी जान्सन के दरबार का एक रत्न था। बर्क के गद्य-लेखन के बारे में मैथ्यू आर्नल्ड का मत है कि वह 'अंग्रेजी साहित्य का सब से महान् गद्य-लेखक था!' डिक्विन्सी उसके बारे में कहता है कि 'अपनी शताब्दी का वह सर्वोच्च लेखक और विचारक था!' बर्क शुद्ध रूप में साहित्यिक नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहा जा सकता, क्योंकि उसके विषय थे राजनीति और समाज-दर्शन; लेकिन भाव-प्रकाशन में उसका ओज और चमत्कार एवं विचारों की मौलिकता तथा शैली की विशुद्धता उसे एक महत्वशील लेखक और विचारक बना देते हैं।

यह युग योरप में क्रांति और संक्रांति का युग था। योरप के प्रायः सभी देशों में, खासकर फ्रांस में, विचारों की एक अनोखी उथल-पुथल हो रही थी और पूरा संसार एक करवट ले रहा था। बर्क इस क्रांति में पूरी अंग्रेज जाति का अकेला प्रतिनिधि था। वारेन हेस्टिंग्स के मुकदमे के समय की उसकी वक्तृता पढ़कर आज भी हर भारतीय यह सोचकर गद्गद हो उठता है कि उन दिनों कम से कम एक अंग्रेज तो ऐसा था, जिसका हृदय हमारे दर्द को अपना दर्द समझता था!

उपन्यास और कहानी

अंग्रेजी चरित्र और उसकी मूल परंपरा में कथा-कहानियों का प्रमुख स्थान है। चॉसर कृत 'ट्रॉयलस एण्ड क्रिसिडी' आधुनिक कल्पनाशील साहित्य के बहुत से गुणों और अवगुणों से अभिभूत थी। एलिजाबेथन काल में गद्य-कथा का कुछ आरंभ होते दिखलाई दिया था, लेकिन जो प्रतिभा उपन्यास के रूप-विन्यास में लगनी चाहिए थी, वह नाटक की ओर लगी। फिर भी एलिजाबेथन काल में कुछ ऐसी कृतियाँ दिखलाई देती हैं, जिन्हें हम प्रारंभिक उपन्यासों की श्रेणी में रख सकते हैं। सर फिलिप सिडनी की 'आरकेडिया' और रॉबर्ट ग्रीन का 'पैन्डोस्टो' इस श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं।

डेनियल डिफो—अंग्रेजी उपन्यास का विधिवत् आरम्भ वस्तुतः 'राबिन्सन क्रूसो' के यशस्वी लेखक डेनियल डिफो से होता है, जिसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। 'राबिन्सन क्रूसो' के अलावा 'मोल फ्रैंडर्स' और 'रोक्साना' नामक अन्य एक कथा-पुस्तक लिखकर डिफो ने ही वास्तव में अंग्रेजी उपन्यास की नींव डाली थी। उसके तुरंत बाद इस कला को विकसित और परिमार्जित करनेवालों का प्रायः अभाव रहा। इसलिए उपन्यास अपने स्वाभाविक गौरव और परिपक्वता को शीघ्र नहीं पा सका। अठारहवीं शताब्दी के निबन्ध-साहित्य में भी उपन्यास का पुट हमें यदाकदा मिल जाता है, जैसे कि अपनी सुप्रसिद्ध पत्रिकाओं 'स्पैक्टेटर' और 'टैट्लर' में एडीसन और स्टील द्वारा कल्पित सर रोजर डि कावरली और बिकर स्टाफ नामक दो प्रख्यात काल्पनिक पात्रों की सृष्टि में हम देखते हैं। यह याद रखना चाहिए कि डिफो ने जिस उपन्यास का आरम्भ किया था, वह वस्तुतः जीवनी या आत्मजीवनी का ही विकसित रूप था और इस तरह उसकी तुलना पेपिज और दूसरे डायरीकारों के साथ ही की जा सकती है। लेकिन डिफो ने आधुनिक उपन्यास-कला का एक मुख्य अङ्ग अवश्य निश्चित कर दिया था। उसने ही यह बात पहले-पहल बताई थी कि कल्पनाशील साहित्य में यथार्थ के सभी अङ्ग—यहाँ तक कि बारीक से बारीक विवरण भी—रहने चाहिएँ।

जोनाथन स्विफ्ट—स्विफ्ट ने अपनी 'गुलीवर की कहानी' में डिफो द्वारा स्थापित कहानी-कला की परंपरा को अपने ढंग से और आगे बढ़ाया, यद्यपि उसकी यह कृति मुख्य रूप से एक व्यंग-रचना थी। स्विफ्ट ने अपनी कहानी में छोटे-से-छोटे ब्योरे को भी ध्यान में रक्खा है। इसीलिए उसे पढ़कर हमारी बुद्धि चाहे यही कहती रहे कि "नहीं, यह नहीं हो सकता", फिर भी हमारी कल्पना बराबर हठ करती रहती है कि "क्यों नहीं हो सकता! जब यह सब कुछ हुआ, तभी तो लिखनेवाले ने लिखा!" इसलिए अंग्रेजी उपन्यास के जन्मदाताओं में अकेले डिफो का ही नहीं, स्विफ्ट का भी काफी योगदान मानना होगा।

गोल्डस्मिथ—अपने युग के एक महान् गद्य-लेखक के रूप में गोल्डस्मिथ का विस्तृत परिचय पहले दिया जा चुका है। वहाँ हम उसके प्रसिद्ध उपन्यास 'दि विकार ऑफ वेकफील्ड' का भी नामोल्लेख कर चुके हैं। यद्यपि यह अपने रचयिता की एकमात्र कृति है, फिर भी उसने गोल्डस्मिथ का नाम अंग्रेजी उपन्यास के क्षेत्र में अमर कर दिया है। जैसा कि कहा जा चुका है, अंग्रेजी में घरेलू या पारिवारिक उपन्यास की परम्परा इसी कृति ने स्थापित की।

रिचर्डसन—अठारहवीं शताब्दी में सामाजिक विधान के सिद्धान्त काफी निश्चित और दृढ़ हो चुके थे। इसलिए उपन्यास—जिसका एक मूल प्रयोजन व्यक्ति और समाज के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का निरूपण है—इस काल में शीघ्रता और पुष्टता के साथ विकसित हुआ। इस दिशा में सेम्युअल रिचर्डसन ने निश्चित और चेतन उद्योग किया। रिचर्डसन के उपन्यास प्रासंगिक, लम्बे और अपनी कला में सम्पूर्ण थे, लेकिन उनके चिंतन का दायरा बड़ा संकीर्ण था। उसकी कृतियों में 'पामेला' उल्लेखनीय है। इस काल के पूरे साहित्य का केन्द्र मध्यम श्रेणी है। इसलिए रिचर्डसन के उपन्यासों के न सिर्फ मध्यम वर्ग के जीवन के दृश्य ही भरे पड़े हैं, बल्कि उसका पूरा मानसिक और नैतिक वातावरण भी मध्यम वर्ग का ही है। रिचर्डसन की इस प्रवृत्ति के लिए आधुनिक समालोचकों ने जी भरकर उसकी निन्दा की है, लेकिन अपने जमाने में रिचर्डसन का बहुत मान-सम्मान था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

फील्डिंग—शीघ्र ही उपन्यास के क्षेत्र में एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति का आविर्भाव हुआ, जिसकी क्षमता रिचर्डसन से कहीं ज्यादा थी। यह कलाकार था हेनरी फील्डिंग (१७०७-५४ ई०), जो अभिजात-वर्ग में उत्पन्न हुआ था और जिसे अपने जमाने की उच्चतम शिक्षा मिली थी। उसने अपना साहित्यिक जीवन एक नाटककार की हैसियत से शुरू किया था, लेकिन शीघ्र ही सर राबर्ट वालपोल के 'लाइसेंसिंग ऐक्ट' ने उसे थियेटर के क्षेत्र से बाहर कर दिया। इसके बाद उसने उपन्यास की ओर ध्यान दिया और रिचर्डसन के उपन्यास 'पामेला' पर निर्दय और चुभता हुआ व्यंग कसते हुए अपना पहला उपन्यास 'जोजेफ एन्ड्रयूज' लिखा। इस उपन्यास में तो कोई बड़ी गहराई नहीं थी, लेकिन उसकी दूसरी कृति 'टाम जोन्स'—जिसमें उसने पाप और पुण्य की समस्या पर गंभीर चिंतन किया था और सफलतापूर्वक यह व्यक्त करने का प्रयत्न किया था कि गंभीर अनुभूति उन्हीं लोगों में पाई जाती है, जिन्हें समाज लाञ्छित करता है—उसकी कला और शक्ति सचमुच प्रथम श्रेणी के लेखक की हो गई। अंग्रेजी उपन्यास फिल्डिंग की कृतियों में ही वयस्कता को प्राप्त हुआ।

स्मोलेट—फील्डिंग का ही समसामयिक था स्मोलेट, जिसने 'रोडरिक रैन्डम', 'पेरेग्रिन पिकल' और 'हम्फ्री क्लिकर' जैसी कई एक औपन्यासिक कृतियाँ भेंट कीं। ये बहुत ऊँचे दर्जे की रचनाएँ तो नहीं थीं, फिर भी उनमें से कई का वर्णन स्वाभाविक और जोरदार था।

स्टर्न—अठारहवीं शताब्दी के उपन्यासकारों में सब से विचित्र व्यक्ति लारेन्स स्टर्न था। उसका उपन्यास 'लाइफ एण्ड ओपीनियन्स आफ ट्रिस्ट्राम शैण्डी' अपने ढंग की एक अनोखी कृति है, जो मौलिकता में अपना सानी नहीं रखती। इस विचित्र उपन्यास में न तो कोई विधि है, न योजना! उसका नायक करीब एक तिहाई उपन्यास के खत्म हो जाने के बाद पैदा होता है और उपन्यास के खत्म हो जाने पर भी उसका कोई निश्चित चित्र पाठकों के मन में नहीं उतर पाता! आलोचक इसमें एक ऐसा अनोखा प्रयास पाते हैं, जो अपने समय के बहुत आगे था। अंग्रेजी उपन्यास के आधुनिक रूपों पर स्टर्न का गहरा प्रभाव खोजा जाता है।

फैनी बर्नी—गोल्डस्मिथ के यशस्वी उपन्यास 'विकार ऑफ वेकफील्ड' की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। यह उपन्यास डॉ० जान्सन के दार्शनिक उपन्यास 'रैसेलास' की तरह इस युग में किसी तरह नहीं अटता था, तथापि गोल्डस्मिथ ने अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा से उसे एक सफल और अत्यन्त पठनीय ग्रंथ बना डाला। वस्तुतः उसने ही पहले-पहल अंग्रेजी में पारिवारिक उपन्यास की नींव डाली। इस तरह के उपन्यास को इंगलैंड की महिला-उपन्यासकारों ने बाद में चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इन महिलाओं में सर्वप्रथम उल्लेखनीय व्यक्तित्व फैनी बर्नी का है।

फैनी बर्नी ने अपने प्रारंभिक उपन्यास लुका-छुपा के लिखे थे और उन्हें दूसरे कल्पित नाम से प्रकाशित किया था। उसका पहला उपन्यास था 'इवेलिना', जिसमें एक सरल युवती द्वारा दुनियादारी सीखने का चित्रण है। इस लेखिका के अन्य उपन्यास हैं—'सेरवीलिया', 'कैमिला' और 'वांडरर'। बर्नी के उपन्यास सामान्य जीवन का बहुत सामान्य रीति से दिग्दर्शन कराते हैं। उनमें अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्दृष्टि का प्रायः अभाव है। नारी के विशेष और विद्रोही दृष्टिकोण का भी उनमें कोई सफल और प्रयोजनीय निरूपण नहीं हुआ है। इसका विकास तो आगे चलकर जेन ऑस्टिन और ब्रान्टे बहनों के उपन्यासों में हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में रचित बहुसंख्यक उपन्यासों में सैमुएल जॉनसन का 'रैसेलास'; मैकेन्जी का 'दि मैन ऑफ फीलिंग'; टॉमस डे का 'सैन्डफोर्ड एण्ड मर्टन' नामक नीतिपरक उपन्यास तथा 'फूल ऑफ क्वालिटी' भी उल्लेखनीय हैं। इसके उपरान्त भय और आवेग के भावों से भरे हुए 'गौथिक' उपन्यासों की रचना आरंभ हुई। सर राबर्ट वालपोल का पुत्र होरेस वालपोल इस धारा का प्रथम प्रवर्तक उपन्यासकार कहा जा सकता है। उसने 'दि कासल ऑफ ओट्रेन्टो' जैसे उपन्यासों द्वारा पूर्ववर्ती पौराणिक एवं ऐतिहासिक आधार ग्रहण करते हुए उपर्युक्त 'गौथिक' उपन्यास-परम्परा का प्रवर्तन किया था। विलियम बैकफोर्ड का 'दि हिस्ट्री ऑफ दि कालिफ वाथेक'; लोकप्रिय नारी-उपन्यासकार मिसेज ऐन रैडक्लिफ का 'दि मिस्ट्रीज ऑफ उड़ोल्फो' और 'दि इटैलियन'; मैथ्यू ग्रेगरी लेविस का 'दि मांक', 'टेल्स ऑफ टेरर' और 'टेल्स ऑफ वन्डर'; चार्ल्स रॉबर्ट मैटूरिन का 'मेलमोथ दि वांडरर' तथा मिसेज मैरी वोलस्टोन क्रैफ्ट शेली का 'फ्रैंकेन्स्टीन' आदि इस परम्परा के कुछ सफल एवं लोमहर्षक उपन्यास कहे जा सकते हैं।

काव्य

पोप—यह अवश्य है कि अठारहवीं शताब्दी ई० का मुख्य साहित्य गद्य में है, लेकिन इस काल का पद्य-साहित्य भी कम विशेषता और महत्ता नहीं रखता। इस शताब्दी की प्रारंभिक दशाब्दियाँ अलेक्जेन्डर पोप की कविता से आच्छादित हैं। पोप ड्राइडन की परंपरा का कवि है। लौकिक जीवन में वह

ओछा, कुरूप, बदमिजाज और हृदय में कलुष रखनेवाला व्यक्ति था। पर वह एक असाधारण प्रतिभा का मानव था। यह सच है कि उसकी दृष्टि महान् कवि कहलाने के लायक नहीं थी और यद्यपि अपनी कविता में वह बराबर नैतिक और दार्शनिक समस्याओं से उलझा रहता था, तथापि नैतिकता या दार्शनिकता के प्रति एक कवि का जो उचित रुख होना चाहिए, वह उसमें नहीं था। पोप की सब से सफल रचनाएँ वस्तुतः उसकी वक्रोक्तियाँ एवं व्यंगपूर्ण रचनाएँ हैं। इनमें पोप अपने आन्तरिक चरित्र और दृष्टि को पूरी तौर से व्यक्त कर सका है। इस कला में वह अपनी कविता 'दि रेप ऑफ दि लाक' में पूर्णतया सफल हुआ है, जिसमें उसने अठारहवीं शताब्दी के पूरे फैशनेबल समाज की पगड़ी उछाली है। 'डन्सिअड' इसी प्रकार की उसकी दूसरी कविता है, जिसमें वह मूढ़ता का (खासकर समसामयिक मूढ़ों का) जी भरकर मजाक उड़ाता है। लेकिन पोप का समूचा काव्य-प्रयास वक्रोक्तिपूर्ण और व्यंगप्रधान ही नहीं है। आरम्भ में उसने प्रकृति पर भी कविता लिखी थी। जीवन के मध्याह्नकाल में उसने होमर का अनुवाद भी किया था।

डॉ० जान्सन और गोल्डस्मिथ—पोप के बाद इस शताब्दी के दो उल्लेखनीय कवि डॉ० जान्सन और गोल्डस्मिथ हैं। डॉ० जान्सन का उल्लेख हम विस्तारपूर्वक पहले कर चुके हैं। डॉ० जान्सन ने बहुत ही कम कविता लिखी थी। उसकी 'लन्दन' और 'दि वैनिटी आफ ह्यूमन विशेज' नामक रचनाओं में पोप का प्रभाव खोजा जा सकता है। परंतु उनमें पोप का कलुष और खुरदरापन कहीं भी नहीं दिखलाई देता। दूसरा कवि गोल्डस्मिथ है, जिसके गद्य की आलोचना हम ऊपर कर चुके हैं। गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता 'दि ट्रैवेलर' और 'दि डेजर्टेड विलेज' में समकालीन इंगलैंड एवं आयरलैंड के सामाजिक-आर्थिक जीवन का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। उसे अपने समकालीन संसार का अधिक विस्तृत और सहानुभूतिपूर्ण ज्ञान था। लेकिन इससे वह पोप से उत्कृष्ट कवि नहीं हो पाया। अपनी कविता का दोहरा छंद उसने पोप से ही उधार लिया था, लेकिन उसकी पद्धति चॉसर की-सी थी, जिसमें अपने उत्कृष्ट चरित्र और स्वभाव से उसने चार चाँद लगा दिए थे। अगर गोल्डस्मिथ अपनी काव्य-प्रतिभा को अधिक मेहनत के साथ विकसित करता, तो उसकी गिनती निःसन्देह अंग्रेजी भाषा के सब से बड़े कवियों में होती।

टामसन और काउपर—यह तो हुई उन कवियों की बात, जिनका कार्यक्षेत्र मानव था। इनके सिवा ऐसे भी कवि थे, जो प्रकृति में ही तल्लीन रहना चाहते थे। इनमें से एक था जेम्स टामसन, जिसकी 'सीजन्स' नामक कृति ने छपते ही अंग्रेज जनता को मोह लिया था। टामसन उच्च श्रेणी का कलाकार नहीं था और उसकी यह कविता किसी बालक के प्रारंभिक प्रयत्नों से ज्यादा ऊँची नहीं मालूम होती थी, फिर भी पूरी एक शताब्दी तक यह कृति अंग्रेजी जनता की प्रिय पुस्तकों में बनी रही! टामसन के अनुयाइयों में सब से उल्लेखनीय विलियम काउपर था। काउपर की कल्पना-शक्ति अधिक सजीव और प्रौढ़ थी। उसकी गिनती अंग्रेजी के द्वितीय श्रेणी के कवियों में होती है। परन्तु उसकी ख्याति वस्तुतः उसके काव्य से कहीं अधिक उसके पत्रों पर निर्भर है। काउपर ने अपने गंभीर आत्मद्वन्द्व को अपनी कविता में अक्सर अटपटे और बहुत-कुछ असंतोषजनक रूप में प्रकाशित किया है। पर जहाँ वह इस संघर्ष को भूल जाता है, वहाँ उसकी शैली बड़ी संतोषजनक और मोदप्रद हो जाती है, जैसे उसके पत्रों में या 'जान गिल्पिन' जैसी कविताओं में। काउपर की कविता का मुख्य सौन्दर्य उसकी सम्पूर्ण ऐहलौकिकता में है। जिस तरह गोल्डस्मिथ ने 'विकार ऑफ वेकफील्ड' में घरेलू उपन्यास की परंपरा को स्थापित किया था, उसी तरह काउपर ने अपनी कविता द्वारा घरेलू जीवन का शृंगार किया था!

ग्रे और कॉलिन्स—टामसन और काउपर के बाद हमें इस शताब्दी में कवियों का एक और जोड़ा मिलता है--टामस ग्रे (१७१६-१७७१ ई०) और कॉलिन्स (१७२१-१७५९ ई०) का। इन दोनों कवियों का कृतित्व तो बहुत थोड़ा-सा है, फिर भी दोनों का स्थान अंग्रेजी साहित्य में अक्षुण्ण है। इन दोनों कवियों की कृतियों में अक्सर दुःख, शोक और विषादपूर्ण स्मृतियों के ही उद्गार भरे पड़े हैं। बीच-बीच में कहीं-कहीं प्रकृति का अत्यन्त भावप्रवण और मनोहारी चित्रण भी मिल जाता है। कॉलिन्स में ऐसे चित्रों का बाहुल्य है, क्योंकि इन दोनों कवियों में वही अधिक कल्पनाशील था। ग्रे की कविता 'एन एलेजी रिटन इन ए कन्ट्री चर्चयार्ड' अंग्रेजी साहित्य की सब से लोकप्रिय कविताओं में है। कॉलिन्स की सब से विख्यात कविताओं के नाम हैं--'डर्ज इन सिम्बलीन' और 'ओड टु इवनिंग'। इनका सौन्दर्य कहीं-कहीं इन्द्रियातीत है। कॉलिन्स को भारी-भरकम शब्द प्रयोग करने का बड़ा शौक था, लेकिन जहाँ वह छोटे और आसान शब्दों का प्रयोग करता है, वहाँ उसकी टक्कर का कवि इस शताब्दी में नहीं है।

कॉलिन्स की ही तरह का एक दूसरा कवि क्रिस्टोफर स्मार्ट (१७२२-७१ ई०) था, जिसकी जिन्दगी का अन्त एक पागलखाने में हुआ। कहते हैं कि वहीं उसने अपनी मशहूर कविता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'साँग टु डेविड' दीवार पर कोयले से लिखी थी। स्मार्ट की ख्याति अकेली इस एक कविता पर आश्रित है ! इस कविता के रोजेटी और ब्राउनिंग जैसे कवि भी प्रशंसक थे। इस शताब्दी के बहुत-से कवि मानसिक विकारों से ग्रसित थे। इसी से उनमें से कई के जीवन का अन्त उन्माद में हुआ था। इसका कारण यह था कि इस काल की बुद्धिवादिता और कठमुल्लापन ने कवि को बाह्य संसार से विमुख होकर अपने अन्तर्जगत् में रम जाने के लिए विवश कर दिया था।

विलियम ब्लेक—इस असम्पूर्ण और छिछली लौकिकता के विरुद्ध आखिरकार एक कवि उठा, जिसका पागलपन उस महत्तम स्थिति का पागलपन था, जिसे हम केवल ऋषियों और पहुँचे हुए मानवों में ही पा सकते हैं ! विलियम ब्लेक (१७५७-१८२७ ई०) की कविता पूरे अंग्रेजी साहित्य में अपने ढंग की निराली है; क्योंकि न उसके पहले ही और न उसके बाद ही अंग्रेजी का कोई कवि ऐसा हुआ, जिसने संसार और मानव स्वभाव को उस नजर से देखा हो, जैसा ब्लेक ने देखा था। अगर उस पर विश्वास किया जाय, तो उसने फिरिश्तों और पवित्रात्माओं को अपने चर्मचक्षुओं से देखा था, जिनका उसने जैसे-का-तैसा यथार्थ वर्णन किया है ! उनके साथ वह मित्र-गोष्ठियाँ जमाता था ! वस्तुतः वह एक रहस्यवादी कवि था। उसका पूरा ज्ञान और परिज्ञान स्वयं उसके अन्तराल के अनुभवों की उपज था ! ब्लेक की कुछ कविताएँ तो बहुत सरल और सरलतम प्रतीकों से व्यंजित हैं, लेकिन बाद में 'प्रोफेटिक बुक्स' नामक संग्रह में उसने एक नई भाषा और एक नया प्रतीक-विधान कायम करने की कोशिश की, जिसने उसकी कविताओं को दुरूह बना दिया है।

राबर्ट बर्न्स—ब्लेक का करीब-करीब समकालीन था इस युग का एक और महान् कवि राबर्ट बर्न्स। वह स्कॉटलैंड का एक गरीब किसान था, जिसकी शिक्षा-दीक्षा अत्यन्त साधारण हुई थी। सैलानीपन की जिन्दगी बिताने में उसने बहुत-सी कुटेवें ग्रहण कर ली थीं, लेकिन उसके अन्दर जीवनी-शक्ति और प्रतिभा का ऐसा अटूट भांडार था कि उसकी गिनती संसार के प्रमुख गीतकारों में होती है। बर्न्स की सफलता की पहली सीढ़ी उसकी व्यंगात्मक कविताएँ हैं, जिनकी बदौलत उसकी पहुँच एडिनबरा के अभिजात उच्चवर्ग में हो गई थी। बर्न्स की कविता पढ़ने से मालूम होता है कि वह पोप, टामसन, ग्रे और शेक्सपियर की रचनाओं से भलीभाँति परिचित था। उसकी कविताएँ प्रायः स्कॉटलैंड की देशी बोली में हैं। जब उसने अंग्रेजी में लिखना शुरू किया, तो उसने मँजी हुई साहित्यिक अंग्रेजी का प्रयोग किया।

जार्ज क्रैब—बर्न्स के अतिरिक्त इस शताब्दी के अन्त में एक और किसान कवि हुआ, जिसे जीवन में न इतना सम्मान मिल पाया जितना बर्न्स को और न मरने के बाद उसकी वह ख्याति हो सकी, जो उससे कहीं घटिया कवियों की हुई। यह कवि था जार्ज क्रैब, जिसने देहाती जीवन के साधारण विषयों पर सरल छन्दों में कविता की थी। क्रैब अंग्रेजी भाषा का पहला कवि है, जिसने अपनी कविता में यथार्थवादी चिंतन-प्रणाली को अपनाया था।

चैटर्टन—इस शताब्दी का अन्तिम कवि था चैटर्टन, जिसकी कहानी अंग्रेजी साहित्य की एक लोकगाथा बन चुकी है। अठारह वर्ष की आयु में इस तरुण कवि ने अति प्राचीन कवियों की भाषा और शैली में कुछ कविताएँ लिखकर तथा उन्हें पुरानी रचनाओं के रूप में छपवाकर अपने समय के धुरंधर विद्वानों को ऐसा छकाया था कि उन्हें उम्र भर याद रहा होगा ! जब यह रहस्य खुला तो इन विद्वानों ने भी अपना बदला लिया और चैटर्टन भूख से छटपटाकर मर गया ! अगर यह विचित्र और मेधावी बालक जीवित रहता, तो क्या कुछ न करता ? लेकिन उसे अपनी चतुराई और 'शोखी' का एक बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। चैटर्टन आगामी रोमांटिक कवियों के लिए मानो अग्रज-सा था। वह उन्हीं के ढर्रे का कवि था।

नाटक

गोल्डस्मिथ, ग्रे और शेरीडन—अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी नाटक में हम वह उत्कर्ष नहीं देखते, जो कविता या उपन्यास के क्षेत्र में दिखलाई देता है। इस शताब्दी के अन्त में गोल्डस्मिथ और शेरीडन केवल यही दो नाटककार ऐसे मिलते हैं, जो अंग्रेजी नाट्य-साहित्य में अभिवृद्धि करते हैं। गोल्डस्मिथ ने अपनी कॉमेडी 'शी स्टूप्स टु कान्कर' के जरिए अपने युग की कमजोरियों का खूब भंडाफोड़ किया और नाटक के क्षेत्र में फिर से मानवीय उद्देश्यों का सन्निवेश किया। गोल्डस्मिथ के बाद इस क्षेत्र में रिचर्डसन और शेरीडन ने अपने कदम बढ़ाए। शेरीडन बहुत थोड़े काल तक थियेटर के संसार में रह सका, लेकिन उसकी रचनाओं ने अंग्रेजी नाटक को रेस्टोरेशन-कामेडी की अनैतिकता के दलदल से सर्वथा ऊबार लिया। 'राइवल्स' और 'स्कूल फॉर स्कैण्डल' नामक उसकी दो कामेडियों में शेक्सपियर और बेन जान्सन की कला की याद जाग्रत होती है। उधर जान गे का 'बेगरस् ओपेरा' भी इस शताब्दी की एक विशिष्ट नाटकीय रचना है। इसमें वालपोल और उस समय के दूसरे भ्रष्ट राजनीतिज्ञों पर जोरदार व्यंग प्रस्तुत किया गया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य वाङ्मय—(३)
अंग्रेजी साहित्य :: १९वीं-२०वीं शताब्दी

पिछले प्रकरण में आदिकालीन वीरगाथा-काव्य से लेकर अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक के अंग्रेजी साहित्य की विकास-धारा का सिंहावलोकन किया जा चुका है। प्रस्तुत प्रकरण में इस महान् वाङ्मय के उत्तरार्द्ध अर्थात् उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दियों में व्याप्त उसके आधुनिक पर्व की उपलब्धियों का संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जा रहा है।

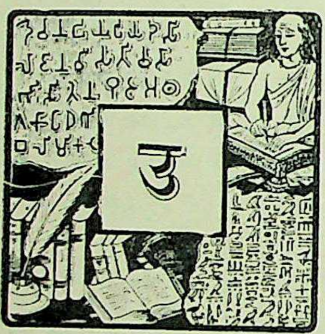

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरू की तीन दशाब्दियों में हमें कवियों का एक विशिष्ट दल मिलता है, जिन्हें 'रोमान्टिक कवि' कहा जाता है। यह नाम कुछ जबर्दस्ती का-सा है और केवल पाठ्यपुस्तकों के रचयिताओं का दिया हुआ है; कारण इन कवियों ने न तो स्वयं अपने को इस नाम से कभी पुकारा और न उनके समय में किसी और ही ने इस नाम के साहित्यिक अर्थ से उन्हें आँका। ये सब कवि प्रकृति के अनन्य उपासक थे—इसलिए नहीं कि प्रकृति उन्हें सुन्दर और मनोरम चित्र प्रदान करती थी, वरन् इसलिए कि वह उनके स्वभाव और चरित्र का एक दार्शनिक अर्थ में पोषण करती थी। ऐसा मालूम होता है कि ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति से ऊबकर इन कवियों को मजबूरन अपने अन्तर्जगत् में शरण लेनी पड़ी थी और अपने काल की बनावटी संस्कृति से भागकर विवशतया प्रकृति में ही उन्होंने परित्राण खोजना चाहा था। इन लोगों की आस्था केवल अपनी निजी अनुभूति पर ही थी। शेक्सपियर, मिल्टन और दूसरे पूर्ववर्ती कवियों ने जहाँ अपनी कविता को उसी धरातल पर रक्खा था, जिस पर कि मानवीय ज्ञान पहले से कई शताब्दियों से चला आ रहा था, वहाँ इसके प्रतिकूल इन कवियों का काव्य-धरातल केवल स्वानुभव पर ही प्रतिष्ठित था। इन 'रोमांटिक' कवियों में सबका अपना-अपना निराला रंग था। वर्डस्वर्थ में यदि यह स्वानुभूति और संवेदना मूलतः नैतिक अर्थ और प्रयोजन रखती थी, तो बायरन में वह किसी विशेष मनःस्थिति का रूप धारण करते पाई जाती थी—वह सदैव किसी नए रस को चखने के लिए आतुर रहता और ऐसे निराले पथ को हर घड़ी खोजता रहता था, जहाँ उससे पहले किसी जीवधारी के चरण नहीं पड़े हों! उधर कोलरिज की अनुभूति उसे विचित्र स्वप्नलोक में ले जाने को उमड़ी पड़ती थी, जिसका उत्कृष्ट उदाहरण उसकी कविता 'कुबला खाँ' के नगर 'जैनेडू' में हमें मिलता है। अपने स्वानुभव के साथ इस दर्जे तक इन सबकी एकता और उस पर उनके इतने अधिक आग्रह ने इन तमाम कवियों को आध्यात्मिक स्तर पर नितान्त एकाकी बना दिया था। इस आध्यात्मिक एकाकीपन में ही इस युग के काव्य की मूल शक्ति थी, साथ ही उसी में उसकी कमजोरी भी निहित थी।

वर्डस्वर्थ, कोलरिज, बायरन, शेली और कीट्स

ऊपर उल्लिखित रोमान्टिक काव्य-धारा के कवियों में प्रमुख थे—विलियम वर्डस्वर्थ, कोलरिज, स्कॉट, शेली, बायरन और कीट्स। आइए, उनका परिचय प्राप्त करें।

वर्डस्वर्थ (१७७०-१८५० ई०)—रोमान्टिक कहे जानेवाले कवियों में विलियम वर्डस्वर्थ का स्थान सर्वोपरि है। वह एक तो उम्र में इन सब से बड़ा था, दूसरे उसी की कविता में पहलेपहल रोमान्टिक वृत्ति अपने चरम बिन्दु तक पहुँची थी। वर्डस्वर्थ इंगलैंड में तो लंबे जमाने तक एक महान् (और किसी-किसी के द्वारा सर्वोत्तम) कवि माना जाता रहा, लेकिन योरप में उसकी कविता का ज्यादा आदर नहीं हुआ। आज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्डस्वर्थ का स्थान अंग्रेजी साहित्य में वह नहीं आँका जाता है, जो उसके जीवनकाल में या उसके बहुत दिनों बाद तक आँका जाता रहा था। वर्डस्वर्थ पहला कवि था, जिसने प्रकृति और मनुष्य को एक नई नजर से देखा था और उसे अपनी कविता के द्वारा जनता में पहुँचाना चाहा था। वह प्रकृति के प्रति एक रहस्यवादी दृष्टिकोण से अभिभूत था। वह साधारणतया जीवन में इस सत्य को दरसाना चाहता था कि आम तौर पर लोगों ने जहाँ सत्य, हर्ष या आनंद का स्रोत समझ रक्खा है, वह वहाँ नहीं है। उसका मत था कि मनुष्य का परित्राण प्रकृति के साथ आध्यात्मिक एकता उपलब्ध कर लेने में है। वर्डस्वर्थ की कृतियों में 'प्रिल्यूड' सब से महत्वपूर्ण है। उसकी लघु कविताओं में 'इन्टिमेशन्स ऑफ इम्मार्टेलिटी' और 'टिंटर्न एबी' विशेष उल्लेखनीय हैं।

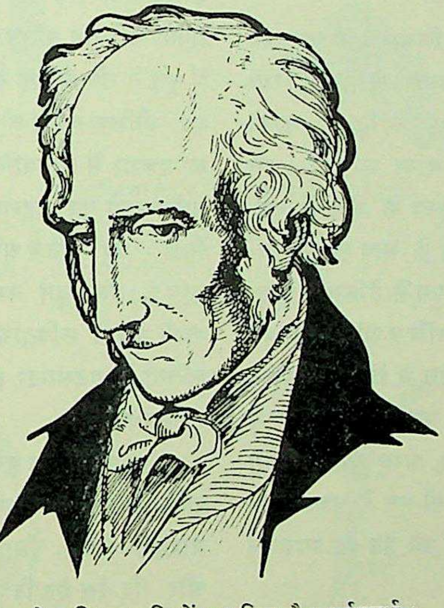

रोमाण्टिक कवियों का सिरमौर वर्डस्वर्थ।

कोलरिज (१७७२-१८३४)—जहाँ वर्डस्वर्थ का घर था, झीलों के उसी क्षेत्र में इस काल का एक और अनोखा कवि पैदा हुआ, जिसका नाम था कोलरिज। काव्य-प्रतिभा एवं चिंतन की श्रेष्ठता में पूरे रोमाण्टिक युग में इस कवि का कोई सानी नहीं हुआ! लेकिन उसकी प्रतिभा में कई घुन भी लगे हुए थे। एक तो वह योरप के बहुत-से रहस्यवादियों की तरह अफीम का नशा करने लगा था; दूसरे उसकी कविता अनुभूति की ऐसी गहराइयाँ खोजती थी, जहाँ तक शब्द और काव्य-कला की पहुँच बहुत अधिक नहीं है। वस्तुतः कोलरिज इस संसार से पलायन करना चाहता था। वह एक अनूठी दुनिया की रचना करना चाहता था। इसकी साक्षी हैं 'एन्शियन्ट मेरिनर', 'क्रिस्टाबेल' और 'कुबला खाँ' नामक उसकी कवितायें, जो अपने ढंग की अनोखी हैं। स्वभावतः वे अपूर्ण हैं; कारण कोई भी उस मनःस्थिति में बहुत काल तक नहीं रह सकता, जहाँ रहकर कोलरिज ने इन कविताओं की सृष्टि करना चाही थी। लेकिन कोलरिज केवल एक कवि ही नहीं था, वह एक ऊँचे दर्जे का दार्शनिक और आलोचक भी था। उसकी साहित्यिक आलोचना अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में एक विशेष स्थान रखती है।

वॉल्टर स्कॉट (१७७१-१८३२)— यद्यपि स्कॉट अंग्रेजी के ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में विशेष प्रसिद्ध है, परन्तु वह एक प्रतिभाशाली कवि भी था और उसकी कविताओं में रोमाण्टिक काव्य की गहरी छाप विद्यमान है। 'दि ले ऑफ दि लास्ट मिंस्ट्रेल', 'मारमियन' और 'दि लेडी ऑफ दि लेक' आदि उसकी उत्कृष्ट रचनाएँ बैलेड और रोमान्स की सरसता से भरपूर हैं।

बायरन (१७८८-१८२४ ई०)—इस काल के रोमाण्टिक कवियों में बायरन सब से उग्र व्यक्तित्ववाला कवि हुआ है। उसने अपनी विलक्षण एवं स्वच्छन्द भावव्यंजनावाली कविता का वेगमान स्वर तीव्र विरोधों और अवरोधों के बीच मुखरित किया। 'अवर्स ऑफ आइडिलनेस', 'प्रिजनर ऑफ शिलॉन', 'लारा', 'हिब्रू मेलडीज', 'गियोर', 'चाइल्ड हेराल्ड', 'मैनफ्रेड', 'केन', 'दि विजन ऑफ जजमेंट' और 'डॉन जुआन' उसकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनमें 'डॉन जुआन' सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। बायरन की रचनाओं का प्राणतत्त्व उसका व्यंग है।

पर्सी बाइशी शेली (१७९२-१८२२ ई०)—रोमाण्टिक युग के कवियों में शेली का अपना अनूठा व्यक्तित्व और स्थान है। वह इस काल का महान् स्वप्नदर्शी एवं आदर्शवादी कवि है। साथ ही उसके काव्य में परम्परागत रूढ़ियों के प्रति अनास्था का स्वर भी मुखरित हुआ है। जीवन में प्रणय-सम्बन्धी अनेक असफलताओं के अनुभव ने उसमें वेदना और विद्रोह का समन्वित वेग भर दिया था। 'क्वीन मैब', 'रिवोल्ट ऑफ इस्लाम', 'एलास्टर', 'प्रोमेथियस अनबाउण्ड' और 'एडोनेस' उसकी अनूठी रचनाएँ हैं। गीतितत्त्व का जैसा कलापूर्ण निर्वाह 'प्रोमेथियस अनबाउण्ड' में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शेली की आदर्शवादिता में पलायनभावना का पुट है। उसकी अनेक 'ओड' अंग्रेजी काव्य की सबसे प्रिय कविताओं में हैं।

जॉन कीट्स (१७९५-१८२१ ई०)—रोमाण्टिक कवियों में सब से आकर्षक कवि कीट्स ही है। वह मूलतः सौन्दर्य का मनोरम गायक था। उसकी रचनाओं में अद्भुत भावावेग एवं शब्दलावण्य के दर्शन होते हैं। केवल पचीस वर्ष की अल्पायु में ही उसने अपने पत्रों द्वारा प्रकाण्ड आलोचनात्मक शक्ति एवं प्रेमानुभूति की तथा 'एण्डीमियन', 'लामिया', 'इजा-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बेल', 'ईव ऑफ सेण्ट एग्नीज' तथा 'हाइपीरियन' जैसी अनूठी काव्यकृतियों द्वारा अपनी विलक्षण प्रतिभा की अभिव्यक्ति करते हुए अपूर्व ख्याति अर्जित कर ली थी। 'सौंदर्य ही सत्य है और सत्य ही सौंदर्य है'—इस आदर्श से अनुप्राणित उसका दृष्टिकोण उसकी रचनाओं में सर्वत्र प्रत्यक्ष है।

इस काल के कवियों में रॉबर्ट सदे और वॉल्टर सेवेज लैन्डोर भी उल्लेखनीय हैं। सदे ने 'रोडरिक', 'थेलेबा' आदि कई रोमांटिक शौर्यगाथाएँ काव्यरूप में प्रस्तुत कीं। लैन्डौर ने महाकाव्य जैसी कतिपय लंबी कविताएँ और कुछ छोटे पद्य भी रचे। ये दोनों उत्कृष्ट गद्य-लेखक भी थे।

विक्टोरियन युग :: काव्य—टेनिसन, ब्राउनिंग, मैथ्यू आर्नल्ड आदि

इंगलैण्ड के इतिहास में महारानी एलिजाबेथ के नाम पर प्रसिद्ध एलिजाबेथन युग की भाँति महारानी विक्टोरिया का युग भी सभी क्षेत्रों में उन्नति और समृद्धि की झाँकी प्रस्तुत करनेवाला एक विशिष्ट काल माना जाता है। इस तथाकथित 'विक्टोरियन युग' में साहित्य के क्षेत्र में गद्य-पद्य की सभी विधाएँ एक नवीन समृद्धि के भाव से पुष्पित-पल्लवित हुई। काव्य के क्षेत्र में इस युग ने टेनिसन, ब्राउनिंग, रोजेटी, फिटिजराल्ड, विलियम मॉरिस और स्विनबर्न जैसे कवियों की भेंट दी। उपन्यास के क्षेत्र में डिकेन्स, थैकरे, जॉर्ज इलियट, हार्डी और मैरेडिथ जैसी विभूतियाँ इस युग में आविर्भूत हुईं। उधर कार्लाइल, रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड जैसे आलोचक और समर्थ गद्य-लेखक भी इसी युग में प्रकट हुए। यहाँ हम पहले काव्य के क्षेत्र में इस युग की देन का आकलन करने जा रहे हैं।

टेनिसन (१८०९-१८९२)—विक्टोरियन युग के कवियों में लार्ड टेनिसन का स्थान अग्रणी माना जाता है। यह महाकवि अंग्रेजी साहित्य में शब्दों के असामान्य शिल्पी के रूप में प्रख्यात है। उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'यूलिसिस', 'दि डेथ ऑफ इनोन', 'लोटस-ईटर्स', 'दि पैलेस ऑफ आर्ट', 'ईडिल्स ऑफ दि किंग', 'इन मेमोरियम', 'लाक्सले हॉल', 'दि प्रिन्सेस' और 'मॉड'। इनमें 'इन मेमोरियम' को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। टेनिसन की छोटी कविताएँ भी बड़ी लोकप्रिय हैं।

रॉबर्ट ब्राउनिग (१८१२-१८८९ ई०)—ब्राउनिंग अंग्रेजी के तीव्र आशावादी दार्शनिक कवि के रूप में प्रख्यात है। 'दि रिंग एण्ड दि बुक' उसकी एक उत्कृष्ट लम्बी कविता है। उसने 'पैरासेल्सस', 'एन्ड्रिया डेल सार्टो' आदि कई सफल नाटक भी लिखे। उसकी कविताओं में 'रबी बेन एजरा', 'प्रोस्पीसे', 'ग्रामेरियन्स फ्यूनरल', 'सॉल' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। ब्राउनिंग की प्रेयसी एलिजाबेथ बेरेट ब्राउनिंग (१८०६-६१) का भी विक्टोरियन कवियों में प्रतिष्ठित स्थान है। उसकी 'सानेट्स फ्रॉम दि पोर्चुगीज' और 'अरोरा ले' जैसी कविताएँ प्रसिद्ध हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-१८८८ ई०)—एक समर्थ आलोचक होने के साथ-साथ एक सफल कवि के रूप में भी काफी ख्याति अर्जित करनेवाले इस महान् साहित्यकार की 'दि फरसेकन मरमैन', 'थेरसिस', 'एम्पिडक्लीज ऑन एटना', 'दि स्कालर जिप्सी' तथा 'डोवर बीच' आदि उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। 'सोहराब एण्ड रुस्तम' उसकी सब से प्रसिद्ध कृति है।

इस काल के अन्य कवियों में फारसी कवि उमरखय्याम की रुबाइयों का प्रसिद्ध अंग्रेजी पद्यानुवाद प्रस्तुत करनेवाले कवि फिटिजराल्ड का भी उल्लेख आवश्यक है। इस कवि ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बल पर उक्त रुबाइयों को अनुवाद में मूल से भी अधिक मोहक एवं मर्मस्पर्शी रूप प्रदान करके एक मौलिक स्रष्टा की-सी ख्याति अर्जित की। फिटिजराल्ड को प्रकाश में लानेवाले शृंगारी कवि दाँते गैब्रील रोसेटी ने प्रतीकवादी एवं रहस्यवादी पद्धति पर लिरिक और बैलेड लिखे। 'दि हाउस ऑफ लाइफ' उसकी सर्वाधिक प्रख्यात कृति है। स्विनबर्न नग्न प्रणय के वासनापरक चित्र खींचनेवाली अपनी कविताओं के लिए विशेष प्रसिद्ध है। उसकी कृतियों में 'एटलान्टा इन कैलीडन' और 'इरेक्थियस' विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस काल का एक समर्थ कवि था विलियम मॉरिस, जिसकी रचनाओं में 'दि डिफेन्स ऑफ गिनिवियर'; 'दि अर्थली पैराडाइज', 'जेसन', 'सिगर्ड द वालसुंग', 'न्यूज फ्रॉम नोह्वेयर' और 'दि वैल ऐट दि वर्ल्डस् एण्ड' प्रख्यात हैं। उधर गैब्रील रोजेटी की धर्मप्राण बहन क्रिश्चियाना रोजेटी की कृतियों में 'गॉबलिंग मार्केट' को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। इसी प्रकार कॉवेन्ट्री पैटमूर का औपन्यासिक काव्य 'दि एंजिल इन दि हाउस' और फ्रान्सिस थामसन की 'दि हाउण्ड ऑफ हैवेन' भी अपने ढंग की अनूठी रचनाएँ थीं। विक्टोरियन युग के साहित्यकारों में यद्यपि टॉमस हार्डी और मेरेडिथ उपन्यासकारों के रूप में अधिक प्रख्यात हैं, तथापि काव्य के क्षेत्र में भी उनकी देन कम महत्व की नहीं है। हार्डी ने 'दि डाइनास्ट्स' नामक नाटकीय वीरकाव्य तथा मेरेडिथ ने 'लव इन दि वैली' और 'पोयम्स ऐण्ड लिरिक्स ऑफ दि जॉय ऑफ अर्थ' जैसी काव्यकृतियों से कविता-क्षेत्र में भी काफी यश कमाया है। इसी प्रकार टी० ई० लारेन्स ने 'दि डॉन इन ब्रिटेन' नामक प्रभावशाली कविता द्वारा विशेष लोक-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

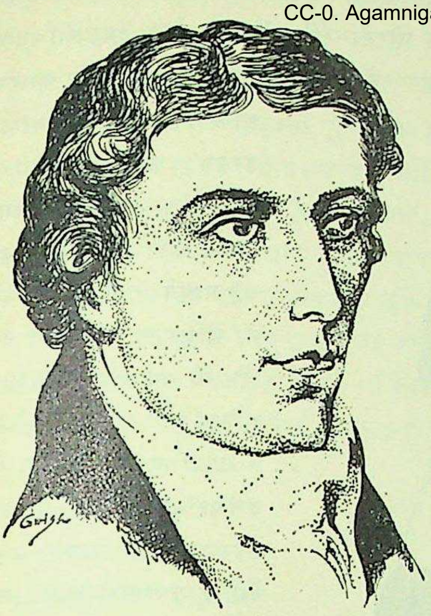

रोमाण्टिक काल के दो महान् गीतगायक

(बाईं ओर) जॉन कीट्स, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि यदि वह सत्ताइस वर्ष की अल्पायु में ही इस लोक से नहीं उठ गया होता, तो कदाचित् अंग्रेजी का सबसे बड़ा कवि कहलाता ! (दाहिनी ओर) पर्सी बाइशी शेली, जो इस काल का सबसे महान् स्वप्नदर्शी आदर्शवादी कवि था ।

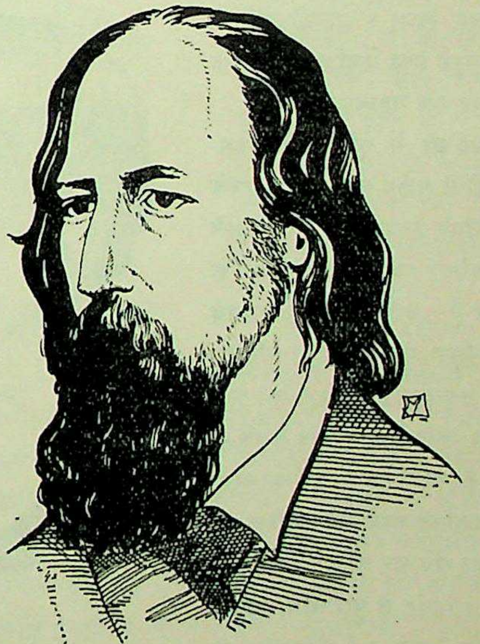

विक्टोरियन काल की दो महान् काव्य-विभूतियाँ

(बाईं ओर) रॉबर्ट ब्राउनिंग, जो अंग्रेजी साहित्य का सब से सशक्त और महान् आशावादी दार्शनिक कवि माना जाता है ; (दाहिनी ओर) लॉर्ड टेनिसन, जो अंग्रेजी काव्य के सब से महान् शब्दशिल्पी के रूप में प्रख्यात है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रियता प्राप्त की। उधर इन्हीं के समसामयिक बुद्धिवादी दार्शनिक कवि रॉबर्ट ब्रिजेज की 'टि टैस्टामेन्ट ऑफ ब्यूटी' नामक कविता भी बहुत जनप्रिय सिद्ध हुई है।

उपन्यास :: जेन ऑस्टिन और वॉल्टर स्कॉट

विशुद्ध कलात्मक दृष्टि-कोण से उपन्यास-लेखन का आरंभ वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी ई० से ही आरंभ होता है। जार्ज ऑस्टिन की पुत्री जेन ऑस्टिन (१७७५-१८१७ ई०) ऐसे उपन्यासों की प्रवर्तक कही जा सकती है। उसने 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस', 'सैन्स एण्ड सैन्सिबिलिटी', 'मैन्सफील्ड पार्क', 'एम्मा', 'परसुएशन', आदि अनेक यथार्थवादी कलात्मक उपन्यास लिखकर अपनी असाधारण सर्जन - प्रतिभा का परिचय दिया। उसकी कृतियों में 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस' सर्वाधिक उत्कृष्ट एवं महत्वपूर्ण है।

अंग्रेजी में ऐतिहासिक उपन्यासों के सर्जन का सूत्रपात करके उसे चमर उत्कर्ष तक पहुँचानेवाले सर वॉल्टर स्कॉट भी इसी युग के नक्षत्र हैं। यद्यपि मेरिया एजवर्थ के 'कैसिल रैक्रन्ट' द्वारा ऐतिहासिक उपन्यास की रचना का श्रीगणेश स्कॉट के आविर्भाव से पूर्व ही हो चुका था, फिर भी इस परम्परा को विकसित करके उसे सुगठित रूप देने का श्रेय सर वॉल्टर स्कॉट को ही है। स्कॉट ने पृष्ठभूमि, अतीत के दृश्य, पात्र एवं संवादादि की योजना आदि सभी तत्वों की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के अनेक ऐतिहासिक उपन्यास प्रस्तुत किए। 'वेवरली' (१८१४ ई०) उसका सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास था, जो जैकोबिन विद्रोह से सम्बन्धित था। तदनंतर 'गाई मैनरिंग', 'दि एन्टीक्वेरी', 'ओल्ड मोरटैलिटी', 'दि हार्ट आफ मिडलोथियन', 'रॉबराय', 'आइवन्हो', 'टेलिस्मान', 'कैनिलवर्थ', 'दि फार्चुन्ज ऑफ निजेल', 'क्वैन्टिन डरवर्ड', 'सेंट रोमन्स वेल', तथा 'रैड गाण्टलेट' आदि उनकी अनेक कृतियाँ धड़ाधड़ सामने आती गई, जिनमें से अधिकतर आज भी इस क्षेत्र की सफल एवं लोकप्रिय कृतियाँ बनी हुई हैं। स्कॉट ने अपनी व्यापक प्रतिभा के बल पर अनेक परवर्ती अंग्रेजी उपन्यासकारों तथा अन्य देशों के उपन्यास-लेखकों को भी प्रभावित किया। आज भी उसकी गणना संसार के सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यासकारों में की जाती है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार सर वॉल्टर स्कॉट।

उन्नीसवीं शताब्दी ई० की उपन्यास-परम्परा में रोमांटिक प्रवृत्तियों के विरोधी व्यंगात्मक उपन्यासों के रचयिता के रूप में थॉमस लव पीकॉक (१७८५-१८६६) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस कलाकार ने 'मेड मेरियन', 'मिसफॉर्चुन्स ऑफ एल्फिन' और 'क्रोचेट कैसल' जैसी रोचक कृतियाँ प्रस्तुत कीं, जिनसे जार्ज मेरेडिथ और आल्डुस हक्सले जैसे कई परवर्ती उपन्यासकार अनेक अंशों में प्रभावित हुए हैं।

विक्टोरियन काल का महान् कथाकार डिकेन्स।

डिकेन्स, थैकरे, हार्डी, मेरेडिथ आदि

डिकेन्स—उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वाधिक महान् अंग्रेजी उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स (१८१२-१८७० ई०) माना जाता है, जिसने व्यंग और विनोद से समृद्ध अनेक उत्कृष्ट कोटि के लोकप्रिय उपन्यासों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की रचना करके अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। 'पिकविक पेपर्स', 'ओलिवर ट्विस्ट', 'निकोलस निकल्बी', 'दि ओल्ड क्यूरिओसिटी शॉप', 'बार्नेबी रज', 'मार्टिन चुजलविट', 'क्रिसमस बुक्स', 'डम्बे एण्ड सन', 'डैविड कॉपरफील्ड', 'ब्लीक हाउस', 'हार्ड टाइम्ज', 'लिटिल डोरिट', 'दि टेल ऑफ टू सिटीज', 'ग्रेट एक्सपैक्टेशन्स', 'अवर म्यूचुअल फ्रेण्ड' तथा 'दि मिस्ट्री ऑफ एडविन ड्रूड' (अन्तिम अपूर्ण रचना) डिकेन्स की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनमें हास्य और विनोद के पुट के साथ-साथ करुण यथार्थ से भरपूर गहरा सामाजिक व्यंग अंकित हैं। इनमें 'डेविड कॉपरफील्ड' डिकेन्स के आत्मचारित्रिक संकेतों से समृद्ध होने के कारण अपना विशिष्ट महत्व रखता है। इन सब में 'पिकविक पेपर्स' अपने ढंग की अनूठी कृति है। कोई-कोई उसे डिकेन्स की श्रेष्ठतम कृति मानते हैं।

थैकरे—डिकेन्ज के ही समकालीन विलियम मेकपीस थैकरे (१८११-६३ ई०) ने 'वैनिटी फेयर', 'दि वर्जीनियन्ज', 'पेन्डैनिस', 'हेनरी एस्मंड' और 'दि न्यूकम्स' जैसे मार्मिक शैली के यथार्थवादी उपन्यासों की रचना करके अंग्रेजी कथा-साहित्य को एक नवीन दिशा प्रदान की। 'वैनिटी फेयर' उसकी सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है, जिसमें मिथ्याडंबरपूर्ण चिकने-चुपड़े विक्टोरियन समाज पर बड़ा ही मर्मस्पर्शी व्यंग कसा गया है।

इस युग में और भी कई उपन्यासकार सामने आए, जिनमें से कई की कृतियाँ अंग्रेजी वाङ्मय की स्थाई निधि मानी जाती हैं। डिकेन्स और थैकरे के ही समकालीन एडवर्ड लिटन (१८०३-७३) ने 'जनोनी', 'पॉल क्लिफर्ड', 'युजीन अराम', 'कैक्स्टन्स' और 'लास्ट डेज ऑफ पॉम्पिआई' जैसे प्रभावशाली उपन्यासों की सृष्टि की। चार्ल्स किंग्स्ले (१८१९-१८७५) ने 'यीस्ट', 'आल्टन लॉक', 'हाइपेटिया' और 'वेस्टवर्ड हो' जैसी कृतियों की भेंट दी। इस काल की अन्य कृतियों में ए० डब्लू किंगलेक (१८०९-९१) का 'इयोथेन'; जार्ज बॉरो (१८०३-८१) का 'लेवेंग्रो', 'दि रोमानी राई' और 'वाइल्ड वेस्ट'; चार्ल्स रीड (१८१५-८४) के 'इट इज नैवर टू लेट टु मैन्ड' और 'दि क्लॉयस्टर एण्ड दि हार्थ'; बेन्जेमिन डिजरेली (१८०४-८१) के 'कोनिंग्सबी', 'सिबिल' और 'टैंक्रेड'; मिसेज गैस्केल (१८१०-६६) के 'मेरी बार्टन', 'नॉर्थ एण्ड साउथ' और 'क्रैंफोर्ड;' विलीयम कॉलिन्स (१८२४-८९) के 'दि वुमन इन व्हाइट' और 'दि मूनस्टोन'; एमिली ब्रॉन्टे (१८१८-४८) का 'वुदरिंग हाइट्स'; चारलोटे ब्रोन्टे (१८१६-५५) के 'जेन आयर', 'शर्ले', 'विलेट' और 'प्रोफेसर'; जॉर्ज एलियट (मैरियन एवान्स) (१८१९-८०) के 'सीन्ज ऑफ क्लरिकल लाइफ', 'ऐडम बीड', 'दि मिल ऑन दि फ्लॉस', 'सिलास मारनर', 'रोमोला', 'फैलिक्स होल्ट' और 'मिडिल मार्च'; एन्थनी ट्रोलोप (१८१५-८२) के 'दि वार्डेन' और 'बारचेस्टर टावर्स'; मैरेडिथ (१८२८-१९०९) के 'रिचर्ड फेवरेल', 'ईवान हैरिंग्टन', 'हैरी रिचमांड', 'रोडा फ्लेमिंग', 'विक्टोरिया', 'डायना ऑफ दि क्रॉसवेज', 'दि इगोइस्ट' और 'वन ऑफ अवर कांकरर्स'; हेनरी जेम्स के 'डेजी मिलर', 'दि ट्रैजिक म्यूज', 'दि विंग्स ऑफ दि डव', 'दि ऐम्बैसेडर' और 'गोल्डन बोल' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

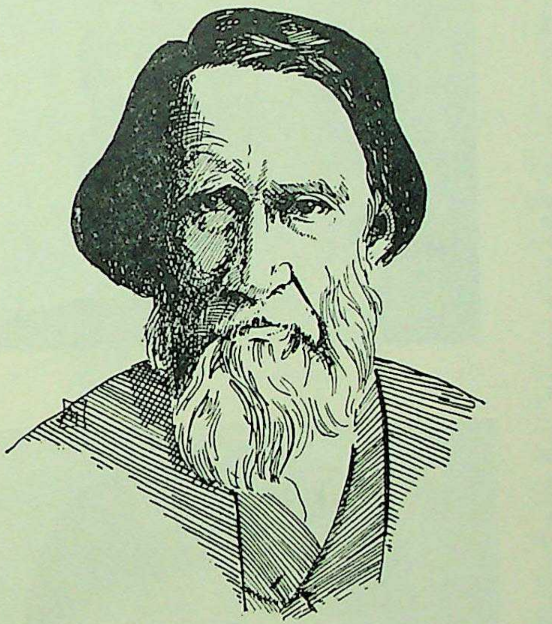

विक्टोरियन युग का महान् विचारक और गद्य-लेखक जॉन रस्किन।

टॉमस हार्डी—अंग्रेजी के सर्वोत्कृष्ट उपन्यासकारों में गिने जानेवाले टॉमस हार्डी ने भी इन्हीं दिनों 'दि रिटर्न ऑफ दि नैटिव', 'दि ट्रम्पेट मेजर', 'दि मेयर ऑफ कैस्टरब्रिज', 'दि वुडलैण्डर्स', 'टैस ऑफ डुर्बविल्स' और 'जूड दि ऑब्सक्योर' जैसे महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना की। कथावस्तु के शिल्पविधान की दृष्टि से उसका स्थान अंग्रेजी कथा-साहित्य में अद्वितीय है, परन्तु वह अत्यधिक निराशावादी लेखक है।

इन्हीं दिनों डारविन के प्रभाव में आकर विशेष प्रकार के बौद्धिक उपन्यास लिखे गए। इनके रचयिताओं में 'दि वे ऑफ ऑल फ्लेश', 'अरवॉन' और 'अरवॉन रिविजिटेड' के रचयिता सैमुएल बटलर (१८३५-१९०२) का नाम उल्लेखनीय है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण के आरंभ में लघु आकार के उपन्यासों की रचना की प्रवृत्ति प्रबल हुई। लघु उपन्यासों के साथ ही कहानियाँ लिखने की अभिरुचि भी जगी। 'ट्रैजर आइलैंड' के लेखक रॉबर्ट लुई स्टिवेन्सन (१८५०-९४) को इस दिशा में प्रवर्तक का स्थान प्राप्त है। 'ट्रैजर आइलैंड' के अलावा स्टीवेन्सन की अन्य कृतियाँ 'न्यू अरेबियन नाइट्स', 'किडनैपड्', 'दि ब्लैक एरो', 'दि मास्टर ऑव बैलेन्ट्रे', 'दि राँग बॉक्स' और 'डॉक्टर जेकेल एण्ड मिस्टर हाइड' हैं। उसने कतिपय बहुत ही सुंदर निबन्ध भी लिखे।

उन्नीसवीं सदी में नाटक

१९वीं शताब्दी में साहित्य की अन्य विधाएँ तो विकसित होती रहीं, पर सफल नाटकों की रचना इस काल में आकर मानो अपवादतुल्य हो गई। इसका कारण कदाचित् यह था कि इस काल पर रोमाण्टिक कवियों का काफी प्रभुत्व छाया रहा; साथ ही औद्योगिक क्रान्ति की प्रतिक्रिया भी नाटकों की सृष्टि के लिए प्रतिकूल सिद्ध हुई। चूँकि रोमांटिक कलाकारों में युग की नई माँग के अनुरूप यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं पनप सका, अतः इस सारी शताब्दी में केवल एक ही ऐसा नाटककार हुआ, जो अपनी कृति में युग को प्रतिबिम्बित कर सका। यह कलाकार था 'कास्ट' नामक संगीतमय नाटक का र च यि ता टी० डब्लू० रॉबर्टसन।

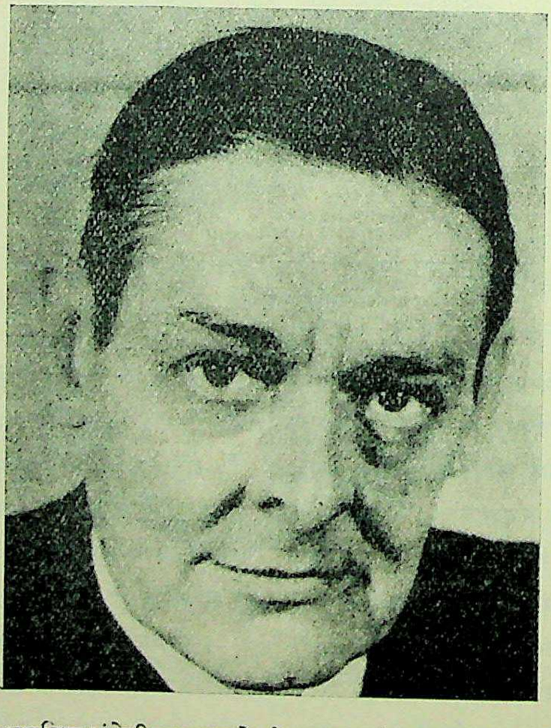

आधुनिक अंग्रेजी वाङ्मय के दो नक्षत्र :: (ऊपर) उपन्यासकार डी० एच० लारेन्स; (नीचे) कवि टी० एस० इलियट।

इसी बीच योरप में विश्वविख्यात नाटककार इब्सन की प्रतिभा चमकी! उक्त नाट्य-प्रतिभा ने अन्य देशों की भाँति इंगलैंड के नाटककारों को भी प्रभावित किया। इसकी झलक हेनरी आर्थर जोन्स (१८५१-१९२९) के 'दि सिल्वर किंग' नामक संगीतात्मक नाटक तथा 'सेन्ट्स एंड सिनर्स' और 'मिसेज डेन्स डिफैन्स' नामक समस्या-नाटक एवं सर आर्थर पिनेरो (१८५५-१९३४) के 'दि सेकेण्ड मिसेज टैंकुएरे' जैसी रचनाओं में देखने को मिली। इन लोगों ने अपनी सीमाओं में इब्सन का अनुसरण करने का काफी प्रयास किया। अंत में ऑस्कर वाइल्ड ने 'लेडी विंडरमियर्स फैन', 'ए वुमन ऑफ नो इम्पार्टेन्स', 'एन आइडियल हस्बैंड' तथा 'दि इम्पोर्टेन्स ऑफ बीइंग अर्नेस्ट' जैसी कॉमेडियाँ लिखकर अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया।

गद्य :: कार्लाइल, रस्किन, मेथ्यू आर्नल्ड आदि

अंग्रेजी में साहित्यिक आलोचना की शैली का पहलेपहल सूत्रपात इस शताब्दी के आरंभ में कोलरिज ने 'बायोग्रेफिया लिटरेरिया' नामक कृति के द्वारा किया था। उन्हीं दिनों लिखे गए जॉन कीट्स और बायरन के पत्र भी अंग्रेजी गद्य का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करते हैं। इस युग के श्रेष्ठ निबंधकारों में 'ऐसेज ऑफ एलिया' और 'लास्ट ऐसेज' जैसी अमर रचनाओं के लेखक चार्ल्स लैम्ब (१७७५-१८३४)

का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। उधर 'दि स्पिरिट ऑफ दि एज' के लेखक विलियम हैज्लिट (१७७८-१८३०), 'कन्फेशन्स ऑफ ऐन इंगलिश ओपियम ईटर' के स्रष्टा टॉमस डि क्विन्सी; 'रूरल राइड्स' के लेखक विलियम कॉबेट; एवं 'इमेजिनरी कनवरसेशन्स' के लेखक वॉल्टर सैवेज लैण्डौर की भी गणना युग के महान् गद्य-लेखकों में की जाती है। इस काल के गद्य के विकास में 'दि ओरिजिन ऑफ दि स्पिसीज' तथा 'दि डिसेन्ट ऑफ मैन' के सुविख्यात लेखक एवं महान् वैज्ञानिक चार्ल्स डारविन (१८०९-८२) के अतिरिक्त टी० एच० हक्सले, जेरेमी बेन्थम, राबर्ट मालथ्यूस, जान और जेम्स स्टुअर्ट मिल एवं टॉमस बैंबिंगटन मैकाले का भी महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। परन्तु उन्नीसवीं सदी के गद्य के प्रकाशस्तंभों में अनेक आलोचनात्मक गंभीर निबंधों, जीवनियों आदि के महान् आदर्शवादी लेखक टॉमस कार्लाइल (१७९५-१८८१) और 'अण्टू दिस लास्ट' के यशस्वी लेखक और विचारक जॉन रस्किन (१८१९-१९००), का स्थान हमें सर्वोपरि मानना होगा। इसी तरह विख्यात आलोचक एवं कवि मैथ्यू आर्नल्ड, 'कला कला के लिए' के आदर्श के प्रवर्तक वाल्टर पेटर एवं जॉन हेनरी न्यूमेन (१८०१-९०) भी इस काल के गद्य-शिल्पियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन सब में कार्लाइल, रस्किन, मेकाले, मैथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर को विक्टोरियन-कालीन गद्य के महान् स्तंभ कहा जा सकता है। रस्किन और पेटर महान् कला-समीक्षक भी थे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

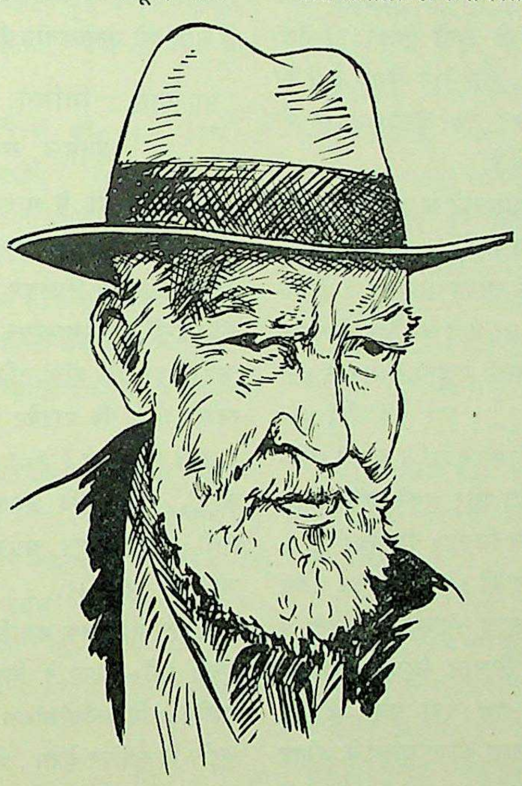

शेक्सपियर के बाद अंग्रेजी का सबसे महान् नाटककार जार्ज बर्नार्ड शॉ।

बीसवीं शताब्दी :: काव्य——यीट्स, इलियट आदि

बीसवीं शताब्दी हर क्षेत्र में अनेकों नवीन एवं महत्वपूर्ण परिवर्तनों का काल है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अंग्रेजी साहित्य में भी इस काल में अनेक नई मान्यताओं का विकास हुआ। काव्य के क्षेत्र में अब पुरानी परिपाटी का युग नहीं रहा। रोमांटिक और विक्टोरियनकालीन बौद्धिक एवं दार्शनिक पुट अब कविता में कम हो चला और वह एक नवीन भावधारा तथा अभिव्यंजना-शैली से अभिभूत होने लगी। फलतः पुराने प्रतीकों और उपमानों को नए साँचे में ढाला गया। यद्यपि कुछ ने उन्मुक्त प्रेमानुभूति की छिछली अभिव्यक्ति भी आरंभ की——जैसे कि ऑस्कर वाइल्ड और अर्नेस्ट डाउसन ने——परन्तु इस काल में लियोनल जॉनसन, ए० ई० हॉसमैन, रूपर्ट ब्रूक, वाल्टर डि ला मेर, जेम्स एलरॉय फ्लैकर, जॉन मेसफील्ड, हापकिन्स, विलिफ्रड ओवेन आदि कवि अपनी कृतियों से नई मान्यताओं को ही अग्रसर करते रहे।

बीसवीं शताब्दी के समस्त अंग्रेजी कवियों में अनेक व्यंग्यपूर्ण एवं बुद्धिवादी कृतियों का स्रष्टा थामस इलियट (ज० १८८८ ई०) तथा सौंदर्य के सरस गायक विलियम बटलर यीट्स (१८६५-१९३९ ई०) का अपना विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। इलियट की क्षमता गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों ही धाराओं में वेग के साथ अभिव्यक्त हुई है। 'प्रूफ रॉक', 'दि वेस्टलैण्ड' और 'मर्डर इन दि कैथेड्रल' उसकी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। कवि इलियट ने अनेक समसामयिक उदीयमान कलाकारों पर अपना प्रभाव छोड़ा है। उधर यीट्स की कविताओं में भाषा-शैली का अखण्ड माधुर्य तथा आयरलैण्ड की प्राकृतिक सुषमा का विराट् वैभव अभिव्यक्त हुआ है। 'दि लेक आॅइल आफ इनिसफ्री' उसकी अत्यन्त लोकप्रिय कृति है। उसकी स्वान्स एट कूल', 'माइकेल रॉबर्टीज एण्ड दि डान्सर', 'दि अनूठी रचनाएँ 'दि वाइल्ड टावर' तथा 'दि वाइन्डिंग स्टेअर' के नाम से प्रकाशित संग्रहों में संकलित हैं। महाकवि रवीन्द्र नाथ की 'गीताञ्जलि' को पाश्चात्य साहित्यिक जनता के समक्ष प्रकाश में लाने का श्रेय कवि यीट्स को ही है।

आज अनेक नवीन प्रतिभाएँ आधुनिक अंग्रेजी कविता को युग की नवीन मान्यताओं के अनुरूप ढालने एवं सँवारने में लगी हुई हैं, यद्यपि नया साहित्य कविता की अपेक्षा गद्यात्मक विधाओं में अधिक व्यापकता के साथ अग्रसर हो रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाटक :: बर्नार्ड शॉ आदि

अंग्रेजी नाटक-साहित्य में बीसवीं शताब्दी एक नूतन समृद्धि और वैविध्य का काल है। इस युग के यथार्थवादी सामाजिक नाटककारों में जान गाल्जवर्दी का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। 'स्ट्राइफ', 'जस्टिस', लॉयलटीज' उसकी सुप्रसिद्ध नाट्य-कृतियाँ हैं। सेन्ट जार्ज इरविन की 'जेन क्लेग' और 'जॉन फर्गुसन'; जॉन मेसफील्ड की 'दि ट्रेजेडी ऑफ मैन'; यीट्स की 'कैथलीननी हाउलीहान' और 'दि लैण्ड ऑफ हार्टस् डिजायर'; जॉन मिलिंगटन सिंज की 'प्लेब्वाय ऑफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड'; सीन ओ केसी की 'जूनो ऐण्ड दि पीकौक' तथा 'दि शैडो ऑफ ए गनमैन', और सर जेम्स बेरी की 'पीटरपैन', 'दि ऐडमिरेबिल क्राइटन' तथा 'डियर ब्रूटस' भी अपने ढंग की सफल नाट्य-रचनायें हैं।

परन्तु सच्चे अर्थों में बीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी नाट्य-साहित्य का शिरमौर है जार्ज बर्नार्ड शॉ (१८५६-१९५० ई०), जिनका स्थान समग्र अंग्रेजी नाटक-साहित्य में शेक्सपीयर के बाद दूसरा है। शॉ इस शताब्दी का विश्वविख्यात नाटककार है और इस दृष्टि से उसकी गणना संसार के इने-गिने साहित्यकारों में की जाती है। ९४ वर्ष की दीर्घ आयु तक अनेक उत्कृष्ट नाटकों की रचना करके शॉ ने अपनी अद्वितीय सर्जन-शक्ति का परिचय दिया और अपने जीवनकाल में ही अभूतपूर्व यश और अर्थ अर्जित किया। 'विडोवर्स हाउसेज' उसकी सर्वप्रथम नाट्य-कृति थी और 'इन गुड किंग चार्ल्स गोल्डन डेज' की रचना के साथ नाटककार के रूप में उसकी लम्बी सर्जन-परम्परा ने विश्राम लिया। शॉ के नाटकों में बुद्धि-तत्त्व एवं विचार-पक्ष बड़ा प्रबल है और उसकी मार्मिक अभिव्यंजना नाट्यकला की सीमाओं के भीतर हुई है। व्यंग्य और विनोद का भी गहरा पुट उसकी कृतियों में विद्यमान है। उसके चित्रणों में यत्र-तत्र उसकी साम्यवादी विचारधारा की छाप भी प्रत्यक्ष है। उसके नाटक रंग-मंच की दृष्टि में भी खरे उतरे हैं। नारीसमस्या उसके अनेक नाटकों का मूल विषय है। उसकी अधिकांश कृतियाँ समस्या-मूलक हैं, जिनमें सामाजिक प्रश्नों को अधिक उभारा गया है, पात्रों के चरित्रांकन पर उतना बल नहीं है। 'कैण्डिडा' इसका अपवाद कही जा सकती है, जिसमें चरित्र-चित्रण की कला की सूक्ष्मता दर्शनीय है। शॉ की नाट्यकृतियों में 'कैण्डिडा' के अतिरिक्त 'मिसेज वारेन्स प्रोफेशन', 'दि डैविल्ज डिसाइपिल', 'गैटिंग मैरिड', 'मेजर बारबरा', 'दि शोइंग अप ऑफ ब्लैंको पौसनेट', 'जॉन बुल्स अदर आइलैंड', 'सीजर ऐण्ड क्लियोपाट्रा', 'सेन्ट जोन', 'ऐंड्रोक्लीज एण्ड दि लॉयन', 'हार्ट ब्रेक हाउस', 'दि ऐपिल कार्ट', 'टु ट्रू टु बी गुड', 'दि मिलियोनेयर्स', 'जिनेवा', 'मैन एण्ड सुपरमैन', 'बैक टु मैथुसेला' और 'पिगमैलियन' उल्लेखनीय हैं। इनमें भी अन्तिम तीन कृतियाँ सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार विपुल नाटकों के स्रष्टा शॉ का व्यक्तित्व समग्र अंग्रेजी नाट्य-साहित्य में अपनी विलक्षणता रखता है।

शॉ के समकालीन एवं परवर्ती नाटककारों में 'मर्डर इन दि कैथेड्रल' नामक उत्कृष्ट नाटक के रचयिता कवि टी० एस० इलियट के अतिरिक्त ओडन तथा नोएल कावर्ड आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास :: गिसिंग, किपलिंग, वेल्स, गाल्सवर्दी, हक्सले, समरसेट मॉम आदि

बीसवीं सदी में आकर अंग्रेजी कथा-साहित्य में बृहत्तर वृद्धि हुई। इन दिनों हॉल केन और वुडहाउस ने सस्ते ढंग के रोचक उपन्यास लिखकर काफी धन और लोकप्रियता अर्जित की। इन्हीं के समसामयिक जार्ज गिसिंग (१८५०-१९०३) ने 'वर्कर्स इन दि डॉन', 'डिमोस', 'दि नेदर वर्ल्ड', न्यू ग्रब स्ट्रीट' और 'दि प्राइवेट पेपर्स ऑफ हेनरी राईक्राफ्ट' तथा रुडयार्ड किपलिंग (१८६५-१९३६ ई०) ने 'दि लाइट दैट फेल्ड', 'किम', 'दि जंगल बुक्स', 'पक ऑफ एक्स हिल' जैसी कृतियों द्वारा अंग्रेजी कहानी और उपन्यास के क्षेत्र को समृद्ध किया।

इधर वैज्ञानिक कहानियों और उपन्यासों के लेखन में एच० जी० वेल्स ने विपुल कीर्ति अर्जित की। 'दि टाइम मशीन', 'दि इनविजिबिल मैन', 'दि वार ऑफ दि वर्ल्डस्', 'ह्वेन दि स्लीपर वेक्स', 'दि फर्स्ट मैन इन दि मून', 'दि फूड ऑफ दि गॉड्स', 'दि ह्वील्स ऑफ चान्स', 'टोनो बंगे' और 'किप्स (इनमें अंतिम कृति विनोदपूर्ण उपन्यास है) उसकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

उधर इंगलैण्ड के उच्च मध्यम वर्ग के जीवन का यथार्थ एवं जीवन्त चित्रण करनेवाले उपन्यासकार जॉन गाल्सवर्दी ने 'दि मैन ऑफ प्रापरटी' और 'फोरसाइट सागा' लिखकर तथा आर्नल्ड बैनेट ने 'दि कार्ड', 'क्ले हैंगर' और 'दीज ट्वेन' की रचना करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। इस युग के अन्य सफल उपन्यासकारों में जोसेफ कॉनरड, जार्ज मूर, समरसेट मॉम, ई० एम० फोरेस्टर, टी० एम० पाविज, मिस रोज मेकाले, ह्यू वालपोल, जे० बी० प्रीस्टले, डी० एच० लारेन्स, आल्डुस हक्सले, डोरोथी रिचार्डसन, मिसेज वर्जी-

नियां वुल्फ और जेम्स ज्वायस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें डी० एच० लारेन्स और जेम्स ज्वायस असाधारण कलाकार थे, यद्यपि लारेन्स की 'लेडी चैटरलीज लवर' और ज्वायस की 'यूलेसिस' नामक कृतियों पर अश्लीलता का आरोप भी लगाया गया है। लारेन्स के अन्य उल्लेखनीय उपन्यास हैं—'सन्स एण्ड लवर्स', 'द मेन हू हैड डाइड', 'विमेन इन लव', 'कंगारू' और 'द रैन बो।' आधुनिक उपन्यासकारों में समरसेट मॉम एवं ऑल्डुस हक्सले सर्वाधिक लोकप्रिय हुए हैं। मॉम की कृतियों में 'ऑफ ह्यू मन बाण्डेज' और 'रेजर्स एज' विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुई हैं। हक्सले की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ 'एण्डस् एण्ड मीन्स', 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' और 'पाइंट काउंटर पाइंट' हैं।

बीसवीं शताब्दी के गद्यकारों में जी० के० चेस्टरटन (१८७४-१९३६), हिलेयर बैलॉक (१८७० - १९५३), मैक्स बीरबोहम (१८७२—), लिटन स्ट्रेची (१८८०-१९३२) तथा विन्सटन चर्चिल (१८७४—) का स्थान सर्वोपरि है। चेस्टरटन, बैलॉक और बीरबोहम का निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र में प्रतिष्ठित स्थान है। स्ट्रेची महारानी विक्टोरिया एवं उनके युग के अन्य विशिष्ट व्यक्तियों की उत्तम जीवनियाँ लिखकर अमर हो गया है।

पत्र-पत्रिकाओं में तथा स्वतन्त्र रूप से आधुनिक अंग्रेजी में विपुल साहित्य की सृष्टि हुई है और निरन्तर हो रही है। अन्य भाषाओं की लगभग सभी महत्वपूर्ण कृतियों के बड़े सुन्दर और सफल अनुवाद भी अंग्रेजी में प्रस्तुत हो चुके हैं। इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य अनेक नई-नई विधाओं और शैलियों से उत्तरोत्तर प्रगति और समृद्धि की ओर अग्रसर हो रहा है।

अमेरिकन साहित्य

इंगलैण्ड में जन्म लेने पर भी अंग्रेजी भाषा और साहित्य का क्षेत्र आज अपेक्षाकृत कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक है। इसका कारण ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, कैनेडा और संयुक्त राज्य (अमेरिका) आदि सभी प्रदेशों के साथ ब्रिटिश औपनिवेशिक हुकूमत के समय स्थापित अंग्रेजी भाषा का वह गाढ़ा संबंध है, जिसकी बदौलत विगत दो शताब्दियों में इन सभी प्रदेशों ने अपनी-अपनी देन से अंग्रेजी साहित्य की श्रीवृद्धि की है। इन सब में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) का अंग्रेजी साहित्य है, जिसने अपने विपुल परिमाण और मौलिक वैविध्य के कारण विश्व-साहित्य में अलग से अपना एक ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अमेरिका में साहित्य-सर्जन का आरम्भ वस्तुतः अठारहवीं शताब्दी से मानना चाहिए, यद्यपि वहाँ पर साहित्यिक अभिरुचि का सूत्रपात सत्रहवीं शताब्दी में ही हो चुका था। १८वीं शताब्दी के प्रसिद्ध धर्मशास्त्रवेत्ता एवं प्यूरिटन विचारक जोनाथान एडवर्ड्स (१७०३-५८) तथा बेंजामिन फ्रैंकलिन (१७०६-९०) नामक तत्कालीन महान् राजनीतिज्ञ का अमेरिका के आरंभिक लेखकों में महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रैंकलिन ने पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के प्रकाशन का सूत्रपात करके विशेष ख्याति प्राप्त की।

अमेरिका का प्रथम उल्लेखनीय कवि था फिलिप फ्रेनू (१७५२-१८३२), जिसने सुन्दर व्यंग्य भी प्रस्तुत किए। रोमांस एवं हास्य-विनोद का जीवन्त रूप उपस्थित करने वाला, 'बेसब्रिज हॉल', 'दि अलहम्ब्रा', 'ओलिवर गोल्डस्मिथ' एवं 'वाशिंगटन का जीवनचरित' जैसी प्रसिद्ध कृतियों का लेखक वाशिंगटन इर्विंग (१७८३-१८५९) भी अपने समय का बड़ा ही यशस्वी साहित्यकार था। इन्हीं दिनों रोमाण्टिक और प्रकृति-प्रेमी कवि विलियम कुलेन ब्रियान्ट (१७९४-१८७८) ने प्राचीन साहित्यिक रूढ़ियों को त्यागकर अमेरिकन कविता को एक नया मोड़ प्रदान किया। उधर फेनिमोर कूपर (१७९९-१८५१) ने 'लैदर स्टॉकिंग टेल्स', 'दि स्पाई', 'दि पायोनियर्स' और 'दि पाइलेट' जैसी कृतियों द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। कूपर अपने युग का माना हुआ उपन्यासकार था।

परन्तु इस युग के अमेरिकन साहित्यकारों में सब से उल्लेखनीय नाम वस्तुतः एडगर एलेन पो (१८०९-४९) का है, जिसने कवि, आलोचक, सम्पादक और कथाकार के रूप में अनेक उत्कृष्ट गद्य-पद्यात्मक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। पो केवल अंग्रेजी साहित्य पर ही नहीं, वरन् विश्व की अनेक भाषाओं के साहित्य पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ हुआ। उसकी सर्वाधिक विख्यात गद्यपद्यात्मक कृति 'यूरेका' है।

पो का ही समसामयिक था दार्शनिक रॉल्फ वाल्डो इमरसन (१८०३-१८८२), जो अमेरिका का विश्वविख्यात विचारक, कवि एवं निबन्धकार माना गया है। इमर्सन के दार्शनिक निबन्धों तथा कविताओं ने अमेरिका से बाहर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया। 'नेचर', 'दि अमेरिकन स्कॉलर' और 'दि डिविनिटी स्कूल ऐड्रेस' उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उसकी कृतियों पर गहरी रहस्यभावना और उदात्त दार्शनिकता की छाप है। इमरसन की ही भाँति प्रकृतिवादी लेखक हैनरी डैविड थोरो (१८१०-६२) ने भी उच्चकोटि की कविताओं और निबन्धों द्वारा अपनी अद्‌भुत मेधा का परिचय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया। 'लाइफ विदाउट प्रिंसिपल', 'दि मेन वुड्स', 'केप काड', 'ए याँकी इन कैनेडा' तथा 'वाल्डेन ऑर लाइफ इन दि वुड्स' उसकी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। इनमें अन्तिम उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। उसकी कविताएँ प्रकृति के मनोरम चित्रों से अलंकृत हैं।

उन्नीसवीं सदी के अमेरिकन लेखकों में कथाकार नेथेनियल हाथार्न (१८०४-६४) का भी उल्लेखनीय स्थान है। उसने 'दि स्कारलैट लैटर' और 'दि हाउस ऑफ दि सैवन गेबल्स' जैसी अमर कृतियों द्वारा एक समुन्नत सामाजिक दृष्टिकोण की मार्मिक अभिव्यक्ति की थी। उधर 'मार्दी', 'मोबी डिक' और 'पियर' जैसे अध्यात्मपरक उपन्यासों एवं समुद्र-यात्रा संबंधी रोचक कहानियों के लेखक हरमैन मैल्विल (१८१९-१८९१) ने भी पर्याप्त ख्याति अर्जित की। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'मोबी डिक' में ह्वेल मछली के शिकार के चित्रण के सहारे मानवजीवन के चिरंतन द्वन्द्व एवं संघर्ष का बड़ा प्रभावशाली मनोवैज्ञानिक उद्घाटन हुआ है।

हेनरी वाड्सवर्थ लांगफैलो (१८०७-८२)—लांगफैलो की गणना अमेरिका के ही नहीं, वरन् संसार के गिने-चुने लोकप्रिय कवियों में होती है। उसने अति सूक्ष्म नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी बड़ी ही सरस, सहज एवं मर्मस्पर्शी शैली में प्रस्तुत किया है। 'ए सॉम ऑफ लाइफ', 'दि विलेज ब्लैकस्मिथ', 'दि वार्निंग', 'दि बिल्डिंग ऑफ दि शिप', 'इवैंजेलीनी', 'दि सांग ऑफ हिमावाथा', 'दि आर्सिनल एट स्प्रिंगफील्ड', 'पॉल रीवियर्स राइड', 'टेल्स ऑफ वेसाइड इन', 'किंग राबर्ट ऑफ सिसिली' और 'माइकेल ऐंजेलो' उसकी कतिपय उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। लांगफैलो के समसामयिक जेम्स रसल लावेल ने (१८१९-९१ ई०) आलोचक के रूप में और ओलिवर वेन्डेल होम्स (१८०९-९४ ई०) ने निबंधकार के रूप में अच्छी प्रसिद्धि पाई।

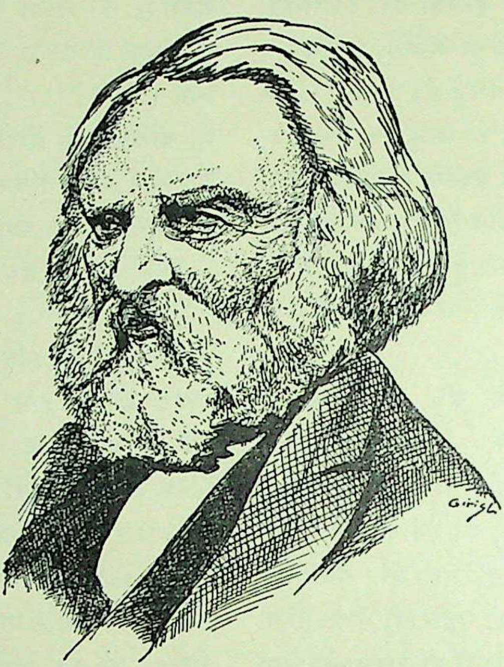

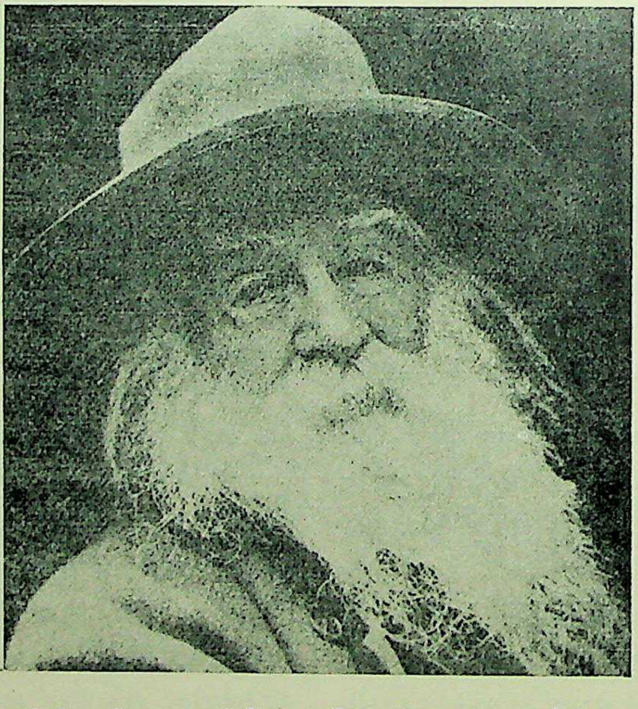

दो विश्वविख्यात अमेरिकन कवि :: (ऊपर) लांगफैलो ; (नीचे) वाल्ट ह्विटमैन।

वाल्ट ह्विटमैन (१८१९-१८९२)—उन्नीसवीं शताब्दी का विलक्षण प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार वाल्ट ह्विटमैन अमेरिकन साहित्य-गगन का एक अनूठा नक्षत्र था। उसने प्राचीन साहित्यिक रूढ़ियों के प्रति तीव्र विद्रोह करते हुए अमेरिकन साहित्य को अनेक नए मोड़ दिए और उसके नवयुग का प्रवर्तन किया। काव्य-विषय, भाव-व्यंजना, भाषा-शैली, लय, तुक, छंदविधान, प्रतीक-योजना आदि सभी बातों के लिहाज से उसका कृतित्व क्रान्तिकारी है। 'डैमोक्रेटिक विस्टाज' उसकी यथार्थवादी गद्य-रचना है और 'लीव्ज ऑफ ग्रास' है उसका विश्वविख्यात कविता-संग्रह। ह्विटमैन ने अमेरिका से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाहर भी लोकप्रियता प्राप्त करके योरप और एशिया तक के अनेक साहित्यकारों को प्रभावित किया।

मार्क ट्वेन—प्रसिद्ध आदर्शवादी अमेरिकन लेखक सेमुएल क्लेमेन्स उर्फ मार्क ट्वेन (१८३६-१९१०) ने हास्य, व्यंग्य और विनोद का गहरा पुट देते हुए मानवता की अनेक भावभूमियों का जीवन्त चित्र अंकित किया है। 'टॉम सॉयर', 'लाइफ ऑन दि मिसीसिपी' तथा 'हकलबेरी फिन' उसकी अनूठी कृतियाँ हैं। ह्विटमैन की भाँति मार्क ट्वेन ने भी अमेरिका के बाहर अन्य देशों में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की।

इस युग के अन्य अमेरिकन साहित्यकारों में रोमांटिक लेखक ब्रेट हार्ट; कवयित्री एमिली डिकिन्सन; अपनी कविताओं, कहानियों, उपन्यासों और निबन्धों में समाज के यथार्थवादी चित्र अंकित करनेवाले विलियम डीन हॉवेल्स, एवं 'ऑक्टोपस' नामक यथार्थवादी रचना के लेखक फ्रेंक नोरिस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी युग में प्रसिद्ध कथाकार और समीक्षक हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) ने 'दि पोर्ट्रेट ऑफ ए लेडी', 'दि विंग्स ऑफ दि डव', 'दि स्वाएल्स ऑफ दि पोइन्टन', 'दि ऐम्बैसेडर्स' और 'दि गोल्डन बोल' जैसे उपन्यास तथा 'दि आर्ट ऑफ नॉवेल', 'दि आर्ट ऑफ फिक्शन' और 'क्रिटिकल प्रिफेसेज' जैसे आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे। हेनरी जेम्स के यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही एडिथ वार्टन ने 'इथन फ्रोम' और 'दि एज ऑफ इनोसेंस' जैसी कृतियाँ प्रस्तुत कीं। उधर कवि रॉबर्ट फ्रास्ट ने प्रमुखतः करुण भाव की व्यंजना करते हुए 'ए ब्वायज विल' जैसी मर्मस्पर्शिणी यथार्थवादी कविताएँ रचीं। उस पर क्लासिकल प्रवृत्तियों की गहरी छाप विद्यमान है।

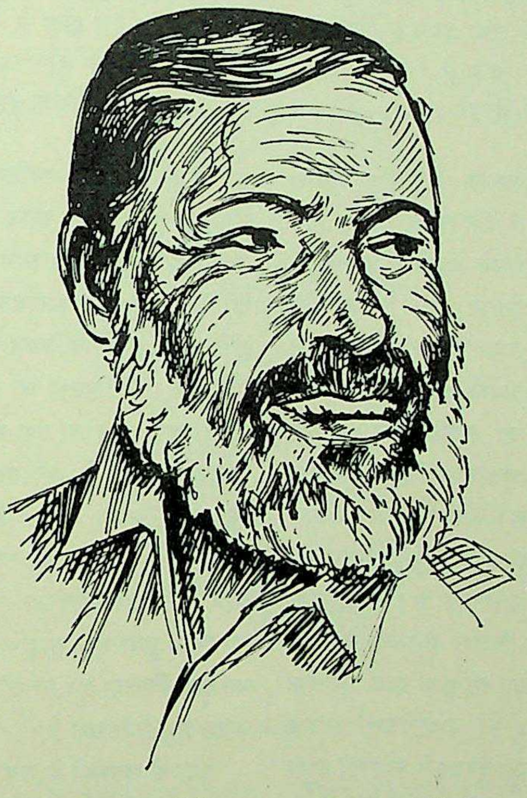
नोबुल-पुरस्कार-विजेता प्रख्यात कथाकार हेमिंग्वे।

आज के अमेरिकन साहित्यकारों में 'सिस्टर कैरी', 'जेनी गरहार्ट', 'दि फिनेन्शियर', 'दि राइटर' और 'ऐन अमेरिकन ट्रैजेडी' के लेखक थियोडोर ड्रीजर (१८७१-१९४५) की गणना क्रमशः व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर उन्मुख होनेवाले कवियों में की जाती है। अभिव्यंजनावादी कथाकारों में शेरवुड ऐन्डर्सन और टॉमस वुल्फ ने अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की है। ऐडविन आर्लिंगटन रॉबिन्सन और स्टीफेन बेनेट ने अपनी कविताओं में सफलता के साथ विश्व-मानवता की रागात्मक अभिव्यक्ति की है। १९३६ ई० में नोबुल-पुरस्कार प्राप्त करनेवाला कवि यूजीन ओनील भी आज के उत्कृष्ट अमेरिकन कवियों एवं नाटककारों में गिना जाता है।

हेमिंग्वे—आधुनिक अमेरिकन कथाकारों में अर्नेस्ट हेमिंग्वे (१८९८-१९६२) असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न शैलीकार था। उसकी कृतियों में 'दि फिफ्थ कॉलम एण्ड दि फर्स्ट फॉर्टी फाइव स्टोरीज', 'फेयरवेल टु आर्म्स', 'फॉर हूम दि बैल टॉल्स' एवं 'द ओल्डमैन एंड द सी' विशेष प्रसिद्ध हैं। हेमिंग्वे को नोबुल-पुरस्कार भी मिल चुका है।

अन्य आधुनिक अमेरिकन उपन्यास लिखनेवालों में उपटन सिनक्लेयर का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। उसने 'जंगल', 'किंग कोल', 'ऑइल' और 'फ्लुयर किंग' जैसी रचनाओं में अमेरिकन जीवन के आर्थिक-राजनीतिक पक्षों का सजीव चित्र अंकित किया है। उधर 'बैबिट', 'मेन स्ट्रीट', 'ऐरोस्मिथ' और 'डाडस्वर्थ' जैसी सुन्दर कृतियों का लेखक नोबुल - पुरस्कार पानेवाला सिनक्लेयर लेविस (१८८५-१९५१) भी इस युग का बड़ा सफल उपन्यासकार हुआ है। इनके अतिरिक्त व्यंग-लेखक के रूप में प्रतिष्ठित रिंग लार्डनर, यथार्थवादी उपन्यासकार जॉन-स्टीनबैक, कृषि और उद्योग से सम्बन्धित विषयों पर प्रभावशाली कविताएँ लिखनेवाला कवि सैण्डबर्ग तथा 'गुड अर्थ' और 'ड्रेगन सीड' जैसे प्राच्य जीवन-संबंधी अनेक अनूठे उपन्यास प्रस्तुत करनेवाली नोबुल-पुरस्कार-विजयिनी प्रख्यात महिला-उपन्यासकार पर्ल बक के नाम भी आज के अमेरिकन लेखकों में उल्लेखनीय हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य वाङ्मय—(४)
नार्वेजियन और स्वीडिश साहित्य

योरपीय वाङ्मय में नार्वे और स्वीडन के उत्तराखंडीय क्षेत्र की साहित्यिक उपलब्धि कितनी बढ़ी-चढ़ी है, इसका किंचित् अनुमान तो केवल इसी एक बात से किया जा सकता है कि इस क्षेत्र के कितने ही कलाकार सुप्रसिद्ध नोबुल-पुरस्कार से अलंकृत हो चुके हैं ! फिर उसी के प्रांगण में इब्सन और ब्योर्न्सन जैसी महान् साहित्य-विभूतियाँ भी आविर्भूत हुई हैं ! आइए, संक्षेप में इस क्षेत्र की महान् साहित्यिक वसीयत का परिचय प्राप्त करें।

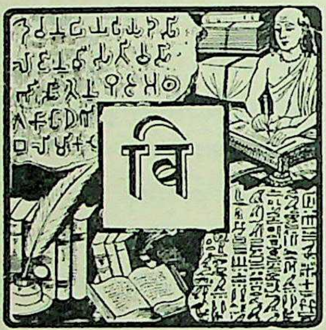

विलक्षण प्राकृतिक सुषमा के देश नार्वे का साहित्य अपने प्राचीनतम रूप में मानव और प्रकृति के सहज रागात्मक संबंध को जगानेवाले सरस गीतों का साहित्य है। दूसरी शताब्दी ई० से आरंभ होकर आगामी अनेक शताब्दियों तक विविध रूपों में मुखरित इस साहित्य का सब से महत्वपूर्ण अंग 'वाईकिंग' और 'एद्दा' नामक पुरातन चारणकाव्यों में उपलब्ध है। 'वाईकिंग' कविता का विशेष प्रचलन सामान्यतः द्वितीय शताब्दी से लेकर सप्तम शताब्दी ईस्वी तक रहा है। यह साहित्य प्रायः मौखिक गायन के ही रूप में सुरक्षित रहा। इसे 'स्काल्दिक' कहकर भी पुकारा गया। इन गीतों का गायन दरबारी चारणों द्वारा हुआ करता था। वीरोक्तियों और ओजपूर्ण प्रशस्तियों से समृद्ध 'स्काल्दिक' काव्य में नार्वे के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास की प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है। क्वाइन के कवि त्योदोल्फ की 'इंगलिंग की वंशावली' तथा आइविन्द स्काल्दास्पिलिर द्वारा प्रणीत 'हालोगालैंड के श्रीमानों की वंशावली' इस प्रकार की मुख्य प्रशस्तियाँ हैं। त्योदोल्फ और आइविन्द अपने युग के सब से प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय चारणकवि थे। त्योदोल्फ की मधुर रचना 'पतझड़ का गान' और आइविन्द की उदात्त रचना 'राजा हाकन की स्मृति' अपनी कलात्मकता में अनूठी हैं। इस काल का एक अन्य प्रतिभाशाली एवं कल्पनाशील चारणकवि थोब्योर्न हार्नक्लोवी था।

इस काल में लोक-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हुआ। उसके अन्तर्गत समुद्र, पहाड़ एवं परियों और दानवों की अनेक कहानियाँ रची गईं। साथ ही धार्मिक गीतों की भी प्रवृत्ति आरंभ हुई, जिसके फलस्वरूप एक नए ढंग के काव्य की सृष्टि होने लगी। यह नार्वेजियन साहित्य में 'एद्दा-काव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। वीर-कृत्यों की ओजभरी अभिव्यंजना से अनुप्राणित एद्दा-काव्य का एक अंश 'देवताओं के गान' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत 'भविष्यवादिनी वोल्वेन' द्वारा सृष्टि की गाथा कही गई है तथा एक नवीन और भव्य संस्कृति की कल्पना की गई है। ७०० से ११०० ईस्वी के बीच रचित इन गीतों का संग्रह पहलेपहल तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था। वाइकिंग-कविताओं की अपेक्षा एद्दा-गीतों का दृश्य-चित्रण एवं उसकी भावव्यंजना की छटा कहीं अधिक सरस एवं मर्मस्पर्शी है।

तेरहवीं शताब्दी के लगभग नार्वेजियन साहित्य पर इंगलैंड और फ्रान्स के साहित्य का प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ। नार्वे के उत्तरमध्ययुगीन साहित्य में अनेक मौलिक कविताओं के अतिरिक्त लोकगीतों और लोककथाओं की प्रचुर मात्रा में रचना हुई, जिनमें वहाँ के लोकजीवन में प्रचलित जनविश्वासों का जीवन्त चित्र खींचा गया। एरिक बेरेन्सिकओल्ड और थ्योडोर किटलसन द्वारा चित्रांकित इन लोककथाओं का आज भी नार्वे में घर-घर में प्रचार है।

नया मोड़ :: होल्बर्ग और वर्गलैण्ड

धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन के फलस्वरूप नार्वे की साहित्यिक गतिविधि में एक नया मोड़ आया। इस नए कृतित्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में लुडविग होल्बर्ग (१६८४-१७५४ ई०) का स्थान अग्रणी था। उसके द्वारा प्रवर्तित कॉमेडी-नाटकों ने समग्र स्केंडिनेवियन साहित्य को एक नई स्फूर्ति प्रदान की। इस दृष्टि से वह उत्तराखंडीय साहित्य के क्षेत्र में अपने युग का प्रमुख प्रतिनिधि कलाकार माना जाता है। अपने निबन्धों द्वारा होल्बर्ग ने नार्वे की साहित्यिक चेतना को अनेक रूपों में प्रभावित किया।

होल्बर्ग के उपरान्त नार्वेजियन साहित्य में एक नवीन राष्ट्रीय चेतना का प्रसार हुआ और देश की प्राकृतिक सुषमा के रोमांटिक चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ चली। इस साहित्यिक चेतना का प्रभाव देश की सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधि पर भी पड़े बिना न रहा। इसी बीच डेनिश प्रभाव से स्वतंत्र होकर नार्वे ने अपने देश के सब से महान् गीतिकार बर्गलैण्ड (१८०८-४५ ई०) की प्रतिभा को जन्म दिया। बर्गलैंड नार्वे के राष्ट्रीय कवि और विचारक के रूप में प्रतिष्ठित है। अंग्रेजी के बायरन और शेली जैसे कवियों से प्रेरणा लेते हुए इस कवि ने अपनी प्रतिभा के बल पर कहीं-कहीं शेक्सपीयर जैसे मूर्द्धन्य साहित्यकार तक से होड़ ली है। उसका प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी था जान सेबस्टियन वेल्हावेन, जिसने अपनी कविता द्वारा नार्वेजियन साहित्य में करुण भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति की।

बर्गलैण्ड की बहिन कामिला कोलेट भी असाधारण प्रतिभा से संपन्न लेखिका थी। उसके निबन्धों में नारी-स्वातंत्र्य का स्वर प्रखर भाव से मुखरित हुआ। 'अम्त्मान्देन्स् दोत्रे' उसका सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है। उसने विपुल मात्रा में प्रकृति-वर्णन विषयक साहित्य भी प्रस्तुत किया। प्रकृतिवादी कलाकारों की संख्या इस युग में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इनमें हास्य-विनोद एवं व्यंग के प्रणेता विन्ये की प्रतिभा अनूठी थी।

युगप्रवर्तक नाटककार इब्सन

इसी बीच हेन्रिक इब्सन (१८२८-१९०६) और ब्योर्नस्त्येर्ने ब्योर्न्सन (१८३२-१९१०) नामक दो महान् विभूतियाँ नार्वे के साहित्यिक रंगमंच पर अवतरित हुईं, जिन्होंने अपने देश के वाङ्मय को विश्व-साहित्य के प्रांगण में ला खड़ा कर दिया। इब्सन ने अनेक देशों के कलाकारों को--विशेषकर नाट्य-क्षेत्र की प्रतिभाओं को--पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। वैसे तो इस महान् लेखक ने अपने आरम्भिक जीवन में अनेक मनोमुग्धकारिणी कविताएँ भी लिखी थीं, परंतु साहित्य-क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा मूलतः नाटककार के रूप में ही मानी गई है। 'कोंग्सेर्न्यर्ने' उसकी प्रथम श्रेष्ठ रचना थी। वह एक ऐतिहासिक नाटक के रूप में लिखी गई थी और १८६३ ई० में प्रकाशित हुई थी। 'ब्राण्ड' और 'पियर गिन्ट' उसके दो उत्कृष्ट छंदबद्ध नाटक थे, जिनमें उसके गहन चिन्तन और मौलिकता के दर्शन किए जा सकते हैं। 'पियर गिन्ट' में इब्सन की नाट्यकला का चरम परिपाक हुआ है। यह कृति रंगमंच की दृष्टि से विश्व-साहित्य में अद्वितीय मानी जाती है। उसे समस्त नार्वेजियन साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृति के रूप में मान्यता मिल चुकी है। 'सम्राट् और गैलीलियन' भी इब्सन की उल्लेखनीय कलाकृति है। इसे स्वयं इब्सन ने अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति माना है! इसके उपरान्त १८७७ ई० और १८९९ ई० के बीच उसने कोई बारह नाटकों की रचना करके अनेक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक गुत्थियों का उद्घाटन किया। इनमें 'गुड़िया का घर', 'भूत', 'जनता का शत्रु', 'वन्य हंस' और 'रोस्मरशोल्म' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'जब हम मर कर जी उठते हैं' इब्सन की अंतिम काव्य-कृति थी।

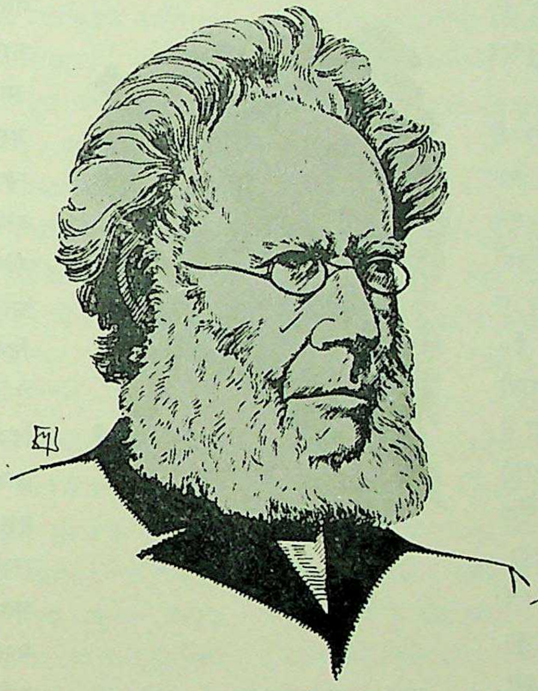

महान् नाटककार इब्सन।

नार्वेजियन साहित्य की महाविभूति ब्योर्न्सन

इस काल के दूसरे महान् साहित्यकार ब्योर्न्सन की प्रतिभा बहुमुखी थी। उसने कहानी, नाटक और कविता तीनों ही के क्षेत्र में बहुत ही कलापूर्ण कृतियाँ प्रस्तुत कीं। वह एक प्रभावशाली वक्ता, पत्र-लेखक, निबंधकार तथा रंगमंच-विशेषज्ञ था। इब्सन की अपेक्षा उसके वर्ण्य विषय का क्षेत्र कहीं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अधिक विस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण था । धर्म, राजनीति, शिक्षा, कला और संस्कृति आदि कितने ही विषयों पर उसने व्यापक एवं विश्वजनीन दृष्टिकोण से अपनी लेखनी चलाई थी। उससे आसपास के देशों के अनेक साहित्यकारों को प्रेरणा और स्फूर्ति मिली । स्कैंडिनेवियन साहित्य में आधुनिक शैली के यथार्थवादी नाटकों का प्रवर्तक ब्योन्र्सन ही माना जाता है। उसकी कृतियों में 'ट्रिलोजी', 'सिगुर्द स्लोम्बे', 'पाल लाँगे', 'तोरा पार्सबर्ग' और 'ओवेर ईव्ने' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'ओवेर ईव्ने' तो विश्व के नाट्य-साहित्य की एक अमूल्य निधि है । ब्योन्र्सन के गीतों, नाटकों और उपन्यासों को स्कैंडिनेविया में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण योरप और अमेरिका में असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई है। उनका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

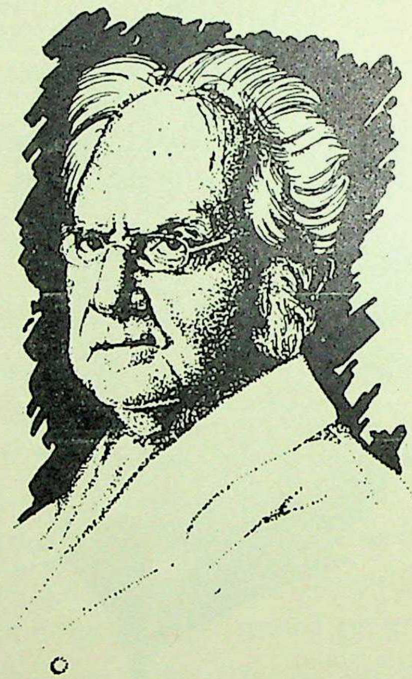

युगप्रवर्तक साहित्यकार ब्योन्र्सन ।

नार्वेजियन साहित्य में यथार्थवादी उपन्यासों की परम्परा १८८० ई० तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। तब नवीन योरपीय साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रभावस्वरूप नार्वे के साहित्य में भी नए मोड़ आए और १८८० ई० के परवर्ती साहित्य में प्रकृतिवादी उपन्यासों की रचना प्रचुर मात्रा में होने लगी। अब यथार्थवादी उपन्यासों और सुकुमार गीतों के प्रति अभिरुचि कम हो गई। इसके बजाय समस्यामूलक उपन्यास और क्रान्ति एवं विद्रोह की भावना से भरे गीतों का अधिक बोलबाला होने लगा। इस नूतन साहित्यिक प्रगति में अनेक तरुण साहित्यकारों ने योगदान दिया। उनकी प्रखर प्रतिभा ने नार्वेजियन साहित्य को उपन्यास के क्षेत्र में संसार के उत्कृष्टतम साहित्यों के बीच प्रतिष्ठित करा दिया।

नवरोमांटिक धारा :: योनास ली और गर्बोर्ग

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में नार्वेजियन साहित्य में नवरोमान्टिक प्रवृत्तियों की तीव्र लहर आई। इस काल में एक ओर प्रसिद्ध यथार्थवादी उपन्यासकार योनास ली ने प्रकृति की सुषमा और स्वर्गीय सम्मोहन की रहस्यमय कहानियाँ लिखना आरंभ किया; दूसरी ओर प्रादेशिक बोलियों के तत्कालीन सब से बड़े साहित्यकार गर्बोर्ग ने अपनी मधुर कविताओं की सृष्टि की और गीतिकाव्य एवं प्रबन्धकाव्य के माध्यम से अपनी दृढ़ धार्मिक भावना और राष्ट्रीय चेतना को वाणी देना शुरू किया। गर्बोर्ग के काव्य में नार्वे की ग्राम-प्रकृति का रँगीला चित्रपट प्रस्फुटित हुआ है। लोकजीवन की सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत करनेवाले इस ग्रामीण काव्य की परम्परा वहाँ अब भी जीवित है।

आधुनिक काल :: क्नुत हाम्सुन, सीग्रिद उन्डसेत आदि

इब्सन, ब्योन्र्सन और उनके समकालीन लेखकों के देहावसान के साथ बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक चरण में नार्वेजियन साहित्य का एक महत्वपूर्ण युग समाप्त होता है। नवीन युग के नार्वेजियन साहित्यकारों में विशेष ख्याति प्राप्त करनेवाले 'ग्रोथ ऑफ द सायल' और 'हंगर' जैसी कृतियों के प्रणेता, नोबुल-पुरस्कार-विजेता क्नुत हाम्सुन; जोहन बोयेर; श्रीमती सीग्रिद उन्डसेत, ओलाव दून, जोहान फ़ाल्कबेर्गेत, आर्नूल्फ ओवरलैंड और नार्दहल ग्रिग प्रमुख हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों में असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। इन सब में श्रीमती सीग्रिद उन्डसेत का व्यक्तित्व युगान्तरकारी कहा जा सकता है। 'क्रिस्तिन लाव्रान्सदातेर' पर उनकी 'ट्रिलोजी' इस शताब्दी की सर्वश्रेष्ठ नार्वेजियन कृति मानी जाती है। इस कृति में ऐतिहासिक उपन्यास का बड़ा व्यापक आदर्श प्रस्तुत हुआ है। अनेक परवर्ती ऐतिहासिक उपन्यासों को इससे प्रेरणा मिली है। श्रीमती उन्डसेत ने नार्वे के जन-हृदय में विशिष्ट स्थान बना लिया है। वह 'नार्वे की जननी' के रूप में प्रतिष्ठित हैं। अपनी महान् देन के कारण उन्हें नोबुल-पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

१९२० से १९३० ई० तक का समय नार्वेजियन साहित्य में प्रमुखतः उपन्यासों के सर्जन का काल रहा है। इन दिनों नाटकों की रचना अधिक मात्रा में नहीं हुई। हाँ, विविध वैज्ञानिक विषयों पर निबंध-लेखन का क्रम अवश्य चलता रहा। नात्सी शासनकाल में गीति-काव्य का प्रवाह बड़ी तीव्र गति से तथा बड़े ओजस्वी रूप में गतिशील रहा। इस क्षेत्र में

ग्रार्नूल्फ ग्रोवरलैंड की पौरुषमय कृति 'वी ग्रोर्वालिवर ग्राल्त' (सब के बावजूद हम जीवित हैं) तथा ग्रिग की वीर-रसात्मक एवं मर्मस्पर्शी कविताओं का संग्रह 'फ्रिहितेन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: स्वीडिश साहित्य :

स्वीडन में साहित्य-सर्जन की परम्परा किसी न किसी रूप में आठवीं शताब्दी ई० से ही मिल जाती है। लिरिक वीरकाव्य ग्रौर 'एद्दा' साहित्य के नाम से प्रसिद्ध धार्मिक साहित्य स्वीडिश की प्राचीनतम साहित्यिक निधियाँ कही जा सकती हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ होते ही स्वीडन में ईसाई धर्म का प्रसार हुग्रा और उक्त प्राचीन स्वीडिश साहित्य नष्ट कर दिया गया। ग्राज के दिन उपलब्ध साहित्य का प्राचीनतम ग्रंश न्यायालयों से सम्बन्धित है। लगभग दो शताब्दियों के उपरान्त स्वीडन का अन्य योरपीय देशों से व्यापक सम्बन्ध स्थापित होने लगा। उसका काफी प्रभाव वहाँ की साहित्यिक गतिविधि पर भी पड़ा।

मध्ययुगीन साहित्य-स्रष्टा

मध्ययुगीन स्वीडिश साहित्य का स्वर बहुत-कुछ धार्मिक था, यद्यपि इतर विषयों पर भी उस समय लिखा गया। इस युग की सुप्रसिद्ध साहित्यिक विभूति थी सन्त बर्गिता। सोलहवीं शताब्दी में लूथर के शिष्य ओलॉस पेत्री ने बाइबिल की 'नई पोथी' का उत्कृष्ट स्वीडिश अनुवाद प्रस्तुत किया और ग्रपनी शैली की प्रौढ़ता के कारण 'स्वीडिश गद्य के जनक' के रूप में ख्याति प्राप्त की। सत्रहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण की लहर ने भी स्वीडिश साहित्य में नवीन स्फूर्ति का संचार किया। इसी शताब्दी में स्वीडिश के प्रथम गीतिकार (लीरिक कवि) लार्स विवालियस ने प्रकृति ग्रौर यात्रा से संबंधित ग्रपनी सरस एवं लोकप्रिय कविताग्रों की रचना की। प्राचीन शैली के सुप्रसिद्ध काव्य 'हरक्यूलिज' का स्रष्टा जार्ज स्टियर्नहिएल्म इस युग का प्रतिनिधि स्वीडिश साहित्यकार था। उसके शिष्यों में सैमुएल कोलम्बस (१६४२-१६७९) ग्रौर उर्बान हियार्ने (१६४१-१७२४) ने क्रमशः 'ग्रोदी सतिकी' ग्रौर 'रोजीमुण्डा' (ट्रेजेडी) की रचना करके स्वीडिश साहित्य को समृद्ध किया। इसी बीच 'गुदज वर्क ग्रोख ह्वीला' का लेखक हाक्विन स्पेगेल (१६४५-१७१४) हुग्रा, जो स्वीडिश साहित्य में जार्ज स्टियर्नहिएल्म का वास्तविक उत्तराधिकारी माना जाता है। 'वेनेरीद' नामक शृंगारी कवितासंग्रह के रचयिता स्कोगेकार बार्गबो, ग्रनेक मार्मिक कविताग्रों के लेखक जोहान रूनियस ग्रौर बाइबिल की 'स्तोत्र पुस्तक' के संपादक जेस्पर स्वेदबर्ग इस युग के ग्रन्य महत्वपूर्ण कवि थे। सत्रहवीं शताब्दी में ही स्वीडिश नाटकों के ग्रभिनय का भी सूत्रपात हुग्रा।

स्वीडिश साहित्य का स्वर्णयुग

ग्रठारहवीं शताब्दी को स्वीडिश साहित्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इस बीच ग्रनेक वैज्ञानिक ग्रौर सांस्कृतिक विषयों पर प्रचुर ग्रौर प्रौढ़ साहित्य रचा गया। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री कार्लवान लिने (१७०७-१७७८), इतिहासकार स्वेन लागरब्रिंग (१७०७-१७८७) ग्रौर ग्रॉक्सिजन गैस का ग्रन्वेषक प्रसिद्ध रासायनिक कार्ल विलहेल्म शीले (१७४२-८६) इसी शताब्दी की विभूतियाँ थीं। राजकवि ग्रोलोफ वान बालिन इस युग का विशिष्ट साहित्यकार था, जिसने 'स्वेन्स्का फ्रीहेतेन' (स्वीडिश स्वतन्त्रता) नामक महाकाव्य, 'सागा ग्रोम हास्तेन' तथा ग्रन्य ग्रनेक महत्वपूर्ण रचनाओं द्वारा अपनी ग्रसाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। उसने साप्ताहिक 'ग्रार्गुस' का प्रकाशन करके स्वीडिश जनता में नई जागृति का संचार किया। हेद्विग चारलोती नोदेनफ्लिख्त (१७१८-६३) नामक सुप्रसिद्ध स्वीडिश कवयित्री, उसी का अनुवर्ती काउण्ट गुस्ताफ फ्रेड्रिक गिलेन बोर्ग (१७३१-१८०८) ग्रौर काउण्ट गुस्ताफ फिलिप (१७३१-८५), केलग्रेन, वालेनबर्ग और बेलमान इस काल की कुछ बड़ी ही महत्वपूर्ण प्रतिभाएँ थीं। वालेनबर्ग ग्रौर बेलमान स्वीडिश के प्रथम हास्यलेखक के रूप में विशेष प्रसिद्ध हुए। 'स्कोर्दाना' का रचयिता जोहान गाब्रिएल ओक्सेन्स्तिएर्ना (१७५०-१८१८), ग्रनेक रंगमंचोपयोगी नाटक का स्रष्टा गुदमुन्ड-जोरन आदलरबेथ (१७५१-१८१८), 'तूफान और ग्राग्रह' ग्रान्दोलन का कवि बेंग्त लिदनर (१७५७-१७९३), 'ग्रान्सकारेन' नामक तत्कालीन पत्रिका का प्रकाशक ग्रौर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसिद्ध गद्यलेखक तोमास थोरिल्द (१७५९-१८०८), अनेक दार्शनिक कविताओं, नाटकों और व्यंग्यों का लेखक गुस्ताफ आॅफ लियोपोल्ड (१७५९-१८२९), यथार्थवादी कविताओं की कुशल लेखिका आना मारिया लेनग्रेन (१७५५-१८१७) तथा शैशव का चित्रण करनेवाला प्रथम स्वीडिश कवि फ्रांज माइकेल फ्रान्जेन (१७७२-१८४७) आदि भी इसी युग की उपज थे। लिदनर के 'मेदिया' नामक ओपेरा में इस काल का सर्वोत्कृष्ट कविता-संग्रह उपलब्ध है।

उपन्यासों और नाटकों का युग

हेनरिक मोर्क (१७१४-६३) स्वीडिश भाषा का सर्वप्रथम उपन्यासकार माना जाता है। इसी तरह लोरेन्जो हेमरशोल्ड (१७८५-१८२७) को स्वीडिश साहित्य के प्रथम इतिहास-लेखक का पद प्राप्त है। रोमांटिक प्रवृत्तियों के लेखक जोहान ओलोफ वालिन, शेलिंग से प्रभाव ग्रहण करनेवाला अत्तरबोम, तेग्नेर, स्ताग्नेलियस, गेइजेर, एरिक स्टोबर्ग (वितालिस) इस काल के कुछ उत्कृष्ट साहित्यकार कहे जा सकते हैं। इनमें 'आनन्द का द्वीप' और 'नीला पक्षी' नामक पौराणिक नाटकों के लेखक अत्तरबोम, अपने एक वीरकाव्य पर स्वीडिश एकेडेमी द्वारा पुरस्कृत होनेवाले गेइजेर तथा तेग्नेर को विशेष ख्याति प्राप्त हुई।

तेग्नेर सच्चे अर्थों में इस काल का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार था। 'सेना का युद्धगीत', 'देत एविगा', 'स्वेआ' और 'फ्रितिओफ्स सागा' उसकी विशेष प्रसिद्ध कृतियाँ हैं, जिनके बल पर उसे स्वीडन का राष्ट्रीय कवि कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। अत्तरबोम का ही समकालीन आल्मकिस्त स्वीडिश साहित्य में यथार्थवादी धारा का प्रवर्तक माना जाता है। वह अपने युग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार तथा उत्कृष्ट नाटककार था। आल्मकिस्त के पूर्ववर्ती स्वीडिश नाटककारों में ओगुस्त ब्लांश और फ्रान्ज हेडबर्ग के नाम उल्लेखनीय हैं। उसके परवर्ती उपन्यासकारों में फ्रेडिक ब्रेमेर विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इसी बीच योरप के उत्तराखंडीय क्षेत्र में स्कैंडिनेवियन एकता का स्वर प्रबल हुआ। इसके प्रसार में योग देनेवाले कवियों में आस्कर पात्रिक स्टूर्जेन्बेकेर (ओर्वारआद), कार्ल विलहेल्म आगुस्त स्त्रान्दबर्ग (तालिस क्वालिस), गुन्नार वेनेरबर्ग और जोहन लुड्विग रुनेबर्ग का उल्लेख किया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण के महान् साहित्यकारों में विक्तर रिदबर्ग और कार्ल स्नोइल्स्की के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। रिदबर्ग के काव्य में रोमाण्टिक आदर्शवादिता और रहस्यभावना का पर्याप्त पुट है। स्नोइल्स्की की कृति 'स्वेन्स्का बिल्डर' कई शताब्दियों के स्वीडन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है।

स्ट्रिन्डबर्ग और हाइडेन्स्टाम

स्वीडिश साहित्य के यथार्थवादी एवं प्रकृतिवादी युग का सब से प्रभावशाली एवं प्रतिनिधि साहित्यकार स्ट्रिन्डबर्ग था, जिसकी कृतियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के स्वीडिश वाङ्मय की सब से उत्कृष्ट एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती हैं। 'मास्टर ओलोफ', 'रोदा रुम्मेत', 'गिफताज', 'हेम्सो बोर्ना', 'फ्रोकेन जुली', 'स्वर्ता फानोर' और 'स्तोरा लान्दस्वागेन' उसकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। 'हेम्सो बोर्ना' उसका श्रेष्ठतम उपन्यास और 'फ्रोकेन जुली' उसका सब से लोकप्रिय नाटक माना जाता है। चारलोती एडग्रेन (१८४९-१८९२) और विक्टोरिया बेनेडिक्सन (१८५०-१८८८) इस काल की नारी-साहित्यकारों में विशिष्ट स्थान रखती हैं। पहली ने कहानियों और नाटकों द्वारा तथा दूसरी ने कहानियों और उपन्यासों द्वारा अपनी सर्जन-प्रतिभा का परिचय दिया। इस वर्ग के अन्य साहित्यकारों में समर्थ गीतिकार ओला हान्सन (१८६०-१९२५), कवि अल्बर्ट उलरिक बाथ (१८५३-१९१२) तथा यथार्थवादी नाटकों और उपन्यासों के स्रष्टा गुस्ताफ आफ गेइजरस्ताम (१८५८-१९०९) के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसी बीच तोर हेडबर्ग, आस्कर लेवर्तीन, हाइडेन्स्टाम, सेल्मा लागेरलॉफ, गुस्ताफ फ्रोदिंग, एरिक कार्लफेल्ट और हाल्स्ट्राम जैसे अनेक महान् साहित्यकारों की रचनाओं ने स्वीडिश साहित्य को समृद्ध किया। इनमें वर्नेर वान हाइडेन्स्टाम को सच्चे अर्थों में अपने युग के स्वीडिश साहित्य का अग्रणी कलाकार कहा जा सकता है। अपने प्रथम कविता-संग्रह 'वालफार्त ओख वान्द्रिंग्सार' के प्रकाशित होते ही उसने स्वीडिश साहित्य-क्षेत्र का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित कर लिया था। 'रेनेसाँ' (निबंध), 'हान्सआलिएन्स' (आत्मकथा), 'न्यादिक्तेर' (नई कविताएँ), तथा स्फुट कविताएँ और 'कारोलिनेर्ना', 'पिल्ग्रिम्स्फार्द', 'फोल्कुंग्स्त्रादेत' तथा 'हेलिगा ब्रिगितास' जैसी गद्य-कृतियों द्वारा अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय देकर उसने नोबुल-पुरस्कार प्राप्त किया।

हाइडेन्स्टाम के समकालीन आस्कर लेवर्तीन ने 'लिजेन्डर-ओसविजोर' और 'न्यादिक्तर' जैसी कृतियों द्वारा अपने युग के रोमाण्टिक आन्दोलन में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। उधर सेल्मा लागेरलॉफ ने 'गोस्ता बर्लिंग्ससागा' जैसा अत्यन्त

साहित्य

लोकप्रिय उपन्यास प्रस्तुत किया, जो संसार की अनेक भाषाओं में अनुवादित हो चुका है। 'चमत्कार', 'ईसा-शिशु', 'खजाना' और 'जेरूसलेम' लागेरलॉफ की अन्य कृतियाँ हैं। उसे भी नोबुल-पुरस्कार प्राप्त हुआ। गुस्ताफ फ्रोदिंग की 'गितार ओख दागरमोनिका' (कविता-संग्रह), 'न्या दिक्तर' (हास्य-प्रधान कविताओं का संग्रह) और 'स्ताक ओख फ्लिकर' (शोकप्रधान कविताओं का संग्रह); कार्लफेल्ड के कविता-संग्रह 'फ्रिदोलिन्स विजोर' और 'फ्रिदोलिन्स लुस्तगार्द', तथा हाल्स्ट्राम की 'विल्स्ना फाग्लर' और 'एन गायल हिस्टोरिया' नामक करुण रचनाएँ भी इस युग के स्वीडिश वाङ्मय की अपने ढंग की अनूठी कृतियाँ कही जा सकती हैं।

बीसवीं सदी

बीसवीं शताब्दी के स्वीडिश साहित्य में अनेक नई प्रवृत्तियों का विकास हुआ, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी की साहित्यिक परम्पराएँ भी अंशतः चलती रहीं। स्वीडिश साहित्य में लोकसांस्कृतिक दृष्टिकोण का बीज उन्नीसवीं शताब्दी में ही पड़ चुका था। वह परवर्ती साहित्य में भी संतोषजनक गति के साथ विकसित होता रहा। कार्ल एरिक फोर्स्लुंड इस दृष्टिकोण के प्रबल उन्नायकों में गिना जाता है। उसका उपन्यास 'स्टोरगार्डन' बड़ा लोकप्रिय सिद्ध हुआ। इस उपन्यास पर रूसो के सिद्धान्तों की छाप विद्यमान है। इस धारा में कार्ल गुस्ताव ओसियननिल्सन अपनी सामाजिक संवेदना जगानेवाली कविताओं के लिए तथा राजनीतिक अभिरुचि का कवि तूरे नरमान शृंगारी कविताओं के लिए विख्यात है। निराशावादी कवियों और कथाकारों में ह्यालमार सोदरबर्ग और बर्गमान का नाम लिया जा सकता है। यथार्थवादी सामाजिक दृष्टिकोण को अपनानेवाले विलहेल्म एकेलुंड और आंडर्स ओस्टर्लिंग आदि ने साहित्य में अपने देश की स्थानीय सुषमा की अभिव्यक्ति की। इस काल में व्यक्तिवाद का प्रतिनिधि साहित्यकार हुआ स्वेन लिदमान, जो धार्मिक साहित्य की रचना में प्रवृत्त हुआ। उधर अलबर्ट एंगस्त्रोम ने अपनी कहानियों में कृषकों और मछुओं के जीवन के विविध चित्र अंकित किए। एंगस्त्रोम की भाँति ओलोफ होगबर्ग, पेले मोलिन, लुडविग नोर्दस्त्रोम और ह्यालमार बर्गमान ने भी अपनी कृतियों में सामाजिक तत्त्वों के चित्रण को प्रधानता दी। बर्गमान ने उपन्यासों के अतिरिक्त उत्कृष्ट कोटि के कई नाटक भी लिखे। इसी पीढ़ी के अन्य एक समर्थ लेखक सीगफ्रिड सीवेर्त्स ने समसामयिक जीवन का सुंदर चित्रण करते हुए 'एल्डेन्स आक्सॅकेन' और 'सेलाम्बस' जैसे उत्कृष्ट उपन्यास रचे। महिला साहित्यकारों में एलिन वागनर ने 'वेस्काप्तेर' और 'आसा हन्न',

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मारिका स्टीअर्नस्टेड ने 'उल्लाबेल्ला', अनालेना एल्गस्त्रोम ने 'कंगाल' एवं 'माताएँ' तथा गर्ट्रूड लिल्जा ने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों द्वारा स्वीडिश साहित्य की वृद्धि में योग दिया। इनमें से अधिकांश की कृतियों में नारी-जीवन की तथा निम्नतरवर्गीय समाज की समस्याओं की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है।

निम्नवर्गीय समाज के चित्रण में 'आर्बेतारे' और 'प्रभु की सुंदर सृष्टि' जैसी अनूठी कृतियों के स्रष्टा मार्टिन कोच का स्थान सर्वोपरि है। इधर फाबियन मान्सन, गुस्ताव हेदनविन्द एरिक्सन और अलबर्ट विक्स्टेन की रचनाएँ भी निम्नवर्गीय जीवन का जीवन्त चित्र खींचने में सफल हुई हैं। अन्य साहित्यों की भाँति स्वीडिश साहित्य पर भी प्रथम महायुद्ध का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस काल के प्रमुख चिन्तक हान्स लारसन ने अपने उपन्यासों के अन्तर्गत तत्कालीन सामाजिक प्रश्नों के समाधान प्रस्तुत किए। परन्तु सच्चे अर्थों में समस्यामूलक कृतियों का सर्जन मजदूरवर्ग के साहित्यकारों द्वारा हुआ। इनमें 'फ्रिदाज बोक' के रचयिता बिरगेर सिओबर्ग और कवि तथा उपन्यासकार डान ऐन्डरसन का अपना विशिष्ट स्थान है।

प्रथम महायुद्ध के बाद की पीढ़ी के साहित्यकारों में बर्गमान की परम्परा के कवि एरिक लिन्डोर्म की कविताओं में बड़ा माधुर्य और गहरी मर्मस्पर्शिता है। उसी के समसामयिक कार्ल आप्सलुण्ड और मास्कोल सिलफरस्तोल्पे ने अपनी कृतियों में दैनिक जीवन की समस्याओं का चित्र खींचा है। इस काल के अन्य लेखकों में रागनर यान्देल, बेरित स्पोंग, गैब्रियल जानसन, आइनर माल्म, स्तेन सेलान्दर, पार लागरक्विस्त, बर्तिल मालमबर्ग, कारिनबोये, एग्निस वान क्रूसेन्स्त्येर्ना, आइविन्द जान्सन, रूडल्फ वार्नलुण्ड, जोजेफ कयेलग्रेन, विलहेल्म मोबर्ग, इवार लो-जोहान्सन, मोआ मार्तिन्सन और जान फ्रिडगार्ड जैसे अद्भुत प्रतिभा के साहित्यकारों के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने वर्तमान स्वीडिश साहित्य की अभिवृद्धि में महत्व का योग दिया है। प्रथम महायुद्ध के बाद के इन लेखकों में सर्वहारा वर्ग के चित्रण को प्राधान्य मिला है। मोबर्ग का 'रास्केन्स' और 'रिद ईनात' तथा इवार लो-जोहान्सन का 'गोड नाटयोर्द' इस युग की उत्कृष्टतम कृतियों में रखे जा सकते हैं। स्वीडिश साहित्य की आधुनिकतम विभूतियों में हैरी मार्तिन्सन, गुस्ताव सेन्डग्रेन, आर्थर लुण्डक्विस्त, निल्स फर्लिन, ह्यालमार गुलबर्ग, जोहान्स एडफेल्ट, कार्ल रागनर गियेरो, ओले हेडबर्ग, हेराल्ड बेइजर, हैरी ब्लोमबर्ग और स्वेन स्तोल्पे के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य वाङ्मय—(५)
रूसी साहित्य

पुश्किन, तुर्ग्येन्येव, ताल्स्ताय, दास्ताएव्स्की, च्येखव और गोर्की जैसे समर्थ कलाकारों की कृतियों से अलंकृत रूसी साहित्य का योरपीय वाङ्मय में अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व है। इस साहित्य के परिचय के साथ ही पाश्चात्य वाङ्मय की प्रमुख धाराओं विषयक इस लेखमाला को हम समाप्त कर रहे हैं।

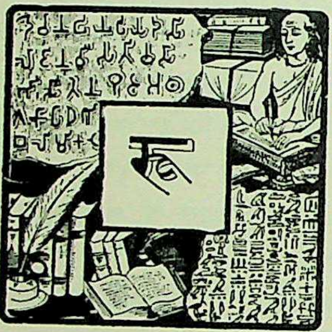

सी साहित्य के इतिहास को अध्ययन के लिए दो विभागों में बाँटा जा सकता है: १. प्राचीन काल; २. वर्तमान काल। पीटर महान के समय तक का साहित्य प्राचीन युग के अंतर्गत आता है और अठारहवीं शती से आगे का साहित्य वर्तमान काल के अंतर्गत। सुविधा के लिए प्राचीन काल के साहित्य को पुनः तीन खंडों में बाँटा जा सकता है—(क) कीव-युग; (ख) सामन्ती युग और (ग) मास्को-युग।

प्राचीन काल :: (क) कीव-युग

दसवीं शताब्दी ई० के अंत में कीव या कीवस्काया रूस का बहुत बड़ा राजनीतिक-सांस्कृतिक केन्द्र बन गया था। कीव के राजकुमार ने स्लाव फिरकों को संगठित करके एक समर्थ राज्य स्थापित किया था। इतिहास में स्लावों की सांस्कृतिक परंपरा तथा उनके धर्म एवं युद्ध में वीरता की चर्चा मिलती है। इनकी नागरिक संस्कृति उच्च स्तर की थी। नगरों में पक्की सड़कें थीं, पुल थे और वहाँ व्यापारी एवं शिल्पी लोग रहते थे। अकेले कीव में चार सौ चर्च और आठ बाजार थे। वहाँ क्रेमलिन (पत्थर का किला) और कैथेड्रल (सुसज्जित गिरजाघर) थे। उस समय कीव के अतिरिक्त नोवोगोरद आदि नगरों ने भी पर्याप्त उन्नति की थी। पर इन नगरों की जनता अपने काम के लिए किस भाषा अथवा लिपि का प्रयोग करती थी, यह अभी निश्चित नहीं हो पाया है। कुछ ऐतिहासिक लेख मिले हैं, जिनमें स्लाव वर्णमाला का (जिससे आगे चलकर रूसी वर्णमाला निकली) प्रयोग होता था। इस वर्णमाला के अविष्कार का श्रेय सेलोनिका के किरिल तथा मेथोडियस नामक दो भाइयों को है। उन्होंने इस लिपि का निर्माण ग्रीक लिपि के आधार पर किया था।

९८८ ई० में राजनीतिक कारणों से कीव के राजकुमार व्लदीमिर ने ईसाइयत स्वीकार कर ली। फलतः रूस योरप के अन्य राष्ट्रों के निकट संपर्क में आया। ईसाइयत के प्रचार से केवल धार्मिक रचनाओं को ही प्रेरणा नहीं मिली वरन् साहित्य और जन-शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिला। फलतः साहित्य, भाषा, दर्शन, गणित एवं धर्मशास्त्र का पठन-पाठन बढ़ चला। इस युग में पुरुषों के साथ अभिजातवर्ग की अनेक स्त्रियाँ भी अपनी विद्वत्ता के लिए विख्यात हुईं। जो लोग इस नई शिक्षा से वंचित रहे, वे अपने ढंग पर प्रबन्ध-काव्य एवं गीतिकथाओं का मौखिक साहित्य रचते रहे। इससे सामान्य भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति विकसित हुई और लिखित साहित्य भी प्रभावित हुआ। इस काल में ग्रीक से अनेक ग्रन्थों के अनुवाद हुए। इस प्रकार एक नया युग प्रारंभ हुआ।

इसके बाद रूसी भाषा में मौलिक रचनाएँ रची जाने लगीं, जिनमें स्थानीय (रूसी) विषय चुने गए थे। इस काल में अनेक ऐतिह्य (क्रॉनिकल्स) लिखे गए। उनमें न्येस्तर का ऐतिह्य सर्वप्रसिद्ध है। इस समय की सर्वोत्तम पुस्तक 'ईगर की सेना की कहानी' है, जिसकी रचना ११८६-८७ ई० के

लगभग किसी अज्ञात कवि ने की थी। कीव के बहुत-से लेखक साहित्यिक शैली के आचार्य थे। इन लोगों की अधिकांश रचनाएँ भावपूर्ण हैं--उनमें जातीय भावना और देशभक्ति का गहरा पुट पाया जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाषा के विषय में अभी स्थिरता नहीं आ पाई थी। आरंभ से ही एक विशेष प्रकार की भाषा का साहित्य में प्रयोग हुआ था, जो स्लाव भाषा से मिलती-जुलती थी। कीव का लिखित साहित्य इसी भाषा में था। इस भाषा में बलगेरिया तथा सर्बिया में भी साहित्य-सर्जन हो चुका था। यह रूसियों की जीवित बोलचाल की भाषा नहीं थी। परन्तु कालान्तर में रूसी भाषा के विकास के लक्षण भी दिखाई पड़ने लगे। इस काल के व्लदीमिर मनोमाख ने अनेक बड़े युद्धों में शामिल होकर भी परिमार्जित एवं कलापूर्ण शैली में बड़ी अच्छी साहित्यिक रचनाएँ रचीं।

(ख) सामन्ती युग

तेरहवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में तातारों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप कीव लिथुआनियों के अधिकार में आ गया। फलतः रूस का सांस्कृतिक केन्द्र वहाँ से उठकर उत्तर-पूर्व में चला गया। इस प्रकार मास्को का भाग्योदय हुआ, जो देश का राजनीतिक केन्द्र बन गया। परन्तु इस काल में देश कठोर संघर्ष में लीन रहा। फलतः साहित्य के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई। इस युग की केवल कुछ रचनाएँ ही मिलती हैं, जिनमें अलेक्जेंडर न्येवस्की की जीवनी (१३ वीं शती), सेरापियन के उपदेश (१३ वीं शती), अथानेसियस निकीतिन का यात्रा-विवरण (१४ वीं शती) तथा अन्य कुछ ऐतिहासिक वर्णन उल्लेखनीय हैं। इनमें 'डान के पार का युद्ध' मुख्य है। इसमें कुलिकोव की लड़ाई में तातारों पर प्राप्त की गई प्रथम विजय का गान है, साथ ही मास्को के राजकुमार दिमित्री ईवानोविच दान्स्कॉय के यश का वर्णन है।

(ग) मास्को-युग

१५ वीं शती में समस्त रूस एक राष्ट्र के रूप में संगठित हुआ। इसका श्रेय मास्को के महान् राजकुमार ईवान तृतीय को था। यहीं से देश में केन्द्रित निरंकुश शासन का श्रीगणेश हुआ। ईवान चतुर्थ (भयानक ईवान) के समय (१६ वीं शती) में साम्राज्य की सीमाओं का बहुत अधिक विस्तार हुआ, जिसके फलस्वरूप रूस एक प्रबल राष्ट्र बना और बाह्य जगत् से उसके राजनीतिक एवं व्यापारिक संबंध स्थापित हुए। इस परिवर्तन के फलस्वरूप साहित्य में भी नए युग का सूत्रपात हुआ। सोलहवीं शती में रूस में मुद्रण-कला का आरंभ हुआ और मास्को में सब से पहली रूसी पुस्तक छपी। तदनन्तर हस्तलिखित पुस्तकें एकत्रित की गई और २७ हजार पृष्ठों का एक विश्वकोश तैयार किया गया, जिसमें धार्मिक साहित्य को विशेष स्थान मिला। पुराने ढंग के युद्ध-वर्णनात्मक ग्रन्थों के स्थान पर अब राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर ग्रंथ रचे जाने लगे। दूसरी ओर मनोरंजन तथा नैतिक उपदेशवाली कहानियों के रूप में कलात्मक साहित्य की भी परिपाटी चल पड़ी। इस प्रकार की कथाओं में 'पीटर' और 'फेवरोन्या' की कहानियाँ बड़ी रोचक हैं, जिनका नायक एक राजकुमार है और नायिका एक किसान बाला है। १७ वीं शती में मास्को तथा अन्य नगरों में स्कूल खुले तथा एक अकादमी भी प्रस्थापित हुई। अब धनाढ्य लोगों का ध्यान पुस्तकों की ओर विशेष रूप से खिंचने लगा। वे निजी पुस्तकालय भी बनाने लगे। जनता की रुचि युद्ध अथवा धर्म के बखेड़ों से हटकर रोजमर्रे के जीवन के परिचित विषयों एवं मनोविज्ञान की ओर बढ़ने लगी। इस प्रकार भाषा और शैली बोलचाल के अधिक निकट आ गई। इसी काल में साहित्य में व्यंग्य की एक नई शैली उपजी। इस व्यंग्य के शिकार अमीर, मठाधीश और पादरी लोग बनते थे। 'यर्शा यशोंविच की कहानी' तथा 'शेम्याकिन की कचहरी की कहानी' इस तरह की प्रसिद्ध व्यंग्य-कहानियाँ हैं, जिनमें क्रमशः स्वामी और बेईमान न्यायाधीशों के विरुद्ध गरीबों के संघर्ष एवं अमीर व्यक्तियों की बेईमानी और रिश्वत पर व्यंग्य कसे गए हैं।

सत्रहवीं शती से पहले रूसी भाषा में नाटक नहीं थे। केवल अनूदित नाटकों का ही अभिनय होता था। इसी समय पहले-पहल पद्यात्मक नाटक सामने आया और जार के परिवार तथा दरबार के मनोरंजन के लिए रंगमंच की स्थापना की गई। सीमियन पोलोत्स्की इस युग का अत्यन्त प्रतिभाशाली नाटक-लेखक तथा सब से बड़ा कवि था। उसका सुप्रसिद्ध नाटक 'फिजूलखर्च पुत्र' है।

वर्तमान काल :: पुश्किन से पहले

अठारहवीं शती के आरंभ में पीटर महान् के राज्यारोहण के साथ ही रूस के इतिहास में महान् पटपरिवर्तन हुआ, जिसके फलस्वरूप यह देश पश्चिमी देशों के बीच गौरव की पंक्ति में प्रतिष्ठित हुआ। इससे न केवल राष्ट्र की शक्ति ही बढ़ी, बल्कि आधुनिक विज्ञान, आविष्कार और विचार भी वहाँ फैलने लगे। साहित्यिक क्षेत्र में, विशेषकर भाषा के क्षेत्र में, अब नवीनता के दर्शन हुए। पुरातन स्लावोनिक भाषा के स्थान पर अब

बोलचाल की भाषा को प्रश्रय दिया जाने लगा और वर्णमाला में भी सरलता लाई गई। इस समय का प्रथम प्रमुख लेखक था कन्तेमीर (१७०८-१७४४), जो अपने व्यंग्यात्मक पद्यों के लिए प्रख्यात है। उसी से आधुनिक रूसी साहित्य का आरंभ माना जाता है। इसी समय का एक दूसरा महान् लेखक था मिखेल वसील्येविच लमोन्सोफ, जो अपनी विद्वत्ता एवं गम्भीरता के लिए प्रसिद्ध हैं। उसे 'रूसी साहित्य का पिता' कहा जाता है। वह उच्च कोटि का प्रकृति-वैज्ञानिक एवं शिल्पशास्त्री था। उसकी साहित्य-सेवाएँ महान् हैं, जिनमें रूसी भाषा एवं व्याकरण पर उत्तम पुस्तकों का निर्माण-कार्य सम्मिलित है। उसकी 'ओड्स' क्लासिकल कोटि की हैं।

इस काल के लेखकों में दजीविन (१७४३-१८१६) की भी बड़ी ख्याति है। वह पुश्किन से पूर्व का रूस का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। उसके मुक्तक गीतों का विषय तत्कालीन राजनीतिक, नैतिक और सांस्कृतिक समस्याएँ हैं। इस शती का प्रमुख नाटककार फानवीजिन (१७४५-१७९२) था। उसके सुखांत नाटक 'नाबालिग' का यथार्थवादी नाटकों की श्रेणी में विशिष्ट स्थान माना गया है। इस नाटक में मालिकों की क्रूरता और दासों की कारुणिक दशा का प्रभावशाली ढंग से चित्रण हुआ है। मैक्सिम गोर्की ने फानवीजिन को रूसी साहित्य में 'यथार्थवाद का संस्थापक' कहा है। इसी का समकालीन रदीश्चेव पहलेपहल इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि निरंकुशता के विरुद्ध संघर्ष आवश्यक है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक "पीटर्सबर्ग से मास्को की यात्रा" में दास-प्रथा की क्रूरताओं का वर्णन किया गया है और सुधार की योजनाओं के प्रति भी ध्यान आकर्षित किया गया है।

अठारहवीं शती के मध्य से रूसी साहित्य की धूम विदेशों में भी होने लगी। कन्तेमीर के व्यंग्य और करुण नाटक अनूदित होकर फ्रांस और इंगलैण्ड में प्रकाशित हुए। इन्हीं दिनों रूसी कविताओं का एक फ्रेंच संग्रह भी छपा, जिसमें प्रसिद्ध रूसी कवियों की चुनी हुई कृतियाँ संकलित थीं।

उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में रूस की सामाजिक अवस्था में काफी परिवर्तन आया। १८०१ ई० में जार अलेक्जेंडर रूस के सिंहासन पर बैठा और राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों की जागृति के साथ देश के साहित्यिक जीवन में भी नवजागरण का स्वर निनादित हुआ। इस काल के करमजीन और शिशकोफ नामक दो लेखक संकीर्ण मनोवृत्ति के कट्टरपंथी वर्ग के नेता थे। उनके विरुद्ध साहित्यिकों का एक और दल उठ खड़ा हुआ। स्वतन्त्र प्रगतिशील लेखकों का यह नवीन वर्ग दास-प्रथा के विरुद्ध था। पुश्किन, तुर्ग्येन्येव, ब्लूदोफ तथा दशकोफ आदि नए लेखक इसी स्वच्छन्द धारा की समान थे। 'वेस्तनिक' और 'अजमिस' नामक पत्रिकाओं के बंद हो जाने से रूसी साहित्य का कट्टर करमजीन-युग समाप्त हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रूसी साहित्य में कवि क्रिलोफ (१७६८-१८४४) का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्रिलोफ एक महान् नाटककार तथा व्यंग्यलेखक था। पुश्किन ने उसे 'जनता का कवि' कहा है। उसके विषय में ब्येलिन्सकी ने लिखा है कि उसकी कृतियों में व्यावहारिक रूसी मस्तिष्क अपने 'आलोक, चातुर्य, व्यंग्य-पूर्ण हास्य और रहस्यमयी अभिव्यक्ति की क्षमता के साथ दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित है।' क्रिलोफ की कृतियों में रूसी भाषा पहले-पहल अपने ठेठ रूप में सामने आती है, जिसका अन्य भाषाओं के मुहावरों एवं प्रतीकों में अनुवाद करना प्रायः असंभव है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि क्रिलोफ के बिना शायद पुश्किन भी अपूर्ण ही रहता। अपने जीवनकाल में ही क्रिलोफ की ख्याति सर्वत्र फैल गई थी।

उन्नीसवीं शती के दूसरे दशक के अन्त में रूसी साहित्य में नई प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। इसका नेता जुकोव्स्की था। यह नई प्रवृत्ति 'रोमांटिसिज्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई। भावुकतावाद के समान रोमांटिसिज्म भी शास्त्रवाद (क्लासिसिज्म) के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी। जुकोव्स्की (१७८३-१८५२ ई०) मुक्तक गीतों का प्रथम रूसी कवि माना जाता है। उसके गीतों में प्रेमगीतों का प्राधान्य है, जो व्यक्तिगत भावनाओं से अभिभूत हैं। जुकोव्स्की के लिए जीवन और काव्य जुदा वस्तुएँ नहीं हैं। नेपोलियन द्वारा रूस के आक्रमण के समय (१८०५ ई०) इस कवि के देशभक्ति के गीत अत्यन्त लोकप्रिय हुए और उनका बड़ा प्रचार हुआ। जीवन के अंतिम वर्षों में जुकोव्स्की ने नल-दमयन्ती, रुस्तम-सोहराब और ओडेसी आदि की कथाओं का रूसी में सफल अनुवाद किया। जुकोव्स्की एक उच्च कोटि का कलाकार था। उसने अनेक प्रकार के छन्द, लय व तुक आदि का नवीन ढंग से प्रयोग किया। इस दिशा में वह पुश्किन तथा पश्चात् के मुक्तक गीतकारों के लिए अग्रदूत के समान था। उसने स्वच्छंद छंद का भी प्रयोग किया। उसके बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि 'जुकोव्स्की के बिना हमें पुश्किन कदापि न मिलता।'

अलेक्जेंडर सर्जेविच पुश्किन

रूसी साहित्य में पुश्किन का वही स्थान है, जो संस्कृत में कालिदास का है। पुश्किन रूस का सब से बड़ा राष्ट्रकवि माना गया है। उसके साथ रूसी साहित्य के नए युग का आरंभ होता

हैं। पुश्किन ने पूर्व-प्रचलित सभी काव्य-शैलियों का सार ग्रहण करके अपना साहित्य रचा था। आलोचक व्येलिन्सकी का कहना है कि उसकी कविता ने मानो एक महान् सरिता की भाँति पूर्वागत साहित्यिक धाराओं को आत्मसात् करके उन्हें पुष्ट किया और एक नए वेष में लाकर रूसी साहित्य की आंतरिक क्षमता की दिशा निर्दिष्ट कर दी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुश्किन (१७९९-१८३७) महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उसने जिस साहित्य को जन्म दिया, वह मौलिक होने के साथ-साथ पूर्णतया जनता का साहित्य था। उसके साहित्य की भावना और आधार विशुद्ध रूसी थे। गोगोल के शब्दों में पुश्किन की कृतियों में 'रूसी प्रकृति, रूसी आत्मा, रूसी भाषा और रूसी चरित्र आद्यन्त प्रतिबिंबित हैं।'

पुश्किन की रचनाओं में रूसी सामाजिक जीवन अपने सब से प्रखर रूप में प्रतिभासित हुआ है। इस कवि की कृतियों द्वारा ही रूसी साहित्य में यथार्थवाद की प्रवृत्ति दृढ़ हुई। उसकी कृतियों के सभी अंग--महाकाव्य, मुक्तक गीत और नाटक --यथार्थवाद के सुन्दर उदाहरण हैं। पुश्किन ने रूसी साहित्य को विचार की भूमिका पर ला खड़ा कर दिया। उसकी प्रतिभा से सम्पन्न होकर ही इस साहित्य ने उन्नीसवीं-बीसवीं शती में गोगोल, तुर्ग्येन्येव, ताल्स्ताय, च्येखव और गोर्की जैसे महान् कलाकारों को जन्म दिया। इन जाज्वल्यमान रत्नों के बीच पुश्किन अपनी अनेकरूपता, सौंदर्य और शक्ति के कारण आज भी जनता के कंठहार का सब से प्रिय नगीना बना हुआ है।

महाकवि पुश्किन।

पुश्किन की रचनाओं में 'यवगेन्या अन्येगिन' एक महान् कृति है। यह एक उपन्यास है, जो पद्यात्मक शैली में लिखा गया है। लेखक आरम्भ में वाह्यार्थ में उलझा दिखाई देता है, पर शीघ्र ही अन्तर्मुखी हो जाता है। उसने पात्रों का ऐसा अपूर्व चित्रण किया है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति जैसे हो गए हैं। उपन्यास का नाम नायक के नाम पर ही रखा गया है, जो अपने को बुद्धिमान समझनेवाले मूर्खों का सरदार है। पुश्किन ने गीतों, पद्य-वार्त्ताओं आदि के साथ-साथ कतिपय लघु नाटक भी लिखे, जिनमें 'बोरिस गुडुनोफ' सब से महत्वपूर्ण है। 'पिस्तोल की गोली' और 'हुकुम की रानी' उसकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

पुश्किन के बाद :: लेरमोन्तोव, गोगोल आदि

पुश्किन की मृत्यु के बाद रूसी साहित्य के क्षेत्र में लेरमोन्तोव का व्यक्तित्व उभरा। वही पुश्किन का उत्तराधिकारी कहलाया। उसके मुक्तक गीत बड़े भावात्मक एवं प्रतिभाशाली थे। उसने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें 'अनभ्यस्त', 'ईस्माइल बेग', 'दैत्य' तथा 'हमारे समय का नायक' आदि मुख्य हैं।

पुश्किन के बाद के युग को आलोकित करनेवाले साहित्यकारों में दूसरा महान् व्यक्तित्व गोगोल का है। 'तारास बल्बा' इस लेखक की एक परिपक्व कृति है। इस कहानी में प्रेम की करुणा और देश के लिए युद्ध की भावना भरी पड़ी है। अन्य एक कृति 'मीर गोरद का अजीब नगर' में वर्तमान की झाँकी प्रस्तुत की गई है। इस कहानी में वीर पूर्वजों के आधुनिक वंशजों का वर्णन है। उधर 'ओवरकोट' कहानी में गोगोल ने एक साधारण क्लर्क का चित्र प्रस्तुत किया है। इसका नायक जीवन भर उपेक्षा का पात्र रहा है और कार्यालय के दूसरे लोगों के व्यंग्य के बाण सहता रहा है, पर अंत में उसमें ओवरकोट के प्रति उमंग के रूप में आनन्दांकुर फूटते हैं और जीवन के प्रति अनुराग उभरता है। गोगोल की 'गवर्नमेन्ट इंस्पेक्टर' तथा 'मृत आत्माएँ' दो ऐसी कृतियाँ हैं, जिनका रूस में बड़ा मान है। इनमें पहली पुस्तक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण एक सामाजिक नाटक है। 'मृत आत्माएँ' मानवतावाद की भावना से अभिभूत गोगोल की विश्वविख्यात कृति है।

१८६० ई० के बाद रूस के सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय शुरू होता है। इस युग में ताल्स्ताय, तुर्ग्येन्येव, नेक्रासोव, साल्तिकोफ श्चेद्रिन आदि प्रतिभाशाली लेखकों की प्रौढ़ कृतियों से हमारा साक्षात्कार होता है। अब 'यथार्थवाद और जीवन' कला का मानदण्ड बन जाता है।

तुर्ग्येन्येव

इवान तुर्ग्येन्येव (१८१८-१८८३) उन्नीसवीं शताब्दी का महान् लेखक था। उसके हृदय में दास-प्रथा के प्रति असीम घृणा

थी। उसकी ख्याति विशेष कर उसके उपन्यासों पर आधारित है। 'पिता और पुत्र' उसका सब से प्रसिद्ध उपन्यास है। इस उपन्यास का मुख्य विषय प्राचीन और नवीन संततियों के बीच का मतभेद है। अपने जमाने में यह उपन्यास काफी विवाद का कारण बना था। उसके अन्य उपन्यास हैं--'अछूती भूमि', 'धुँआ', 'रुदिन', 'अमीरों का घोंसला' और 'पहला प्यार'। रचना और शैली की दृष्टि से तुर्ग्येन्येव के उपन्यास एक नई धारा के प्रतीक थे। वे जटिल नहीं थे और उप-कथानक का उनमें सर्वथा अभाव था। उनके घटनाचक्र की गति निश्चित समय के भीतर बँधी हुई थी और पात्रों के जीवन की मुख्य बातें कथाओं से लिपटी रहती थीं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

छोटे-बड़े उपन्यासों के अतिरिक्त तुर्ग्येन्येव ने छोटी कहानियाँ भी लिखीं। उसके उपन्यासों में जहाँ सामाजिक विषय लिए गए हैं, वहाँ उसकी कहानियाँ व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं और अनुभूतियों की नींव पर रची गई हैं। उनमें भावनाओं के आंतरिक संसार की अभिव्यक्ति हुई है।

तुर्ग्येन्येव की अंतिम कृति 'गद्य में काव्य' नामक रचना थी। इसमें लेखक ने अपनी व्यक्तिगत गहरी निराशा, बुढ़ापा, मृत्यु, जीवन की विषमताएँ, अतीत की स्मृतियाँ आदि की चर्चा की है। इस कृति को तुर्ग्येन्येव के गद्य का नवनीत कहा जाए, तो अत्युक्ति न होगी। नाद, सौन्दर्य और लय इस लेखक के गद्य की विशेषता है। उसके वाक्य-विन्यास में कहीं भी जटिलता नहीं आने पाई है। निश्चय ही तुर्ग्येन्येव महान् भाषा-शिल्पी एवं कुशल कलाकार था।

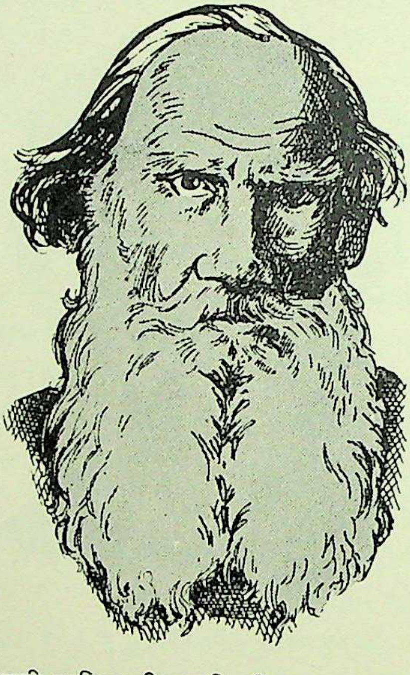

रूसी साहित्य की महाविभूति तालस्ताय।

तालस्ताय

ल्येव निकोलोयेविच तालस्ताय (१८२८-१९१० ई०) न केवल रूसी साहित्य की ही महाविभूति है, प्रत्युत विश्ववाङ्मय के इने-गिने साहित्यस्रष्टाओं में उसे आदर का स्थान प्राप्त है। तालस्ताय केवल साहित्य-शिल्पी ही नहीं था--वह एक महान् साधक, विचारक और नैतिकता का पुजारी भी था। तालस्ताय बड़ा अध्ययनशील था। वह चौदह भाषाएँ जानता था और उसकी रुचि विज्ञान, दर्शन, धर्म, इतिहास, साहित्य आदि सभी के प्रति थी। वह अपनी रचनाओं में बड़ी मेहनत करता था। वह बीसियों बार उनकी पुनरावृत्ति करता और उन्हें नए से नए रूप प्रदान करता था। एक भूमिका को उसने एक सौ पाँच बार दुहराया था!

तालस्ताय की साहित्यिक देन बहुत महान् है। १८६४-६९ ई० के बीच उसने 'युद्ध और शान्ति' नामक अपना विश्वविश्रुत बृहत् उपन्यास लिखा। इस उपन्यास में ५५९ पात्र हैं! यह मानो एक गद्य-महाकाव्य के ढंग पर लिखा गया है। यह ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास रूस का 'इलियड' कहा जाता है। तालस्ताय का प्रमुख सामाजिक उपन्यास 'अन्ना करेनिना' है, जिसमें उसने गार्हस्थ्य जीवन के विविध चित्र उतारे हैं। अन्ना करेनिना में सेन्टपीटर्सबर्ग के तत्कालीन उच्चवर्गीय परिवारों के जीवन की बड़ी जीती-जागती झाँकी प्रस्तुत की गई है। वस्तुतः इस उपन्यास के नायक के चरित्र में तालस्ताय के निजी व्यक्तित्व की छाया विद्यमान है। यौन प्रेम-भावना के अनेक अनूठे मनोवैज्ञानिक स्तरों का मर्मस्पर्शी उद्घाटन इस कृति में हुआ है। 'कन्फेशन्स' (आत्मोद्घाटन) तालस्ताय के आत्मविश्लेषण की सबल क्षमता की परिचायक कृति है। अपने महान् उपन्यासों के अतिरिक्त तालस्ताय ने लोककथा के ढंग पर अनेक उत्कृष्ट कहानियाँ भी लिखीं। इन कृतियों पर उसके विशिष्ट नैतिक दृष्टिकोण की गहरी छाप है। तालस्ताय का अन्तिम उपन्यास था 'रिजरेक्शन', जो एक अपूर्ण कृति है।

तालस्ताय के विचारों का काफी खण्डन भी हुआ और मण्डन भी, पर उसके द्वारा उठाए गए महत्वपूर्ण प्रश्नों ने लोगों को विचारने के लिए बाध्य किया, इसमें संदेह नहीं। भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तक को तालस्ताय की विचारधारा ने अनेक अंशों में प्रेरित और प्रभावित किया था।

दास्त्वाएव्स्की

तालस्ताय के अनन्तर रूसी गद्यकारों में सब से प्रभावशाली लेखक दास्त्वाएव्स्की माना जाता है। कुछ समीक्षक तो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसे तालस्ताय से भी बड़ा लेखक मानते हैं। असामान्य कृतियों और प्रकृतियोंवाले व्यक्तियों—विक्षिप्तों और अपराधियों—की मनोभूमि की मार्मिक अभिव्यक्ति दास्तवाएव्स्की की रचनाओं की मौलिक विशेषता है। दास्तवाएव्स्की (१८२१-१८८१) का अपना जीवन भी विकट आर्थिक एवं सामाजिक संघर्षों के बीच व्यतीत हुआ था। उसकी स्पष्ट छाप उसकी कृतियों में देखी जा सकती है। 'कंगाल' उसकी प्रथम कृति थी, जिसमें उपेक्षितों के प्रति उसकी गहरी संवेदना की झलक मिलती है। 'मरणागार से प्रेषित पत्र' नामक कृति में भी मानवता की पीड़ा की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। 'अपराध और दण्ड' उसका सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, जिसके द्वारा योरपीय साहित्य में ही नहीं, वरन् विश्व-साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात होता है। 'मूर्ख' और 'भूत' भी उसकी बड़ी प्रभावोत्पादक रचनाएँ हैं। 'कारामाजाव-बन्धु' उसकी अंतिम अपूर्ण कृति है।

उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण में रूसी कविता के क्षेत्र में 'कला के लिए कला' सिद्धान्त का बहुत-कुछ प्रभाव रहा, यद्यपि इसका अधिक प्रचलन नहीं हो पाया। इस युग के कवियों में त्यूशेव, नेक्रासोव, माइकोव, पोलोन्स्की, अलेक्सी तालस्ताय और अलेक्जेण्डर ब्लाक के नाम उल्लेखनीय हैं। नेक्रासोव अपने लोकपरक महाकाव्य 'रूस में सुखी कौन है' के कारण और अलेक्जेण्डर ब्लाक अपनी क्रांतिपरक रचना 'बारह' के कारण विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अलेक्सी तालस्ताय व्यंग्यात्मक काव्य का सर्वोत्तम रूसी कलाकार माना जाता है।

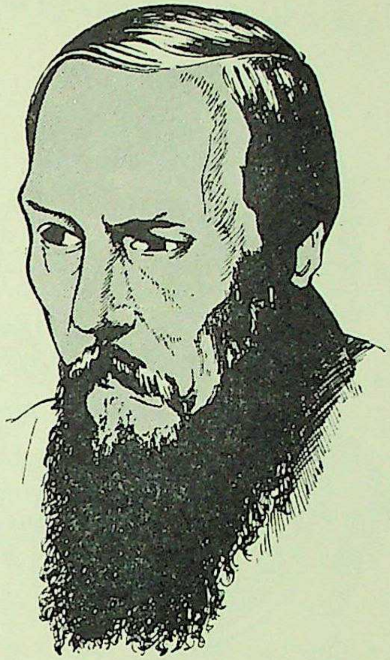

मनोवैज्ञानिक उपन्यास का महान् सूत्रधार दास्तवाएव्स्की।

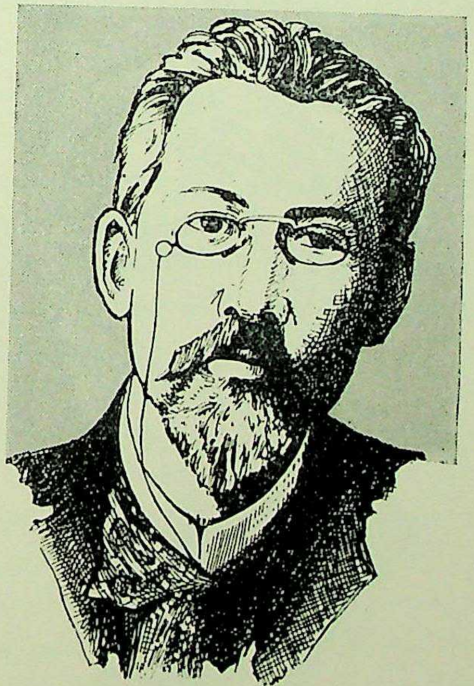

महान् कहानीलेखक और नाट्यकार च्येखव।

एंटन च्येखव

रूसी वाङ्मय में एंटन च्येखव (१८६०-१९०४) का अपना विशिष्ट स्थान है। उसकी ख्याति मुख्य रूप से उसकी उत्कृष्ट लघु कहानियों पर स्थापित है, यद्यपि नाटककार के रूप में भी वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। च्येखव का जीवन कठोर परिस्थितियों में बीता था। उसके पूर्वज गुलाम किसान थे। उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में, जिन दिनों जारशाही के दमन-चक्र ने लोगों की जिन्दगी दूभर बना दी थी, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कहानियों के महान् शिल्पी के रूप में एंटन च्येखव सामने आया। उसने पुरानी परंपरा में ही लिखा। वह तुर्ग्येन्येव का वारिस-सा जान पड़ता था। शीघ्र ही इस महान् कथाकार ने तत्कालीन अंधकारपूर्ण जीवन को अपनी कृतियों से प्रकाशित कर दिया। उसका यथार्थवाद (निराशावाद), मानवता और हास्य के पुट से अभिभूत था। यदि ऐसा न होता तो उसका विषाद महाविष के सदृश्य झेले न झिलता और सर्वथा असह्य हो उठता। आलोचकों ने उसे सब से बड़ा रूसी यथार्थवादी माना है।

तालस्ताय च्येखव को बहुत मानता था। वह उसे 'गद्य का पुश्किन' कहा करता था। उसने लगभग छः सौ कहानियाँ लिखीं! उनमें 'वार्ड नं० छः', वांका', 'छकड़े में' आदि प्रसिद्ध हैं। 'आइवेनोव' और 'चेरी उद्यान'

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रंगमंच के लिए लिखे गए च्येखव के प्रसिद्ध नाटक हैं जिनका बड़ा सफल अभिनय मास्को के आर्ट-थियेटर में हुआ था।

कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक कहने की कला में च्येखव को कमाल हासिल था। वह एक ओर चुभता हुआ, चुस्त और अभिव्यंजनापूर्ण शब्द चुनता था और दूसरी ओर सरल रचना-विन्यास की चेष्टा करता था। उसका शब्द-भाण्डार बड़ा ही व्यापक था।

मैक्सिम गोर्की

तालस्ताय और च्येखव के जीवनकाल ही में रूस के साहित्यिक क्षितिज पर एक और जाज्वल्यमान नक्षत्र उदित हो चुका था। यह था मैक्सिम गोर्की, जिसके साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद का अवतरण हुआ। गोर्की ने अनेक उत्कृष्ट कहानियाँ, कई एक उपन्यास और कुछ नाटक भी लिखे। उसकी कहानियों में 'कोनोवोलोफ', 'ओरलाफ और उसकी पत्नी', 'छब्बीस आदमी और एक लड़की' आदि प्रसिद्ध हैं। उपन्यासों में 'माँ', 'फोमा गोर्दिएफ', 'उनमें से तीन' आदि उल्लेखनीय हैं। परन्तु उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति तो वस्तुतः उसके अपने आत्मकथामूलक संस्मरण हैं—जैसे कि 'मेरा बचपन', 'मेरा विश्वविद्यालय' आदि। 'बाज का गीत' नामक रचना में गोर्की ने उन साहसी व्यक्तियों का चित्रण किया है, जिनका बलिदान दूसरों में स्वतंत्रता की उन्मत्त इच्छा की आग लगा देता है। गोर्की की प्रमुख कृतियों का वस्तु-विषय मानवीय श्रम है, जिसे वह संस्कृति का जनक और मानवता के सौन्दर्य की सीढ़ी मानता है।

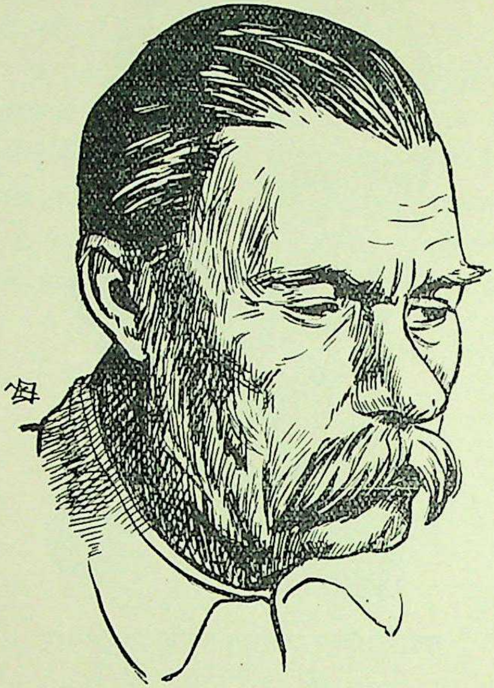

यथार्थवादी क्रान्तिकारी लेखक मैक्सिम गोर्की।

नोबुल-पुरस्कार-विजेता बोरिस पास्टरनाक।

क्रान्ति के पूर्व और उत्तरकाल में गोर्की के अतिरिक्त और भी कई एक साहित्यकार लिखते रहे। इनमें कविता के क्षेत्र में इवान बुनिन, अलेक्सी गेस्तेव, सर्जी येसेनिन, व्लादिमिर मायाकोव्स्की, बोरिस पास्टरनाक, आन्ना आख्मातोवा, अलेक्जेंडर बेजेमेंस्की आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उपन्यास के क्षेत्र में कुप्रिन ने 'यामा' नामक उपन्यास लिखकर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। क्रान्ति के बाद के उपन्यासों में एक असामान्य कृति सेरा फिमोविच का 'लौह वाष्प' है। परन्तु पिछले काल के उपन्यासकारों का अग्रणी है मिखेल शोलोकाव, जिसने 'डान धीरे बहती है' नामक महान् उपन्यास की भेंट दी। इसका दूसरा प्रख्यात उपन्यास है 'जोती हुई जमीन।' बाद के उपन्यासकारों में इल्या एहरेनबुर्ग भी प्रसिद्ध है, जिसका 'पेरिस का पतन' द्वितीय विश्वयुद्ध की झाँकी देता है। उधर अलेक्सी तालस्ताय ने अपने उपन्यास 'कलवरी की राह' में रूस के गृह-युद्ध का सुन्दर चित्रण किया है। 'पीटर प्रथम' उसका दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास है।

पिछले दिनों 'डॉ० जिवागो' नामक उपन्यास पर नोबुल-पुरस्कार पानेवाले बोरिस पास्टरनाक के कृतित्व का भी आधुनिक रूसी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि उसे राजकीय मान्यता प्राप्त नहीं हो पाई है। पास्टरनाक ने कतिपय बहुत ही मार्मिक कविताएँ भी लिखी हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अरबी और फारसी साहित्य

अरबी और फारसी भाषाओं की गणना संसार की अति प्राचीन भाषाओं में होती है। परन्तु उनकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये दोनों ही बोलियाँ आज भी दुनिया के विस्तृत भूभाग की जीवित भाषाएँ बनी हुई हैं। यही बात उनके साहित्य के बारे में भी लागू है, जिनकी परम्पराएँ विगत कई शताब्दियों से अक्षुण्ण बनी हुई हैं। प्रस्तुत प्रकरण में संक्षेप में इनकी साहित्यिक वसीयत का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

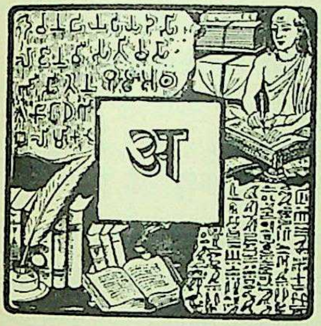

अरबी भाषा का क्षेत्र पश्चिमी एशिया के अरब प्रायद्वीप से लेकर पूर्वी, उत्तरी तथा मध्यवर्ती अफ्रीका तक विस्तृत है। आज की अरबी प्रारम्भ में अरब में बसनेवाली कुरेश जाति की बोली थी। तब सातवीं शताब्दी ई० में इस्लाम के उदय और प्रसार के साथ अरबी भाषा और साहित्य का अप्रत्याशित विकास हुआ। यद्यपि यह मानना असंगत न होगा कि इस भाषा का साहित्य प्रमुख रूप से इस्लाम की ही देन है, फिर भी यह बात नहीं है कि इस्लाम के उदय से पहले अरबी भाषा का कोई साहित्य ही नहीं रहा हो। पश्चिमी एशिया में ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी तक के कई अभिलेख मिले हैं, जिनमें अरबी से मिलती-जुलती भाषा का प्रयोग हुआ है। इस्लाम के उदय से पहले अरबी के प्रांगण में कई एक कवि हुए, जिनमें इम्रू अल-कस, आबिद इब्न-अल-अब्रास, अल-हारिस-इब्न-हिल्लिजा, अल अश-अस, औस इब्न-हजार, अल-हुताया, अम्र इब्न-कमी-आह, अम्र इब्न-कुलसूम, अल-मुतलम्मिस, अल-मुहाल्हिल, जुहैर इब्न अबी-सुलमा, अल नाबिगाह तथा काब इब्न जुहैर आदि के नाम आज भी बड़े आदर से गिनाए जाते हैं। इनमें जलीलाह नामक एक कवयित्री भी सम्मिलित थी। कहते हैं, इन कवियों की रचनाएँ अरब के जनत्यौहारों के अवसर पर बड़े चाव से पढ़ी जाती थीं।

'कसीदा' आदि काव्य-शैलियों का विकास

अरबी साहित्य में 'कसीदा' नामक काव्य-शैली का विकास मुहम्मद साहब के आविर्भाव से पूर्व ही हो चुका था। इस प्रकार की कविताओं के वर्ण्य विषय शिकार, तूफान, कबीलों का जीवन तथा प्रियतम का आमंत्रण आदि थे। इम्रू अल-कस तथा आबिद इब्न-अल-अब्रास नामक कवियों ने अरबी की प्रारम्भिक काव्य-शैली से भिन्न एक शैली को अपनाया था। उधर इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व ही अल-हिजाज का 'जुहैर इब्न अबी सुल्मा' अरबी साहित्य में काफी ख्याति प्राप्त कर चुका था। अल-हिजाज नीतिकाव्य का रचयिता था। नीतिपरक काव्य-रचना के लिए प्रख्यात उस युग के अन्य कवियों में अल-नाबिगा तथा अल-अशा के नाम उल्लेखनीय हैं।

'कुरान शरीफ'

इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब द्वारा मुसलमानों के प्रमुख धर्मग्रन्थ कुरान की रचना से अरबी साहित्य में पुरातन युग का पटाक्षेप एवं नवयुग का आरम्भ होता है। कुरान के वर्णनों में पाठकों को प्रभावित करने की अद्भुत् क्षमता है। उसके चित्रण ओजपूर्ण एवं सजीव हैं। उसमें मनोवैज्ञानिकता, धार्मिकता तथा सामाजिकता के गुण एक साथ उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में समकालीन समाज का यथातथ्य चित्रण है। अरबी जनता को एकता के सूत्र में बाँधने का श्रेय कुरान को ही है। इस ग्रन्थ की मक्का विषयक ९० सुराएँ काव्य के सभी गुणों से युक्त हैं। उपमा अलंकार की छटा अरबी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य में हमें पहली बार कुरान में ही देखने को मिलती है। कुरान ने न केवल अरबी की काव्य-शैली को ही प्रभावित किया, वरन् अरबी व्याकरण, कोष, इतिहास तथा धर्मशास्त्र आदि पर भी परोक्ष रूप से उसने अपना प्रभाव डाला है।

मुहम्मद साहब के देहावसान के पश्चात् अरबी को एक नया आयाम मिला और यह भाषा इस्लाम का पल्ला पकड़कर तेजी से फैलने लगी। इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति के आगे जब सीरिया, इराक, बाइजैन्टाइन, ईरान, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका तथा स्पेन आदि अनेकों देशों ने घुटने टेक दिए, तो विजयी अरब जाति ने उक्त देशों की सुसंस्कृत जातियों के सम्पर्क में आकर अपने साहित्य को सँवारना शुरू किया। इन्हीं दिनों अरबी में इतिहासों की रचना का दौर आरंभ हुआ। इस काल का एक उल्लेखनीय साहित्यकार था अल हसन अल-बसरी, जिसने शुद्ध गद्य में इस्लामी धर्मशास्त्रीय ज्ञान को व्यक्त किया। अल हसन अल-बसरी के समकालीन कवियों में इब्न-जुहैर, हम्माद अल-रविया, अल-हुताया तथा अल-मिस्कीन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अरबी साहित्य का नया युग :: महान् अनुवाद-कार्य

७५० से ८३३ ई० के समय को अरबी-काव्य का 'नया युग' कहा जाता है। इस समय अरबी के साहित्य-सर्जन में ईसाई, यहूदी, ईरानी तथा भारतीय सभी लोगों ने निःसंकोच योग दिया। इनमें सब से मशहूर नाम अल-बरूनी का है, जिसने भारतीय गणित, ज्योतिष, इतिहास, पुराण तथा संस्कृति का अध्ययन करके अरब में भारतीय ज्ञानराशि का प्रचार किया। कहते हैं, ७७० ई० में एक हिंदू पंडित भारतीय गणित और ज्योतिष के ग्रन्थ लेकर बगदाद पहुँचा था। उन ग्रन्थों का इब्राहीम अल-फजारी ने अरबी में अनुवाद किया, जिससे अरबी साहित्य में एक नई चेतना की लहर दौड़ गई। इस समय अरबी भाषा के प्रांगण में कई एक प्रतिभाएँ जनमीं। खलीफा अल-मामून ने 'बैत-अल-हिक्मा' नामक संस्था की स्थापना की, जिसमें महान् विदेशी ग्रन्थों के अनुवादों का कार्य सम्पन्न हुआ। अल-खलील इब्न-अहमद एवं सीबा-वैह आदि ने अरबी के व्याकरण एवं छंदशास्त्र की रचना की। इस युग के साहित्य-सेवियों में व्यंग्य-लेखक अबु-उबदाह, बश्शार इब्न-बुर्द, अबु-नुवास तथा जनवादी कवि अबुअल-अताहियाह का नाम श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इस समय तक अरबी गद्य पर्याप्त विकसित हो चुका था। अबु-हनीफा, मलिक इब्न-अनस, इब्न-इद्रीस अलशाफीय आदि ने अपने महान् कानून-ग्रंथों की रचना गद्य में ही की थी। ८३३-१५१७ ईस्वी के बीच अरबी साहित्य विदेशों में भी प्रचारित हुआ। इब्न हज्म एवं सुन्दरी अल-वल्लादाह ने स्पेन में रहकर इन दिनों अरबी भाषा में कई बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना की थी।

९०० ईस्वी के लगभग अरबी में अनुवाद का युग समाप्त हो जाता है और प्रायः इसी समय से वैज्ञानिक अनुसंधान के कार्यों का सूत्रपात होता है। अबु-मा' शर नामक वैज्ञानिक ने इन्हीं दिनों ज्वार-भाटे के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। कहते हैं, इस काल में इस्ताम्बूल की मस्जिदों के पुस्तकालयों में लगभग १०,००० हस्तलिखित पुस्तकें संगृहीत थीं, जिनमें से अधिकांश में विज्ञान से सम्बन्धित खोजों का ज्ञान भरा पड़ा था। इस काल में अरबी में दर्शन के भी कई एक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे गए। इस क्षेत्र में अल-किन्दी, अल-फराबी, इब्न-सीना, इब्न-बज्जाह तथा इब्न-रशद आदि के नाम विशेष महत्व रखते हैं। इन्हीं दिनों अरबी में अनेक शब्दकोष भी बने। अल-नुवैरी तथा अल-कल्कशन्दी १०वीं शती के प्रसिद्ध अरबी कोषकार थे। राजनीति से संबंधित ग्रन्थों की भी रचना इस काल में हुई, जिनके रचनाकारों में खलीफा हारूँ-अल-रशीद का नाम सब से महत्वपूर्ण है।

इतिहास, भाषाशास्त्र और काव्य के ग्रंथ

सूफी मत के प्रचार के साथ-साथ अरबी भाषा में आत्मवादी कवियों का एक नया वर्ग उपजा। इस प्रकार के आरम्भिक सूफी कवियों में अबु-तालिब अल-मक्की ने विशेष ख्याति प्राप्त की। सूफी चिंतकों में जलाल-अल-दीन अल-रूमी का विशिष्ट स्थान है। अन्य कवियों में इब्न-अल-फरीद, अबू-अल-फतूह अल-सुहरावर्दी, अबु-अल-हसन अल-शाजिली तथा अबु-अल-मवाहिब अल-शाजिली के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस काल में अरबी में प्रामाणिक इतिहास, भाषा-शास्त्र तथा काव्यकला पर भी अनेकों ग्रन्थ लिखे गए। इस समय के साहित्यकारों में इतिहासकारों में इब्न-अब्द-अल-हाकम, अल-बलाजरी, अल-तबरी, अल-मसऊदी, इब्न-खल्लिकान, याकूत तथा इब्न असाकिर; भाषा-शास्त्रियों में अब्बू-तम्मास, अल-बुहतुरी, कुदम्माह इब्न-जाफर तथा इब्न-अल-मुताज एवं काव्यकलाविदों में इब्न-राशीक तथा अबु-हिलाल-अल-अस्करी ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

अलिफलैला या सहस्त्ररजनीचरित्र

परन्तु संसारव्यापी ख्याति की दृष्टि से इस काल की सब से उल्लेखनीय रचना थी 'अल-जहशियारी' या 'अलिफलैला', 'सहस्त्ररजनीचरित्र' आदि नामों से मशहूर वह प्रख्यात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कथा-ग्रंथ, जो वस्तुतः फारसी के 'हजार अफसाने' नामक ग्रंथ के आधार पर रची गई थी। उक्त फारसी कृति भी अंशतः भारतीय कथाओं पर आधारित थी, ऐसा विद्वानों का कथन है। अरबी में यह कृति पहले-पहल १४५० ई० में प्रस्तुत हुई। इस ग्रंथ की कहानियों को मुख्यतः दो वर्गों में रक्खा जा सकता है--एक वर्ग का घटनाचक्र बगदाद और खलीफा हारूँ-अल-रशीद के युग के आसपास घूमता है; दूसरे का ताना-बाना काहिरा नगर को केन्द्र बनाकर रचा गया है।

१५१७ से १८०० ई० तक के काल को अरबी साहित्य का 'अंधकार युग' कहा जा सकता है, यद्यपि इस अंधकार में यदा-कदा एकाध रचनाएँ थोड़ा-बहुत प्रकाश देती रहीं। यह काल योरप में तो महान् पुनर्जागरण का समय था, परन्तु इस समय अरबी साहित्यकार जैसे सोते रह गए, क्योंकि साहित्य के किसी भी क्षेत्र में इन दिनों कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ।

१८०० ईस्वी के पश्चात् अरब संसार में पुनः साहित्यिक जागरण का स्वर निनादित होता है। इन दिनों जमाल-अल-दीन-अल-अफगानी तथा उनके शिष्य मुहम्मद अब्दू ने मुस्लिम धर्मशास्त्र पर अनेक प्रामाणिक स्थापनाएँ प्रस्तुत कीं। इनके समकालीन लेखकों में अली अबु-अल-नसर, इब्राहीम अल-मुवैलिही, मुस्तफा कामिल, अहमद शौकी तथा इस्माइल सावरी आदि का विशिष्ट स्थान है। इस समय अरबी में कई एक प्रशस्तियाँ भी लिखी गईं। इन प्रशस्तियों का विषय सुल्तान खलीफा था। प्रशस्तिकाव्यकारों में बुत्रुस करामाह, अब्द अल-बाकी अल-उमरी तथा नाफिस अल-याजिजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों के संधिकाल में जब मिस्र में नेपोलियन का अभियान हुआ, तो उसके साथ ही पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के अरब-जगत् में एक अभिनव जागृति की लहर उठी। इस जागृति ने अरबी साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। बुत्रुस अल-बुस्तानी, शिबली शुमायिल, मुहम्मद अली, इस्माइल आदि की रचनाएँ इस नव-जागृति की प्रतीक थीं, जिनसे इस काल का अरबी साहित्य विशेष लाभान्वित हुआ।

अरबी साहित्य का वर्तमान युग

अरबी साहित्य का वर्तमान युग १९१४ ई० से प्रारंभ होता है। इस काल में तुर्की और अरब के राजनीतिक मत-भेदों ने अरबी साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की और अधिकांश साहित्यकारों के मन में बिजली की तरह देशप्रेम की लहर दौड़ गई। जब महायुद्ध के कारण अरबी एकता छिन्न-भिन्न हो गई, तो उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। इस समय यद्यपि एक बार पुनः उपन्यास एवं नाटक आदि की सृष्टि की प्रवृत्ति उमगी, तथापि याकूब सर्रूफी के अतिरिक्त कोई भी साहित्यकार अरबी साहित्य को आगे बढ़ाने में विशेष योग नहीं दे सका। याकूब सर्रूफी प्रसिद्ध गद्यलेखक था। उसकी रचनाओं से नए अरबी गद्य की साहित्यिक क्षमता का आभास मिलता है।

अरबी भाषा में उपन्यासों की रचना सीरियाई उपन्यासों के अनुकरण में आरंभ हुई। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम उसमान जलाल ने अनेक अनुवाद प्रस्तुत किए। इसके पश्चात् अहमद शौकी ने 'अर्जर अल-हिंद' नामक एक काल्पनिक उपन्यास, मुहम्मद इब्राहीम ने 'हदीस ईसा इब्न-हिशाम' एवं हाफिज इब्राहीम ने 'लैलें सतीह' नामक उपन्यासों की रचना की। परन्तु इस क्षेत्र में वस्तुतः नई धारा का सूत्रपात हुसेन हैकल ने 'जैनब' की रचना करके किया। इस कृति पर योरपीय उपन्यासों का स्पष्ट प्रभाव है। परन्तु उसकी पृष्ठभूमि मिस्र की अरबी दुनिया है।

अरबी साहित्य में १८वीं शती ई० के अंत तक नाटकों की रचना नहीं हुई थी। इसका कारण यह था कि इस्लाम में नाटकों की सर्जना करना एक धार्मिक अपराध समझा गया है। वैसे नेपोलियन के सिपाहियों ने मिस्र में अपने मनोरंजन के लिए एक नाट्यशाला का निर्माण किया था, किन्तु अरबी का प्रथम नाटक लेबनान में खेला गया था। अरबी भाषा में सर्वप्रथम नाटकों की रचना 'तहरीर अल-मरा-अह' तथा 'अल-मरअह-अल-जदीद' के रूप में कासीम अमीन ने की। इसके पश्चात् मारून नक्काश, नजीब हद्दाद, नजीब हुबैकाह, खलील अल-याजिजी तथा अबदुल्लाह अल-बुस्तानी आदि कई प्रसिद्ध नाटककार हुए। अरबी रंगमंच को अहमद शौकी के हाथों एक नया आयाम मिला। उसके बाद सुलेमान अल-बुस्तानी ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त योगदान दिया।

आधुनिक युग के पटपरिवर्तन के साथ ही अरब में भी नई चेतना की लहर जगी और विचार-स्वातंत्र्य को बढ़ावा मिला। मुस्तफा लुत्फी एवं अल-मन्फलूती आदि कवि इस नई चेतना के अग्रदूत हैं। जमील सिदकी अल-जहाबी इस समय का मौलिक चिंतन करनेवाला प्रसिद्ध अरबी कवि हुआ। अल-रुसाफी ने भी अपनी स्वतंत्र मान्यताएँ प्रस्तुत कीं, विशेष कर धर्म के क्षेत्र में। उसने कट्टर पक्ष पर काफी छींटाकसी की है।

१९३० के पश्चात् सीरिया एवं लेबनान के साहित्य में एक नई धारा प्रवाहित हुई है। लेबनान में नई चेतना का प्रसिद्ध कवि सलीम अन्हूरी हुआ है। वैसे शिबली अल-मलात, अमीन

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तकी-अल-दीन तथा इलियास फैयाज के कसीदे भी बहुत प्रसिद्ध हैं, किंतु अन्हूरी, इस्कन्दर अल-आजार, फेलिक्स फारिस दाऊद मजाइस आदि ने नई चेतना को प्रसारित करने में विशेष योग दिया है। इनकी कविताएँ आज के अरबी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उधर बुत्रुस अल-बुस्तानी ने तीन खण्डों में अरबी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करके अनमोल सेवा की है।

कुल मिलाकर अरबी साहित्य इस समय प्रगति के पथ पर अग्रसर है। फुआद अफ्राम अल-बुस्तानी, निकूला फैयाज, अनीस अल-मकदीसी तथा ताहा हुसेन जैसे लेखकों ने अरबी साहित्य में नई मान्यताओं की स्थापना करने में विशेष योग दिया है। अब सीरिया, मिस्र, इराक, लेबनान, जोर्डन, यमन, सऊदी अरब, लीबिया, अल्जीरिया, मोरक्को आदि सभी अरबी भाषाभाषी देशों में नवजागरण का स्वर निनादित हो रहा है।

फारसी साहित्य

'फार्स' ईरान का एक प्रान्त था, जिसे प्राचीन काल में 'पार्स' भी कहा जाता था। इसी के नाम पर बाद में बाहरी दुनिया ईरान को प्रायः 'फारस' कहकर पुकारने लगी और वहाँ की भाषा 'फारसी' कही जाने लगी। परन्तु ईरान की मूल प्राचीन भाषा और उसकी लिपि 'फारसी' के नाम से पुकारी जानेवाली आज की उसकी भाषा और लिपि से सर्वथा भिन्न थी। उस पुरातन भाषा को 'पहलवी' के नाम से पुकारा गया है और उसके पुरातन रूप का कुछ आभास हमें कतिपय पुराने अभिलेखों में अंकित लेखों से मिलता है। इस भाषा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ पारसियों की धर्मपुस्तक 'अवेस्ता' है। 'अवेस्ता' की भाषा संस्कृत भाषा के काफी निकट है। इसे जरथुस्त्र नामक एक महापुरुष की कृति माना जाता है। इस महापुरुष का जीवन-परिचय पिछले एक खंड में आप पा ही चुके हैं। 'अवेस्ता' के पश्चात् प्राचीन ईरानी साहित्य की बहुत दिनों तक कोई रचना नहीं मिलती। हाँ, ई० पू० ५५९ से ३३० ई० पू० तक के कुछ शिलालेख अवश्य उपलब्ध होते हैं, जिनका महत्व पुरातत्त्वीय अधिक है, उनका साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं कहा जा सकता।

सासानी-युग की महान् वसीयत

तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में ईरान में महान् सासानी राजवंश की शासन-सत्ता स्थापित हुई, जिसका तारतम्य ठेठ सातवीं शताब्दी ईस्वी तक कायम रहा। इस युग में इस देश में न केवल पुरातन जरथुस्त्र-मत का ही पुनरुत्थान हुआ (जो कि पिछले दिनों के विदेशी शासन के कारण छिप-सा गया था), बल्कि ईरान की समूची प्राचीन संस्कृति ही ने फिर से करवट ली। इस पुनरोदय के दौर में ईरानी साहित्य का काफी उत्कर्ष हुआ। जो साहित्य इस काल में रचा गया, वह पहलवी लिपि में था। उसकी भाषा प्राचीन ईरानी थी, जिसका रूप संस्कारजनित होकर बहुत-कुछ बदल गया था। यह साहित्य मुख्य रूप से धर्मपरक था, किन्तु उसमें पौराणिक-ऐतिहासिक ख्यातों और कथाओं की भरमार थी। इन ख्यातों से आगे चलकर फिरदौसी जैसे महाकवि को अपनी कृतियों के लिए बहुत-कुछ सामग्री मिली। इस युग की सब से महत्वपूर्ण उपलब्ध रचनाएँ हैं 'यात्कार-ए-जरीरान' या 'शाहनामए-गुश्तास्प' और 'कारनामक-ए-अरुशीरे-पापकान'। प्रथम रचना में अर्जास्प और गुश्तास्प नामक राजन्यों के संघर्ष और युद्ध का विवरण है। 'अवेस्ता' पर लिखित 'जेन्द' नामक प्रसिद्ध भाष्य भी इस युग के साहित्य की एक मूल्यवान् थाती है।

फारसी लिपि और साहित्य का प्रादुर्भाव

६५१ ई० में ईरान पर अरबों का आक्रमण हुआ, जिसके फलस्वरूप सासानी साम्राज्य का सितारा सदा के लिए अस्त हो गया। अरब आक्रमणकारियों की नीति न केवल विजित प्रदेश की शासन-सत्ता को ही हथियाने की होती थी, प्रत्युत वे उसकी संस्कृति और भाषा को भी कुचल देना चाहते थे। इसी नीति का अनुसरण करते हुए विजेता अरबों ने अपनी भाषा अरबी को थोपकर ईरान की प्राचीन भाषा को कुचल दिया। अरबी के संसर्ग से ईरान की लिपि भी सर्वथा बदल गई—वह पहलवी से अरबी लिपि हो गई। इस प्रकार फारसी भाषा का साहित्य अब अरबी लिपि में ही लिखा जाने लगा। नवीं और दसवीं शती में ईरान के अनेक छोटे-छोटे राज्य स्वतन्त्र हो गए, परिणामतः वहाँ के साहित्य ने भी करवट बदली। इस्लाम के झंडे के नीचे आने के बाद से अब तक वहाँ केवल अरबी काव्य-रूपों में ही रचना होती थी। अब रुबाई, मसनवी, गजल एवं अन्य नए छन्दों का भी प्रयोग होने लगा!

फारसी का पहला महाकवि रुदागी

फारसी साहित्य के इस नवप्रभात का पहला अग्रदूत अबु जाफर बिन मुहम्मद रूदागी (८८०-९५४ ई०) था। वही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फारसी का प्रथम महाकवि माना गया है। उसने प्रधानतः दरबारी कविताएँ ही रची थीं। परन्तु उसके कतिपय कसीदे और रुबाइयाँ भी उपलब्ध हैं। वस्तुतः फारसी साहित्य में रुबाई का आदि स्रष्टा वही माना जाता है। इस कवि ने कुछ मसनवियों की भी रचना की थी। उसके द्वारा रचित तीन ऐतिहासिक काव्यों का हवाला मिलता है, जिनमें से एक का नाम था--'वामिक अजरा'। परन्तु ये काव्य आज लुप्त हो गए हैं। रुदागी की शैली वैसे तो सरल और स्पष्ट है, परन्तु उसमें कहीं-कहीं कृत्रिमता की बू भी पाई जाती है।

'शाहनामा' का रचयिता महाकवि फिरदौसी

रुदागी के पश्चात् फारसी के अनेक कवि हुए। उनमें सब से उल्लेखनीय नाम महाकवि फिरदौसी का है, जो ६० हजार काव्य-पंक्तियों में निबद्ध 'शाहनामा' नामक महाकाव्य के रचयिता के नाते संसार के साहित्य में अपना नाम अमर कर गया है। फिरदौसी ने इस विराट् काव्य की रचना गजनी के शक्तिशाली सुलतान महमूद (दसवीं-ग्यारहवीं शती ई०) के आश्रय में की थी, जिसने अपने दरबार में उस काल के चोटी के कवियों और विद्वानों को जुटा रक्खा था। इस ग्रंथ की सामग्री ईरान की प्राचीन अनुश्रुति से ली गई है, जिसका लगभग चार हजार वर्ष का दीर्घ इतिवृत्त इस काव्य-ग्रंथ में है। 'शाहनामा' में वर्णित अनेक ओजस्वी कथाओं में सब से प्रसिद्ध 'सोहराब-रुस्तम' है। कहते हैं, फिरदौसी ने यह ग्रंथ ३५ वर्षों में पूरा किया था और सुल्तान ने उसकी एक-एक पंक्ति के लिए उसे एक-एक मोहर देना मंजूर किया था! यह भी कहा जाता है कि 'शाहनामा' संपूर्णतया फिरदौसी ही की रचना नहीं है। उसका मूल आयोजन दकीकी नामक एक पूर्ववर्ती कवि ने किया था, परन्तु वह उसके एक हजार शेर ही लिख पाया था कि किसी ने उसकी हत्या कर दी। उसके अनुष्ठान की पूर्ति आखिर फिरदौसी ने की। स्वयं फिरदौसी ही ने इस बात का उल्लेख अपनी कृति में किया है।

'शाहनामा' में अनेक त्रुटियाँ हैं। उसमें पुनरावृत्ति की भरमार है। उसके दृश्य और चरित्र-वर्णन एक ही साँचे में ढले हुए से हैं। फिर उसमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव है। फिर भी वह ईरान का विराट् राष्ट्रीय महाकाव्य माना जाता है। इसका श्रेय उसमें निहित देशभक्ति की ओजपूर्ण भावना को है। 'शाहनामा' के अतिरिक्त फिरदौसी ने 'युसूफजुलेखा' नामक एक खंडकाव्य भी लिखा था।

फिरदौसी के अलावा महमूद के दरबार में और भी कई उत्कृष्ट कोटि के कवि और साहित्यकार थे। उनमें उंसुरी, अल-बरूनी और अविसेन्ना के नाम उल्लेखनीय हैं। उंसुरी तो महमूद के दरबार का राजकवि ही था--वह कसीदे लिखने में प्रवीण था। अल-बरूनी का उल्लेख हम अरबी साहित्य के विवरण के क्रम में कर ही चुके हैं। वह अरबी के अलावा संस्कृत का भी विद्वान् था। अरबवालों को भारतीय ज्ञान-राशि का परिचय कराने में उसने महान् योग दिया था। अविसेन्ना अपने युग का अरबी का महान् वैज्ञानिक लेखक था। साथ ही वह उत्तम कवि भी था। उसने फारसी में गजलें और रुबाइयाँ लिखी थीं। 'दानिश्नामय अलाई' नामक एक महान् विश्वकोश भी उसने तैयार किया था।

महाकवि निजामी

११वीं-१२वीं शती ई० में ईरान के बहुत बड़े भाग पर सेल्जुक तुर्कों का शासन रहा। इस युग में फारसी साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की। अब तक फारसी में गद्य प्रायः कम ही लिखा गया था। इस काल में आकर गद्य-रचना की प्रवृत्ति जोरों से उमड़ी, जिसके अन्तर्गत अनेक गद्य-ग्रन्थ प्रकाश में आए। इनमें निजामुलमुल्क अबू अलीउल हसन का 'सियासतनामा' सब से प्रसिद्ध है। निजामुलमुल्क सेल्जुक शासक का वजीर था और बड़ा विद्याव्यसनी था। उसकी उपर्युक्त कृति में राजनीति की चर्चा की गई है। इस काल की अन्य उल्लेखनीय गद्य-कृतियाँ गजाली का रहस्यवादी ग्रन्थ 'कीमियाए सआदत' एवं निजामिए अरुजिए समरकन्दी का महान् ग्रन्थ 'चहारमकाला' है, जिसमें राजधर्म, काव्य, ज्योतिष एवं चिकित्साशास्त्र का विवेचन है। जहाँ तक पद्य-साहित्य का सम्बन्ध है, इस काल में कसीदों की बड़ी धूम रही। अनवरी खुरासानी और खाकानी शीराजी इस काल के प्रसिद्ध कसीदाकार थे। परन्तु इस काल का सब से बड़ा कवि वस्तुतः निजामी (११४१-१२०३ ई०) था, जो रुदागी के बाद फारसी का सब से बड़ा काव्यकलाकार माना गया है। इस महाकवि ने 'खम्सा' या 'पंजगंज' (पाँच खजाने) के नाम से पाँच महान् काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत कीं, जो फारसी-साहित्य की अमर थाती हैं। मसनवी-शैली में रचित ये कृतियाँ हैं--'मखजानुल-असरार', 'शीरीं-खुसरू', 'लैला-मजनूँ', 'हफ्त पैकार' और 'इस्कंदुरनामा'। निजामी की विशेषता उसके रोमांचक प्रेमकाव्य के रसमाधुर्य और रंग-बिरंगे विवरणों में है।

उमर खैयाम

इन्हीं दिनों ईरान में सूफीवाद का जोर बढ़ा, जो इस्लाम की कट्टर विचारधारा के प्रति एक विद्रोह-सा था। इस लहर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने साहित्य के क्षेत्र में रहस्यवादी कवियों की एक परंपरा विकसित की ! इन लोगों ने भारतीय वेदान्त से मिलते-जुलते आत्मवाद का नारा बुलन्द किया और परमेश्वर के साथ मानव आत्मा के अद्वैत संबंध पर बल दिया। इस धारा के कवियों में अबू सैद इब्न अबुल खैर, अन्सारी, सनाई और जलालुद्दीन रूमी सब से अधिक प्रसिद्ध हुए। रूमी की 'मसनवी ए-मानवी' सूफी काव्य की एक अनमोल कृति है। उधर सूफियों के अध्यात्मवाद के प्रति मानो एक विद्रोह और चुनौती के रूप में उमर खैयाम ने अपनी संसार प्रसिद्ध रुबाइयाँ लिखीं। इस कवि का पूरा नाम उमर इब्न इब्राहीम अल खैयाम था। वह निशापुर का रहनेवाला था। उसका पेशा खेमा बनाना था। वह बड़ी स्वतंत्र विचारधारा का व्यक्ति था। कविता के साथ-साथ विज्ञान, गणित, ज्योतिष और दर्शन के क्षेत्र में भी उसका काफी दखल था। उसके नाम पर प्रचलित सभी रुबाइयाँ उसकी ही कृति हैं, इसमें संदेह है। फिर भी उसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है। उसकी मृत्यु संभवतः ११२३ ई० में हुई थी। उमर खैयाम की रुबाइयों में कोरी दार्शनिक उधेड़-बुन की निस्सारता के प्रति ध्यान खींचते हुए, जीवन की क्षण-भंगुरता का स्वर निनादित किया गया है और ईश्वरवादियों की खिल्ली उड़ाकर 'खाओ-पियो और मौज करो' का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। इस सिद्धान्त का प्रतीक उसने 'मदिरा' को माना है, जिसकी बड़ाई पग-पग पर उसने की है। कवि फिज़िराल्ड द्वारा अंग्रेजी में प्रस्तुत अद्भुत अनुवाद ने इन रुबाइयों को संसार भर में लोकप्रिय बनाने में विशेष योग दिया है।

शेख सादी और हाफिज शीराजी

फारसी साहित्य के इस स्वर्णयुग में दो और महान् नक्षत्र जगमगाए, जिनका नाम आज विश्व-वाङ्मय के पटल पर स्वर्णाक्षरों में अंकित है। ये थे--'बोस्ताँ' और 'गुलिस्ताँ' नामक सुप्रसिद्ध कृतियों का स्रष्टा शेख सादी (११८४-१२९१ ई०) तथा फारसी में गीतिकाव्य-रचयिताओं का सिरमौर हाफिज (मृत्यु १३८९)। शेख सादी कवि होने के साथ-साथ दार्शनिक भी था। उसने देश-विदेश का काफी भ्रमण किया था। उसकी लेखन-शैली बहुत सरल, फिर भी प्रभावोत्पादक थी। उसने अपनी कृतियों में विविध लघु आख्यानों द्वारा व्यवहारपरक नीति का विवेचन किया है। हाफिज की कविता प्रेम और सौन्दर्यानुभूति की कमनीय भावना से अभिभूत है। उसका शब्द-माधुर्य और कल्पना की उड़ान अद्वितीय है।

१२५९ ई० में हलाकूखाँ ने खलीफाओं के साम्राज्य का अंत कर दिया। फलतः ईरान अरब प्रभाव से मुक्त हो गया। इससे फारसी को पुनः प्रोत्साहन मिला और वह राजभाषा के आसन पर आरूढ़ हो गई। हलाकू के वंशजों (मुगलों) के शासनकाल में इतिहास-ग्रंथों का निर्माण अधिक हुआ।

१४९९ ई० से १७३६ ई० तक फारस में सफावी राजवंश सिंहासनारूढ़ रहा। ठीक इसी समय भारत में मुगलों का शासनकाल था। इस समय में फारसी के अनेक कवि तथा लेखक भारत आए। इस प्रकार के सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि भारत में भी फारसी साहित्य-सर्जन हुआ। अमीर खुसरो ने इससे बहुत पहले ही फारसी में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर दी थीं। मुगलकालीन कवियों में उर्फी शिराजी, फैजी, जुहूरी, तालिब आमूली आदि अधिक ख्यातिप्राप्त हुए। गीता, पुराण, महाभारत आदि का फारसी में रूपान्तरित होना इस युग की एक महत्वपूर्ण घटना थी। बदायुनी, अबुल-फजल, फिरिश्ता, सुजानराय आदि के फारसी में रचे गए इतिहास-ग्रन्थ भी इसी काल की उपज थे।

पंद्रहवीं शताब्दी में मुल्ला नूरुद्दीन अब्दुल रहमान 'जामी' फारसी का एक सशक्त कवि हुआ। उसके भतीजे हातिफी का भी नाम फारसी रोमांटिक और वीर-काव्य के क्षेत्र में अमर है। मध्यकाल के अन्य फारसी साहित्यकारों में फिगानी, आसफी, अहली, हिलाली, साम मिर्जा, हैराती, मुहतशम काशी, फसीही, जुलाली, आदि कई उत्कृष्ट कवियों के नाम गिनाए जा सकते हैं। अठारहवीं शती के लेखकों में शेख अली हजीन का नाम श्रद्धा के साथ लिया जाता है। लुत्फ अली के भी दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हुए। ये हैं--'आतशकदा' तथा 'यूसुफ जुलेखा'।

१९वीं शती के उत्तरार्ध को फारसी की नई साहित्यिक क्रान्ति का युग कहा जा सकता है। फारस के बादशाह नासिरुद्दीन शाह (१८४८-१८९६ ई०) ने योरप की यात्रा की, जिससे योरप एवं फारस में सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित हुआ। इस सम्पर्क से फारसी साहित्य पर योरपीय साहित्य का प्रभाव पड़ा। मिर्जा जाफर ने अनेक फ्रांसीसी नाटकों का फारसी में अनुवाद किया तथा सनीउद्दौला ने इतिहास तथा भूगोल के अनेक ग्रन्थ प्रस्तुत किए।

बीसवीं शती में फारसी साहित्य में एक सर्वथा नवीन काव्यधारा बही। परन्तु साथ ही साथ प्राचीन काव्यधारा भी बहती रही। प्राचीन काव्यधारा के कवियों में इराज मिर्जा, अदीबी तथा लाहूती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वर्तमान काल में संसार के अन्य साहित्यों की भाँति नई पीढ़ी की साधना से फारसी साहित्य भी सभी विधाओं में प्रगति की ओर बढ़ रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

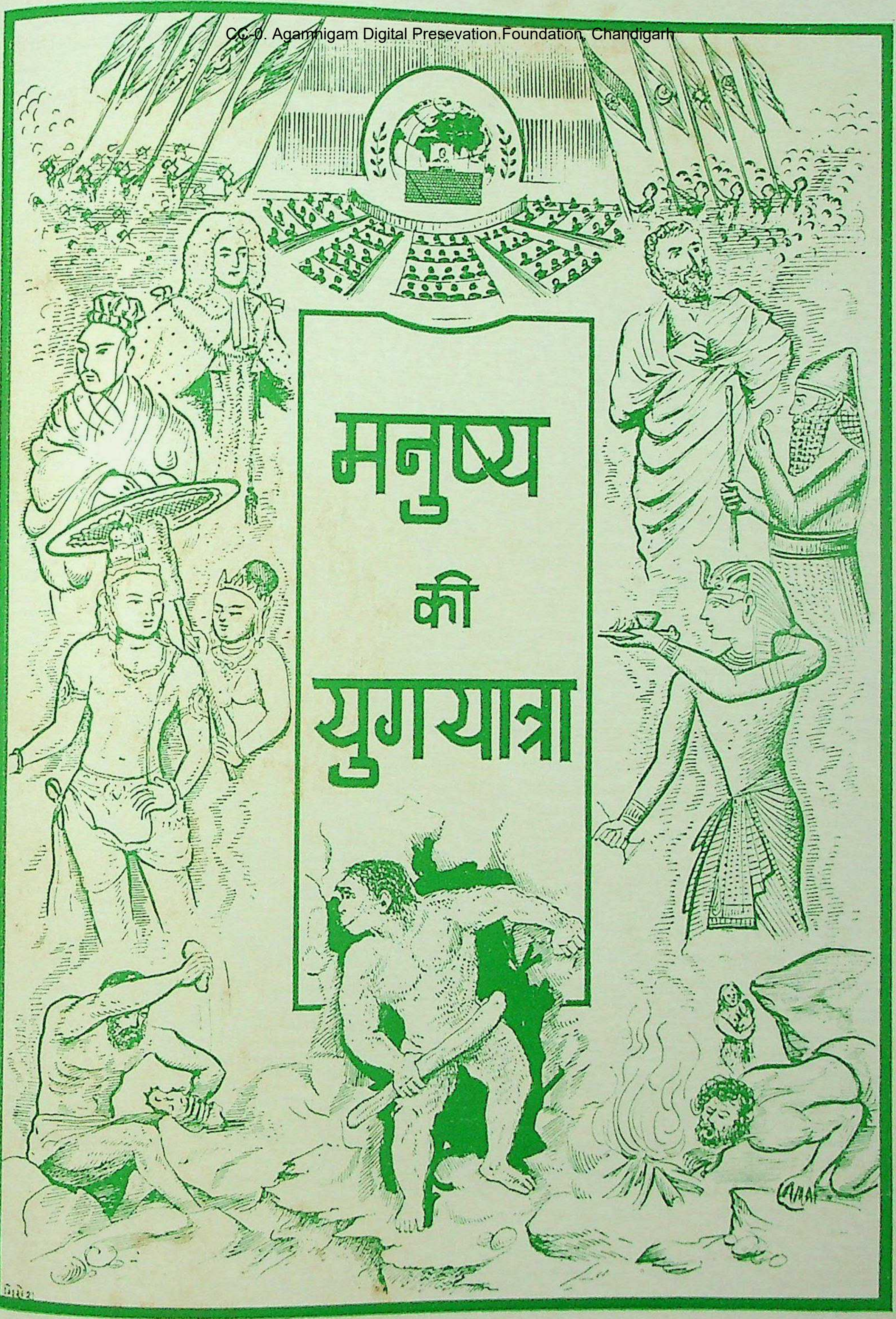

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

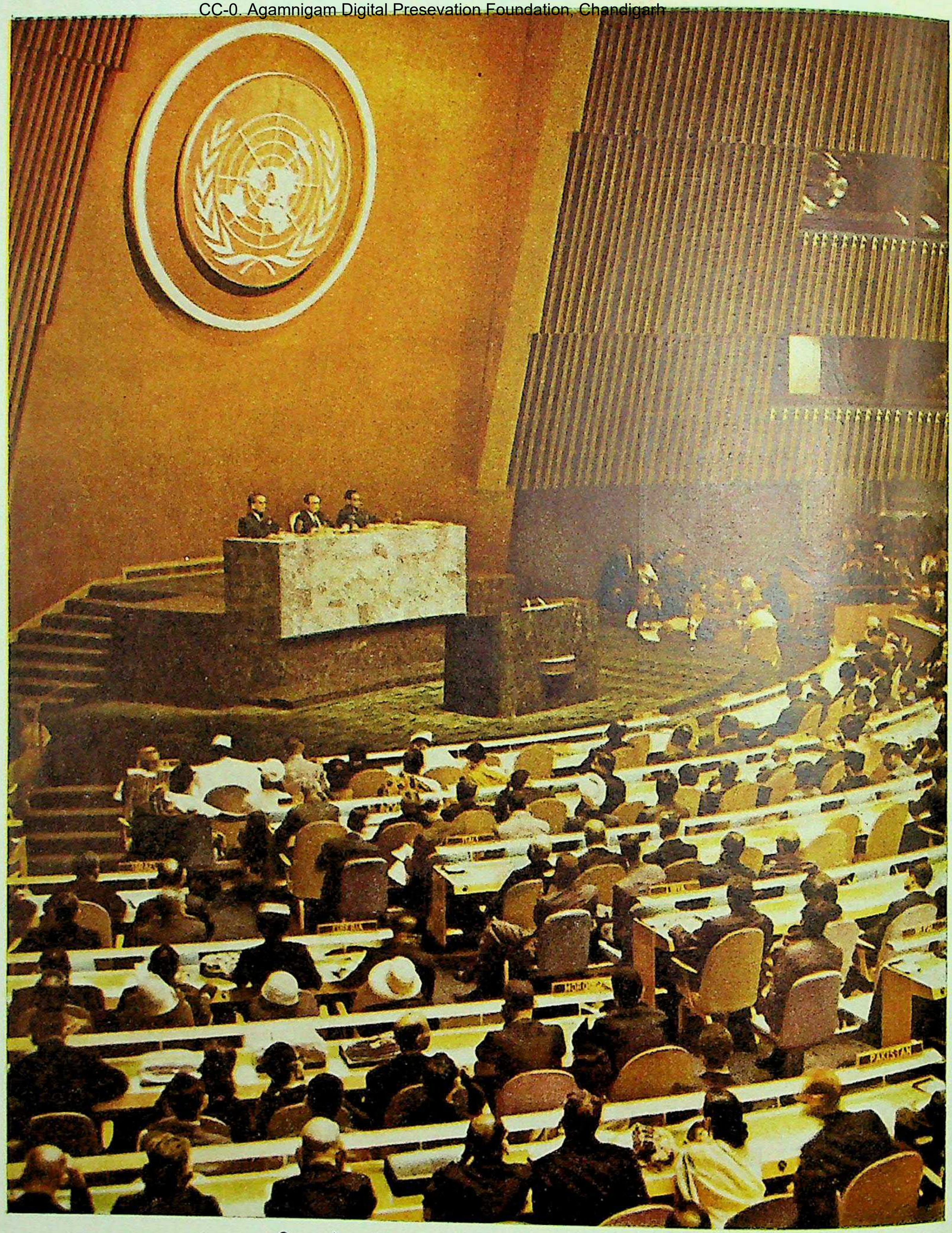

महान् विश्व-संस्था 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' के अधिवेशन की एक झाँकी

हजारों वर्षों से विविध वर्ण, जाति, भाषा, धर्म और संस्कृति के घिरौंदों में बँटी हुई एवं भौगोलिक सीमाओं द्वारा एक-दूसरे से विलग बनी हुई मानवता युद्ध की निस्सारता एवं पारस्परिक सहयोग की अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करते हुए अब धीरे-धीरे एकता की दिशा में अपने कदम बढ़ा रही है। विश्व-संस्था 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' इसका जीता-जागता प्रतीक है। विशेष विवरण पृ० ३८०४-३८०५ पर पढ़िए [फोटो—'युनाइटैड स्टेट्स इन्फर्मेशन सर्विस' के सौजन्य से]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्यकालीन योरप :: मुख्य युग-प्रवृत्तियाँ

रोम के पतन तथा पश्चिमी रोमन साम्राज्य के विच्छेद से लेकर 'सांस्कृतिक पुनरुत्थान' तथा 'धर्म-सुधार आन्दोलन' तक योरपीय सभ्यता ने एक ऐसे सहस्रवर्षीय युग में पदार्पण किया, जिसे इतिहास में 'मध्यकाल' कहते हैं। मध्यकाल अवस्था विशेष तथा युग दोनों ही का द्योतक है। पश्चिमी योरप में इसका अंत कोलंबस की यात्राओं के श्रीगणेश से होता है। रूस में तो मध्यकालीन परिस्थितियाँ पीटर महान् के समय (१७-२५ ई०) तक बनी रहीं। मध्यकाल मनुष्य की युगयात्रा का संक्रमणकाल था, जिसमें प्राचीन सभ्यता एवं रूढ़ियों को छोड़कर मानव आधुनिक सभ्यता की ओर कदम उठाने की तैयारी में लगा हुआ था। रोम के पतन के समय पश्चिमी योरप की सभ्यता के अन्दर शिथिलता के कीटाणु लग गए थे। उक्त सभ्यता में मानव को ऊपर उठाकर उसे प्रगतिशील बनाने की शक्ति शेष नहीं रह गई थी। इन दिनों राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था तथा हर कहीं सामन्त-प्रणाली का ही दौरदौरा था। परन्तु रोमन सभ्यता एवं आक्रमणकारी बर्बर जातियों के संपर्क तथा रक्त-सम्मिश्रण के फलस्वरूप इसी काल में आधुनिक योरपीय सभ्यता का बीजारोपण हुआ। विल ड्युरैण्ट के शब्दों में 'मध्यकालीन योरप के लोग पहले बर्बरता के शिकार हुए, फिर बर्बरता के विजेता बने और अंत में वे अभिनव सभ्यता के निर्माता सिद्ध हुए।'

रप के इतिहास में प्रारंभिक मध्यकाल 'अंधकार और अज्ञान का युग' कहा जाता है। इसका कारण यह है कि एक तो लोगों को इस काल की जानकारी बहुत कम है; दूसरे उस समय जो निन्दनीय घटनाएँ घटीं, उन्हें अच्छा नहीं समझा जाता है। पूर्वोत्तर से आनेवाली बर्बर जातियों के आक्रमण का शिकार होकर इन दिनों सारा योरप अशांति, अव्यवस्था एवं अन्धेर के वातावरण से ग्रस्त था। केवल बाइजेण्टाइन का पूर्वी साम्राज्य, जो पश्चिमी रोमन साम्राज्य से पृथक् हो गया था, एक हजार वर्ष के लिए और जीवित बना हुआ था। योरप की इसी निर्बलता के कारण इस्लाम ने एक शताब्दी के अन्दर ही भूमध्यसागर के आसपास के देशों में अपनी विजय-पताका फहराने में सफलता प्राप्त कर ली थी, यद्यपि मुख्य योरपीय भूखंड में वह अधिक दूरी तक आगे नहीं बढ़ सका था।

मध्यकालीन योरप की मुख्य प्रवृत्तियाँ

मध्यकालीन योरप के जीवन में निम्नांकित मुख्य प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं :—

(१) चर्च के प्रभाव में वृद्धि।
(२) 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की स्थापना।
(३) सामन्त-प्रणाली का विकास।
(४) चर्च और राज्य का संघर्ष।
(५) धर्म-युद्ध।
(६) नगरों का विकास।

आइए, क्रमशः इन प्रवृत्तियों पर विचार करें।

१. चर्च के प्रभाव में वृद्धि

चर्च-संगठन—'चर्च' का मतलब यहाँ उन गिरजाघरों से नहीं है, जहाँ प्रति रविवार को एकत्रित होकर ईसाई लोग ईश-वंदना करते और प्रभु ईसा मसीह का संदेश सुनते हैं। 'चर्च' वस्तुतः सामूहिक रूप से उस धार्मिक संस्था का नाम था, जिसके संगठन एवं निर्माण की नींव ईसाई धर्म-सिद्धांतों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर श्राश्रित थी। उसके संगठन का वास्तविक श्रादर्श रोमन साम्राज्य का संगठन था। इस संगठन में शृंखलाबद्ध धर्माधिकारी होते थे--जैसे कि 'प्रीस्ट', 'श्रार्कबिशप' तथा 'पोप'। इन सब में पोप का स्थान सर्वोच्च होता था। सिद्धांततः पोप के श्रधिकार प्रभु ईसा द्वारा प्रदत्त माने जाते थे। फलतः चर्च की शासन-व्यवस्था एक प्रकार से ईशसत्तात्मक थी। परन्तु इसके साथ ही साथ चर्च का शासन-प्रबन्ध प्रजातांत्रिक भी था, क्योंकि पागल, श्रपंग, श्रपराधी, धर्मच्युत तथा दास को छोड़कर प्रत्येक ईसाई श्रपनी योग्यता के बल पर ठेठ पोप के पद पर श्रासीन हो सकता था, चाहे वह संपन्न कुल का हो, चाहे श्रकिंचन परिवार में ही क्यों न उत्पन्न हुश्रा हो ! सैकड़ों बिशप तथा श्रनेक पोप निर्धन परिवार में उपजकर भी उच्च पद पर पहुँचे थे !

चर्च के अधिकार—चर्च को समय-समय पर लोगों से दान-दक्षिणा मिला करती थी। निःसंतान लोग श्रपनी संपत्ति चर्च को दे देते थे। इस प्रकार उसके पास श्रसीमित धन इकट्ठा हो गया था, जिस पर किसी प्रकार का कर नहीं देना पड़ता था। चर्च को लोगों की श्राय का 'दशमांश' मिलता था। राज्य की ओर से भी उसे भूमि प्राप्त थी। फलतः श्रधिकांश धर्माधिकारी बड़े-बड़े भूमिपति एवं सामंतों जैसे थे। उनके मुकद्दमों का फैसला राजकीय न्यायालयों में नहीं, वरन् चर्च के विशेष न्यायालयों द्वारा ही किया जाता था। चर्च के श्रपने पृथक् कानून थे, श्रपनी पुलिस थी श्रौर श्रपनी पृथक् दण्ड-व्यवस्था थी। इन अधिकारों से लैस होकर वह राजाश्रों तक को पदच्युत एवं धर्मच्युत कर सकता था।

चर्च की प्रभाव-वृद्धि के कारण—रोम के पतन के उपरांत पैदा होनेवाली अव्यवस्था में चर्च सब से प्रभावशाली संस्था सिद्ध हुई। उसका प्रभाव मध्यकालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। इसके पहले भी चर्च की शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी। रोम के बिशप (पोप) लीश्रो महान् ने पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूण तथा वेण्डाल नामक बर्बर जातियों को रोम पर श्राक्रमण करने से सफलतापूर्वक मना किया था ! इससे स्पष्ट है कि बर्बर जातियाँ भी चर्च का आदर करती थीं। मृत्योपरांत जीवन में विश्वास करने की ईसाई धर्म की शिक्षा ने चर्च की प्रभाव-वृद्धि में बड़ी सहायता की। श्रब तक यूनानी श्रौर रोमन सभ्यताश्रों में पले हुए लोग सांसारिक जीवन को ही श्रधिकाधिक सुखी बनाना चाहते थे; मृत्योपरांत जीवन को सुखी बनाने की श्रोर उनका श्रधिक ध्यान नहीं गया था। किन्तु ईसाई धर्म ने लोगों को बताया कि सांसारिक जीवन श्रल्पकाल का होने के कारण श्रधिक महत्वपूर्ण नहीं है; इसलिए इसे श्रधिक सुखपूर्ण बनाने की चिंता नहीं करनी चाहिए; श्रधिक महत्वपूर्ण जीवन तो मृत्यु के बाद श्राता है, जब मनुष्य को या तो श्रनन्तकाल के लिए स्वर्ग का सुख मिलता है या नरकयातना भुगतनी पड़ती है; मनुष्य को स्वर्गिक सुख की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब वह ईसाई धर्म की दीक्षा लेकर चर्च के अधिकारियों का सम्मान करे श्रौर यथाशक्ति दानपुण्य करे। इस प्रकार लोगों की यह दृढ़ धारणा हो गई कि मरणोपरान्त उनके जीवन का कल्याण चर्च पर ही श्राश्रित है। इसके श्रतिरिक्त, चर्च की सामाजिक सेवाएँ भी उसका प्रभाव बढ़ाने में सहायक हुईं। विधवाश्रों तथा श्रनाथ बच्चों की देखरेख चर्च ही करता था। वह भूखों को भोजन श्रौर दरिद्रों को दान देता था। जनसाधारण की शिक्षा का प्रबंध भी वही करता था। लोगों के इकरारनामों, वसीयतनामों तथा वैवाहिक प्रतिज्ञाश्रों का पालन भी वही कराता था। इस प्रकार जन्म से मृत्यु-पर्यन्त किसी भी ईसाई का जीवन बिना चर्च की सहायता के जीवन नहीं कहा जा सकता था।

पोप का प्रभाव—चर्च की प्रभाव-वृद्धि के साथ ही साथ ईसाइयों के धर्मगुरु रोम के बिशप श्रर्थात् पोप के प्रभाव में भी वृद्धि होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि चर्च से पृथक् पोप का कोई अस्तित्व ही नहीं था। जैसा कि बताया जा चुका है, चर्च-संगठन का वास्तविक श्रादर्श रोमन साम्राज्य का संगठन था। श्रतः उक्त साम्राज्य के पतन के बाद उसका स्थान रोमन कैथलिक चर्च ने श्रौर सम्राट् का स्थान पोप ने ले लिया। श्रपनी प्राचीनता श्रौर सांस्कृतिक महिमा के कारण रोम का योरप में बहुत बड़ा महत्व था। पहले तो सभी बिशप समान थे, किन्तु कालान्तर में अपने व्यक्तित्व तथा श्रपने-श्रपने क्षेत्रों की ऐतिहासिक महत्ता के कारण विविध बिशपों की मर्यादा में श्रन्तर उत्पन्न हो गया। ऐसी परिस्थिति में रोम के बिशप की प्रतिष्ठा का बढ़ना स्वाभाविक ही था--उसे श्रन्य बिशपों से पृथक् श्रब 'पोप' कहा जाने लगा। इसके श्रतिरिक्त रोम के पोप के प्रभाव की वृद्धि का कारण धार्मिक भी था। ईसा मसीह के बाद ईसाई धर्म के प्रचार का श्रेय पीटर और पॉल नामक संतों को था। इन दोनों का रोम से घना संबंध था--दोनों ही रोम में शहीद हुए थे। ईसाई धर्म का श्रादिम चर्च --संत पीटर का चर्च--भी रोम में ही था। इस प्रकार रोम ईसाई जगत् का केन्द्र समझा जाने लगा।

पाँचवीं शताब्दी में लीओ महान् के समय में श्रन्य बिशपों के ऊपर रोम के बिशप की प्रधानता निश्चित रूप से घोषित कर दी गई। तब से पोप का वाक्य ब्रह्मवाक्य समझा जाने लगा

श्रौर श्रखिल ईसाई जगत् के लिए उसकी आज्ञाश्रों का पालन अनिवार्य हो गया। राजाश्रों तथा सम्राटों के मस्तक उसके चरणों पर झुकने लगे श्रौर पोप-पद की प्राप्ति पश्चिमी जगत् की सर्वोच्च महत्वाकांक्षा समझी जाने लगी। जो लोग धर्म-शास्त्र में पारंगत तथा कानून के प्रकांड पंडित होते एवं बुद्धि तथा साहस से युक्त होकर समूचे योरप के धार्मिक प्रशासन से किंचित्मात्र नहीं घबड़ाते थे, वही पोप-पद पर पहुँचते थे। पोप योरप का श्राध्यात्मिक सम्राट् था, जिसकी शक्ति तेर-हवीं शताब्दी में श्रपने चरम बिन्दु पर पहुँच गई। केवल वही समस्त बिशपों की सामान्य सभा को बुला सकता था और उक्त सभा द्वारा पारित संकल्प तब तक धार्मिक नियम नहीं माने जा सकते थे, जब तक उन्हें पोप की स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त नहीं हो जाती थी। धार्मिक सिद्धान्तों एवं श्रधिनियमों की टीका श्रौर उनमें संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करने का अधिकार भी केवल पोप को था। निम्न कोटि के धर्मा-धिकारियों के न्यायालयों में निर्णीत धार्मिक मामलों की श्रंतिम श्रपील भी वही सुनता था श्रौर लोगों को पाप से मुक्त करने का अधिकार भी केवल उसे ही था। सार्डीनिया तथा सिसली सरीखे द्वीप एवं इंगलैंड, हंगरी तथा स्पेन सरीखे देश पोप को श्रपना सामन्तिक महाप्रभु सम-झते थे श्रौर उसे समय-समय पर भेंट एवं उपहार श्रर्पित किया करते थे।

आरंभिक पोपों में सब से प्रसिद्ध पोप ग्रेगरी महान्।

ग्रीक चर्च का पृथक्करण—कुछ समय बाद यह श्रावाज उठाई गई कि 'नए रोम' (श्रर्थात् बाइजैण्टाइन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया) के बिशप को भी प्राचीन रोम के बिशप के समान ही समझा जाय। यह माँग स्वीकार नहीं की गई। इसलिए कुस्तुनतुनिया का यूनानी चर्च धीरे-धीरे रोम के लैटिन चर्च से पृथक् हो गया। उसके पूजा-पाठ की विधि भी भिन्न हो गई। परन्तु इस घटना से रोमन चर्च की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव पर कोई असर नहीं पड़ा।

चर्च की शक्ति के विस्तार में कुछ प्रसिद्ध पोपों के व्यक्तित्व एवं सेवाश्रों का गहरा हाथ था। इनमें पोप ग्रेगरी महान् (५९०-६०४ ई०), ग्रेगरी सप्तम् (१०७३-१०८५ ई०) तथा इनोसेण्ट तृतीय (११९८-१२१६ ई०) सब से उल्लेखनीय थे। पोप ग्रेगरी महान् का जन्म उच्च खानदान में हुश्रा था, किन्तु भोगविलास को छोड़कर उसने धर्म-प्रचार का ही बीड़ा उठाया। स्पेन तथा इंगलैंड में ईसाई धर्म के प्रचार का श्रेय उसी को था। जर्मनी में भी ईसाई धर्म के प्रचार का वाता-वरण उसी ने पैदा किया था। ग्रेगरी सप्तम् की सेवाश्रों का वर्णन श्रागे होगा। पोप इनोसेण्ट तृतीय का कहना था कि इस पृथ्वी पर राजशक्ति का नियंत्रण केवल मनुष्य के शरीर के ऊपर रहता है, जब कि मनुष्य की श्रात्मा पर पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनों में चर्च का ही प्रभुत्व होता है!

मठों एवं भिक्षुक-संघों की स्थापना—चर्च के प्रभाव की वृद्धि के सिलसिले में नूतन मठों एवं भिक्षुक-संघों की स्थापना का भी वर्णन श्रावश्यक प्रतीत होता है। इन संस्थाश्रों की स्थापना मध्यकालीन जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी। इनका मुख्य ध्येय चर्च तथा धर्माधिकारियों में प्रविष्ट कुरीतियों एवं त्रुटियों का निवारण एवं प्रक्षा-लन करके चर्च को अधिकाधिक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली बनाना था। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, धर्माधिकारी बड़े-बड़े भूमिपति हुश्रा करते थे श्रौर वे लोग खेती भी किया करते थे। लोगों के दान की बदौलत चर्च की पूँजी श्रत्यधिक बढ़ गई थी। उसका सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव भी श्रधिक हो चला था। इस वैभव के कारण धर्माधिकारियों का नैतिक स्तर गिरने लगा था श्रौर वे लोग कामिनी, कंचन तथा सुरा-जाल में फँसकर भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करने लगे थे। ऐसी स्थिति में ईसा के श्रादर्शों की पुन-र्प्रतिष्ठा तथा चर्च के श्राभ्यंतरिक सुधार के निमित्त श्रभिनव मठों एवं भिक्षुक-संघों की स्थापना श्रपेक्षित थी।

तेरहवीं शताब्दी ई० तक मध्यकालीन योरप में साधारण-तया यह प्रथा प्रचलित रही कि धर्मभीरु, धनहीन एवं श्रधिक बोझिल गृहस्थीवाले माता-पिता सात वर्ष या उससे श्रधिक श्रवस्था के श्रपने बच्चों को ईश्वर तथा धर्म की सेवा के हेतु साधु-संन्यासी का जीवन बिताने के लिए मठों एवं भिक्षुक-संघों को अर्पित कर दिया करते थे। संत टॉमस ऐक्विनास के जीवन का प्रारंभ इसी प्रकार से हुश्रा था। इन मठों तथा भिक्षुक-संघों में कार्य करनेवाले ईसाई साधुश्रों को कड़े संयम-नियम श्रौर कठोर श्रनुशासन का जीवन व्यतीत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करना पड़ता था। उन्हें 'रेग्युलर क्लर्जी' के नाम से पुकारा जाता था। इन मठों तथा संघों की स्थापना किसी पृथक् धार्मिक संगठन के लिए नहीं हुई थी, वरन् जिन सेवाओं की पूर्ति में चर्च असमर्थ था, उनमें सहायता एवं सहयोग के लिए ही ये संस्थाएँ स्थापित की गई थीं। इन मठों के संस्थापकों का विश्वास था कि आत्मा इस शरीर में बंदी बनी हुई है; वह भोग-विलास में पड़कर ईश्वर तक नहीं पहुँच सकती ! इसलिए शरीर को जितना अधिक कष्ट दिया जायगा और जितनी कठोर तपस्या की जायगी, आत्मा का उतना ही अधिक कल्याण होगा। इन मठों और संघों से संबंधित साधु-संन्यासी तथा भिक्षु ब्रह्मचर्य, निर्धनता, सादगी, कठोर आत्म-संयम एवं आज्ञाकारिता का जीवन व्यतीत करने की शपथ ग्रहण किया करते थे। इस प्रकार धर्म तथा मानवता की सेवा करके वे अपना पारलौकिक जीवन सफल करना चाहते थे। मध्यकालीन योरप की यह विचारधारा मानव सभ्यता के लिए कोई नई देन नहीं थी, क्योंकि शताब्दियों पूर्व भारत के बौद्ध मठ एवं भिक्षु-संघ, जैनियों का कठोर आत्मानुशासित जीवन एवं शंकराचार्य द्वारा पुनर्गठित हिन्दू धर्म इसी प्रकार के संगठनों द्वारा मानवता की सेवा का मार्ग पहले ही प्रशस्त कर चुके थे। अचरज नहीं कि ईसाई जगत् को तद्विषयक प्रेरणा उन्हीं से प्राप्त हुई हो।

संत बेनीडिक्ट, संत बर्नार्ड, संत फ्रांसिस तथा संत डोमिनिक—इन मठों और भिक्षु-संघों के साथ संत बेनीडिक्ट, संत बर्नार्ड, संत फ्रांसिस तथा संत डोमिनिक नामक संतों का गहरा संबंध है। संत बेनीडिक्ट का जन्म ४८० ई० में हुआ था। इटली में मठों की स्थापना का सूत्रपात उसी ने किया था। उसने मठों में रहनेवाले ईसाई साधुओं की दिनचर्या के लिए कड़े नियम बनाए। उसके अनुयायियों के लिए शाकाहारी सात्विक आहार ग्रहण करना, उपवास करना, अकिंचन रहने का प्रण करना, प्रतिदिन छः-सात घंटे कठिन शारीरिक श्रम करना तथा ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करने का व्रत लेना अनिवार्य था। बाद को जिन मठों ने इन नियमों का पालन करना स्वीकार किया, वे 'संत बेनीडिक्ट-संप्रदाय' के माने जाने लगे।

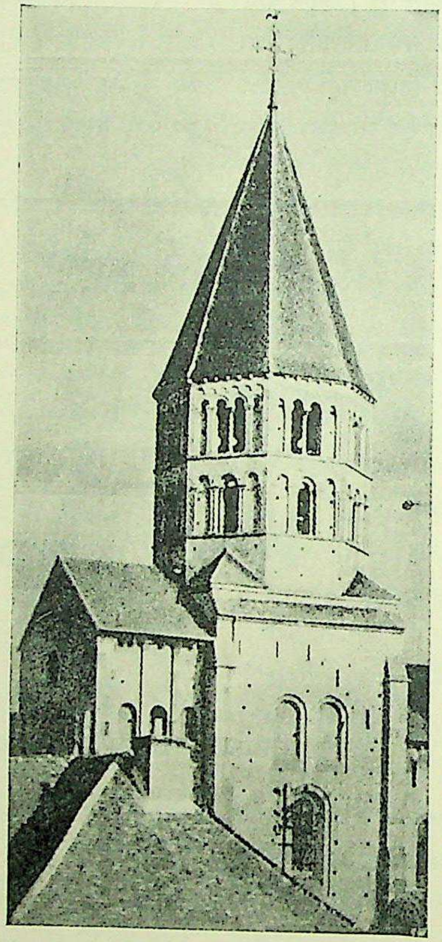

मध्ययुग का एक आरंभिक ईसाई मठ।

इस संप्रदाय के कठोर आत्म-संयम से घबड़ाकर उसे माननेवाले साधु-संतों की संख्या शीघ्र ही घट चली। इस प्रकार यह आन्दोलन सर्वथा लुप्त हो गया होता, यदि कतिपय अन्य मठों एवं संप्रदायों के आविर्भाव द्वारा उसे नूतन प्रेरणा न मिली होती। इस अनुष्ठान की पूर्ति का सर्वाधिक श्रेय संत बर्नार्ड को मिला, जिसका जन्म १०९१ ई० में हुआ था। बर्नार्ड ने सांसारिक जीवन को दुःखमय समझकर अल्पावस्था में ही वैराग्य धारण कर लिया था और वह एक मठ में प्रविष्ट हो गया था। कालांतर में उसने अपनी माता, बहन एवं पिता को भी भिक्षु बनने को राजी कर लिया। तब क्लेयरवाक्स नामक निर्जन जंगल में उसने एक मठ की स्थापना की, जिसमें रहनेवाले भिक्षुओं की संख्या उसकी मृत्यु के समय तक ७०० तक पहुँच गई थी! संत बर्नार्ड ने बाइबिल को ईश्वर की वाणी मानकर कठोर आत्म-संयम का जीवन बिताया और अपनी शिक्षाओं का प्रचार मुख्यतः निर्धन कृषकों तथा गड़रियों में किया, यद्यपि नरेश तथा पोप तक उसे सिर नवाते थे। उसके विषय में कहा जाता है कि वह ईसा का सच्चा भक्त था और उसके अनुयायी चाहे देवदूतों से निम्न कोटि के रहे हों, पर सामान्य मनुष्यों से तो वे अधिक ऊँची कोटि के थे। संत बर्नार्ड की मृत्यु ११५३ ई० में हुई। उसकी सब से बड़ी सफलता यही थी कि उसने अपने युग के चर्च तथा राज्य दोनों की रीति-नीति को गहराई के साथ प्रभावित किया। उस जमाने में किसी भी पोप का निर्वाचन बिना उसकी मंत्रणा के नहीं होता था।

संत फ्रांसिस (११८२-१२२६ ई०) का जन्म अस्सीसी नामक स्थान के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। वह पहले तो अपने पैतृक व्यवसाय को छोड़ सेना में भर्ती हो गया था, परंतु एक दिन गिर्जाघर में प्रार्थना करते समय उसे प्रतीत हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानो महाप्रभु ईसा स्वयं उसे संन्यास धारण करके धर्म एवं मानवता की सेवा करने का उपदेश दे रहे हैं ! अतः उसने तत्काल संसार छोड़ दिया और द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर अकिंचन का जीवन व्यतीत करने का प्रण किया। संत फ्रांसिस ने भजन-प्रवचन द्वारा समाज के पददलित तथा निम्नतम श्रेणी के लोगों में धर्म-प्रचार का कार्य आरंभ किया। उसकी प्रगाढ़ धर्म-भावना और आध्यात्मिक चमत्कारों के अनेक प्रसंग मशहूर हैं। उसके अनुयायी 'फ्रांसिस्कन' कहलाए। कहते हैं, उसके जीवन-कालही में उसके संप्रदाय में लगभग पाँच सहस्र साधु सम्मिलित हो चुके थे।

संत डोमिनिक (११७०-१२२१ ई०) संत फ्रांसिस का ही समसामयिक था। उसका लालन-पालन एक धर्माचार्य ने किया था। उसने भी स्वेच्छा से अकिंचन साधु का जीवन व्यतीत करने का व्रत ले लिया और अंत में 'डोमिनिकन' नामक संप्रदाय की स्थापना की। उसके अनुयायी ईसाई धर्म के विरोधियों एवं निन्दकों के बीच अपने मत का प्रचार किया करते थे।

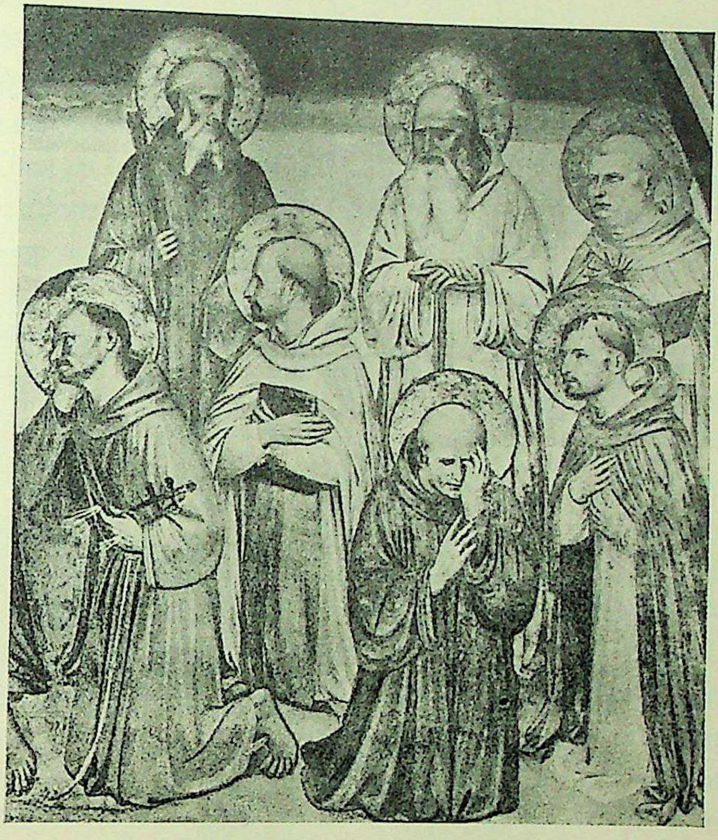

मध्यकाल के महान् ईसाई संत :: (बाईं ओर से प्रथम) संत फ्रान्सिस; (द्वितीय) संत बेनेडिक्ट; (तृतीय) संत बर्नार्ड; (छठा) संत टामस ऐक्विनास।

मठों का प्रभाव—इन मध्यकालीन मठों और संप्रदायों का तत्कालीन योरपीय सभ्यता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जिस समय पश्चिमी योरप में अशांति के बादल मँडरा रहे थे, उन दिनों इन आत्मनिर्भर मठों के शांत वातावरण में उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण हुआ था। प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों के संरक्षण में भी उन्होंने मूल्यवान् योग दिया था। इन धार्मिक संस्थाओं पर बर्बर जातियाँ भी अपना हाथ नहीं उठाती थीं। बड़े-बड़े पोप, विद्वान्, लेखक तथा धर्म-प्रचारक इन्हीं मठों में से उत्पन्न हुए थे।

२. पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना

फ्रैंक साम्राज्य—पश्चिमी योरप पर आक्रमण करनेवाली बर्बर जातियों में सब से अधिक सफलता फ्रैंक लोगों को मिली थी। मध्यकाल में पाँचवीं से लेकर नवीं शताब्दी ई० तक पश्चिमी तथा मध्य योरप में इसी जाति का प्राधान्य रहा और उसने योरप को एकता तथा शांति प्रदान करने में मूल्यवान् योग दिया। फ्रैंक जाति का सब से बड़ा शासक शार्लमेन या चार्ल्स महान् हुआ, जिसका आदर्श केवल विजय प्राप्त करना ही नहीं, वरन् शासन-संगठन करना भी था। वह खलीफा हारूँ-अल-रशीद का समकालीन एवं मित्र था। फ्रैंक राज्य का मूल संस्थापक क्लोविस (४८०-५११ ई०) था, जिसके उत्तराधिकारी बहुत निर्बल एवं अयोग्य निकले। अतः वास्तविक शासन की बागडोर प्रधान मंत्री के हाथों में रही, जिसे 'राजमहल का मेयर' कहते थे। चार्ल्स मारतेल इस प्रकार का सर्वोत्तम 'मेयर' हुआ। उसने राज्य का सैनिक संगठन करके योरप की ओर बढ़ते चले आ रहे अरबों को पोइतिएर्स के युद्ध में पराजित कर दिया (७३२ ई०)। इस प्रकार उसने योरप को मुसलमानों के झंडे के नीचे आने से बचा लिया! चार्ल्स मारतेल की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र पेपिन फ्रैंक जाति का राजा हुआ। उसका राजतिलक स्वयं पोप ने किया था (७५१ ई०)। इस प्रकार जिस वंश की स्थापना हुई, वह 'कैरोलिंजियन राजवंश' कहलाया। इस राजवंश की स्थापना के साथ ही राजाज्ञा का पालन फ्रैंक लोगों का परम राजनीतिक एवं धार्मिक कर्त्तव्य हो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया। अब राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने लगा। इस प्रकार 'राजा के दैवी अधिकार' के प्रसिद्ध सिद्धांत का जन्म हुआ। अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए पेपिन ने लोम्बार्ड जाति के आक्रमण से रोम की रक्षा की और पोप को कुछ भूमि भी दान की।

शार्लमेन महान् (७६८-८१४ ई०)—पेपिन के बाद शार्लमेन फ्रैंक साम्राज्य की गद्दी पर बैठा। उसने डेन तथा सैक्सन जातियों के विरुद्ध कई लड़ाइयाँ लड़ीं। इन्हें पराजित करके उसने अशान्त योरप को दीर्घ शांति प्रदान की। शार्लमेन का व्यक्तित्व बड़ा ही ऊँचा था। उसमें शारीरिक शक्ति एवं मानसिक प्रतिभा दोनों गुणों का अद्भुत मेल था। अपने व्यापक साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में एकता स्थापित करने के लिए उसने शासन की नई योजना बनाई थी। प्रांताधीशों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए वह दो निरीक्षकों को भेजा करता था, जो अपना प्रतिवेदन सम्राट् की सेवा में प्रेषित करते थे। सम्राट् स्वयं भी राज्य का दौरा किया करता था। उसने योरप में मानसिक जागरण उत्पन्न किया और विद्या का प्रचार किया। उसके दरबार में विदेशी विद्वान् भी आते रहते थे। उसने साहित्यिक उन्नति के लिए बहुत बड़ा प्रयास किया और प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह कराया। शार्लमेन का राजतिलक पोप ने स्वयं संत पीटर के प्राचीन गिर्जाघर में किया था और उसे रोमन सम्राट् की उपाधि दी थी। उसके समय में योरप में शांति एवं व्यवस्था का स्वर्णयुग छा गया था। वह युगनिर्माता माना गया है।

चार्ल्स मारतेल।

सम्राट् शार्लमेन महान्।

पवित्र रोमन साम्राज्य—शार्लमेन के बाद उसका पुत्र 'धर्मात्मा लूई' गद्दी पर बैठा। तदुपरान्त उसके बाद उसके तीन पुत्रों—लोथेयर, चार्ल्स तथा लूई—में गृहयुद्ध हुआ। इस युद्ध के फलस्वरूप वर्डन की संधि (८४३ ई०) हुई, जिसके अनुसार साम्राज्य तीन भागों में विभक्त कर दिया गया। इस बँटवारे में चार्ल्स को पश्चिमी भाग (वर्तमान फ्रान्स), लूई को पूर्वी भाग (वर्तमान जर्मनी) तथा लोथेयर को दक्षिणी भाग (इटली) मिला। इस प्रकार शार्लमेन का विस्तृत साम्राज्य उसके बाद ही छिन्न-भिन्न हो गया।

९६२ ई० में सम्राट् ओटो ने पश्चिमी योरप में एक बार पुनः राजनीतिक एकता स्थापित करने का प्रयास किया और फिर से पोप ने सम्राट् का राजतिलक किया। यहीं से 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का श्रीगणेश माना जाता है, यद्यपि उसका वास्तविक बीजारोपण शार्लमेन के समय में ही हो चुका था। यद्यपि यह साम्राज्य न तो 'पवित्र' था, न 'रोमन', न 'साम्राज्य' ही, फिर भी योरप में लम्बे अर्से तक उसका अस्तित्व बना रहा! पश्चिमी जगत् में उन दिनों 'पवित्र रोमन सम्राट्' का पद बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता था।

३. सामन्त-प्रणाली का विकास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शृंखलाबद्ध सामाजिक संगठन—सामन्त-प्रणाली एक प्रकार की शृंखलाबद्ध सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें राजा का स्थान सर्वोच्च श्रेणी पर था। इस पद्धति में लोगों की वैयक्तिक पदमर्यादा, उनका पारस्परिक सामाजिक संबंध एवं आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार और कर्त्तव्य उनके 'भौमिक स्वत्व' पर ही निर्भर करते थे। भौमिक स्वत्वरहित मनुष्य समाज में बेपेंदे का आदमी था। सामन्त-प्रणाली की रचना एक पिरामिड के समान थी, जिसमें सब से ऊपर प्रबल प्रतापी राजा होता था, उसके नीचे कई बड़े-बड़े सामंत, उनके नीचे बहुत-से लघु सामंत और सब से नीचे अगणित छोटे-छोटे जागीरदार होते थे। इस प्रथा के वस्तुतः दो पक्ष थे — राजनीतिक तथा आर्थिक।

प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में राजा समस्त राज्य की भूमि का स्वामी होता था। वह अपनी निजी स्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने पास कुछ भूमि रख लेता था, जो 'शाही सीर' कहलाती थी। शेष भूमि राजा अपने अनुयायियों को जागीर के रूप में बाँट देता था, जो उसके 'टेनैण्ट-इन-चीफ', 'वेसाल' या 'बेरन' कहलाते थे। हम उन्हें 'प्रथम श्रेणी का जागीरदार' कह सकते हैं। बेरन लोग राजा की तरह अपनी-अपनी 'सीर' निकालकर शेष भूमि अपने अनुयायी जागीरदारों को बाँट देते थे, जो 'द्वितीय श्रेणी के जागीरदार' कहे जाते थे। इसी प्रकार द्वितीय श्रेणी के लोग अपने से निम्न कोटि के लोगों को, निम्न कोटिवाले निम्नतर कोटिवालों को और निम्नतर कोटिवाले निम्नतम कोटिवाले सामंतों को भूमि का वितरण करते थे। इसी शृंखलाबद्ध सामाजिक संबंध पर सारा राज्य-संगठन अवलम्बित था और राजा उसमें सब से उच्च शृंखला पर अवस्थित था।

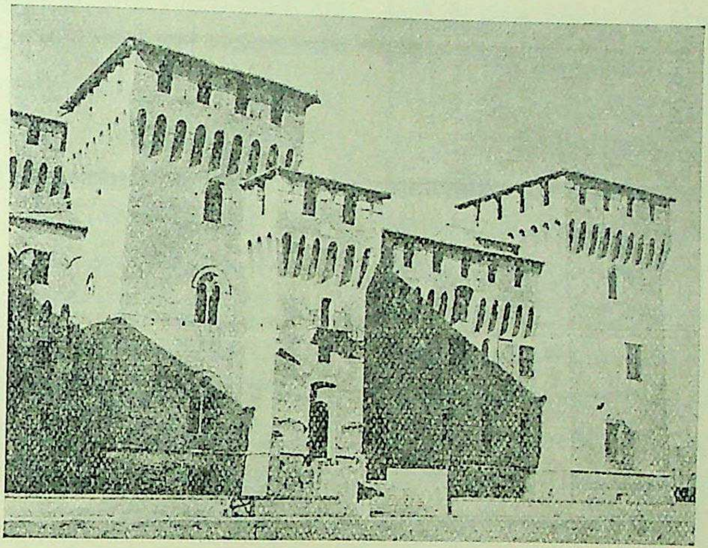

सामन्त-युग में बेरन लोग इसी प्रकार के दुर्ग जैसे दृढ़ किलेबन्द आवास-भवनों में बसते थे।

राजा के 'बेरनों' को तथा 'बेरन' लोगों से निम्न वर्गवाले जागीरदारों को भूमि एक ही प्रकार की निश्चित शर्तों पर मिलती थी। राजा अपने बेरनों को भूमि तथा शरण देकर उनकी रक्षा का प्रबंध करता तथा उनके मुकदमों का फैसला करता था। बेरन राजा की सैनिक सेवा करते, उसके दरबार में हाजिरी बजाते तथा उसके प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेते थे। इसके अतिरिक्त बेरनों को नजर या भेंट के रूप में कुछ नकद द्रव्य देकर राजा की समय-समय पर आर्थिक सहायता भी करनी पड़ती थी। भौमिक स्वत्व पैतृक वस्तु थी। उस पर उत्तराधिकार प्राप्त करने समय जागीरदार को राजा को एक विशेष प्रकार की भेंट देनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त युवराज के 'नाइट-संस्कार' के समय, ज्येष्ठ राजकन्या के विवाहोत्सव के समय तथा राजा की खण्डनी के लिए (बैरी के बंधन से मुक्त कराने के लिए) भी बेरनों को भेंट देनी पड़ती थी, जिसे 'बंधान-त्रय' कहते थे। धर्माचार्यों तथा धर्माधिकारियों को दी गई जागीरों के बदले उनसे सैनिक सेवा नहीं ली जाती थी; बल्कि वे लोग इसके प्रतिदान के रूप में ईश्वर से राजा एवं राज्य के कल्याण की शुभकामना किया करते थे।

सामंत-प्रणाली का आर्थिक पक्ष तत्कालीन ग्राम-संगठन एवं कृषि-व्यवस्था का सूचक था। राजा तथा बेरन अपनी-अपनी सीर में स्थित प्रत्येक 'ग्राम' के 'प्रभु' कहलाते थे। ग्राम-प्रभु 'ग्राम-भूमि' का कुछ अंश अपने लिए रखकर शेष अपने असामियों को शिकमी तौर पर उठा देता था। यह वितरण जिन शर्तों के आधार पर किया जाता था, उनके लक्षण पूर्णतया आर्थिक थे। शिकमी भूमि 'लॉर्ड' की स्थायी आमदनी का स्रोत थी। राजा बहुसंख्यक ग्रामों का ठाकुर था और उसके कोष की अधिकांश पूर्ति इन्हीं ग्रामों की आमदनी से हुआ करती थी। असामियों की दो श्रेणियाँ थीं—एक 'स्वतंत्र वृत्ति' के और दूसरे 'दास-वृत्ति' के। किंतु इस दास-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वृत्ति के असामी उस प्रकार के गुलाम नहीं थे, जिनका कि उल्लेख रोमन सभ्यता के वर्णन में किया गया है। प्रथम श्रेणी के असामी संख्या में बहुत कम थे तथा द्वितीय श्रेणी के अधिकतम। दोनों वर्गों के असामी अपने ठाकुर को नकद रुपया न देकर जिन्स देते और दोनों को अपने ठाकुर की कचहरी में हाजिर होना पड़ता था। जहाँ स्वतंत्र वृत्ति के असामियों की सेवाओं की शर्तें निश्चित थीं, वहाँ दास-वृत्ति का असामी सदैव अपने ठाकुर की कृपा का भिखारी बना रहता था। ठाकुर उसके ऊपर चाहे जितना मनमाना शोषण एवं अत्याचार करे, फिर भी बिना उसकी आज्ञा के न तो वह भूमि छोड़ सकता था और न अपनी लड़कियों की शादी ही कर सकता था! उसे ठाकुर के यहाँ जाकर प्रति सप्ताह दो या तीन दिन तक उसकी भूमि जोतने-बोने तथा मकान की मरम्मत करने की बेगार भी करनी पड़ती थी! उसका पिण्ड तभी छूट सकता था, जब वह किसी अज्ञात स्थान में भागकर एक वर्ष और एक दिन तक गायब रहता! ऐसा करना लगभग असंभव था।

मध्यकालीन योरप की यह सामंत-प्रणाली इतिहास के लिए कोई नई वस्तु नहीं थी। मिस्र तथा चीन में इससे सहस्रों वर्ष पूर्व सामन्त-प्रथा का विकास हो चुका था। हाँ, यह बात अवश्य थी कि चीन की सामन्त-व्यवस्था योरप की सामन्त-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक सरल थी। योरपीय सामन्त-प्रणाली का विकास क्रमशः हुआ था। उस समय की अव्यवस्थित परिस्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक ही था। उन दिनों लोगों के जीवन और संपत्ति की रक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं था। ऐसे अरक्षित वातावरण में सबल एवं निर्बल, बड़ों और छोटों का संरक्षण तथा एक-दूसरे की सेवा का पारस्परिक समझौता ही समाज की रक्षा कर सकता था। किसी शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की अनुपस्थिति में उस समय लोगों के लिए न्याय प्राप्त करने का भी कोई साधन नहीं था। ऐसी स्थिति में बेरन लोग ही अपने दो प्रकार के न्यायालयों--'सामंत-न्यायालय' और 'ग्राम-न्यायालय'--में न्याय का प्रबन्ध करते थे। प्रथम श्रेणी के न्यायालयों में सामन्त-प्रणाली के राजनीतिक पक्ष के मामलों का और द्वितीय श्रेणी के न्यायालयों में आर्थिक पक्ष के मामलों का निपटारा होता था।

सामन्त-प्रणाली के दोष—सामन्त-प्रणाली दोषरहित नहीं थी। उसमें एक व्यक्ति अपने से उच्च अन्य व्यक्ति के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेता था। उस व्यक्ति के सम्मुख राजा या देश का कोई महत्व नहीं था। इस प्रकार सामन्त-प्रणाली शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना तथा राष्ट्रीयता के विकास में बाधक थी। शिकमी भूमि जोतनेवाले बहुसंख्यक असामी राजा को नहीं, वरन अपने ठाकुर को ही प्रदेश का वास्तविक शासक तथा न्यायाधीश समझते थे। फलतः बेरन के स्वामिभक्त सैनिक तथा दरबारी लोग अपने को राजा के प्रति नहीं, वरन् बेरन के ही समक्ष उत्तरदायी मानते थे। राजा को युद्ध के समय अपने सैनिक संगठन के लिए बेरनों का मुँह ताकना पड़ता था। बेरन भी साल में केवल ४० दिन राजा की सैनिक सेवा के लिए उत्तरदायी होते थे। यदि युद्ध अधिक समय तक चलता, तो राजा के हाथ-पाँव फूल जाते थे। बेरन लोग बड़े-बड़े दुर्गतुल्य आवासगृहों में रहकर उनमें अपनी शक्ति का संचय करते थे। उनकी जागीरें 'राज्यांतर्गत राज्य' के समान थीं, जो लगभग अर्द्ध-स्वतंत्र थीं और जिनकी विद्यमानता राज्य के हित में घातक थी। महत्वाकांक्षी तथा स्वार्थपरायण बेरन प्रायः केन्द्रीय सरकार की शक्ति कम करने तथा अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए बगावत का झण्डा खड़ा करने का भी अवसर ढूँढ़ा करते थे। उधर निम्नतम श्रेणी के दासवृत्ति के लोगों का जीवन बड़ा शोचनीय था, जिनकी कि गाढ़ी कमाई के बल पर बेरन लोग रास-रंग, भोग-विलास तथा दंगल और 'टूर्नामेंट' में मस्त रहते थे।

'नाइट'—मध्यकाल में सामन्त-प्रणाली से सम्बन्धित 'नाइट' की पदवी धारण करने का बड़ा प्रचलन था। 'नाइट' नामक ये सूरमा उच्च कुलोत्पन्न होते और अपने शौर्य, वीरता एवं साहस के लिए एक-दूसरे से होड़ बदते थे। 'नाइट' लोगों को सिद्धान्ततः वीर, भद्र तथा साधु स्वभाव का होना पड़ता था। वे कवच तथा शस्त्र धारण कर घोड़ों पर सवार होकर चलते और समाज में अन्याय को रोकने तथा अबलाओं, अनाथों, असहायों एवं धर्म की रक्षा करने का व्रत लेते थे। समाज में उनका बड़ा आदर था। 'नाइट' लोगों के शौर्य का श्रीगणेश दसवीं शताब्दी में हुआ था और तेरहवीं शताब्दी में वह चूड़ान्त को पहुँच गया था। आखिर 'शतवर्षीय युद्ध', 'गुलाबों के युद्ध' एवं सोलहवीं शताब्दी में चलनेवाले धार्मिक युद्धों में सक्रिय भाग लेने के कारण इन शूरवीर 'नाइट' लोगों का अंत हो गया। नाइट-प्रथा ने उस युग के समाज, शिक्षा, रहन-सहन, साहित्य तथा कला को काफी प्रभावित किया।

४. चर्च और राज्य का संघर्ष

चर्च पर राज्य का नियंत्रण—बेरनों की तरह बड़े-बड़े बिशप तथा मठाधीश भी जागीरदार थे, जिसके लिए उन्हें अन्य जागीरदारों की तरह राजा के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। सिद्धान्ततः बिशपों तथा मठाधीशों का चुनाव क्रमशः धर्माधिकारियों और मठों के ईसाई साधुओं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

द्वारा किया जाता था। लेकिन व्यावहारिक रूप में राजा और बेरन लोग अपने पिछलग्गुओं को ही बिशप और मठाधीश चुनवाते थे। यदि उनके मनोनीत व्यक्ति इन पदों पर नहीं आ पाते थे, तो वे चर्च तथा मठों को दान में दी गई भूमि को वापस लेने की धमकी देते थे। ऐसी दशा में यदि निस्सार एवं दुर्बल पुरुष ही अधिकाधिक धर्माधिकारी एवं पोप बनाए जाते, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी! चुनाव तथा नियुक्ति हो जाने के बाद बिशप या मठाधीश राजा या बेरन के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ तो लेता ही था, साथ ही उसे अपने धर्माधिकारपद का सूचक चिह्न--'दण्ड-मुद्रिका'--भी राजा ही से मिलता था। यह बात कुछ धर्माधिकारियों को खटकती थी। वे धार्मिक मामलों में दूसरों का हस्तक्षेप नहीं सहन कर सकते थे। उनका तो यहाँ तक कहना था कि चर्च-संपत्ति को बेचने का पूरा अधिकार धर्माधिकारियों को ही है और वे चर्च के बाहर किसी दूसरे सांसारिक व्यक्ति के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ नहीं ले सकते। भला, राजा के लिए इस सिद्धान्त का समर्थन क्योंकर संभव था?

धीरे-धीरे चर्च के अन्दर दोष भी उत्पन्न होने लगे थे। धर्माधिकारियों ने शादी-ब्याह करना शुरू कर दिया था और गृहस्थी के चक्कर में पड़कर वे अपने वास्तविक कर्त्तव्य को भूलने लगे थे। डर यह था कि कहीं चर्च-संपत्ति उनकी तथा उनके बच्चों की निजी संपत्ति न हो जाय! दूसरा दोष यह आ गया कि धर्माधिकारियों के पद की बिक्री भी होने लगी, जिससे चरित्रहीन व्यक्ति भी रुपया खर्च करके धर्माधिकारी हो सकता था।

'कॉलेज ऑफ कार्डिनल्ज'--चर्च के उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए अनेक प्रयास किए गए। सब से पहले फ्रांस में क्लुनी नामक मठाधीश ने एक सुधार-आन्दोलन चलाया, जो योरप भर में फैल गया। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में कुछ सुधारवादी पोपों ने धर्माधिकारियों की पद-बिक्री, चर्च पर राज्य-नियंत्रण तथा धर्माचार्यों के विवाह के विरुद्ध आवाज उठाई। इनमें पोप 'निकोलस द्वितीय' (१०५९ ई०) ने सब से अधिक उत्साह दिखाया। उसने यह घोषणा की कि भविष्य में पोप सम्राट् या रईसों द्वारा मनोनीत न होंगे, बल्कि उनका निर्वाचन सीधे रोमन धर्माधिकारियों की एक सभा--'कॉलेज ऑफ कार्डिनल्ज'--करेगी। इस प्रकार चर्च में केवल चरित्रवान् व्यक्तियों का ही प्रवेश होने लगा और वे किसी बाह्य प्रभाव या नियंत्रण से मुक्त हो गए।

पोप ग्रेगरी सप्तम् (१०७३-१०८५ ई०)--ग्यारहवीं शताब्दी का सब से बड़ा राजनीतिज्ञ एवं सुधारवादी पोप ग्रेगरी सप्तम् (हिल्डेब्रैण्ड) था। उसने राज्य के ऊपर चर्च का सिक्का जमाना चाहा। हिल्डेब्रैण्ड जर्मन नाम है, जिसका अर्थ होता है 'शुद्ध ज्वाला'। इस महापुरुष का जन्म संभवतः १०२३ ई० में टस्कनी नामक स्थान में एक अत्यन्त साधारण परिवार में हुआ था और वह संत बेनेडिक्ट-संप्रदाय के मठ में भर्ती हो गया था। अपनी राजनीतिक, कूटनीतिक तथा धार्मिक योग्यताओं के कारण वह पच्चीस वर्ष तक आठ पोपों का विश्वासपात्र सहायक एवं सेवक बना रहा! अंत में १०७३ ई० में उसे स्वयं पोप-पद पर आसीन होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ग्रेगरी सप्तम् चर्च के अधिकारों का प्रबल पोषक एवं समर्थक था। उसका कहना था कि दूसरे बिशपों को पदच्युत या पुनर्नियुक्त करने का अधिकार केवल पोप को ही है। उसका यहाँ तक का दावा था कि पोप तो सम्राटों को भी सिंहासन-च्युत कर सकता है और किसी अन्यायी राजा के अत्याचारों से उसकी प्रजा को वह मुक्त कर सकता है! उसकी दृढ़ मान्यता थी कि पोप के आदेशों का उल्लंघन नहीं हो सकता, बल्कि वह स्वयं अन्य सांसारिक शक्तियों की आज्ञाओं की सदैव अवहेलना कर सकता है। उसके मत में चर्च एक दोषरहित एवं पवित्र संस्था थी। अपने पद के गर्व में आकर ग्रेगरी सप्तम् ने फ्रांस के राजा को चेतावनी दी कि यदि तुम अपने राज्य में चर्च-पदों की बिक्री बंद नहीं करोगे, तो तुम धर्मच्युत कर दिए जाओगे। उधर इंगलंड के राजा विलियम प्रथम को उसने लिखा कि जिस प्रकार ईश्वर ने सूर्य और चन्द्रमा को आकाश में सब से बड़े नक्षत्र के रूप में स्थापित किया है, उसी प्रकार इस पृथ्वीतल पर भगवान् ने चर्च तथा राज्य सरीखी दो महान् शक्तियों का निर्माण किया है। किंतु जिस प्रकार सूर्य चन्द्रमा से बड़ा है और चन्द्रमा अपना प्रकाश सूर्य से प्राप्त करता है, उसी प्रकार चर्च राज्य से बड़ी संस्था है और राज्य का अस्तित्व चर्च की कृपा पर ही आश्रित है!

हेनरी चतुर्थ (१०५६-११०६ ई०)--जर्मनी के नवयुवक सम्राट् हेनरी चतुर्थ ने बड़े साहस के साथ पोप की इस गर्वोक्ति को चुनौती दी और उसे पदच्युत करने का यत्न किया। किंतु ग्रेगरी ने उल्टे हेनरी को ही धर्मच्युत घोषित कर दिया। फिर क्या था? उसकी प्रजा ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अब तो हेनरी को पोप की शरण लेनी पड़ी! किंतु ग्रेगरी ने हेनरी के दर्प को चूर करने के लिए उसे नंगे पैर और फटे-पुराने चीथड़ों में तीन दिन तक लगातार बर्फीली शीत में बाहर खड़ा रक्खा! पोप सम्राट् से इस तरह प्रायश्चित्त करा के दूसरे राज्यों की भी आँख खोलना चाहता था। अंत में उसने हेनरी को क्षमा प्रदान कर दी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चर्च और राज्य में संधि (११२२ ई०)—चर्च और राज्य के झगड़ों का निपटारा ग्रेगरी सप्तम् तथा हेनरी चतुर्थ के झगड़े के अंत के साथ नहीं हो पाया। ग्रेगरी सप्तम् जिन सुधारों को चाहता था, उन्हें कार्य रूप में परिणत करने के लिए अंत में वोर्म्स नामक स्थान पर चर्च और राज्य में यह समझौता हुआ कि बिशपों की नियुक्ति के समय उन्हें धर्मपद-सूचक चिह्न (दण्ड-मुद्रिका) केवल पोप या उसका दूसरा प्रतिनिधि ही समर्पित कर सकता है। इस प्रकार दीर्घकालीन खींचातानी के बाद चर्च और राज्य के बीच के महान् संघर्ष की परिसमाप्ति हुई। लेकिन चर्च और राज्य के दूसरे झगड़ों का तब भी अंत नहीं हुआ। जर्मनी के राजा फ्रेडरिक प्रथम ने पोप को चुनौती दी और कहा कि भगवान् ने मुझे पवित्र रोमन साम्राज्य का नेतृत्व प्रदान किया है, अतः पोप से सलाह लेकर कार्य करने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। उसने अपना प्रभाव इटली में भी बढ़ाना चाहा। किंतु पोप ने 'लोम्बार्ड संघ' के नाम से उत्तरी इटली के तमाम नगरों का एक संघ बनाकर फ्रेडरिक को परास्त कर दिया।

पोप इनोसेण्ट तृतीय (११९८-१२१६ ई०)—ग्रेगरी सप्तम् के बाद अन्य एक प्रतापी धर्माधिकारी पोप इनोसेण्ट तृतीय हुआ, जो चर्च के मामलों में राज्य के हस्तक्षेप को रोकने में सफल सिद्ध हुआ। अपने समय में वह सारे योरप का वास्तविक निर्णायक एवं न्यायकर्त्ता था और योरप के समस्त ईसाई राज्यों का प्रमुख बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था। उसकी सब से बड़ी सफलता इंगलैंड के राजा जॉन की मर्जी के विरुद्ध स्टीफेन लैङ्ग्टन को कैण्टरबरी के आर्क-बिशप के पद पर नियुक्त करने की थी। राजा जॉन ने पहले तो इस कार्रवाई का घोर विरोध किया, किंतु अंत में उसे पोप के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा। इनोसेण्ट के समय में चर्च अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच गया था और वह केवल धार्मिक संस्था न रहकर राज्य का भी कार्य करने लगा था। इस प्रकार चर्च का स्थान एक चक्रवर्त्ती राजा के समान हो गया! समूचा योरप उसके छत्र के नीचे आ गया। अब चर्च के अपने अलग कानून

पोप इनोसेण्ट तृतीय।

थे और कचहरियाँ भी थीं, जिनका दबदबा राजाओं को बहुत खलता था। इंगलैंड के राजा हेनरी द्वितीय तथा आर्कबिशप टॉमस बेकेट में इसीलिए काफी झगड़ा हुआ था।

पोप बोनिफेस अष्टम्—पोप बोनिफेस अष्टम् के समय में आकर चर्च और राज्य के इस झगड़े ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया। पोप ने धर्माधिकारियों को राज्यकर देने से मना कर दिया। इसके लिए उसे इंगलैंड के राजा एडवर्ड प्रथम तथा फ्रांस के राजा फिलिप चतुर्थ से लोहा लेना पड़ा। इंगलैंड के राजा ने धर्माधिकारियों को बागी और विद्रोही घोषित कर दिया! इसका तात्पर्य यह था कि अब उनके जान-माल की रक्षा का दायित्व राज्य पर नहीं था और यदि कोई उनका वध भी कर डाले, तो सरकार उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करेगी। फ्रांस के राजा ने पोप के पास भेजे जानेवाले धार्मिक करों को रोकने के लिए अपने देश के बाहर सोना-चाँदी भेजने की मनाही कर दी। इन कार्रवाइयों से पोप को करारी मात खानी पड़ी और विवश होकर उसे अपनी आज्ञा रद करना पड़ी। थोड़े दिनों के बाद पोप और फिलिप में फिर खटपट हो गई। पोप ने फिलिप के ऊपर अनेक अभियोग लगाए और कहा कि मेरा स्थान राजा से कहीं ऊँचा है। फिलिप ने भी एक सेना भेजकर पोप को अनैग्नी नामक स्थान पर (जहाँ उन दिनों वह निवास कर रहा था) उसके पैतृक महल में बंदी बना लिया! फ्रांस के सैनिकों ने पोप का बड़ा अपमान किया। अंत में थोड़े ही दिनों बाद बोनिफेस परलोक सिधार गया। चर्च तथा राज्य के इस दीर्घकालीन संघर्ष के कारण समूचे योरप को एकता के रज्जु में बाँधकर उसका धर्मगुरु बनने का पोप का स्वप्न समाप्त हो गया।

५. धर्म-युद्ध (१०९५-१२९१ ई०)

धर्म-युद्धों का उद्देश्य और कारण—प्रभु ईसामसीह से संबंधित होने के कारण यरूशलम ईसाइयों का प्रमुख तीर्थ माना जाता है। रोमन साम्राज्य के दिनों में ईसाइयों को यरूशलम

जाने की अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं। यद्यपि खलीफा उमर के समय में वहाँ एक मस्जिद बनवा दी गई थी, तथापि ईसा मसीह की पवित्र समाधि और अन्य पवित्र स्थान ईसाइयों के ही अधिकार में थे। जब यरूशलम सेलजुक तुर्कों के अधिकार में आ गया, तो उनकी उग्र एवं असहिष्णु धार्मिक नीति के कारण ईसाई तीर्थयात्रियों को अनेक यातनाएँ भुगतनी पड़ीं। यरूशलम के 'कुलपति' के साथ बड़ा निकृष्ट व्यवहार किया गया। फलतः ग्यारहवीं शताब्दी के अंत से लेकर तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण तक––दो सौ वर्षों तक––ईसाइयों को अपने पवित्र तीर्थ-स्थान को तुर्कों से छीनकर स्वाधीन बनाने के उद्देश्य से मुसलमानों के विरुद्ध कई युद्ध करने पड़े। यही युद्ध इतिहास में 'धर्म-युद्ध' या 'क्रूसेड' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१०७० ई० में जब यरूशलम पर सेलजुक तुर्कों का अधिकार हो गया, तो ईसाई तीर्थयात्री तुर्कों के व्यवहार का बड़ा रोमांचकारी एवं हृदयविदारक वर्णन करते हुए वहाँ से योरप वापस लौटे। १०८८ ई० में यरूशलम के 'कुलपति' साइमन ने पोप से सहायता की याचना की। इन्हीं दिनों पीटर नामक एक साधु मोटा वस्त्र धारण कर, नंगे पैर, गदहे पर सवार हो, घूम-घूमकर तुर्कों की निन्दा करने लगा और राजा से रंक तक के हृदय में धार्मिक जोश भरकर उनके क्रोधानल को भड़काते हुए उन्हें यरूशलम की ओर कूच करने का संदेश देने लगा। फलतः लोगों में यह आशा जगी कि धर्म-युद्ध से केवल अपने महान् तीर्थस्थान की ही प्राप्ति नहीं होगी, वरन् उससे योरप के कैथलिक राजाओं का पारस्परिक भेद-भाव एवं मनमुटाव भी दूर होगा और पोप की शक्ति तथा प्रभाव की वृद्धि करने में भी सहायता मिलेगी। इसलिए जब दुर्बल बाइजैण्टाइन सम्राट् एलेक्सियस प्रथम (१०८१–१११८ ई०) ने पोप अर्बन द्वितीय से तुर्कों के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की, तो पोप ने क्लरमंट नामक स्थान पर १०९५ ई० में एक महती सभा बुलाकर मध्यकालीन योरप का सब से अधिक प्रेरणादायक एवं प्रभावशाली भाषण दिया। इसके फलस्वरूप सहस्रों ईसाई तुरन्त धर्म-युद्ध के लिए तैयार हो गए और सभा-मण्डप इस नारे से प्रतिध्वनित हो उठा कि 'ईश्वर की यही इच्छा है!'

क्लरमंट नामक स्थान पर बुलाई गई सभा में पोप अर्बन द्वितीय द्वारा तुर्कों के खिलाफ धर्म-युद्ध के लिए ईसाई जगत् का आह्वान।

धार्मिक भावावेश और आदर्शवादिता के अतिरिक्त कुछ लोगों ने स्वार्थवश भी धर्म-युद्ध के स्वयंसेवकों की सूची में अपना नाम लिखाया। कई लोग यात्रा करके अन्य देशों को देखने के आतुर थे; अन्य लूट-पाट करने अथवा राजदण्ड एवं दासता से मुक्ति पाने के अभिप्राय से ही इन युद्धों में भाग लेने पर आ मा दा हुए थे। एक ओर यदि लोभी रईसों की आँखें सीरिया की भूमि पर लगी थीं, तो दूसरी ओर सौदागर इस अनुष्ठान में व्यापार का सुयोग देखते थे और कर्जदार उसमें ऋण से मुक्ति पाने का सर्वोत्तम मार्ग पा रहे थे। उधर चर्च ने भी लोगों को इस प्रकार के कई प्रलोभन दिए थे कि धर्म-युद्ध में जाने से अपराध क्षमा कर दिए जायँगे, संपत्ति की रक्षा की जायगी और मृत्योपरान्त स्वर्गिक सुख की प्राप्ति होगी।

धर्म-युद्धों की असफलता––इस प्रकार इहलौकिक, पारलौकिक, आर्थिक तथा सामाजिक-राजनीतिक आदि विविध भावनाओं से प्रेरित होकर सभी श्रेणियों के लोगों ने इन धर्म-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युद्धों में भाग लिया। उनमें राजा, राजकुमार, बिशप, बेरन, धनिक, गरीब, युवक, वृद्ध, बालक तथा स्त्रियाँ सभी शरीक हुए। परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी केवल प्रथम धर्म-युद्ध (१०९५-९९ ई०) में ही कुछ सफलता मिली। १०९९ ई० में यरूशलम जीत लिया गया और वहाँ सामन्तिक राज्य की स्थापना की गई, जिसका अस्तित्व ११८७ ई० तक कायम रहा। इसी बीच तुर्कों द्वारा एडेसा नामक स्थान के हथिया लेने पर द्वितीय धर्म-युद्ध (११४६-४८ ई०) हुआ। अंत में ११८७ ई० में सलादीन नामकमुस्लिम नेता ने यरूशलम पर पुनः अधिकार जमा लिया। फलतः तृतीय धर्म-युद्ध (११८९-९२ ई०) छिड़ा। इसमें तीन राजाओं--जर्मन सम्राट् फ्रेडरिक बारबरोसा, फ्रांस-नरेश फिलिप द्वितीय और इंगलैंड के राजा रिचर्ड प्रथम–ने भाग लिया। किन्तु परस्पर सहयोग की कमी के कारण यह धर्म-युद्ध सफल नहीं रहा। इस प्रकार कुल मिलाकर आठ असफल धर्म-युद्ध हुए। इनके अतिरिक्त एक 'बच्चों का धर्म-युद्ध' भी हुआ (१२१२ ई०)! लोगों का विश्वास था कि जो कार्य बड़े-बूढ़े नहीं कर पाए, उसे पूरा करने में ईश्वर बच्चों की अवश्य सहायता करेगा! इसी भावना से पचास हजार बच्चों की दो सेनाएँ (एक में तीस और दूसरी में बीस हजार) जुटाकर सुदूर फिलस्तीन को रवाना की गईं! इस मूर्खतापूर्ण अभियान में सहस्रों बालक रास्ते में ही मर गए और कितने ही बंदी बनाकर दासों के रूप में बेच दिए गए!

धर्म-युद्धों की असफलता उनके सैनिक संगठन की त्रुटियों के कारण हुई। जन-साधारण के समूह-के-समूह, जिन्हें सेना न कहकर भीड़-भाड़ कहना ही अधिक उपयुक्त होगा, बिना किसी तैयारी और बिना किसी नेता की प्रतीक्षा किए हुए यरूशलम-स्थित प्रभु ईसा मसीह की पवित्र समाधि का पुनरुद्धार करने के लिए योंही पूर्व दिशा की ओर चल पड़ते थे, जैसे कि टिड्डियों का दल उमड़ पड़ता है! भला, ऐसे अभियानों का सैनिक दृष्टि से क्या मूल्य था! फिर ईसाई नेता परस्पर एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते थे तथा इंगलैंड और फ्रांस के राजाओं का संबंध मैत्रीपूर्ण न था। इस प्रकार इन युद्धों में सहयोग एवं एकता की कमी ने ईसाइयों के हाथ विजय-श्री नहीं आने दी और बेकार ही हजारों लोगों का रक्त बहाया गया।

जर्मन सम्राट् फ्रेडरिक बारबरोसा।

धर्म-युद्धों के परिणाम—परन्तु इन धर्म-युद्धों के अनेक सुपरिणाम भी हुए। सर्वप्रथम तो उनसे सामन्त-प्रणाली के अवसान में सफलता मिली, क्योंकि अनेक बेरनों ने धर्म-युद्ध में भाग लेने के लिए अपनी भूमि और सामंतिक अधिकारों को बेच दिया। दूसरे, निम्न श्रेणी के असामियों की संख्या घट जाने से खेतों में काम करने के लिए मजदूरों की आवश्यकता पड़ी और इस प्रकार असामियों को धीरे-धीरे दासवृत्ति से छुटकारा मिल गया। तृतीय, व्यापार को भी बड़ा प्रोत्साहन मिला, क्योंकि धर्म-युद्धों में सैनिकों को भेजने के लिए अधिक जहाजों की आवश्यकता पड़ी, जिन्हें बनाने के क्रम में उद्योग की वृद्धि हुई। यद्यपि धर्म-युद्धों की समाप्ति पर फिलस्तीन ईसाइयों के हाथ से निकल गया, तथापि भूमध्यसागर पर इटली के व्यापारिक जहाजी बेड़े का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस व्यापारिक उन्नति से वेनिस, जेनेवा, पिसा, मारसेल तथा बारसिलोना जैसे भूमध्यसागर-तटवर्त्ती नगरों ने बड़ा लाभ उठाया। उधर इन युद्धों के कारण मुसलमानों में धार्मिक असहिष्णुता की भावना बढ़ जाने से इस्लाम उत्तरोत्तर निर्बल होता गया और उसे मंगोल-आक्रमण के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा। यदि धर्म-युद्ध न हुए होते, तो तुर्कों ने १४५३ ई० से बहुत पहले ही कुस्तुनतुनिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया होता। प्रथम धर्म-युद्ध ने चर्च की शक्ति तथा प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि करने में भी काफी योग दिया, यद्यपि बाद के धर्म-युद्धों ने उस पर गहरा तुषारपात कर दिया।

धर्म-युद्ध का सब से बड़ा प्रभाव तो यह हुआ कि योरपीय लोगों में एकान्त में रहकर पृथक् जीवन व्यतीत करने की जो घातक मनोवृत्ति पिछले दिनों घर कर गई थी और उससे जो संकुचित दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया था, उसका अंत हो गया। इन युद्धों के दौरान में एशिया की अधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत

जातियों के संपर्क में आकर योरपवालों को नई विचारधारा प्राप्त हुई, जिससे उनका मानसिक विकास हुआ। कुतुबनुमा, बारूद तथा छापाखाने का प्रचार एशिया में धर्म-युद्धों के पहले ही हो चुका था। धर्म-युद्ध से लौटे हुए लोगों द्वारा इन वस्तुओं का जब योरप में प्रचार हुआ, तो योरपवालों का ध्यान एशिया की संस्कृति की ओर आकर्षित हुआ। इस प्रकार एशिया के संपर्क में आने से ही योरप के सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं धर्म-सुधार आन्दोलन का प्रथम बीजारोपण हुआ था। विल ड्युरैण्ट के शब्दों में धर्म-युद्धों का श्रीगणेश कृषिप्रधान सामन्तवादी युग में हुआ था; किंतु इन युद्धों का अंत होते-होते योरप में उद्योग-धंधों का अपूर्व उत्थान हुआ, जिसके कारण वहाँ एक आर्थिक क्रांति उत्पन्न हो गई। इससे योरप के सांस्कृतिक पुनरुत्थान आन्दोलन को प्रचुर बल मिला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की जन-संख्या-वृद्धि भी नगरों के इस विकास में सहायक सिद्ध हुई। पाँचवीं शताब्दी की अपेक्षा तेरहवीं शताब्दी में इस महाद्वीप की जन-संख्या लगभग दूनी हो गई, जिसके प्रभाव से लोग गाँवों से नगरों की ओर बढ़ने लगे। कुछ नए नगरों का भी निर्माण हुआ। बहुत-से नगर तो प्राचीन रोमन नगरों के खँडहरों पर ही उठे, किंतु कई नए नगर भी उठे। ये वहीं उठे, जहाँ बाजार लगने की सुविधा थी, नदियों के किनारे एक से दूसरे स्थान को जहाँ से माल भेजा जा सकता था और जहाँ से होकर बड़े-बड़े व्यापारिक मार्ग निकलते थे। इटली के उत्तर में वेनिस, जेनेवा, पिसा, बोलोन, मिलान और फ्लोरैंस; फ्रांस के दक्षिण में तूलो तथा मारसेल; राइन नदी की घाटी में कोलोन तथा मेंज; उत्तरी और बाल्टिक सागर के आसपास हाम्बुर्ग, ब्रेमेन तथा ल्यूबेक और इंगलैण्ड

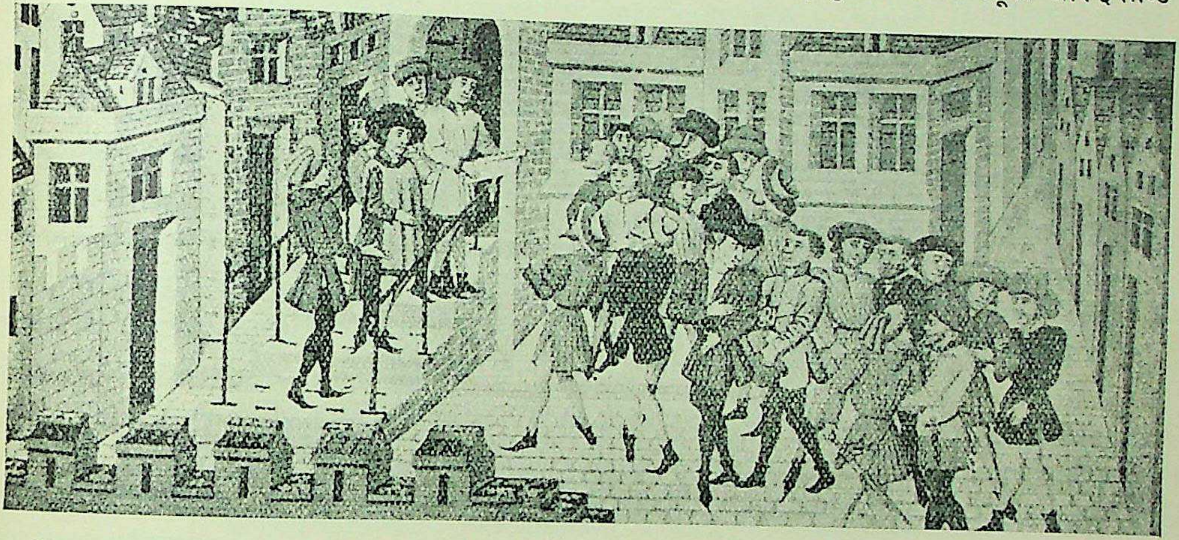

नगरों का उदय मध्यकालीन योरप की एक युगान्तरसूचक घटना थी :: पंद्रहवीं शताब्दी ईस्वी के इस चित्र में योरप के एक नवोत्थित नगर के निवासी स्वायत्त शासन का चार्टर प्राप्त करते हुए दिखाए गए हैं।

६. नगरों का विकास

नगरों के उदय के कारण—रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् योरप में जो घोर अव्यवस्था तथा अशांति छा गई थी, उससे अनेक पुराने नगर नष्ट हो गए थे और जो बचे थे, उनका भी कोई महत्व नहीं रह गया था। इसलिए पाँच-छः शताब्दियों तक योरप ने बहुत कम उन्नति की। किन्तु दसवीं शताब्दी से वहाँ पुनः नगरों का विकास प्रारंभ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप योरप 'अन्धकार-युग' से निकलकर एक सुव्यवस्थित जीवन की ओर अग्रसर हुआ। नगरों के इस पुनरोदय का पहला कारण था व्यापारिक उन्नति। धर्म-युद्धों ने योरपीय व्यापार को काफी प्रोत्साहन प्रदान किया। उधर योरप

में लंदन सरीखे समृद्धिशाली नगरों का विकास इसी प्रकार से हुआ। इन नए नगरों का ढाँचा लगभग एक-सा था। उनके चारों ओर रक्षा के लिए प्रायः चहारदीवार बनाई जाती थी। उनकी सड़कें तंग और गंदी रहती थीं। उनमें प्रकाश का कोई समुचित प्रबंध नहीं होता था। मकान एक दूसरे से सटाकर बनाए जाते थे। इन नगरों के व्यापारी और कारीगर 'श्रेणियों' (गिल्ड्ज) में संगठित थे। पारस्परिक व्यापार और रक्षा के लिए विभिन्न देशों के नगरों के संघों का भी निर्माण किया जाता था। इटली के कई प्रसिद्ध नगरों ने मिलकर 'लोम्बार्ड संघ' और उत्तरी योरप के ८० मुख्य नगरों ने मिलकर 'हैनसिऐटिक संघ' की स्थापना इसी तरह की थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिणाम—नगरों के विकास और धन-धान्य की वृद्धि ने गहन सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। इससे सामंत-प्रणाली को बड़ा धक्का पहुँचा, क्योंकि गाँव की जनता अब शनैः-शनैः नगरों की ओर आकर्षित होने लगी। विद्या के क्षेत्र में अब तक धर्माधिकारियों का ही एकाधिपत्य था और अधिकतर वे ही लोग पढ़े-लिखे होते थे। किन्तु जब सौदागरों ने अपने बच्चों को शिक्षित करने की ओर ध्यान देना शुरू किया, तो धर्माधिकारियों के प्रभाव में न्यूनता आने लगी। इसी तरह नगर के व्यापारियों को देश की शासन-संस्थाओं में भी भाग मिलने लगा और उनकी पद-मर्यादा में वृद्धि हुई। परन्तु नगरों का यह विकास राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक भी सिद्ध हुआ, क्योंकि प्रत्येक नगर अपनी पृथक् स्वतंत्रता स्थापित करने को उत्सुक रहता था। एक ही देश में एक नगर का व्यक्ति दूसरे नगर में विदेशी समझा जाता था! नगरों की यह एकांतसेवी नीति जर्मनी और इटली में सब से अधिक व्याप्त थी। वहाँ के नगर आपस में निरंतर लड़ाई-झगड़ा किया करते थे। इसीलिए इटली और जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना अन्य देशों की अपेक्षा सब से बाद में विकसित हुई।

मध्यकालीन योरप में विद्या के प्रचार में ईसाई मठों ने सब से महत्वपूर्ण योग दिया था। इन मठों में रहनेवाले साधु-संत न केवल अध्ययन-अनुशीलन में लीन रहते, प्रत्युत वही पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ भी लिखकर तैयार करते थे।

मध्यकालीन योरप की दशा

समाज—मध्यकालीन योरपीय समाज में तीन 'श्रेणियों' के लोग पाए जाते थे। प्रथम श्रेणी में पादरियों और धर्माधिकारियों की गणना की जाती थी। धर्माधिकारियों में बिशप रईसों का-सा जीवन व्यतीत करते थे और बड़े-बड़े महलों में सुख-चैन की बंशी बजाते थे। किंतु निम्न श्रेणी के पादरियों का जीवन कष्टमय था। बड़े-छोटे पादरियों के जीवन में वही अन्तर था, जो रईसों तथा साधारण किसानों के जीवन में था। समाज में दूसरी श्रेणी वंशानुगत रईसों की थी, जो बड़ी-बड़ी जागीरों के मालिक थे। इनके पास घोड़े, अस्त्र-शस्त्र तथा कवच आदि युद्ध की सारी साज-सज्जा रहती थी। 'नाइटों' की गणना भी रईसों में की जाती थी। समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान की प्राप्ति के लिए अधिकांश लोगों में 'नाइट' की उपाधि पाने की तीव्र महत्वाकांक्षा रहती थी। 'नाइट'-संस्कार के पूर्व किसी भी चौदह वर्ष के नवयुवक को इक्कीस वर्ष की आयु तक (अर्थात् सात वर्ष की अवधि तक) किसी धनी-मानी रईस के दरबार में रहकर शिष्टाचार, घुड़सवारी तथा युद्ध-कौशल आदि की शिक्षा-दीक्षा लेनी पड़ती थी। रईसों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। देश का अधिकांश धन इन्हीं लोगों के पास संचित था। तीसरी श्रेणी में, धर्माधिकारियों तथा रईसों को छोड़कर, शेष सभी लोग सम्मिलित थे। इस निम्न वर्ग के लोगों का जीवन बड़ा ही साधारण था और उनमें से अधिकांश लोग खेती-बारी किया करते थे। उच्च श्रेणी के लोग उन्हें नीची नजर से देखते थे। अधिकांश राजकर इन्हीं लोगों के मत्थे पड़ता था। इनका रहन-सहन पिछड़ा हुआ था। उनके मकान गंदे होते, जिनमें वे अपने पशुओं को भी साथ ही रखते थे।

शिक्षा—मध्यकालीन योरप में शिक्षा का प्रचार बहुत सीमित था। सामान्य जनता उन दिनों सर्वथा अशिक्षित और निरक्षर थी। यद्यपि शार्लमेन ने विद्या को कुछ प्रोत्साहन दिया था—उसने निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा देनेवाली पाठशालाओं की स्थापना कराई थी एवं राजकीय सेवा में लगनेवाले कार्यकर्त्ताओं की शिक्षा के लिए भी राजमहल में एक विद्यालय की स्थापना की थी—किन्तु जनता में स्वयं जिज्ञासा, अभिरुचि तथा साहस की कमी थी। बड़े-बड़े शासक, सामन्त तथा रईस भी प्रायः निरक्षर होते थे। विद्या का प्रचार केवल ईसाई मठों में ही था और पढ़ना-पढ़ाना केवल धर्माधिकारियों तक सीमित था। फिर उन लोगों द्वारा प्रदान की गई शिक्षा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मुख्यतया धार्मिक होती थी। हाँ, विविध उद्योग-धंधों से संबंधित 'श्रेणियाँ' अवश्य नवयुवकों को उद्योगों की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान किया करती थीं। परन्तु विचार-स्वातंत्र्य की कोई गुंजाइश नहीं थी और अपनी बुद्धि से काम लेना तथा कार्य और कारण की छान-बीन करना इन दिनों गुनाह समझा जाता था! इस काल की प्रमुख लिखित भाषा लैटिन थी, जो केवल विद्वानों तक ही सीमित थी। जन-साधारण की पहुँच लैटिन ग्रंथों तक नहीं थी, न उनके उपयुक्त कोई साहित्य ही था। लोगों में तरह-तरह के अंध-विश्वास प्रचलित थे। लोग बीमारियों को ईश्वरीय प्रकोप समझते थे और उन्हें दूर करने के लिए कोई उपचार करना प्रायः पाप समझा जाता था। वैज्ञानिक ज्ञान का इन दिनों नितान्त अभाव था। लोग समझते थे कि पृथ्वी गोल नहीं वरन् चिपटी है--वह एक स्थान पर टिकी रहती है तथा सूर्य उसकी परिक्रमा करता है! परंतु ऐसे अंधकारपूर्ण वातावरण में भी कतिपय अद्भुत प्रतिभाएँ चमकीं! इनमें सब से अनोखा व्यक्ति था रोजर बेकन (१२१४-१२९२ ई०), जो इस युग में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सब से प्रबल विचारक एवं समर्थक था। इस काल की अन्य विशिष्ट ज्योतियों में एडेलार्ड तथा अलबर्ट महान् के भी नाम उल्लेखनीय हैं। इसी युग में पहलेपहल योरप के कतिपय महान् विश्वविद्यालयों की भी नींव पड़ी, जिसके दौर में इटली में सैलरनो और बोलोना, फ्रांस में पेरिस और इंगलैंड में ऑक्सफर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सैलरनो चिकित्सा-शास्त्र के लिए, बोलोना कानून के अध्ययन के लिए तथा पेरिस विश्वविद्यालय धर्म-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के लिए प्रख्यात था। किंतु जन-साधारण के लिए इन विद्याकेन्द्रों के द्वार सर्वथा बंद थे।

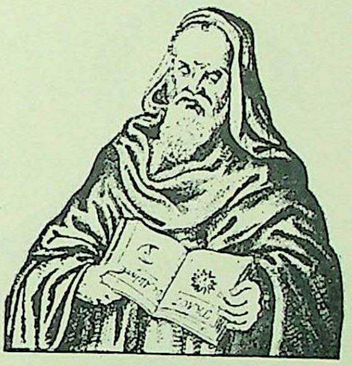

मध्यकालीन योरप का महान् विचारक रोजर बेकन।

साहित्य—मध्यकाल में योरप में शिक्षा तथा साहित्य का माध्यम लैटिन भाषा ही थी और धर्म-कर्म तथा राजकाज में भी इसी भाषा का व्यवहार होता था। इस युग के ख्यातिप्राप्त चोटी के लेखकों--गुडबर्ट, अलबर्ट महान्, टामस ऐक्विनास तथा रोजर बेकन आदि ने अपनी-अपनी रचनाएँ लैटिन भाषा में ही प्रस्तुत की थीं। पर यह भाषा विद्वानों तथा विश्वविद्यालयों तक ही सीमित थी--जन-साधारण से वह दूर थी। वस्तुतः युग की माँग एवं आवश्यकता तो थी ऐसे साहित्य के निर्माण की, जो उस माध्यम द्वारा रचा जाय, जिसे जनसाधारण समझ सकें। इसी माँग को लेकर कालान्तर में फ्रेंच, स्पैनिश, जर्मन, डच, इंगलिश स्वीडिश, डैनिश तथा फ्लेमिश आदि आधुनिक भाषाओं का उत्थान हुआ। इन भाषाओं का अधिकांश आरम्भिक साहित्य मौखिक गीतों तथा कथा-कहानियों में संगृहीत था, जिसे भाट और चारणगण घूम-घूमकर लोगों के समक्ष बाजा बजाकर गाते-सुनाते थे। इन भाषाओं का विकास आधुनिक योरपीय सभ्यता के विकास में अति सहायक सिद्ध हुआ। उन्होंने सामन्त-प्रणाली तथा चर्च के प्रभाव की जड़ें खोखली कर दीं और राष्ट्रीयता की भावना के उदय में अमूल्य सहायता प्रदान की।

दर्शन—यद्यपि प्राचीन यूनान का शताब्दियों पूर्व अवसान हो चुका था, तथापि यूनानी दर्शन एवं प्लेटो तथा अरस्तू जैसे दार्शनिकों के अमर विचारों की ज्योति बर्बर-आक्रमणों के बावजूद भी योरप में बुझ नहीं पाई थी। उधर अरबों द्वारा पूर्वी दर्शनों का भी योरप में प्रवेश हो चुका था। बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में जब ग्रीक (यूनानी) तथा अरबी भाषाओं के दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवाद धड़ाधड़ योरप पहुँचने लगे, तो ईसाई धर्म-शास्त्र का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। यूनानी, यहूदी तथा अरबी दार्शनिक विचारों से प्रभावित होकर योरप में भी कुछ बुद्धिवादी स्वतंत्र विचारक उत्पन्न हुए। इन्हें ईसाई लोग पाखण्डी, नास्तिक तथा संदेहवादी कहने लगे, क्योंकि इन लोगों का सीधा प्रहार ईसाइयत के मौलिक सिद्धान्तों पर होता था। इन स्वतंत्र विचारकों के गढ़ पेरिस, पाडुआ तथा नेपल्स के विश्वविद्यालय थे, जहाँ से पढ़कर निकले हुए नवयुवक स्नातक ईसाइयत तथा उसके धर्मशास्त्र के लिए भयावह सिद्ध होने लगे। यदि पेरिस विश्वविद्यालय में अरस्तू के दार्शनिक विचारों का प्राधान्य था, तो पाडुआ और नेपल्स विश्वविद्यालयों में अरबी दार्शनिक अवर्रो के विचारों का बोलबाला था। तेरहवीं शताब्दी में इटली के शिक्षित नवयुवकों में अवर्रोवाद के प्रचार का मानो एक फैशन-सा हो गया था। अवर्रोवाद के सिद्धांतानुसार विश्व का संचालन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है; उसमें ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। इस मत के अनुसार स्वर्ग-नरक की कहानियाँ केवल लोगों को डरवाने के लिए बनाई गई थीं और उनसे जगन्नियन्ता परमात्मा के अस्तित्व को मानो चुनौती दी जा रही थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ईसाइयत पर सीधी चोट करनेवाले इन दार्शनिक विचारों का सामना करने के लिए ईसाई जगत् में भी एक दार्शनिकवाद का आविर्भाव हुआ। वह 'स्कालैस्टिकवाद' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस मत के प्रतिपादकों का कहना था कि दर्शन को धर्मशास्त्र का दास होना चाहिए और जिन दार्शनिक समस्याओं का दार्शनिक कोई समाधान नहीं पा सके हैं, उनका हल प्रस्तुत करने में ईसाई धर्म समर्थ है। इस मत के अनुसार दार्शनिकों को धर्मशास्त्र-संबंधी प्रश्नों पर वाद-विवाद कदापि नहीं करना चाहिए। इस नवीन दर्शन के प्रतिपादकों में अबेलार्ड (१०७९-११४२ ई०), अलबर्ट महान्, और टामस ऐक्विनास (१२२४-१२७४ ई०) सर्वप्रमुख थे। 'स्कालैस्टिकवाद' आँगस्टीनियन धर्मशास्त्र तथा अरस्तू के तर्कशास्त्र का सम्मिश्रण मात्र था। इसमें ईसा द्वारा प्रदत्त आनन्दमय दैवी संदेश तथा तार्किक बुद्धि का एकीकरण किया गया था। ऐक्विनास ने प्लेटो तथा अरस्तू के दार्शनिक विचारों का अध्ययन एवं संकलन करके उनमें से ईसाइयत-विरोधी सिद्धान्तों को अलग कर दिया था। स्कालैस्टिक मत के अनुसार ईश्वर कोई दार्शनिक निष्कर्ष की उपज नहीं है, वरन् उसकी सजीव विद्यमानता तो एक प्रकट सत्य है। ईश्वर अनुभव की वस्तु है, परिभाषा की नहीं। बेनेडिक्टाइन, फ्रांसिस्कन तथा डोमिनिकन संप्रदाय के संत-महात्माओं ने भी इस वाद की विचारधारा का पोषण करके उसे आगे बढ़ाने में प्रशंसनीय सेवा की थी।

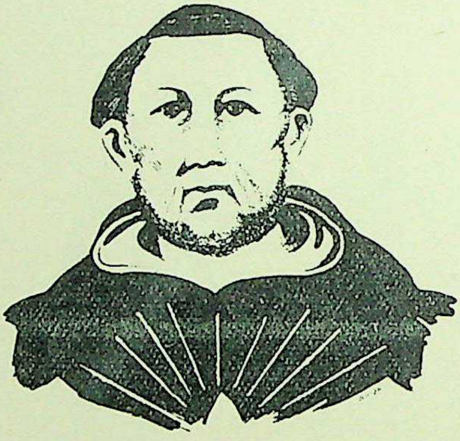
संत टामस ऐक्विनास।

'स्कालैस्टिकवाद' ने यद्यपि आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में योरप के मानसिक विकास में व्यवधान उपस्थित किया तथापि बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में वह एक क्रांतिकारी मोड़ का प्रतीक एवं मानव की विचार-शक्ति की पुनर्स्थापना का द्योतक माना गया। इस विचारधारा ने मध्यकाल के अनेक विचारकों को संतोष प्रदान किया। यद्यपि यह मत वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित नहीं था, तथापि तर्क, बुद्धि, अन्वेषण एवं अनुसंधान पर बल देकर उसने ज्ञान-विज्ञान की उन्नति में काफी सहायता पहुँचाई। हाँ, संदेहशील भौतिकवादी मस्तिष्क को इस प्रकार की विचारधारा संतोष नहीं प्रदान कर सकती थी। इसी से आधुनिक युग की माँग की पूर्ति करने में वह असमर्थ रही।

कला—ईसाइयत के प्रति प्रगाढ़ आस्था में रँगे हुए मध्यकालीन योरप की कलाभिव्यक्ति बड़े-बड़े गौथिक गिरजाघरों (कैथेड्रल तथा चर्च) के निर्माण के रूप में हुई। कहा जाता है कि कला का जितना विकास यूनान और रोम के स्वर्ण-युगों में (अर्थात् पेरीक्लियन और आँगस्टन युग में) नहीं हुआ था, उससे कहीं अधिक वह बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में पश्चिमी योरप में होते दिखाई दिया! कला के क्षेत्र की इस अपूर्व उन्नति में कई तत्त्व सहायक थे। प्रथम तो धर्मयुद्धों ने योरप-निवासियों को पूर्वी देशों की कला के संपर्क में लाकर उनके अंदर रचनात्मक प्रतिभा जाग्रत कर दी थी। दूसरे भूमध्य-सागर तथा अटलांटिक महासागर के वक्षःस्थल को चीरकर होनेवाले नए व्यापार तथा उद्योगों ने इस काल के योरप में अपूर्व धन-धान्य की वृद्धि की थी। इस अप्रत्याशित समृद्धि के फलस्वरूप योरप में एक नूतन धनी वर्ग का उदय हुआ, जिसने कला को महती आश्रय प्रदान किया। प्रायः धनी नगरों में इस बात की होड़ लगी रहती थी कि कौन नगर सर्वोत्तम कैथेड्रल का निर्माण करता है! उधर बिशपों तथा पोपों के पास भी विविध स्रोतों से प्राप्त आय द्वारा असीमित धन इकट्ठा हो गया था। वह धन गिरजाघरों के निर्माण में खर्च होकर स्थापत्य के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इस युग में लोगों के मन में प्रायः यह उत्कट इच्छा रहा करती थी कि वे विशाल गिरजाघरों का निर्माण करें; उनमें अधिकतम संख्या में एकत्रित हो प्रभु ईसा का शुभ संदेश सुनें और उनकी प्रार्थना करें। बर्बर जातियों के विनाशपूर्ण आक्रमणों के बावजूद भी प्राचीन कला के प्रेरक नमूने अभी यत्र-तत्र अवशिष्ट थे। उधर बाइजैण्टाइन साम्राज्य में प्राचीन कलाविद् भी विद्यमान थे। इनकी मदद से एक से एक भव्य गिरजाघरों का निर्माण होने लगा। उधर ईसाई मठों से भी कलाविदों को काफी बढ़ावा मिला। कुछ मठ तो स्वयं उत्तम कला-केन्द्र बन गए। उदाहरणार्थ, क्लुनी तथा संत डेनिस के मठों ने बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में योरप को चोटी के चित्रकार, मूर्तिकार तथा स्थापत्यकार अर्पित किए। कालान्तर में योरपवालों की कलाभिरुचि इतनी बढ़ गई कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष में हर जीवनोपयोगी वस्तु को सौन्दर्य प्रदान करने की वृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। इस प्रकार मिट्टी, लकड़ी, शीशा, सोना-चाँदी तथा

हाथी-दाँत की कलापूर्ण वस्तुओं का प्रचुर मात्रा में निर्माण होने लगा, जिससे चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्यकला तीनों की उन्नति की मानो बाढ़ आ गई। मध्यकालीन योरप की प्रमुख स्थापत्य - शैली प्राचीन ग्रीक - रोमन स्थापत्य से भिन्नता रखने के नाते 'गौथिक' कहलाई। इसी से इस युग में बने हुए महान् गिरजाघरों को 'गौथिक कैथेड्रल' के नाम से पुकारा गया।

मध्यकालीन योरप की देन

यह कहना असंगत न होगा कि मध्यकालीन योरप ही आधुनिक योरप का जनक था; कारण आधुनिक काल की मूल प्रवृत्तियों का जन्म एवं बीजारोपण मध्यकाल में ही हुआ था। इसी काल ने योरप के सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं पुनरोदय के आन्दोलन को जगाया। मुद्रण - कला का आविस्कार, विश्वविद्यालयों की स्थापना, मातृभाषाओं के साहित्यों का आविर्भाव, आधुनिक विज्ञान का श्रीगणेश तथा दाँते सरीखे कवि की साहित्यिक रचनाएँ मध्यकालीन योरप की बौद्धिक देन थीं। फिर रोमन साम्राज्य के भग्नावशेषों पर स्थापित उन राजनीतिक संस्थाओं का विकास भी इन्हीं दिनों हुआ, जिनका आधुनिक [illegible] विकास से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। कतिपय नृपतियों के हाथ में सत्ता का केन्द्रीकरण तथा राष्ट्रीयता एवं देशप्रेम के उदय को आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की आधार-शिला माना गया है। इन प्रवृत्तियों का जन्म मध्यकालीन सामन्तवाद के अंत के साथ हुआ और उसका सहज परिणाम हुआ राष्ट्रीय राज्यों का उदय। चर्च तथा पोप के एकाधिकार का अंत इन्हीं प्रवृत्तियों का लक्षण था। उधर इसी युग में मध्यकालीन इंगलैंड में 'महास्वतंत्रतापत्र' की प्राप्ति हुई, जिसने प्रजातंत्र-आन्दोलन का शिलारोपण किया। यही नहीं, इंगलिश 'पार्लमेण्ट', फ्रेञ्च 'एस्टेट्स जनरल' तथा स्पैनिश 'कार्टेज' के रूप में हमारी आज की जन-प्रतिनिधि संस्थाओं के आरंभिक प्रारूपों का जन्म भी इसी काल में हुआ था।

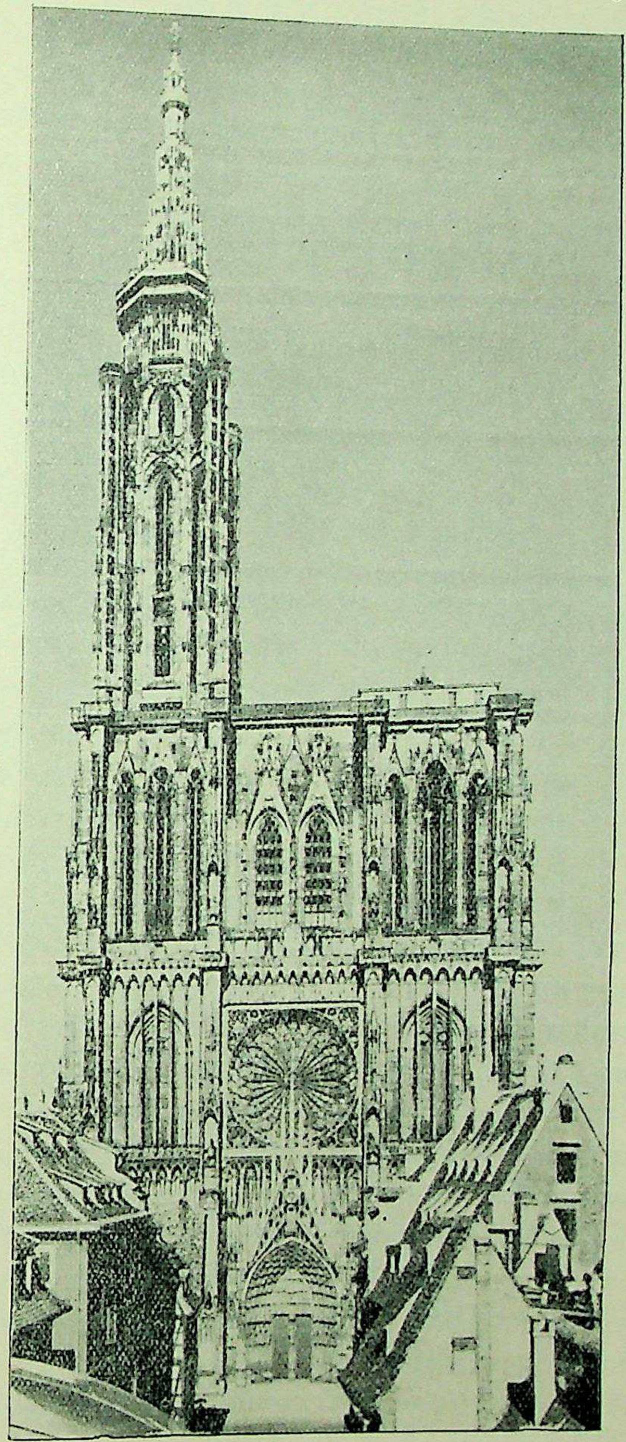

'अंधकार युग' से ग्रस्त होने पर भी मध्यकालीन योरप ने इस प्रकार के एक से एक भव्य गिरजाघरों की रचना करके स्थापत्य के क्षेत्र में अनूठी उपलब्धियाँ प्राप्त की थीं !

आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में इसी काल में योरप में व्यापक रूप से घने जंगलों तथा दलदलों पर विजय प्राप्त करके उन्हें कृषि के योग्य बनाया गया तथा इन्हीं दिनों पश्चिमी योरप के अधिकांश भाग में दासता का अंत किया गया, जिससे मध्यम श्रेणी का जन्म हुआ और व्यापार तथा उद्योग-धंधों की अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सांस्कृतिक पुनरुत्थान और धर्म-सुधार आन्दोलन

चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दियों से आरंभ होकर ठेठ सोलहवीं शताब्दी के अंत तक योरप की मानसिक पृष्ठभूमि में हमें एक अनूठी क्रान्तिमूलक हलचल उमगते दिखाई देती है, जो उसके इतिहास में एक नया मोड़ प्रस्तुत करके उसे प्राचीन से अर्वाचीन के द्वार पर ला खड़ा कर देती है ! इस हलचल के दो पक्ष हमें देखने को मिलते हैं—एक बौद्धिक-सांस्कृतिक ; दूसरा धार्मिक-सामाजिक । प्रथम को इतिहास में 'सांस्कृतिक पुनरुत्थान' के नाम से पुकारा गया है और दूसरे को 'धर्म-सुधार आन्दोलन' का नाम दिया गया है । प्रस्तुत प्रकरण में संक्षेप में इसी महान् हलचल का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

तेरहवीं शताब्दी के उपरान्त योरप धीरे-धीरे मानसिक, राजनीतिक तथा आर्थिक उथलपुथल का केन्द्र बनने लगता है और वहाँ के निवासियों के रहन - सहन, क्रियाकलाप तथा विचार-परंपरा में क्रान्तिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगते हैं । अब योरपवालों के अन्दर एक नए साहस एवं नई शक्ति का विकास होता है, जिसकी बदौलत वे नए देशों की खोज के लिए तत्पर होते हैं । दकियानूसीपन से किनारा कसकर अब वे बुद्धिवाद के बल पर विचार-स्वातंत्र्य के पुजारी बन जाते हैं । मध्यकाल में चर्च की शिक्षाओं से प्रभावित होकर योरप के लोग संसार को नश्वर समझ इहलौकिक जीवन के प्रति उदासीन रहने लगे थे । उनके अन्दर त्याग और वैराग्य की भावनाएँ बलवती हो उठी थीं। वे शरीर को कष्ट देकर कठोर संयम-नियम का जीवन व्यतीत करने के अधिक अभ्यस्त हो गए थे । उन दिनों महन्त-मठाधीशों ने विचार-स्वातंत्र्य पर कड़ा नियंत्रण एवं प्रतिबंध लगा रक्खा था । चर्च के प्रमाणवाद तथा पोप के ब्रह्मवाक्य से दबकर मानवीय व्यक्तित्व का विकास रुक गया था । अपनी बुद्धि से काम लेना गुनाह समझा जाने लगा था । मनुष्य अपने को इतना खो बैठा था कि उसे अपने अस्तित्व तक में विश्वास नहीं रह गया था । किंतु अब योरपवालों की मनोवृत्ति में मौलिक क्रांति उत्पन्न हो गई । वे इस पृथ्वीतल को कर्मभूमि समझने लगे । वे चर्च के प्रमाणवाद की जंजीरों से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्र बुद्धि तथा अनुभूति के आधार पर ही अपने व्यक्तित्व का विकास करने पर आमादा हुए । अब तो जब तक वे अपनी बुद्धि एवं तर्क द्वारा सच्चाई की परीक्षा नहीं कर लेते, उसे मानने को तैयार नहीं थे ।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान

मध्यकालीन योरप के प्रायः गतिहीन, शिथिल एवं अकर्मण्य जीवन में धीरे-धीरे यह जो नई लहर उठी, इतिहास में उसे ही 'सांस्कृतिक पुनरुत्थान' का आन्दोलन कहते हैं। इस आन्दोलन का श्रीगणेश चौदहवीं शताब्दी ई० के मध्य में इटली में हुआ था और उसकी लहर बढ़ते-बढ़ते सोलहवीं शताब्दी के अंत तक कालांतर में सारे योरप में फैल गई थी । यह लहर बारहवीं शताब्दी में प्रारंभ होनेवाले उस आन्दोलन की ही अविच्छिन्न निरंतरता थी, जिसे 'स्कालैस्टिकवाद' के नाम से अभिहित किया गया था और जिसका प्रमुख प्रतिनिधि संत टामस ऐक्विनास था ।

कहा जाता है कि आधुनिक योरप के इतिहास का श्रीगणेश सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने ही किया । उसने लोगों के दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन उत्पन्न कर दिया, जिसे हम क्रांतिकारी कह सकते हैं। इस आन्दोलन के अन्तर्गत 'पुनर्जन्म' एवं 'जागरण'

दोनों ही की भावनाएँ सम्मिलित थीं। 'पुनर्जन्म' तो उन भावनाओं तथा वस्तुओं का हुआ, जो पहले लुप्तप्राय हो चुकी थीं। 'जागरण' से तात्पर्य था मनुष्य के अन्दर एक नए दृष्टिकोण तथा नूतन ज्ञान-ज्योति का संचार--उसमें नए साहस एवं शक्ति का विकास। इसीलिए इतिहासकारों ने कहा है कि सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने ही आधुनिक मानव को जन्म दिया। इस आंदोलन ने योरपवासियों में प्राचीन सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य के प्रति अनुराग जगाकर उनमें ऐसा साहस एवं शौर्य उत्पन्न कर दिया कि वे नए देशों की खोज, साहित्य एवं कला तथा वैज्ञानिक अनुसंधान करने में सफल सिद्ध हुए।

इस आन्दोलन को जगाने में बुद्धि-स्वातंत्र्य के पक्षपाती उन अनेक विचारकों का गहरा हाथ था, जिन्होंने चर्च के प्रमाणवाद की कटु निन्दा करके मनुष्य की स्वतंत्र विचारधारा तथा वैज्ञानिक खोज पर काफी बल दिया था। इनमें अबेलार्ड नामक पेरिस विश्व-विद्यालय का अध्यापक प्रमुख था, जिसने बारहवीं शताब्दी में यह घोषणा की थी कि जब तक हमें किसी सिद्धान्त की सच्चाई पर पूर्ण विश्वास न हो जाय, केवल ईश्वरीय आदेश मानकर हम उसका पालन नहीं कर सकते। उधर रोजर बेकन (१२१४-९४ ई०) ने इस बात पर बल दिया था कि हमें पुरानी लकीर का फकीर न बनकर अपनी स्वतंत्र बुद्धि से काम लेना चाहिए। इसी तरह दांते ने भी नवयुग की पृष्ठभूमि तैयार करने में अमूल्य योग दिया था। उधर धर्म-युद्धों के समय एशिया के संपर्क में आने के कारण भी योरप के लोगों को नई विचारधारा प्राप्त हुई थी और उनका मानसिक विकास आरंभ हुआ था। योरपनिवासी जब अरबों के बगदाद, काहिरा तथा कुर्दवा के विश्वविद्यालयों एवं पुस्तकालयों के संपर्क में आए, तो उन्हें एक नवीन ज्ञान की ज्योति मिली। अरबी विद्वान् बड़े स्वतंत्र विचारक थे। उन्होंने अपनी अधिकांश विद्याएँ भारत से ग्रहण की थीं। उनकी बदौलत पिछड़े हुए योरप में स्वतंत्र विचार की प्रवृत्ति को काफी बढ़ावा मिला। जब मुद्रण-कला के आविष्कार से सस्ती एवं जल्द छपनेवाली ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों की प्राप्ति सुलभ हो गई, तो जन-साधारण में ज्ञान-विस्तार एवं शिक्षा-प्रसार की लहर दिन पर दिन बल पाने लगी। इस प्रकार लोगों में मानसिक चेतना जगी और ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति तीव्रतर हो उठी। तुर्कों द्वारा कुस्तुनतुनिया की विजय (१४५३ ई०) ने इस चेतना एवं प्रवृत्ति को और अधिक बलवती कर दिया; क्योंकि प्राचीन साहित्य के यूनानी विद्वान् एवं अध्यापक काफी संख्या में तुर्कों के डर से अपनी आत्म-रक्षा के लिए पुरातन संचित ज्ञान-राशि को लिए हुए भागकर इटली में आ बसे। यहाँ के धनी लोगों ने उन्हें अपने बालकों का शिक्षक (ट्यूटर) एवं अभिभावक नियुक्त कर दिया तथा उन्हें विद्यालय खोलने के लिए आर्थिक सहायता भी प्रदान की। काइसोलोरस इसी प्रकार का एक विद्वान् था, जिसने फ्लोरेंस नगर में प्राचीन यूनानी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के हेतु एक प्रसिद्ध विद्यापीठ की स्थापना की थी। वहाँ झुण्ड-के-झुण्ड छात्र होमर की अमर कृतियों पर उसके भाषण सुनने के लिए एकत्रित हुआ करते थे। इस प्रकार जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर जगी, उसका सब से महान् अग्रदूत था पेट्रार्क (१३०४-१३७४ ई०), जिसने अपना जीवन प्राचीन लैटिन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, उन्नयन एवं प्रचार में बिताया। उसने अपने समकालीन विद्वानों को महान् प्रेरणा दी। इटली के अन्य एक महान् साहित्यकार बोकाचियो ने भी लैटिन भाषा तथा साहित्य को लोकप्रिय बनाने में स्तुत्य योग दिया। इस प्रकार जाग्रत नई लहर क्रमशः इटली से बाहर अन्य देशों में भी फैली, जिससे यूनान तथा रोम के प्राचीन

जर्मनी के गोटेनबर्ग नामक व्यक्ति द्वारा मुद्रण-कला का आविष्कार :: मध्यकालीन योरप को अंधकार-युग से उबारकर सांस्कृतिक पुनरुत्थान के नवप्रभात में ला खड़ा करने में इस आविष्कार ने अनमोल योग दिया !

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य के प्रति योरपवासियों का शौक चड़ान्त पर पहुँच गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस नवीन विद्या ने योरप-निवासियों के हृदय एवं मस्तिष्क में यूनान तथा रोम की प्राचीन सभ्यता तथा साहित्य की सर्वोत्कृष्टता का जो सिक्का जमाया, उसका नतीजा यह हुआ कि तब से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक योरप में उसी साहित्य एवं कला का आदर्श उच्च एवं सर्वग्राही माना जाने लगा, जिसकी शैली यूनान और रोम के प्राचीन साहित्य एवं कला की शैली से प्रभावित एवं ओतप्रोत थी। अब यह आशा की जाने लगी कि प्रत्येक सुशिक्षित योरप-निवासी ग्रीक और लैटिन भाषा से न केवल परिचित ही हो, बल्कि यदि वह अपनी राष्ट्रभाषा में साहित्य-रचना चाहता है, तो उसे उस प्राचीन साहित्य-सागर में ऐसी गहरी डुबकी लगाना चाहिए कि वहाँ से प्राप्त सीप-मोतियों की अमूल्य सहायता से ही वह अपनी रचनाओं का शृंगार कर सके! इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति भव्य भवन-निर्माण कराना चाहता है, तो वह अपने मकान के अगले हिस्से तथा खंभों आदि को यूनानी शैली से बनवाकर उस पर रोमन शैली का गुम्बद बनवाए और उसे ऐसे चित्रों एवं मूर्तियों से अलंकृत करे, जो अपोलो तथा एफ्रोडाइट की पुरातन मूर्तियों के अनुरूप हों। प्राचीनता के प्रति इस रुझान को इतिहास में 'क्लासीसिज्म' की संज्ञा प्रदान की गई। इसी को 'प्राचीनता का पुनर्जन्म' भी कहा गया है।

प्राचीनता-प्रेम जागरित करने के अतिरिक्त इस नवीन विद्या ने मानवता को भी बढ़ावा दिया। अब मनुष्य धर्माचार्यों द्वारा प्रशंसित एवं उद्बोधित अलौकिक, आध्यात्मिक एवं मानवेतर जगत् में रहकर त्याग, तितिक्षा, वैराग्य एवं संन्यास का जीवन बिताने की अपेक्षा लौकिक एवं मानवीय जगत् में रहकर अपना स्वाभाविक तथा सांसारिक जीवन बिताना अधिक उपयुक्त एवं लाभदायक समझने लगा। समाज से दूर चर्च द्वारा संगठित भिक्षु-भिक्षुणियों के कठोर आत्म-संयम एवं इन्द्रिय-निग्रह का जीवन बिताने की अपेक्षा समाज में रहकर साधारण गृहस्थ का सुखी जीवन व्यतीत करना अब अधिक श्रेयस्कर समझा जाने लगा। मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-विधाता है; उसे अपने भाग्य-निर्णय के लिए ईश्वर पर निर्भर रहने तथा देवताओं की दया का भिखारी बनने की अपेक्षा अपने बाहुबल पर आश्रित होना चाहिए—यही इस नवीन मानव का आदर्श था। चूँकि इस नवीन धारा में यह आस्था निहित थी कि यूनान तथा रोम का प्राचीन साहित्य उपर्युक्त मानवतावादी आदर्शों से परिपूर्ण था, अतः उक्त मानवतावाद को प्रोत्साहित करनेवाले प्राचीन साहित्य का अध्ययन अभीष्ट समझा गया। इस नवीन विद्या ने विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान को प्रोत्साहित कर ग्रीक-लैटिन के प्राचीन ग्रंथों एवं पाण्डुलिपियों की खोज, संग्रह, क्रय-विक्रय तथा प्रकाशन की भावना को अभूतपूर्व बल प्रदान किया। इसी भावना से प्रेरित होकर धनी-मानी सज्जनों ने प्राचीन ग्रन्थों को संगृहीत करके बड़े-बड़े पुस्तकालयों की स्थापना की।

परन्तु इस नवीन धारा के आवेश में कुछ अनुचित प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा मिला। सांस्कृतिक पुनरुत्थानकाल के नवीन विद्या-प्रेमी लोग मध्यकालीन सभ्यता एवं संस्कृति को घृणित एवं निन्दित बताकर मध्यकाल को 'अन्धकार-युग' की संज्ञा प्रदान करने लगे और उस युग के बने हुए भव्य राजप्रासादों की शैली को बर्बरतापूर्ण सिद्ध करने के लिए वे उसे 'गौथिक' शैली के नाम से पुकारने लगे!

साहित्य तथा कला के अतिरिक्त सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने जीवन के अन्य क्षेत्रों को भी प्रभावित किया। कृषि-प्रधान सरल आर्थिक जीवन में अब व्यापार-उद्योग का भी समावेश हो गया। नगरों की वृद्धि हुई। व्यापारियों के संघ स्थापित हुए। योरप के बाहर के देशों के साथ व्यापारिक संपर्क बढ़े और व्यापार का केन्द्र भूमध्यसागर से हटकर अटलांटिक महासागर में स्थापित हुआ। लोगों में नूतन राजनीतिक चेतना जाग्रत हुई। पोप तथा पवित्र रोमन साम्राज्य का राजनीतिक प्रभाव घटकर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। वैज्ञानिक परीक्षण एवं अनुसंधानों को प्रोत्साहन मिला। इस नूतन दृष्टिकोण ने धर्म-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। झुण्ड-के-झुण्ड विद्वान् विद्यापीठों एवं विश्वविद्यालयों में नवीन विद्या की आराधना में संलग्न हो गए। मध्यकालीन 'स्कालैस्टिकवाद' के पृष्ठपोषक कुछ कट्टरपंथी विद्यापीठों ने इस नवीन विद्या को उपेक्षा की दृष्टि से देखना चाहा, परन्तु नीदरलैंड्स, स्कॉटलैंड, स्वीडन तथा जर्मनी में उसे विशेष संरक्षण प्रदान करने के लिए नए विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई! धनी सौदागरों तथा लक्ष्मीपतियों ने आर्थिक साहाय्य देकर इस नवीन विद्योन्नति में महान् योग दिया। फ्रेंच नरेश फ्रांसिस प्रथम ने अपने देशवासियों को इस नवीन विद्या में दीक्षित करने के लिए इटली के ग्रीक-लैटिन के प्रसिद्ध विद्वानों एवं कलाकारों को अपने दरबार में आमंत्रित किया। उसके समसामयिक अन्य योरपीय नृपतियों ने भी इस बात का अनुकरण करके अपने यहाँ नवीन विद्या को आश्रय दिया। इंग्लैंड का हेनरी अष्टम्, स्पेन का चार्ल्स पंचम, पोलैंड का सिगिसमंड प्रथम, डेन्मार्क का क्रिश्चियन द्वितीय तथा इटली के लोरेन्जो-द-मेदिची जैसे शासक ऐसे ही उत्साही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यक्ति थे। कई ईसाई धर्माधिकारियों ने भी इस नवीन विद्या का तीव्र विरोध न करके उसे उदार संरक्षण एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। स्वयं कई पोप महान् साहित्यानुरागी एवं कलामर्मज्ञ हुए।

पोप लिओ दशम् (१५१३-१५२१ ई०) की मृत्यु के साथ इटली के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के स्वर्णकाल की समाप्ति हो गई। परन्तु पंद्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध तक जर्मनी में सांस्कृतिक स्वर जग चुका था। वहाँ के हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय में ऐग्रिकोला (१४४३-१४८५ ई०) नामक एक विद्वान् प्राचीन साहित्य का आचार्य नियुक्त किया गया था। उसी का समसामयिक रोशलिन भी इस नवीन विद्या का महान् स्तम्भ था। वह प्राचीन साहित्य का सर्वप्रथम जर्मन विद्वान् था। सोलहवीं शती के प्रारम्भ में इस विद्या की ज्योति फ्रांस में भी फैली। उधर इंगलैंड में ऑक्सफ़र्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय इस सांस्कृतिक प्रगति के प्रमुख केन्द्र बन गए।

इस प्रकार यद्यपि सांस्कृतिक पुनरुत्थान का आरंभ इटली में हुआ, पर कालांतर में उसने अखिल योरपीय रूप धारण कर लिया और उसकी लहरें जर्मनी, फ्रांस तथा इंगलैंड तक पहुँच गईं।

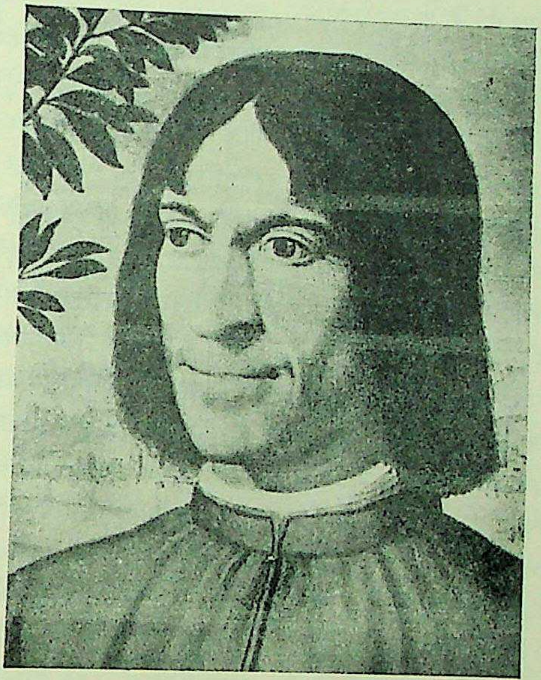

कला और साहित्य की नवीन धाराओं को बढ़ावा देकर इटली में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर को सब से अधिक बल प्रदान करनेवाले फ्लोरेन्स के प्रख्यात मेदिची-परिवार का अन्यतम रत्न—लोरेंजो-द-मेदिची।

पुनरोदित कला—मध्यकालीन योरपीय कला धर्म की चेरी थी—वह वास्तविक जीवनादर्शों से दूर थी। उसका अभिप्राय किसी आदर्श की अभिव्यक्ति या दृश्य का चित्रांकन न होकर ईसाइयत के सिद्धांत तथा पोप एवं चर्च-संगठन के प्रति निष्ठा एवं भक्ति को बढ़ावा देना मात्र था। इसके प्रतिकूल पुनरोदित योरपीय कला प्राचीन यूनानी तथा रोमन कलादर्शों से अनुप्राणित थी। फलतः उसका प्रत्येक क्षेत्र—स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत—प्राचीनता-प्रेम से ओत-प्रोत हो उठा। सांस्कृतिक पुनरुत्थान काल के प्रमुख कलाकारों में माइकेल एंजेलो, रैफ़ेइल, लिओनार्दो दा विंची, तिशान और घिबर्त्ती के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस पुनरोदित कला का उद्गमस्थान यद्यपि इटली था, पर कालांतर में इसकी कौमुदी अन्य योरपीय देशों में भी फैली।

पुनरोदित स्थापत्यकला का सर्वोत्तम स्मारक रोम में निर्मित संत पीटर का चर्च है, जिसका नियोजन एवं निर्माण रैफ़ेइल एवं माइकेल एंजेलो सरीखे महान् कलाकारों की देख-रेख में हुआ था। पेरिस का लूव्र नामक राजप्रसाद तथा स्पेन का एस्कोरियल नामक महल पुनरोदित स्थापत्य-कला के अन्य उल्लेख्य नमूने हैं। इसी युग में फ्लोरेंस नगर के सुप्रसिद्ध मेदिची-परिवार द्वारा निर्माण कराई गई मूर्तियाँ आज भी योरपीय संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। पुनरोदित मूर्तिकारों ने प्रायः प्राचीन यूनान और रोम के विषयों को तथा उन्हीं की शैली-परंपरा को अधिकाधिक अपनाया। इस युग के सर्वोत्तम कला-स्मारक मूर्तिकार लोरेंजो घिबर्त्ती द्वारा निर्मित फ्लोरेंस नगर की 'बैप्टिस्ट्री' के विचित्र किवाड़ हैं, जिन्हें देखकर प्रसिद्ध कलाविद् माइकेल एंजेलो तक को कहना पड़ा था कि "सचमुच ये किवाड़ तो स्वर्ग के प्रवेशद्वार पर लगाने लायक हैं!" परन्तु कुल मिलाकर मूर्तिशिल्प, चित्रकला और स्थापत्य तीनों ही क्षेत्रों में युग के महान् कलागुरु माइकेल एंजेलो की देन सब से बढ़कर थी। उसका उल्लेख इस ग्रंथ के पिछले एक खंड में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।

पुनरोदित चित्रकला में ईसाइयत की अधिक छाप थी। इस युग की चित्रकला के अक्षय नमूने रैफ़ेइल की अनुपम कृति "सिस्टाइन मैडोना"; लिओनार्दो की अद्वितीय कलाकृतियाँ—"मोनालिसा" तथा "लास्ट सपर" और माइकेल एंजेलो का महान् चित्र "लास्ट जजमेंट" हैं। पुनरोदयकालीन संगीतकला प्राचीन प्रभावों से मुक्त थी। सोलहवीं शताब्दी में उसमें अनेक मौलिक परिवर्तन किए गए, जिसके फलस्वरूप आधुनिक स्वरों का विकास हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुनरोदित साहित्य—योरप के विभिन्न देशों की भाषाओं में रचित राष्ट्रीय साहित्य पुनरोदयकालीन साहित्य की एक प्रमुख विशेषता थी। योरप की देशी भाषाओं में साहित्य-निर्माण वैसे तो मध्यकाल में ही आरंभ हो चुका था। परंतु प्राचीन सभ्यता एवं साहित्य के पुनरोदय के कारण पंद्रहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय साहित्य का विकास ठप्प हो गया था। अधिकांश लोगों की अभिरुचि ग्रीक तथा लैटिन साहित्य की ओर मुड़ चली थी और देशी भाषाएँ अशिष्ट एवं अशिक्षित समाज की भाषाएँ मानी जाने लगी थीं। उनमें रचना करना निन्दनीय एवं तुच्छ समझा जाने लगा था। पर सोलहवीं शताब्दी में विभिन्न देशों में राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न होने के कारण अपनी-अपनी प्रदेशीय मातृ-भाषाओं में रचित राष्ट्रीय साहित्य की माँग पुनः बढ़ गई। इस प्रकार के साहित्य-निर्माण में मुद्रण-कला के विकास ने विशेष सहायता दी। अंग्रेजी, इटैलियन, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश, डच आदि भाषाओं के शब्दकोशों तथा व्याकरण-ग्रंथों की रचना एवं प्रकाशन से भी इस अनुष्ठान को विशेष बल मिला। इन दिनों के मातृ-भाषा-सेवी लेखकों की लेखनी राजनीति, इतिहास, यात्रा-विवरण, व्यंग्य, हास्य, सदाचार, धर्म, काव्य तथा नाटक आदि सभी क्षेत्रों में प्रवाहित हुई। इटैलियन भाषा में इन्हीं दिनों मेकियावेली ने "प्रिंस" नामक ग्रंथ रचकर योरप के निरंकुश शासकों का राजनीतिक पथ-प्रदर्शन किया। इस युग की अन्य एक अनूठी रचना इंग्लैंड के सर टामस मूर द्वारा लिखित 'यूटोपिया' थी, जिसमें तत्कालीन समाज की निन्दा करके एक ऐसे आदर्श और स्वर्णिम संसार की कल्पना की गई थी, जहाँ समानता, शांति और सुख की बंशी बजेगी। मूर का मूल ग्रंथ लैटिन में लिखा गया था, बाद में वह अंग्रेजी में निकला। अंग्रेजी साहित्य के प्रांगण में इन्हीं दिनों क्रमशः चॉसर, मारलो, स्पेन्सर तथा शेक्सपियर जैसे नक्षत्रों का उदय हुआ। उधर फ्रेंच साहित्य में राबेले तथा मॉन्टेन और स्पेनिश साहित्य में सरवान्तिस जैसे साहित्यस्रष्टा उपजे!

धर्म-सुधार आंदोलन

'रेनासाँ' या 'सांस्कृतिक पुनरुत्थान' की भाँति पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में योरप में उठ खड़ा होनेवाला ईसाई-जगत् का 'धर्म-सुधार आंदोलन' भी एक अति महत्वपूर्ण आन्दोलन था। यह पोप की प्रभुता तथा धर्माधिकारियों के स्वत्वों एवं विशेषाधिकारों के विरुद्ध एक विद्रोह था, जिसके दो पक्ष थे :: एक ओर तो मध्यकालीन रोमन चर्च का तीव्र विरोध किया गया, जिसके कारण योरप के आधे राष्ट्र प्राचीन रोमन कैथलिक चर्च से पृथक् हो गए--उक्त विद्रोह को 'प्रोटेस्टैंट रेवोल्यूशन' अथवा 'चर्च-विरोधी क्रान्ति' कहते हैं--दूसरी ओर इसने चर्च की आंतरिक त्रुटियों एवं दोषों को दूर करके उसका पुनरुद्धार करने का भी यत्न किया गया। इसीलिए इसे 'धर्म-सुधार' अथवा 'रेफर्मेशन' की संज्ञा प्रदान की जाती है।

चर्च की त्रुटियाँ—इस सुधार-आन्दोलन के अनेक कारण थे। पिछले दिनों शंका, आलोचना तथा विरोध के जो सहस्रों अलग-अलग प्रवाहित छोटे-छोटे नाले गतिशील हो उठे थे, उन्होंने ही इस आन्दोलन के रूप में एक में मिलकर अचानक एक उपद्रवकारी महानद-रूपी विद्रोह का रूप धारण कर लिया था। मध्यकाल में चर्च योरप का सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक नेता था। परन्तु कालान्तर में उसके संगठन में अनेक त्रुटियाँ आ गई थीं। फलतः उसका पतन आरंभ हो गया था। धन-संपत्ति के मद में चूर धर्माधिकारी अब अपने वास्तविक कर्त्तव्यों की अवहेलना करके भोग-विलास में लिप्त हो सांसारिक जीवन व्यतीत करने लगे थे। इस नैतिक अधःपतन के बावजूद भी चर्च के विशेषाधिकार एवं स्वत्व पूर्ववत् ही बने हुए थे। उदाहरणार्थ, एक ही प्रकार का अपराध करने-वाले सामान्य नागरिक तथा पादरी के मुकदमों का फैसला दो प्रकार के न्यायालयों में किया जाता था और उसी अपराध में यदि राजकीय न्यायालय साधारण नागरिक को कठोर दंड देता था, तो चर्च का न्यायालय धर्मव्यवसायी अभियुक्त को केवल खेद प्रकट करने पर क्षमा-दान दे देता था! इसी तरह दान-दक्षिणा तथा अन्य अतिरिक्त कर प्राप्त करने का चर्च का अधिकार भी अब तक ज्यों-का-त्यों बना हुआ था, यद्यपि पादरी लोग खेती-बारी तथा व्यापार भी करने लगे थे।

ऐसी स्थिति में चर्च-विरोधी प्रवृत्तियों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। चर्च के विरुद्ध यह असंतोष की भावना क्रमशः राजा-प्रजा दोनों में दृष्टिगोचर होने लगी। उदाहरणार्थ, जब फ्रान्स के राजा फिलिप ने पोप अष्टम् बोनिफेस को उसे स्वयं अपने पैतृक राजप्रासाद में बन्दी बना दिया, तो योरप के किसी भी देश ने उसके विरुद्ध तनिक जबान तक नहीं हिलाई, न उँगली उठाई!

महान् धार्मिक मतभेद—राजनीतिक अथवा आर्थिक कारणों से कैथलिक चर्च के संगठन में मध्यकालीन योरप में ही कई एक छोटे-मोटे मतभेद उत्पन्न हो चुके थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के धार्मिक मतभेद ने उक्त चर्च-विरोधी प्रवृत्तियों को बढ़ाकर विद्रोह की एक महान् लपट में परिणत कर दिया। बोनिफेस अष्टम् की मृत्यु के उपरान्त फ्रान्स के राजा फिलिप ने अपने एक सजातीय को 'क्लीमेंट पंचम्' के नाम से पोप चुन लिया था। इस व्यक्ति ने १३०५ से १३७८ ई० तक एविग्नो नामक फ्रेंच

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नगर में ही पोप की गद्दी लगाए रक्खी। परिणाम यह हुआ कि यह पोप फ्रान्स के हाथ की कठपुतली बना रहा और अन्य देशों ने कभी भी इस फ्रेंच पोप के आदेशों को स्वीकार नहीं किया। १३७८ ई० में दो प्रतिद्वन्द्वी पोप निर्वाचित हुए, जिनमें से एक रोम में रहने लगा और दूसरा एविग्नो में। इन दिनों समस्त फ्रांस-विरोधी नरेश रोम के अनुयायी बन गए और एविग्नो के पोप को फ्रांस के राजा तथा उसके मित्र स्कॉटलैंड, स्पेन और पुर्तगाल के शासकों का समर्थन प्राप्त रहा। यह फूट ईसाई जगत् में 'महान् धार्मिक मतभेद' के नाम से विख्यात है (१३७८-१४१५ ई०)। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्मद्रोहियों की संख्या बढ़ने लगी और प्रजा स्वयं धर्म-संबंधी विषयों पर स्वतंत्रतापूर्वक मनन करने लगी, जिससे पोप के मान एवं अधिकार में काफी कमी आ गई।

सुधार के पूर्व-प्रयत्न—धर्म-सुधार आन्दोलन के सूत्रपात से पहले ही पश्चिमी तथा मध्य योरप में कुछ ऐसे निष्ठावान् विचारक उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने चर्च की त्रुटियों को दूर करके कैथलिक धर्म-व्यवस्था में सुधार की माँग की थी। परन्तु इनका लक्ष्य चर्च के विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा करने का कदापि नहीं था। इन विचारकों ने लोगों का ध्यान केवल पूर्ववर्ती सुधारवादी पोपों के धवल यश की ओर आकृष्ट किया था, जिन्होंने ग्यारहवीं शती में चर्च की आभ्यंतरिक त्रुटियों को दूर किया था! इनका विश्वास था कि इतिहास की पुनरावृत्ति होकर रहेगी तथा चर्च में अवश्य सुधार होगा। पर चर्च ने ऐसे सुधारवादियों को भी धर्मद्रोही करार देकर उन्हें दबाने की भरपूर कोशिश की। सैवोनैरोला (१४५२-१४९८ ई०) नामक फ्लोरेंस नगर-निवासी ऐसा ही एक महान् सुधारक था, जिसने चर्च-संगठन के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया था। किन्तु उसे जिन्दा जला दिया गया था! इसी तरह का अन्य एक सुधारक जान वाइक्लिफ था, जिसे धर्म-सुधार आन्दोलन का जन्मदाता कहा जा सकता है। वह चौदहवीं शताब्दी में इंगलैंड में पैदा हुआ था। लैटिन से अंगरेजी में अनुवाद करके उसी ने पहलेपहल बाइबिल को जनसाधारण के लिए सुलभ बनाया था। उसने पोप की निरंकुशता के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई थी। इस पर मृत्यु के उपरान्त उसकी हड्डियाँ कब्र से निकालकर अग्नि में जला दी गई थीं! इसी प्रकार पीटर वाल्डो तथा जॉन हस्स (१३६९-१४१५ ई०) नामक अन्य दो सुधारकों ने भी चर्च की शक्ति और वैभव के विरुद्ध आवाज बुलन्द की थी। पर ये लोग भी पोप द्वारा धर्मनिन्दक करार दे दिए गए थे! वाल्डो के पक्षपाती एवं समर्थक इटली में बुरी तरह मार डाले गए थे और हस्स के अनुयायियों के विरुद्ध भी बोहीमिया में सेनाएँ भेजी गई थीं! वाइक्लिफ के अनुगामी 'लोलार्ड' के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्हें भी अनेक यातनाएँ भुगतनी पड़ीं! किंतु जो बीज इन सुधारकों ने बोया था, वह नष्ट नहीं हुआ और अनुकूल वातावरण पाकर वह फिर से उग आया।

चर्च के दोष-निवारण के प्रयास में शहीद होनेवाला इटैलियन धर्म-सुधारक सैवोनैरोला।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं इरैस्मस द्वारा प्रदत्त योग—सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने मनुष्य का बौद्धिक विकास करके उसे आलोचक बना दिया था। उधर प्राचीन साहित्य एवं बाइबिल के अध्ययन ने भी लोगों को चर्च एवं पोप की त्रुटियों तथा निर्बलताओं की ओर उँगली उठाने का बल एवं साहस प्रदान कर दिया था। जब लोगों को धर्मपोथियों में पोप की अधीनता में रहने का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिला, तो धर्म-सुधार के लिए एक जोरदार बौद्धिक आन्दोलन शुरू हो गया। इस आन्दोलन का प्रमुख सूत्रधार था इरैस्मस (१४६७-१५३६ ई०)। वह एक डच विद्वान् था, जो सारे संसार को अपना कुटुंब समझता था। उसने अपना अधिकांश जीवन जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड, इटली तथा स्विट्जरलैंड आदि अन्य देशों में ही व्यतीत किया था। इरैस्मस की विद्वत्ता का लोहा सारा योरप मानता था और वह अपने समकालीन सभी विद्वानों, विद्याव्यसनी नृपतियों तथा चोटी के लेखकों से पत्र-व्यवहार करके उनसे मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किए हुए था। उसने रोमन कैथलिक चर्च के बुनियादी सिद्धान्तों के विषय में तो तनिक भी शंका नहीं की थी। पर अपनी प्रसिद्ध रचना—'इन प्रेज ऑफ फॉली' (अर्थात् 'मूर्खता की प्रशंसा')—में उसने ईसाई धर्माचार्यों तथा महन्तों के कुत्सित जीवन की खुलकर भर्त्सना की! लेकिन उसने चर्च-संगठन की केवल कटु निन्दा ही की, उसके विरुद्ध खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने की सलाह उसने कभी भी नहीं दी; यहाँ तक कि लूथर की भी पीठ कभी नहीं ठोंकी! इरैस्मस केवल स्वार्थी पुरोहितों आदि द्वारा बाद को जारी किए गए अनावश्यक धार्मिक कर्म-कांडों को हटाकर ईसाई धर्म की मूलात्मा को पुनर्जीवित करके उसे प्रत्येक मानव का धर्म बनाना चाहता था। अतः जब लूथर तथा रोमन कैथलिक चर्च ने परस्पर जेहाद बोल दिया, तो इरैस्मस ने उक्त संघर्ष में स्वयं कोई दिलचस्पी नहीं ली।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परंतु यद्यपि वह स्वयं प्रोटेस्टैंट नहीं हुआ, उसके द्वारा तैयार की गई भूमिका की बदौलत लूथर द्वारा प्रज्वलित विद्रोह की लपट को काफी बल मिला, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

इस धार्मिक विद्रोह की लहर को बल प्रदान करने में सोलहवीं शताब्दी में प्रभूत राष्ट्रीयता की नवीन राजनीतिक भावना से भी कम योग नहीं मिला। अब राजा ही अपने देश का कर्णधार और संरक्षक समझा जाने लगा था। वही अपनी प्रजा का आराध्यदेव था। उधर पोप, जो सैकड़ों मील की दूरी पर रोम में बैठकर उनकी राष्ट्रीय समस्याओं को समझने में असमर्थ था, नितान्त विदेशी समझा जाने लगा था। लोगों के लिए यह सोचना स्वाभाविक ही था कि ऐसे निठल्ले व्यक्ति से संबंध-विच्छेद कर लेना ही अच्छा है!

'पापमोचन-पत्र' तथा मार्टिन लूथर—इस प्रकार धार्मिक क्रान्ति के लिए उपयुक्त वातावरण तो पहले ही से तैयार हो चुका था। आवश्यकता थी केवल एक भीषण विस्फोट की! चर्च के निन्दनीय कृत्यों एवं पोप 'एलेक्जेंडर षष्ठ' की दुर्बलताओं ने इसके लिए भी सभी साधन प्रस्तुत कर दिए। उन दिनों पोप को रोम के 'संत पीटर चर्च' की मरम्मत के लिए काफी धन की आवश्यकता थी। उक्त धन एकत्रित करने का एक सरल उपाय था 'पापमोचन-पत्र'! पोप का कहना था कि यदि ईसाई जन पाप से मुक्त होकर स्वर्ग का राज्य भोगना चाहें, तो उन्हें धर्म-मंदिर एवं गिरजाघर इत्यादि को बनवाने के लिए दान देना चाहिए। ऐसा अवसर प्रदान करने के लिए पोप समय-समय पर 'पापमोचन-पत्र' जारी किया करते थे, जिन्हें धर्म-परायण एवं श्रद्धालु ईसाई जन बड़े चाव से खरीदा करते थे! १५१७ ई० में पोप का एक प्रतिनिधि इन पापमोचन-पत्रों को बेचता हुआ जर्मनी के विटनबर्ग नामक स्थान में पहुँचा, जहाँ के विश्वविद्यालय में मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६ ई०) नामक एक व्यक्ति उन दिनों अध्यापन-कार्य कर रहा था। लूथर के जीवन का प्रारंभ ईसाई साधु के रूप में हुआ था और वह सांस्कृतिक पुनरुत्थान की 'नवीन विद्या' से प्रभावित हो चुका था। वह शुरू में चर्च का बड़ा समर्थक रहा। परन्तु एक बार रोम की यात्रा करने पर जब उसने पोप के सांसारिक एवं विलासपूर्ण जीवन की झाँकियाँ देखीं, तो वह अत्यधिक क्षुब्ध हो गया! जब उसने अपने शहर में पोप के इन अवैधानिक तथा शास्त्र-विरुद्ध पापमोचन-पत्रों की बिक्री होते देखी, तो उसकी भावुक आत्मा सहज ही तिलमिला उठी! उसने आवाज बुलन्द की कि पाप का प्रक्षालन आर्थिक दान से नहीं, वरन् आंतरिक प्रायश्चित, भगवान् के प्रति पर अटूट विश्वास तथा प्रभु की कृपा से ही होता है। उसने इन पापमोचन-पत्रों की बिक्री का खुल्लम-खुल्ला तीव्र विरोध करने के लिए एक विस्तृत लेख भी प्रकाशित किया और उसमें चर्च के विरुद्ध पंचानवे तर्क उपस्थित किए! उस लेख को उसने विटनबर्ग के गिरजाघर के मुख्य द्वार पर चिपका दिया! उसके इन पोप-विरोधी तर्कों का शीघ्र ही खूब प्रचार हो चला। लूथर ऐसा निर्भीक सुधारक था, जो अधिकारियों और सम्मानित लोगों से तनिक भी न डरकर सत्य को डंके की चोट पर कहा करता था। उसके तर्कों ने रोमन कैथलिक चर्च-विरोधी सभी मतों एवं विचारों को एकता की वेदी पर लाने में अमूल्य सहायता प्रदान की। इनमें राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी तरह के पक्षों का समावेश था। यद्यपि इनके साथ अपने विचारों को क्रमबद्ध करने में लूथर असफल रहा, पर उसके द्वारा भड़काया गया रोमन चर्च विरोधी आन्दोलन उत्तरोत्तर आगे बढ़ता ही चला गया।

ईसाई धर्माचार्यों और महन्तों के कुत्सित जीवन की खिल्ली उड़ाकर धर्म-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार करनेवाला महान् मध्यकालीन विद्वान् इरैस्मस।

लूथर का दमन तथा उसका प्रभाव—लूथर को शांत करने का एकमात्र सीधा साधन यही था कि उसकी शिकायतों का आधार हटा दिया जाता, अर्थात् उक्त पापमोचन-पत्रों की बिक्री बंद कर दी जाती। किंतु पोप इसके लिए तैयार नहीं हुआ! उसने लूथर को चुप हो जाने की आज्ञा दी। यदि लूथर दुर्बल हृदय का व्यक्ति होता, तो अवश्य चुप हो जाता। पर उसने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अपने विरोधियों के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाइबिल और चर्च के प्राचीन धर्म-प्रवर्तकों की शरण लेकर उल्टे और भी जोर भरना शुरू किया ! जब पोप ने फिर उसे चुप रहने की आज्ञा दी, तो लूथर ने उक्त आज्ञा को खुल्लमखुल्ला ठुकरा दिया और कहा कि पोप भी तो गलतियाँ कर सकता है ! चूँकि जर्मनी में पोप इन दिनों लोकप्रिय नहीं था, अतः लूथर के विचारों का वहाँ जोरों से प्रचार होना शुरू हो गया। उसके सुधारवादी विचार दिन पर दिन अधिकाधिक उग्र होते गए। लैटिन को छोड़कर अब उसने जर्मन भाषा में ही उपदेश देना एवं प्रचार करना आरंभ कर दिया। जब असंतुष्ट जनता भारी संख्या में लूथर के साथ हो चली, तो पोप ने इस विद्रोही को धर्मच्युत घोषित कर दिया (१५२० ई०) और पवित्र रोमन सम्राट् ने भी उसके ऊपर कड़ा नियंत्रण लगाने का यत्न किया। वर्ष भर बाद ही 'वोर्म्स की काउंसिल' में लूथर की निन्दा करके जर्मनी के नरेशों को आज्ञा दी गई कि वे उसकी नास्तिकता का अंत करें ! परंतु इस आदेश के प्रति कुछ ही ने उत्साह दिखाया, अधिकतर राजा उदासीन बने रहे। उल्टे जहाँ दमन करने की कोशिश की गई, वहाँ विद्रोह और बढ़ गया। इस प्रकार धर्म के नाम पर जर्मनी में गृह-युद्ध सा छिड़ गया और प्रदेश दो धार्मिक दलों में विभक्त हो गया। ये दल थे--(१) पोप के अनुयायी 'रोमन कैथलिक' तथा (२) लूथर के पक्षपाती 'प्रोटेस्टैंट'। इस गृह-कलह का अंत आखिर आग्जबर्ग की संधि द्वारा हुआ, जिसके द्वारा यह निश्चित किया गया कि हर जर्मन नरेश तथा उसकी प्रजा को कैथलिक या प्रोटेस्टैंट धर्म मानने की पूरी स्वतंत्रता है। इस प्रकार जर्मनी में प्रोटेस्टैंट धर्म को मान्यता प्राप्त हो गई।

धर्म-सुधार की लपट जगानेवाला 'प्रोटेस्टैन्ट आन्दोलन' का महान् प्रणेता मार्टिन लूथर, जिसने योरप के इतिहास को एक नया मोड़ दिया।

धर्म-सुधार का यह आन्दोलन केवल जर्मनी तक ही सीमित नहीं रहा। कालान्तर में लूथर की शिक्षाओं का प्रभाव अन्यत्र भी पड़ा। लूथर ने अन्य देशों में प्रचलित धार्मिक कुरीतियों की भी निन्दा की और इस बात पर बल दिया कि धर्म प्रत्येक व्यक्ति की निष्ठा एवं विश्वास की वस्तु है। उसने चर्च के ऊपर राज्य के नियंत्रण की भी खुले शब्दों में हिमायत की। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही स्विट्जरलैंड, स्कैण्डिनेविया, इंगलैंड, स्कॉटलैंड तथा हॉलैंड भी लूथर के क्रांतिकारी विचारों की लपेट में आ गए। इस प्रकार ईसाई जगत् दो विशाल फिरकों में बँट गया। एक शताब्दी बाद तो यह मतभेद इतना गंभीर हो गया कि कैथलिक और प्रोटेस्टैंट मतावलंबियों का संघर्ष योरप की सब से जटिल समस्या बन गई।

योरप के अन्य धर्म-सुधारक—धर्म-सुधार आन्दोलन के सिलसिले में लूथर के बाद होनेवाले दो और सुधारकों के नाम उल्लेखनीय हैं। ये थे ज्विंग्ली और जॉन कैलविन। ये दोनों प्रोटेस्टैंट धर्म की लहर को और आगे बढ़ाना चाहते थे। वे विचारों में लूथर से अधिक उग्र भी थे। ज्विंग्ली ने स्विट्जरलैंड में धर्म-सुधार आन्दोलन का नेतृत्व किया और कैलविन ने फ्रांस में। ज्विंग्ली का जीवन एक कैथलिक उपदेशक के रूप में प्रारंभ हुआ था और आरंभ में वह पोप का आश्रित था। किंतु कुछ राजनीतिक कारणों से अंत में उसे पोप की प्रधानता तथा कैथलिक चर्च की त्रुटियों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करना पड़ी थी। लूथर की अपेक्षा ज्विंग्ली ने धर्म के मामलों में बाइबिल को अधिक अधिकारपूर्ण एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ माना, कारण उसमें पोप की प्रधानता का कोई उल्लेख नहीं था। १५२३ ई० में उसने कैथलिक चर्च से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया और १५३१ ई० में उसका वध कर दिया गया। ज्विंग्ली के अधूरे कार्य को पूरा करने का श्रेय कैलविन को मिला। कैलविन धर्म के मामले में किसी भी प्रकार की तड़क-भड़क नहीं चाहता था और पादरियों को वह कठोर अनुशासन में रखना चाहता था। फ्रांस में प्रोटेस्टैंट धर्म के अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। कैलविन को यह दृढ़ विश्वास था कि उसका जन्म चर्च-संगठन में शुद्धता लाने के लिए ही हुआ है। फिर भी फ्रेंच नरेश फ्रांसिस प्रथम के डर से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसे फ्रांस छोड़कर स्विट्जरलैंड भाग जाना पड़ा। वहाँ ज़्विंग्ली के पदचिह्नों पर चलकर उसने उसके अपूर्ण सुधार-कार्यों को पूरा करने का प्रयास किया। कैलविन किसी अंश तक लूथर के सिद्धान्तों से भी प्रभावित था। उसके धार्मिक विचार "इन्स्टीट्यूट्स ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन" नामक पुस्तक में संगृहीत हैं। इस पुस्तक ने प्रोटेस्टैंट धर्म की गतिविधि को अत्यधिक प्रभावित किया है। कैलविन के अनुयायी आगे चलकर 'प्यूरिटन' नाम से प्रसिद्ध हुए। स्कॉटलैंड में भी धर्म-सुधार की इस लहर ने काफी जोर बाँधा। वहाँ इसका नेता जॉन नॉक्स था।

इंगलैंड में धर्म-सुधार

इंगलैंड में धर्म-सुधार का वातावरण वैसे तो बहुत पहले ही वाइक्लिफ तथा इरैस्मस द्वारा तैयार हो चुका था, परन्तु वहाँ यह आन्दोलन काफी दिनों तक अपना सिर नहीं उठा सका। इसका कारण यह था कि वहाँ का राजा हेनरी अष्टम् पोप का पक्का भक्त एवं समर्थक था। हेनरी ने लूथर के विरुद्ध पोप की काफी सहायता की थी, जिससे प्रसन्न होकर पोप ने उसे 'धर्म-संरक्षक' की उपाधि दी थी। कुछ समयोपरान्त हेनरी ने निजी स्वार्थवश पोप से संबंध-विच्छेद कर लिया; कारण, वह अपनी स्त्री कैथरीन का परित्याग करके एक दूसरी युवती से शादी करना चाहता था! जब पोप ने उसे पत्नी-परित्याग की अनुमति नहीं दी, तो हेनरी अष्टम् ने पोप को विदेशी बताकर पार्लमेंट को अपने पक्ष में कर लिया और पोप से नाता तोड़ वह स्वयं इंगलैंड के चर्च का प्रधान बन बैठा! लेकिन उसके समय में इंगलैंड में ईसाई धर्म के सिद्धांतों एवं उपासनाविधि में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया गया। वस्तुतः इंगलैंड में प्रोटेस्टैंट धर्म की वास्तविक नींव हेनरी के पुत्र छठे एडवर्ड के समय में पड़ी। इस लहर को उसकी उत्तराधिकारिणी रानी मेरी ट्यूडर ने खून की नदी बहाकर उलट देना चाहा। इंगलैंड की धार्मिक समस्या का स्थायी हल आखिर रानी एलिजाबेथ (१५५८-१६०३ ई०) के समय में हुआ, जिसने 'ऐंग्लिकन चर्च' की स्थापना करके अपनी प्रजा के कैथलिक और प्रोटेस्टैंट दोनों वर्गों को संतुष्ट रखने का स्तुत्य प्रयास किया। लूथर तथा कैलविन द्वारा आयोजित सुधारों की अपेक्षा एलिजाबेथ द्वारा स्थापित यह नव-ऐंग्लिकन चर्च कहीं अधिक कट्टरपंथी था।

धार्मिक असहिष्णुता का नंगा नाच

प्रोटेस्टैंट और रोमन कैथलिक लोगों के पारस्परिक संघर्ष ने कालांतर में बड़ा ही वीभत्स एवं प्रचण्ड रूप धारण कर लिया! उनमें पारस्परिक सहिष्णुता लवलेश को भी नहीं रह गई। जिन प्रदेशों के राजा प्रोटेस्टैंट मतावलंबी थे, वे रोमन कैथलिक लोगों पर घोर अत्याचार करते और जहाँ के शासक रोमन कैथलिक थे, वे प्रोटेस्टैंट लोगों को जीने तक नहीं देते थे! राजाओं को यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि राजधर्म से भिन्न धर्मावलंबी प्रजा कदापि राजभक्त नहीं हो सकती! इसलिए राजनीतिक कारणों से लगभग सभी योरपीय नरेशों ने अपने से भिन्न एवं पृथक् मतावलंबी प्रजा के ऊपर जी खोलकर धार्मिक अत्याचार करना शुरू किया! इसका सब से वीभत्स रूप फ्रांस में प्रकट हुआ, जहाँ कई सहस्र नरनारी केवल इसीलिए निर्दयतापूर्वक तलवार के घाट उतार दिए गए कि वे प्रोटेस्टैंट थे! फ्रांस के इस धार्मिक गृह-युद्ध एवं वीभत्स अत्याचार का अंत १५९८ ई० में जाकर हुआ, जब कि 'नान्टस् की घोषणा' द्वारा फ्रेंच प्रजा को धार्मिक स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई। धार्मिक संघर्ष के इस जमाने में योरप के समस्त नृपति क्रमशः कैथलिक तथा प्रोटेस्टैंट इन दो विरोधी दलों में बँटे रहे और धर्म के नाम पर तीस वर्षों (१६१८-१६४८ ई०) तक वहाँ युद्ध चलता रहा, जिसका अन्त आखिर वेस्टफेलिया की संधि द्वारा हुआ।

लूथर के बाद प्रोटेस्टैन्ट आन्दोलन को आगे बढ़ाने-वाला महान् धर्म-सुधारक जॉन कैलविन।

'धर्म-सुधार विरोधी आन्दोलन'

प्रोटेस्टैंट धर्म की बढ़ती हुई लहर को रोकने तथा रोमन कैथलिक चर्च की आन्तरिक त्रुटियों को दूर करने के अभिप्राय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से कैथलिक जगत् की तीन महाशक्तियों——स्पेन, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' तथा पोप ने——मिलकर आखिर एक बहुत बड़ा आयोजन रचा, जो इतिहास में 'धर्म-सुधार-विरोधी आन्दोलन' या 'काउण्टर-रेफर्मेशन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस आंदोलन का श्रीगणेश 'ट्रेण्ट की काउंसिल' (१५४५-१५६३ ई०) से हुआ, जिसमें कैथलिक चर्च की एकता और संगठन पर जोर दिया गया था तथा प्रोटेस्टैंट धर्म की ओर प्रवृत्त हुए लोगों को पुनः अपनी ओर आकृष्ट करके उन्हें अपनाने का संकल्प किया गया था। इस प्रतिक्रियावादी आन्दोलन को सबल एवं सक्रिय बनाने के लिए स्पेन-निवासी इग्नेशियस लायोला (१४९१-१५५६ ई०) नामक एक व्यक्ति का योगदान सब से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उसने इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु 'जेसुइट संघ' नामक इतिहासप्रसिद्ध संस्था की स्थापना की, जिसका लक्ष्य पाठशालाएँ स्थापित करके तथा उग्र प्रचार-कार्य द्वारा कैथलिक धर्म का पुनरुत्थान करना था। इसी आंदोलन के अधीन पोप ने प्रति वर्ष कैथलिक धर्म-विरोधी पुस्तकों की एक सूची प्रकाशित करना भी शुरू किया, जिनका अध्ययन कैथलिक लोगों के लिए वर्जित था! इस सूची को 'पेपल इण्डेक्स' कहते थे। इसके अतिरिक्त पोप की संरक्षकता में एक विशेष धार्मिक न्यायालय की भी स्थापना हुई, जिसमें चर्च-विरोधी लोगों पर मुकदमा चलाकर उन्हें कठोर दंड दिया जाता था। इस प्रतिरोधक आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि प्रोटेस्टैंट धर्म की वेगवती वृद्धि रुक गई और जर्मनी का दक्षिणी भाग, फ्रांस, पोलैंड तथा स्विट्जरलैंड का भी कुछ भाग फिर से कैथलिक हो गया। उधर इटली तथा स्पेन में तो प्रोटेस्टैंट धर्म बिलकुल ही नहीं पनपने पाया।

धर्म-सुधार आन्दोलन का परिणाम

योरप के इस धार्मिक विद्रोह के कई महत्वपूर्ण परिणाम हुए। एक तो उसके फलस्वरूप लोगों में——चाहे वे कैथलिक हों अथवा प्रोटेस्टैंट——शुद्ध नैतिक आचरण के स्तर को ऊँचा उठाने की प्रवृत्ति तीव्रतर हो उठी, जिससे प्यूरिटन विचाधारा को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। दूसरे इस नई प्रवृत्ति ने कला के विकास पर घातक प्रभाव डाला, क्योंकि सुधारवादियों ने चर्च की पुरानी मूर्तियों तथा चित्रों आदि को तोड़-फोड़ डाला। उधर उसके कारण सार्वजनिक एवं लोकप्रिय शिक्षा-प्रणाली के विकास में भी भारी रोड़ा अटका, कारण अब तक शिक्षा का पोषक एवं उन्नायक चर्च था, किंतु जब विरोधियों द्वारा उसकी संपत्ति जब्त कर ली गई और उसकी आय के सारे स्रोत बंद कर दिए गए, तो यह स्वाभाविक हो गया कि चर्च द्वारा संचालित एवं पोषित शिक्षा-संस्थाएँ ठप्प हो जायँ। प्रोटेस्टैंट प्रशासकों एवं नेताओं द्वारा संस्थापित पाठशालाओं की संख्या इतनी कम थी कि धार्मिक विद्रोह के उपरांत लगभग एक शताब्दी तक औपचारिक शिक्षा केवल समाज के उच्च वर्ग के लोगों तक ही सीमित रही और सर्वसाधारण लोग घोर अज्ञानान्धकार में ही पड़े रहे। इसका कटु प्रभाव विश्वविद्यालयों पर भी पड़ा, जिनकी प्रगति बहुत दिनों के लिए अवरुद्ध हो गई।

धार्मिक विद्रोह की इस लहर ने योरप की राजनीति एवं समाज को भी बहुत-कुछ प्रभावित किया। इसने राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना को बल देकर स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश राजतंत्र को गौरव प्रदान किया। प्रोटेस्टैंट लोग पोप को विदेशी समझकर अपने देश पर से उसकी छत्रछाया को हटाना चाहते थे। इस प्रवृत्ति से लाभ उठाकर प्रोटेस्टैंट नरेशों ने चर्च की संपत्ति एवं अधिकारों का अपहरण करके अपने को मालामाल कर लिया। इस प्रकार वे पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली बन गए। उधर चर्च-संगठन में परिवर्तन चाहनेवाले सुधारकों ने चर्च-संचालन को प्रजातांत्रिक सिद्धांतों पर अवलंबित करके भविष्य के लिए प्रजातंत्रवाद की नींव दृढ़ करने में योग दिया। इस प्रकार इस धार्मिक आन्दोलन ने परोक्ष रूप से योरप का राजनीतिक नकशा ही बदल दिया।

विचार के क्षेत्र में इस विद्रोह-भावना के फलस्वरूप कैथलिक तथा प्रोटेस्टैंट लेखकों ने, अपने-अपने पक्ष के समर्थन में राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए, स्वाभाविक नियमों एवं मानव के जन्मसिद्ध अधिकारों और 'इकरार सिद्धान्त' की व्याख्या की। हाब्स, लॉक तथा रूसो के सिद्धांत परोक्ष रूप से इसी लहर की उपज थे। इसके अतिरिक्त धार्मिक विद्रोह की लहर से पूँजीवाद को भी प्रोत्साहन मिला, क्योंकि चर्च की अपार संपत्ति के अपहरण से मालामाल राजा तथा जमींदार और चर्च द्वारा वर्जित अधिक व्याज पर ऋण देकर जोरों से धन कमानेवाले व्यापारी वर्ग की अब खूब बन पड़ी! हाँ, कृषकों की दशा दयनीय हो गई, क्योंकि चर्च को देनेवाले धार्मिक करों से यदि उनका पिण्ड छूट गया, तो निरंकुश राजा और जमींदार उनसे चर्च से कहीं अधिक धन शोषण करने लगे। चूँकि धार्मिक पर्वों एवं त्योहारों के उपलक्ष्य में मिलनेवाला अवकाश घटा दिया गया था, अतः श्रमिकों को अब खेत में अधिक कार्य करना पड़ता था। इस आन्दोलन से धर्म-निरपेक्षीकरण को भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। अब तक सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा-संबंधी जिन नीतियों का संचालन चर्च करता था, उनका अधिकाधिक निर्देशन अब राज्य द्वारा होने लगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निरंकुश राष्ट्रीय राजतंत्रों का उदय और विकास

जिस प्रकार 'सांस्कृतिक पुनरुत्थान' एवं 'धर्म-सुधार आन्दोलन', मध्यकालीन 'अंधकार-युग' से निकलकर आधुनिकता के प्रांगण में आ खड़े होनेवाले, पश्चिमी जगत् के सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरोदय के प्रतीक थे, उसी प्रकार उसके राजनीतिक उत्कर्ष के निशान थे इन्हीं दिनों उसके आँगन में उद्‌भूत वे विविध निरंकुश राष्ट्रीय राजतंत्र, जिन्होंने उसके भावी मानचित्र की नींव डाली। प्रस्तुत प्रकरण में सूत्र रूप में इन्हीं के उदय और विकास की झाँकी चित्रित की जा रही है।

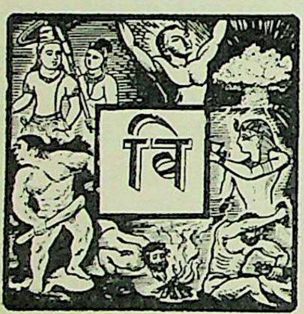

विभिन्न भाषा-भाषी तथा विभिन्न जाति के होते हुए भी इटली, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, इंगलैंड आदि विविध योरपीय देशों के बीच मध्यकाल में एकता का एक बंधन मौजूद था। यह बंधन था रोमन कैथलिक चर्च का, जो इन सब को एक ही पाश में बाँधे हुए था। उन दिनों ये सभी देश पोप की सत्ता स्वीकार करते और अपने को ईसाई धर्म-राज्य के अंतर्गत मानते थे। उन सबों के ऊपर पोप और पवित्र रोमन सम्राट् का एक प्रकार से द्वैध शासन था। ईसाई धर्मराज्य की एकता और अखंडता के उक्त आदर्श में एक धर्म, समान उद्देश्य तथा सभी देशों द्वारा धर्माधिकारियों के आज्ञापालन की समान भावना निहित थी। किंतु प्रोटेस्टैण्ट विद्रोह के फलस्वरूप जब योरप की उस धार्मिक एकता का अंत हो गया और सब को एक ही रज्जु में बाँधनेवाला पाश टूट गया, तो योरप बहुछत्रवादी हो गया। अब वह किसी एक सत्ता का आज्ञाकारी न रहा। अब वह कई छोटे-बड़े स्वतंत्र राज्यों का एक समूह मात्र था, जिनमें से प्रत्येक की शासन-व्यवस्था अपने-अपने निजी हितों की नींव पर ही स्थापित थी। इस परिवर्तन के कारण योरप के प्रांगण में क्रमशः एक नवीन धारणा का उदय हुआ। यह धारणा थी राष्ट्रीयता की भावना, जिसने निरंकुश राजतंत्रों को जन्म दिया।

इस प्रकार उदित नवीन राजतंत्रों के विकास को सामन्तशाही के अवसान और नवोत्थित नगरों के उदय से विशेष बल मिला। नवजात मध्यमश्रेणी का धनिक व्यापारिक वर्ग अपने जानमाल की रक्षा के लिए राजा का साथ देने लगा, क्योंकि सामन्तों के जमाने में जीवन और संपति की अरक्षा का सदैव डर लगा रहता था। इटली के मेदिची, जर्मनी के फ्यूगर्स तथा फ्रान्स के रोलिन्स नामक धनी परिवारों ने अपने-अपने राजाओं की उनके साहसिक कार्यों की सफलता के लिए पूरी-पूरी मदद की। इसके अलावा गोला-बारूद के आविष्कार ने भी सामन्तशाही की कमर तोड़ दी, कारण अब तक दुर्जेय बने रहनेवाले सामन्तों के मिट्टी के दुर्ग गोला-बारूद की बौछार के सम्मुख सहज ही धराशायी होने लगे।

उधर इंगलैंड और फ्रांस के बीच होनेवाले शतवर्षीय युद्ध (१३३७-१४५३ ई०) ने भी उक्त देशों में राष्ट्रीयता का बीजारोपण करने में महत्वपूर्ण योग दिया। इंगलैंड फ्रांस को अपने अधीन करना चाहता था और इसीलिए इन दोनों में उक्त युद्ध हुआ था। प्रजा ने देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर इस दीर्घकालीन युद्ध में अपने-अपने राजाओं की तन-मन-धन से सहायता की थी। इन दिनों फ्रांस की प्रसिद्ध वीरांगना जोन ऑफ आर्क ने अपनी भीषण ललकार एवं त्याग से फ्रांसीसियों के अन्दर ऐसा जोश भर दिया था कि वे अंगरेजों को अपने देश से बाहर खदेड़ देने में सफल सिद्ध हुए थे, यद्यपि इस वीर नारी को इस अनुष्ठान की पूर्ति में जिन्दा जलकर अपने प्राणों की बलि देना पड़ी थी! इसी प्रकार स्पेन में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भी राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। स्पेन के ईसाइयों तथा वहाँ के मुसलमानों में (जिन्हें मूर कहते थे) इन दिनों अति भीषण युद्ध हुआ, जिसमें मुसलमानों की पराजय हुई। अंत में स्पेन के ईसाई राज्यों के संगठन से वहाँ भी राष्ट्रीय राजतंत्र का जन्म हुआ।

उधर देशी भाषाओं के साहित्य के उत्कर्ष ने भी राष्ट्रीय राज्यों के उदय को काफी प्रोत्साहन प्रदान किया, कारण एक ही प्रकार के भाषा-भाषी लोगों का एकता के सूत्र में बँध जाना स्वाभाविक ही था। साथ ही धर्म-सुधार आन्दोलन से भी इस एकता को प्रचुर बल मिला। इसके अतिरिक्त परम्परागत कथाएँ भी इन राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना में सहायक सिद्ध हुईं। स्विट्जरलैंड में 'विलियम टेल', स्कॉटलैंड में 'सर विलियम वैलेस' तथा फ्रांस में 'राबर्ट ब्लाण्डेल' आदि राष्ट्रवीरों से संबंधित गाथाओं ने इन देशों की राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित करने में लपट का सा काम किया।

परन्तु सोलहवीं शताब्दी में जिन दिनों योरप के अन्य देशों में राष्ट्रीय राजतंत्रों की स्थापना हो रही थी, तब जर्मनी तथा इटली इस दौड़ में सर्वथा पिछड़े रह गए! यद्यपि इनमें से प्रत्येक देश के निवासी एक ही भाषा-भाषी थे, परन्तु दुर्भाग्यवश ये दोनों देश इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे हुए थे कि इस समय उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना कठिन था। इसी कारण जर्मनी और इटली का एकीकरण तीन सौ वर्ष बाद उन्नीसवीं शताब्दी में जाकर हुआ।

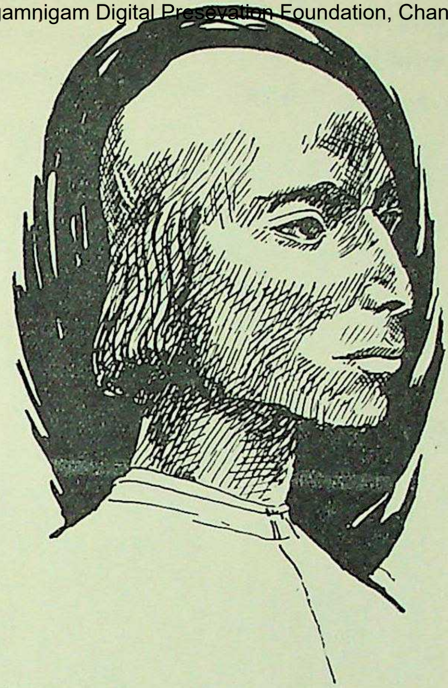

निरंकुश राजतंत्र का महान् प्रतिपादक मेकियावली, जिसे पश्चिमी जगत् का 'चाणक्य' कहा जाता है।

निरंकुशता का विकास—नए राज्यों की स्थापना के उपरान्त योरप के हर देश में नवीन शासन-प्रणाली की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। यदि मोटे तौर पर देखा जाय तो जो शक्ति अब तक पोप के पास केन्द्रित थी, उसका वितरण अब विभिन्न नरेशों में हो गया था। फलतः लोग अपने राजा को पोप तथा सामंतों से उच्च समझने लगे थे। इस प्रकार राजा मानो आराध्यदेव समझा जाने लगा था। वह अपनी प्रजा का सर्वेसर्वा तो था ही, साथ ही अब यह धारणा भी फैलने लगी थी कि वही इस धरती पर ईश्वर का अवतार एवं उसका एकमात्र प्रतिनिधि है, जिस पर कोई बाहरी नियंत्रण नहीं होना चाहिए! इस प्रकार 'राजा' मानो राज्य का मूर्तिमान् प्रतीक बन गया। इसकी प्रतिध्वनि हमें फ्रांस

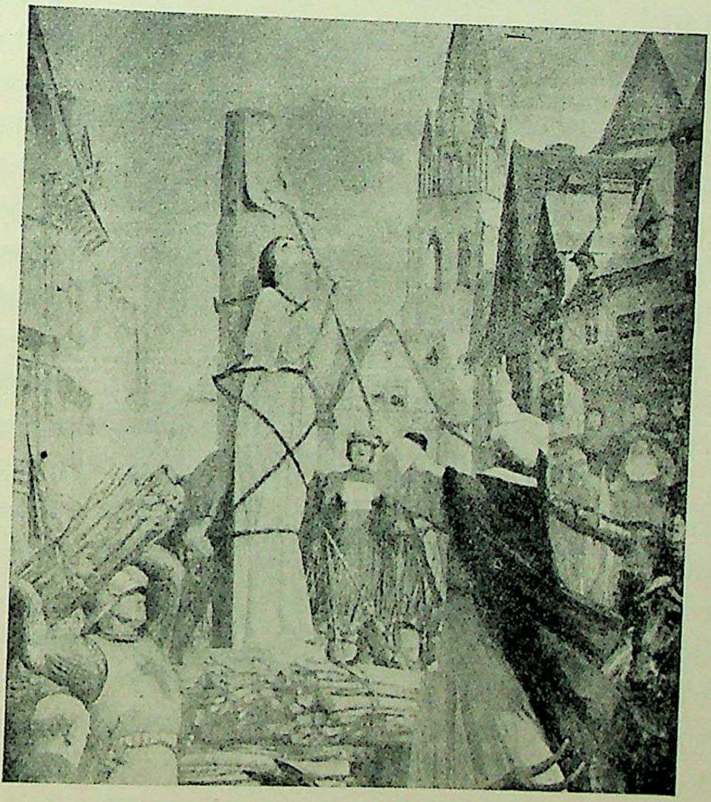

अपने देश की स्वतंत्रता के लिए विदेशी अंग्रेज सत्ताधारियों के हाथों जिन्दा जला दी जानेवाली फ्रांस की महान् वीरांगना जोन ऑफ आर्क।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के राजा लुई चतुर्दश के इस कथन में सुनाई पड़ती है कि 'मैं स्वयं ही राज्य हूँ' ! इटली के महान् राजनीतिक विचारक और कूटनीतिज्ञ मेकियावेली (१४६९-१५२७ ई०) ने इस प्रकार की विचारधारा को बढ़ावा देने में सब से प्रबल योग दिया। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्स' में निरंकुश राजतंत्र का जोरदार मण्डन किया। उसके सौ वर्ष बाद होनेवाले बोदिन नामक फ्रेंच लेखक ने भी 'राज्य' विषयक अपनी कृति में निरंकुश राजतंत्र का समर्थन करते हुए यह तर्क उपस्थित किया कि राजा सभी कानूनों का उद्गम एवं आदि स्रोत है और उसके ऊपर किसी भी प्रकार का नियंत्रण एवं प्रतिबंध नहीं होना चाहिए ! बोदिन का कहना था कि राजा अपने कार्यों के लिए केवल ईश्वर के समक्ष ही उत्तरदायी है और सर्वोच्च राजनीतिक संस्था होने के कारण राज्य की सत्ता कानून से भी उच्चतर एवं महत्तर है !

स्पेन के महान् राष्ट्रविधायक :: फर्डिनैण्ड और इजावेला।

स्पेन

फर्डिनैंड तथा इजावेला—योरप में सर्वप्रथम राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना स्पेन में हुई। सोलहवीं शताब्दी में स्पेन पाँच छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था—कैस्टील, आरगोन, वैलेंशिया, कैटालोनिया तथा नवारे। आरगोन, कैटालोनिया तथा वैलेंशिया का शासक फर्डिनैंड था और कैस्टील की राजकुमारी थी इजावेला। इन दोनों के परस्पर विवाह-बंधन में बँध जाने से स्पेन में राजनीतिक एकता का सूत्रपात हुआ। उन्होंने मिलकर ग्रैनाडा नामक मुस्लिम प्रदेश को भी जीत लिया, जिससे दक्षिण-पश्चिम योरप से मुसलमान खदेड़ दिए गए, और आधे नवारे को भी अपने राज्य में मिला लिया। इस राजदंपती ने स्पेन की वही सेवा की, जो हेनरी सप्तम् ने इंगलैंड की और लुई एकादश ने फ्रान्स की की थी। इन्होंने सामंतों का दमन किया, देश की आर्थिक अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया और न्याय की भी उचित व्यवस्था की। इनके हाथों उद्योग-धंधों को भी काफी प्रोत्साहन मिला। कोलंबस को नई दुनिया के ढूँढ़ने का अवसर इन्हीं शासकों की कृपा से मिला था। परन्तु उन्होंने कुछ गलतियाँ भी कीं। इजावेला की धार्मिक सहानुभूति कैथोलिकों के प्रति थी, अतः उसने स्पेन में रहनेवाले यहूदियों और मुसलमानों को निर्वासित कर दिया। स्पेन का सारा व्यापार यहूदियों के हाथ में था और उसमें से कुछ लोग बड़े-बड़े पदों पर भी नियुक्त थे। उधर खेतीबारी मुसलमानों (मूर लोगों) के हाथों में थी। इनके निर्वासन से स्पेन की आर्थिक उन्नति को बड़ा धक्का पहुँचा। मुसलमानों के निष्कासन से स्पेन की विद्योन्नति पर भी असर पड़ा, क्योंकि उस समय विद्या का प्रचार उन्हीं लोगों में अधिक था।

फिलिप द्वितीय — सोलहवीं शताब्दी में योरप का राजनीतिक नेतृत्व स्पेन के हाथ में था। इसका कारण यह था कि एक तो उसके निर्भीक, वीर एवं साहसी सैनिकों ने सफलतापूर्वक मुसलमानों से मोर्चा लेकर उनके छक्के छुड़ा दिए थे; दूसरे अमेरिका की खोज तथा मेक्सिको और पीरू की विजय का सर्वाधिक लाभ भी इसी देश को मिला था।

जब नई दुनिया के सोना-चाँदी से भरे जहाज स्पेन के समुद्र-तट पर बराबर उतारे जाने लगे, तो वेनिस और जिनेवा तक का रंग उसके सामने फीका

पड़ गया। इस अप्रत्याशित समृद्धि के कारण स्पेन के लिए यह स्वाभाविक था कि उसकी प्रतिभा योरप के राजनीतिक एवं सैनिक क्षेत्रों में भी चमचमाती। फिर स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय का चरित्र एवं व्यक्तित्व भी ऐसा था कि वह अपने राष्ट्र को निखिल योरप के प्रांगण में उभारे बिना नहीं रह सकता था! फिलिप स्पेन को दुनिया का महान्तम देश बनाने की महत्वाकांक्षा रखता था और इस लक्ष्य में वह बहुत-कुछ सफल भी हुआ! उसके प्रयासों से सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पेन अपनी चरमोन्नति को प्राप्त हुआ। इसीलिए इस काल को इतिहास में 'फिलिप द्वितीय के युग' की संज्ञा प्रदान की गई है।

फिलिप कट्टर कैथलिक था और उसे विद्रोही प्रोटेस्टैंट मत से बड़ी चिढ़ थी, जिसे वह ईसाई सभ्यता का विनाशक समझता था। अपने धार्मिक आदर्शों में वह इतना अडिग था कि स्पेन तथा कैथलिक चर्च के हितों में संघर्ष उपस्थित होने पर वह चर्च के लिए अपने देश के हितों का सहर्ष बलिदान कर सकता था! उसमें असीमित कार्य-क्षमता थी और उसकी इच्छा-शक्ति असाधारणतया दृढ़ थी। वह युद्ध से नहीं घबड़ाता था, फिर भी बाहुबल के प्रयोग की अपेक्षा कूटनीति एवं छल-बल से काम निकाल लेना वह श्रेयस्कर समझता था। उसका व्यक्तिगत जीवन बहुत ही संयमित एवं नियमित था। किंतु उसके चरित्र में कतिपय त्रुटियाँ भी थीं। वह बड़ा ही कपटी एवं शक्की था। उसमें धार्मिक असहिष्णुता कूट-कूटकर भरी हुई थी। इन्हीं त्रुटियों के कारण उसे अंतिम दिनों में करारी मात खाना पड़ी।

स्पेन का महत्वाकांक्षी शासक फिलिप द्वितीय, जिसके समय में स्पेन का उत्कर्ष भी हुआ और पतन भी।

फिर भी उसके समय में स्पेन की पर्याप्त उन्नति हुई और उसकी औपनिवेशिक शक्ति का अपूर्व विकास हुआ। स्पेन का जहाजी बेड़ा उस समय अजेय समझा जाता था। लोग स्पेन की संस्कृति को आदर्श मानते थे और इसमें संदेह नहीं कि फिलिप के राज्यकाल में स्पेन की कला और साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ था। उसके दरबार में बड़े-बड़े चित्रकार, कवि और यात्री ठहरा करते थे। उसके समय में स्पेन में कई एक भव्य महलों और मठों का निर्माण हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इंगलैंड से टक्कर——फिलिप ने स्कॉटलैंड की रानी मेरी ट्युडर से शादी की थी और उसकी मृत्यु के बाद वह इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ से भी विवाह करना चाहता था, क्योंकि उसकी महत्वाकांक्षा थी कि इंगलैंड उसके अधीन हो जाय; कारण, धार्मिक, व्यापारिक तथा राजनीतिक कारणों से इंगलैंड स्पेन का जानी दुश्मन था। अमेरिका के माल से लदे हुए स्पेनिश जहाजों को अंग्रेज मल्लाह प्रायः अटलांटिक महासागर में लूट लेते थे। इससे चिढ़कर और इंगलैंड को कैथलिक बनाने के उद्देश्य से फिलिप ने अपने जहाजी बेड़े——अजेय आर्माडा——को इंगलैंड पर आक्रमण करने के लिए भेजा। पर इस अभियान में उसकी करारी हार हुई! इस प्रकार स्पेन की सामुद्रिक तथा व्यापारिक प्रभुता का अंत हुआ और इंगलैंड में कैथलिक धर्म की पुनर्स्थापना की भी कोई आशा न रही। अब इंगलैंड की सामुद्रिक शक्ति को चुनौती देनेवाला कोई नहीं रहा। स्पेन की इन आपदाओं से लाभ उठाकर उसके डच-उपनिवेश स्वतंत्र बन बैठे! इस तरह सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक स्पेन का पलड़ा बहुत-कुछ ऊँचा उठ गया और उसका भाग्य-सूर्य तेजी से ढलने लगा।

स्पेन के पराभव का प्रमुख कारण यह था कि उसके शासकों में चरित्र-दोष आ गया था और उनकी कार्य-क्षमता घट गई थी। वे विलासी एवं अकर्मण्य हो गए थे। धर्म के नाम पर चलनेवाले तीसवर्षीय युद्ध का भी, जिसमें स्पेन कैथलिक मतावलम्बियों का अगुआ था, उस पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। उसके धन-जन की कमी हो गई। उक्त युद्ध में तीस वर्षों तक लगातार संलग्न रहने के पश्चात् स्पेन फ्रांस के विरुद्ध भी ग्यारह वर्षों तक (१६४८-१६५९ ई०) लड़ता रहा। यद्यपि इस संघर्ष का आखिरकार पिरेनीज की संधि (१६५९ ई०) द्वारा अंत हुआ, किन्तु उसके साथ-ही-साथ योरप में स्पेन के प्राधान्य की भी सदा के लिए इतिश्री हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हेनरी चतुर्थ तथा सली—जिन दिनों योरप में स्पेन की तूती बोल रही थी, दीर्घकालीन गृह-युद्धों तथा विदेशी आक्रमणों से संतप्त सोलहवीं शताब्दी के फ्रांस में आंतरिक अव्यवस्था, दिवालियापन तथा बेकारी फैली हुई थी। वहाँ की भूमि बिना जोते-बोये परती पड़ी हुई थी। नगर उजड़ गए थे। सड़कें खराब हो गई थीं। मार्ग अरक्षित थे। व्यापार ठप्प हो गया था। गृह-युद्ध के कारण रईसों तथा सामन्तों ने तरह-तरह के विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए थे। वे लोग फ्रेंच नरेश की आज्ञाओं का उल्लंघन करने के आदी हो गए थे। सारांश यह था कि पन्द्रहवीं शताब्दी में फ्रेंच राजा को जो कुछ यश-प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी, वह इन दिनों मानो मिट्टी में मिली जा रही थी। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के अन्त में फ्रांस के दिन फिर लौट आए। उसका फिर से उत्कर्ष हुआ तथा पुनः उसकी गणना शक्तिशाली देशों में होने लगी। इसका श्रेय सत्रहवीं शताब्दी में सौभाग्य से फ्रांस को मिलनेवाले वे अनेक योग्य राजा तथा मंत्री थे, जिन्होंने अपने सद्प्रयत्नों से उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर कर दिया। इनमें हेनरी चतुर्थ (१५८९-१६१० ई०) तथा उसके मुख्य मंत्री सली का नाम पहले लिया जाता है। हेनरी अपनी प्रजा का शुभचिन्तक एवं प्रीतिपात्र था। उसमें उत्साही सैनिक के गुण विद्यमान थे। उधर उसका मुख्य मंत्री सली महान् अर्थवेत्ता था। इन दोनों के सम्मिलित प्रयास से फ्रांस में आंतरिक शांति स्थापित हुई और आर्थिक एवं कृषि-संबंधी कई सुधार किए गए। फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य की नींव हेनरी चतुर्थ के समय में ही पड़ी। इन्हीं दिनों भारत तथा उत्तरी अमेरिका में फ्रेंच व्यापारिक कोठियाँ स्थापित की गईं। राज्य की ओर से रेशम के कीड़ों को पालने का भी प्रबन्ध किया गया, जिससे फ्रांस रेशम की उत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध हो गया।

कार्डिनल रिशेलू तथा मैंजरीन—फ्रांस के इतिहास में उसके दो अनन्य भक्तों एवं शासकों कार्डिनल रिशेलू तथा मैंजरिन के नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। इन दोनों व्यक्तियों ने फ्रांस के मस्तक को ऊँचा उठाने में कोई कोरकसर बाकी नहीं रक्खी। कार्डिनल रिशेलू अठारह वर्षों (१६२४-१६४२ ई०) तक हेनरी चतुर्थ के उत्तराधिकारी राजा तेरहवें लुई का मुख्य मंत्री रहा, यद्यपि उसका जीवन एक धर्माचार्य के रूप में प्रारम्भ हुआ था। मुख्य मंत्री की हैसियत से उसकी आंतरिक नीति देश में सशक्त केन्द्रीय सरकार स्थापित करने की थी। इसीलिए उसने रईसों के दमन का उपाय किया और सामन्तों से स्थानीय प्रशासन-भार छीनकर उसे राजा द्वारा मनोनीत पदाधिकारियों को सौंप दिया। उसने फ्रांस के प्रोटेस्टैंट (ह्यूजिनो) लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की, किंतु उनकी राजभक्ति में सन्देह होने के कारण उसने उन लोगों द्वारा किलेबंदी तथा राजनीतिक संगठन करने की मनाही कर दी। रिशेलू ने फ्रेंच प्रशासन की आत्मा ही बदल दी, जिससे वह सामंतवादी की अपेक्षा राजसत्तात्मक अधिक हो गया। उसकी नीति ने फ्रांस में निरंकुश राजतंत्र का मार्ग प्रशस्त कर दिया। रिशेलू सच्चा देशभक्त तथा फ्रांस के बूरबन राजवंश का स्वामिभक्त सेवक था। उसके व्यक्तित्व की ये दोनों विशेषताएँ उसकी वैदेशिक नीति के संचालन में स्पष्ट दृष्टिगोचर हुईं। अपनी वैदेशिक नीति में वह स्पेन को अपंग करके फ्रांस की राष्ट्रीय मर्यादा की अभिवृद्धि करना चाहता था। अपने नीति-चातुर्य द्वारा उसने इंगलैंड को तटस्थ रखकर तीसवर्षीय युद्ध में मनमाना हस्तक्षेप किया और स्पेन तथा ऑस्ट्रिया के हेप्सबर्ग राजवंश को आपस में लड़ाकर उनकी सारी शक्ति क्षीण कर दी। योरपीय राजनीति में शक्ति-संतुलन बनाए रखने के लिए उसने हॉलैंड तथा स्वीडन के प्रोटेस्टैंट लोगों को सहायता पहुँचाई, यद्यपि वह स्वयं कैथलिक था! रिशेलू की नीति के कारण फ्रांस की गणना शक्तिशाली राष्ट्रों में होने लगी और अलसेस नामक प्रांत की प्राप्ति से उसकी उत्तरी सीमा अब ठेठ राइन नदी तक पहुँच गई। १६४२ ई० में रिशेलू परलोक सिधारा, उसके थोड़े ही दिनों पश्चात् उसका संगीतमर्मज्ञ एवं आखेटप्रेमी स्वामी लुई तेरहवाँ भी फ्रांस के बूरबन राजवंश के सिंहासन पर पाँचवर्षीय लुई चौदहवें को छोड़कर सदा के लिए चल बसा (१६४३ ई०)।

नाबालिग राजा लुई चौदहवें का प्रारंभिक शासन-काल फ्रांस के लिए अवश्य घातक सिद्ध हुआ होता, यदि उसे कार्डिनल मैंजरीन (१६०२-१६६१ई०) सरीखे मुख्य मंत्री की सेवाएँ न प्राप्त हुई होतीं। मैंजरीन मूलतः इटली का निवासी था, किंतु १६३९ ई० में वह फ्रांस में आकर बस गया था और उसने फ्रेंच नागरिकता प्राप्त कर ली थी। वह रिशेलू का शिष्य एवं अनुचर था। अपने महान् गुरु की मृत्यु के समय से लेकर स्वयं अपनी मृत्यु तक (१६४२-१६६१ ई०) फ्रांस के शासन का उसने ही वास्तविक रूप में सूत्र-संचालन किया था। उसने अपने पूर्वाधिकारी की गृह एवं वैदेशिक नीति का सफलतापूर्वक अनुशीलन किया। मैंजरीन की मृत्यु के बाद ही स्वयं लुई ने शासन की बागडोर अपने हाथों में सँभाली।

लुई चतुर्दश (१६४३-१७१५ ई०)—महान् निरंकुश शासक लुई चतुर्दश इतिहास में 'महाप्रतापी एवं ऐश्वर्यशाली राजा' के नाम से प्रसिद्ध है। वह राजा की निरंकुशता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं दैवी अधिकारों के सिद्धान्तों का प्रबल समर्थक था। वह सूर्य को अपना आदर्श मानता था। उसका कहना था कि 'जिस प्रकार भूतल के प्राणियों का जीवनदाता सूर्य है, उसी प्रकार फ्रांस के लोगों के जीवन का प्रधान स्रोत मैं हूँ !' वह अपने को परम पावन, अपनी प्रजा का पिता, भूतल पर ईश्वर की प्रतिमूर्ति तथा अपने कार्यों के लिए केवल ईश्वर के समक्ष उत्तरदायी समझता था। उसके द्वारा प्रतिपादित राजा की निरंकुशता एवं दैवी अधिकार का सिद्धान्त योरप में लगभग एक शताब्दी से अधिक काल तक--ठेठ फ्रांस की राज्यक्रान्ति तक--सर्वमान्य बना रहा। कालांतर में फ्रांस तथा समकालीन योरप पर लुई की गहरी धाक जम गई। उसने पेरिस नगर से बारह मील दूर वारसाई नामक स्थान पर भव्य भवनों, वाटिकाओं, लताकुंजों, फौव्वारों तथा कलापूर्ण प्रस्तर-मूर्तियों से सुसज्जित एक विशाल राजप्रासाद निर्मित कराकर वहीं अपना राजदरबार लगाया। उसका राजमहल समस्त योरप में एक अचरज की वस्तु जैसा माना जाता था ! लुई के दबदबे का यह हाल था कि इंगलैंड के राजा उसके पेंशन-भोगी थे ! सौभाग्य से लुई को अपने समय के योग्यतम मंत्री, युद्धसचिव, कुशल इंजीनियर, युद्ध-प्रवीण जल-सेनानायक, चोटी के वैज्ञानिक, दार्शनिक, कलाकार एवं साहित्यकार मिल गए थे। इसी से उसका शासनकाल फ्रेंच ललित कला तथा साहित्य का स्वर्ण-युग माना जाता है। उसके दरबार में पाककला की भी गणना ललित कला में होने लगी थी और कहा जाता है कि जब एक बार उसका प्रमुख रसोइया--वातेल--उसके लिए सुरुचिपूर्ण एवं सुस्वादु भोजन तैयार न कर सका, तो उस बेचारे ने आत्महत्या कर ली ! अपनी गृह-नीति की सफलता में लुई को कोलबर्ट (१६१९-१६८३ ई०) सरीखे असाधारण प्रतिभा-

फ्रांस का प्रतापी सम्राट् लुई चतुर्दश, जिसके समय में फ्रांस का राजसी वैभव पराकाष्ठा पर पहुँच गया था।

संपन्न अर्थ-शास्त्री एवं वित्तमंत्री का सक्रिय सहयोग प्राप्त था। कोलबर्ट मध्यम श्रेणी का प्रशासक था, जो अपने अध्यवसाय से राजा का विश्वासपात्र बन गया था। फ्रांस की भौतिक उन्नति में उसने लुई का पग-पग पर साथ दिया। अपने जीवन की अंतिम साँस लेते समय तक (१६८३ ई०) कोलबर्ट युद्ध-मंत्रालय को छोड़कर सार्वजनिक निर्माण, वित्त, जलसेना, वाणिज्य, कृषि तथा उपनिवेश आदि प्रशासन के सभी विभागों का मंत्री बना रहा। प्रशासन का खर्च रिशेलू तथा मैजरीन के मंत्रित्वकाल से ही अत्यधिक बढ़ा हुआ था। उधर एक ओर धनी-मानी रईस तथा धर्माधिकारी वर्ग अधिकांश करों से मुक्त था, तो दूसरी ओर निम्न श्रेणी के लोग करभार से बेतरह कराह रहे थे। कर-वसूली का ढंग भी असंतोषजनक एवं त्रुटिपूर्ण था। कोलबर्ट निडर होकर इन दोषों के निवारण में लग गया। उसने किसानों के ऊपर लगनेवाले प्रत्यक्ष करों की दर घटा दी; कृषि को हर तरह से प्रोत्साहन प्रदान किया; उत्तम नस्ल के पशु पालने पर बल दिया; देश के आवागमन के साधन उन्नत किए तथा सिंचाई के लिए नहरें बनवाईं। शिल्प एवं उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करने के लिए उसने विदेशों से शिल्पकार बुलाए; फ्रेंच शिल्पियों के बाहर जाने पर रोक लगा दी तथा आयात पर कर बढ़ा दिया। उसके द्वारा जलपोतों का भी निर्माण किया गया और उपनिवेशों की स्थापना तथा जल-सेना की अभिवृद्धि की गई। अनुसंधनालय तथा साइंस-अकादमी की भी स्थापना की गई। इन दिनों फ्रांस की जल-शक्ति इंगलैंड और हॉलैंड दोनों को मिलाकर भी बढ़ी हुई थी।

इन परिस्थितियों में लुई चतुर्दश के लिए महत्वाकांक्षी वैदेशिक नीति का अपनाना स्वाभाविक ही था। उसने फ्रांस की परंपरागत वैदेशिक नीति का अनुशीलन करते हुए स्पेन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा ऑस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजवंशों को नीचा दिखाना चाहा; कारण उनके शासन-क्षेत्रों से फ्रांस चतुर्दिक घिरा हुआ था। अपनी इस विजय-विस्तार-नीति के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए लुई ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि प्रत्येक देश को अपनी प्राकृतिक सीमा के अन्दर रहना चाहिए और यदि कोई विदेशी शक्ति किसी देश की प्राकृतिक सीमाओं का उल्लंघन करके वहाँ अपना सिक्का जमाती है, तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा होगी और उसे तुरंत मार भगाना चाहिए। फ्रांस की प्राकृतिक सीमाएँ पिरेनीज, आल्प्स पर्वत, राइन नदी तथा अटलांटिक महासागर तक विस्तृत थीं। इन सीमाओं तक पहुँचने के लिए तथा हैप्सबर्ग के सिंहासनों पर अपने बूरबन बंधु-बांधवों को बिठाने के लिए लुई ने कई वर्षों तक अनेक युद्ध किए। उसके प्रमुख वैरी एवं प्रतिद्वंदी थे स्पेन, इंग्लैंड, हॉलैंड तथा स्वीडन।

लुई चतुर्दशने अपनी आंतरिक शक्ति एवं साधनों का संगठन करके फ्रांस में एक सुव्यवस्थित एवं सशक्त केन्द्रीय सरकार की स्थापना की। उसनेपिरेनीजतथा राइन नदी तक अपने देश की प्राकृतिक सीमा का विस्तार किया और स्पेन की अखिल योरपीय प्रतिष्ठा का मर्दन करके उसके स्थान पर फ्रांस के यश, गौरव एवं प्राधान्य की स्थापना की। स्पैनिश उत्तराधिकार के युद्ध में भाग लेकर लुई स्पेन के सिंहासन पर अपने पौत्र को आसीन कराने में सफल रहा! इस प्रकार उसने न केवल अपना ही यश बढ़ाया, वरन् फ्रांस को भी गौरवान्वित किया। उसके जमाने में फ्रांस की भाषा, सभ्यता एवं संस्कृति योरप के लिए अनुकरणीय एवं आदर्श वस्तु बन गई थी। इसीलिए लुई चतुर्दश को 'उन्नतिशील स्वेच्छाचारी शासक' के रूप में याद किया जाता है। किंतु लुई निष्कलंक शासक नहीं था। उसने 'एडिक्ट ऑफ नान्ट्स' को रद करके फ्रांस के प्रोटेस्टैंट लोगों की धार्मिक स्वतंत्रता छीन ली थी, जिसके कारण सहस्रों ह्यूजिनो स्वदेश छोड़कर अन्य देशों को चले गए थे। उसके साम्राज्य-लिप्साजनित युद्धों ने फ्रांस को दिवालिया कर दिया था! फिर भी वह अपने प्रबल औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्वी इंगलैंड को नहीं दबा सका था। उसके ऐश्वर्य एवं वैभव के भार से दबकर फ्रांस की सामान्य जनता की कमर टूट गई और उसके शासन के उत्तरार्द्ध में बूरबन राजवंश का ऐश्वर्य केवल दिखावटी एवं बनावटी रह गया। तभी तो लुई ने अपनी इहलीला समाप्त करने के पूर्व अपने उत्तराधिकारी को यह शिक्षा दी थी कि "प्रियवर! मेरी तरह युद्ध-प्रिय बनकर धन की बरबादी मत करना, वरन् देश और प्रजा की सेवा करना।" उसकी मृत्यु होने पर फ्रांस के भयावह दुःस्वप्न का अंत हुआ और प्रजा ने कुछ राहत की साँस ली!

प्रशा (जर्मनी) का शासक फ्रेडरिक महान्, जिसका कथन था कि 'राजा को राज्य का सर्वप्रथम सेवक होना चाहिए!'

लुई पन्द्रहवाँ (१७१५-१७७४ ई०)—लुई चतुर्दश का उत्तराधिकारी लुई पन्द्रहवाँ अयोग्य, निर्बल तथा विलास-प्रेमी था। उसे राज-काज में कोई रुचि न थी और जब उसे फ्रांस की आन्तरिक दुर्व्यवस्था की सूचना दी गई, तो उसने भविष्यवाणी की कि "मेरी मृत्यु के बाद फ्रांस का सर्वनाश ध्रुव है!" कहना न होगा कि निरंकुश राजतंत्र ने ही अंततः फ्रांस की राज्य-क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार की।

ऑस्ट्रिया, प्रशा (जर्मनी) तथा रूस

ऑस्ट्रिया—इसी प्रकार के निरंकुश राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना इन्हीं दिनों ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस में हुई। १८वीं शताब्दी में योरपीय रंगमंच पर फ्रांस के बाद ऑस्ट्रिया का ही नंबर था। ऑस्ट्रिया ने तुर्कों तथा प्रोटेस्टैंट धर्म की बढ़ती को रोक दिया था और सुधारवादी प्रगतिशील आन्दोलनों को कुचलने की भी कोशिश की थी। उन दिनों वारसाई के वैभव एवं ऐश्वर्य की बराबरी केवल वियना (ऑस्ट्रिया की राजधानी) ही कर सकती थी। वहाँ की रानी मैरियाथेरेसा (१७४५-१७८० ई०) तथा उसके पुत्र जोजेफ द्वितीय की गणना योरप के उन्नति-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शील स्वच्छन्द शासकों में की जाती थी। कारण, लुई चतुर्दश की तरह उन्होंने भी प्रजा की दशा को सुधारने का प्रयत्न किया था और उनके शासनकाल में ऑस्ट्रिया में ललित कला--संगीत तथा चित्रकला--को काफी प्रोत्साहन मिला था।

प्रशा—अठारहवीं सदी में जर्मनी अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। वहाँ का सब से बड़ा और प्रसिद्ध राज्य प्रशा था। वहाँ के राजा फ्रेडरिक महान् (१७४०-१७८६ ई०) की गणना अपने समय के योरप के गिने-चुने सफल एवं उन्नतिशील स्वेच्छाचारी शासकों में की जाती थी। फ्रेडरिक एक योग्य संगठनकर्त्ता एवं प्रतिभाशाली सैनिक था। उसके समय में प्रशा में साहित्य, कला एवं विज्ञान की काफी उन्नति हुई। उसका कहना था कि 'शासक को स्वेच्छाचारी राजा नहीं, वरन् राज्य का सर्वप्रथम सेवक' होना चाहिए। उसके पास बड़ी शक्तिशाली सेना थी, जिसकी सहायता से प्रशा को पड़ौसी साइलेशिया तथा पोलैंड के कुछ भाग मिल गए थे।

इंगलैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम।

रूस—रूस प्रारंभ में एक निर्धन देश था और सभ्यता एवं संस्कृति में वह बहुत पिछड़ा हुआ था। वहाँ का रहन-सहन शोचनीय था। ऐसे पिछड़े प्रदेश को सभ्य मार्ग का पथिक बनाने का श्रेय पीटर महान् (१६८२-१७२५ ई०) को है। उसने पश्चिमी योरप के देशों से संपर्क स्थापित किया और आज्ञा निकाली कि रूसियों को योरप के देशों की तरह ही वेशभूषा धारण करनी चाहिए। रूस के शासक की पदवी 'जार' थी। वह अपने देश का निरंकुश शासक था। उसके पास एक शक्तिशाली स्थायी सेना रहती थी, जिसकी सहायता से वह देश में आंतरिक शांति स्थापित करता था। सैन्य बल से ही पीटर अपने सुधारों को कार्य रूप में परिणत कर सका। रूस के उन्नतिशील निरंकुश शासकों में वहाँ की रानी कैथरीन (१७६२-१७९६ ई०) का भी नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि उसका जीवन बड़ा अनैतिक, सिद्धान्तहीन एवं स्वेच्छाचारी था और उसने अपनी प्रजा का न तो कभी हित-चिन्तन ही किया और न कभी लोगों की निर्धनता एवं अज्ञानता को दूर करने का ही प्रयास किया, फिर भी रूस को योरप के अन्य शक्तिशाली देशों के समकक्ष बिठाने में उसे अद्भुत सफलता मिली। जारशाही के निरंकुश राजतंत्र ने रूस का राजनीतिक एकीकरण तो किया, पर उक्त अनुत्तरदायी स्वेच्छाचारी प्रशासन ने ही आखिर वहाँ की जनता में क्रान्ति का स्वर जगाया।

रूस को अंधकार-युग से बाहर लाकर नया लिबास पहनानेवाला जार पीटर महान्।

योरप के अन्य उन्नतिशील स्वेच्छाचारी नरेशों में स्वीडन के गुस्टेवस तृतीय (१७७१-१७९२ ई०), सारडीनिया के चार्ल्स इमैन्युअल तृतीय (१७३०-१७७३ ई०) तथा टस्कनी के लियोपोल्ड प्रथम (१७६५-१७९० ई०) के भी नाम उल्लेखनीय हैं।

इंगलैण्ड

इंगलैंड के इतिहास का श्रीगणेश ई० पू० ५५ से होता है, जब कि जूलियस सीजर ने इस द्वीप पर आक्रमण किया था। उसके बाद इंगलैंड कई सौ वर्षों तक रोमन साम्राज्य का एक प्रांत बना रहा। पाँचवीं शताब्दी के आरंभ (४१० ई०) में जब

रोम की छत्रछाया समाप्त हुई, उस समय ब्रिटेन के निवासियों में अपने बल पर खड़ा होने की शक्ति नहीं थी। उन पर रोमन सभ्यता का काफी प्रभाव पड़ चुका था। वेश-भूषा, भाषा, व्यवहार आदि सभी बातों में वे रोमन लोगों का अनुकरण करते थे। किंतु रोम को महान् बना देनेवाले गुणों को उन्होंने नहीं अपनाया था। उनके अन्दर अभी आत्म-निर्भरता का गुण उत्पन्न नहीं हो पाया था। परिणामतः वे स्वयं निर्बल, अशक्त और पराधीन वृत्ति के ही बने हुए थे। अतः रोम का सहारा हटते ही इंगलैंड को पुनः आक्रमण-कारियों का शिकार बनना पड़ा।

इंगलैंड की प्राचीन सभ्यता, परंपरा और संस्थाओं की जड़ सैक्सन सभ्यता में निहित है। अंगरेज उक्त सभ्यता को बड़े गौरव की दृष्टि से देखते हैं। सैक्सन काल में इंगलैंड का सब से बड़ा राजा एल्फ्रेड महान् (८७१-९०१ ई०) हुआ, जिसने डेन जाति के घातक आक्रमण से अपने देश की रक्षा की थी। सैक्सनों को दबाकर ग्यारहवीं शताब्दी में विदेशी नार्मन लोगों का उत्कर्ष हुआ। इस वंश का पहला राजा विजयी विलियम था, जो फ्रांस के नारमंडी प्रान्त का रहने-वाला था। नार्मन काल में सामन्त-प्रणाली का विकास हुआ। प्रारंभ में नार्मन लोग सैक्सन लोगों को घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उनके शासनकाल में इंगलैंड में अंगरेजी भाषा का कोई महत्व नहीं था। किंतु कालांतर में नार्मन तथा सैक्सन जातियों के सम्मिश्रण से इंगलैंड में नवीन जीवन का संचार हुआ। हेनरी द्वितीय (११५४-११८९ ई०) तथा एडवर्ड प्रथम के समय में वहाँ एक शक्तिशाली केन्द्रीय सर-कार की स्थापना हुई, न्यायालयों का सुधार किया गया और कानूनों का निर्माण हुआ।

'महास्वतंत्रतापत्र'—राजा की निरंकुशता को परिमित करने के लिए अंगरेज जनता ने तेरहवीं शताब्दी में राजा जॉन से अपना इतिहासप्रसिद्ध 'चार्टर' या 'महास्वतंत्रतापत्र' प्राप्त किया। उसी के साथ मध्यकालीन इंगलैंड में जनता की प्रति-निधि-संस्था पार्लमेंट (संसद) का भी जन्म एवं विकास हुआ। तदनंतर राजगद्दी के लिए इंगलैंड के दो राजवंशों—यॉर्क और लैंकैस्टर—में तीस वर्ष तक गृहयुद्ध चलता रहा (१४५५-१४८५ ई०), जिसे 'गुलाबों का युद्ध' कहते हैं। यह नाम इसलिए पड़ा था कि इनमें से एक राजवंश का चिह्न सफेद तथा दूसरे का लाल गुलाब था। इन तीस वर्षों का इतिहास केवल हिंसा, मार-काट और अशांति की शुष्क कहानी है—उसमें केवल स्वार्थान्ध सामंतों के पारस्परिक प्रतिशोध का नग्न चित्र ही हमें देखने को मिलता है।

हेनरी सप्तम् और अष्टम्—ट्यूडर वंश के संस्थापक हेनरी सप्तम ने 'गुलाबों के युद्ध' का अन्त करके एक शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना की। यह वह समय था जब कि योरप में व्यापक परिवर्तन हो रहे थे। ट्यूडर वंश में कुल पाँच शासक हुए। हेनरी सप्तम् और अष्टम् ने आन्तरिक अशान्ति एवं अव्यवस्था को दूर करके सामन्तों की रही-सही शक्ति को कुचल दिया और देश को वास्तविक शान्ति प्रदान की। इस वंश ने योरप के अन्य धनी-मानी राज्य-घरानों से वैवाहिक संबंध स्थापित किया और व्यापारिक संधियों द्वारा देश की उन्नति के मार्ग को प्रशस्त किया। 'गुलाबों के युद्ध' के कारण इंगलैंड की बड़ी मानहानि हुई थी और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उसका कोई स्थान नहीं रह गया था। हेनरी अष्टम् ने 'शक्ति-संतुलन' की नीति का अनुशीलन करके इंगलैंड को योरपीय राजनीति के अखाड़े में प्रविष्ट कराया और कभी स्पेन को तथा कभी फ्रांस को सहायता देकर अपने राष्ट्र का मानवर्द्धन किया। यद्यपि हेनरी अष्टम् ने अपने निजी स्वार्थ-वश पोप से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था और वह स्वयं इंगलैंड के चर्च का प्रधान अधिष्ठाता बन बैठा था, तथापि उसने देश के धार्मिक सिद्धान्तों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया था। तब उसके पुत्र छठ एडवर्ड के समय में इंगलैंड में प्रोटेस्टेंट धर्म का झंडा गाड़ दिया गया, जिसे रानी मेरी ने उखाड़कर फेंक देने का निष्फल प्रयत्न किया। अंत में इंगलैंड की धार्मिक समस्या का स्थायी हल रानी एलिजाबेथ ने किया, जिसके हाथों उसके राष्ट्रीय चर्च की नींव पड़ी।

एलिजाबेथ प्रथम—इस रानी का शासनकाल इंगलैंड का स्वर्ण-युग माना जाता है। उसके व्यक्तित्व पर सांस्कृतिक पुनरुत्थान की पूरी छाप थी। वह हर प्रश्न को राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से ही देखती थी। अपने देश के कल्याण के लिए वह जीवन-पर्यन्त कुमारी बनी रही। जिस समय वह गद्दी पर बैठी थी, इंगलैंड के अनेक शत्रु थे। देश में धर्म के नाम पर अशान्ति थी और गरीबों की परिस्थिति अत्यंत शोचनीय थी। परन्तु अपने नीति-चातुर्य से उसने स्कॉटलैण्ड को मित्र बनाया; स्पेन की नौसेना को पराजित कर उसकी कमर तोड़ दी और इंगलैंड की औपनिवेशिक तथा व्यापारिक उन्नति की भी गहरी नींव डाली। भारत के साथ व्यापार करने लिए नियोजित सुप्रसिद्ध 'ईस्ट इंडिया कंपनी' की स्थापना इन्हीं दिनों हुई थी। एलि-जाबेथ ने गरीबों के लिए 'दरिद्र-संरक्षण' के नियम भी बनाए। उसके समय में देश में साहित्य एवं कला की भी महान् उन्नति हुई। शेक्सपियर, बेकन, मार्लो तथा स्पेन्सर सरीखे कुशल साहित्यकार उसी के युग में उत्पन्न हुए थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तरमध्यकालीन भारत :: मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन

सांस्कृतिक पुनरुत्थान और धर्म-सुधार आन्दोलन के दौर के बाद जिन दिनों योरप के विभिन्न देशों में निरंकुश राष्ट्रीय राजतंत्रों का उदय और गठन हो रहा था, उन्हीं दिनों भारत में भी मुगल साम्राज्य के रूप में एक शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्र की संस्थापना हुई थी। आइए, इस काल के भारत की झाँकी देखें!

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में भारत के राजनीतिक मानचित्र ने एक नया रूप धारण किया, जब कि पिछली चार शताब्दियों से विविध मुसलमान वंशों की अधीनता में रहती चली आई दिल्ली की राजगद्दी पर मुगलों की सत्ता स्थापित हुई। यह राजतंत्र एक विशाल साम्राज्य का रूप लेकर दो शताब्दियों तक इस महादेश पर अपना झंडा फहराए रहने में सफलीभूत हुआ। मुगल शासनकाल भारत में मुस्लिम शासन का सब से महत्वपूर्ण काल माना गया है। कारण, इस युग में न केवल देश में सुदृढ़ प्रशासनीय एकता की स्थापना हुई एवं बाहरी खतरों से सुरक्षा और भीतरी शांति का वातावरण यहाँ कायम रहा, प्रत्युत कला, साहित्य आदि के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। मुगल साम्राज्य का संस्थापक था बाबर, जो मूलतः मध्य एशिया का रहनेवाला था। इस राजवंश ने आगे चलकर जहाँ अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ जैसे नामांकित लोकप्रिय शासक उत्पन्न किए, वहाँ उसी में औरंगजेब जैसा अनुदार और धर्मान्ध व्यक्ति भी पैदा हुआ, जिसने अपनी अदूरदर्शिता से आखिर इस साम्राज्य को खोखला कर दिया!

बाबर (१४८३-१५३० ई०)

इस नवीन साम्राज्य की स्थापना करनेवाले बाबर की रगों में पितृपक्ष से तैमूरलंग तथा मातृपक्ष से चंगेज खाँ का रक्त दौड़ रहा था। बारह वर्ष की अवस्था में वह अपने पिता की छोटी-सी रियासत फरगाना का स्वामी बना। अपने पुरखे तैमूर के प्रसिद्ध नगर समरकन्द की ओर वह सब से अधिक आकृष्ट था और उसे अधिकृत करने के हेतु उसने कई असफल प्रयत्न भी किए। इन्हीं प्रयत्नों के दौरान में वह फरगाना से भी हाथ धो बैठा। इसके बाद उसे दो वर्ष घुमक्कड़ के रूप में बिताने पड़े। अंत में "भाग्य की गेंद अथवा शतरंज के बादशाह की भाँति इधर-उधर मारा-मारा फिरने" के बाद बाईस वर्ष की अवस्था में (१५०४ ई०) वह काबुल का स्वामी बन गया, जिसे उसने अपने भावी भारतीय अभियानों की सामरिक तैयारियों का अड्डा बनाया। यहीं से उसने भारतवर्ष पर चार बार आरंभिक आक्रमण किए (१५१९-१५२४ ई०)। उसका पाँचवाँ एवं अंतिम आक्रमण नवम्बर १५२५ ई० में हुआ था।

भारत में मुगल साम्राज्य का शिलान्यास करते समय कड़े राष्ट्रीय प्रतिरोध के फलस्वरूप बाबर के दाँत खट्टे हो गए थे! पानीपत के प्रथम युद्ध (१५२६ ई०) में उसे दिल्ली के अफगान सुल्तान इब्राहीम लोदी तथा ग्वालियर-नरेश विक्रमाजीत सिंह की सम्मिलित विशाल सेना से मोर्चा लेना पड़ा था! उधर कानुआ की रणभूमि में (१५२७ ई०) मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह, चंदेरी के राजा मेदिनीराय तथा हसन खाँ मेवाती और सुल्तान महमूद लोदी आदि मुसलमान शासकों की सम्मिलित सेनाओं का सामना करना पड़ा था। "इससे स्पष्ट है कि यह संघर्ष मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं का युद्ध नहीं था, बल्कि संपूर्ण देश के शत्रु के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा था, यद्यपि बाबर की दृष्टि में यह युद्ध काफिरों के विरुद्ध एक जिहाद था, जिनके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

साथ कुछ धर्मच्युत मुसलमान भी आ मिले थे।" कुछ भी हो, ये दोनों युद्ध निर्णायक सिद्ध हुए और दोनों में ही विजयश्री बाबर के हाथ लगी। उसका शक्तिशाली तोपखाना, उसकी सुशिक्षित एवं अनुशासित सेना तथा उसकी उत्कृष्ट युद्धकला उसकी विजय का कारण सिद्ध हुई।

कानुवा के युद्ध के बाद बाबर ने चन्देरी पर अपना अधिकार कर लिया तथा घाघरा के युद्ध (मई १५२९ ई०) में, जो उसका अंतिम युद्ध था, उसने बिहार तथा बंगाल के अफगान शासकों को भी पराजित कर दिया। अब उसका साम्राज्य पश्चिम में आमू नदी से लेकर पूर्व में बिहार तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में मालवा तक फैल गया था।

सैनिक और रणकुशल सेनापति होने के साथ ही साथ बाबर साहित्यानुरागी भी था। तुर्की भाषा में लिखी गई उसकी आत्मकथा--'बाबरनामा'--उसके शौर्यपूर्ण कृत्यों का रोचक लेखा है।

हुमायूँ (१५३०-१५५६ ई०)

बाबर की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ १५३० ई० में दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। उसमें कतिपय चरित्रगत दोष एवं त्रुटियाँ थीं। अफीम खाने का आदी हो जाने के कारण वह आरामतलब एवं आलसी बन गया था। उसे अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अफगान सरदार शेरखाँ सूर मुगलों को भारत के बाहर खदेड़ने का स्वप्न देख रहा था। खिन्न राजपूत भी प्रतिशोध की भावना से प्रेरित थे। उधर गुजरात का शासक बहादुरशाह भी दिल्ली पर अपनी आँखें गड़ाए हुए था। हुमायूँ इन संकटों का सामना करने में असमर्थ था। शेरखाँ द्वारा चौसा (१५३९ ई०) तथा कन्नौज (१५४० ई०) की लड़ाइयों में पराजित होकर उसे पन्द्रह वर्षों तक दर-दर की खाक छाननी पड़ी। उसके इस निर्वासन-काल में अमरकोट के राजपूत राणा ने उसे केवल शरण ही नहीं दी, वरन् अपने दुर्ग में उसने मुगल महिलाओं को सम्मानपूर्वक ठहराकर हुमायूँ का स्वागत-सत्कार किया और उसे सैनिक एवं रुपये-पैसे की भी सहायता दी। इसी आपत्तिकाल में अमरकोट के किले में हुमायूँ के पुत्र अकबर का जन्म हुआ (१५४२ ई०)। विपदाओं का मारा हुमायूँ ईरान पहुँचा, जहाँ के शाह ने उसकी आवभगत तो की, पर उसे शिया मत अंगीकार करने को बाध्य किया। इस अपमानजनक व्यवहार को धैर्यपूर्वक सहने और शिया मत के प्रचार का सद्प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा करने पर फारस के शाह ने हुमायूँ को सैनिक सहायता प्रदान की और वह हिन्दुस्तान की ओर लौटा। इस बीच उसका प्रबल प्रतिद्वंद्वी अफगान शासक शेरशाह मर चुका था (१५४५ ई०) और उसके निर्बल एवं चरित्रहीन उत्तराधिकारी सूर-साम्राज्य के संचालन में असमर्थ थे। १५५५ ई० में सिकन्दर सूर को पराजित करके हुमायूँ पन्द्रह वर्ष के उपरान्त पुनः दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। पर थोड़े ही दिनों बाद एक दिन संध्या समय अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों पर से नीचे उतरते समय वह फिसलकर गिर पड़ा और चल बसा! इस बीच हुमायूँ ने कालिंजर के हिन्दू शासक पर आक्रमण किया था; पर कालिंजर की सेना ने मुगलों के दाँत खट्टे कर दिए थे! विवश होकर हुमायूँ को इस हिन्दू राजा से संधि करना पड़ी थी।

अफगानों का पुनरोदय :: शेरशाह सूर

शेरशाह सूर (१५४०-१५४५ ई०)—बाबर द्वारा पानीपत तथा घाघरा के युद्धों में विजय पाने के बावजूद भारत में अफगानों का पूर्ण उन्मूलन नहीं हो सका था। वे नवस्थापित विदेशी मुगल शासन से क्षुब्ध होकर अपनी विघटित शक्तियों का पुनर्संगठन करने की कोशिश में थे। संयोगवश उन्हें शेरखाँ सूर के व्यक्तित्व में अपने वांछित नेता की प्राप्ति हो गई, जिसने अफगान शक्ति को पुनरुज्जीवित करके अल्पकाल के लिए पुनः इस देश में अफगान शासन की स्थापना कर ली।

शेरखाँ 'शेरशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। उसमें असाधारण प्रतिभा एवं योग्यता थी। उसकी सफलता का कारण उसकी असाधारण सैनिक रणकुशलता थी। उसने शासन-प्रबंध की ओर भी ध्यान दिया और अनेक सुधार किए। उसका राजस्व अथवा भूमिकर संबंधी सुधार सब से महत्वपूर्ण था। इस क्षेत्र में अकबर तथा टोडरमल उसके ऋणी थे। मुद्रा-व्यवस्था, व्यापार-वाणिज्य, न्याय एवं पुलिस-व्यवस्था, सड़कों, सरायों तथा इमारतों का निर्माण एवं गुप्तचर-विभाग की पुनर्स्थापना विषयक उसके अन्य सुधार इस बात के प्रमाण थे कि शेरशाह उत्तरमध्यकालीन भारत का एक अग्रगण्य शासक था। कट्टर सुन्नी मुसलमान होते हुए भी, बहुसंख्यक हिन्दुओं के प्रति वह सहिष्णु था और उसने अपनी सेना तथा मालगुजारी विभाग में कई हिन्दुओं को नियुक्त कर रक्खा था। अकबर के पूर्व समस्त मुसलमान शासकों में शेरशाह सूर ही एक ऐसा अकेला व्यक्ति हुआ, जिसमें विधायक तथा प्रजा के संरक्षक एवं शुभचिंतक के तत्व विद्यमान थे। यदि कालिंजर के किले का घेरा डालते हुए बारूदखाने में आग लग जाने से शेरशाह का आकस्मिक निधन न हुआ होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१५४५ ई०), तो दिल्ली के तख्त पर मुगलों की पुनर्स्थापना इतनी जल्दी कदापि न होती। शेरशाह सूर के उत्तराधिकारी निर्बल एवं चरित्रहीन सिद्ध हुए, जिसके कारण राज्य में अव्यवस्था एवं अशांति फैल गई और हुमायूँ के लिए राज्य की पुनर्प्राप्ति सरल हो गई।

अकबर (१५५६-१६०५)

हुमायूँ के बाद मुगल राजगद्दी पर आनेवाला उसका पुत्र अकबर न केवल भारत के बल्कि दुनिया के इतिहास में अपने ढंग का अनूठा शासक हुआ है। उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना एवं संघटन करके उसकी सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता का भी स्वप्न देखा। यद्यपि वह आजीवन निरक्षर रहा, तथापि उसने विद्वानों की संगति की और धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि संस्कृति के सभी क्षेत्रों में असाधारण रुचि दिखाई। अकबर तेरह वर्ष की अवस्था में अपने पिता की काँटों से भरी गद्दी पर बैठा था। उसके राज्यारोहण के समय देश की राजनीतिक अवस्था बड़ी डाँवाडोल थी तथा राज्य की आर्थिक स्थिति भी खराब हो चुकी थी। राज्याधिकार के लिए कई प्रतिद्वन्द्वी ताल ठोंक रहे थे, जिनमें प्रबलतम था आदिलशाह सूर का सेनापति एवं मंत्री हेमू, जिसने दिल्ली और आगरा पर अपना अधिकार स्थापित करके 'विक्रमादित्य' की पदवी ग्रहण कर ली थी! अपने स्वामिभक्त संरक्षक एवं पथप्रदर्शक बैरम खाँ के सहारे अल्पवयस्क अकबर ने पानीपत की दूसरी लड़ाई में (१५५६ ई०) हेमू को परास्त किया। वयस्क होने पर जब उसे बैरम खाँ का नियंत्रण अखरने लगा, तो उससे मुक्ति पाने के लिए उसने उसे हज करने को मक्का भेज दिया। अकबर के जीवन के दो पक्ष हैं——एक ओर तो वह एक महान् साम्राज्य-निर्माता के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है; दूसरी ओर एक अनोखे स्वप्न-द्रष्टा, दार्शनिक, अन्वेषक, आदर्शवादी सुधारक, धर्मप्रणेता, आध्यात्यिक एवं सांस्कृतिक समन्वय के नेता तथा राष्ट्र-निर्माता के रूप में भी उसकी झाँकी हमें देखने को मिलती है। उसके चरित्र के ये दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक तथा परस्पर अविभाज्य थे——उनमें से एक का अस्तित्व दूसरे के बिना संभव नहीं था। इन दोनों पक्षों ने मिलकर ही अकबर को भारत की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक एकता का प्रतिनिधि बना दिया।

मुगल सम्राट् अकबर।

पानीपत की दूसरी लड़ाई में विजय पाकर मुगल साम्राज्य की ठोस आधारशिला रखने के बाद अकबर उक्त साम्राज्य के विस्तार-पथ पर अग्रसर हुआ। अकबर की विजयों की दीर्घ परंपरा लगभग पैंतालीस वर्षों तक जारी रही। इस अवधि में उसने १५५८ से १५७६ ई० तक सारे उत्तरी भारत को अपने कब्जे में कर लिया; १५९६ ई० तक पश्चिमोत्तर सीमा-क्षेत्र को भी अधिकृत कर लिया और १५९८ तथा १६०१ ई० के बीच दक्षिण-विजय - अभियान किया। दक्षिण में असीरगढ़ की विजय (१६०१ ई०) अकबर की अंतिम जीत थी। समय-समय पर उसे अनेक आभ्यंतरिक विद्रोहों का दमन तथा अपने विश्वासघाती मंत्रियों एवं उपद्रवकारी पुत्र सलीम का शमन भी करना पड़ा। १५७२ ई० में उसने गुजरात का समृद्ध प्रदेश जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। उधर बुद्धिमत्तापूर्ण मैत्री की नीति द्वारा राजपूत राजाओं को भी मुगल साम्राज्य के सगे-संबंधी, स्वामिभक्त सेवक एवं सच्चे सहयोगी बनाकर उसने अपने पक्ष में कर लिया। केवल मेवाड़ के वीर महाराणा प्रताप को वह अपने पक्ष में नहीं कर पाया। महाराणा प्रताप ने अपना राज्य खोकर दर-दर जंगलों में भटकना मंजूर किया, परन्तु उन्होंने मुगल शक्ति के आगे अपना शीश कभी भी नहीं झुकाया! महान् देशभक्त प्रताप के साथ उसके अशोभनीय संघर्ष की भाँति, गोंडवाना की शासिका वीरांगना रानी दुर्गावती पर किया गया अकबर का आक्रमण भी केवल उसकी साम्राज्य-लिप्सा का परिचायक था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डॉ० स्मिथ के शब्दों में "ऐसा कोई कार्य नहीं किया गया था, जिससे वह आक्रमण उचित बताया जा सकता; केवल लूट और विजय की अभिलाषा ही उसका मुख्य कारण थी !" चित्तौड़ के पतनोपरांत वहाँ की जनता का कत्लेआम भी अकबर की प्रतिशोधात्मक प्रकृति का परिचायक है ! यही बात अहमदनगर की वीरांगना चाँद बीबी पर किए गए उसके अनीतिपूर्ण आक्रमण के बारे में भी कही जा सकती है ! इसी प्रकार काश्मीर-विजय (१५८६ ई०) के समय उसके द्वारा व्यवहृत छल-कपट की नीति भी अकबर के चरित्र पर कलंक का स्थायी टीका लगाती है। वस्तुतः अकबर के विस्तृत साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर-पश्चिम में मध्य एशिया से पूरब में असम तक और दक्षिण में कृष्णा नदी की उत्तरी तरेटी तक जो फैलीं, सो बहुत-कुछ उसकी कूट-नीति का ही फल था ! यद्यपि थीं। अबुल फजल के अनुसार अकबर की विजय-नीति का उद्देश्य स्थानीय शासकों के निरंकुश शासन से पीड़ित प्रजा को शांति एवं सुरक्षा प्रदान करना था, किंतु उसकी प्रारंभिक विजयों पर विचार करते हुए यह बात ठीक नहीं कही जा सकती।

जो भी हो, अकबर ने अपने साम्राज्य के सभी प्रांतों में एक समान शासन-प्रणाली की स्थापना करके देश में राष्ट्रीयता के विकास का मार्ग तैयार करने में सहयोग दिया, यह निर्विवाद है। उसने शेरशाह द्वारा आरंभ की गई नीति को और भी व्यापक बनाया और जिन्हें उदार स्वेच्छाचारिता के मुख्य उद्देश्य कहते हैं, उन्हें प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया।

समन्वयकारी एवं आदर्शवादी सुधारों का प्रणेता—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अकबर ने एक अखिल भारतीय साम्राज्य का स्वप्न देखा था, जिसकी स्थापना करना यद्यपि राजनीति तथा कूटनीति के बिना संभव नहीं था, तथापि वह एक ऐसे आदर्शवादी का स्वप्न था, जिसके हृदय में भारत, भारतवासी तथा भारतीयता के प्रति अगाध निष्ठा भरी हुई थी। दूसरे शब्दों में, राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ अकबर की अपेक्षा उसके अंतस्तल का आदर्शवादी मानव कहीं अधिक उच्च एवं महान् था। अकबर सोलहवीं शताब्दी के प्रतापी एवं राष्ट्र-प्रेमी नरपतियों के युग में उत्पन्न हुआ था। रूस का निर्माता पीटर महान्, इंगलैंड की लोकप्रिय रानी एलिजाबेथ प्रथम तथा फ्रांस का सुधारवादी राजा हेनरी चतुर्थ, ये सभी अकबर के समकालीन महीपति थे। किन्तु इन सबों की अपेक्षा अकबर में धार्मिक सद्प्रवृत्ति सर्वाधिक थी, जो उसके क्रिया-कलापों को प्रेरित एवं अनुप्राणित किया करती थी। सोलहवीं शताब्दी के योरप में जिस समय धर्म के नाम पर खून की नदियाँ बह रही थीं––फ्रांस में कैथलिक लोग जब प्रोटेस्टेंटों को तलवार के घाट उतार रहे थे और इंगलैंड के प्रोटेस्टेंट मतावलंबी कैथलिक लोगों का वध कर रहे थे और जिन दिनों स्पेन के कैथलिक ईसाई यहूदियों का धन एवं जीवन लूट रहे थे–– तभी भारत में अकबर धार्मिक सहिष्णुता की नीति निभा रहा था। वह फतेहपुर-सीकरी स्थित अपने इबादतखाने में साम्राज्य के सभी धर्मों एवं मत-मतान्तरों के अधिकारी पंडितों तथा धर्माचार्यों को आमंत्रित करके सत्यान्वेषण के हेतु धर्म-चर्चा एवं निष्पक्ष वादविवाद कराया करता था। धार्मिक समानता स्थापित करने की दृष्टि से वह हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही धार्मिक पर्वों एवं समारोहों में सम्मिलित होता था। इन मानवोचित उच्चादर्शों से प्रेरित होकर ही उसने हिन्दुओं के ऊपर लगाए गए घृणित 'जजिया' और अन्य करों को हटा दिया। "उसने हिन्दू तथा मुसलमानों के पारस्परिक भेद-भावों को दूर करने तथा उनमें एकता स्थापित करने के लिए अन्तर-साम्प्रदायिक विवाहों का भी उदाहरण प्रस्तुत किया; उच्च उपाधियों तथा पदों को देने में जाति तथा धर्म के भेद-भाव को मिटाया और इन सब से बढ़कर एक नए धर्म (दीन-इलाही) की स्थापना की, जिसे वह नए जगत् का अग्रदूत बनाना चाहता था।" 'दीन-इलाही' एक एकतामूलक सर्वधर्म-

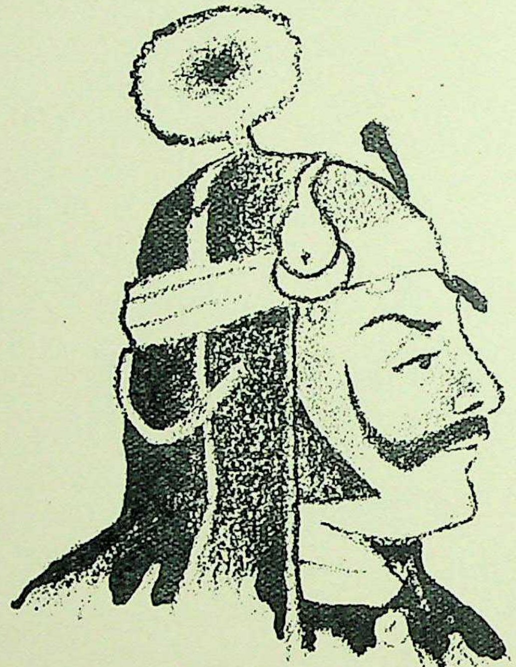

मुगल साम्राज्यवाद को आजीवन चुनौती देनेवाले महान् राष्ट्रवीर महाराणा प्रताप।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सार-संग्रह जैसा था। उसे अकबर अपनी प्रजा पर थोपना नहीं चाहता था, वरन् लोगों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता थी कि वे जिस धर्म को चाहें अपनावें। धर्म को उसने राजनीति से सदैव पृथक् रक्खा। दीन-इलाही "अकबर की प्रबल जिज्ञासा, वैज्ञानिक दृष्टि, सार्वभौमिक सहिष्णुता, पारस्परिक विरोधों को न्यूनतम करके सहमति और एकता के क्षेत्र को विस्तृत करने की चेष्टा एवं सामाजिक संस्कृति के प्रसार का द्योतक था। ······धार्मिक स्वतंत्रता बीसवीं शताब्दी का वरदान है, धार्मिक दासता मध्ययुगीन अभिशाप था। उक्त अभिशाप को वरदान में परिणत करना अकबर जैसे क्रान्तिकारी समाज - सुधारक का ही कार्य था।"

अकबर स्वभाव से ही धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। अपनी इसी जन्मजात प्रकृति के कारण वह तत्त्वचिंतकों की भाँति ऊषःकाल के एकान्त में चिन्तनशील होकर बैठ जाता और गूढ़ अध्यात्मतत्त्वों की गुत्थियाँ सुलझाने का प्रयास किया करता था। उसके निर्माण में हिन्दू, जैन, पारसी, सूफी तथा ईसाई धर्मों के गण्यमान पंडितों एवं विद्वानों की संगति का भी प्रचुर प्रभाव पड़ा था। वह अपने युग के धर्म-सुधार आन्दोलन की ही उपज कहा जा सकता था।

अपने दरबारियों के साथ बादशाह जहाँगीर
[एक प्राचीन चित्र :: 'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' के सौजन्य से।]

अकबर के उपर्युक्त सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सुधारों का उसकी प्रजा पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। जब सम्राट् अपने महल के ऊपरी झरोखे में नित्य प्रातः प्रभु से प्रार्थना करने और प्रजा को दर्शन देने के लिए उपस्थित होता, तो हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उसके दर्शनार्थ महल के सामने झुण्ड के झुण्ड उपस्थित हो जाते थे। इस प्रकार प्रजा में मुगल सम्राट् के प्रति राजभक्ति उत्पन्न हो गई, जिसका सल्तनत काल में बिलकुल अभाव था। इसके फलस्वरूप इस नए साम्राज्य के विदेशी रूप में भी न्यूनता आ गई। इस साम्राज्य में हिन्दुओं को भी बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त किया गया और मानसिंह, टोडरमल तथा बीरबल आदि कुछ व्यक्ति तो साम्राज्य के प्रमुख स्तंभ हो गए। मानसिंह एकदम इस्लामी प्रदेश काबुल के सूबेदार नियुक्त हुए थे! योग्य व्यक्ति को योग्य पद देने की इस नीति ने मुगल साम्राज्य का कायाकल्प कर दिया और वह एक ही पीढ़ी में इतना आगे बढ़ गया कि विदेशी से वह एक राष्ट्रीय राज्य - सा बन गया।

श्री पणिक्कर के शब्दों में, अकबर ने अपने उत्तराधिकारियों को जिस त्रिसूत्री नीति की वसीयत दी थी, उसका पहला सूत्र यह था कि राष्ट्रीय राज्य का स्वरूप अक्षुण्ण रक्खा जाय; दूसरे, हिन्दुओं से मेल-मिलाप बना रहे; और तीसरे, भारत का एकीकरण किया जाए। सचमुच यह नीति महान् दूरदर्शिता की परिचायक थी। कहना अनावश्यक है कि इसी नीति के कारण मुगल साम्राज्य इतने दिनों तक टिक सका और उक्त नीति का परित्याग करते ही वह ढह पड़ा।

जहाँगीर (१६०५-१६२७ ई०)

अकबर का एकमात्र पुत्र सलीम दिल्लीश्वर बनने के लिए अधीर हो रहा था। इसके लिए वह पहले विद्रोह भी कर चुका था। अकबर की मृत्यु के बाद 'जहाँगीर' के नाम से सिंहासनारूढ़ होने पर उसने अपने पिता की ऊपर उल्लिखित नीति के सूत्रों का यथेष्ट परिपालन किया। डॉक्टर स्मिथ के शब्दों में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

"जहाँगीर का शासन सामान्यतया अकबर द्वारा निश्चित रीति-नीति पर संचालित किया गया और उसके शासन को हम उसके पिता के ही प्रशासन की निरन्तरता की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं; अन्तर केवल इतना ही था कि जहाँगीर की कुछ वैयक्तिक त्रुटियों के कारण शासन में कतिपय अवगुण समा गए थे।" जहाँगीर के शासनकाल में साम्राज्य में से केवल कन्धार हाथ से निकल गया। अन्यथा उसने अपने पिता द्वारा प्राप्त समूचे राज्य को अक्षुण्ण बनाए रक्खा। उसने योरपीय देशों से व्यापारिक संबंध भी स्थापित किए। उसके शासनकाल की प्रमुख घटनाएँ थीं––शाहजादा खुसरू तथा खुर्रम (शाहजहाँ) के विद्रोह, 'ग्रंथ साहब' के रचयिता सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुन का वध (क्योंकि उनकी सद्भावनाएँ शाहजादा खुसरू के प्रति थीं); मेवाड़ तथा अहमदनगर के विरुद्ध संघर्ष; काँगड़ा-विजय तथा महावत खाँ का विद्रोह। जहाँगीर की जीवन-कहानी नूरजहाँ के उल्लेख के बिना अधूरी ही रहेगी। कहा जाता है कि इस रमणी (मेहरुन्निसा) के सौंदर्य पर मोहित होकर ही जहाँगीर ने उसके पति शेर अफगन का वध करवा दिया था और उसे अपनी अर्द्धांगिनी बनाकर 'नूरजहाँ' की उपाधि प्रदान की थी। नूरजहाँ अत्यन्त सुन्दर, चतुर, महत्वाकांक्षिनी, शक्ति-लोलुप एवं गुटबाज स्त्री थी, जिसने सम्राट् को शून्य बनाकर सारे शासन की बागडोर अपनी मुट्ठी में कर ली थी। जहाँगीर के शासनकाल की जो-कुछ कालिमा है, उसके दायित्व से नूरजहाँ मुक्त नहीं हो सकती। सुरा के प्याले की लत में पड़कर जहाँगीर ने नूरजहाँ को ही राज्य का सर्वेसर्वा बना दिया था!

जहाँगीर के चरित्र में परस्पर विरोधी तत्त्वों का सम्मिश्रण था। डॉ० स्मिथ के शब्दों में, "वह कोमलता तथा क्रूरता, न्याय तथा सनक, शिष्टता तथा बर्बरता, सद्बुद्धि तथा बालसुलभ मूर्खता का विचित्र सम्मिश्रण था।" उसकी न्यायप्रियता तथा साठ घंटियोंवाली "न्याय-शृंखला" इतिहास-प्रसिद्ध है। वह प्राकृतिक दृश्यों का प्रेमी, कला और साहित्य का आश्रयदाता तथा उद्योग और व्यापार का उन्नायक था। स्वयं पक्का मुसलमान होते हुए भी, वह अकसर हिन्दू संतों के दर्शन करने जाया करता था।

शाहजहाँ (१६२७-१६५८ ई०)

जहाँगीर की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र खुर्रम ने 'शाहजहाँ' की उपाधि धारण कर दिल्ली की गद्दी प्राप्त की। संभवत: वह युद्ध के अवांछनीय साधनों द्वारा सिंहासन न प्राप्त करता, यदि नूरजहाँ लगातार उसके पीछे पड़कर उसे गद्दी से दूर रखने का अनवरत षड्यंत्र न रचती होती। अपने प्रारंभिक कुकृत्यों पर पर्दा डालने के लिए ही शाहजहाँ ने अपने मित्रों तथा निर्धनों के प्रति बड़ी उदारता दिखलाई और प्रजा को सुखी बनाने के प्रयत्न किए। शाहजहाँ का शासनकाल मुगलों के ऐश्वर्य एवं वैभव की पराकाष्ठा का प्रतीक बन गया। पर उसके साथ ही मुगल साम्राज्य के आर्थिक ढाँचे के अवसान का भी श्रीगणेश हो गया। शाहजहाँ ने धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता की उस सफल नीति को तिलांजलि दे दी, जिसका उद्घाटन उसके पितामह अकबर ने किया था! अब गैर-मुसलमानों के प्रति काफी असहिष्णुता एवं अत्याचार की नीति बरती जाने लगी। इस नीति के अधीन काशी तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों में ७६ हिन्दू मंदिर धराशायी कर दिए गए और हिन्दुओं पर पुनः घृणित तीर्थयात्रा-कर लगा दिया गया! इसी तरह शिया मुसलमानों तथा ईसाइयों के प्रति भी अत्याचार किए गए। इन्हीं दिनों दक्षिण भारत में भीषण अकाल पड़ा और महामारी फैल गई। यद्यपि सम्राट् ने प्रजा के कष्ट-निवारणार्थ सक्रिय कदम उठाए, फिर भी इस संकट में सहस्रों जानें चली गईं!

शाहजहाँ ने इक्कीस वर्ष की अवस्था में मुमताज बेगम से विवाह किया था। अठारह साल के अन्दर ही उसके चौदह संतानें उत्पन्न हुईं और अंतिम प्रसवकाल में आखिर बेचारी बेगम के प्राण-पखेरू ही उड़ गए! अपनी प्राण-प्रिया की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए ही शाहजहाँ ने तीन करोड़ रुपए व्यय करके आगरा में श्वेत संगमरमर के उस अद्भुत् स्मारक 'ताजमहल' का निर्माण कराया, जो आज विश्व का एक कौतूहलपूर्ण अचरज बना हुआ है! इस कला-प्रेमी निर्माता की अन्य यादगारें हैं––इतिहासप्रसिद्ध तख्त-ताऊस, दिल्ली का लाल किला और उसकी इमारतें तथा मोती मस्जिद।

शाहजहाँ के शासनकाल में भारत को किसी बाह्य आक्रमण का सामना नहीं करना पड़ा। पश्चिमी एशिया तथा योरप के साथ व्यापारिक संबंध बढ़ जाने के कारण इन दिनों देश में धन-धान्य की भी वृद्धि हुई। फिर भी सम्राट् तथा उसकी नौकरशाही की विलासिता तथा व्ययशील योजनाओं की पूर्ति के हेतु लगाए गए भारी करों के भार से जनता की कमर टूटी जा रही थी! वस्तुतः शाहजहाँ के शासनकाल में भारत की ठीक वही दशा थी, जो लुई चौदहवें के समय में फ्रांस की थी। अब मुगल साम्राज्य का आर्थिक दिवाला प्रारंभ हो गया था, जो आगे चलकर उसके लिए घातक सिद्ध हुआ! जीवन के अंतिम दिनों में शाहजहाँ अपने पुत्र औरंगजेब द्वारा आगरे के किले में बन्दी बना लिया गया, जिसने अपनी कूट चालों से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गद्दी के दावेदार अन्य भाइयों को [illegible] पिता के जीवन में ही राजगद्दी पर अपना पंजा जमा लिया था। आखिरी दिनों में शाहजहाँ किले में लेटे-लेटे अपलक अश्रुपूर्ण नयनों से अपनी प्रियतमा की समाधि ताजमहल देखा करता और उसकी पुत्री जहाँनारा उसके आँसू पोंछा करती थी !

औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०)

पिता को बंदी बनाकर तथा अपने भाइयों के रक्त से हाथ रँगकर छल-कपट एवं विश्वासघात द्वारा मुगल राजगद्दी पर बैठनेवाला औरंगजेब इस्लाम का कट्टर अनुयायी था। अतः सिंहासनारूढ़ होते ही उसने भारत में विशुद्ध इस्लाम-राज्य की स्थापना करने का दृढ़ निश्चय किया ! वह 'दारुल-हर्ब' (गैर-मुस्लिमों के देश) को 'दारुल-इस्लाम' (मुसलमानी देश) में परिणत करना चाहता था ! मानव अपनी युगयात्रा में कितनी प्रगति कर चुका था और दुनिया में कैसी लहरें चल रही थीं, इसे समझने-बूझने की प्रतिभा एवं दूरदर्शिता इस धर्मान्ध शासक में बिलकुल नहीं थी ! इसी दकियानूसीपन के दौर में औरंगजेब ने ऐसी प्रतिक्रियावादी नीति का अनुशीलन किया, जिसने घड़ी की बढ़ती हुई सुई को घुमाकर मानो फिर से पीछे कर दिया ! अकबर द्वारा वसीयत में दी गई त्रिसूती नीति के प्रथम दो सिद्धान्तों की उसने "जान-बूझकर खाल उधेड़ डाली" और एकता, राष्ट्रीयता तथा सांस्कृतिक समन्वय के क्षेत्र में अब तक जितने भी सराहनीय प्रयास हुए थे, उन सबों को उठाकर ताक पर धर दिया !

(क) हिन्दुओं पर अत्याचार— अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के दौर में, औरंगजेब ने गद्दी पर बैठते ही सर्वत्र हिन्दू मंदिरों के विध्वंस का फरमान जारी कर दिया ! मंदिर ढहाने की इस अंधाधुंध नीति के अधीन अन्य हजारों देवालयों के साथ-साथ काशी के प्रसिद्ध विश्वनाथ-मंदिर, मथुरा के केशवराय-मंदिर और सोमनाथ के ध्वंसावशिष्ट शिवालय जैसे भारत के सर्वमान्य देवालयों को भी धराशायी कर दिया गया ! यही नहीं, इन मंदिरों के स्थान पर उन्हीं की सामग्री से मसजिदें बनवा दी गईं, ताकि उनका नामोनिशान भी शेष न रहे ! जिस घृणित जजिया कर को अकबर ने उठा लिया था, वह भी हिन्दुओं पर पुनः लगा दिया गया। यही नहीं, मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू सौदागरों से अधिक शुल्क वसूल लिया जाने लगा; हिन्दू लोग शाही नौकरियों से हटा दिए गए और उन्हें होली-दिवाली आदि पर्वों तथा धार्मिक उत्सवों को मनाने की भी मनाही कर दी गई ! हिन्दू मेले बन्द कर दिए गए एवं उनके शिक्षालयों पर भी प्रतिबंध लगा दिए गए। हिन्दुओं को अस्त्र-शस्त्र धारण करने, सुन्दर वस्त्र पहनने तथा घुड़सवारी करने की भी मनाही कर दी गई ! इस प्रकार भाँति-भाँति से हिन्दुओं का उत्पीड़न करना औरंगजेब के शासन-काल की खास विशेषता हो गई और इस प्रतिक्रियावादी नीति का उसने जान-बूझकर एवं निर्भय होकर अनुसरण किया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं में घोर असंतोष एवं क्षोभ फैल गया। इस विक्षोभ से त्रस्त होकर आखिर जाटों, बुन्देलों तथा सतनामियों ने विद्रोह कर दिया। इन विद्रोहों को दबाने में मुगल साम्राज्य को महती क्षति उठानी पड़ी और उसकी नींव हिल गई !

(ख) राजपूतों का प्रतिरोध— शक्तिशाली राठौर वंश के मुकुटमणि, जोधपुर-नरेश महाराज जसवंतसिंह का जीवन बड़ा असाधारण था। उन्होंने ४२ वर्षों तक मुगल सम्राट् की सेवा की थी और मुगलों की ही सेवा करते हुए अफगान-युद्ध में उन्होंने अपने प्राण गँवाए थे ! ऐसे स्वामिभक्त राजा की मृत्यु के पश्चात् जब उनके पुत्रों के उत्तराधिकार का प्रश्न सम्मुख आया, तो औरंगजेब ने उन्हें मान्यता न देने का क्रूर निर्णय किया ! फलतः वीर दुर्गादास के नेतृत्व में राजस्थान में मुगलों के विरुद्ध युद्ध की चिनगारी फूट पड़ी ! इससे मुगल-राजपूत मैत्री-संधि का अंत हो गया, जिसकी सुदृढ़ आधार-शिला पर यह विशाल साम्राज्य खड़ा हुआ था।

(ग) गुरु तेगबहादुर का वध और सिक्खों का संगठन— औरंगजेब के धार्मिक अत्याचारों से उठे हुए बवण्डर में बरबस कई संतात्माएँ भी फँस गईं, जिनमें सिक्ख गुरु तेगबहादुर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुछ काश्मीरी ब्राह्मणों का पक्ष लेने के कारण सम्राट् औरंगजेब ने बिना हिचक के तेगबहादुर का कत्ल कर दिया ! इसका नतीजा यह हुआ कि उनके पुत्र, सिक्खों के दसवें एवं अंतिम गुरु गोविन्दसिंह (१६७६-१७०८ ई०), जो अपने पिता की "अस्वाभाविक मृत्यु" के समय केवल पन्द्रह वर्ष के थे, औरंगजेब के कट्टर और दुर्दमनीय शत्रु बन गए। गुरु गोविंदसिंह स्वयं भी मुगल सम्राट् द्वारा काफी संतप्त हुए। इस्लाम धर्म अंगीकार करने से इंकार करने पर उनके दो पुत्र जीवित दीवार में चुनवा दिये गए थे ! अतः उन्होंने पराजित हिन्दुओं को एक नई और महत्वाकांक्षी जाति के रूप में संगठित करने के महान् विचार को जन्म दिया। मुगलों का समूल नाश करने के लिए उन्होंने सिक्ख समुदाय को 'खालसा' के रूप में संगठित किया और उसमें वीरता का भाव भरने के लिए उन्होंने प्रत्येक 'सिक्ख' या शिष्य को सिंह की पदवी दे दी और उसके लिए कंघी, कर्द, कच्छ, केश तथा कृपाण का रखना अनिवार्य कर दिया। गुरु गोविन्दसिंह ने औरंगजेब को एक पत्र भेजा था, जिसमें उन्होंने लिखा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था कि "……क्या हुआ यदि मेरे चार पुत्र मारे गए ? मैं तो समिटे हुए साँप की भाँति अभी जीवित हूँ ! जीवन की कुछ चिनगारियों को बुझा देने में क्या पौरुष है ? तू केवल धधकती हुई आग को प्रज्ज्वलित कर रहा है।……यदि ईश्वर ने चाहा, तो मैं सदैव तेरे विरुद्ध चलूँगा। …… तुझे अपने साम्राज्य का घमण्ड है, मुझे अनन्त ईश्वर के राज्य पर अभिमान है। असावधान मत हो; यह कारवाँ-सराय थोड़े ही दिन की है ! …… दुर्बलों को मत सता, अपने ही राज्य पर कुठाराघात मत कर !"

(घ) दक्षिण भारत के साथ संघर्ष—जिस घोर धर्मान्धता एवं साम्राज्य-लिप्सा से प्रेरित होकर औरंगजेब ने अपने शासन के लगभग प्रथम पच्चीस वर्ष उत्तर में व्यतीत किए थे, उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु उसने अपना शेष जीवनकाल, अब दक्षिण भारत में बिताया। उसका विद्रोही पुत्र शाहजादा अकबर, जो उसे हटाकर गद्दी प्राप्त करना चाहता था, भागकर मराठों की शरण में चला गया था। उस भगोड़े पुत्र को पकड़कर दण्ड देने, छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में नवोदित मराठों को दबाने तथा दक्षिण भारत की बीजापुर और गोलकुण्डा नामक शिया सल्तनतों को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिलाने के अभिप्राय से ही औरंगजेब ने दक्षिण में डेरा जमाया था। उसकी सेनाएँ बीजापुर तथा गोलकुण्डा की रियासतों को जीतकर मुगल साम्राज्य का अंग बना लेने में तो सफल हुईं; परंतु मराठों के विरुद्ध उसका संघर्ष आजीवन जारी रहने पर भी विफल रहा। इस प्रकार मुगलों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करने के कारण मराठों का राष्ट्रीय गौरव बहुत ऊँचा उठ गया।

सिक्खों के अंतिम गुरु गोविन्दसिंह।

१६९० ई० तक अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचकर औरंगजेब लगभग समूचे भारत का महाप्रभु बन गया था। वह काबुल से चटगाँव तक तथा काश्मीर से कावेरी तक अपने कल्पनालोक के इस्लामी राज्य का झंडा फहराने में सफल हुआ था और ऐसा प्रतीत होने लगा था मानो अब उसके लिए कुछ भी करना बाकी नहीं रहा था ! पर सच पूछिए तो इस विजय के क्षण में ही वह सब कुछ खो बैठा था ! वस्तुतः उसकी यह जीत ही उसके अंत की शुरुआत थी। अब उसके जीवन के अत्यन्त निराशाजनक अध्याय का आरंभ हुआ।

अपनी इस पराजय एवं विफलता की ज्वलंत स्वीकृति स्वयं उसके ही शब्दों में उसके उन अंतिम पत्रों में हमें मिलती हैं, जिन्हें उसने मृत्यु-शय्या पर से अपने पुत्र आजम तथा कामबक्श को लिखे थे। शाहजादा आजम को संबोधित करते हुए उसने लिखा था—"मैं अकेला आया और अकेला ही जा रहा हूँ ! मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ और क्या करता आया हूँ ! उन दिनों को छोड़कर, जो तपस्या में बीते हैं, शेष सभी के लिए पश्चात्ताप होता है। मैंने सच्चे अर्थ में शासन नहीं किया है। मैं साम्राज्य का अभिभावक तथा संरक्षक नहीं रहा हूँ। मैंने बहुमूल्य जीवन व्यर्थ ही गँवा दिया ! …… मैं अपने साथ कुछ भी नहीं लाया और अब अपने पापों के फलों के अतिरिक्त और कुछ भी साथ नहीं ले जा रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि मुझे क्या दण्ड मिलेगा ?" २० फरवरी, १७०७ ई०, को आखिर दक्षिण भारत में ही वह इस संसार से चल बसा।

धर्मान्ध औरंगजेब में राजनीतिक प्रतिभा नहीं थी। अपनी राजनीतिक अदूरदर्शिता के कारण ही उसने दक्षिण में मराठों को तथा उत्तर में सिक्खों को अपने विरुद्ध खड़ा कर लिया था तथा मुगल साम्राज्य के सुदृढ़तम स्तंभ—राजपूत वर्ग—की भी मैत्री खो दी थी। इसीलिए उसके हटते ही मुगल साम्राज्य का ढाँचा ताश के घर की तरह गिर चला !

मराठों का उत्कर्ष :: छत्रपति शिवाजी

सल्तनतकालीन भारत में विजयनगर-साम्राज्य के उदय की भाँति, सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मराठों का उत्कर्ष भी भारतीय राजनीतिक प्रांगण की एक अति महत्वपूर्ण घटना थी। महाराष्ट्र प्रदेश की भौगोलिक एवं प्राकृतिक

स्थिति ने मराठों को अथक परिश्रमी, चतुर, अत्यन्त निर्भय तथा साहसी बना दिया। उधर प्राचीन धार्मिक एवं पौराणिक कथानकों को लेकर पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में वहाँ के संतों और सुधारकों द्वारा जिस जनोपयोगी लोकप्रिय मराठी साहित्य का निर्माण हुआ, उसने मराठों में धार्मिक चेतना, सामाजिक एकता, एवं बलिदान के भाव भर दिए। साथ ही दक्षिण की विभिन्न मुस्लिम रियासतों के दायित्वपूर्ण पदों पर रहकर शासन-संबंधी एवं सैनिक सेवा के भी मूल्यवान् अनुभव उन्होंने प्राप्त कर लिए। अब यदि उन्हें आवश्यकता थी तो केवल एक ऐसे नेता की, जो उन्हें राजनीतिक एकता प्रदान कर एक स्वतंत्र राष्ट्र में परिणत कर देता। इस अभाव की पूर्ति हिन्दू-कुल-भूषण वीर छत्रपति शिवाजी महाराज के आविर्भाव से हो गई।

छत्रपति शिवाजी—छत्रपति शिवाजी महाराज का जन्म १६२७ ई० में हुआ था। उनमें एक महान् नेता के गुण जन्म ही से विद्यमान थे। १६८० ई० में तिरपन वर्ष की अवस्था में इस लोक से विदा होने से पूर्व ही उन्होंने मराठों का स्वतंत्र राज्य स्थापित कर दिया था, जो कालान्तर में इतना प्रबल हो गया कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक वह भारत का भाग्य-विधायक बना रहा। शिवाजी की गणना भारत के महान् वीरों एवं राष्ट्रनिर्माताओं में की जाती है। उनके अद्भुत चरित्र के निर्माण में उनकी माता जीजाबाई, शिक्षक दादा जी कोणदेव तथा "दासबोध" के रचयिता समर्थ गुरु स्वामी रामदास का सर्वोपरि हाथ था। इस चरित्रबल की संपदा के साथ-साथ दक्षिण की मुसलमानी रियासतों (मुख्यतः बीजापुर राज्य) की आन्तरिक दुर्व्यवस्था और मुगल सम्राट् औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी धार्मिक असहिष्णुता ने भी शिवाजी के उत्कर्ष में काफी सहायता प्रदान की। अपने राजनीतिक जीवन के आरंभकाल ही में उन्होंने अपने बुद्धिकौशल से बीजापुर-नरेश के सेनापति अफजलखाँ का वध करके तथा मुगल

छत्रपति शिवाजी महाराज।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सिपहसालार शाइस्ता खाँ को पराजित करके अपने साहस, रण-कौशल एवं नीति-चातुर्य का ज्वलंत परिचय दिया था। उधर जब मिर्जा राजा जयसिंह के अनुरोध पर उन्हें आगरा-यात्रा (१६६६ ई०) करना पड़ी, जहाँ मुगल दरबार में उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार किया गया, तो अपने आत्म-सम्मान के रक्षार्थ औरंगजेब के समक्ष उनका आवेशपूर्ण असंतोष-प्रदर्शन तथा नाटकीय ढंग से मुगल अधिकारियों की आँख में धूल झोंककर बादशाह की नजरबन्दी से अपने आपको मुक्त करके पुनः अपने राज्य को वापस लौट आना भी उनके अद्भुत नीति-कौशल का ही परिचायक है! १६७४ ई० में बड़े ठाट-बाट से काशी के अधिकारी पण्डितों की विद्यमानता में उन्होंने अपना राजतिलक करवाया। मुगलों से सफल मोर्चा लेकर दस वर्ष के ही अन्दर (१६६६-१६७६ ई०) अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच जाना शिवाजी के महान् राजनीतिक कौशल का परिचय है।

शिवाजी जन-कल्याण-प्रेमी, उदारहृदय शासक थे। वह अपने आठ मंत्रियों की समिति—'अष्टप्रधान'—के मंत्रणानुसार शासन करते थे। उनके राज्य में उपज का ३/१० भाग भूमिकर के रूप में वसूल किया जाता था। इसके अतिरिक्त, राज्य एवं सेना का खर्च चलाने के लिए पास-पड़ोस के अन्य प्रान्तों से 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' नामक कर भी उगाहा जाता था। यह मराठा राज्य की अपनी एक विशेषता थी।

शासक तथा व्यक्ति दोनों ही के रूप में भारत के इतिहास में शिवाजी का अनुपम स्थान है। युद्ध-क्षेत्र में सैन्य संचालन की उनकी प्रतिभा अद्वितीय थी। प्रशासक की हैसियत से उन्होंने असाधारण बुद्धिमत्ता एवं चातुर्य्य का प्रदर्शन किया। उनके संपर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उनके जादूभरे व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। अपने शौर्य, साहस तथा कूटनीति के बल पर वह एक साधारण जागीरदार के पद से ऊँचे उठकर छत्रपति बन गए थे तथा एक सबल स्वतंत्र राज्य के निर्माण में सफल सिद्ध हुए थे। उन्हें

चतुर्दिक् विषम परिस्थितियों में रहकर कण्टकाकीर्ण मार्ग पर
CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
चलना पड़ा था। चूड़ान्त वैभव को प्राप्त मुगल साम्राज्य, बीजापुर राज्य, पुर्तगाली उपनिवेशवादी तथा जंजीरा के अबीसीनियन आदि सभी के साथ उन्होंने टक्कर ली और सबको उनके आगे नीचा देखना पड़ा ! शिवाजी का वैयक्तिक जीवन नैतिक दृष्टि से बहुत ही उच्च था। यद्यपि वह हिन्दू धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा शास्त्रों के सर्वमान्य संरक्षक, पोषक एवं उन्नायक थे, फिर भी उनमें संकुचित धर्मान्धता की गंध रंच भर भी नहीं थी। वे मुस्लिम संत-फकीरों का भी पूर्ण आदर करते और उनकी मजारों तथा मस्जिदों में दीपक जलवाते थे; मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथों तथा स्त्रियों का वे सम्मान करते थे और उन्होंने मुसलमानों को भी अपनी सेना में नौकर रक्खा था। युद्ध में या शांतिकाल में, उनका आचरण सदैव न्याय एवं नैतिकता के ही सिद्धांतों पर आश्रित रहता था। यही उनकी महानता थी !

मुगल साम्राज्य का क्षय एवं अवसान

औरंगज़ेब के बाद जितने मुगल सम्राट् गद्दी पर बैठे, सभी निर्बल, चरित्रहीन एवं निकम्मे थे। वे दरबार में गुटबंदी करनेवाले परस्पर-विरोधी ईरानी तथा तूरानी अमीरों के हाथ की कठपुतली बन गए। चारों ओर भ्रष्टाचार, अव्यवस्था एवं अराजकता फैल गई। उधर इन्हीं दिनों होनेवाले नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के सात आक्रमणों ने भी मुगल साम्राज्य की कमर तोड़ दी। इन चोटों से वह एकदम निस्तेज, निर्बल एवं मुर्दा बन गया और उसमें विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति तीव्रतम हो उठी। सुदूरवर्त्ती सूबेदार अब नाममात्र को दिल्ली-सम्राट् के प्रति केवल दिखावटी भक्ति प्रदर्शित करते हुए पूर्णतया स्वतंत्र हो बैठे। इसी दौर में दक्षिण के सूबेदार निजामुलमुल्क, अवध के सूबेदार सआदत अली खाँ तथा उसके भतीजे सफदरजंग और बंगाल के सूबेदार अलीवर्दी खाँ ने साम्राज्य से संबंध-विच्छेद करके अपने नूतन स्वतंत्र मुसलमानी राज्यों की स्थापना कर ली। उधर रूहेलखण्ड में अफगान रूहेले भी स्वतंत्र हो बैठे। मुगल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर राजपूतों, सिक्खों, जाटों तथा मराठों ने भी अपने-अपने सीमित क्षेत्र में पास-पड़ोस के प्रांतों को आत्मसात् करके अपनी स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

अंत में १८५७ ई० के प्रथम स्वातंत्र्य-समर में अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह के पराभव के साथ मुगल साम्राज्य की रही-सही निशानी भी खत्म हो गई !

मुगल शासन-व्यवस्था

मुगल शासन-व्यवस्था में सम्राट् पूर्णतया निरंकुश था। यद्यपि उसे परामर्श देने के लिए मंत्रीगण भी होते थे, किंतु उनके परामर्श को मानना या न मानना बादशाह की इच्छा पर निर्भर था। इस राज्यतंत्र के प्रत्येक स्थायी पदाधिकारी को अपने सामान्य प्रशासकीय एवं न्याय-संबंधी कर्त्तव्यों के अतिरिक्त साम्राज्य की सैनिक सेवा भी करनी पड़ती थी। इस प्रकार की सैनिक सहायता के लिए उसे अपने अधीन सैनिकों की टुकड़ियाँ रखना पड़ती थी, जिनका समूचा व्यय स्वयं उसी को वहन करना पड़ता था। यह सैनिक पद, सम्मान या सेवा 'मनसब' कहलाती थी। अकबर ने मनसबदारों की ३३ श्रेणियाँ बना रक्खी थीं। निम्नतम मनसब 'दस' तथा उच्चतम 'दस हजार' व्यक्तियों का होता था, जो शाही खानदानवालों के लिए सुरक्षित था। प्रत्येक श्रेणी के मनसबदार को राज्य की ओर से निश्चित वेतन मिलता था, जो नकद या अस्थायी जागीर के रूप में होता था। साम्राज्य की आंतरिक शांति एवं सुरक्षा के हेतु पुलिस का भी प्रबंध था। गाँवों के लिए चिरंतनकाल से बनी हुई ग्राम-पंचायतें और गाँव का मुखिया या चौकीदार शांति एवं सुरक्षा का प्रबंध करते थे। नगरों में कोतवाल तथा जिलों या 'सरकारों' में फौजदार को पुलिस संबंधी कार्य करने पड़ते थे। न्याय-व्यवस्था बड़ी अपूर्ण थी। न्यायाधीश 'काजी' कहलाते थे और वे हदीस तथा कुरानशरीफ में वर्णित नियमों के अनुसार न्याय किया करते थे। जहाँ दोनों ही पक्षों में हिन्दू होते थे, वहाँ उनके परम्परागत कानून व्यवहृत किये जाते थे। न्याय-विभाग के प्रधान अधिकारी को 'काजी-उल-कजात' या मुख्य काजी कहते थे। मुफ्ती लोग न्यायालयों में मुसलमानी कानूनों की व्याख्या करते थे और 'मीर अदल' काजियों की जाँच और मुफ्तियों की व्याख्या के अनुसार निर्णय लिखता और सुनाता था। गाँवों में न्याय प्रायः स्थानीय परंपरागत कानूनों के अनुसार ग्राम-पंचायतें किया करती थीं। न्याय का सर्वोपरि प्रधान सम्राट् था। वह काजियों द्वारा निर्णीत मुकदमों की अपील सुनता था।

साम्राज्य की आय का मुख्य स्रोत मालगुजारी थी। सम्राट् अकबर ने शेरशाह सूर की भूमिकर-व्यवस्था को विकसित किया। उसने राजा टोडरमल से 'इलाही गज' तथा 'जरीब' द्वारा सारी भूमि की नाप करवाकर उसे उपज तथा उर्वरा-शक्ति के अनुसार चार श्रेणियों में विभक्त कर दिया। सरकारी मालगुजारी औसत उपज का $\frac{1}{3}$ भाग निश्चित की गई। जमीन के बन्दोबस्त की इस पद्धति को 'जब्ती' या 'रैयतवारी'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहते थे। राजस्व उगाहने की सुविधा के लिए सारा साम्राज्य सूबों में, सूबे संरकारों या जिलों में और सरकारें परगनों में विभक्त थीं। प्रत्येक परगने में कई गाँव सम्मिलित थे।

आर्थिक परिस्थिति

कृषि—मुगलकालीन आर्थिक जीवन का मूलाधार कृषि थी। कृषकों के खेती करने के उपकरण तथा खेती की उपज प्रायः वही थी जो आजकल है। बंगाल तथा बिहार में गन्ने की पैदावार अधिक होती थी और वहाँ से बनकर देश के अन्य भागों को शक्कर भेजी जाती थी। कपास, नील, पोस्ता तथा तंबाकू की भी खेती बहुतायत से होती थी। रेशमी वस्त्र तैयार करने के लिए रेशम के कीड़े भी पाले जाते थे। सिंचाई के कृत्रिम साधन कम थे, फिर भी देश अन्न के लिए आत्म-निर्भर था।

उद्योग-धंधे—प्रमुख उद्योग वस्त्रोद्योग था। देश में इतना वस्त्र तैयार होता था कि निजी आवश्यकता की पूर्ति के बाद वह अफ्रीका, अरब, ब्रह्मा, मलाया, इटली, फ्रांस और इंगलैंड भेजा जाता था। इस उद्योग के प्रमुख केन्द्रस्थल थे गुजरात में पाटन; खानदेश में बुरहानपुर; उत्तर में जौनपुर, वाराणसी और पटना तथा पूर्व में ढाका एवं मुर्शिदाबाद। उड़ीसा से लेकर पूर्वी बंगाल तक का समूचा प्रदेश सूती वस्त्रोद्योग का विशाल कारखाना मालूम होता था और ढाका की मलमल तो जगत्प्रसिद्ध थी। कपड़ों की पक्की रँगाई और छपाई भी होती थी। रेशमी वस्त्र बंगाल, आगरा, फतेहपुरसीकरी, लाहौर तथा गुजरात में सर्वाधिक तैयार किये जाते थे। काश्मीर तथा लाहौर में बढ़िया किस्म की कालीनें और शालें तैयार की जाती थीं। मोटे कंबल भी बनाये जाते थे। नौका-निर्माण भी देश का एक प्रसिद्ध उद्योग था। दक्षिण भारत और बिहार में शोरा बहुतायत से तैयार किया जाता था, जो बारूद बनाने में प्रयोग किया जाता था। इन प्रमुख उद्योगों के अतिरिक्त हाथी-दाँत, आबनूस की लकड़ी और सोने-चाँदी की विभिन्न प्रकार की सुन्दर एवं कलापूर्ण वस्तुएँ भी भारत के शिल्पी तैयार करते थे, जिनकी खपत देश-विदेश दोनों में थी।

जल एवं स्थल-मार्गों द्वारा होनेवाला इन दिनों का भारत का विदेशी व्यापार एशिया तथा योरप के विभिन्न देशों के साथ समुन्नतावस्था को प्राप्त था। आयात में सोना-चाँदी, कच्चा रेशम, घोड़े, धातुएँ, हाथी-दाँत, मूँगे, अम्बर, जवाहिरात, सुगन्धिद्रव्य, चीनी मिट्टी के कीमती बर्तन तथा अफ्रीका के गुलाम सम्मिलित थे। निर्यात में सूती-रेशमी वस्त्र, मिर्च-मसाले, नील, अफीम तथा औषधियाँ सम्मिलित थीं। विदेशों से व्यापार करने के दो प्रसिद्ध स्थल-मार्ग थे—एक लाहौर से काबुल तक तथा उसके आगे; दूसरा मुल्तान से कन्धार तक तथा उसके आगे। इस काल के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे—सिंध का लाहौरी बन्दर; पश्चिमी तट के सूरत, भँड़ोच, खम्भात, बेसीन और गोआ; मलाबार तट पर कालीकट और कोचीन; पूर्वी समुद्र तट पर नेगापट्टम तथा मछलीपट्टम और बंगाल में सतगाँव, श्रीपुर, चटगाँव तथा सोनारगाँव। अँगरेज तथा डच व्यापारियों ने इन दिनों भारत में अपनी बड़ी-बड़ी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कर ली थीं। मुगल सम्राटों की यह निश्चित नीति थी कि सोना-चाँदी देश के बाहर न जाने पाए और विदेशी व्यापारी जो माल यहाँ से खरीदें, उसका मूल्य वे सोना-चाँदी में ही चुकावें।

मुगल काल के धनी एवं सम्पन्न नगरों में दिल्ली, आगरा, फतेहपुरसीकरी, लाहौर, बुरहानपुर, अहमदाबाद, वाराणसी, पटना, बर्दवान, ढाका तथा चटगाँव मुख्य थे। आवागमन के साधनों की कमी न थी। कच्ची-पक्की सड़कों के अतिरिक्त, नदियों के वक्षःस्थल पर नौकाएँ भी खूब चला करती थीं। सड़कों के दोनों किनारोंपर छायादार वृक्ष लगे थे और यात्रियों तथा व्यापारियों की सुविधा के लिए सराएँ एवं धर्मशालाएँ बनी हुई थीं।

शिक्षा, साहित्य आदि

शिक्षा—उत्तरमध्यकालीन भारत में आजकल की भाँति शिक्षा-प्रचार एवं प्रसार के लिए कोई पृथक् राजकीय शिक्षा-विभाग न था, पर देश में किसी-न-किसी प्रकार की प्रारंभिक एवं उच्च शिक्षा अवश्य विद्यमान थी। हिन्दुओं के प्रारंभिक शिक्षालय 'पाठशाला' तथा उच्च शिक्षालय 'विद्यालय' कहे जाते थे। मुसलमानों के प्रारंभिक शिक्षालय 'मकतब' तथा उच्च शिक्षालय 'मदरसा' कहलाते थे। मुस्लिम मकतब और मदरसे मस्जिदों में लगा करते थे। हिन्दुओं की पाठशालायें गाँवों के मंदिर, चौपाल या पंचायत-भवन में हुआ करती थीं। यहाँ पढ़ना-लिखना तथा साधारण हिसाब-किताब पढ़ाया जाता था। विद्यालयों में संस्कृत, व्याकरण, ज्योतिष, तर्क-शास्त्र, दर्शन तथा धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन-अध्यापन होता था। इनका संचालन चोटी के विद्वान् अपने-अपने घरों पर किया करते थे। मकतब में मौलवी लोग हिसाब-किताब तथा लिखना-पढ़ना सिखाने के अतिरिक्त बच्चों को कुरान शरीफ रटाया भी करते थे। मदरसों में मुल्ला लोग मुस्लिम धर्मशास्त्र की उच्च शिक्षा देते थे।

स्त्री-शिक्षा नाम की कोई वस्तु मुगल काल में विद्यमान न थी। शाही परिवार तथा अमीर-उमरों की कन्याओं को घर पर ही शिक्षित किया जाता था।

प्रायः सभी मुगल सम्राट् विद्या-व्यसनी एवं साहित्य-प्रेमी थे। अकबर ने फतेहपुर-सीकरी, आगरा तथा अन्य प्रमुख स्थानों में मदरसों की स्थापना की थी। उसने मदरसों में व्यवहृत होने के लिए उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम की एक विस्तृत रूपरेखा भी तैयार करवाई थी। मुगल राजवंश में शाहजादा दारा शिकोह चोटी का विद्वान् था। अरबी, फारसी एवं संस्कृत सभी में उसकी समान गति थी। उसने उपनिषद्, भगवद्गीता, योगवाशिष्ठ तथा रामायण का फारसी में अनुवाद किया था।

साहित्य—यह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग था। हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास, जिनकी अमर रचना 'रामचरितमानस' आज भी घर-घर में पूज्य है, इसी काल में हुए थे। उधर सूरदास, जायसी, केशवदास, मीराबाई, मतिराम, भूषण, देव आदि भी इसी युग की उपज थे। मुसलमान कवियों तक ने इस काल में हिन्दी-वाङ्मय की श्रीवृद्धि की। अब्दुर्रहीम खानखाना फारसी और हिन्दी के माने हुए विद्वान् एवं कवि थे। मलिक मुहम्मद जायसी की अनूठी रचना 'पद्मावत' और रसखान के सवैये भी हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। संस्कृत के अंतिम महाकवि पंडितराज जगन्नाथ सम्राट् शाहजहाँ के समकालीन थे। उधर मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, उड़िया, बँगला, उर्दू आदि के साहित्य-भांडार की भी इस काल में काफी श्रीवृद्धि हुई। इस संबंध में विशेष विवरण पिछले एक खंड में 'साहित्य' विभाग के अंतर्गत दिया जा चुका है।

मुगल काल में फारसी राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित थी। अतः उसमें भी काफी साहित्य-सर्जन हुआ। मुल्ला दाउद की 'तारीखये अलफी'; अबुल फजल की 'आईने अकबरी' तथा 'अकबरनामा'; बदाऊनी की 'मुन्तखब्बुत-तवारीख' तथा फैजी सरहिन्दी का 'अकबरनामा' इस काल की कुछ प्रसिद्ध फारसी रचनाएँ हैं। इन दिनों फारसी में संस्कृत, अरबी तथा ग्रीक साहित्य के कई अनमोल ग्रंथों का अनुवाद भी किया गया।

संत और सुधारक—जाति-पाँति, ऊँच-नीच, सांप्रदायिकता आदि का भेदभाव मिटाकर एकेश्वरवाद, प्रेम एवं एकता की स्थापना करनेवाले पन्द्रहवीं शताब्दी के भक्ति-आन्दोलन की निरंतरता इस काल में भी बराबर बनी रही। कबीर, नानक तथा नामदेव के सिद्धान्तों को आगे बढ़ाते हुए इस युग में अनेक सुधारक संत हुए, जिनमें दादूदयाल, मलूकदास, सुन्दरदास, वीरभान, लालदास, बाबालाल, धरणीदास, प्राणनाथ, जगजीवनदास, बुल्लासाहब, केशव, चरणदास, सहजोबाई, दयाबाई, गरीबदास, शिवनारायण और रामसनेही के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दादूदयाल ने ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, हिन्दू-मुसलमानों के अभेद, संसार की अनित्यता तथा आत्मबोध पर विशेष बल दिया।

महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर और नामदेव द्वारा स्थापित परंपरा का निर्वाह इन्हीं दिनों एकनाथ, तुकाराम तथा समर्थ रामदास ने किया। रामदास तो शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु ही थे। इन लोगों ने नवधा भक्ति पर विशेष बल दिया था। उधर देश के पूर्वी भाग में महाप्रभु चैतन्य ने भक्ति की जो मधुर सरिता प्रवाहित की थी, उसे उनके तीन शिष्यों—रूप, सनातन तथा जीव गोस्वामी—ने इस काल में और आगे बढ़ाया।

भक्ति की इसी धारा में उत्तर भारत में सूरदास तथा तुलसीदास दो महान् वैष्णव संत उत्पन्न हुए। सूरदास कृष्ण-भक्ति-शाखा के सब से प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने सगुणोपासना का उपदेश दिया और ब्रजभाषा में भगवान् कृष्ण की बाल-लीलाओं का सरस वर्णन किया। तुलसीदास ने राम-भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया। उन्होंने रूढ़िवादी सनातन हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों को अंगीकार करते हुए शैवों तथा वैष्णवों का भेदभाव मिटाने का सद्प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दू धर्म, दर्शन तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था की शुद्धता पर बल दिया।

उधर गुरु नानक द्वारा स्थापित सिक्ख धर्म भी इसी काल में अन्य नौ गुरुओं का प्रसाद पाकर अपने अंतिम रूप में निखरा। इन संतों की वाणी उनके पवित्र धर्मग्रंथ 'ग्रंथ साहब' में संग्रहीत है।

कला—साहित्य की भाँति इस काल की कला-क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी हमारे लिए एक स्थायी वसीयत है। यह भारतीय इतिहास का वह स्मरणीय काल था, जिसने स्थापत्य में आगरे का विश्व-विश्रुत 'ताजमहल' और 'एतमादुद्दौला का मकबरा'; दिल्ली का 'लाल किला', 'दीवाने खास', 'दीवाने आम', 'मोती मस्जिद' और 'जामा मस्जिद'; सिकंदरा में निर्मित 'अकबर का मकबरा' तथा फतेहपुर-सीकरी की भव्य इमारतों की भेंट हमें दी। इसी तरह चित्रकला के प्रांगण में प्रसिद्ध 'मुगल', 'राजपूत' तथा 'काँगड़ा' शैलियों का विकास इन दिनों हुआ! उधर संगीत के क्षेत्र में तानसेन, बैजू बावरा और स्वामी हरिदास जैसे रत्न इस युग ने उपजाए।

इस संबंध में विशेष विवरण पिछले खंड ६ में 'कला' विभाग के अंतर्गत हम विस्तारपूर्वक दे ही चुके हैं, अतः स्थानाभाववश उसे यहाँ फिर से दोहराना हम अनावश्यक समझते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महान् पटपरिवर्तनकारी हलचलें :: आर्थिक, बौद्धिक, राजनीतिक

अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के योरप में हमें कतिपय अनूठी हलचलों का ताँता-सा लगा देखने को मिलता है। उक्त हलचलों के फलस्वरूप इन शताब्दियों में न केवल योरपीय इतिहास में ही महान् पटपरिवर्तन प्रस्तुत हुआ, प्रत्युत उनके कारण समस्त संसार के मानचित्र में युगान्तरकारी फेरबदल हो गया। ये हलचलें क्या थीं, आइए, प्रस्तुत प्रकरण में देखें !

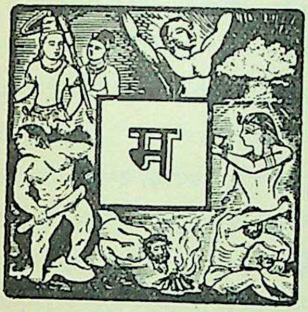

मध्यकालीन परिस्थितियों से ऊपर उठकर, क्रमशः आधुनिकता की दहलीज की ओर अग्रसर होनेवाली मनुष्य की युगयात्रा ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में आकर बड़े महत्व के कई मोड़ लिए ! इन्हें हम इस काल की महान् आर्थिक, बौद्धिक और राजनीतिक हलचलों के रूप में इतिहास के पटल पर चित्रांकित देखते हैं। प्रायः इन्हें युगपरिवर्तनकारी क्रान्तियों की भी संज्ञा प्रदान की जाती है। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी की महान् औद्योगिक क्रान्ति, वैज्ञानिक अनुसंधान - आविष्कारों के फलस्वरूप उपजनेवाली विचारों के क्षेत्र की अपूर्व बौद्धिक क्रान्ति एवं निरंकुश स्वेच्छाचारी राजतंत्र के शिकजे से मानव को मुक्त करके प्रजासत्तात्मक लोकतंत्र एवं समान अधिकारों की दिशा में अग्रसर करनेवाली महान् फ्रेंच और अमेरिकन क्रान्तियाँ इन महान् हलचलों के शिखर जैसी हैं। आइए, क्रमशः इन हलचलों से परिचय प्राप्त किया जाय।

१. औद्योगिक क्रांति

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक मनुष्य के आर्थिक जीवन का ढाँचा प्रायः वैसा ही बना हुआ था, जैसा कि सहस्रों वर्ष पूर्व महात्मा गौतम बुद्ध या सिकन्दर महान् के समय में वह था। किसान अभी भी पुराने ढंग के लकड़ी के हल से खेती करते थे तथा अधिकांश लोगों की जीविका का साधन केवल कृषि ही थी। हाँ, अवकाश पाने पर लोग अपने घरों में घरेलू कुटीर उद्योग-धंधे भी करते। कपड़े की बुनाई उन दिनों तकली या चर्खे पर सूत कातकर लकड़ी के करघे पर होती थी। व्यापारी अपना अधिकांश माल स्थानीय बाजारों में ही बेचते और एक नगर का व्यापारी दूसरे नगर में स्वतंत्रतापूर्वक व्यापार नहीं कर सकता था। तब अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों की वैज्ञानिक उन्नति से उत्पादन के साधनों में होनेवाली क्रांति ने मनुष्य के आर्थिक जीवन में उथल-पुथल मचा दी। कारण, अब वैज्ञानिक रीति से अच्छा और अधिक गल्ला पैदा होने लगा तथा कल-कारखानों के निर्माण से माल भी बड़े पैमाने पर तैयार होकर सुदूर देशों के बाजारों में सस्ता बिकने लगा। इस पटपरिवर्तन के फलस्वरूप लोगों का ध्यान ग्रामीण कृषक-जीवन से हटकर नागरिक कल-कारखानों के जीवन की ओर आकृष्ट हुआ। इतिहास में यह महान् आर्थिक परिवर्तन 'औद्योगिक क्रांति' के नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रांति की पूर्ति में वस्तुतः कई वर्ष लगे। इसका प्रारंभ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था और उन्नीसवीं शताब्दी में आकर यह पूर्ण विकसित हो पाई थी। इस आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप पश्चिम में एक बिल्कुल नई निराली सभ्यता का जन्म हुआ।

औद्योगिक क्रांति का प्रमुख उद्गमस्थल एवं केन्द्र इंगलैंड था। वहीं से उत्पन्न होकर यह न केवल योरप वरन् सारे संसार में फैली। इसके दो अंग थे--कृषि-संबंधी तथा औद्योगिक। लकड़ी के हलों के स्थान पर अब लोहे के हल का प्रयोग किया जाने लगा। अनाज तथा भूसे को पृथक् करने की मशीनों का भी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निर्माण हुआ। नए ढंग से खेती करने के लिए बड़े-बड़े फार्मों या खेतों की आवश्यकता थी। इसलिए खेतों को चकों में इकट्ठा करने की भी व्यवस्था की गई। इस कृषि-क्रांति ने इंगलैंड में महान् सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। चकबन्दी के कारण छोटे-छोटे किसानों और भू-स्वामियों का ह्रास हो गया। जमीन का मूल्य बढ़ जाने से छोटे-छोटे लोगों ने अपनी भूमि बेचना शुरू किया और बेरोजगार होने पर वे जीविका की तलाश में शहरों की ओर चल पड़े।

उधर अठारहवीं शताब्दी में कताई-बुनाई की मशीनों के आविष्कार ने योरप के वस्त्र-व्यवसाय में क्रान्ति मचा दी। हारग्रीव्ज की 'स्पिनिंग जेनी', राइट का 'वाटर-फ्रेम', क्राम्पटन का 'म्यूल' और 'पावर-लूम' तथा ह्विटने की रुई से बिनौले अलग करने की मशीन ऐसे ही अद्‌भुत यंत्र थे। इन्हीं दिनों भाप की शक्ति के आविष्कार ने भी औद्योगिक क्षेत्र में एक नवीन युग का उद्‌घाटन किया, जिसका श्रेय जेम्स वाट, स्टीफेन्सन आदि को था। वाष्प-शक्ति से चलनेवाले यंत्रों की सहायता से जहाँ औद्योगिक उत्पादन दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ गया, वहाँ इस आविष्कार से आवागमन के साधनों में भी बहुत उन्नति हुई। अब भाप से चलनेवाले जहाज हजारों टन का बोझ लादकर समुद्र को चीरते हुए इधर-से-उधर तीव्र गति से चलने लगे। उधर सैकड़ों किलोमीटर लंबी रेल की पटरियाँ बिछ गईं, जिन पर हजारों टनों का माल लेकर तीव्र गति से रेलगाड़ियाँ दौड़ने लगीं। इंगलैंड में रेलों की सफलता देखकर बेल्जियम, फ्रांस तथा जर्मनी में भी उनका निर्माण हुआ और इसका अनुकरण अमेरिका में भी किया गया। रेलों के साथ-साथ पक्की सड़कों का भी निर्माण हुआ; साथ ही सहस्रों किलोमीटर लंबी नहरों की भी खुदाई की गई। इन रेलों, सड़कों और नहरों की सहायता से व्यापारिक सामान देश के भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान तक सरलतापूर्वक पहुँचाया जाने लगा।

इन्हीं दिनों तार और टेलीफोन का भी विकास हुआ, जिनसे संचार के क्षेत्र में क्रांतिपूर्ण परिवर्तन हो गया। तार की सब से पहली लाइन १८४४-४५ ई० में बिछी थी। तब योरप से अमेरिका समाचार भेजने के लिए अटलांटिक महासागर में केबिल (तार) भी बिछाए गए। इसके पहले पेनी-टिकट के प्रयोग से डाक-व्यवस्था में भी क्रान्तिकारी सुधार हो चुका था। संचार-साधनों के इस अपूर्व विकास से समाचार-पत्रों के प्रकाशन को बहुत बल मिला। उधर गैस, बिजली तथा रासायनिक पदार्थों के आविष्कार ने भी व्यावसायिक उन्नति को सफल बनाने में मूल्यवान् योग दिया।

औद्योगिक विकास की इस बाढ़ में नए-नए यंत्रों एवं मशीनों को बनाने के लिए लोहे और इस्पात की बड़ी आवश्यकता हुई। पहले लोग लकड़ी के कोयले द्वारा लोहे को गलाते और साफ करते थे। १७६० ई० में एक नई तरह की भट्ठी का आविष्कार हुआ, जिसमें लकड़ी के कोयले की जगह पत्थर का कोयला जलाया जाने लगा। इससे लोहा बनाना सरल हो गया और जहाँ लोहे और कोयले की खदानें पास-पास थीं, वहाँ बड़े-बड़े कारखाने खड़े हो गए।

इस औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मानव-जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया। कुटीर उद्योगों के ह्रास के कारण गाँवों में जीविकोपार्जन के साधन उत्तरोत्तर कम होने लगे। फलतः नगरों में जाकर बसने की प्रवृत्ति बढ़ चली। अब व्यापारिक काम-धंधों की क्षमता के बल पर समाज में ऐश्वर्य एवं मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करना सरल हो गया, जो अब तक केवल रईसों का ही स्वत्व समझा जाता था। इस प्रकार मध्यम श्रेणी के एक नूतन सम्पन्न वर्ग के उद्‌भव के फलस्वरूप प्रजातंत्र के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

पर यह नई व्यवस्था दोष-शून्य भी न थी। उसने समाज में घोर विषमता का बीजारोपण किया। उसके कारण समाज में पूँजीपति और मजदूरों के दो परस्पर विरोधी दल उत्पन्न हो गए, जो एक दूसरे को अपने हितों का घातक समझने लगे। कुटीर उद्योग-धंधों के विनाश के कारण भीषण बेकारी भी फैल गई। कारखानों के गंदे एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण ने श्रमिकों में अनीति एवं अनाचार की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी और उनका कौटुंबिक जीवन अशान्त एवं कष्टप्रद हो गया। सब से हृदयविदारक बात तो यह थी कि छोटे बच्चों तथा स्त्रियों तक को अब खदानों और कारखानों में सोलह-सोलह घंटे तक काम करना पड़ता था!

औद्योगिक क्रांति द्वारा उत्पन्न सामाजिक कुरीतियों को हटाने के लिए ब्रिटिश पार्लमेंट को १९वीं शताब्दी में अनेक अधिनियम बनाने पड़े। कालांतर में मजदूरों की दशा सुधरने लगी और राजनीति में उनका प्रभाव बढ़ने लगा। इस प्रकार औद्योगिक क्रांति ने समाजवाद को भी प्रोत्साहन प्रदान किया।

२. उपनिवेशवाद :: उद्‌भव और प्रसार

पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में कोलम्बस द्वारा नई दुनिया का पता लगाने और 'उत्तमाशा अंतरीप' का चक्कर लगाकर भारतवर्ष से व्यापार करने के लिए पूर्व का मार्ग खुलने से योरपवालों में नए खोजे गए प्रदेशों से लाभ उठाने की होड़-सी मच गई। अब व्यापार स्थल द्वारा बद्ध सागर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के स्थान पर महासागरों से होकर होने लगा। इस नई हलचल में इंगलैंड, फ्रांस, स्पेन और नेदरलैंड्स (हॉलैंड-बेलजियम) का भाग्य चमक उठा। उन्होंने नए खोजे गए प्रदेशों में अपने-अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए और वहाँ अपना व्यापार बढ़ाकर तथा तरह-तरह के हथकंडों से वहाँ के निवासियों का शोषण करके अपना घर भरना शुरू किया। इस प्रकार संसार के इतिहास में एक नई धारा––उपनिवेशवाद––का प्रादुर्भाव हुआ। समय-समय पर जिस देश का सामुद्रिक प्राधान्य स्थापित हो जाता था, वह इस औपनिवेशिक दौड़ में आगे बढ़ जाता था।

अठारहवीं शताब्दी तक उपनिवेशों के विस्तार-कार्य में संलग्न योरप के प्रमुख देश थे––पुर्तगाल, स्पेन, हॉलैंड, फ्रांस और इंगलैण्ड। इन देशों में समय-समय पर व्यापारिक, सामुद्रिक एवं औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धा के दौर में गहरा संघर्ष चलता रहा। नए देशों और व्यापारिक मार्गों की खोज करने-वाले देशों में पुर्तगाल अग्रणी सिद्ध हुआ। 'उत्तमाशा अंतरीप' का चक्कर काटकर पुर्तगाली जहाज लगातार भारत पहुँचने लगे, जहाँ गोवा को हड़पकर उन्होंने वहाँ अपना एक दृढ़ औपनिवेशिक केन्द्र स्थापित कर लिया। पुर्तगाल का औपनिवेशिक पंजा भारत के अतिरिक्त दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, लंका तथा पूर्वी द्वीपसमूह तक फैला हुआ था। वस्तुतः पूर्वी जगत् का जो व्यापार अब तक अरबों के हाथों में था, वह अब पुर्तगालियों के हाथों में आ गया। किंतु पुर्तगाल के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह अपने व्यापार की वृद्धि और रक्षा कर सकता। अतः सत्रहवीं शताब्दी में उसके अधिकांश प्रदेश डच लोगों के अधीन हो गए। उधर कोलंबस के सफलतापूर्वक नई दुनिया की खोज से लौटने पर स्पेन ने भी पुर्तगाल के व्यापार को चुनौती दी। इन दोनों देशों के झगड़ों को दूर करने के लिए, पोप अलेक्जेंडर षष्ठ ने 'केप-वर्ड द्वीप' से कुछ दूर पश्चिम में उत्तरी ध्रुव से ठेठ दक्षिणी ध्रुव तक एक कल्पित रेखा खींचकर यह घोषणा कर दी कि उस रेखा के पूर्व के देशों से पुर्तगाल को और पश्चिम के देशों से स्पेन को स्वतंत्रतापूर्वक व्यापार करने का अधिकार होगा। इस प्रकार नई दुनिया से व्यापार करने का अधिकार पाकर स्पेन की शक्ति बढ़ चली और कालान्तर में उसके औपनिवेशिक साम्राज्य में पश्चिमी द्वीप-समूह, फ्लोरिडा, मध्य अमेरिका, वेनेजुएला, न्यू ग्रैनाडा, पीरू, चिली, मेक्सिको आदि विविध क्षेत्र आ गए। मेक्सिको तथा पीरू में सोने-चाँदी की खदानों तथा पश्चिमी द्वीप-समूह की गन्ने की फसल की बदौलत स्पेन मालामाल हो गया! पर कुशासन के कारण स्पेन के इस बृहत् साम्राज्य का शीघ्र ही अन्त हो गया। स्पेन-नरेश फिलिप द्वितीय की अदूरदर्शिता और कट्टर धार्मिकता के कारण उपनिवेशों में बड़ी गड़बड़ी फैल गई तथा वहाँ के निवासी भागकर अन्यत्र जा बसे। इन्हीं दिनों नई दुनिया के क्षेत्रों से व्यापार करने के लिए डच, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजों ने पहले तो लुक-छिपकर और बाद में खुल्लमखुल्ला पदार्पण किया। इंगलैंड के ड्रेक, हॉकिन्स तथा कवेन्डिश आदि सामुद्रिक डाकुओं ने रानी एलिजाबेथ का आशीर्वाद पाकर अटलांटिक महासागर में स्पेनिश जहाजों को लूटना आरंभ कर दिया। स्पेन-साम्राज्य का सर्वाधिक धनी भाग नेदरलैंड्स था और वहाँ की जनता प्रोटेस्टेंट मतावलंबी थी। कैथलिक फिलिप की कट्टरता ने उन्हें विद्रोही बना दिया और वे स्पेन से पृथक् हो गए।

औपनिवेशिक एवं व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता में फ्रांस और इंगलैंड का पदार्पण बहुत देर से हुआ। इन दोनों ने भारत में व्यापारिक कोठियाँ स्थापित करके वहाँ की राजनीति में दखल देना शुरू किया। एक ओर डूपले ने फ्रेंच लोगों की और दूसरी ओर रॉबर्ट क्लाइव ने अंग्रेजों की जड़ इस देश में जमाने का प्रयत्न किया। अमेरिका में भी दोनों देशों का प्रवेश साथ ही साथ हुआ था। फ्रेंच अन्वेषकों ने सेंट लारेंस नदी के किनारे क्वीबेक की स्थापना की थी और उस नदी की समूची तलहटी को 'न्यू फ्रांस' की संज्ञा प्रदान की थी। इंगलैंड और फ्रांस की धार्मिक नीति से क्षुब्ध होकर बहुत-से लोग भागकर अमेरिका में बस गए थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में अमेरिका में फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य के अन्तर्गत रॉकी पर्वतमाला के पश्चिम का कनाडा का समूचा क्षेत्र, ओहियो के उत्तर का भूभाग तथा लूसिआना सम्मिलित थे।

इधर अंग्रेजों का औपनिवेशिक विस्तार भी भारत, पश्चिमी द्वीप-समूह तथा अमेरिका में सब कहीं बढ़ता ही चला जा रहा था। इसका एक कारण यह था कि इंगलैंड ने पहले राजनीतिक शक्ति के बजाय व्यापारिक उन्नति को ही प्रधानता दी थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना मूलतः व्यापार करने के लिए ही हुई थी। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक भारतवर्ष में इंगलैंड की व्यापारिक कोठियाँ सूरत, आगरा, अहमदाबाद, भड़ौंच, मसलीपट्टम, पटना, मद्रास तथा हुगली नामक स्थानों में स्थापित हो चुकी थीं।

अंग्रेजों के अमेरिकन उपनिवेश तीन वर्गों में विभक्त किए जा सकते थे। पहली श्रेणी में वर्जीनिया, मेरीलैंड, उत्तरी तथा दक्षिणी करोलिना एवं जार्जिया सम्मिलित थे। ये 'दक्षिण के उपनिवेश' कहलाते थे। दूसरी श्रेणी में मैसाचुसेट्स, न्यूहैवेन, ह्रोड द्वीप, न्यू हैम्पशायर तथा मेन सम्मिलित थे। इन

सबको मिलाकर 'उत्तरी या न्यू इंगलैंड' कहते थे। मध्य के उपनिवेशों के अंतर्गत न्यूयार्क, न्यूजर्सी तथा पेनसिल्वेनिया थे। अमेरिकन उपनिवेशों में डच, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेज, स्कॉच तथा आयरिश आदि विभिन्न जाति, धर्म एवं भाषा के लोग रहते थे--परन्तु अधिक बोलबाला अंग्रेजों का ही था।

औपनिवेशिक दौड़ में सब से प्रबल प्रतिद्वन्द्विता इंगलैंड और फ्रांस के बीच हुई। इस संबंध में दोनों को अनेक दीर्घकालीन युद्ध करने पड़े, जिनमें से एक युद्ध तो सात साल (१७५६-६३ ई०) तक चला। इस युद्ध का अंत पेरिस की संधि (१७६३ ई०) के साथ हुआ और विजयश्री अंग्रेजों के हाथ लगी। इस संधि ने ब्रिटिश साम्राज्य के विकास में बड़ी सहायता की। इस प्रकार अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को दबाकर ब्रिटेन संसार की सब से महान् उपनिवेशवादी शक्ति बन गया। अपने प्रतिस्पर्द्धियों के विरुद्ध इंगलैंड की सफलता का रहस्य उसके अजेय जहाजी बेड़े में निहित था। फ्रांसवालों के अलावा अंग्रेजों को औपनिवेशिक स्पर्द्धा में डच लोगों से भी लोहा लेना पड़ा। अंत में युट्रेक्ट की संधि (१७१३ ई०) के अनुसार ब्रिटेन को फ्रांस से न्यूफाउण्डलैंड और नोवास्कोशिया तथा स्पेन से जिब्राल्टर और माइनार्का प्राप्त हुए। इन स्थानों की प्राप्ति से इंगलैंड के हाथ में भूमध्यसागर की कुंजी आ गई। स्पेन ने ग्रेट ब्रिटेन को अपने अधिकृत अमेरिका की रियासतों में दास-व्यापार का एकाधिकार तथा स्पैनिश पोर्टोबेलो में हर साल एक जहाज भेजने की भी आज्ञा दे दी।

३. निरंकुश राजतंत्रों का ह्रास और प्रजातांत्रिक शक्तियों का उत्थान

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों के संधिकाल में निरंकुशता के दावे को चुनौती दी जाने लगी और उसकी कटु आलोचना होने लगी! ऐसे राजतंत्र की सफलता राजा के व्यक्तित्व एवं चरित्रबल पर ही निर्भर करती थी। किंतु यह अनिवार्य नहीं था कि जितने राजा गद्दी पर बैठते, वे सभी योग्य और शक्तिशाली होते। अनेक राजा अपने कर्त्तव्यों को भूलकर भोग-विलास में लिप्त रहते थे और शासन की बागडोर उनके मंत्रियों के हाथ में रहती थी, जो अपने मित्रों एवं संबंधियों की सहायता से जनता को चूसते थे। निरंकुश शासकों के इस अधःपतन के कारण, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में हॉब्ज, लॉक, माण्टेस्क्यू, वाल्तेयर तथा रूसो सरीखे कुछ विचारकों एवं लेखकों ने अपनी कृतियों द्वारा जोरों से संवैधानिक एवं जनसत्तात्मक राज्य का मण्डन तथा निरंकुश राजतंत्र का खण्डन करना शुरू किया। इसी दौर में डच नेदरलेंड्स, बोहीमिया, पोलेंड एवं इंगलैण्ड में निरंकुश राजतंत्र का जुआ उतार फेंकने का प्रयास भी किया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डच-स्वातंत्र्य-युद्ध—नेदरलेंड्स स्पेन-साम्राज्य के अन्तर्गत था। अतः डच लोगों ने १६वीं शताब्दी में स्पेन की निरंकुशता के विरुद्ध बगावत का सफल झण्डा खड़ा कर दिया। उन्हें अपने स्वातंत्र्य-युद्ध में इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ से भी धन-जन की काफी सहायता मिली। यद्यपि स्पेन-नरेश फिलिप द्वितीय ने 'ड्यूक ऑव आलवा' को भेजकर डच लोगों के आन्दोलन को निर्दयतापूर्वक कुचल देना चाहा, किंतु दैवयोग से उन्हें 'विलियम दि साइलेंट' सरीखा ऐसा वीर और ठोस कार्य करनेवाला नेता मिला था, जो डच जाति के लिए शक्ति, साहस और निर्भयता का मानो अवतार था। यद्यपि वह मार डाला गया (१५८४ ई०), किंतु उसका बलिदान व्यर्थ नहीं गया। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में वेस्टफेलिया की संधि (१६४८ ई०) द्वारा डच लोगों की वास्तविक स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गई। यद्यपि वे तुरंत लोकतंत्रीय शासन प्राप्त नहीं कर सके, किंतु अपने आन्दोलन द्वारा दैवी निरंकुश राजतंत्र के सिद्धांत को उन्होंने गहरी चोट पहुँचाई।

इंगलैण्ड में प्यूरिटन-क्रान्ति एवं संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना—इंगलैंड की जनता ने ट्यूडर राजाओं की निरंकुशता का हृदय से स्वागत किया था, किंतु उसी जनता ने सत्रहवीं शताब्दी में स्टुअर्ट राजाओं की निरंकुशता का प्रबल विरोध किया और अपनी जन-प्रतिनिधि संस्था--पार्लमेंट--की सत्ता स्थापित करने के लिए राजा चार्ल्स प्रथम (१६२५-१६४९ ई०) को तलवार के घाट उतार दिया! निरंकुश राजतंत्र के विरुद्ध जनता की शक्ति की चुनौती का यह एक ज्वलन्त परिचय था। इस क्रांति का महत्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है, जब कि हम देखते हैं कि इन दिनों अन्यत्र निरंकुश राजतंत्र का पूर्णतया दौरदौरा छाया हुआ था--फ्रांस में लुई चतुर्दश की तूती बोल रही थी तथा अन्य योरपीय नरेश भी उसी के पदचिह्नों का अनुसरण कर रहे थे। ऐसे वातावरण में यदि इंगलैंड की जनता ने निरंकुश राजतंत्र के जुए को फेंकने का बीड़ा उठाया, तो उसका यह सद्‌प्रयास एक असाधारण साहसपूर्ण अनुष्ठान था!

राजा की निरंकुशता को सीमित करने के लिए राजा जॉन के समय (१२१५ ई०) में अंग्रेज प्रजा 'मैग्नाकार्टा' नामक 'महास्वतंत्रतापत्र' प्राप्त कर चुकी थी। सत्रहवीं शताब्दी में आकर देश में एक नई मध्यम श्रेणी का विकास हो चुका था, जो प्रशासन में भाग बँटाना चाहती थी। इस समय इंगलैंड की पार्लमेंट में प्यूरिटन लोगों की संख्या अधिक थी। उधर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम दो स्टुअर्ट राजाओं की सहानुभूति कैथलिक तथा ऐंग्लिकन धर्म के प्रति थी। यद्यपि ट्यूडर राजाओं ने निरंकुश शासन किया था, किन्तु उन्होंने पार्लमेंट की कभी भी अवहेलना एवं उपेक्षा नहीं की थी। लेकिन जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम ने बिना पार्लमेंट की अनुमति के जनता पर अतिरिक्त एवं असह्य कर लगाना चाहा। चार्ल्स प्रथम ने तो ग्यारह वर्षों तक पार्लमेंट के बिना ही अनियंत्रित एवं स्वेच्छाचारी शासन किया! सब से खटकनेवाली बात तो यह थी कि स्टुअर्ट राजा दैवी सिद्धान्त का समर्थन करते थे, जब कि पार्लमेंट अपने को राष्ट्र की सर्वोच्च सत्ताधिकारिणी संस्था समझती थी!

ऐसी परिस्थिति में जब चार्ल्स ने विद्रोही स्कॉटलैंड को दबाने के निमित्त आर्थिक सहायता के लिए पार्लमेंट को बुलाया, तो उक्त संस्था ने राजा की स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबंध लगाना चाहा। परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड में गृह-युद्ध छिड़ गया। इस संग्राम में एक ओर पार्लमेंट के पक्षपाती थे और दूसरी ओर थे राजा के समर्थक, जिन्हें क्रमशः 'राउण्ड-हेड्स' तथा 'कैवेलियर्स' के नाम से पुकारा जाता था। अन्त में विजय पार्लमेंट की ही हुई और चार्ल्स को अत्याचारी, क्रूर, विश्वासघाती, हत्यारा तथा 'देशद्रोही' घोषित करके तलवार के घाट उतार दिया गया! इस प्रकार इंगलैंड में 'जनतंत्र' की स्थापना हुई (१६४९ ई०)।

ओलिवर क्रॉमवेल।

परन्तु जनता ने जिस स्वतंत्रता के लिए अपने राजा का खून किया था, वह उसके लिए निरी मृगतृष्णा सिद्ध हुई! कारण, पार्लमेंट-पक्ष के सैनिक नेता क्रॉमवेल (१५९९-१६५८ ई०) ने अनेक संवैधानिक परिवर्तन करके सारी शक्ति अपने ही हाथों में केन्द्रित कर ली! उसने एक सैनिक अधिनायक-तंत्र स्थापित किया और जनता को सख्त प्यूरिटन अनुशासन में रहने को विवश किया, जिसके अधीन नाच-गान, थियेटर आदि सभी वर्जित कर दिए गए।

राजतंत्र की पुनर्स्थापना--जनता सैनिक प्रशासन से ऊब चुकी थी। अतः क्रॉमवेल की मृत्यु के बाद लोगों ने पुनः स्टुअर्ट राजा चार्ल्स द्वितीय (१६६०-१६८५ ई०) को विदेश से वापस स्वदेश बुलाकर राजगद्दी पर बिठा दिया। इस प्रकार न केवल राजतंत्र की ही वरन् ऐंग्लिकन चर्च की भी पुनर्स्थापना हुई, क्योंकि प्यूरिटन क्रांति ने प्यूरिटन धर्म को प्रधान बना दिया था। लेकिन चार्ल्स द्वितीय तथा उसके उत्तराधिकारी जेम्स द्वितीय ने अपने पूर्वजों के अनुभव से कोई लाभ न उठाकर पुनः निरंकुशता को प्रोत्साहन प्रदान किया। उन्होंने देश के अधिनियमों का उल्लंघन करके इंगलैंड में कैथलिक धर्म का पुनः प्रचार करना चाहा और पार्लमेंट की उपेक्षा करना शुरू किया। जेम्स निःसंतान था। उसके बाद उसकी पुत्रियाँ मेरी और ऐन (जो प्रोटेस्टेंट थीं) गद्दी की उत्तराधिकारिणी होतीं। अतः पार्लमेंट उसकी स्वेच्छाचारिता को सहन करती रही। किन्तु जब उसे एक पुत्र उत्पन्न हो गया, तो पार्लमेंट के धैर्य का बाँध टूट गया। अब यह सोचा गया कि इस नवजात शिशु का भी लालन-पालन कैथलिक ढंग से ही होगा और राजा की निरंकुशता का कभी अन्त ही न होगा। अतः पार्लमेंट ने जेम्स द्वितीय के दामाद 'विलियम ऑफ ऑरेंज' को (जो हॉलैंड का राजा था) इंगलैंड की गद्दी पर बैठने का निमंत्रण भेजा। विलियम एक सेना लेकर आ भी गया! ऐसी परिस्थिति में जनता का सहयोग एवं विश्वास गँवा देने पर जेम्स चुपचाप राजगद्दी छोड़कर फ्रांस भाग गया। यह घटना इंगलैंड के इतिहास में 'गौरवपूर्ण रक्तहीन राज्यक्रांति' के नाम से प्रसिद्ध है। जेम्स के सम्मुख चार्ल्स प्रथम का उदाहरण मौजूद था ही। अतः उसने प्राण गँवाने से राज्य गँवाना श्रेयस्कर समझा!

'बिल ऑफ राइट्स'—इस क्रांति ने यह सिद्ध कर दिया कि इंगलैंड में कोई भी राजा जनता की प्रतिनिधि संस्था--पार्लमेंट--की इच्छा के विरुद्ध शासन नहीं कर सकता था। अब पार्लमेंट का स्थान एवं अधिकार सदा के लिए राजा के निरंकुश दैवी अधिकार से ऊँचा मान लिया गया। इस पर भी भविष्य में राजा की निरंकुशता को सीमित रखने तथा अपने अधिकारों की रक्षा के लिए पार्लमेंट ने 'बिल ऑफ राइट्स' नामक एक अधिनियम बनाया, जिसके अनुसार सदैव के लिए यह निश्चित हो गया कि इंगलैंड का राजा ऐंग्लिकन मतावलम्बी ही होना चाहिए। यह भी तय हुआ कि वह न तो संविधान का उल्लंघन कर सकता है, न बिना पार्लमेंट की पूर्वस्वीकृति के कोई कर लगा सकता है और न निजी सेना ही रख सकता है! इस नियम ने पार्लमेंट के सदस्यों को भाषण की स्वतंत्रता प्रदान की और निर्धारित किया कि वे अपने राजनीतिक कार्यों

CC-0. Agam Nigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के लिए बन्दी नहीं बनाए जा सकते। इस प्रकार पार्लमेंट के अधिकारों में प्रचुर वृद्धि हुई और उसका वार्षिक सत्र बुलाना अब अनिवार्य हो गया।

'बिल ऑफ राइट्स' ने मैग्नाकार्टा द्वारा प्रारंभ किए गए राजनीतिक कार्य की पूर्ति कर दी। यह विधान मध्यम श्रेणी के लोगों की विजय का प्रतीक था, जिसने इंगलैंड में प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली की जड़ जमाई। बाद में मंत्रिमंडल या 'कैबिनेट' प्रणाली की स्थापना होने पर इंगलैंड में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन की नींव और भी दृढ़ हो गई। अब मंत्रि-मंडल के सदस्य पार्लमेंट के समक्ष उत्तरदायी थे और पार्लमेंट का विश्वास डिग जाने पर उन्हें तुरंत पदत्याग कर देना पड़ता था।

यह स्मरण रखना जरूरी है कि सत्रहवीं शताब्दी के अंत तथा समूची अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड में वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना नहीं हो सकी थी, न पार्लमेंट जनसाधारण की यथार्थ प्रतिनिधि-संस्था बन पाई थी। कारण, अभी उसमें केवल बड़े-बड़े रईसों, भूमिपतियों एवं धनी लोगों के ही प्रतिनिधियों का प्रवेश होता था। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि इंगलैंड की गौरवपूर्ण राज्य-क्रान्ति ने वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना करने के बजाय कुछ ऐसी संस्थाओं, सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं को जन्म दिया, जिन्हें अगली शताब्दियों में लोकतंत्र का जामा पहनाया गया। इंगलैंड में वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना १९वीं शताब्दी में आकर पार्लमेंट के सुधारों द्वारा हुई।

४. अमेरिकन स्वातंत्र्य-संग्राम

इंगलैंड की सरकार ने अपने तेरह अमेरिकन उपनिवेशों पर अनेक प्रकार के व्यापारिक, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रतिबंध लगा रक्खे थे। इन उपनिवेशों की व्यापारिक नीति का संचालन इंगलैंड के ही हाथों में था और वही इसका एकमात्र लाभ उठाता था। इन उपनिवेशों को अन्य देशों से सीधे व्यापार करने का निषेध था। उनके ऊपर एक 'नैविगेशन ऐक्ट' (जलयान-संबंधी कानून) लागू किया गया था, जिसके अनुसार योरप से आनेवाला सारा सामान पहले इंगलैंड आता और फिर वहाँ से अंग्रेजी जहाजों में भरकर उपनिवेशों को पहुँचाया जाता था। इन उपनिवेशों की कपास और तम्बाकू जैसी कुछ प्रमुख फसलें केवल ग्रेट ब्रिटेन ही खरीद सकता था और उनमें खपनेवाले ब्रिटिश माल की सुरक्षा के लिए उन्हें इस्पात या ऊन का सामान बनाने की भी आज्ञा नहीं थी। उपनिवेश अपना माल ब्रिटेन के द्वारा ही बाहर भेज सकते थे।

स्टुअर्ट राजाओं की धार्मिक नीति एवं कड़ाई से क्षुब्ध होकर जो अंग्रेज अमेरिका चले गए थे, उन्होंने वहाँ उसी प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की थी, जैसी कि १७वीं शताब्दी में इंगलैंड में प्रचलित थीं। प्रायः प्रत्येक उपनिवेश में इंगलैंड की कॉमन-सभा के आधार पर व्यवस्थापिका-सभाओं का संगठन किया गया था, जिन्हें अपने-अपने क्षेत्रों की संवैधानिक व्यवस्था तथा अर्थ-नीति संचालन करने का बहुत-कुछ अधिकार प्राप्त था। परन्तु प्रत्येक उपनिवेश में ब्रिटिश ताज का प्रतिनिधित्व करने के लिए ब्रिटेन द्वारा नियुक्त एक गवर्नर रहता था, जिसका दायित्व औपनिवेशिक व्यवस्थापिका के सम्मुख नहीं, वरन् ब्रिटिश ताज के प्रति होता था। इन औपनिवेशिक गवर्नरों एवं धारा-सभाओं के बीच प्रायः वही संबंध था, जो सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड के राजा एवं पार्लमेंट के बीच कायम था। पार्लमेंट की भाँति इन धारा-सभाओं की भी माँग थी कि बिना उनकी सम्मति एवं स्वीकृति के उपनिवेशों पर न तो कोई कर ही लगाया जाय और न कोई कानून ही पास किया जाय; यहाँ तक कि व्यवस्थापिका सभाएँ गवर्नर द्वारा अपनी नीति का बलात् अनुशीलन कराने के लिए उसे आर्थिक सहायता देना भी बंद कर देती थीं! मातृभूमि से सुदूर होने तथा यातायात के साधनों की कमी होने के कारण प्रारंभ में इंगलैंड की सरकार ने उपनिवेशों को प्रचुर आंतरिक स्वतंत्रता दे रक्खी थी। किंतु जब ब्रिटिश सरकार को इन उपनिवेशों की उपयोगिता एवं महत्ता प्रतीत होने लगी, तो उसने इनके ऊपर अधिक नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया।

जब तक अमेरिकन उपनिवेश अपनी प्रारंभिक शैशवावस्था में रहे और जब तक उन्हें पड़ोसी फ्रेंच उपनिवेशों के आक्रमण का भय रहा, तब तक तो उन्होंने मातृभूमि द्वारा लगाए गए इन असह्य प्रतिबंधों की कोई चिन्ता नहीं की। किंतु 'सप्त-वर्षीय युद्ध' के अंत के बाद नई दुनिया में फ्रांस का प्रभाव जब समाप्त हो गया और अंग्रेजी उपनिवेशों को अब आत्म-रक्षा विषयक कोई खतरा न रहा, तब ब्रिटेन का नियंत्रण इन उपनिवेशों को अखरने लगा और उन्होंने उससे अपना पिंड छुड़ाना चाहा। संयोग से इन दिनों इंगलैंड में जार्ज तृतीय राज्य कर रहा था, जो बड़ा महत्वाकांक्षी शासक था और अपने मंत्रिमंडल के हाथ से सारी शक्ति छीनकर स्वयं ही अपना मंत्री बन जाना चाहता था! उसकी यह दृढ़ मान्यता थी कि उपनिवेशों पर नियंत्रण रखना एवं उन पर कर लगाना मातृभूमि का जन्मसिद्ध अधिकार है! उसकी इस नीति का स्वभावतः उपनिवेशों द्वारा प्रबल विरोध किया गया। उधर

इंगलैंड की पार्लमेंट में इन दिनों पिट, बर्क तथा फॉक्स सरीखे कुछ ऐसे लोग भी थे, जिन्होंने उपनिवेशों का पक्ष लेकर उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की और जार्ज तृतीय की औपनिवेशिक नीति की कटु निन्दा की।

जार्ज तृतीय के शासनकाल में उपनिवेशों पर जो कर लगाए गए, उनके कारण अमेरिका में बड़ी उत्तेजना फैली। इसी दौर में १७६४ ई० में 'शकर अधिनियम' द्वारा उत्तरी अमेरिका के उपनिवेशों में बाहर से आनेवाली शकर तथा शोरे पर चुंगी लगा दी गई। तदनंतर उपनिवेशों की सेना के व्यय के लिए 'स्टैम्प ऐक्ट' (१७६५ ई०) पास करके पत्र-पत्रिकाओं तथा कानूनी दस्तावेजों पर भी कर लगाया गया। इस पर समस्त उपनिवेशों में भीषण असंतोष एवं विद्रोह की ज्वाला सुलग उठी और 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं लगाया जा सकता', यह वाक्य विद्रोहियों का नारा बन गया। आखिर रक्तपात रोकने के लिए इंगलैंड की सरकार ने 'स्टैम्प ऐक्ट' को रद्द कर दिया (१७६६ ई०)।

किंतु इस पर भी जार्ज तृतीय तथा उसके मंत्रिमण्डल ने उपनिवेशों पर कर लगाने का हठ नहीं छोड़ा और उन्होंने 'डिक्लैरेटरी ऐक्ट' द्वारा यह घोषित किया कि ब्रिटेन की पार्लमेंट औपनिवेशिक मामलों में सर्वेसर्वा है! उधर 'स्टैम्प ऐक्ट' के रद्द होने के एक साल बाद ही जब ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकन उपनिवेशों से आनेवाले शीशा, सीसा, कागज, चाय तथा दूसरे सामानों पर चुंगी लगा दी, तो विरोध की आग और भी भभक उठी! इस पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने चाय के अतिरिक्त शेष अन्य वस्तुओं पर से चुंगी हटा दी। इस शेष बची हुई चाय-चुंगी से उपनिवेशों को हार्दिक घृणा हो गई! जब जार्ज तृतीय तथा उसके परामर्शदाताओं ने उपनिवेश-वासियों को डराने-धमकाने के लिए सेना भी भेज दी, तब तो लोगों का रोष और भी बढ़ा, जिसके प्रवाह में बोस्टन नगर के नागरिकों ने ब्रिटिश सेना पर कंकड़ फेंके! मामला यहाँ तक बढ़ गया कि सैनिकों ने लोगों पर गोली चला दी, जिससे चार व्यक्ति मर गए! इस घटना को लोगों द्वारा 'हत्याकांड' का रूप दिया गया और क्षुब्ध बोस्टन-निवासियों ने एक चाय से भरे जहाज में से चाय की ३४० पेटियाँ समुद्र में ढकेल दीं (१७७३ ई०)! अब तो ब्रिटिश पार्लमेंट ने बहुत ही कड़ा रुख अपनाया और मेसाचुसेट्स नामक उपनिवेश की स्वाधीनता का अंत कर दिया गया तथा बोस्टन बन्दरगाह व्यापार के लिए बन्द कर दिया गया। इस प्रकार हजारों बोस्टन-निवासी बेकार हो गए!

स्वतंत्रता की घोषणा (४ जुलाई, १७७६ ई०)—उपनिवेशों में मुख्यतया दो विचारधारा के लोग थे—एक 'राजभक्त', दूसरे 'देशभक्त'। राजभक्त मातृभूमि से संबंध-विच्छेद करने के पक्ष में नहीं थे और वे जार्ज तृतीय को अपना राजा समझते थे। इस वर्ग के अन्तर्गत उच्च पदाधिकारी तथा जमींदार लोग थे। देश-भक्तों में टामस पेन तथा टामस जेफर्सन सरीखे कई क्रान्तिकारी विचारधारा के लोग थे। इन्हीं लोगों के परिश्रम से अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम का श्रीगणेश हुआ। पेन ने एक पुस्तक लिखकर औपनिवेशकों में स्वतंत्रता का आवेश जगा दिया। उसका कहना था कि अब उपनिवेशों के लिए इंगलैंड से 'अंतिम पृथक्करण' कर लेने का समय आ गया है; सदैव राजभक्त बने रहने का कोई कारण समझ में नहीं आता; राजाओं को अपने बन्धु-बान्धवों पर शासन करने का कोई दैवी अधिकार नहीं है; राजा लोग तो

४ जुलाई, १७७६ ई०, को फिलाडैल्फिया में उपनिवेशों के प्रतिनिधियों के संमेलन में अमेरिकन स्वतंत्रता की उद्घोषणा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

केवल 'मुकुटधारी गुण्डे' हैं; यदि इन्हें असीमित अधिकार दे दिए जाएँ, तो वे स्वेच्छाचारी बन जाते हैं और यदि उनकी शक्ति संविधान द्वारा सीमित कर दी जाय, तो वे केवल कठपुतली बने रहते हैं ! पेन की पुस्तक ने राजा के प्रति रही-सही श्रद्धा एवं आदर को मिट्टी में मिला दिया और आखिर उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने फिलाडैलफिया नामक स्थान पर एकत्र होकर ४ जुलाई, १७७६ ई०, को स्वतंत्रता की घोषणा कर दी ! इस घोषणा-पत्र को टामस जेफर्सन ने तैयार किया था। इस घोषणा ने निरंकुश दैवी राजतंत्र के विरुद्ध तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर बल दिया--(१) केवल अंग्रेजों को ही नहीं, वरन् समस्त मनुष्य जाति को ईश्वर ने कुछ जन्मसिद्ध अधिकार प्रदान किए हैं, जिनमें जीवन, स्वतंत्रता तथा आनन्द-प्राप्ति के अधिकार भी सम्मिलित हैं; (२) शासक या सरकार के अधिकार शासित वर्ग की स्वीकृति से प्राप्त होते हैं; और (३) शासित वर्ग को क्रांति करने का अधिकार प्राप्त है और आवश्यकता पड़ने पर वह शस्त्र द्वारा एक सरकार को हटाकर दूसरी स्थापित कर सकता है।

इस प्रकार अमेरिका के तेरह उपनिवेशों ने ग्रेट ब्रिटेन से संबंध-विच्छेद कर लिया। यह अनुष्ठान बिना रक्तपात के ही पूरा नहीं हो गया--उसके लिए दीर्घकाल तक अमेरिकन उपनिवेशों को ब्रिटेन के साथ युद्ध भी करना पड़ा। इस स्वातंत्र्य-संग्राम में उपनिवेशों की विजय का बहुत-कुछ श्रेय उनके महान् नेता जार्ज वाशिंगटन को था, जिसे सेनापति का दायित्व सौंपा गया था। वाशिंगटन ने अपने चरित्र-बल एवं निःस्वार्थ सेवा से अमेरिकन नर-नारियों में कूट-कूटकर साहस तथा सहनशीलता भर दी, जिसके कारण उनके पैर इस संग्राम में तनिक भी नहीं डिगे। उस समय इंगलैंड को एक साथ अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ रहा था। उसकी ये विपत्तियाँ अमेरिका के लिए वरदान सिद्ध हुईं। ब्रिटेन के पुराने शत्रु --फ्रांस, स्पेन तथा हॉलैंड--ने भी जी खोलकर अमेरिका की सहायता की, क्योंकि ब्रिटेन से बदला लेने का उनके लिए यह एक अच्छा अवसर था। इसी समय आयरलैंड ने भी इंगलैंड के विरुद्ध विद्रोह करने की धमकी दी। उधर पार्लमेंट के कुछ सदस्यों की भी सहानुभूति उपनिवेशों के प्रति थी।

अमेरिकन स्वातंत्र्य-संग्राम १७७४ ई० से १७८३ ई० तक चला। उसकी समाप्ति आखिर वारसाई की संधि (१७८३ ई०) के साथ हुई, जिसके अनुसार 'संयुक्त राज्य' (यूनाइटेड स्टेट्स) को एक स्वतंत्र राष्ट्र स्वीकार कर लिया गया। ब्रिटेन के औपनिवेशिक साम्राज्य को इस घटना से बहुत बड़ा धक्का लगा। इससे जार्ज तृतीय के निरंकुश राजतंत्र का अंत हो गया, क्योंकि इन उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने का सारा दोष उसी के सिर मढ़ा गया। फ्रांस पर भी इस युद्ध का गहरा प्रभाव पड़ा; कारण, उससे प्रेरणा पाकर फ्रेंच लोगों ने भी अपने निरंकुश राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

५. बौद्धिक क्रांति

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में घटित राज्य-क्रांतियों ने योरप के प्रांगण में जहाँ उथल-पुथल मचा देनेवाले विविध राजनीतिक परिवर्तन उपस्थित किए थे वहाँ उन्हीं शताब्दियों में योरप का नभोमंडल एक दूसरे ही प्रकार की क्रांति की रवि-रश्मियों से भी आलोकित हो उठा था, जिसने विज्ञान, धर्म, दर्शन, कला तथा साहित्य के क्षेत्र में चकाचौंध पैदा कर मनुष्य की युगयात्रा को एक अपूर्व पटपरिवर्तनकारी मोड़ दिया। यह अनूठी क्रान्ति योरप के इतिहास में 'बौद्धिक या मानसिक क्रांति' के नाम से मशहूर है। यद्यपि इस क्रान्ति की न तो कोई निश्चित तिथि ही दी जा सकती है और न इसके संबंध में किन्हीं रोचक नाटकीय घटनाओं का ही वर्णन किया जा सकता है तथापि उसके परिणाम बहुत ही महत्व के थे ! यह क्रांति किसी विशेष विचारधारा या देश विशेष तक ही सीमित न थी--इसका प्रसार योरप-भर में था और कालान्तर में इसका प्रभाव विश्वव्यापी हो गया। इतिहास में इस क्रांति के चूड़ान्त को "प्रबुद्ध-काल" की संज्ञा प्रदान की गई है, जो पुनरुत्थान एवं धर्म-सुधार के विगत युगों की अपेक्षा कहीं अधिक युगांतरकारी था। इसने आधुनिक विज्ञान तथा समाज-शास्त्र को जन्म दिया; दार्शनिक तत्त्वसमीक्षा को नूतन मोड़ देकर उसे प्राकृतिक नियमों के अनुसार मानव-कल्याणार्थ उपयोगी बनाया; धार्मिक विचारों एवं भावनाओं को प्रभावित कर कला तथा साहित्य के क्षेत्र में प्रत्ययवाद अथवा आदर्शवाद का बीजारोपण किया; साथ ही गहराई के साथ संसार की अर्थ एवं वित्त-व्यवस्था को भी प्रभावित किया।

अब तक बुद्धिजीवियों के लिए धर्मशास्त्र तथा पुरातन साहित्य ही अध्ययन के प्रमुख विषय थे। किंतु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में, कॉपरनिकस, गैलीलियो तथा हार्वे द्वारा पिछली शताब्दी में प्रतिपादित वैज्ञानिक तत्त्वों एवं सिद्धान्तों के परीक्षण एवं प्रचार के फलस्वरूप, अब विज्ञान कहीं अधिक लोकप्रिय बन गया और उच्च तथा मध्यम वर्ग के अधिकाधिक लोगों में "विज्ञान-चेतना" की बाढ़-सी आ गई। विज्ञान को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए अब इटली, जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस तथा अमेरिका सब कहीं साइंस-अकादमियों, वेधशालाओं तथा संग्रहालयों की स्थापना की गई और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अन्य प्रकाशनों के साथ-साथ विज्ञान-संबंधी पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन आरंभ किया गया।

उपर्युक्त विज्ञानोन्नति ने मनुष्य की दार्शनिक विचारधारा पर भी गहरा प्रभाव डाला। अपनी युगयात्रा में मनुष्य ने जीवन के प्रति तीन दार्शनिक विचारों का अवलंबन किया था —'अलौकिकवाद' या लोकोत्तरवाद,'मानववाद' तथा 'प्रकृतिवाद'।'अलौकिकवाद' के अनुसार प्रकृति का संचालन ईश्वरीय शक्ति द्वारा होता है और जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति है। प्राचीनकाल में अधिकतर इसी वाद का दौरदौरा था। इसके साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कदापि नहीं पट सकती थी। पुनरुत्थानकाल में 'मानववाद' का बोलबाला कायम हुआ, जिसके फलस्वरूप इहलौकिक जीवन एवं धर्मनिरपेक्षता की भावना को बढ़ावा मिला। यद्यपि मानववादियों का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक नहीं था, फिर भी उनसे वैज्ञानिक उन्नति को प्रोत्साहन मिला। 'मानववाद' एवं 'प्रकृतिवाद' में घना संबंध है। दोनों ही धर्मनिरपेक्षता एवं व्यक्तिवाद के पोषक हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि 'प्रकृतिवाद' मूलतः बुद्धिवादी है। इसके अनुसार प्रकृति निश्चित नियमों के अनुसार कार्य करती है और जीवन का सर्वोत्तम उपयोग प्राकृतिक तत्त्वों पर नियंत्रण प्राप्त करने पर ही संभव है। दूसरे शब्दों में 'प्रकृतिवाद' विज्ञान का गौरवगान एवं सम्मान करता है। सत्रहवीं - अठारहवीं शताब्दी में आकर इस वाद का प्रभाव सब से अधिक बढ़ गया।

योरप में बौद्धिक क्रांति का एक महान् प्रेरक माण्टेस्क्यू।

विज्ञान की उन्नति ने बुद्धिजीवियों में अब तक प्रचलित मान्यताओं तथा ईश्वर के प्रति अधिकाधिक संदेह जाग्रत करके मानव के प्रति अधिक विश्वास उत्पन्न कर दिया। अब मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं तत्संबंधी समस्याओं का तर्कपूर्ण एवं युक्तिसंगत अध्ययन करने की ओर लोगों की अभिरुचि जोरों से बढ़ चली। इस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान के साथ ही साथ सामाजिक विज्ञान की भी उन्नति हुई, जिसके अन्तर्गत मुख्यतया इतिहास, राजनीति, भूगोल तथा अर्थशास्त्र सम्मिलित हैं। मानव की भूतकालीन प्रगति एवं क्रियाकलापों का अध्ययन अब वैज्ञानिक आधार पर किया जाने लगा। इस प्रकार इतिहास की रचना अब अद्भुत एवं आश्चर्यजनक कथानकों के आधार पर नहीं, वरन् सत्य एवं विश्वसनीय घटनाओं एवं अभिलेखों के वैज्ञानिक आधार पर प्रारंभ हुई। अब इस बात पर विशेष बल दिया जाने लगा कि इतिहास के अन्तर्गत राष्ट्रीय भावनाओं तथा सभ्यता एवं संस्कृति का विशेष उल्लेख होना चाहिए और इतिहास-ग्रंथों को राजनीति तथा युद्ध का उतना वर्णन नहीं करना चाहिए, जितना समाज, कला तथा विचारों का दिग्दर्शन उनमें होना चाहिए।

इतिहास की तरह राजनीति के संबंध में भी इस काल में नए दृष्टिकोणों का सर्जन हुआ। अब तक जहाँ इस बात पर जोर दिया जाता रहा था कि समाज में सर्वोपरि सत्ता राजा एवं राजतंत्र में ही निहित रहती है और प्रजा का धर्म राज्य से ही निश्चित होता है, वहाँ अब इस विचार को अधिक बढ़ावा मिला कि वास्तविक सर्वोच्च सत्ता अन्ततोगत्वा जनता में ही निहित है और ऐसी कोई पूर्ण शासन-व्यवस्था नहीं है, जो प्रत्येक काल में हर एक देश के लिए कल्याणकारी हो सके। इसी दौर में रूसो जैसे विचारकों ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि कुछ मुट्ठी-भर लोगों के अभिमान, लोलुपता तथा स्वार्थ-परायणता ने ही बहुसंख्यक जन-साधारण को दास एवं कंगाल बना रक्खा है, जब कि शासक एवं शासित का परस्पर संबंध केवल एक पवित्र अनुबंध या ठहराव मात्र है, जिसकी शर्तों का पालन करना दोनों पक्षों का पुनीत कर्त्तव्य है। यदि एक पक्ष उस अनुबंध का उल्लंघन करता है, तो दूसरे पक्ष का यह धर्म है कि वह दोषी के विरुद्ध न्याय की माँग करे। इसी क्रान्तिकारी विचारधारा ने आखिर दलित एवं शोषित प्रजा के मस्तिष्क को उद्वेलित कर उसे क्रांति के मार्ग पर ला खड़ा कर दिया।

राजनीतिशास्त्र में आधुनिक व्यक्तिवाद, उदारतावाद, मौलिक सुधारवाद तथा उपयोगितावाद के प्रबल समर्थक जेरेमी बेन्थम (१७४८-१८३२ ई०) का भी उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। वह लन्दन-निवासी था और उसने 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसके अनुसार मनुष्य को वही कर्म करना चाहिए, जिससे समाज के अधिक-से-अधिक लोगों का अधिकतम कल्याण हो सके। उसने अपने विचारों की अभिव्यंजना अपने "प्रिंसिपल्स ऑफ़ मारल्स एण्ड लेजिस्लेशन" (१७८९ ई०) नामक ग्रंथ में की।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राष्ट्रीय राज्यों के विकास ने सत्रहवीं शताब्दी में उस नूतन आर्थिक सिद्धान्त को जन्म दिया, जिसे "मरकेण्टाइलिज्म" कहते हैं। इसका तात्पर्य यह था कि राज्य सरकारी अधिनियमों द्वारा राष्ट्र के आर्थिक जीवन--मुख्यतया वाणिज्य-उद्योगों--का नियंत्रण एवं संचालन करे। उधर आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप एवं नियंत्रण के विरोध में भी एक धारा उठी, जिसके प्रतिपादक 'फिजियोक्रैट्स' या 'अधिभूतवादी' कहलाए। फिजियोक्रैट सिद्धांत यह था कि राष्ट्र की आर्थिक उन्नति वाणिज्य-उद्योग पर नहीं, वरन् कृषि तथा कृषि-श्रमिकों के उद्यम पर निर्भर करती है। राज्य को आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप न करके उन्हें अपनी इच्छा एवं प्रवृत्ति के अनुसार स्वस्थ प्रतियोगितापूर्वक स्वतंत्र व्यापार तथा आर्थिक जीवन का निर्वाह करने का सुअवसर एवं सुरक्षा प्रदान करना चाहिए (इसी सिद्धांत को 'लेसेस्सेफेयर' कहते हैं)। आधुनिक अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ ने अपनी अनुपम कृति--"द वेल्थ ऑफ नेशन्स"--में इस फिजियोक्रैट सिद्धान्त को सम्मिलित करते हुए इस बात पर बल दिया कि संपत्ति का उत्पादन एवं वृद्धि उद्योग तथा कृषि द्वारा नहीं, वरन् केवल श्रम द्वारा ही संभव है। अतः शासन को चाहिए कि वह एकाधिकार एवं राज्य-नियंत्रण का अंत करके हरेक व्यक्ति को अपने आर्थिक हित का संपादन करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करे, ताकि समूचे राष्ट्र का कल्याण हो सके। माल्थस, जेम्स मिल तथा डैविड रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों ने इन सिद्धान्तों का परिवर्द्धन एवं परिमार्जन किया।

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। धर्म-सुधार आन्दोलन के बावजूद भी सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक योरप के विभिन्न धार्मिक संप्रदायों एवं मतों में पारस्परिक कलह, असहिष्णुता एवं अत्याचार का बाजार गरम था। पर सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध से योरप में धार्मिक सहिष्णुता की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उदारता की एक लहर फैलने लगी। अब हर कहीं यह अनुभव किया जाने लगा कि धार्मिक सहिष्णुता की नीति राष्ट्रीय एकता में बाधक न होकर साधक सिद्ध होगी। इस प्रकार व्यक्तिगत धार्मिक स्वातंत्र्य पर बल दिया जाने लगा, जिसके फलस्वरूप शतियों से पीड़ित यहूदियों को योरपीय समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ और इंगलैंड में कैथलिक-विरोधी कानूनों को ताक पर रख दिया गया।

इधर वैज्ञानिकों की जिज्ञासा तथा संदेहवादी विचारधारा से प्रभावित होकर समसामयिक दर्शन में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। इस काल के दार्शनिकों में देकार्त, हाब्स, स्पिनोज़ा, लॉक, ह्यूम, लाइबनित्ज तथा इमैनुएल कांट (१७२४-१८०४ ई०) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कांट इन सब का सिरमौर था। वह यथार्थ ज्ञान को सार्वभौम और अनिवार्य मानता था और बुद्धि के अधिकरण की निष्पक्ष परीक्षा के हेतु उसने अपने तीन 'क्रीटीक्स'--'क्रीटीक ऑफ प्योर रीजन', 'क्रीटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन' तथा 'क्रीटीक ऑफ जजमेंट' प्रस्तुत किए थे। वह 'ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा की अमरता और संकल्प की स्वतंत्रता के लिए दी गई पुरानी युक्तियों को अस्वीकार करता है····और नैतिक नियम को इन सब धारणाओं का आधार बनाता है।' उसके अनुसार 'मनुष्य स्वतंत्र है, अमर है, ईश्वर का अस्तित्व है····नैतिक नियम स्वतंत्रता, अमरता और ईश्वर की पुष्टि करता है; धर्म का आधार नैतिकता है।' कांट के अतिरिक्त इस काल के दार्शनिक क्षेत्र में फिक्टे तथा हेगेल के भी नाम उल्लेखनीय हैं।

मानवदयावाद--प्रबुद्धकालीन मानसिक क्रान्ति की प्रगति की एक विशिष्टता थी अठारहवीं शती में 'मानवदयावाद' की उत्पत्ति। यह मानवदयावाद-रूपी सरिता अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई। यह आन्दोलन आशावादिता से ओत-प्रोत था। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आचार एवं नीति तथा कानून-संबंधी व्यापक एवं बहुमुखी सुधारों की माँग इसने की। मानवदयावादियों को यह पूर्ण विश्वास था कि उक्त सुधारों द्वारा मानव अति शीघ्र इस पृथ्वी पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक स्वर्ग की स्थापना कर सकेगा। इन लोगों ने अपराधियों के प्रति अधिक मानवीय व्यवहार, दासता के उन्मूलन, सार्वजनिक शिक्षा-प्रचार तथा अंतर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना पर विशेष बल दिया।

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में जहाँ एक ओर प्राकृतिक विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे थे और सामाजिक विज्ञान की उन्नति राजनीतिक तथा आर्थिक सुधार-आन्दोलनों को विशिष्ट प्रेरणा प्रदान कर रही थी, वहाँ कला एवं साहित्य के क्षेत्र में अभी पुनरोदयकालीन दृष्टिकोण की ही निरंतरता अक्षुण्ण बनी हुई थी। अठारहवीं शताब्दी में योरपीय कला तथा साहित्य रोम और ग्रीस की ही विचाराधारा से अनुप्राणित थे, यद्यपि उस शती के संध्याकाल में साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी कुछ क्रांतिमूलक चिह्न परिलक्षित होने लगे थे। पुनरोदयकालीन साहित्य एवं कलाभिरुचि के दीर्घकालीन प्राधान्य के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरंभ हुई, उसे 'रोमाण्टीसीज्म' (आदर्शवाद) की संज्ञा प्रदान की गई। यह वही आदर्शवाद था, जो दार्शनिक क्षेत्र में कांट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के नेतृत्व में उच्छ्वसित हुआ था। वस्तुतः साहित्य एवं कला के क्षेत्र में प्रबुद्धकालीन मानसिक क्रान्ति का युग 'क्लासीसीज्म' से 'रोमाण्टीसीज्म' का संक्रमण-काल था।

हम कह सकते हैं कि मानव आज जिस परिस्थिति में से गुजर रहा है, उसकी अधिकांश प्रवृत्तियों का उदय अठारहवीं शताब्दी में ही हो चुका था। ये प्रवृत्तियाँ थीं--जनतंत्रीकरण, औद्योगीकरण, औपनिवेशिक होड़ तथा साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा। उल्लेखनीय बात तो यह है कि प्राच्य-जगत् में इन प्रवृत्तियों का उदय अभी तक नहीं हुआ था और वहाँ की संस्कृति में मध्यकालीन विशिष्टताएँ ही परिलक्षित हो रही थीं।

६. फ्रांस की राज्य-क्रांति

इंगलैंड तथा अमेरिका की क्रांतियों की अपेक्षा 'फ्रांस की राज्य-क्रांति' अधिक महत्वपूर्ण थी। उसने ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट की भाँति सारे योरप को हिला दिया! इस क्रांति द्वारा न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की ही घोषणा की गई थी, प्रत्युत सामाजिक एवं आर्थिक समानता का भी प्रचार किया गया।

फ्रांस की क्रांति के मौलिक बीज उसके राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संगठन में निहित थे। इसके अतिरिक्त, १८वीं शताब्दी की मानसिक क्रांति से भी उसे बहुत-कुछ बढ़ावा मिला था। अमेरिकन क्रांति ने भी इस क्रान्ति को उत्तेजना प्रदान की थी।

राजतंत्र की मनमानी—राज्य-क्रांति के पूर्व फ्रांस में ऐसे स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश राजा राज्य करते थे, जिनका राज्याधिकार वंशक्रमानुगत होता था और जो अपने को केवल ईश्वर के समक्ष ही उत्तरदायी समझते थे! लुई चतुर्दश की मृत्यु के बाद फ्रांस के स्वेच्छाचारी शासक भोग-विलास में लीन हो गए और शासन बहुत-ही ढीला-ढाला तथा विच्छृंखल हो गया। ये राजा सहस्रों अनुचरों, भृत्यों तथा दरबारियों के साथ अपने वारसाई-स्थित राजप्रासाद में अतुल धन-संपत्ति का व्यय करके भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। उनके राजमहल के दास-दासियों की संख्या अपरिमित होती थी! राजा अपनी ही इच्छा से जनता पर कर लगाता और समस्त राजकीय आमदनी का अपनी ही इच्छा के अनुसार व्यय भी करता था। संधि एवं युद्ध करने का अधिकार भी राजा को ही था। वह जिसे चाहे बंदी बनाता, जिसे चाहता मृत्यु के घाट उतार देता और जिसे चाहे जीवनदान दे देता! न्याय तथा स्वतंत्रता का गला घोंटने के लिए उन दिनों फ्रांस में राजा एक प्रकार का "मुद्रित पत्र" जारी किया करता था, जिसके अनुसार कोई भी निरपराध व्यक्ति अकारण, बिना किसी न्याय के, अनिश्चित काल के लिए जेल में ठूँस दिया जाता था! इन कारणों से राजा के प्रति जनता की श्रद्धा तेजी से घटने लगी थी।

ऐसी परिस्थिति में लुई चतुर्दश के बाद कुछ बड़े ही अयोग्य एवं निर्बल चरित्रवाले नरेश फ्रांस की राजगद्दी पर बैठे। लुई पंचदश (१७१५-१७७४ ई०) में न तो सुशासन की प्रवृत्ति थी, न क्षमता ही। उसके समय में राजकीय मामलों का संचालन दरबारी करते थे और शासन में वेश्याओं का गहरा हाथ था! राजा के कृपापात्र खुले हाथ राज्य-कोष लुटा रहे थे! सोलहवाँ लुई (१७७४-१७९३ ई०) यद्यपि भलामानस तथा हृदय का अच्छा व्यक्ति था और वह अपनी प्रजा का कुछ हित करना चाहता था, किंतु उसकी रानी मेरी आँत्वांत को उचित-अनुचित का कोई विचार ही न था। वह आरामपसंद थी और प्रजा के प्रति उसे कोई सहानुभूति न थी।

सामाजिक विषमता--फ्रांस की सामाजिक रचना एवं संगठन का मूल सिद्धान्त यह था कि सब मनुष्य एक समान और स्वतंत्र नहीं हैं। वहाँ समाज तीन श्रेणियों में विभक्त था। प्रथम श्रेणी में धर्माधिकारी एवं पुरोहित लोग सम्मिलित थे। द्वितीय श्रेणी कुलीनों तथा रईसों की थी। तृतीय श्रेणी के अंतर्गत जनसाधारण थे। प्रथम दोनों श्रेणियों के लोगों की संख्या तो कम थी, किंतु अधिकांश भूमि के स्वामी वे ही लोग थे। उन्हें समाज एवं राजनीति में कई विशेषाधिकार प्राप्त थे और विविध करों से उन्हें मुक्ति प्राप्त थी। फ्रांस की बहुसंख्यक जनता तृतीय श्रेणी की थी, जिसके पास भूमि का बहुत ही न्यून भाग था। उन्हें अधिकार तो कोई भी प्राप्त नहीं था, परन्तु कर्त्तव्यों के भार से वे लदे हुए थे। अधिकांश राजकर तृतीय श्रेणी के लोगों को ही भुगतना पड़ता था। उन दिनों दो प्रकार के टैक्स लगाये जाते थे--प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। प्रत्यक्ष कर भूमि तथा लोगों की वैयक्तिक संपत्ति से होनेवाली आमदनी पर लगाया जाता था। राजकोष की आधी पूर्ति प्रत्यक्ष करों से ही हो जाया करती थी। किंतु प्रथम दोनों श्रेणियों के लोग इन करों से मुक्त थे। किसानों को गाढ़ी कमाई का आधा भाग भूमिकर के रूप में राज्य को दे देना पड़ता था। परोक्ष करों में नमक, शराब, तमाखू और आयात-निर्यात पर लगाए गए टैक्स प्रमुख थे। नमक-कर की मात्रा अत्यधिक थी। इन करों को ठेकेदार लोग बड़ी कड़ाई एवं बेईमानी से उगाहते थे। फ्रांस में समान राजनियमों की प्रथा न थी, वरन् वहाँ विविध प्रकार के कानून व्यवहृत होते थे। एक ही प्रकार का अपराध करने पर उच्च

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा निम्न वर्गों के लोगों को विभिन्न प्रकार के दण्ड दिए जाते थे। उच्च वर्ग के लोग तो कभी-कभी दण्ड से मुक्त भी कर दिए जाते थे ! ऐसी सामाजिक विषमता के वातावरण में पारस्परिक घृणा एवं मनोमालिन्य का होना स्वाभाविक ही था। इनके अतिरिक्त, प्रत्येक श्रेणी में भी आंतरिक भेदभाव फैला हुआ था। उच्च श्रेणी के पुरोहित एवं धर्माधिकारी अपने सामान्य भाई-बंधुओं को हेठी नजर से देखते थे। फ्रांस की इस सामाजिक विषमता ने राज्य-क्रांति को विशेष रूप से प्रगतिशील बनाया।

आर्थिक स्थिति––फ्रेंच नरेशों ने अनावश्यक एवं दीर्घकालीन युद्धों में भाग लेकर राज्य का दिवाला निकाल दिया था। 'सप्तवर्षीय युद्ध' में भाग लेने से तो राज्य-कोष बुरी तरह से प्रभावित हुआ ही था, उधर अमेरिकन स्वातंत्र्य-समर में इंगलैंड के विरुद्ध सहायता देने के कारण फ्रांस की कंगाली में आटा और भी अधिक गीला हो गया था। १७७४ और १७८९ ई० के बीच देश का राष्ट्रीय ऋण तिगुना हो गया था और जब राजा के मंत्रियों ने उच्चवर्गीय लोगों से (अपने विशेषाधिकारों की तिलांजलि देकर) इस संकटापन्न परिस्थिति में कुछ राष्ट्रीय ऋण को बाँट लेने का प्रस्ताव किया, तो उनके कान पर जूँ तक न रेंगी ! वस्तुतः जिन दिनों फ्रांस का दिवाला निकल रहा था और फ्रेंच प्रजा अन्न-वस्त्र के लिए तरस रही थी, उस समय भी फ्रांस के रईस रास-रंग में लीन थे !

क्रांतिकारी विचारधारा का प्रभाव––जिस प्रकार मिट्टी में दबा हुआ बीज बिना उपयुक्त जलवायु के अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार उपर्युक्त अनेक कारणों के होते हुए भी फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति का श्रीगणेश कदापि न होता, यदि १८वीं शती की प्रबुद्धकालीन मानसिक क्रान्ति को अग्रसर करनेवाले वहाँ के विद्वानों एवं दार्शनिकों ने जनता में क्रांति की भावना का प्रादुर्भाव न किया होता। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में अनेक विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपने मौलिक एवं क्रान्तिकारी विचारों द्वारा फ्रांस की राज्य-क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इन दार्शनिकों में वाल्तेयर, माण्टेस्क्यू तथा रूसो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वाल्तेयर को पुराने समाज में प्रचलित अन्याय एवं विषमता से घोर घृणा थी। वह कहा करता था कि हम नवीन युग तभी स्थापित कर सकेंगे, जब कि पुराने जमाने के नाम को भी भूतल से मिटा दिया जाय ! उसने चर्च और राज्य दोनों की कसकर निन्दा की थी। उधर माण्टेस्क्यू ने स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध आवाज उठाई थी। किंतु क्रांतिमूलक भावना को प्रादुर्भूत करने में सबसे प्रबल हाथ रूसो का था। उसके मतानुसार एक समय ऐसा था, जब सभी जन स्वतंत्र एवं समान थे। उस समय न कोई राजा था, न प्रजा। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कान्ट्रैक्ट' का प्रारंभिक वाक्य है––"मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होते हैं, पर वे सर्वत्र जंजीरों में जकड़े हुए पाए जाते हैं।" वस्तुतः क्रांति के तीनों आदर्शों––स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व––को प्रस्तुत करने का मुख्य श्रेय रूसो को ही था।

स्टेट्स जेनरल—फ्रांस के राजा सोलहवें लुई ने जब राज्य का दिवाला निकलते देखा, तो उसने ५ मई, १७८९ ई०, को फ्रांस की पार्लमेंट––'स्टेट्स जेनरल'––का अधिवेशन बुलाया। यह अधिवेशन पौने दो सौ वर्ष बाद बुलाया गया था ! इसके साथ ही क्रांति का श्रीगणेश हुआ। फ्रांस के सामाजिक संगठन के अनुकूल इसमें तीनों वर्गों के सदस्य उपस्थित थे। प्रत्येक श्रेणी या विभाग के सदस्यों की संख्या समान होती थी और प्रत्येक विभाग अलग-अलग मत या वोट देता था। एक समूचे विभाग का एक वोट समझा जाता था। किंतु मिरैबो के नेतृत्व में स्टेट्स-जेनरल ने १७ जून, १७८९ ई०, को जब 'राष्ट्रीय महासभा' का रूप धारण कर लिया, तो उसमें यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक सदस्य अपना एक वोट दे सकता है और कोई भी प्रस्ताव बहुमत से पारित हो सकता है। राजा, कुलीन रईसों तथा पुरोहितों की उच्च श्रेणियों पर जनता की यह प्रथम विजय थी ! उधर जब राजा ने यह स्वीकार किया कि वह अकेला फ्रांस की आर्थिक समस्याओं को नहीं सुलझा सकता, तो प्रथम दोनों श्रेणियों के सदस्यों को भी, जो परंपरानुसार पृथक्-पृथक् वोट देते आ रहे थे, तृतीय श्रेणी के मध्यमवर्गीय जनसाधारण लोगों के साथ बैठना पड़ा।

बेस्टील का पतन––१४ जुलाई, १७८९ ई०, को पेरिस के नागरिकों ने वहाँ के सुदृढ़तम दुर्ग––बेस्टील––पर अधिकार करके उसे ढहा दिया। यह पुराना किला जेलखाने के रूप में प्रयोग किया जाता था और लोगों को इससे बड़ी घृणा थी––वे इस दुर्ग को फ्रेंच नरेशों की स्वेच्छाचारिता एवं उनके क्रूर अत्याचारों का प्रतीक समझते थे। बेस्टील का पतन योरप भर में फ्रांस की अबाधित राज्य-सत्ता के अंत का द्योतक समझा गया। इस घटना का इतना बड़ा महत्व है कि आज भी फ्रांस में उससे संबंधित १४ जुलाई का दिन प्रधान राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाया जाता है।

स्त्रियों का राजप्रासाद पर आक्रमण––अक्तूबर मास में संभावित अकाल के भय से पेरिस की भूखी नारियाँ वारसाई जाकर राजा, रानी, राजपरिवार और स्टेट्स जेनरल को

पेरिस बुला लाई, क्योंकि उनकी धारणा थी कि इस प्रकार उनकी रोटी की व्यवस्था ठीक रहेगी ! इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसी सरकार धीरे-धीरे पेरिस की प्रजा के प्रभाव में आती चली गई। उधर स्टेट्स जेनरल ने 'राष्ट्रीय महासभा' का रूप धारण करते ही सुधार एवं पुनर्व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। उसकी ४ अगस्त, १७८९ ई०, की बैठक बड़ी महत्वपूर्ण थी, जिसके फलस्वरूप मध्यकाल की सामन्त-पद्धति के अन्यायों एवं अवशेषों को चुन-चुनकर नष्ट किया गया तथा सामाजिक विषमता का विष-वृक्ष काट डाला गया। सामंत-प्रणाली नष्ट कर दी गई एवं कुलीन और पुरोहित-वर्गों को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उनका अंत कर दिया गया। सब वर्गों के लोगों पर समान कर की व्यवस्था की गई। कुलीन रईसों की बड़ी-बड़ी जागीरें किसानों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्य की सर्वोच्च-शक्ति जनता में निहित होती है। स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को वह सब कुछ करने का अधिकार है, जिससे कि किसी दूसरे को हानि पहुँचने की संभावना न हो। जनता की सार्वजनिक इच्छा ही कानून है और प्रत्येक मनुष्य के लिए एक ही कानून होना चाहिए। विचार-स्वातंत्र्य मनुष्य का बहुमूल्य अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य को धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

नया संविधान--१७९१ ई० में 'राष्ट्रीय महासभा' ने नया संविधान तैयार किया, जिसकी प्रस्तावना में पूर्वोक्त मौलिक अधिकार दोहराए गए। इस संविधानानुसार फ्रांस में एक-तंत्र, स्वेच्छाचारी राजतंत्र के स्थान पर इंगलैंड की भाँति संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना की गई। अब राजा की सत्ता जनता की इच्छा पर आश्रित थी। कानून का निर्माण-कार्य

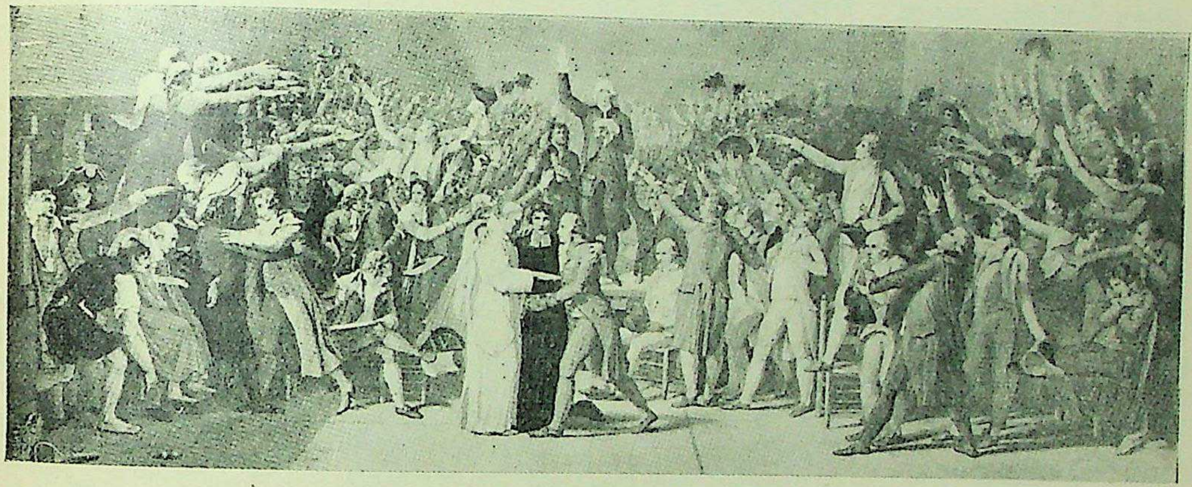

फ्रेंच क्रांति के दौर में 'राष्ट्रीय महासभा' का निर्माण और उसके द्वारा मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा !

को बाँट दी गई। इस सामाजिक क्रांति ने जनता की विविध श्रेणियों में समानता स्थापित कर दी और उसकी लपेट से घबड़ाकर कुलीन लोग फ्रांस छोड़कर अन्य देशों में भाग गए और वहाँ से क्रांति की इस बढ़ती हुई लहर को रोकने की चेष्टा करने लगे।

मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा--राष्ट्रीय महासभा की दूसरी महान् सफलता मनुष्यों और नागरिकों के मौलिक अधिकार एवं स्वतंत्रता की घोषणा थी। इस विज्ञप्ति के पीछे रूसो के दार्शनिक विचार छिपे हुए थे। फ्रांस की क्रांति का कार्यक्रम इसी घोषणा के अनुसार चला और इसने भावी राजनीतिक विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया। इस उद्घोषणा का सार यह था--सब मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होते हैं और उनके अधिकार समान होते हैं।

एक व्यवस्थापिका सभा को दिया गया। परन्तु इस संविधान ने सर्वसाधारण को मताधिकार नहीं प्रदान किया, वरन् प्रत्येक पुरुष नागरिक, जो अपनी तीन दिन की आमदनी राज-कर के रूप देता था, इस सभा के निर्वाचन के लिए वोट देने का अधिकारी समझा गया। इस प्रकार आधे नागरिक मताधिकार से वंचित रह गए।

मौलिक अधिकारों की घोषणा में धार्मिक स्वतंत्रता एवं सहनशीलता का सिद्धान्त भी स्वीकार कर लिया गया था। अतः राष्ट्रीय महासभा ने अनेक चर्च-विरोधी कानून पास किए, जिनके अनुसार चर्च की संपत्ति जब्त कर ली गई, मठ तोड़ दिए गए, बिशपों और पुरोहितों की संख्या घटा दी गई, उनका निर्वाचन जनता द्वारा होने लगा तथा उन्हें राज्य-कोष से वेतन मिलने लगा।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

देश की आर्थिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी। प्रत्यक्ष करों का उगाहना असंभव था। बैंकों से सहायता की कोई आशा नहीं थी। इस विषम स्थिति में 'पत्रमुद्रा' जारी की गई तथा लोगों के ऊपर समान कर की व्यवस्था की गई।

जनतंत्र की स्थापना एवं आतंक का राज्य—पर क्रांति की उक्त प्रगति से उग्र सुधारवादी संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने क्रांति की लहर को और आगे बढ़ाना चाहा। स्वयं राजा का रुख भी निश्चित नहीं था। वह कभी तो सुधारवादियों का पक्ष लेता था और कभी अन्य देश के नरपतियों से अपनी रक्षा की गुप्त मंत्रणा भी करता था। उस समय योरप के राजाओं में उसके प्रति बड़ी सहानुभूति थी। वस्तुतः फ्रांस की राज्य-क्रांति के फलस्वरूप स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव की भावनाएँ सारे योरप की जनता में लोकप्रिय होने लगी थीं। अतः सारे योरप के मुकुटधारी नरेश इससे आशंकित हो उठे थे। जून, १७-९१ ई०, में राजा-रानी पेरिस से निकल भागे। किंतु वे सीमांत से पकड़कर वापिस ले आए गए और टुइलरी के राजमहल में बंदी बनाकर रख दिए गए। इन्हीं दिनों आॅस्ट्रिया और प्रशा ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी! पर उन्हें पराजित होना पड़ा। अंत में २२ सितंबर, १७९२ ई०, को फ्रांस में रिपब्लिक या जनतंत्र की स्थापना हो गई और अगले वर्ष इंगलैंड का आदर्श सामने रखकर राजा-रानी दोनों ही तलवार के घाट उतार दिए गए (१५ जनवरी, १७९३ ई०)। इस पर देश में गृह-युद्ध छिड़ गया और दो वर्ष तक (१७९३-९४ ई०) वहाँ अभूतपूर्व आतंक का राज्य छाया रहा। इस आतंक का प्रधान सूत्रधार राब्सपियर था, जो रूसो का परम भक्त था। उसका शासन रक्त के बल पर ही अवलंबित था। उसके अधीन एक भयावने आतंक का तांडव आरंभ हुआ। सहस्रों व्यक्ति, जिन पर राजतंत्र का पक्षपाती होने का संदेह था, मृत्यु के घाट उतार दिए गए! राब्सपियर के बहुत-से विरोधियों को भी यही प्रसाद मिला। इस आतंक की समाप्ति उसकी मृत्यु के साथ हुई। जब उग्र दल पराजित हो गया और शासनाधिकार फिर नरम दल के हाथ में आ गया, तो शासन की बागडोर दो व्यवस्थापिका सभाओं तथा पाँच संचालकों के हाथों में रक्खी गई। इधर क्रांतिकारियों ने क्रांति के संदेश को सारे योरप में फैलाने की चुनौती दे दी, जिससे देश के बाहर समस्त क्रांतिकारियों की रक्षा एवं सहायता करना अब फ्रांस का कर्त्तव्य हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रान्स के जनतंत्र को अखिल योरप की संयुक्त शक्ति का कोपभाजन बनना पड़ा। इसी संकटापन्न परिस्थिति में फ्रांस के राष्ट्रीय प्रांगण में नेपोलियन का पदार्पण हुआ। उसने न केवल क्रांति की ही रक्षा की, प्रत्युत अपने अद्भुत पराक्रम से कुछ समय के लिए सारे योरप का नक्शा ही बदल दिया!

आतंकवादी शासन का सूत्रधार राब्सपियर।

नेपोलियन के उदय पर दृष्टिपात् करने के पूर्व फ्रांस की राज्य-क्रांति का मूल्यांकन आवश्यक प्रतीत होता है। आतंक, अव्यवस्था एवं रक्तपात के अतिरिक्त फ्रांस की क्रांति ने विश्व को कुछ स्थायी देन भी दी। उसने स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृभाव के सिद्धान्तों को जन्म देकर लोकतंत्र की नींव पक्की की। उसने जनता के सत्ताधिकार के मौलिक सिद्धांत का प्रतिपादन करके आधुनिक प्रगतिशील राष्ट्रीयता को जन्म दिया!

नेपोलियन बोनापार्ट

उत्थान—नेपोलियन बोनापार्ट एक अद्भुत व्यक्ति था। उसका जन्म भूमध्यसागर में स्थित कार्सिका नामक द्वीप में हुआ था (१७६९ ई०)। उसके माता-पिता इटली के निवासी थे पर उसकी सैनिक शिक्षा फ्रांस में हुई थी। उसमें विलक्षण सैनिक प्रतिभा थी और अपनी सैनिक सेवाओं के कारण ही वह जनता का प्रीतिपात्र बन गया था। उसने रूसो का गंभीर अध्ययन किया था और राब्सपियर के भी सम्पर्क में वह आ चुका था। उसने क्रांति के प्रति अपनी प्रगाढ़ सहानुभूति

प्रदर्शित की थी। किंतु वह बड़ा स्वार्थी एवं महत्वाकांक्षी था। अपनी निजी उन्नति के लिए वह कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देता था। इसी लक्ष्य को अपने सामने रखकर दस वर्षों के अन्दर ही वह फ्रांस का सर्वेसर्वा तथा समस्त योरप का बेताज का बादशाह बन बैठा! उसकी उन्नति का कारण फ्रांस की क्रांतिकारी मनोवृत्ति एवं जनता का सद्भावनापूर्ण सहयोग था। जनता ने उसे सब से पहले अपना कॉन्सल (१७९९-१८०४ ई०) और फिर बाद में सम्राट् चुन लिया! उस समय उसने गर्वपूर्वक कहा कि 'मैंने फ्रांस के राजमुकुट को भूमि पर पड़ा पाया और उसे अपनी तलवार के बल से उठा लिया!' चतुर्दश लुई की भाँति नेपोलियन ने फ्रांस में प्राचीन साम्राज्य की मर्यादा एवं तड़क-भड़क को पुनर्जीवित करना चाहा। इसी उद्देश्य से उसने दरबारी शिष्टाचार के नियमों को फिर से चालू किया और सेवा के आधार पर नए रईसों के एक वर्ग की रचना की। उसने अपने कुटुंबी जनों को नए विजित देशों के सिंहासन पर बिठाकर उनका राज्याभिषेक भी किया। नेपोलियन विचार-स्वातंत्र्य का पक्षपाती नहीं था और उसने समाचार-पत्रों पर कड़ा नियंत्रण रक्खा था। कोई भी लेखक उसके जमाने में स्वतंत्रतापूर्वक कदापि अपनी रचनाओं का प्रकाशन नहीं कर सकता था। उसके अनुसार शिक्षा का मूल ध्येय विद्यार्थियों को सम्राट् के प्रति स्वामिभक्त बनाना था। नेपोलियन ने फ्रांस में सशक्त केन्द्रीय सरकार की स्थापना की, क्रांति की सफल उपलब्धियों का सुसंगठन किया तथा फ्रांस के कानूनों का संकलन एवं संपादन कराकर एक नई संहिता प्रचलित की। इस 'नेपोलियन कोड' के आधार पर योरप के अन्य देशों के कानूनों का भी निर्माण किया गया। यह संहिता प्राचीन रोम के 'जस्टीनियन कोड' के समान महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, नेपोलियन ने फ्रांस के 'राष्ट्रीय बैंक' की भी स्थापना की तथा अन्य सार्वजनिक हित के कार्यों—इमारतों, सड़कों, नहरों आदि—का निर्माण किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

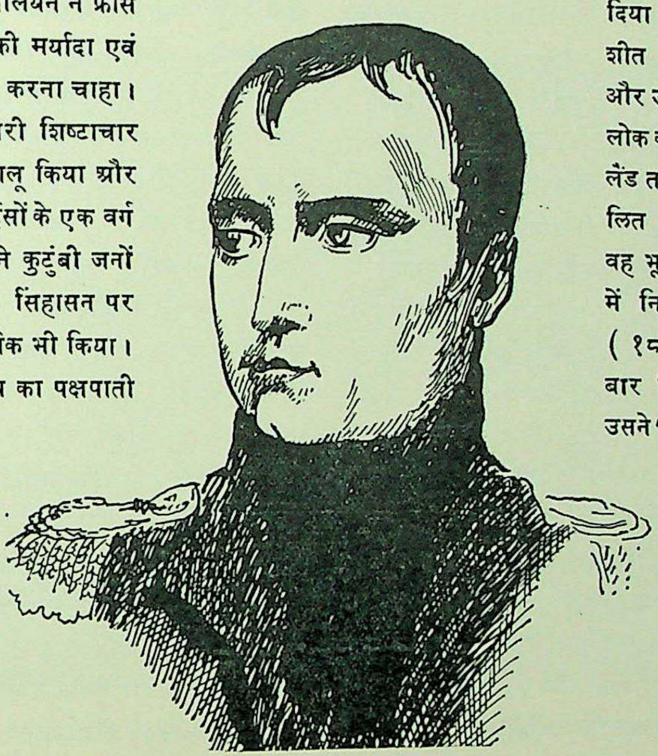

नेपोलियन बोनापार्ट।

नेपोलियन का शासन कुछ वर्षों तक विजय का मूर्तिमान् स्वरूप बना रहा। किंतु जिस नेपोलियन ने प्रायः समस्त इटली और स्पेन तथा जर्मनी का कुछ भाग जीतकर उन स्थानों में अपने बंधु-बांधवों को सिंहासनारूढ़ किया था और जिसने ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस को अपने पैरों पर लिटाकर तथा टीपू सुलतान से पत्र-व्यवहार करके भारत से अंगरेजों को खदेड़ने की भी योजना बनाई थी, उसी को अपने अदूरदर्शी कृत्यों के कारण आखिर नीचा देखना पड़ा! उसने अपने कट्टर शत्रु अंगरेजों के व्यापार को नष्ट करने का असफल प्रयत्न किया और छः लाख सेना लेकर रूस पर धावा बोल दिया। किंतु मास्को की बर्फीली शीत ने उसके छक्के छुड़ा दिए और उसके अगणित सैनिक परलोक कूच कर गए! आखिर इंगलैंड तथा समस्त योरप की सम्मिलित शक्ति से पराजित होकर वह भूमध्यसागर के एल्बा द्वीप में निर्वासित कर दिया गया (१८१४ ई०)। यद्यपि एक बार फिर फ्रांस वापिस आकर उसने 'शत दिवस' तक सारे योरप को नाकों चने चबवा दिए, परन्तु वाटरलू के युद्ध में बुरी तरह पराजित होकर अन्त में वह दक्षिण अतलांतिक के सेंट हेलेना टापू में निर्वासित कर दिया गया, जहाँ कुछ वर्ष बाद सदा के लिए उसने अपनी आँखें मूँद लीं (५ मई, १८२१ ई०)।

नेपोलियन एक असाधारण शक्ति संपन्न विलक्षण पुरुष था, जो अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के कारण साधारण स्थिति से एक महान् सम्राट् बन गया था। अपनी सैनिक प्रतिभा में वह सिकन्दर महान् का प्रतिस्पर्द्धी हो सकता था। वह अपने आकर्षक व्यक्तित्व के कारण ही फ्रान्स का नेतृत्व कर सका था। अपने उद्देश्यों एवं महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वह कोई भी कुर्बानी कर सकता था। उसकी देन साधारण नहीं कही जा सकती। यदि उसने फ्रांस का नेतृत्व न ग्रहण किया होता, तो योरप की निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शक्तियों ने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का नामोनिशान मिटा दिया होता ! उसने अनेक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी सिद्धान्तों की रक्षा करके उन्हें लोकप्रिय बनाया । किसी के कुल-कुटुंब का ध्यान न करके उसने लोगों को योग्यतानुसार ऊँचे पदों पर नियुक्त किया । उसकी विजयी सेनाएँ जहाँ-कहीं भी पहुँचीं, वहाँ-वहाँ उसने लोगों को राष्ट्रीयता एवं एकता का संदेश दिया ।

७. प्रतिक्रिया की लहर और क्रान्ति का पुनरुत्थान

वियना-कांग्रेस — नेपोलियन से पिंड छूट जाने पर उसे पराजित करनेवाली शक्तियाँ योरप का नवीन मानचित्र बनाने के लिए ऑस्ट्रिया की राजधानी वियना में एक महासम्मेलन के रूप में एकत्र हुई । यह सम्मेलन इतिहास में 'वियना-कांग्रेस' के नाम से मशहूर है । लंबे अर्से तक फ्रांस के विरुद्ध युद्ध करने के कारण उनमें से लगभग सभी की आर्थिक स्थिति बैठ चुकी थी और सभी युद्ध-विराम चाहते थे । इस समय योरप दो गुटों में विभक्त हो गया था——कट्टरपंथी तथा सुधारवादी । पहले गिरोह में राजाओं के निरंकुश दैवी अधिकार के पोषक वे सभी राजा-महाराजा, रईस तथा धर्माधिकारी सम्मिलित थे, जिनके विशेषाधिकारों एवं अतुल संपत्ति पर कुठाराघात हो चुका था । दूसरे गुट के मेरुदण्ड को पुष्ट करने में मध्यम वर्ग के लोगों, विश्वविद्यालयों के प्राचार्यों एवं बुद्धिजीवियों, श्रमिकों तथा कुछ कृषकों का हाथ था, जो प्राचीन प्रशासन-व्यवस्था से ऊब चुके थे । भौगोलिक दृष्टि से पश्चिमी योरप तथा फ्रांस का निकटवर्ती प्रदेश सुधारवादी था, तो पूर्वी योरप तथा फ्रांस से दूरवर्ती प्रदेश कट्टरपंथी थे । प्राधान्य एवं बाहुल्य कट्टरपंथियों का ही था, जिनका अगुआ था ऑस्ट्रिया का प्रधान-मंत्री प्रिंस मेटरनिख, जिसने नैपोलियन की पराजय में प्रमुख भाग लिया था । उसी ने वियना के प्रतिक्रियावादी सम्मेलन का सभापतित्व ग्रहण किया । वियना-कांग्रेस में सभी मुकुट-धारी प्रतिक्रियावादी योरपीय शासक विद्यमान थे, जिन्होंने नेपोलियन की पराजय में हाथ बँटाया था । इसका मुख्य उद्देश्य क्रांति द्वारा जनित सिद्धान्तों——राष्ट्रीयता तथा सुधार एवं लोकतंत्रवाद——को कुचलना था । मेटरनिख इन सिद्धान्तों को योरप के लिए घातक समझता था । इस सम्मेलन के निर्णयानुसार फ्रांस से युद्धों में विजित प्रदेश छीन लिए गए और उस देश की सीमा प्रायः वही बना दी गई, जो राज्य-क्रांति के पहले थी । वहाँ की राजगद्दी पर पुनः बूरबोन वंश का लुई १८वाँ बिठा दिया गया । उधर बेल्जियम को हॉलैण्ड में मिला दिया गया, नार्वे स्वीडन को दे दिया गया, फिन-लैण्ड रूस को समर्पित कर दिया गया तथा इटली का अधिकांश भाग ऑस्ट्रिया के अधीन कर दिया गया । तभी जर्मनी में ३४ राजाओं का एक संघ बनाया गया, जिसका सभापतित्व ऑस्ट्रिया को दे दिया गया । इस प्रकार वियना-कांग्रेस के पश्चात् योरप में कट्टर निरंकुशता का सिक्का एक बार पुनः जम गया । वियना-कांग्रेस के निर्णयों की रक्षा करने के लिए ऑस्ट्रिया, प्रशा, रूस तथा इंग्लैंड ने मिलकर एक 'चतुर्शक्ति-मैत्री' की स्थापना की । अंत में इंगलैंड इससे पृथक् हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय एकता द्वारा महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को सुलझाने का उक्त प्रयास विफल हुआ ।

योरप-व्यापी क्रांति की लहर——कट्टर निरंकुशता के अंचल में छिपे हुए उन्नीसवीं शताब्दी के दो महत्वपूर्ण सुधारवादी आन्दोलनों——लोकतंत्र तथा राष्ट्रीयता——ने मिलकर निरं-कुशता के गढ़ को ढहाना चाहा और योरप भर में विद्रोहाग्नि भभक पड़ी । जर्मनी तथा इटली सरीखे जिन देशों के शासक सतर्क चौकसी भी रक्खे हुए थे, वहाँ भी सुधारवादी आन्दो-लनों की जड़ जम गई । जर्मन विश्वविद्यालयों के छात्रों ने सुधारवादी विचारों के उन्नयन एवं संवर्द्धन के हेतु गुप्त सोसाइ-टियों की स्थापना की और उधर इटली के शिक्षित समाज ने भी संवैधानिक प्रशासन एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता की आवाज बुलन्द की । इटली में भी गुप्त सोसाइटियाँ स्थापित की गईं, जिनमें 'कारबोनारी' सर्वाधिक प्रसिद्ध थी । वहाँ के महान् देशभक्त विचारक मैजिनी ने अपने साहित्यिक एवं आदर्शवादी लेखों द्वारा इटली के स्वातंत्र्य-आन्दोलन को गति प्रदान करने में विशेष योग दिया । इन्हीं दिनों फर्डिनेंड प्रथम के अत्याचारी शासन के विरुद्ध नेपुल्स तथा पीडमाण्ट में विद्रोहाग्नि भभक पड़ी (१८२०-२१ ई०) । तभी अपने तुर्क प्रशासकों के अत्याचार से ऊबकर यूनान ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया (१८२७ ई०) और वह देश स्वतंत्र बन बैठा । इसी बीच फ्रांस में क्रांतिकारी भावना पुनर्जीवित हो उठी और जुलाई, १८३० ई०, में प्रतिक्रियावादी नरेश चार्ल्स दसवें को गद्दी से हटाकर वहाँ लुई फिलिप को सिंहासनारूढ़ किया गया । १८३० की इस क्रांति से समूचा योरप एक बार फिर कंपाय-मान हो उठा और सब की नजरों के सामने १७८९ की क्रांति का दृश्य साकार हो गया ! तभी बेल्जियम हॉलैंड से पृथक् होकर स्वतंत्र बन बैठा और रूसी प्राधान्य के विरुद्ध पोलैण्ड में भी चिनगारियाँ चमक उठीं !

१८४८ ई० में फ्रांस में पुनः क्रांति हो गई और लुई फिलिप को खदेड़कर वहाँ फिर से जनतंत्र की स्थापना की गई । अब तो जर्मनी, इटली तथा ऑस्ट्रिया सभी देशों में भी क्रांति के काले बादल मँडराने लगे ! तूफान के इस दौर में मेटरनिख

को भी ऑस्ट्रिया से भागकर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी ! पर ये क्रांतियाँ अपरिपक्व सिद्ध हुईं । उन्होंने निरंकुशता को चुनौती तो दी, किंतु उसकी जड़ वे न उखाड़ सकीं ! रूस, ऑस्ट्रिया तथा जर्मनी में प्रतिक्रियावादी निरंकुश शासन ठेठ प्रथम विश्व-महायुद्ध तक चलता रहा । वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी में लोकतांत्रिक सिद्धान्तों का उदय आकस्मिक क्रांतियों द्वारा नहीं, वरन् शनैः-शनैः विकासवादी सिद्धान्तों के आलिंगन से हुआ और इसका ज्वलंत उदाहरण विश्व के सम्मुख इंगलैंड ने उपस्थित किया ।

नई दुनिया की हलचलें—दक्षिणी तथा मध्य अमेरिका, मेक्सिको और पश्चिमी द्वीप-समूह को मिलाकर 'लैटिन अमेरिका' कहते हैं । यहाँ अनेक अमूल्य धातुएँ––मैंगनीज, ताँबा, लोहा, टिन––तथा गन्ना, कॉफी, रबर, ऊन और गेहूँ बहुतायत से पैदा होते हैं । ये प्रदेश आरंभ में स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस आदि के उपनिवेश बने हुए थे । योरपीय शक्तियाँ इन उपनिवेशों का कसकर शोषण करती थीं और उन्होंने उनके ऊपर अनेक व्यापारिक नियंत्रण लगा रक्खे थे । स्पेन और पुर्तगाल ने अपने-अपने उपनिवेशों पर असह्य कर लगा रक्खा था । स्पेन तथा पुर्तगाल में पैदा हुए लोगों को उपनिवेशों में जन्म लेनेवाले लोगों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त थे । इन कारणों से इन सभी क्षेत्रों में क्रांति का स्वर जगा, जिसकी लपट को बढ़ावा देने में उत्तरी अमेरिका में 'संयुक्त राज्य' की स्थापना एवं योरप में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने ईंधन का काम किया । धीरे-धीरे नई दुनिया के लगभग सभी उपनिवेशों ने स्वतंत्रता की घोषणा करके अपने यहाँ जनतंत्र की स्थापना कर ली । पैरागुए तथा वेनेजुएला १८११ ई० में, रायो-डि-ला-प्लाटा १८१६ ई० में, चिली १८१८ ई० में, पीरू तथा मेक्सिको १८२१ ई० में तथा ब्राजील १८२२ ई० में स्वतंत्र हो गया । उधर मध्य अमेरिका के प्रान्तों ने भी १८२३-२५ ई० में विद्रोह कर दिया ।

'मनरो-सिद्धान्त'—१८२२ ई० में फ्रांस के राजा ने मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी योजनानुसार स्पेन के अमेरिकन उपनिवेशों के प्रगतिशील आंदोलनों को दबाना चाहा । परन्तु संयुक्त राज्य ने इन नए जनतंत्रों की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान कर दी । तभी अमरीकी प्रेसीडेण्ट मनरो की यह धारणा सामने आई कि यदि योरप की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ नई दुनियाँ के मामलों में हस्तक्षेप करती हैं, तो अमेरिका की शांति एवं रक्षा के लिए एक खतरा हो जायगा । इसी समय रूस ने उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त महासागर के तट पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहा । इस स्थिति में १८२३ ई० में प्रेसीडेंट मनरो ने यह घोषणा की कि न तो संयुक्त राज्य योरपीय राजनीति में हस्तक्षेप करेगा और न अमेरिका के मामलों में किसी योरपीय शक्ति को हस्तक्षेप करने देगा । यह सिद्धांत 'मनरो-सिद्धांत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

नेपोलियन की पराजय के बाद योरप के राजनीतिक मानचित्र के पुनर्निर्धारण के हेतु आयोजित वियना-कांग्रेस की झाँकी ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीय और साम्राज्यवादी लहरें

मानव की युगयात्रा में १९वीं शताब्दी बहुत महत्वपूर्ण मानी गई है । समाजवाद, साम्यवाद तथा डारविन के विकासवाद के सिद्धांत इसी शताब्दी में प्रतिपादित किए गए और शिक्षा तथा समाज के क्षेत्र में भी अनेक सुधार इन दिनों हुए । उधर इंगलैंड की औद्योगिक एवं राजनीतिक क्रांतियों तथा अमेरिका और फ्रांस की राज्य-क्रान्तियों के परिणामों का ठोस व्यावहारिक रूप भी इसी शताब्दी में दृष्टिगोचर हुआ । इसीलिए इस शताब्दी को राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद एवं लोकतंत्र के विकास की शताब्दी कहते हैं । ये प्रवृत्तियाँ इस काल में योरप के सभी देशों में जगीं । किंतु हर राष्ट्र की समस्याएँ पृथक्-पृथक् थीं । लोकतंत्र जहाँ फ्रांस, इटली और इंगलैंड में अधिक शक्तिशाली हुआ, वहाँ रूस, ऑस्ट्रिया, जर्मनी और तुर्की में वह निर्बल बना रहा । इस काल में आकर योरप के विभिन्न राष्ट्र पारस्परिक द्वेष तथा व्यावसायिक, व्यापारिक एवं साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता के फल-स्वरूप दो विरोधी सशस्त्र दलों में विभक्त हो गए, जिसका भीषण परिणाम अंततोगत्वा बीसवीं शताब्दी के दो महायुद्धों के रूप में देखने को मिला । इस युग की एक महत्वपूर्ण घटना एशिया में साम्राज्यवाद द्वारा उत्तेजित राष्ट्रीयता की लहर थी, जो क्रमशः अरब से लेकर ठेठ चीन तक फैलते दिखाई दी ।

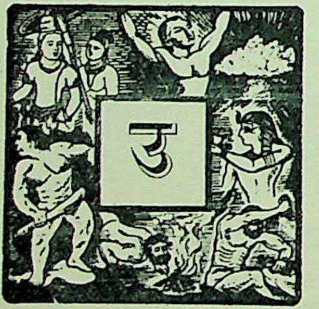

उन्नीसवीं शताब्दी में आकर योरप के प्रांगण में राष्ट्रीयता की लहर ने एक साथ ही उग्र, प्रगतिशील एवं संकुचित रूप धारण कर लिया, क्योंकि अपनी-अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नशील प्रायः सभी राष्ट्र अब एक दूसरे को द्वेष तथा शंका की दृष्टि से देखने लगे । राष्ट्रीयता की इस लहर ने मानवता का बड़ा कल्याण किया । उसने एक ही जाति के लोगों में--जो एक ही भाषा बोलते थे तथा जिनकी संस्कृति और ऐतिहासिक परंपरा एक ही थी--एकता की भावना जाग्रत करके उन्हें विदेशी शासकों की अधीनता से मुक्त करा दिया । इसी राष्ट्रीयता की भावना के विकास के दौर में यूनान और बेल्जियम स्वतंत्र हुए; इटैलियन स्वाधीनता का संग्राम छिड़ा और प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी में ऐक्य की स्थापना हुई; साथ ही १८७८ ई० की बर्लिन की संधि के अनुसार बालकन प्रदेशों को स्वतंत्रता मिल गई । इसी भावना ने आयर्लैंड को इंगलैंड के विरुद्ध भड़काया । इटली तथा जर्मनी की स्वाधीनता एवं एकीकरण उन्नीसवीं शताब्दी की दो प्रमुख राजनीतिक घटनाएँ हैं । आइए, सब से पहले उन्हीं पर दृष्टिपात करें ।

इटली की स्वाधीनता

१९वीं शताब्दी के प्रारंभ में इटली कई स्वतंत्र राज्यों का समूह मात्र था--वहाँ राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था । नेपोलियन के युद्धों के कारण यद्यपि अल्पकाल के लिए वहाँ एकता स्थापित हो गई थी और राष्ट्रीयता का भी संचार हुआ था; किंतु वियना-कांग्रेस के उपरांत इस देश में जब फिर से पुराने राजवंशों की स्थापना की गई, तो वह कई राज्यों में विभक्त हो गया! ये राज्य थे--सार्डीनिया, लोम्बार्डी, वेनीशिया, नेपल्स तथा ऑस्ट्रिया एवं पोप द्वारा प्रशासित प्रदेश । इस बीच १८३० ई० तथा १८४८ ई० में इटली की स्वतंत्रता एवं एकता की स्थापना के हेतु कई असफल प्रयत्न किए गए । पर इटली में राष्ट्रीय एकता का मंत्र फूँकने का श्रेय अंत में उसके महान् देशभक्त मैजिनी (१८०५-१८७२) ने पाया ।

CC-0. Adamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके अतिरिक्त इटली के दो श्रन्य सपूतों--गैरीबाल्डी श्रौर कावूर--को भी उक्त स्वाधीनता-संग्राम को सफल बनाने का चिरस्मरणीय गौरव प्राप्त है। यदि मैजिनी था इस स्वाधीनता-श्रान्दोलन की श्रात्मा, तो गैरीबाल्डी उसकी सैनिक शक्ति श्रौर कावूर उसकी कूटनीतिक शक्ति का प्रतीक था। इटली श्रौर रोम के प्राचीन गौरव के प्रति ध्यान खींचकर, ये लोग अपने देश को एक बार फिर महान् राष्ट्रों की पंक्ति में बिठाना चाहते थे। किंतु विदेशी हुकूमत के कठोर श्रातंक एवं अत्याचारपूर्ण वातावरण में श्राजादी की आवाज उठाना मृत्यु से खेलना था। मैजिनी पहले तो इटली की प्रसिद्ध क्रांतिकारी गुप्त संस्था 'कारबोनारी' का सदस्य बना; तदनंतर उसने 'तरुण इटली' नामक एक नई संस्था की प्रस्थापना की। उसका लक्ष्य स्वयं इटैलियन लोगों के श्रपने प्रयासों से ही देश को मुक्त कर वहाँ एक गण-तंत्र (रिपब्लिक) की स्थापना करना था; किंतु वह इस कार्य में सफल नहीं हो सका। मैजिनी की श्रपेक्षा कावूर कहीं श्रधिक यथार्थवादी था। वह १८५२ ई० में सार्डीनिया का प्रधान मंत्री बन गया श्रौर वहाँ के राजा विक्टर इमैन्युश्रल के संरक्षण में उसने इटली में वैधानिक राजतंत्र के लिए श्रान्दोलन करना शुरू किया। उसे इंगलैंड की शासन-प्रणाली श्रधिक पसन्द थी। कालान्तर में श्रपनी कूटनीति से, इंगलैंड की सहानुभूति और फ्रांस की सैनिक सहायता प्राप्त करके उसने श्रॉस्ट्रिया को पराजित कर दिया श्रौर इस प्रकार मातृभूमि को विदेशी चंगुल से मुक्त कर लिया। उधर गैरी-बाल्डी ने 'लाल कुर्ती' के श्रपने स्वयंसेवकों की सहायता से दक्षिणी इटली को जीतकर कावूर के हवाले कर दिया। दस साल बाद (१८७१ ई० में) श्राखिर रोम में एक ही झंडे के नीचे स्वतंत्र इटली की राजधानी स्थापित होने पर एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में इटली की एकता का स्वप्न पूरा हुआ।

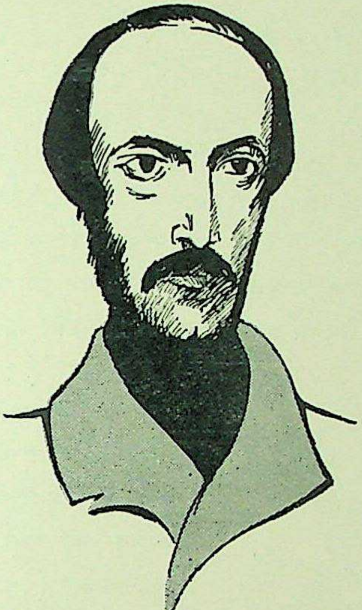

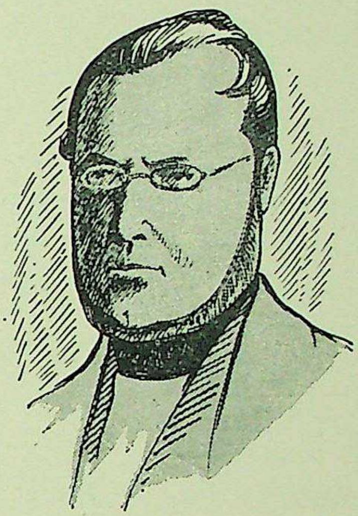

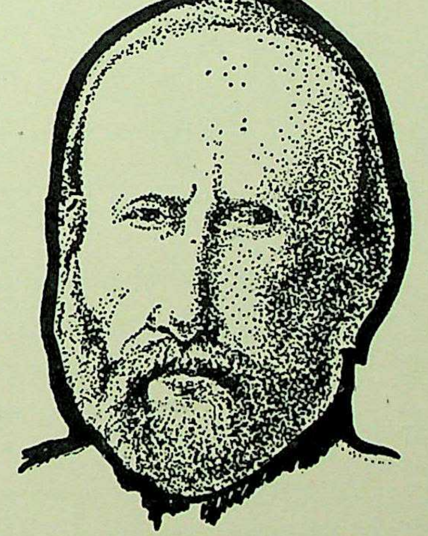

इटली के स्वाधीनता-संग्राम के नेता :: (ऊपर) मैजिनी और कावूर; (नीचे) गैरीबाल्डी।

जर्मनी का एकीकरण

भाषा तथा श्रन्य कई बातों में एक होने के बावजूद १९वीं शताब्दी के श्रारंभ में जर्मनी बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था। इन सब राज्यों को मिलाकर उसका एकीकरण करने का श्रेय उसके सब से बड़े राज्य प्रशा के महान् प्रधानामात्य प्रिंस बिस्मार्क को मिला। प्राचीन भारत के इतिहास में जो स्थान मगध राज्य का था, वही स्थान जर्मनी के इतिहास में प्रशा का रहा है। जिस प्रकार मगध को केन्द्र बनाकर मौर्य एवं गुप्त सम्राटों ने भारत की बिखरी हुई शक्तियों को एक किया था एवं देश को राजनीतिक एकता प्रदान की थी, उसी प्रकार प्रशा ने विविध जर्मन राज्यों का नेतृत्व एवं एकीकरण करके महान् जर्मन राष्ट्र की नींव डाली। प्रिंस बिस्मार्क प्रशा का प्रधान मंत्री था। उसका जन्म १८१५ ई० में वहाँ के एक कुलीन जमींदार घराने में हुआ था। उसने श्रपने जीवनकाल (१८१५-१८९८ ई०) में न केवल जर्मनी के ही इतिहास का एक नया श्रध्याय रचा, वरन् श्रपनी कूटनीति से समस्त योरप की राजनीति पर गहरा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रभाव डाला। बिस्मार्क पक्का राष्ट्रवादी होते हुए भी लोकतंत्र का कट्टर विरोधी था। वह संविधान को 'रद्दी कागज का टुकड़ा' मात्र समझता था! उसका कहना था कि बड़ी-बड़ी समस्याओं का समाधान भाषणों और जनता के मताधिकार से नहीं, वरन् 'खड्ग-नीति' द्वारा होता है! अपने इन्हीं विचारों के कारण उसे जर्मनी के 'लौह पुरुष' की संज्ञा प्रदान की जाती है। उसने प्रशा में अनिवार्य सैनिक शिक्षा का आयोजन करके उक्त राज्य की सैनिक शक्ति को काफी सुदृढ़ बना दिया था। उधर रूस और फ्रांस में राजदूत बनाकर भेजे जाने के कारण उसे योरपीय राजनीति का भी प्रकांड ज्ञान हो गया था। संयोगवश प्रशा का राजा विलियम प्रथम बिस्मार्क का जबर्दस्त पृष्ठपोषक था। बिस्मार्क ने युद्ध में डेनमार्क, ऑस्ट्रिया तथा फ्रांस को पराजित करके योरप में जर्मनी की शक्ति और प्रतिष्ठा को आसमान तक ऊँचा उठा दिया! उसके हाथों सीडन के युद्ध में पराजित हो फ्रांस को न केवल एक लंबी रकम जर्मनी को हरजाने में देनी पड़ी, प्रत्युत अलसेस-लोरेन के मूल्यवान् प्रांतों से भी हाथ धोना पड़ा! इस महान् क्षति को फ्रांस कभी भी नहीं भूला और इन प्रांतों को वापस लेने की वह बराबर ताक लगाए रहा।

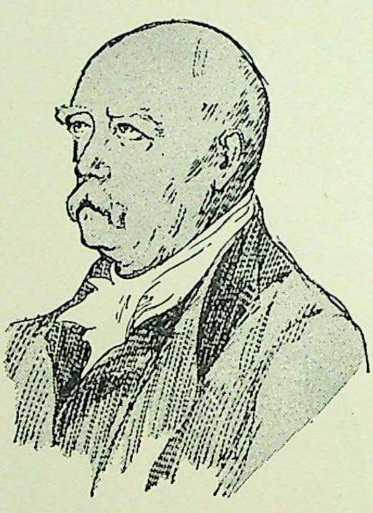

जर्मनी का 'लौह पुरुष' बिस्मार्क।

जर्मन साम्राज्य की नींव डालकर बिस्मार्क स्वयं उसका पहला चान्सलर या प्रधान मंत्री बना। उसने विविध सुधारों द्वारा जर्मनी को सशक्त एवं समृद्धिशाली राष्ट्र बना दिया और उसकी सैनिक तथा नाविक शक्ति को इतना विकसित कर दिया कि योरप के अन्य राष्ट्रों को भी उसके पदचिह्नों पर चलकर सशस्त्र बनना पड़ा। इसी होड़ की बदौलत १८७१ से १९१४ ई० तक योरप में एक 'सशस्त्र शांति' स्थापित रही।

भारत में साम्राज्यवाद का प्रसार

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना — मुगल साम्राज्य के अवसानोपरांत भारत की विविध स्वतंत्र तथा अर्द्ध-स्वतंत्र प्रादेशिक शक्तियों में प्रभुसत्ता को हथियाने के हेतु एक दीर्घकालीन संघर्ष छिड़ गया। यह संघर्ष लगभग डेढ़ शताब्दी तक चलता रहा, जिसके दौरान में समस्त देश में कोई तेईस बड़ी लड़ाइयाँ तथा अगणित छुटपुट मुठभेड़ें हुईं। इससे देश में घोर राजनीतिक उथल-पुथल मच गई और मुश्किल से कोई साल ऐसा बीता होगा, जिसमें किसी-न-किसी भाग में कोई-न-कोई युद्ध न हुआ हो! इस संघर्ष में भाग लेनेवाले प्रतिद्वन्द्वियों में मुख्य थे मराठे, सिक्ख, निजाम, रुहेले, मैसूर के सुलतान (हैदरअली तथा टीपू) तथा बंगाल और अवध के नवाब। अपने पारस्परिक संघर्ष के अतिरिक्त इन शक्तियों को विदेशी औपनिवेशिक शक्तियों——फ्रेंच, ब्रिटिश, डच तथा पुर्तगालियों——के विरुद्ध भी भीषण युद्ध करने पड़े। यद्यपि विदेशी प्रारंभ में इस देश में केवल व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक के रूप में प्रविष्ट हुए थे; किन्तु लोगों के अनैक्य एवं दुर्बलताओं से लाभ उठाकर शीघ्र ही उन्होंने यहाँ के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया और स्थानीय नरेशों को एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काना-लड़ाना शुरू किया! यही नहीं, अपने अनाचारपूर्ण स्वार्थों पर आघात होने पर उन्होंने उक्त नरेशों से स्वयं खुल्लमखुल्ला युद्ध भी ठान दिया! रॉबर्ट क्लाइव ने प्लासी के युद्ध (१७५७ ई०) में नवाब मीरजाफर को पराजित करके बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव इसी रीति से डाली थी! अंगरेजों का हौसला यहीं तक सीमित नहीं रहा। कुछ ही वर्ष बाद बक्सर के युद्ध (१७६४ ई०) में नाममात्र के मुगल सम्राट् को पराजित करके इलाहाबाद की संधि (१७६५ ई०) द्वारा उन्होंने और भी बहुत-सा प्रदेश हड़प लिया। इस प्रकार ब्रिटेन ने भारत में जबरन जिस राज्य की स्थापना की, उसकी सीमाएँ वेलेजली की 'सहायक संधि', हेस्टिंग्ज द्वारा मराठों की पराजय (१८१८ ई०), डलहौजी की 'जब्ती की नीति' तथा सिक्खों की पराजय द्वारा लगातार बढ़ती ही चली गईं! इस साम्राज्य-लिप्सा की लपेट में आकर एक-एक करके सभी देशी राज्य ईस्ट इंडिया कंपनी के उदर में समा गए, जिसके फलस्वरूप १८५६ ई० तक भारत की प्रभुसत्ता पूर्णतया अंगरेजों के हाथों में चली गई और १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध के साथ जिस अनुष्ठान का श्रीगणेश हुआ था, उसके उद्देश्यों की आखिरी पूर्ति हो गई।

हमारे पराभव का रहस्य—यदि अंगरेजों ने अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया तथा अमेरिका के अर्द्ध-सभ्य आदिवासियों को सरलतापूर्वक जीत लिया, तो उसमें कोई बड़े अचरज की बात नहीं थी! किन्तु भारत तो एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत देश था, जिसकी ख्याति चतुर्दिक् फैली हुई थी! पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतीय कला-कौशल, साहित्य, धर्म तथा दर्शन सभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ उच्च कोटि का माना जाता था। भारतवासी अपनी शूरता, वीरता, सहनशीलता, अध्यवसाय, अथक परिश्रम तथा त्याग एवं बलिदान के लिए भी प्रसिद्ध थे। इसके विपरीत जो विदेशी योरपीयन भारत में आए थे, उनका नैतिक स्तर बहुत ही निम्न कोटि का था। कहा जाता है कि अंगरेजी सेना के लिए अधिकांशतः सैनिक लंदन की सड़कों एवं गली-कूचों में विचरनेवाले लफंगों, भिखमंगों, अपराधियों तथा समाज द्वारा तिरस्कृत एवं बहिष्कृत व्यक्तियों में से छाँट-छाँटकर ईस्ट इण्डिया कंपनी को भेजे जाते थे। मजेदार बात तो यह थी कि इंगलैंड के तत्कालीन राजाओं की भी चरित्रगत विशेषताएँ दिल्ली, मुर्शिदाबाद, पूना या हैदराबाद के अपने समकालीन प्रशासकों के चरित्रगत गुणों की अपेक्षा किसी भी प्रकार से उच्च कोटि की नहीं थीं। तो फिर अंगरेजों के पास ऐसा कौन-सा तंत्र-मंत्र अथवा जादू-टोना था, जिसके छू-मंतर से अनायास सारे भारत की प्रभुसत्ता उनके हाथों में आ गई?

भारत के पतन के कारण वस्तुतः उसकी तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सैनिक परिस्थिति में निहित थे। मराठों, सिक्खों तथा उत्तर और दक्षिण की अन्य देशी शक्तियों ने केवल अपनी प्रादेशिक, क्षेत्रीय एवं मण्डलीय स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु ही विदेशियों से मोर्चा लिया था। उनका देशानुराग वस्तुतः सीमित था। परस्पर मिलकर एवं सार्वदेशिक प्रेम से ओतप्रोत होकर स्वदेश, स्वधर्म एवं स्वसंस्कृति की रक्षा करने की इच्छा और सामर्थ्य का उनमें इन दिनों प्रायः अभाव था। इस पारस्परिक फूट तथा राजनीतिक अनैक्य से लाभ उठाकर ही अंगरेजों ने अपनी भेदनीति से देशी रजवाड़ों का बल कम कर दिया और इस प्रकार छल-बल से हिन्दुस्तान का सार्वभौमत्व प्राप्त कर लिया! वस्तुतः तत्कालीन भारतीय समाज में लोकसत्तात्मक क्रांति करके आधुनिक ढंग का राष्ट्रनिर्माण करने का विचार किसी के दिमाग में आया ही नहीं था।

फिर व्यक्तिगत स्वार्थ की वेदी पर राष्ट्रीय हितों की बलि चढ़ा, देश के साथ विश्वासघात करना भी भारतीय इतिहास की एक प्राचीन विडम्बना रही है! यदि सदियों पूर्व महाराज पुरु के विरुद्ध आम्भी ने विदेशी आक्रान्ता सिकन्दर की और पृथ्वीराज के विरुद्ध जयचन्द ने मुहम्मद गोरी की सहायता की थी, तो अंगरेजों को भारत में अपना राज्य-विस्तार करने में भी कई एक स्वार्थी राजाओं, जमींदारों तथा बंगाल के सेठ अमीचन्द जैसे व्यापारियों से बहुत सहायता मिली थी!

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में देश की आर्थिक उन्नति करने की आभ्यंतरिक प्रेरणा का भी हमारे यहाँ सर्वथा अभाव था। निस्संदेह भारतीय जीवन की सादगी एवं संतोष की भावना की अपनी महत्ता थी; फिर भी आर्थिक उन्नति के लिए जैसा संघर्ष पाश्चात्य देशों के लोग उन दिनों कर रहे थे, उसका समसामयिक भारतीय समाज में अभाव राष्ट्र की प्रगति में काफी बाधक सिद्ध हुआ। धनी लोग अपनी संपत्ति व्यापार अथवा उद्योग में लगाने की अपेक्षा प्रायः शादी-व्याह, दहेज तथा अट्टालिकाओं के निर्माण में व्यय कर दिया करते थे। व्यापारियों में पूँजीपति परिवारों की संख्या वैसे भी उँगलियों पर ही गिनी जा सकती थी। ऐसी परिस्थिति में रूढ़िवादी प्राच्य आर्थिक व्यवस्था पश्चिम की प्रगतिशील अर्थनीति की टक्कर में न टिक पाई, तो आश्चर्य ही क्या था!

हमारी दोषपूर्ण सैन्य व्यवस्था भी हमारे पराभव का कारण सिद्ध हुई। भारतीय नवीन वैज्ञानिक युद्ध-संचालन से सर्वथा अनभिज्ञ थे। नए ढंग के हथियारों की पूर्ति के लिए उन्हें केवल विदेशियों का ही मुँह ताकना पड़ता था!

उपर्युक्त विवरण से कहीं यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस देश पर अंगरेजों की विजय सदाचार की अनाचार पर, धर्म की अधर्म पर, पुण्य की पाप पर और अनीति पर नीति की विजय थी! जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, इंगलैंड का समकालीन नैतिक स्तर एवं व्यवहार उन दिनों किसी भी प्रकार अनुकरणीय एवं आदर्श नहीं था।

वस्तुतः यह विजय-गाथा क्या थी, वह योरपीय औपनिवेशिक साम्राज्यवादियों द्वारा विषम परिस्थितियों से ग्रस्त इस देश की कमजोरियों से लाभ उठा लिए जाने की एक कहानी थी!

मराठे, सिक्ख और मैसूर के सुलतान — परन्तु यह सब होते हुए भी अंगरेजों के हाथों में इस देश की सत्ता यों ही नहीं आ गई—उन्हें पग-पग पर तत्कालीन भारतीय शक्तियों के कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा! इन शक्तियों में मुख्य थे मराठा, सिक्ख और मैसूर के सुलतान, जिन्होंने विदेशी आक्रामकों को अपने-अपने क्षेत्र में डटकर चुनौती दी थी। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि शिवाजी के बाद मराठा शक्ति का अपूर्व उत्कर्ष हुआ था और एक समय तो उसका झंडा ठेठ उत्तर से दक्षिण तक फहराने लगा था! स्वयं शिवाजी के उत्तराधिकारी तो लचर निकले, फिर भी शासन की बागडोर उन वंशानुगत ब्राह्मण प्रधानामात्यों के हाथों में लगभग एक शताब्दी तक सुरक्षित बनी रही, जो 'पेशवा' कहलाते थे। इन पेशवाओं में बालाजी विश्वनाथ (१७१३-१७२० ई०) और बाजीराव प्रथम (१७२०-१७४० ई०) बड़े प्रतापी हुए। बाजीराव प्रथम ने गुजरात, मालवा, बरार, बुंदेलखंड आदि को जीतकर तथा निजाम और कर्नाटक प्रदेश से 'चौथ'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वसूल करके मराठों का प्रभुत्व बहुत बढ़ा दिया था। उसके उत्तराधिकारी बालाजी बाजीराव के समय में भी यद्यपि मराठा-राज्य के विस्तार का क्रम अनवरत जारी रहा, परन्तु अब भोंसले, सिंधिया, होल्कर, गायकवाड़ आदि मराठा सरदारों की शक्ति-वृद्धि होने से परस्पर दलबंदी की शुरुआत हो गई, जो अन्ततोगत्वा मराठा-साम्राज्य को ले डूबी। १७६१ ई० में पानीपत के तीसरे युद्ध में अहमदशाह अब्दाली के हाथों अपनी पराजय से मराठों का दबदबा पहले जैसा नहीं रह गया। यद्यपि माधवराव, नारायणराव, सवाई बाजीराव द्वितीय आदि उत्तरकालीन पेशवाओं के जमाने में नाना फड़नवीस नामक एक कुशल कूटनीतिज्ञ का सहारा पाकर पेशवाई का झंडा फहराता रहा, परन्तु मराठा शक्ति की रीढ़ वस्तुतः भंग हो चुकी थी। अब महादजी सिंधिया तथा तुकोजी होल्कर जैसे मराठा सरदार अपनी-अपनी स्वतंत्र राजसत्ता की नींव डालकर पेशवा के प्रति नाममात्र की ही भक्ति प्रदर्शित करते थे। मराठों की इस आपसी फूट तथा निजाम आदि के साथ उनकी रंजिश से अंगरेजों को अपना राज्य-विस्तार करने में आसानी हो गई। यद्यपि १७७५ ई० से १८१८ ई० के बीच उन्हें मराठों के साथ चार बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं, परन्तु बार-बार संधि करके मराठे अपने अधीनस्थ प्रदेशों को खोते चले गए और उनके आंतरिक मामलों में अंगरेजों के हस्तक्षेप का दौरदौरा निरंतर बढ़ता ही चला गया! आखिरकार १८१८ ई० में पेशवा बाजीराव द्वितीय को उन्होंने ८ लाख सालाना पेंशन देकर कानपुर के पास बिठुर नामक स्थान में रहने को विवश कर दिया और मराठा-राज्य का बहुत-सा भाग हड़प लिया। उधर सिंधिया और होल्कर के इलाके भी सीमित कर दिए गए और नियंत्रण के लिए रेजीडेंट मुकर्रर करके उनके राज्य में अंगरेजी सेना की टुकड़ियाँ थोप दी गईं।

मराठों के अलावा मैसूर के सुलतान हैदरअली और उसके पुत्र टीपू ने भी अंगरेजों के साथ डटकर लोहा लिया था। इस संघर्ष में पहले तो अंगरेजों के पैर उखड़ चले, परन्तु बाद में उन्होंने हैदरअली को हरा दिया। लेकिन इससे लड़ाई खतम नहीं हो पाई। हैदरअली के बाद उसके पुत्र टीपू ने युद्ध जारी रखते हुए अंगरेजों को इस देश से बाहर निकालने की जबर्दस्त योजनाएँ बनाईं। उसने मराठों और निजाम से भी इस अनुष्ठान में योग देने का प्रस्ताव किया, साथ ही इस संबंध में मदद के लिए देश से बाहर तुर्की, अफगानिस्तान और फ्रांस से साँठ-गाँठ करने का भी यत्न किया! जब १७९९ ई० में श्रीरंगपट्टन के युद्ध में लड़ते हुए टीपू मारा गया, तो दक्षिण भारत में अंगरेजों के खिलाफ प्रतिरोध लगभग समाप्त हो गया।

अपने साम्राज्य-विस्तार के क्रम में अंगरेजों को जिस प्रकार देश के दक्षिणी और मध्य क्षेत्रों में मराठों तथा मैसूर के सुलतानों से लोहा लेना पड़ा, उसी प्रकार उत्तरी भारत में उनका सामना पंजाब के सिक्खों की सैनिक शक्ति से हुआ। अपने महान् शासक रणजीतसिंह (१७८०-१८३९ ई०) के नेतृत्व में सिक्खों का राज्य समस्त पंजाब पर छा गया था और उसकी पश्चिमी सीमाएँ ठेठ पेशावर तक जा पहुँची थीं। रणजीतसिंह ने स्वयं तो १८०९ ई० में अमृतसर की संधि करके अंगरेजों के साथ मैत्री और शांति का संबंध बनाए रखा, परन्तु उनकी मृत्यु के बाद सिक्खों के साथ अंगरेजों के संबंध बिगड़ गए, जिसके परिणामस्वरूप १८४५ से १८४९ ई० के बीच उनमें परस्पर दो बड़े युद्ध हुए। अन्त में आपसी फूट, सरदारों के विश्वासघात तथा शत्रु की कूटनीति से परास्त होकर सिक्खों को अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा। इस प्रकार १८५६ ई० तक, विविध हथकंडों से काम लेकर ईस्ट इंडिया कंपनी ने देश के सभी भूभागों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर भारत की प्रभुसत्ता हड़प ली।

१८५७ ई० की भारतीय क्रांति

साम्राज्यवादी शक्तियाँ जिनके ऊपर शासन करना चाहती हैं, उनकी सभ्यता, साहित्य एवं भाषा पर वे सुधार के नाम पर सब से पहले आघात करती हैं। अंगरेजों ने भी भारत में, ईसाई धर्म को प्रोत्साहन देकर तथा प्राचीन भारतीय विद्या एवं साहित्य को व्यर्थ बताकर, अंगरेजी को राज्य-भाषा बनाया और उसके माध्यम द्वारा पाश्चात्य प्रणाली की शिक्षा दे अपने शासन की नींव पक्की करनी चाही। इससे यहाँ के निवासियों में असंतोष जगना स्वाभाविक ही था। उधर तरह-तरह के बहानों से देशी राज्यों के अपहरण द्वारा धीरे-धीरे अपने साम्राज्य-विस्तार की उनकी नीति भी असह्य हो रही थी। ऐसी परिस्थिति में "स्वधर्म एवं स्वदेश" की रक्षा के लिए लुक-छिपकर विद्रोह की एक भावना भीतर ही भीतर सुलगने लगी। इस भावना ने आखिर १८५७ ई० की क्रान्ति के रूप में एक लपट का स्वरूप धारण कर अपनी स्पष्ट अभिव्यक्ति की! उक्त विद्रोह को प्रज्वलित करने में जहाँ बाहरी दिखावे में कारतूसों में गाय की चरबी के प्रयोग आदि की चर्चा जैसी घटनाओं ने प्रचुर योग दिया, वहाँ उसे एक प्रचंड लपट में परिणत करने का श्रेय वस्तुतः देश की स्वतंत्रता के पुजारी उन कतिपय उद्भट क्रान्तिकारी नेताओं के अथक प्रयासों को था, जिन्होंने चुपके-चुपके गाँव-गाँव, प्रान्त-प्रान्त में घूम-घूमकर अंगरेजों को इस देश से बाहर निकाल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भगाने के सुनिश्चित कार्यक्रम को मूर्त रूप प्रदान किया और क्रांति के श्रीगणेश की योजना निर्धारित की।

१८५७ ई० की इस सशस्त्र क्रांति ने भारत में ब्रिटिश सत्ता को गहरी चोट पहुँचाई। अंगरेजों को भारत से मार भगाने का यह प्रथम सम्मिलित जनप्रयास था। यद्यपि यह क्रांति संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश), बिहार, बंगाल तथा मध्य-भारत तक ही सीमित थी, तथापि उसकी भावना अन्य स्थानों में भी फैले बिना न रही। इस क्रान्ति का स्वरूप सर्वथा राष्ट्रीय था——उसमें फौजी सिपाही, सामान्य नागरिक, राजा-रंक, हिन्दू-मुसलमान सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे। इस विद्रोह के तीन प्रमुख केन्द्र थे——दिल्ली, कानपुर तथा लखनऊ। दिल्ली में नाममात्र के अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह द्वितीय ने इस क्रान्ति के साथ घनिष्ट रूप से सहयोग किया था। कानपुर से अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब ने उसका सूत्र-संचालन किया। उधर अवध के असंतुष्ट लोगों ने लखनऊ में अपना अड्डा जमाकर विद्रोह के इस महान् अनुष्ठान में योग दिया।

इस क्रान्ति की शुरुआत मार्च, १८५७ ई०, में कलकत्ते के समीप बैरकपुर की छावनी में अंगरेजों के अधीन देशी सैनिकों की एक टुकड़ी के विद्रोह से हुई। इन विद्रोहियों का नेता था मंगल पांडे, जो इस स्वातंत्र्य-संग्राम का प्रथम शहीद हुआ। बैरकपुर की घटना के शीघ्र ही बाद मेरठ, दिल्ली, लखनऊ और कानपुर में भी विद्रोहाग्नि प्रचंड हो उठी! मेरठ में कई अंगरेज अफसरों का काम तमाम कर दिया गया और खजाना लूट लिया गया। दिल्ली में बहादुरशाह को बादशाह घोषित करके फिरंगियों को देश से बाहर निकालने का नारा बुलंद किया गया। लखनऊ में ब्रिटिश रेजीडेन्सी की इमारत को घेर लिया गया और कानपुर में भारी खजाना तथा तोपखाना कब्जे में कर लिया गया। सब कहीं विद्रोही सैनिकों के क्रोध की लपेट में आकर गोरों को अपनी जान के लाले पड़ गए।

देखते-देखते क्रान्ति की यह आग बंगाल, बिहार, वर्तमान उत्तरप्रदेश तथा मध्यभारत तक देश के लंबे-चौड़े क्षेत्र में फैल गई। उससे अपनी रक्षा करने के प्रयत्न में पहले तो अंगरेजों को लोहे के चने चबाने पड़ गए, परन्तु अंत में अपने सैनिक संगठन की बदौलत वे विद्रोह की इस लपट को बुझाने में सफल हो गए!

यद्यपि यह महान् स्वातंत्र्यानुष्ठान सफल नहीं हो पाया, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उसकी यशोगाथा भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के एक चिरस्मरणीय अध्याय के रूप में सदैव याद की जाती रहेगी।

प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम के क्रांतिकारी नेता

इस स्वातंत्र्य-युद्ध के नेताओं में नाना साहब, रानी लक्ष्मीबाई, ताँतिया तोपे, मंगल पाण्डे, कुँअरसिंह, बादशाह बहादुरशाह, अजीमुल्ला खाँ, बेगम हजरत महल, तथा अहमदउल्ला आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नाना साहब—नाना साहब को सन् ५७ की क्रांति का मस्तिष्क एवं नायक कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनका जन्म १८२४ ई० में महाराष्ट्र के वेणू नामक एक छोटे-से ग्राम के एक निर्धन ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम माधवराव तथा माता का गंगाबाई था। अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय, १८१८ ई० में अंगरेजों द्वारा सिंहासनाच्युत कर दिए जाने के उपरांत, उनसे आठ लाख मुद्रा वार्षिक पेंशन प्राप्त करके, कानपुर के निकट गंगा-तट पर स्थित बिठुर नामक स्थान में रहने लगे थे। पेशवा बाजीराव की उदारता एवं दानशीलता से आकर्षित होकर अनेक परिवार महाराष्ट्र छोड़कर बिठुर में ही आकर बस गए थे। १८२७ ई० में बेचारे माधवराव भी सपरिवार पेशवा की शरण में आ बसे। उनका पुत्र नानाराव शीघ्र ही पेशवा की आँखों का तारा बन गया। निःसंतान होने के कारण पेशवा ने ढाई वर्ष के नानाराव को गोद ले लिया और इस प्रकार वह निर्धन ब्राह्मण-पुत्र पेशवा का उत्तराधिकारी बन गया! १८५१ ई० में पेशवा का देहावसान हो गया। यद्यपि अपनी मृत्यु के पहले एक वसीयतनामा द्वारा बाजीराव ने पेशवाई के सारे अधिकार एवं स्वत्व नाना साहब को प्रदान कर दिए थे तथा स्पष्ट शब्दों में उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था, फिर भी पेशवा की मृत्यु पर अंगरेजों ने नाना साहब को पूर्ववत् आठ लाख रुपये की पेंशन देना बंद कर दिया! ईस्ट इंडिया कंपनी की इस नीति के विरोध में नाना साहब ने एक कड़े पत्र सहित अपना एक राजदूत इंगलैंड भेजा!

नाना बड़े उदारचेता, सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति थे। स्वाभिमान और देशभक्ति की भावना उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। जब अंगरेजों ने नाना की अपील एवं प्रार्थना को ठुकरा दिया और उनका राजदूत इंगलैंड से असफल होकर लौट आया, तो उन्होंने मन ही मन फिरंगियों से लोहा लेने की ठानी। कृतसंकल्प हो वह विभिन्न असंतुष्ट भारतीय नरेशों का सम्मिलित मोर्चा बनाकर अंगरेजों को इस देश से बाहर खदेड़ने का ताना-बाना बुनने लगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने स्थान-स्थान में गुप्त संगठन किए और अपने राजनीतिक विचारों के प्रचारार्थ छद्मवेश में देश भर में अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विश्वासी एजेण्टों को भेजा। इस प्रकार वह एक राष्ट्रीय क्रांति के सूत्रधार बन गए।

१८५६ ई० में नाना साहब ने तीर्थयात्रा के बहाने उत्तर भारत के कई एक नगरों की यात्रा की और वहाँ असंतोष की ज्वाला से विदग्ध अनेकों देशभक्तों से भेंट करके उनसे गुप्त मंत्रणाएँ कीं। इस प्रकार क्रांति की एक महती योजना बनाई गई, जिसका मुख्य कार्यक्रम था विविध छावनियों में अँगरेजों के अधीन भारतीय सैनिकों में एक साथ विद्रोह कराकर स्थान-स्थान में जनता द्वारा भी विप्लव का शंख निनादित कराना। यह भी तय किया गया कि देश को अंगरेजों के चंगुल से छुड़ा लेने के बाद नाममात्र के अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह को स्वतंत्र भारत का भावी अध्यक्ष बनाया जाय। मई, १८५७ ई०, में मेरठ में विप्लव की आग भड़क उठने की खबर कानपुर पहुँचते ही कूटनीतिज्ञ नाना ने स्थानीय अंगरेज सैनिक अधिकारी को चकमा देकर वहाँ का खजाना हथिया लिया और कई हाथियों सहित तोपखाना भी अपने कब्जे में कर लिया। तदनंतर विधिवत् युद्ध की घोषणा कर के उन्होंने अंगरेजी बारकों पर धावा बोल दिया ! जब अंगरेजों ने घुटने टेक दिए, तो नाना ने उन्हें नावों द्वारा सपरिवार इलाहाबाद जाने की इजाजत दे दी। पर अंगरेज तय की गई शर्तों का उल्लंघन करके बहुत-सा गोला बारूद लेकर नावों पर चढ़ने को गंगा-तट पर पहुँचे और नावों में अकस्मात आग लग गई। अंगरेज सैनिक तट की ओर लौटने लगे। गंगा के दोनों किनारों पर क्रान्तिकारी सेना का जमघट लगा था। अतः लौटते हुए अंगरेजों को गोली चलाकर किनारे पर आने से रोका गया। इस गोलीकाण्ड में कई जानें गईं। अंगरेजों ने इसे हत्याकांड का रूप दिया। परन्तु स्वयं नाना साहब का इस अमानुषिक कृत्य में तनिक भी हाथ नहीं था।

कानपुर से अंगरेजों का सफाया हो जाने पर १ जुलाई, १८५७ ई०, के दिन नाना साहब ने पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा करके विधिवत् पेशवा की उपाधि ग्रहण की, जिसके उपलक्ष में तोपें दागकर बिठुर में उत्सव मनाया गया। इस समय तक क्रान्ति की लपटें ने लखनऊ, इलाहाबाद आदि सभी स्थानों में प्रचंड रूप धारण कर लिया था। जगह-जगह अंगरेजी सेना की टुकड़ियों से क्रान्तिकारी सेना की मुठभेड़ें जारी थीं। जान पड़ता था, फिरंगियों के पैर अब उखड़े और अब विदेशी सत्ता की इतिश्री हुई ! परंतु अभी तो लगभग एक शताब्दी तक ब्रिटिश झंडा इस देश में और भी फहराते रहना बाकी था। फलतः यह क्रान्ति विफल रही। अंगरेजों ने देश के अन्य भागों से कुमुक मँगाकर अपनी सैनिक स्थिति मजबूत कर ली। नाना ने स्वतः कानपुर और उसके समीप बिठुर तथा फतेहपुर में अंगरेजों से तीन-चार लड़ाइयाँ लड़ीं। पर अंत में उन्हें बिठुर छोड़ने को मजबूर होना पड़ा। वह दल-बल सहित रुहेलखंड की ओर खिसक गए और जब अंगरेजों ने उन्हें पकड़ने के लिए एक लाख रुपये का इनाम घोषित किया, तो बहराइच की ओर बढ़कर वह नेपाल की तराई में गायब हो गए। कहते हैं, क्रान्ति के असफल हो जाने पर वह नेपाल चले गए थे। उनकी मृत्यु कब हुई, कोई भी नहीं जानता।

सन् सत्तावन की भारतीय क्रान्ति के महान् सूत्रधार नाना साहब।

रानी लक्ष्मीबाई—जिन दिनों ब्रह्मावर्त्त में नाना साहब अपनी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर रहे थे, उन्हीं दिनों काशी की पवित्र नगरी में एक महाराष्ट्रीय परिवार में एक लड़की ने जन्म लिया (१८३५ ई०)। उसका बचपन का नाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनू था। यह लड़की जब तीन-चार वर्ष की थी, तभी उसके माता-पिता काशी छोड़कर पेशवा की छत्रछाया में ब्रह्मावर्त्त (बिठुर) चले आए। पेशवा-दरबार की लाड़ली होने के कारण लोग अब उसे 'छबीली' कहकर पुकारने लगे। नाना और 'छबीली' दोनों साथ-साथ खेलते, शस्त्रास्त्र चलाते तथा घुड़सवारी करने की शिक्षा प्राप्त करते। प्रत्येक यम-द्वितीया तथा रक्षाबंधन के दिन वे दोनों भाई-बहन के रिश्ते की रस्म अदा करते थे! १८४२ ई० में 'छबीली' का विवाह झाँसी-नरेश महाराजा गंगाधरराव के साथ कर दिया गया। इस प्रकार वह झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई के नाम से प्रख्यात हुई।

१८५३ ई० में अपने पति की मृत्यु के उपरान्त जब लक्ष्मीबाई ने दामोदरराव को गोद लिया, तो कंपनी ने उसके राज्य को हड़पने की कूट चाल खेली! इस अन्याय से तड़पकर रानी घायल सिंहिनी बन गई और उसने घोषणा की कि "मैं किसी भी दशा में झाँसी नहीं दूँगी!" अतः जिस समय नाना साहब कानपुर में स्वतंत्रता का ध्वजोत्तोलन कर रहे थे, रानी लक्ष्मीबाई ने भी झाँसी का किला छीनकर अपना स्वतंत्र झण्डा फहरा दिया! उसकी इस कार्रवाई से खीझकर अंगरेजों ने जब झाँसी की ओर अपनी सेना बढ़ाई और किले का घेरा डाल दिया, तो रानी ने किले की बुर्जों पर बड़ी-बड़ी तोपें चढ़ा दीं और वहाँ प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री तथा गोला-बारूद जुटा लिया। दोनों ओर से आठ दिनों तक घमासान गोलाबारी हुई। रानी गोलंदाजों के पास जाकर स्वयं उनका उत्साह बढ़ाती रही। उसके सैनिक नगर की चहारदीवारी पर भी जूझ रहे थे। अंत में अंगरेजी सेना ने नगर पर कब्जा कर लिया और रानी के बहुतेरे वीर खेत रहें! आखिर अपने परामर्शदाताओं के अनुरोध पर रात्रि के समय घोड़े पर सवार होकर रानी किले से निकल गई। उसने पीठ पर अपने दत्तक पुत्र को बाँध रक्खा था। सरपट घोड़ा दौड़ाते हुए वह काल्पी में तात्या तोपे से जा मिली। वहाँ पुनः घमासान युद्ध हुआ। अंत में जब वहाँ भी क्रान्तिकारियों के पैर उखड़ गए, तो रानी बची-खुची सेना लेकर गवालियर की ओर बढ़ी। सिंधिया गवालियर से भाग खड़ा हुआ और रानी ने महल में प्रवेश करके वहाँ पेशवा का झंडा फहरा दिया। गवालियर का खजाना और गोला-बारूद पाकर क्रान्ति-सेना के हाथ पुनः मजबूत हो गए। अंगरेजी सेना ने गवालियर पर धावा बोल दिया और पुनः घनघोर युद्ध हुआ। इसी युद्ध में १७ जून, १८५८ ई०, के रोज लड़ते-लड़ते महारानी लक्ष्मीबाई ने वीरगति पाई।

ताँतिया तोपे—ताँतिया तोपे सन् सत्तावन के स्वातंत्र्य-समर का एक रण-बाँकुरा सैनिक नेता था। उसके पिता पाण्डुरंग भट्ट पेशवा बाजीराव के दानाध्यक्ष थे। कहते हैं, ब्रह्मावर्त्त-स्थित पेशवा के राजमहल के प्रांगण में नाना, लक्ष्मीबाई तथा ताँतिया तोपे की एक संग बाल-क्रीड़ाएँ हुआ करती थीं। बाल्यावस्था के ये तीनों साथी भारत के प्रथम स्वातंत्र्य-समर के अग्रणी नेता एवं निर्भीक सैनिक सिद्ध हुए। क्रांति की योजनाएँ तैयार करने में तांँतिया की प्रतिभा अद्वितीय थी। कानपुर और गवालियर के पतन के पश्चात् क्रांतिकारियों की बिखरी हुई शक्ति का सुसंगठन करके तांँतिया ने अंगरेजों से प्रबल मोर्चा लिया और अपने असाधारण गुरिल्ला-युद्ध द्वारा उनके दाँत खट्टे कर दिए। वह कभी जयपुर में दिखाई दिया, तो कभी टोंक में! कभी उदयपुर, झालरापाटन और इंदौर पर उसने छापा मारा, तो कभी नर्मदा पार करके वह ठेठ नागपुर की ओर बढ़ चला! बरसात में उफनती हुई चंबल, बेतवा और नर्मदा जैसी नदियों को पार कर रातोंरात पचासों मील दूर पहुँच छापा मारना उसके बाएँ हाथ का खेल था! उसकी अद्भुत सैनिक प्रतिभा और तीव्र गति से यहाँ-से-वहाँ तक दौड़ लगाने की अद्वितीय क्षमता देखकर अंगरेज आश्चर्य में पड़ जाते थे। अंत में एक विश्वासघाती के छल से वह पकड़ लिया गया और अप्रैल, १८५९ ई०, में उसे फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

कुँवरसिंह—१८५७ के क्रांतिकारी नेताओं में बिहार-केसरी बाबू कुँवरसिंह का भी विशिष्ट स्थान था! यह अदम्य उत्साही शूरवीर शाहाबाद जिले की जगदीशपुर रियासत का स्वामी था और स्वराज्य एवं स्वधर्म की रक्षा के हेतु अस्सी वर्ष की आयु में भी जवानों के-से जोश से उद्वेलित हो उठा था। उसने देश भर की गुप्त क्रांतिकारी संस्थाओं के साथ संपर्क स्थापित करके अपने प्रदेश में अंगरेजों के खिलाफ एक प्रचंड विद्रोहाग्नि जगा दी थी! पटना के सैकड़ों फौजी सिपाहियों से गुप्त ढंग से सम्पर्क स्थापित करके कुँवरसिंह अंत में अपने दल-बल सहित स्वातंत्र्य-समराग्नि में कूद पड़ा। उसके सिपाही श्यामवर्ण का पहनावा पहने थे, ताकि श्वेतांगों से वे भिन्न पहचाने जाते रहें। यद्यपि जगदीशपुर उसके हाथों से निकल गया, तथापि कुँवरसिंह हताश नहीं हुआ। उसका तो यही कहना था कि जहाँ-कहीं भी मेरा आवास होगा, जगदीशपुर वहीं रहेगा! गुरिल्ला युद्ध-कला में कुँवरसिंह की बराबरी केवल तांँतिया तोपे ही कर सकता था। इस शूरवीर ने पटना, आरा, जगदीशपुर, रीवाँ, बाँदा, कानपुर, आजमगढ़, गाजीपुर आदि विविध स्थानों में क्रांति के अनुष्ठान में योग देकर अंगरेजी सेना से मोर्चा लिया और अंत में युद्ध में घायल होकर वीरगति प्राप्त की!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मंगल पांडे—मंगल पांडे जन्म से तो ब्राह्मण, पर कर्म से क्षत्रिय थे। सन् ५७ के स्वातंत्र्य-समर के वही प्रथम शहीद हुए। वह कलकत्ता के निकट बैरकपुर की छावनी में अंगरेजी फौज के एक सैनिक थे। मंगल पांडे अपने धर्म और देश को प्राण से भी प्यारा समझते थे। इसीलिए जब अंगरेजी सेना में नए प्रकार के कारतूसों में गाय की चरबी के उपयोग की बात सुनी गई, तो उन्होंने अन्य अनेक साथियों सहित जान पर खेलकर ऐसे कारतूसों को काम में लाने से साफ इंकार कर दिया ! जब सैनिक अधिकारी इन विद्रोहियों का दमन करने पर तुल गए, तो वीर मंगल पांडे ने अपने साथियों में क्रान्ति की लपट जगाते हुए कई अंगरेज अफसरों का काम तमाम कर डाला ! इस पर उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। पर मंगल पाण्डे इतने लोकप्रिय थे कि उनके गले में फाँसी डालने के लिए कोई भी जल्लाद बैरकपुर में आगे नहीं आया ! अंत में कलकत्ते से बुलाए गए चार जल्लादों ने इस अमर शहीद के गले में फाँसी की रस्सी डाली ! स्वर्ग सिधारते हुए मंगल पांडे गरजकर बोले—"मैं षड्यंत्रकारियों का नाम नहीं बताऊँगा।"

मुगल बादशाह बहादुरशाह—जिन दिनों नाना साहब के गुप्त प्रतिनिधि भारतीय नरेशों के दरबारों में जा-जाकर उन्हें स्वातंत्र्य-समर में सम्मिलित होने की प्रेरणा प्रदान कर रहे थे, उन्हीं दिनों नाममात्र के मुगल सम्राट् बहादुर शाह के दिल्ली-दरबार में भी क्रांति का बीजारोपण हो रहा था। अंगरेजों द्वारा अपनी पैतृक बादशाहत से वंचित कर दिए जाने के उपरान्त बहादुरशाह तथा उसकी दृढ़-प्रतिज्ञ बेगम जीनत महल ने क्रांति द्वारा अपने खोये हुए वैभव की पुनर्प्राप्ति का सुअवसर देख अंग्रेजों के विरुद्ध ईरान के शाह के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित कर लिया, क्योंकि उन दिनों इंगलैंड तथा ईरान के बीच युद्ध चल रहा था। दिल्ली की जनता में क्रांतिकारी मनोवृत्ति उत्पन्न करने के लिए बादशाह ने समय-समय पर कई घोषणाएँ भी प्रकाशित कीं, जिनका अभिप्राय वृद्ध और युवा, बड़े और छोटे, सैनिक और असैनिक सभी में अंगरेजों के विरुद्ध उत्तेजना उत्पन्न करना था। मेरठ के क्रांतिकारियों के दिल्ली पहुँचने पर और उनकी प्रार्थना पर बहादुरशाह ने उनका नेतृत्व ग्रहण करना स्वीकार कर लिया और दिल्ली में ढिंढोरा पीट दिया गया कि महमूद गजनी के समय से निरंतर चले आनेवाले हिंदू-मुस्लिम संघर्ष तथा घृणा का आज से अंत होता है और ये दोनों भाई-भाई हैं, क्योंकि भारतमाता उन दोनों की ही जननी है ! इस प्रकार दिल्ली में हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों ने सर्व-सम्मति से राष्ट्रीय स्वतंत्रता का झण्डा उठाया ! यद्यपि सन् ५७ का यह क्रान्ति का महान् अनुष्ठान विफल रहा और बहादुरशाह का सपना पूरा न हुआ, फिर भी देश के इतिहास में वह सदा के लिए अमर हो गए ! उन्हें कैद करके देश से निर्वासित कर दिया गया और अपने अंतिम दिन उन्होंने रंगून में काटे ! वहीं १८६२ ई० में उन्होंने अपनी आँखें मूँदी !

अनेक शहीदों के रक्तपात के बावजूद सन् ५७ का प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम असफल ही रहा, इसका कारण क्रांतिकारियों में संगठन एवं योग्य नेतृत्व की कमी थी। पर इस क्रान्ति के फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी की इति-श्री हो गई और इंगलैंड को भारत के प्रति अपनी प्रशासन-नीति बदलनी पड़ी। अब इंगलैंड को भारतीय शासन में भारतवासियों को बिना किसी भेद-भाव के भाग लेने की योजना बनानी पड़ी तथा उनके सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के प्रति निरपेक्षता तथा सहिष्णुता की नीति अपनानी पड़ी। भारतवासियों ने भी इस असफल प्रयोग से यह भली-भाँति समझ लिया कि रक्तमय क्रांति से उनका काम नहीं चलेगा।

चीन में उथलपुथल

शुंग-शासन के उपरांत लगभग एक शती (१२७९-१३६८ ई०) तक चीन में विदेशी मंगोलों (युवान-वंश) का शासन रहा था, जिसका सब से प्रसिद्ध शासक कुबलाई खाँ था। चौदहवीं शताब्दी में विदेशी मंगोलों को हटाकर उनके स्थान पर मिंग-वंश की स्थापना हुई। इस वंश ने चीन में लगभग पौने तीन सौ वर्षों तक राज्य किया। मिंग-वंशी राजाओं के शासनकाल में कई बार जापान ने चीन के पूर्वी समुद्र-तट पर आक्रमण किया। फिर भी इस युग में चीन में धन-जन की अपार वृद्धि हुई एवं नगरों, भवनों, नहरों तथा दुर्गों का प्रचुरता से निर्माण हुआ। मिंग-नरेशों ने योरप के साथ भी संपर्क स्थापित किया।

सत्रहवीं शताब्दी में मंचूरिया में रहनेवाले विदेशी मांचू लोगों ने चीन पर प्रहार करके पेकिंग पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार जिस नए वंश का शासन चीन में स्थापित हुआ, उसमें कांग-सी (१६६१-१७२२ ई०) तथा चि-येन लुंग (१७३६-१७९६ ई०) नामक दो सम्राट् विशेष रूप से उल्लेखनीय हुए। कांग-सी फ्रांस के लुई चतुर्दश, रूस के पीटर महान् तथा भारत के मुगल बादशाह औरंगजेब का समकालीन था। चि-येन लुंग के शासनकाल में मांचू राज-वंश अपनी उन्नति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने के बाद शनैः-शनैः ढल चला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मांचू नरेशों के जमाने में अंगरेज, फ्रांसीसी, इटैलियन, जर्मन, अमेरिकन तथा रूसी आदि सभी पश्चिमी जातियों के व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक चीन में प्रविष्ट हुए। उनके संपर्क से उन्नीसवीं शती में आकर चीन पाश्चात्य प्रभावों द्वारा बहुत-कुछ नए साँचे में ढलने लगा।

चीन में विदेशी मांचू शासन लोकप्रिय नहीं हो सका और समय-समय पर उसके विरोध में जन-प्रवृत्तियाँ जागरित होती रहीं। इनका सब से सशक्त विस्फोट 'तायेपिंग-विद्रोह' के रूप में हुआ, जो मांचू शासन के तख्ते को उलट देने के लिए ही किया गया था (१८६५ ई०)। 'तायेपिंग' एक धार्मिक संप्रदाय या संस्था थी, जिसके सदस्य चीनी जनता को यही शिक्षा देते थे कि 'ईश्वर में विश्वास रक्खो और मांचू सम्राट् को पेकिंग के बाहर खदेड़ दो!' यद्यपि यह विद्रोह असफल रहा, तथापि उसने भावी क्रांति के लिए एक आदर्श स्थापित कर दिया।

योरपियनों के संपर्क में आने तथा पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन करने के कारण चीन में जो राजनीतिक जागरण प्रारंभ हुआ, उसके फलस्वरूप वहाँ की जनता जापान तथा रूस की तरह शासन में मौलिक सुधार चाहती थी। किंतु मांचू शासकों ने उक्त सुधारवादी आंदोलन को सर्वथा कुचल दिया और असंतुष्ट जनता को योरपियनों के विरुद्ध भड़काना शुरू किया! इसका परिणाम 'बॉक्सर-विद्रोह' (१९०० ई०) के रूप में प्रकट हुआ, जिसमें चीन में बसनेवाले योरपियनों का भीषण रक्तपात हुआ। बाद में इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस, जर्मनी, जापान, संयुक्त राज्य (अमेरिका), इटली तथा ऑस्ट्रिया की सम्मिलित सेनाओं के बल से चीन में साम्राज्यवादी शक्तियों की जड़ पहले से भी मजबूत बना दी गई। इससे मांचू-विरोधी भावनाओं को और भी अधिक उत्तेजना मिली।

जिन दिनों जापान तथा योरप की साम्राज्यवादी शक्तियाँ चीन को कई एक टुकड़ों में बाँटकर उसे नोच-खसोट रही थीं, उसी समय डॉक्टर सुन-यात-सेन के रूप में एक असाधारण नेता पाकर चीन की संतप्त जनता को प्रतिक्रियावादी शासन के तख्ते को उलट देने के लिए नया बल और साहस मिला। सुन-यात-सेन ने गुप्त संस्थाओं का संगठन करके जनता तथा सरकारी पदाधिकारियों में एक प्रबल क्रांतिकारी भावना पैदा कर दी। उन्होंने अपने आन्दोलन की सफलता के लिए कई बार विदेशों में भी जाकर प्रचार किया तथा धन एकत्रित किया। उधर 'कूमिण्टांग' नामक एक राष्ट्रीय दल का संगठन करके उन्होंने अपने तीन सिद्धान्तों––राष्ट्रीयता, लोकतंत्र तथा सामाजिक एवं आर्थिक सुधार––का नारा बुलन्द किया और क्रान्तिकारी आन्दोलन को सबल बनाना शुरू किया। अंत में १९११ ई० में चीन में क्रांति की ज्वाला भभक उठी, जिसके फलस्वरूप मांचू सम्राट् को सिंहासन छोड़कर भागना पड़ा। इस प्रकार वहाँ पहले-पहल प्रजातंत्र की स्थापना हुई। डॉ० सेन ही इस गणतंत्र के अस्थायी अध्यक्ष चुने गए।

किंतु इससे देश में राजनीतिक शांति एवं एकता स्थापित न हो सकी। कारण, उत्तर तथा दक्षिण के प्रांतों में गहरा मतभेद था, जिससे वे एकता के सूत्र में बँधकर शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार स्थापित करने में असमर्थ रहे। इस आंतरिक दुर्व्यवस्था और गृहयुद्ध से लाभ उठाकर जापान चीन को बराबर रौंदता रहा। १९२५ ई० में सुन-यात-सेन भी चल बसे।

सुन-यात-सेन के पश्चात् चीन में मार्शल च्यांग-काई-शेक का उदय हुआ (१९२७ ई०)। उन्होंने प्रबल आंतरिक विरोध के होते हुए भी देश में एकता स्थापित की और कई सामाजिक एवं आर्थिक सुधार किए। च्यांग-काई-शेक को साम्राज्यवादी जापान से कठिन मोर्चा लेना पड़ा, जिसने बम-वर्षा करके चीन को तहस-नहस कर दिया था। द्वितीय महायुद्ध में पूर्वीय एशिया के अन्य अनेक भूभागों की भाँति जब जापान ने चीन के भी अधिकांश भाग पर अपना पंजा जमा लिया, तो च्यांग-काई-शेक दक्षिणी चीन के दुर्गम पर्वतीय प्रदेश में खिसककर उससे लोहा लेते रहे। युद्धोपरान्त जब पराजित जापान एशियाई भूभाग से हटा, तो चीन में च्यांग के अधीन पुनः राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई। परन्तु उधर धीरे-धीरे साम्यवाद की भी लहर वहाँ प्रवेश कर रही थी। यह लहर कालांतर में इतनी प्रबल हो गई कि मार्शल च्यांग-काई-शेक की राष्ट्रीय सरकार के पैर उखड़ गए और माउ-त्सी-तुंग के नेतृत्व में वहाँ साम्यवादी सरकार का सिक्का जम गया, जिसकी प्रसारवादी नीति आज संसार के लिए भयावह सिद्ध हो रही है।

जापान का उदय

जापान बहुत अरसे तक दुनिया के अन्य देशों से बिल्कुल पृथक् रहा। वहाँ किसी भी विदेशी की पहुँच नहीं हो सकती थी। जापानी लोग अपने सम्राट् 'मिकाडो' को ईश्वर का अवतार मानते थे। कालांतर में मध्यकालीन योरप की भाँति वहाँ भी एक प्रकार की सामंत-प्रणाली का विकास हुआ। इन्हीं दिनों मिकाडो ने एक सामन्त-वंश को विशिष्ट स्थान प्रदान करके उसे 'शगून' की उपाधि दे दी। यह उपाधि वंशानुगत थी। धीरे-धीरे मिकाडो की शक्ति ताकूगवा-वंश के शगून के हाथ में केन्द्रित हो गई, जिसके फलस्वरूप ढाई सौ वर्षों तक (१६०३-१८६८ ई०) जापान का वाह्य संसार से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रहा। जापान के इतिहास में ताकूगवा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काल सर्वोत्तम युग माना गया है; कारण इन दिनों वहाँ के प्राचीन कला-कौशल की बहुत उन्नति हुई थी।

१९वीं शताब्दी में जापानी सौदागरों ने अन्य कुछ असंतुष्ट श्रेणियों की सहायता से शगून शासन का अन्त करके बाह्य संसार में प्रवेश कर व्यापार-वृद्धि करनी चाही। इन्हीं दिनों अमेरिका के कमाडोर पेरी ने बड़ी कठिनाई से पहले-पहल जापान में प्रवेश किया (१८५३ ई०)। इसके फलस्वरूप संयुक्त राज्य (अमेरिका) तथा जापान के बीच एक व्यापारिक संधि हो गई (१८५८ ई०)। इस संधि के अनुसार जापान के पाँच बन्दरगाह अमेरिका के लिए खोल दिए गए। तब रूस, हॉलेंड और ब्रिटेन ने भी अमेरिका का अनुसरण किया और १८६७ ई० में आखिरकार जापान के द्वार समस्त संसार के लिए खुल गए।

इस पटपरिवर्तन के परिणामस्वरूप मिकाडो के अधिकारों की पुनर्स्थापना हो गई और सामंत-प्रणाली तथा शगून-शासन का अंत हो गया। नवयुग का श्रीगणेश करनेवाला यह काल इतिहास में 'मीजी युग' के नाम से अभिहित किया जाता है (१८६७-१९१२ ई०)। इस युग में जापान ने चौमुखी उन्नति की और उसकी गणना संसार की प्रबल शक्तियों में होने लगी। इन दिनों सैकड़ों जापानी युवक प्रशिक्षण के लिए योरप और अमेरिका भेजे गए और देश की नाविक शक्ति को बढ़ाने तथा उसकी वैज्ञानिक उन्नति एवं आवागमन के साधनों की पूर्ति करने के लिए योरप से कई विशेषज्ञ बुलाए गए। उधर शासन-सुधार के हेतु पश्चिमी ढंग पर देश का एक नया लिखित संविधान भी तैयार किया गया (१८८९ ई०)।

इसी दौर में जापान ने युद्ध में पड़ौसी चीन से लोहा लिया और उसे पराजित कर दिया (१८९४ ई०)! तदनंतर एक विवाद के फलस्वरूप वह रूस से भी जा भिड़ा! उक्त युद्ध (१९०४-०५) में जब विजयश्री जापान के हाथ लगी, तो पाश्चात्य शक्तियों के आत्म-सम्मान को बड़ी ठेस पहुँची। जापान की इस विजय ने एशिया की जातियों को (जो निर्बल एवं पददलित समझी जाती थीं) नया बल, साहस और प्रोत्साहन प्रदान किया, जिससे उनके अन्दर साम्राज्यवाद का जुआ फेंक देने के लिए उत्साह का संचार हुआ।

लोकतंत्र का विकास

(क) इंगलैंड—रक्तहीन राज्यक्रांति के कारण इंगलैंड में वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो पाई थी। यद्यपि पार्लमेंट के अधिकारों की वृद्धि हो गई थी और मंत्रिमंडल के विकास के कारण उसका नित्य-प्रति के शासन पर नियंत्रण भी स्थापित हो गया था, किंतु वह अभी जन-साधारण की प्रतिनिधि-संस्था नहीं बन पाई थी। उसमें बड़े-बड़े भूमिपतियों का ही बाहुल्य था। १९वीं शताब्दी के विविध सुधारों द्वारा ये त्रुटियाँ दूर की गईं और जनता के मताधिकार में वृद्धि हुई। क्रमशः मध्यम श्रेणी के लोगों, कारीगरों, मजदूरों तथा किसानों को भी मताधिकार दिया गया। गुप्त रीति से पर्चियों द्वारा वोट देने की व्यवस्था की गई और लॉर्ड-सभा के अधिकारों में कमी की गई। उसे धन-संबंधी किसी भी बिल को अस्वीकृत करने का अधिकार अब नहीं रहा। इक्कीस वर्ष की अवस्था के सभी नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया गया और कालांतर में वयस्क स्त्रियों को भी मताधिकार प्राप्त हो गया।

(ख) फ्रान्स—१८४८ ई० की क्रांति के अनन्तर फ्रांस में लुई नेपोलियन की अध्यक्षता में दूसरी बार रिपब्लिक की स्थापना हुई थी। लुई नेपोलियन अपनी लोकप्रियता के कारण १८५२ ई० में नेपोलियन तृतीय के नाम से फ्रांस का सम्राट् बन बैठा! इस प्रकार फ्रांस का द्वितीय जनतंत्र द्वितीय साम्राज्य में परिणत हो गया (१८५२-१८७१ ई०); किंतु इन्हीं दिनों युद्ध में प्रशा द्वारा पराजित होने के कारण नेपोलियन तृतीय को उखड़ना पड़ा और फ्रांस में 'तृतीय रिपब्लिक' की स्थापना हुई (१८७१ ई०)। इस रिपब्लिक के अंतर्गत सारी सत्ता दो सदनों की एक पार्लमेंट को सौंपी गई। पहले सदन को 'सिनेट' और दूसरे को 'चेम्बर ऑफ डेप्युटीज' कहते थे। सिनेट का संगठन परोक्ष निर्वाचन द्वारा और 'चेम्बर' का सार्वजनिक मताधिकार के चुनाव द्वारा होता था। शासन-संचालन के लिए एक मंत्रिमंडल की भी व्यवस्था की गई, जो अपने कार्यों के लिए पार्लमेंट के समक्ष उत्तरदायी था। इस संविधान के अधीन राज्य का सर्वोच्च शासनाधिकारी प्रेसीडेंट था, जिसका निर्वाचन पार्लमेंट सात वर्षों के लिए करती थी।

साम्राज्यवाद

स्वरूप और उत्पत्ति—सबल राष्ट्रों द्वारा निर्बल राष्ट्रों के ऊपर शासन एवं शोषण करने की महत्वाकांक्षा और नीति को—उनके राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विस्तार को—ही 'साम्राज्यवाद' की संज्ञा प्रदान की गई है। 'साम्राज्यवाद' मानव के लिए कोई नई वस्तु नहीं थी। मानव की युग-यात्रा की इस कहानी के दौरान में हम अनेक साम्राज्यों के उत्थान-पतन का सिंहावलोकन कर चुके हैं। किंतु प्राचीन एवं आधुनिक साम्राज्यवाद में बड़ा अंतर है। प्राचीन साम्राज्यवाद का मूल कारण केवल विजय-लालसा थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ जिगीषु वृत्ति के लोग अन्य देशों को अपने बाहुबल तथा सैनिक शक्ति का परिचय देकर या तो उन्हें अधीन करना चाहते थे या उनसे कर वसूल करके उन्हें मुक्त कर दिया करते थे। उनके इन विजय-अभियानों के साथ सभ्यता-संस्कृति का प्रचार तथा व्यापार की वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। इधर आधुनिक साम्राज्यवाद मूलतः व्यावसायिक क्रान्ति तथा पूँजीवाद की उपज है। बड़े-बड़े कल-कारखानों को चलाने के लिए कच्चे माल की आवश्यकता थी और उनमें बने हुए माल को अच्छे दामों पर बेचने के लिए स्थायी बाजारों की दरकार है। जो देश औद्योगिक उन्नति में पिछड़े हुए थे और जहाँ प्रकृति ने अमूल्य धातुओं, खनिज पदार्थों तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं का भांडार भर रक्खा था, उन पर व्यवसायी एवं पूँजीवादी देशों की गृद्ध-दृष्टि का पड़ना स्वाभाविक ही था। तात्पर्य यह है कि आधुनिक साम्राज्यवाद की जड़ आर्थिक शोषण पर स्थापित है। स्वतंत्र राष्ट्रों के निर्माण ने भी साम्राज्यवाद को पर्याप्त सहायता प्रदान की, क्योंकि वे अपनी विजय-विस्तार-नीति द्वारा अन्य प्रतिष्ठित राष्ट्रों की बराबरी करना चाहते थे। उग्र राष्ट्रीयता से भी साम्राज्यवाद के विकास को बल मिला। कुछ साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी आत्मरक्षा के बहाने कुछ विशेष प्रदेशों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में रखना चाहती थीं। उदाहरणार्थ, जापान के लिए कोरिया का स्वामित्व जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। इसके अतिरिक्त योरप की बढ़ती हुई जनसंख्या के भोजन, वस्त्र एवं निवासस्थान की समस्या ने भी साम्राज्यवाद को काफी प्रोत्साहन प्रदान किया।

१८७० से लेकर १९१४ ई० तक का समय साम्राज्यवाद की पराकाष्ठा का काल था। तब राष्ट्रों के लिए साम्राज्य-स्थापना प्रतिष्ठा का प्रश्न था और साम्राज्य-स्थापनोपरांत उसका अनुपालन एवं पोषण और भी अधिक प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था—चाहे वह 'साम्राज्य' इटली के उपनिवेशों की भाँति वरद न होकर भारस्वरूप ही क्यों न हो। साम्राज्य इन दिनों धन-दौलत, सुरक्षा तथा शक्ति का प्रतीक माना जाता था। उसका स्वरूप अदृश्य एवं दृश्य दो प्रकार का था। यदि दक्षिणी अमेरिका के कतिपय प्रजातान्त्रिक देशों पर संयुक्त राज्य (अमेरिका) का आर्थिक प्राधान्य उसके पहले स्वरूप का बोधक था, तो भारत का ब्रिटिश साम्राज्य उसके दूसरे रूप का परिचायक था।

साम्राज्यवादी शक्तियों का विस्तार—१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में योरप के छोटे-बड़े राष्ट्रों की साम्राज्य-लिप्सा बहुत बढ़ गई और अफ्रीका तथा एशिया को उसका गहरा शिकार बनना पड़ा। साम्राज्यवाद की इस दौड़ में इंगलेंड सब से आगे बढ़ गया, क्योंकि उसकी व्यावसायिक परिस्थिति एवं नौ-शक्ति अन्य देशों की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। यह कहना अधिक सत्य होगा कि संसार के ऊपर योरप का प्राधान्य मूलतः ब्रिटिश प्राधान्य ही था। इस साम्राज्य-विस्तार में ब्रिटेन को एशिया में रूस से और अफ्रीका में फ्रांस से बहुत भय लगा रहता था। ब्रिटेन के साम्राज्य में संसार का चौथाई और रूस के साम्राज्य में सातवाँ भाग सम्मिलित था। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस जितने उपनिवेश खो बैठा था, उनसे अधिक विस्तृत साम्राज्य अब उसने अफ्रीका तथा इण्डोचीन में स्थापित कर लिया। साम्राज्यवाद की दौड़ में अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा जर्मनी का प्रवेश विलंब से हुआ; फिर भी उसने अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों में अपना झंडा गाड़ दिया और शान्तिमय उपायों द्वारा तुर्की के साम्राज्य को भी हथियाना चाहा। इटली, पुर्तगाल, बेल्जियम तथा स्पेन ने भी अफ्रीका के बँटवारे में अपना-अपना हाथ बढ़ाया। उधर पूर्वी द्वीप-समूह में डच साम्राज्य पहले ही जम चुका था। साम्राज्यवादी शक्तियों ने चीन के भी टुकड़े-टुकड़े कर दिए। नवोदित जापान ने योरप से साम्राज्यवाद का पाठ पढ़कर फारमोसा तथा कोरिया को जबरन अपने में मिला लिया और मंचूरिया पर भी अपना प्रभाव-क्षेत्र स्थापित कर लिया। जापान की यह साम्राज्य-लिप्सा यहाँ तक बलवती हो गई कि उसके वैदेशिक मंत्री बेरन टनाका ने यह घोषणा कर दी कि जापान समूचे एशिया को जीतकर मिस्र तक अपना झंडा फहराएगा!

परिणाम—साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता के कारण विविध राष्ट्रों में वैमनस्य एवं मनमुटाव उत्पन्न हो गया। इस होड़ाहोड़ ने विश्व-शान्ति को खतरे में डालकर ऐसा विषैला वातावरण पैदा कर दिया कि मानव जाति अपने को अरक्षित समझने लगी। साम्राज्यवाद के ही कारण संयुक्त राज्य (अमेरिका) और स्पेन का युद्ध (१८९८ ई०), ब्रिटेन और दक्षिणी अफ्रीका का बोअर-युद्ध (१८९९-१९०२ ई०), रूस-जापान-युद्ध (१९०४-१९०५ ई०) तथा इटली और तुर्की का युद्ध (१९-११-१२ ई०) आदि संग्राम हुए। प्रथम महायुद्ध के कारणों में भी साम्राज्यवाद प्रमुख कारण सिद्ध हुआ।

परन्तु इसने मानवता के हितार्थ कुछ रचनात्मक एवं कल्याणकारी कार्य भी किए। एशिया के शोषित एवं पददलित देशों में साम्राज्यवाद ने राष्ट्रीयता तथा लोकतंत्र की भावनाओं को प्रेरणा प्रदान की। पृथ्वी के दूर-दूर के भूभागों में स्थित अपने साम्राज्य के विविध खंडों के बीच आवागमन,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिवहन तथा संवाद श्रौर समाचार भेजने के साधनों के विकास के क्रम में बड़े-बड़े निर्माण-कार्य किए गए। स्वेज की नहर श्रौर भारतवर्ष की रेलों श्रौर सड़कों का जाल इसी तरह निर्मित हुश्रा। इन नहरों, सड़कों, रेलों, पुलों तथा बन्दरगाहों के निर्माणार्थ साम्राज्यवादी शक्तियों ने प्रचुर पूँजी लगाई। वह उक्त देशों के लिए लाभप्रद ही रही। इसी तरह शिक्षा-प्रसार एवं चिकित्सा-सेवाश्रों का भी संगठन किया। साथ-ही-साथ श्रन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की संहिता तैयार करने तथा विभिन्न राज्यों द्वारा उनका पालन कराने की दिशा में भी इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने स्तुत्य प्रयास किया।

समाजवाद एवं साम्यवाद की लहर

प्लेटो पहला विचारक था, जिसने सर्वप्रथम समाजवाद की कल्पना की थी। तब श्रठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड की श्रौद्योगिक क्रांति तथा फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से समाजवादी विचारों को विशेष बढ़ावा मिला। राज्यक्रांति के कारण फ्रान्स में उच्च श्रेणी के रईसों तथा धर्माधिकारियों की संपत्ति के अपहरण ने संपत्ति के स्वामित्व की नई समस्या उत्पन्न कर दी थी। इसी समय (१७९६ ई०) पेरिस में बेबू के नेतृत्व में निजी संपत्ति का श्रंत करने के लिए एक श्रसफल आन्दोलन भी उठ खड़ा हुश्रा था। कुछ लोग तो बेबू को ही समाजवाद का जनक मानते हैं, क्योंकि उसने धन के श्रनिवार्य रूप से राष्ट्रीयकरण तथा सामाजिक समानता पर काफी बल दिया था। उसका कहना था कि "जब मैं वस्त्र तथा जूता तैयार करनेवाले गरीबों को स्वयं बिना वस्त्र श्रौर जूते के देखता हूँ, श्रौर जब विचार करता हूँ कि मुट्ठी-भर श्रल्पसंख्यक लोग बिना काम किए कैसे श्रपनी आवश्यकताश्रों की पूर्ति करके धन-संचय करते हैं, तो मुझे पूर्ण विश्वास होता है कि सरकार श्रनेक लोगों के विरुद्ध कुछेक लोगों की पुरानी साजिश है!" श्रपने इन विचारों के कारण श्रंत में बेबू को फाँसी के तख्ते पर झूलना पड़ा!

इन्हीं दिनों ब्रिटेन में राबर्ट ओवेन ने मालिक श्रौर मजदूरों के सहयोग (न कि प्रतिद्वंद्विता) के श्राधार पर स्थापित एक प्रकार के 'स्वप्नलोकीय समाजवाद' की परिकल्पना की। ओवेन पूँजीवाद, व्यक्तिगत संपत्ति तथा धर्म का विरोधी था। उसके सद्प्रयत्नों के परिणामस्वरूप १८२०-४० ई० के बीच इंगलैंड में श्रमिकों के हित-सम्बन्धी श्रनेक कानून पास किए गए। इसी प्रकार के कुछ विचारक फ्रांस में भी उत्पन्न हुए, जिनमें सिस मण्डी, सेंट साइमन, चार्ल्स फूदिए तथा प्रूधों के नाम प्रमुख हैं। ये लोग दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रेरित होकर श्रमिकों की गरीबी दूर करने का प्रयास करते थे। इन विचारों से प्रेरणा प्राप्त कर श्रमिक वर्ग ने सभी संभव उपायों द्वारा तत्कालीन श्रार्थिक व्यवस्था की इतिश्री करने की माँग पेश की। उधर समाजवादी विचारधारा के लेखकों ने इस बात पर बड़ा बल देना प्रारम्भ कर दिया कि राष्ट्र के बहुसंख्यक किसानों श्रौर मजदूरों के हित के लिए उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण श्रत्यावश्यक है। सन् १८४० ई० के लगभग लूई ब्लांक तथा प्रूधों सरीखे फ्रांसीसी समाजवादी लेखकों ने यह अनुभव किया कि बिना श्रमिकों द्वारा नियंत्रित एवं संचालित सरकार की स्थापना के सामाजिक एवं श्रार्थिक परिवर्तन संभव नहीं है। लूई ब्लांक ने तो श्रमिकों के लोकतंत्र की स्थापना का भी स्वप्न देखा। इस प्रकार 'राजनीतिक समाजवाद' की परिकल्पना सामने आई।

कार्ल मार्क्स—वैज्ञानिक समाजवाद का जनक कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०) माना जाता है। उसका जन्म जर्मनी के एक यहूदी परिवार में हुश्रा था। श्रपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके उसने श्रपने मनानुकूल समाज के संगठन की रूपरेखा तैयार की और श्रमिकों के संगठन तथा सामाजिक सुधार के हेतु नए दार्शनिक सिद्धान्तों की परिकल्पना की। उसने अपने जीवन में श्रनेक चढ़ाव-उतार देखे। उसने जर्मनी के वाइमार-विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करके क्रांतिकारियों से संपर्क स्थापित किया श्रौर श्रर्थशास्त्र का श्रध्ययन करने के हेतु वह बर्लिन श्राया। प्रशा से निर्वासित किये जाने पर उसने पेरिस में शरण ली। १८४८ ई० की पेरिस-क्रांति की असफलता के बाद उसे फ्रांस से इंगलैंड भाग जाना पड़ा। उसने श्रपना जीवन पुस्तकों के लेखन तथा योरप में श्रमिक-संगठनों की स्थापना में ही बिताया। कार्ल मार्क्स द्वारा रचित श्राधे दर्जन से अधिक ग्रंथों में उसके "कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो" तथा "दास कापिताल" के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहले ग्रंथ की रचना १८४८ ई० में पेरिस क्रांति के समय फ्रेडरिक एञ्जिलस के सहयोग से की गई थी। जनवरी, १८४८ ई०, में एक गुप्त संगठन—'कम्युनिस्ट लीग'—द्वारा प्रकाशित इस "मैनीफेस्टो" ने पहले-पहल साम्यवाद के युगान्तकारी सिद्धान्त उपस्थित किए। इस प्रकाशन द्वारा विश्व के बहुसंख्यक श्रमिकों से परस्पर एकता के सूत्र में परिबद्ध होकर पूँजीवाद का श्रन्त करने एवं श्रपनी दासता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने की मार्मिक श्रपील की गई थी। "दास कापिताल" समाजवाद के सिद्धांतों के विषय में बहुत श्रधिक विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है। श्राधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद का ढाँचा इन्हीं दोनों रचनाश्रों पर श्राधारित है। उसके दो मौलिक सिद्धांत हैं—श्रतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त तथा ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का स्वरूप मूलतः क्रांतिकारी था। उसने वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य एवं अपरिहार्य बताया था। किंतु सभी समाजवादी विचारक इस सीमा तक पहुँचने के इच्छुक नहीं थे। अतः मार्क्सवादी समाजवाद के अतिरिक्त, १८८० से १९१४ ई० के बीच, अन्य समाजवादी विचारधाराओं का भी जन्म एवं विकास हुआ। इनमें फेबियनवाद, सिंडीकेटवाद, गिल्डवाद तथा अराजकतावाद मुख्य थे। मार्क्सवादियों की भाँति फेबियनवादी पूँजीवाद का विरोध नहीं करते थे; वरन् वे मानते थे कि समाज में पूँजीपतियों की विद्यमानता लाभदायक और उद्योग-धंधों के संचालन एवं संगठन के कारण पूँजीपतियों को पुरस्कार मिलना चाहिए। फेबियनवादियों का कहना था कि उत्पादन के साधनों का उपयोग सार्वजनिक हित एवं कल्याण के लिए होना चाहिए, न कि चन्द लोगों की उन्नति के लिए। सिण्डीकेटवादी ट्रेड-यूनियन-संगठनों पर अधिक बल देते थे। वे पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के संघर्ष को अनिवार्य मानते थे तथा उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक स्वामित्व के विरोधी थे। वे उद्योग-धंधों का संचालन एवं नियंत्रण श्रमिकों द्वारा कराने के पक्षपाती थे। गिल्डवादियों एवं सिंडीकेटवादियों में अधिक सानिध्य एवं निकटता थी। वे मजदूरी प्रथा का अंत कर उद्योग-धंधों के संचालनार्थ श्रमिकों का स्वायत्त शासन स्थापित करना चाहते थे। साथ-ही-साथ वे लोग उपभोक्ताओं के भी हितों की रक्षा के समर्थक थे। समाजवाद की अत्यधिक वामपंथी विचारधारा अराजकतावादियों की थी। ये लोग संस्थापित शासनतंत्र के विनाश के प्रचारक थे। अराजकतावादियों के प्रमुख नेता बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन नामक रूसी विचारक थे।

साम्यवाद—आधुनिक साम्यवाद शत प्रतिशत मार्क्सवादी विचारधारा की देन है। मार्क्स के निधनोपरांत उसके विचारों के प्रचार एवं प्रसार का श्रेय एंजिल्स, लेनिन, ट्राट्स्की और स्टालिन को है। इन लोगों ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद को क्रांतिकारी आन्दोलन के रूप में परिणत कर उसे एक निश्चित दर्शन एवं स्वरूप प्रदान किया। मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद आज एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बन गया है, और उसने सभी देशों के श्रमिक वर्गों पर अत्यधिक प्रभाव जमा लिया है।

साम्यवादी लोग क्रान्ति द्वारा शासन-सत्ता का अपहरण कर उसके द्वारा पूँजीवाद का अंत तथा आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए कृतसंकल्प हैं। साम्यवादी सामाजिक क्रांति मचाकर, श्रमिकों के अधिनायक-तंत्र द्वारा उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर समूचे समाज का स्वामित्व स्थापित करके, एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। साम्यवादियों द्वारा स्थापित इस वर्गविहीन समाज का संगठन राष्ट्रीय स्तर पर नहीं, वरन् विश्व-स्तर पर होगा और इस विश्व-समाज का विभाजन केवल प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से स्वशासित दलों या गिरोहों में होगा। साम्यवाद के दो मूल सिद्धान्त हैं—(१) वर्ग-संघर्ष और (२) क्रान्ति द्वारा सर्वहारा के हाथ सत्ता का हस्तांतरण।

समाजवाद बनाम साम्यवाद—समाजवाद एवं साम्यवाद के अंतर पर दृष्टिपात् करना इन आन्दोलनों को हृदयंगम करने में सहायक होगा। समाजवाद केवल उत्पादन के साधनों पर समूचे समाज का स्वामित्व स्थापित करना चाहता है; किन्तु साम्यवाद उत्पादन तथा वितरण एवं उपभोग के भी साधनों पर समूचे समाज के स्वामित्व का पक्षपाती है। समाजवाद विकासशील एवं वास्तविक तत्त्वों पर बल देकर संवैधानिक उपायों द्वारा समाज में परिवर्तन लाना चाहता है; किंतु साम्यवाद क्रान्तिकारी उपायों द्वारा लोगों में आतंक फैलाकर पूँजीवाद का अंत करने का समर्थक है। समाजवाद राज्य के अस्तित्व को समाज के लिए हितकर समझता है, अतः वह उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करके उन्हें राज्य को सौंप देने का पक्षपाती है। इसके विपरीत साम्यवाद राज्य को स्थायी तत्त्व नहीं मानता, वरन् साम्यवादी राज्य को मध्यमश्रेणी के लोगों के प्रतिरोध को कुचलने का केवल एक साधन मानते हैं।

'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल'—साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रचार के लिए एंजिल्स ने १८६४ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिकों का एक संगठन स्थापित किया था, जो 'प्रथम इंटरनेशनल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। संगठनकर्ताओं के पारस्परिक मतभेद के कारण यह संस्था १८७२ ई० में भंग कर दी गई। तब १८८९ ई० में 'द्वितीय इंटरनेशनल' की स्थापना की गई। किंतु इस बार भी संगठनकर्ताओं में पहले से अधिक मतभेद उत्पन्न हो गया। अस्तु, इसका भी विघटन आवश्यक हो गया। १९१९ ई० में ५८ देशों के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधियों की सहायता से मॉस्को में 'तृतीय इंटरनेशनल' की स्थापना की गई। इस संस्था ने पूँजीवाद का उन्मूलन कर विश्वव्यापी साम्यवाद की स्थापना की नीति निर्धारित की। इसकी नीतियों के संचालन में रूस की साम्यवादी पार्टी का विशिष्ट योगदान रहा। १९४३ ई० में तृतीय इंटरनेशनल भी समाप्त कर दी गई और उसके स्थान पर 'कोमिनफॉर्म' नामक एक संस्था की स्थापना की गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध और बीसवीं सदी की अन्य हलचलें

मानव की युगयात्रा के पिछले हजारों वर्षों के दौरान में किसी भी एक शताब्दी की कालावधि के अंतर्गत इतने व्यापक और युगान्तरकारी परिवर्तन नहीं हुए, जितने कि बीसवीं शताब्दी के अब तक बीते हुए इन थोड़े-से वर्षों में हुए हैं ! इस अल्प कालावधि में न केवल दो संसारव्यापी महान् नरसंहारक प्रलयंकर महायुद्ध ही हुए, प्रत्युत क्या आर्थिक, क्या सामाजिक और क्या राजनीतिक सभी क्षेत्रों में एक अभूतपूर्व पटपरिवर्तन हो गया, जिसका क्रम आज भी समाप्त होने को नहीं आया है। इनमें सब से महान् घटना तो इस युग की वे अद्भुत् वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं, जिनकी बदौलत आज आदमी अंतरिक्ष को लाँघकर ग्रह-नक्षत्रों पर जा पहुँचने को तैयार खड़ा है ! उधर परमाणु-शक्ति की उपलब्धि की दिशा में आगे बढ़कर जहाँ मनुष्य के हाथों में आज विश्वकर्मा की-सी असीम क्षमता आ गई है, वहाँ साथ ही साथ उसकी विनाशकारी सभावनाओं से वह सामूहिक आत्मघात की आशंका से भी आज बेतरह संतप्त है !

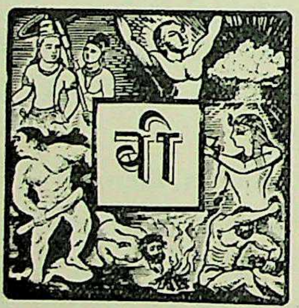

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दस वर्षों के बीतते-बीतते योरप के सामने महायुद्ध की विभीषिका का विकराल चित्र उपस्थित होने लगा। वस्तुतः पिछली शताब्दी में ही योरपीय देशों की उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा तथा सैनिकवाद की नीति ने उस महाद्वीप को दो परस्पर विरोधी गुटों में संगठित कर दिया था, जिससे विश्व-शांति के लिए बहुत बड़ा खतरा पैदा हो गया था।

गुटवन्दी का विषैला वातावरण

फ्रांस अलसेस-लोरेन की क्षति को क्षण भर के लिए भी नहीं भूला था। उधर बिस्मार्क इस रहस्य को भलीभाँति समझता था कि अवसर मिलने पर फ्रांस अपना बदला अवश्य निकालेगा; इसीलिए अपने प्रशासनकाल में उसने फ्रांस को 'आश्रयहीन तथा मित्रहीन बनाकर' अकेले रखने की नीति बरती थी। इसी उद्देश्य से वह ब्रिटेन और रूस के साथ मित्रता का संबंध बनाए रहा और ऑस्ट्रिया तथा जर्मनी को इटली के साथ मिलाकर उसने 'त्रिराष्ट्र-संधि' कराई, जिसका उद्देश्य यह था कि यदि उनमें से किसी एक पर दो या अधिक राज्यों ने आक्रमण किया, तो वे उसकी सहायता करेंगे।

इस कुटिल नीति के अधीन नवजात जर्मन राष्ट्र में अनिवार्य सैनिक शिक्षा का प्रबंध किया गया, उसकी जल तथा थल सेनाओं की वृद्धि की गई और उसके व्यापार को भी इतना बढ़ाया गया कि जर्मनी अन्य प्रतिस्पर्द्धियों के लिए भयावह प्रतीत होने लगा। इसी हवा में जब कैसर विलियम द्वितीय जर्मनी का सम्राट् बना और उसने बिस्मार्क को चान्सलर-पद से हटा दिया, तो स्थिति ने और भी अधिक खतरनाक रूप धारण कर लिया। कैसर रूस की मित्रता के पक्ष में नहीं था। अतः उसने रूस के साथ की गई मैत्रीपूर्ण संधि को स्वयं समाप्त हो जाने दिया और उसका फिर से नवीनीकरण नहीं किया। अब योरप में फ्रांस और रूस दोनों मित्रहीन तथा अकेले रह गए ! इन दोनों को मित्रों की आवश्यकता थी--फ्रांस को जर्मनी से बदला लेने के लिए और रूस को आर्थिक सहायता के लिए। अतः स्वार्थ की इस एकता ने शीघ्र ही फ्रांस और रूस के बीच संधि स्थापित करा दी (१८९३ ई०)। इधर जर्मनी की व्यापारिक एवं सामुद्रिक उन्नति इंगलैंड की आँखों में बेतरह खटकने लगी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी। वह भला अपने सामुद्रिक एकाधिकार एवं प्राधान्य का अंत कैसे सहन कर सकता था ? अतः उसको भी जर्मन-विरोधी गुट में सम्मिलित होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य हो गया। फलतः फ्रांस तथा रूस के साथ अपने पुराने वैर-भाव को भूल-कर वह भी उनके गोल में जा मिला। इस प्रकार त्रिराष्ट्र-संधि के विरुद्ध 'त्रिगुट' का जन्म हुआ। इस गुटबन्दी ने उग्र एवं प्रचण्ड रूप धारण कर विश्व-शांति को खतरे में डाल दिया।

प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात

पारस्परिक अविश्वास एवं घृणा के इस विषैले वातावरण में शीघ्र ही राष्ट्रों के साम्राज्य-विस्तार की छीनझपट ने उनके निरंतर बढ़ते हुए शस्त्रास्त्रों को बाहर निकालकर चमकाने को विवश कर दिया। उधर विभिन्न देशों के साहित्यकारों एवं पत्रकारों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं द्वारा इस सामरिक मनोवृत्ति को तैयार करने में कम योग नहीं दिया। दूसरी ओर वैज्ञानिकों ने अपने नवीन घातक आविष्कारों द्वारा इस मनोवृत्ति में और भी तीव्रता ला दी। अंत में २८ जून, १९१४ ई०, को सर्बिया में यात्रा करते हुए ऑस्ट्रियन युवराज की हत्या ने युद्ध के मँडराते हुए बादलों को बटोरकर एक बवंडरी तूफान में परिणत कर दिया, जिसने पाँच साल तक दुनिया को एक अभूतपूर्व विनाशकारी संकट में डाल दिया ! इस तूफान का असर न केवल योरप की, बल्कि संसार भर की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति पर पड़ा। वैसे तो इतिहास में अनेक दीर्घकालीन लड़ाइयाँ हुई हैं, जैसे कि प्रसिद्ध 'शतवर्षीय' और 'तीसवर्षीय' युद्ध, किंतु उन सब का क्षेत्र एवं स्वरूप बहुत सीमित और स्थानीय था। उन सब की तुलना में १९१४ ई० का महायुद्ध अपने ढंग का संसार का पहला महान् संग्राम था। वह एक विश्वव्यापी युद्ध था, जिसमें एक ओर फ्रांस, समस्त ब्रिटिश साम्राज्य, रूस और जापान आदि थे और अंत में जिस ओर संयुक्त राज्य (अमेरिका) भी सम्मिलित हो गया था। दूसरी ओर जर्मनी, ऑस्ट्रिया, तुर्की और बलगारिया थे। इस गुट के साथ पहले इटली भी था, परंतु नए उपनिवेश पाने के लालच में बाद को वह 'मित्र राष्ट्रों' (इंगलैंड तथा फ्रांस) की ओर जा मिला था। इस युद्ध की एक विशिष्टता यह थी कि इसमें इतिहास में पहली बार मनुष्य ने जल-थल के अलावा नभ में भी युद्ध किया था ! यह संग्राम वस्तुतः पुरानी और नई प्रवृत्तियों का संघर्ष था। राष्ट्रीयता और लोकतंत्र की नई प्रवृत्तियाँ अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाई थीं और संसार की अनेक जातियाँ अपने राष्ट्रीय हितों के लिए तड़प रही थीं। उधर जर्मनी, रूस, ऑस्ट्रिया, तुर्की और जापान में अभी निरंकुश राजतंत्र की ही तूती बोल रही थी। 'मित्र राष्ट्र' इस युद्ध द्वारा लोकतंत्र की रक्षा करने तथा भावी युद्धों का अंत करने का दावा करते थे। उनके कथनानुसार यह संग्राम राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को कुचलकर बने हुए विभिन्न राज्यों की जनता के 'स्वभाग्यनिर्णय' के लिए छेड़ा गया था।

प्रथम महायुद्ध का विधायक जर्मन सम्राट् कैसर विलियम।

यह लड़ाई लगभग पाँच वर्ष तक चली और उसमें अनगिनत आदमी हताहत हुए। अंत में विजय मित्रपक्ष की हुई और वार्साई की संधि (जून, १९१९ ई०) द्वारा इस विनाशकारी लड़ाई की समाप्ति हुई। संधि-प्रस्तावों में युद्ध का सारा दोष जर्मनी के सिर मढ़ा गया और उसे एक लंबी रकम हरजाने में देनी पड़ी। उसके सारे उपनिवेश छीन लिए गए एवं योरप में भी उसकी सीमाएँ घटा दी गईं। उसे अपने जहाजी बेड़े से सर्वथा हाथ धोना पड़ा तथा स्थायी सेना भी घटा देनी पड़ी। उधर फ्रांस को अलसेस-लोरेन मिल गया। इसी प्रकार की दूसरी संधियाँ ऑस्ट्रिया, बलगारिया तथा तुर्की के साथ भी की गईं।

इस युद्ध के उपरान्त जर्मनी, ऑस्ट्रिया, रूस और तुर्की के प्राचीन गौरवशाली राजवंशों का अंत हो गया और इन देशों में गणतंत्रों की स्थापना हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुर्की का उत्थान

मध्यकालीन सामंतयुग का स्मरण करानेवाले तुर्की के सुल्तानों का कुशासन केवल उनकी ईसाई प्रजा को ही असह्य नहीं हो रहा था, वरन् वहाँ की मुसलमान जनता को भी वह बेतरह अखरने लगा था। फलतः सुल्तान की स्वेच्छाचारिता का अंत करने के लिए देश में अनेक गुप्त क्रांतिकारी संस्थाओं का संगठन किया गया। ऐसी ही एक संस्था का सदस्य मुस्तफा कमाल था। वह सुल्तान की सेना में नौकर था और १९१४ के प्रथम महायुद्ध में जर्मनी का साथ देते हुए उसने योग्यतापूर्वक सैन्य संचालन भी किया था। युद्ध में पराजित होने पर जब तुर्की को अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े, तो सुल्तान के विरुद्ध बड़ा असंतोष फैला। तभी जनता का नेतृत्व ग्रहण करके मुस्तफा कमाल ने 'तरुण तुर्क' नामक आंदोलन शुरू कर दिया। १९२३ ई० में तुर्की में 'रिपब्लिक' की स्थापना हुई और मुस्तफा उसका प्रथम अध्यक्ष हुआ। मुस्तफा कमाल पाशा के अधीन तुर्की की तीव्र गति से कायापलट होने लगी और दुनिया इस क्रांतिकारी परिवर्तन एवं उथल-पुथल को देखकर अवाक् रह गई। कमाल पाशा ने अपने देश के प्राचीन राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे की इतिश्री करके उसे संसार के राष्ट्रों की पंक्ति में उच्चासन पर बिठा दिया। पुरानी परंपरा का अंत करके उसने तुर्की में पाश्चात्य योरपीय सभ्यता एवं रहन-सहन का प्रचार किया और इस प्रकार तुर्की भी योरप का एक प्रगतिशील आधुनिक राज्य बन गया।

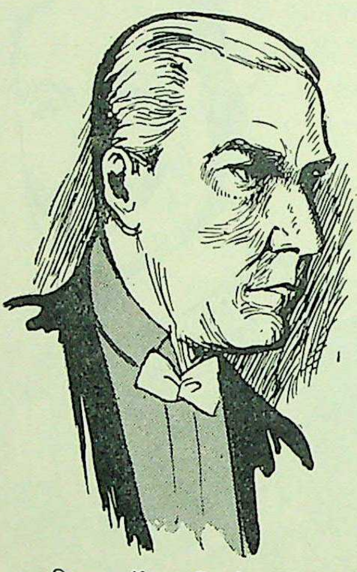

आधुनिक तुर्की का निर्माता मुस्तफा कमाल पाशा।

इन्हीं दिनों एशिया एवं अफ्रीका के अन्य देशों में भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सफल राष्ट्रीय आंदोलन हुए। इनमें प्रमुख थे मिस्र और ईरान। स्वतंत्रता पाने पर एशिया और अफ्रीका के ये नवोदित राष्ट्र भी तेजी से आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में अपना चोला बदलने में प्रवृत्त हो गए।

राष्ट्र-संघ (लीग ऑफ नेशन्स)

युद्ध के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा समस्याओं को हल करके शान्ति स्थापित करने के कुछ प्रयास योरप में उन्नीसवीं शताब्दी में भी हुए थे। वियना-कांग्रेस के उपरान्त कतिपय योरपीय राष्ट्रों द्वारा संस्थापित 'पवित्र मित्र-मंडल' ऐसा ही एक सद्प्रयत्न था। इसी दौर में उन्नीसवीं सदी में योरप में चार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी हुए थे। यद्यपि उन्हें सफलता नहीं मिली थी, फिर भी पारस्परिक सहयोग द्वारा प्रश्नों का निपटारा करने की ये कोशिशें कोई कम महत्व की बात नहीं थीं। शान्तिमय ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने की इसी लहर में उसी शताब्दी के अंत में हेग में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई थी (१९०० ई०)।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर जन-धन के विनाश की विभीषिका से संतप्त हो अनेक विचारशील लोग युद्ध के मार्ग को सदा के लिए त्यागकर शान्ति का मार्ग अपनाने और सभी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को आपसी बातचीत से हल करने का उपाय गंभीरतापूर्वक ढूँढ़ने लगे। प्रथम महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य (अमेरिका) के प्रेसीडेंट विल्सन एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव लेकर सामने आए। उन्होंने युद्ध का अंत करने के लिए चौदह सिद्धान्त प्रतिपादित किए, जिनमें से एक था राष्ट्र-संघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना करना। इस संस्था का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, सुरक्षा, शान्ति तथा सुव्यवस्था को प्रोत्साहित करना, हथियारों को कम करना और भावी युद्धों को रोकना निर्धारित किया गया। राष्ट्र-संघ के संगठन में एक असेंबली, एक कौंसिल, एक स्थायी कार्यालय तथा ग्यारह न्यायाधीशों व चार उपन्यायाधीशों का एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सम्मिलित था। दुनिया के अधिकांश राज्यों ने इस संस्था की सदस्यता स्वीकार कर ली और यह निर्णय किया गया कि यदि कोई अन्य राज्य किसी पर आक्रमण करे या उसकी स्वाधीनता को नष्ट करने का प्रयत्न करे, तो वे सब मिलकर उसका सामना करेंगे। निस्संदेह राष्ट्र-संघ की स्थापना ने अन्तर्राष्ट्रीयता के आदर्श को वास्तविकता प्रदान की। राजनीतिक झगड़ों को निपटाने के अतिरिक्त, राष्ट्र-संघ मानवता के कल्याण के और भी अनेक कार्यों को करने लगा। छोटे राज्यों के झगड़ों को निपटाने में तो उसे काफी सफलता प्राप्त हुई, किंतु बड़े राज्यों के मामलों में राष्ट्र-संघ नितान्त असफल सिद्ध हुआ। जब जापान, इटली तथा जर्मनी संघ से पृथक् होकर एवं खुल्लमखुल्ला उसके सिद्धान्तों को लात मारकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में संलग्न हो गए, तो यह संस्था निरे नाम भर के लिए रह गई और उसकी कमर टूट गई। राष्ट्र-संघ की असफलता का एक कारण यह भी था कि बहुत अरसे तक संयुक्त राज्य (अमेरिका) तथा रूस जैसे बड़े राष्ट्र उससे पृथक् रहे। इसके अतिरिक्त, संघ के पास ऐसी कोई शक्ति भी नहीं थी, जिसके बल पर वह राज्यों को अपनी बात मानने के लिए विवश कर सकता। अंत में १९४६ ई० में यह संस्था भंग कर दी गई। परन्तु अपने अल्पकालिक जीवन में भी इस संस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बढ़ावा देने में अनमोल योग दिया।

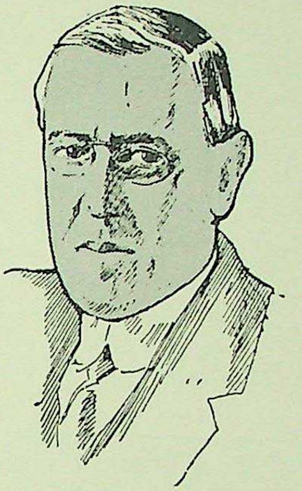

'राष्ट्र-संघ' के जनक संयुक्त राज्य (अमेरिका) के प्रेसीडेंट विलसन।

अधिनायकतंत्र बनाम लोकतंत्र

प्रथम महायुद्ध के बाद योरप के प्रांगण में दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से उभरते दिखाई दीं। ये प्रवृत्तियाँ थीं--लोकतंत्र तथा अधिनायकतंत्र की। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने जिस लोकतंत्र को जन्म दिया था और प्रथम महायुद्ध तक जो चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था, उसी लोकतंत्र को अब लोग उदासीन होकर उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे। अधिनायकतंत्र का विकास वस्तुतः केवल रूस, इटली और जर्मनी में ही नहीं हुआ, वरन् उसके उत्कर्ष की प्रवृत्ति अब संसारव्यापी बन गई और तुर्की, पोलैंड, हंगरी, युगोस्लाविया, रूमानिया, बलगारिया, ग्रीस, ऑस्ट्रिया, स्पेन, लेटविया, लिथूआनिया, इस्टोनिया, मध्य और दक्षिणी अमेरिका तथा जापान आदि अनेकों देश अब तानाशाही की ओर अग्रसर हो चले। अधिनायकतंत्र किसी एक व्यक्ति का निरंकुश शासन हुआ करता है, जिसमें जन-साधारण को राष्ट्र के हित के लिए अपने व्यक्तित्व एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता का बलिदान कर देना पड़ता है। संसार ने लोकतंत्र के आदर्शों--स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृभाव--को छोड़कर इस अधिनायकतंत्र को क्यों अंगीकार किया, इसका कारण स्पष्ट था। युद्ध के बाद के आर्थिक संकट, दुरवस्था, मँहगाई, बेकारी और भोजन-वस्त्र की कमी की समस्याओं को हल करने में लोकतंत्र असमर्थ था। लोगों को सुख और आराम राजनीतिक स्वतंत्रता से नहीं, वरन् आर्थिक स्वतंत्रता से--अन्न और वस्त्र से ही--मिल सकता था। इस विषम परिस्थिति में केवल डिक्टेटर ही देशोद्धारक सिद्ध हुए। किन्तु स्मरण रहे कि लोकतंत्र का बिल्कुल अंत नहीं हुआ था। इंगलैंड, फ्रांस, अमेरिका, चेकोस्लोवाकिया, फिनलैंड, डेनमार्क, स्वीडेन, नार्वे, स्विट्जरलैंड, हॉलैंड और बेल्जियम में अब भी लोकतंत्रात्मक शासन की जड़ दृढ़तापूर्वक जमी हुई थी।

रूस की राज्यक्रान्ति :: लेनिन

अठारहवीं शताब्दी में होनेवाली फ्रांस की राज्यक्रांति के सवा सौ वर्षों के पश्चात् घटित रूस की क्रांति (१९१७ ई०) मानव की युगयात्रा में एक महत्वपूर्ण मोड़ की प्रतीक थी। यदि फ्रांस की राज्यक्रांति ने राजनीतिक उथल-पुथल मचाकर, समानता, स्वतंत्रता तथा विश्वबंधुत्व का नारा बुलंद किया और निरंकुश राजतंत्र के विरुद्ध जेहाद करके प्रजातंत्रवाद अथवा लोकतंत्र की नींव सुदृढ़ कर दी, तो रूस की क्रांति ने रूसी निरंकुश जारशाही का अंत कर सामाजिक एवं आर्थिक उथल-पुथल मचा दी और साम्यवाद की जड़ें मजबूत कर इतिहास में पहली बार श्रमिक वर्ग को सत्ताधारी बनाया।

जिनेवा में निर्मित राष्ट्र-संघ की भव्य इमारत, जिसमें इन दिनों संयुक्त राष्ट्र-संघ (यू० एन० ओ०) का योरपीय कार्यालय स्थापित है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह क्रांति इतिहास में 'बोल्शेविक क्रांति' के नाम से मशहूर है। फ्रांस की क्रांति जहाँ मध्यम श्रेणी के लोगों की क्रांति थी, वहाँ रूस की राज्यक्रांति मजदूरों और किसानों की क्रांति थी। फिर, फ्रांस में क्रान्तिकारी भावना का विकास यदि रूसो के विचारों के फलस्वरूप हुआ था, तो रूस में उसके प्रादुर्भाव का श्रेय कार्ल मार्क्स की विचारधारा को था। इस क्रांति के नेता थे लेनिन और ट्राटस्की। लेनिन (१८७०-१९२४ ई०) एक महान् स्वप्नद्रष्टा, विचारक और क्रान्तिकारी लोकनेता था। उसने रूस की जनशक्ति का अपूर्व संगठन करके न केवल अपने देश को क्रांति की विद्युल्लहरी से ही अनुप्राणित कर दिया, वरन् उक्त क्रान्ति को पूर्णतया सफल बनाकर समाजवादी शासनतंत्र की स्थापना के मार्क्सवादी सपने को भी सचमुच साकार कर दिखाया! इस प्रकार उसके हाथों इतिहास को एक नया मोड़ मिला!

फ्रांस की राज्यक्रांति की तरह रूस की क्रांति के भी कारण उसकी राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति में निहित थे। सदियों से रूसी कृषक अर्द्ध-गुलामों की-सी स्थिति में रहते चले आए थे। जहाँ योरप के अन्य देश औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप तेजी से विकासोन्मुख हो रहे थे, वहाँ रूस में अभी मध्यकालीन सामंतशाही का ही बोलबाला छाया हुआ था। वहाँ का निरंकुश शासक 'जार' केवल अपनी सत्ता बनाए रखने और साम्राज्य-विस्तार करने में ही दिलचस्पी रखता था; लोक-कल्याण में उसकी तनिक भी रुचि नहीं थी। अंतिम जार निकोलस द्वितीय तो मानो फ्रांस के लुई १६वें का ही अवतार था। वह अपने पूर्वगामी जार अलेक्जेण्डर तृतीय के पदचिह्नों पर चलते हुए उसकी कठोर दमन-नीति का ही अनुसरण कर रहा था। इससे शासन के विरुद्ध असंतोष की आग भीतर-ही-भीतर जोर पकड़ती जा रही थी। इस पर जब जापान के साथ युद्ध में रूस को हारना पड़ा, तो जार की रही-सही प्रतिष्ठा भी मिट्टी में मिल गई। अन्त में प्रथम महायुद्ध में भी रूस के पराजित होने पर रूसी जनता की असंतोष-भावना विधिवत् क्रांति की लपट में परिणत हो गई।

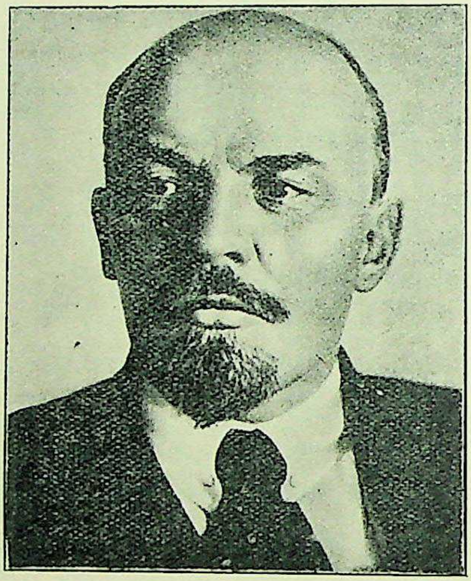
रूसी क्रान्ति का विधायक लेनिन, जिसने मानव इतिहास को एक नया मोड़ दिया!

फलतः मार्च, १९१७ ई०, में जार निकोलस को अपनी गद्दी छोड़ देना पड़ी। इसके बाद रूसी पार्लमेंट 'ड्यूमा' द्वारा नरम दलीय पार्टियों के सहयोग से एक अस्थाई सरकार बनाई गई। परन्तु उग्र क्रान्तिकारी बोल्शेविक दल के दबाव के आगे यह सरकार न ठहर पाई। सशस्त्र विप्लव करके बोल्शेविकों ने अस्थाई सरकार के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया और लेनिन के नेतृत्व में एक नई सरकार बना ली (नवंबर, १९१७)! यह बोल्शेविक क्रान्ति रक्तपातविहीन नहीं थी। स्वयं जार को ही फाँसी पर चढ़ा दिया गया और सदियों से जनता का रक्तशोषण करनेवाले रूसी अमीर-वर्ग का भी बुरा हाल हुआ। इस प्रकार रूस में जिस नवीन गणतंत्र की स्थापना हुई, उसमें शासन की सारी बागडोर अब श्रमिक-वर्ग (प्रोलितेरियत) के ही हाथों में केन्द्रित थी! इस क्रांति के फलस्वरूप सभी प्रकार के विशेषाधिकारों का अंत हो गया और प्रत्येक नागरिक के लिए श्रमजीवी होना अनिवार्य बना दिया गया। धनिकों की तमाम संपत्ति जब्त कर ली गई और सारी भूमि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित हो गया चर्च की संपत्ति भी जब्त कर ली गई। इस प्रकार पूँजीवाद का नामोनिशान मिटा दिया गया। अब राजकीय पाठशालाओं में केवल समाजवादी शिक्षा दी जाने लगी। इस प्रकार रूस में साम्यवाद की जड़ें सुदृढ़ हो गईं।

इटली में फासिस्टवाद और मुसोलिनी का उदय

नए उपनिवेश पाने के लालच से इटली ने प्रथम महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया था, परंतु इस पर भी वह घाटे में ही रहा; उसे कोई आशातीत लाभ नहीं हुआ। उल्टे, युद्ध के बाद वहाँ आर्थिक संकट एवं बेकारी का दौरदौरा छा गया। इन कारणों से जनता में घोर असंतोष फैल गया और राष्ट्रीय कष्टों का सारा दायित्व सरकार और उसकी युद्ध-नीति पर ही थोपा गया। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर मुसोलिनी (१८८३-१९४४ ई०) नामक एक लोहार के लड़के ने, जो एक अनुभवी अध्यापक एवं पत्रकार था, 'फासिस्ट दल' नामक एक नई पार्टी का संगठन किया। फासिस्ट अपने को इटली का

उद्धारक बताते थे। उनकी संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी और कालान्तर में इटली में इस दल के अतिरिक्त और कोई राजनीतिक दल ही नहीं रह गया। अंत में मुसोलिनी ने राजधानी रोम पर धावा बोल दिया (१९२२ ई०), जिसके फलस्वरूप राजा को उसे प्रधान मंत्री बनाना पड़ा और पार्लमेंट ने उसे अधिनायक चुन लिया। अब इटली का एकमात्र नेता मुसोलिनी ही था। यह तानाशाह प्राचीन रोम के वैभव की याद दिलाकर भूमध्यसागर को 'इटली की झील' बनाना चाहता था। उसने धीरे-धीरे अपने दल का विरोध करनेवाली सभी शक्तियों एवं प्रवृत्तियों को कुचल दिया और फासिस्टवाद की सफलता के लिए नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता को ताक पर धर दिया! फलतः इटली में भाषण और लेखनी की स्वतंत्रता का सर्वथा अंत हो गया। इस तानाशाही के अधीन फासिस्ट अनुशासन एवं इच्छा के सम्मुख सबको झुक जाना पड़ा और मुसोलिनी की इच्छा ही राष्ट्र की इच्छा मानी जाने लगी। मुसोलिनी का यह फासिस्ट अधिनायकतंत्र क्रमशः इतना उद्दंड हो गया कि उसने विश्व-शांति की उपेक्षा करके अबीसीनिया पर नग्न आक्रमण कर दिया और उसे इटली में मिला लेने की घोषणा कर दी (९ मई, १९३६ ई०)। तभी स्पेन में गृह-युद्ध की आग भड़क उठी (जुलाई, १९३६ ई०) और फ्रैंको नामक एक तानाशाह के अधीन वहाँ भी फासिस्ट अधिनायकतंत्र की स्थापना हो गई। इस अधिनायकतंत्र को मुसोलिनी की पूरी मदद प्राप्त थी। इन्हीं दिनों जर्मनी में हिटलर के अधीन फासिस्टवाद के दूसरे रूप 'नाजीवाद' का उदय हुआ। मुसोलिनी ने तुरन्त ही जर्मनी से मित्रता कर ली और बाद में जब कम्युनिस्ट गुट के विरुद्ध जर्मनी और जापान ने मिलकर अपनी दुरभिसंधि की, तो उक्त जर्मन-जापानी गुट में फासिस्ट इटली भी सहर्ष सम्मिलित हो गया! इस 'त्रिगुट' को 'रोम-बर्लिन-टोकियो एक्सिस' की संज्ञा प्रदान की गई। यह गुटबंदी द्वितीय महायुद्ध का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुई।

हिटलर का अभ्युत्थान :: नाजी जर्मनी

प्रथम महायुद्ध में बुरी तरह अपमानित होने तथा बेतरह कुचल दिए जाने के कारण जर्मन जाति भीतर ही भीतर कटुता के जहरीले घूँट निगल रही थी। अंत में कुछ ही वर्षों के भीतर उसकी अन्तरात्मा एक बार फिर अपना सिर ऊँचा उठाने को तिलमिला उठी। युद्ध के कारण जर्मनी को विषम आर्थिक संकट की स्थिति में से गुजरना पड़ रहा था। उक्त हताशा के वातावरण में जब इटली के फासिस्टवाद से प्रेरणा प्राप्त करके एक साधारण-से व्यक्ति हिटलर ने नाजी पार्टी का संगठन कर जर्मन राष्ट्र के पुनरुत्थान का नारा बुलन्द किया, तो जर्मन युवकों में एक नया जोश उमग पड़ा! हिटलर ने अपनी आत्म-कथा--'मेरा संघर्ष'--में जर्मनी के पुनर्संगठन की योजना प्रस्तुत करते हुए उसकी सिद्धि के लिए संघर्ष का एक विधिवत् खाका-सा खींच दिया था। यह पुस्तक नव जर्मन राष्ट्र का मानो धर्म-ग्रंथ बन गई!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिटलर की जबान में जादू था। उसके भाषणों ने जर्मन जनता के हृदय को बेतरह प्रभावित करके उसमें नया खून पैदा कर दिया। आखिर १९३३ ई० में, इटली के तानाशाह मुसोलिनी की तरह, हिटलर भी जर्मनी का भाग्यविधाता, नेता या 'फुहरर' बन गया। अपने पूर्ववर्ती जर्मन चांसलर बिस्मार्क की भाँति जर्मनी का यह तानाशाह भी खड्गनीति में विश्वास करता था, अतः उसने सैनिक शिक्षा अनिवार्य करके जर्मनी को एक खतरनाक सैनिक राष्ट्र बना दिया। उसने वार्साई की तमाम संधि-शर्तों को ठुकराकर जर्मन जाति को संसार में सर्वोच्च जाति घोषित कर दिया और इस नीति के दौर में जर्मन लोगों के लिए पृथ्वी पर अधिक निवास-स्थान की माँग पेश की। देश के भीतर सभी तरह की नाजी-विरोधी प्रवृत्तियाँ कुचलकर हिटलर ने हजारों यहूदी नर-नारियों को जर्मनी से निर्वासित कर दिया। यही नहीं, उसने सभी प्रकार की हड़तालें गैर-कानूनी करार दे दीं; उत्पादन के साधनों, व्यापार तथा बैंकों पर सरकारी नियंत्रण कर दिया और आर्थिक संगठन एवं सुधारों द्वारा जर्मनी को बहुत-कुछ एक आत्मनिर्भर राज्य बना दिया। उधर जर्मन वैज्ञानिकों ने भीषण विस्फोटकों, टैंकों, जंगी हवाई जहाजों, टॉरपीडो तथा अन्य युद्ध-सामग्रियों का आविष्कार करके अपने देश की सामरिक शक्ति को दिन-पर-दिन बढ़ाना शुरू किया। इस प्रकार देश में आत्म-बल एवं आत्म-विश्वास पैदा करके हिटलर राष्ट्र-संघ से पृथक् हो गया और उसने योरप में अपना विस्तार प्रारंभ कर दिया।

उसने सब से पहले, वार्साई की संधि को ताक पर रखकर, पिछले महायुद्ध के बाद निश्शस्त्र बना दिए गए राइन प्रदेश पर कब्जा कर लिया (मार्च १९३६ ई०)। तब स्पेन के गृह-युद्ध (१९३६-१९३९ ई०) में सहायता प्रदान कर वहाँ फ्रैंको के नेतृत्व में फासिस्ट अधिनायकतंत्र की स्थापना में भी खुलकर योग दिया। इन्हीं दिनों (१९३६ ई० में) जापान तथा इटली से संधि करके उसने 'रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी' के नाम से एक नया गुट भी बना लिया। इस प्रकार जब उसने अपने हाथ मजबूत कर लिए और हर प्रकार से वह तैयार हो लिया, तब अपनी आक्रामक नीति को मूर्त रूप देने के लिए उसने

सक्रिय कदम उठाया। उसने सर्वप्रथम अपनी गिद्ध-दृष्टि पड़ोसी ऑस्ट्रिया पर डाली, जहाँ कि वह पैदा हुआ था और जिसे जर्मनी में मिलाकर एक महान् जर्मन राष्ट्र की स्थापना का सपना वह मन-ही-मन बुन रहा था। कूट चाल से उसने ऑस्ट्रियन चांसलर को अपने मंत्रिमंडल में एक नाजी को लेने के लिए मजबूर कर दिया और उक्त देशद्रोही द्वारा 'उपद्रवों का दमन करने के लिए' तुरन्त जर्मन सहायता की माँग की गई! फलतः हिटलर की सेनाएँ फौरन् ही ऑस्ट्रिया पर टूट पड़ीं (१९३८ ई०) और इस प्रकार नग्न आक्रमण द्वारा देखते ही देखते वह देश जर्मनी में मिला लिया गया!

म्युनिख-पैक्ट—इस नग्न दुस्साहसपूर्ण कार्रवाई के खिलाफ जब किसी भी योरपीय शक्ति ने उँगली तक नहीं उठाई, तो हिटलर की हिम्मत और भी बढ़ गई! अब उसने चेकोस्लोवाकिया के पश्चिमी भाग--सुडेटनलैंड--की ओर अपना पंजा बढ़ाया। वहाँ के बाशिन्दों में जर्मन नस्ल के लोगों की बहुतायत थी। इन लोगों के प्रति 'अत्याचार' का आरोप लगाकर उसने चेकोस्लोवाकिया को धमकी दी कि मजबूरन नाजी सेना को उनकी मदद के लिए आना पड़ेगा! उसके इन शैतानी इरादों के फलस्वरूप जब योरप में युद्ध की आग भड़क उठने का खतरा स्पष्ट दिखाई देने लगा, तो ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस घबड़ाए और युद्ध टालने की गरज से ब्रिटिश प्रधान मंत्री नेविल चेंबरलैन (जो एक नितान्त दुर्बलहृदय व्यक्ति था) दौड़ा हुआ जर्मनी गया! वहाँ उसने फ्रेंच प्रधान मंत्री सहित घुटने टेककर हिटलर और मुसोलिनी के साथ 'म्युनिख-पैक्ट' नामक वह बदनाम समझौता किया (१९३८ ई०), जिसके अनुसार जर्मनी को चेकोस्लोवाकिया का जर्मन बाशिन्दोंवाला प्रदेश हड़प लेने दिया गया!

'द्वितीय महायुद्ध' के संहारकारी हवनकुंड में संसार भर को धकेलकर भीषण बवंडर खड़ा कर देनेवाले फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी के मदान्ध तानाशाह—मुसोलिनी और हिटलर।

पोलैंड पर धावा और द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश—इतिहास इस बात का साक्षी है कि आक्रान्ताओं के समक्ष घुटने टेकने की नीति कभी भी सफल नहीं हुआ करती। अतः म्युनिख के समझौते ने हिटलर की विजय-लालसा की लपटों को उल्टे और अधिक भड़का दिया। छः महीने बाद ही उसने म्युनिख-पैक्ट द्वारा गारंटी की गई शान्ति को ठोकर मार दी और एक ओर तो चेकोस्लोवाकिया में नाजी सेना भेजकर उसे अपना 'संरक्षित प्रदेश' घोषित कर दिया (मार्च, १९३९ ई०); दूसरी ओर डेंजिग के बंदरगाह और 'पोलिश गलियारे' की वापसी की माँग के बहाने एक नया संकट खड़ा करके पोलैंड पर भी धावा बोल दिया (सितंबर १९३९ ई०)। इस आक्रमणकारी कदम को अब न तो ब्रिटेन, न फ्रांस ही बर्दाश्त कर सकता था, फलतः युद्ध की रण-भेरी बज उठी!

द्वितीय महायुद्ध

यह भीषण महायुद्ध छः वर्ष तक चला। इस लड़ाई के प्रारम्भिक दौर में मित्र-पक्ष का पलड़ा कमजोर रहा और वे धुरी-राष्ट्रों के हाथों निरंतर पराजित होते चले गए। इसका कारण यह था कि हिटलर ने जर्मनी की जनशक्ति एवं औद्योगिक क्षमता को सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वैज्ञानिक ढंग से संगठित करके पहले ही से युद्ध की जबर्दस्त तैयारी कर रक्खी थी। उसके पास अनगिनत टैंक और लड़ाकू हवाई जहाज थे। अतः देखते-देखते फ्रांस की 'मैजिनो लाइन' नामक सीमावर्ती रक्षा-पंक्ति को बेकार बनाकर उसने डेनमार्क, नार्वे, बेल्जियम, हॉलैंड तथा स्वयं फ्रांस तक को बुरी तरह रौंद डाला और इन सब देशों में अपने अधीन कठपुतली सरकारें कायम कर दीं! उधर बड़ी चतुराई से सोवियत रूस के शक्तिशाली डिक्टेटर स्टालिन से गठबंधन करके उसने पूर्व की ओर से अपने को सर्वथा सुरक्षित बना लिया। पोलैंड पर हिटलर के आक्रमण के समय रूसी फौजों ने पूर्व की ओर से हमला करके उस अभागे देश को पराजित करने में जर्मनों को बड़ी मदद दी थी। इस कुकृत्य के पुरस्कारस्वरूप ही नाजियों ने स्टालिन को

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहर्ष पोलेंड का पूर्वीय भाग और लेटविया, इस्टोनिया आदि बाल्टिक राज्यों को हड़प लेने दिया था।

ब्रिटेन पर हवाई आक्रमणों का ताँता—तब १९४० ई० के अगस्त मास में हिटलर ने ब्रिटेन पर वायुयान द्वारा बमवर्षा का एक जबर्दस्त अभियान आरंभ किया। कारण, समस्त योरप में अब यही एक देश उसके परम शत्रु के रूप में शेष बचा था। प्रायः हर रात्रि को झुंड-के-झुंड जर्मन हवाई जहाज चैनल पार करके इंगलैंड पर मँडराते और हजारों टन विस्फोटक एवं आग्नेय बम गिराकर वापस चले जाते ! इस बमवर्षा से लंदन तहस-नहस हो गया और हजारों नर-नारी हताहत हुए ! किन्तु यह ब्रिटिश चरित्र था कि इस तरह बुरी तरह लथेड़े जाने पर भी अंग्रेजों ने अपने घुटने नहीं टेके ! उल्टे, इसी बीच उद्योगों और अन्य साधनों का विशेष संगठन एवं विकास करके नए-नए सैनिक साज-सामान का उत्पादन किया गया; नए ढंग के तेज उड़नेवाले वायुयान बनाए गए; फैक्ट-रियों में बमों के अंबार लगा दिए गए; भीषण आग उगलने-वाली हवाई तोपें जगह-जगह खड़ी की गई और इस तरह वर्ष भर के भीतर ही ब्रिटेन प्रति-आक्रमण के लिए तैयार हो गया ! ब्रिटेन की इस चिरस्मरणीय रक्षात्मक लड़ाई के शौर्य का प्रमुख श्रेय उसके युद्धकालीन महान् नेता विंस्टन चर्चिल को था, जिसकी दृढ़ता ने एक-एक अंग्रेज बच्चे की नसों में स्फूर्ति की नई लहर जगा दी थी।

उत्तरी अफ्रीका और पूर्वीय योरप का रण-प्रांगण—इसी दौरान में युद्ध की लपटें योरप की सीमाओं को लाँघकर उत्तरी अफ्रीका एवं पश्चिमी एशिया के भूभागों की ओर भी फैल चुकी थीं। १९४० ई० में हिटलर का अनुकरण करके मुसोलिनी ने ग्रीस पर धावा बोल दिया। परंतु उसे मुँह की खाकर वहाँ से लौटना पड़ा। इसी तरह लीबिया की ओर से बढ़कर उसने मिस्र में घुसने की भी कोशिश की, पर वहाँ भी ब्रिटिश फौजों के हाथों उसे धरती चाटनी पड़ी ! मुसोलिनी को इस तरह लड़-खड़ाते देखकर आखिर हिटलर बाल्कन प्रदेशों की ओर मुड़ा और उसने रूमानिया, बलगारिया, युगोस्लाविया तथा अंत में ग्रीस पर भी अधिकार कर लिया। उसने उत्तरी अफ्रीका में मिस्र की ओर भी एक शक्तिशाली सेना भेजकर वहाँ की ब्रिटिश सेना को हरा दिया ! इस प्रकार १९४१ ई० के ग्रीष्म तक वह समस्त पश्चिमी एशिया को हथियाने की स्थिति में हो गया ! निश्चय ही यह उसकी विजय का चरम क्षण था !

रूस पर जर्मन आक्रमण और हिटलर की मुसीबतों का श्रीगणेश—किन्तु इस अप्रत्याशित सफलता के बावजूद हिट-लर ने एक महान् भूल कर डाली ! उसकी यह भूल थी सोवियत रूस पर आक्रमण ! इस भीषण सैनिक गलती के कारण ही उसे भी वैसे ही लेने के देने पड़ गए, जैसा कि उससे पूर्व योरप-विजेता नेपोलियन का हाल हुआ था। अपनी तीव्र आक्रमण-शक्ति और द्रुत गति की बदौलत नाजी फौजें शुरू-शुरू में तो रूस के यूक्रेन प्रांत को रौंदकर ठेठ लेनिन-ग्राड और मॉस्को के समीप तक जा पहुँची थीं, परन्तु अंत में जाड़ा आते ही नेपोलियन की फौजों की तरह हिटलर की सेना भी बर्फीले रूसी मैदानों में फँसकर उलझ गई ! रूसियों ने स्टालिनग्राड के सुप्रसिद्ध घेरे में नाजियों के आगे लोहे की दीवार की तरह डटे रहकर हिटलर के छक्के छुड़ा दिए ! दरअसल, यहीं से हिटलर की पराजय का क्रम आरंभ हुआ।

पूर्व में जापान की आक्रामक कार्रवाइयाँ और संयुक्त राज्य (अमेरिका) का युद्ध के आँगन में अवतरण—इसी दर्मियान में सुदूर पूर्व में धुरी-राष्ट्रों के तृतीय सदस्य जापान ने भी तोजो नामक उग्र महत्वाकांक्षी प्रधान मंत्री के नेतृत्व में साम्राज्य-विस्तार और विजय-अभियान के एक नंगे नाटक का सूत्रपात कर दिया ! उसने प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीपों में स्थित 'पर्ल हार्बर' नामक अमेरिकन नौ-अड्डे पर ७ दिसम्बर, १९-४१ ई०, को हवाई जहाजों से अकस्मात् आक्रमण करके कई अमेरिकन जंगी जहाज डुबा दिए ! यहीं नहीं, इसके उपरान्त एक भीषण बवंडर की तरह उमड़कर उसने कोरिया, थाईलैंड, मलाया, सिंगापुर, जावा, सुमात्रा, फिलिपीन द्वीप-समूह सहित चीन के भी बहुत बड़े भाग को देखते-देखते हथिया लिया ! जापान की इस आक्रामक कार्रवाई का एक नतीजा यह हुआ कि संयुक्त राज्य (अमेरिका), जो अब तक तटस्थ रहकर युद्ध से अलग खड़ा था, विवश हो ताल ठोंककर रण-भूमि में उतर पड़ा। इससे धुरी-राष्ट्रों की शक्ति - संतुलन की तराजू काफी गड़बड़ा गई और उनका पलड़ा ऊपर को उठ चला ! यद्यपि जापान बढ़ते-बढ़ते ठेठ भारत की सीमा तक आ धमका था और उधर नाजी सेनाएँ भी उत्तरी अफ्रीका, कॉके-शश आदि के लिए खतरा पैदा कर रही थीं एवं 'यू-बोट' नामक जर्मन पनडुब्बियाँ मित्र-पक्ष के जंगी जहाजों को डुबा-डुबा-कर तथा 'वी-२' नामक स्वयंचालित उड़नबम ब्रिटेन पर आग बरसाकर अलग नाकों दम कर रहे थे; परन्तु अब ज्वार की दिशा बदल चुकी थी ! आखिर, १९४२ ई० के समाप्त होते-होते पासा एकदम पलट गया और धुरी-राष्ट्रों (जर्मनी, इटली तथा जापान) को बुरी तरह धूल चाटनी पड़ी। १९४२ ई० के आरंभ में उत्तरी अफ्रीका में मित्र-राष्ट्रों की प्रथम महान् विजय हुई। इसी वर्ष अमेरिकन और ब्रिटिश फौजों ने मिलकर इटली पर आक्रमण कर दिया,

जिसके फलस्वरूप धुरी-राष्ट्रों की शक्ति बेतरह लड़खड़ा गई। उधर १९४३ ई० में रूस ने भी पलटकर आक्रमणों का ताँता शुरू कर दिया और जून, १९४४ ई०, में जनरल आइसनहोवर के नेतृत्व में मित्र-सेना योरप के तट पर उतरकर पुनः फ्रांस में जा जमी ! आखिर, एक ओर अमेरिकन एवं ब्रिटिश सेना के ज्वार तथा दूसरी ओर रूसी सेना के दबाव के बीच फँसकर जर्मनी पूर्णरूपेण पराजित कर दिया गया (१९४५ ई०) और बर्लिन के अपने सैनिक कार्यालय में घिरकर हिटलर ने भी आत्महत्या कर ली ! इटली तो इससे पहले ही पराजित हो चुका था (१९४४ ई०)। जब जर्मनी ने घुटने टेक दिए, तो इटली के लोगों ने स्वयं ही मुसोलिनी की हत्या कर डाली। अंत में संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने परमाणु-बम का सर्वप्रथम प्रयोग करके हिरोशिमा तथा नागासाकी नामक दो जापानी नगरों को विनाश के गर्त में ढकेल दिया ! इससे विवश होकर जापान को भी आत्मसमर्पण करना पड़ा ! इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध की इतिश्री हुई (१९४५ ई०) और छः वर्ष के उन्मत्त विनाश-ताण्डव के उपरान्त संसार को अंततोगत्वा पुनः राहत की साँस लेने का मौका मिला।

द्वितीय महायुद्ध में मित्र-पक्ष के नेता :: (बाईं से दाहिनी ओर को) ब्रिटिश प्रधान मंत्री चर्चिल; अमेरिकन प्रेसीडेंट रूजवेल्ट; और सोवियत अधिनायक स्टालिन।

द्वितीय महायुद्ध की प्रचंडता और उससे होनेवाली क्षति का कुछ अनुमान इन महत्वपूर्ण आँकड़ों से लगाया जा सकता है। उसमें दोनों ओर से कुल ५६ राष्ट्र सम्मिलित हुए थे, जिनके ८॥ करोड़ सैनिक मैदान में उतरे थे ! इनमें से लगभग १। करोड़ सैनिक खेत रहे और उतने ही सख्त रूप से घायल हुए ! इनके अतिरिक्त हवाई हमलों से जो लाखों नागरिक मारे गए, उनका तो कोई अंदाज ही नहीं है ! आर्थिक दृष्टि से, केवल सैनिक पूर्ति के लिए ही कोई १० खरब डॉलर का खर्च इस युद्ध में हुआ होगा ! फिर, संपत्ति और कल-कारखानों के विनाश से जो अपार हानि हुई, उसका अनुमान कोई क्या करे ?

संयुक्त राष्ट्र-संघ (युनाइटेड नेशन्स)

द्वितीय महायुद्ध प्रथम महायुद्ध से भी बढ़कर प्रलयंकर एवं विनाशकारी सिद्ध हुआ। उधर अणु-अस्त्रों के आविष्कार और प्रयोग ने विश्व-शांति के लिए एक नवीन अप्रत्याशित संकट खड़ा कर दिया ! अतः युद्ध की समाप्ति पर जब लोगों का ध्यान पुनः शान्ति की रक्षा के लिए एक विश्व-संस्था के निर्माण की आवश्यकता के प्रति गया, तो इस बार सभी ने पिछले राष्ट्र-संघ की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली एक ऐसी संस्था का संगठन करना चाहा, जो संसार में चिरशान्ति स्थापित करके विविध राज्यों को पारस्परिक सहयोग की भूमि पर ला खड़ा कर सके, ताकि लोग सचमुच ही एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-राज्य के नागरिक बनने की दिशा में प्रवृत्त हो सकें। इस सम्बन्ध में कतिपय कदम तो युद्ध समाप्त होने से पूर्व ही उठाए गए थे, जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति अमेरिकन प्रेसीडेंट रूजवेल्ट एवं ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल द्वारा निर्धारित प्रख्यात 'अटलांटिक चार्टर' (१४ अगस्त, १९४१ ई०) की घोषणा के रूप में हुई थी। तदनन्तर 'तेहरान-सम्मेलन' (नवंबर, १९४३ ई०) और 'याल्टा-कान्फरेन्स' (फरवरी, १९४५ ई०) में रूजवेल्ट, चर्चिल एवं स्टालिन के बीच होनेवाली महत्वपूर्ण बातचीत तथा जर्मनी की पराजय के उपरान्त होनेवाली 'पोत्सदाम-कान्फरेन्स' (१९४५ ई०) में भी जहाँ युद्धोपरान्त की दुनिया के मानचित्र की रूपरेखा पुनर्निर्धारित की गई, वहाँ साथ ही साथ युद्ध-प्रवृत्तियों को रोकने एवं संसार में शान्ति बनाए रखने के लिए वास्तविक उपाय करने की दिशा में भी काफी विचार-मंथन किया गया। इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप आखिर 'डम्बर्टन ओक्स' (१९४४ ई०) एवं सैनफ्रैन्सिसको के सम्मेलनों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१९४५ ई०) में किए गए निश्चयों के आधार पर 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' (युनाइटेड नेशन्स) नामक विश्व-संस्था का संगठन किया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस संस्था के इस समय लगभग सौ राष्ट्र सदस्य हैं और उसके अंतर्गत तीन प्रमुख संस्थाएँ हैं--'जनरल असेंबली', 'सुरक्षा-परिषद्' तथा 'विश्व-न्यायालय'। 'सुरक्षा-परिषद्' संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थायी संस्था है, जो उसकी कार्यकारिणी के समान है। दुनिया की शांति एवं सुरक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली सभी महत्वपूर्ण समस्याएँ इसी के सम्मुख पेश होती हैं। ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य (अमेरिका), रूस, फ्रांस तथा फारमोसा में स्थित राष्ट्रवादी चीन इसके स्थायी सदस्य हैं। इनके अतिरिक्त बारी-बारी से अन्य राष्ट्रों में से भी इसके कुछ सदस्य चुन लिए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र-संघ का स्थायी कार्यालय न्यूयॉर्क में रक्खा गया है, जहाँ उसके अपने विशाल भवन निर्मित किए गए हैं।

'संयुक्त राष्ट्र-संघ' प्रभुसंत्तासपन्न राज्यों का एक स्वतंत्र संगठन है। इसके प्रत्येक सदस्य ने उसके चार्टर में निर्धारित सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की है। अतः संवैधानिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण से 'राष्ट्र-संघ' की अपेक्षा 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' की स्थिति अधिक दृढ़ है। यह संस्था शान्ति एवं सुरक्षा के पक्ष में तात्कालिक तथा प्रभावशाली कार्यवाही करने में बहुत-कुछ समर्थ है। यद्यपि इसके स्थायी सदस्यों को प्राप्त 'वीटो' का अधिकार इसे निर्बल एवं अपंग भी बना देता है, फिर भी शांति-स्थापनार्थ इसकी सेवाएँ स्तुत्य हैं। पिछले दिनों बर्लिन, कोरिया, स्वेज, कांगो तथा क्यूबा आदि की विषम समस्याओं के संकट के क्षण में इस संस्था ने शांति-स्थापना में प्रशंसनीय योग दिया है। राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त, दुनिया की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं शिक्षा, कृषि तथा स्वास्थ्य-संबंधी समस्याओं का भी समाधान संयुक्त राष्ट्र-संघ अपनी विविध परिषदों द्वारा करता है। वस्तुतः इस संस्था का लक्ष्य विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय करके एक विश्व-संस्कृति का विकास करना है।

भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी में, योरप के कई एक देशों की भाँति, भारतवर्ष में भी राष्ट्रीयता एवं स्वाधीनता की लहर ने जोर पकड़ा। राष्ट्रीयता की यह नवजात लहर भारत की मौलिक एकता तथा भारतवासियों के स्वशासनाधिकार के सिद्धांत पर अवलंबित थी। अन्य देशों के क्रांतिकारी आन्दोलनों की भाँति, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को भी पश्चिम की विचारधारा के प्रभाव से उच्छ्वसित उन्नीसवीं शताब्दी के मानसिक एवं सांस्कृतिक जागरण से बड़ी प्रेरणा मिली। अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा होनेवाले शिक्षा-प्रचार ने भारतवासियों के लिए पाश्चात्य साहित्य एवं इतिहास का अध्ययन सुगम कर दिया। इससे उन्हें लोकतंत्र, राष्ट्रीयतावाद तथा क्रांति की पश्चिमी विचारधाराओं के संपर्क में आने का सुअवसर मिला। इन्हीं दिनों राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द जैसे अग्रदूतों द्वारा प्रेरित सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन ने भारतवासियों में नूतन आत्मविश्वास एवं आत्मगौरव का संचार किया। इस प्रकार एक नवयुग का सूत्रपात हुआ।

कांग्रेस की स्थापना — तभी इतिहासप्रसिद्ध भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ (१८८५ ई०)। कांग्रेस ने अपने आविर्भाव के समय से ही विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया। उसने अपने द्वार भारत में रहनेवाली सभी जातियों एवं सभी धर्मावलंबियों--हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई तथा पारसी --के लिए खुले रक्खे। फलतः यह संस्था भारत की प्रतिनिधि राजनीतिक संस्था बन गई। कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं में सर्वश्री दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

१८५७ ई० के स्वातंत्र्य-समर ने भारतवासियों को यह सिखा दिया था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति सफल नहीं हो सकती। अतः अपने शैशवकाल में कांग्रेस ने नरम दल के राजनीतिज्ञों के हाथों में रहकर आवेदन, प्रार्थना एवं प्रतिवाद की संवैधानिक नीति अपनाई और ब्रिटिश सरकार से सुधारों की माँग करने का ही पथ ग्रहण किया। उसके इस आन्दोलन के फलस्वरूप, १८९२ ई० में कौंसिलों के संगठन में सुधार किया गया और उनमें भारतवासियों को अधिक स्थान दिया गया।

लार्ड कर्जन तथा बंग-भंग — कांग्रेस द्वारा शान्तिपूर्वक परिचालित यह संवैधानिक आंदोलन मंथर गति से चल रहा था कि इसी बीच लार्ड कर्जन वाइसराय बनकर भारत आया। वह साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का व्यक्ति था, अतः १९०५ ई० में उसने धर्म के आधार पर बंगाल को दो भागों में विभक्त कर दिया!

अब तक हिन्दू और मुसलमान आपस में मिलजुलकर रहते चले आ रहे थे। इस चाल द्वारा अंगरेजों ने उनमें फूट पैदाकर एक दूसरे से उन्हें पृथक् करना चाहा। इस कूट चाल का देशव्यापी विरोध किया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वदेशी आन्दोलन तथा गरम दल——बंग-भंग की नीति ने देश में ब्रिटिश-विरोधी भावना को तीव्र बना दिया और फलतः अब खुल्लमखुल्ला यह प्रचार किया जाने लगा कि अंगरेज भारतवासियों में फूट पैदा करके शासन करना चाहते हैं। इसी भावना ने अंततोगत्वा 'स्वदेशी आन्दोलन' को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी पहनावे और स्वदेशी शिक्षा एवं संस्कृति पर विशेष बल दिया जाने लगा। इसी लहर में भारतीय मंच पर गरम विचारधारा के कुछ ऐसे राजनीतिज्ञों का उद्भव हुआ, जिन्होंने भारत को अंगरेजों के शासन से सर्वथा मुक्त करने की आवाज बुलंद की। यद्यपि इस आन्दोलन की प्रगति को रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार ने कोई कोरकसर बाकी नहीं रक्खी, पर वह उसे न दबा सकी।

लोकमान्य तिलक——इस काल के सब से महान् भारतीय राजनीतिक नेता थे प्रातःस्मरणीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक। उनका कहना था कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर ही रहेंगे!" उनका मत था कि सुशासन की अपेक्षा स्वशासन श्रेयस्कर है। सूरत में होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन में (१९०७ ई०)——जहाँ नरम और गरम दल में परस्पर फूट उत्पन्न हो गई थी——लोकमान्य ने भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य की माँग पेश की थी। तिलक एक कुशल पत्रकार भी थे। उन्होंने 'केसरी' तथा 'मराठा' नामक अपने पत्रों में निर्भीकतापूर्वक ब्रिटिश राज्य के अत्याचारों का पर्दाफाश करके स्वाधीनता का एक जोरदार आंदोलन जगा दिया और ब्रिटिश सरकार की नीति की धज्जियाँ उड़ा दीं। फलस्वरूप छः वर्ष के कठिन कारावास का दंड पाकर उन्हें बर्मा के मांडले-कारागार में रहना पड़ा। वहीं उन्होंने अपनी अमर कृति 'गीता-रहस्य' की रचना की। १९२० ई० में उनका देहांत हुआ, तब तक भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन इतना जोर पकड़ चुका था कि अब वह किसी के भी दबाये नहीं दब सकता था।

मुस्लिम-लीग की स्थापना—उधर ब्रिटिश सरकार की भारतवासियों में फूट डालने की नीति भी निरंतर जारी थी। इसी नीति के अधीन वाइसराय लार्ड मिण्टो ने मुस्लिम नेताओं को अलग आमंत्रित करके उन्हें ऐसा मंत्र दिया, जिससे १९०६ ई० में कांग्रेस के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए 'मुस्लिम लीग' की स्थापना की गई। यह एक ऐसा विष-वृक्ष था, जिसके फलस्वरूप ही आखिर चालीस साल बाद भारत का बँटवारा हुआ!

मार्ले-मिण्टो-सुधार——ब्रिटिश सरकार एक ओर जहाँ गरम दलवालों का दमन कर रही थी, वहाँ दूसरी ओर नरम दल के प्रति वह फुसलाने की नीति बरतती थी। इसी नीति के अधीन नरम दल के नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले को मंत्रणा के लिए इंगलैंड बुलाया गया और आखिर १९०९ ई० में 'मार्ले-मिण्टो-सुधार' का कदम उठाया गया, जिसके अनुसार वाइसराय की कौंसिल के भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई और सांप्रदायिकता के आधार पर मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया। पर इन सुधारों से भारतीय जनमत संतुष्ट नहीं हो सका।

माण्ट-फोर्ड-सुधार—यद्यपि १९१४ ई० के प्रथम महायुद्ध में भारतीय सैनिक अंगरेजों के पक्ष में लड़े और स्वयं महात्मा गांधी ने भी इस युद्ध में अंगरेजों के पक्ष का समर्थन किया, तथापि ब्रिटिश सरकार ने भारतीय आकांक्षाओं की पूर्ति की दिशा में कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। इन्हीं दिनों लोकमान्य तिलक ने कारावास से मुक्त होते ही डॉ० एनी बेसेन्ट के साथ मिलकर 'होमरूल आन्दोलन' का श्रीगणेश किया। तब १९१६ ई० में लखनऊ में होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन में नरम और गरम दल में पुनः मेल हो गया; साथ ही मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस में भी अल्पकालिक सहयोग स्थापित हो गया। इन घटनाओं से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को नया साहस और बल मिला।

फलतः १९१७ ई० में ब्रिटिश पार्लमेंट ने यह घोषणा की कि "प्रशासन के प्रत्येक विभाग में भारतवासियों को अधिकाधिक हिस्सा दिया जायगा और भारत में स्वायत्त संस्थाओं का क्रमिक विकास किया जायगा, ताकि कालान्तर में वहाँ उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना हो सके।" उपर्युक्त नीति के तारतम्य में १९१९ ई० में माण्ट-फोर्ड-सुधारों की घोषणा की गई। परंतु इनसे भी भारतीय जनमत संतुष्ट नहीं हो सका, क्योंकि इन सुधारों ने स्वराज्य की दिशा में कोई भी पग नहीं उठाया था। भारतीय जनता का क्षोभ एवं असंतोष निरंतर बढ़ता ही चला गया और उसे कुचलने के लिए सरकार का दमन-चक्र भी अविराम गति से चलता रहा। इसी दौर में अत्याचारपूर्ण 'रौलट बिल' पास किए गए, जिनसे सारा देश विदेशी सत्ताधारियों के प्रति रोष की भावना से कुलबुला उठा।

असहयोग-आन्दोलन——इन्हीं दिनों भारत की राजनीति में गांधीजी का सक्रिय प्रवेश हुआ। उन्होंने देशवासियों को स्वराज्य की लड़ाई लड़ने का एक नया तरीका सिखाया। इस प्रकार 'असहयोग-आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ (१९२१ ई०)। गांधीजी ने 'त्रिसूत्री बहिष्कार' की नीति का प्रवर्तन किया। फलतः सरकारी अदालतों, शिक्षा-संस्थाओं एवं व्यवस्थापिका सभाओं के 'बॉयकाट' का आन्दोलन चलाया

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गया। जगह-जगह हड़तालें हुईं, जुलूस निकाले गए और सत्याग्रह की धूम मच गई।' यह आन्दोलन अपनी चरम सीमा को पंजाब में पहुँचा, जहाँ अमृतसर के जलियाँवाला बाग नामक स्थान में आयोजित एक निहत्थी सभा पर जनरल डायर ने गोली चलवा दी, जिससे (सरकारी प्रतिवेदन के अनुसार) ३७९ व्यक्ति मारे गए तथा १,२०० घायल हुए! इस लोमहर्षक हत्याकाण्ड की स्मृति आज भी हमारे खून को खौला देती है!

सरकार के साथ असहयोग की नीति बरतने के इस आन्दोलन के बावजूद १९१९ ई० के संवैधानिक सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचन कराए गए और यद्यपि महात्माजी उनके बहिष्कार पर बल देते रहे, लेकिन कुछ कांग्रेसी नेता चुनाव लड़ने को तैयार हो गए! इनमें पं० मोतीलाल नेहरू, श्री चितरंजन दास तथा श्री विट्ठलभाई पटेल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनका कहना था कि हम लोगों को व्यवस्थापिका सभाओं में बैठकर भीतर से सरकार की नीति की आलोचना करना चाहिए तथा अंगरेजों की योजनाओं को असफल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन नेताओं ने कांग्रेस के अन्दर ही 'स्वराज-पार्टी' नामक एक दल की स्थापना की (१९२३ ई०)।

इतिहास-प्रसिद्ध 'दाँडी-यात्रा' के समय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की एक छवि :: दाहिनी ओर हाथों में खादी के सूत की माला लिए हुए श्रीमती सरोजिनी नायडू हैं। [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]

सविनय अवज्ञा आन्दोलन—जब १९१९ ई० के सुधार सर्वथा असफल सिद्ध हुए, तो भारतीय परिस्थिति का अध्ययन करके सुधारों की अगली किश्त तैयार करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में कुख्यात 'साइमन कमीशन' की स्थापना की (१९२७ ई०)। इसमें कोई भी भारतीय सदस्य सम्मिलित नहीं किया गया। इससे देश भर के सभी दलों द्वारा इस कमीशन का सर्वथा बहिष्कार किया गया। तभी पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस ने अपने लाहौर-अधिवेशन में (१९२९ ई०) पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया और उसी दौर में १९३१ ई० में गांधीजी ने प्रसिद्ध 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' चलाया, जिसका अभिप्राय सरकारी कानूनों का उल्लंघन करना था। इस आंदोलन के क्रम में महात्माजी ने 'दाण्डी-यात्रा' करके स्वयं नमक-कानून तोड़ा। इस आन्दोलन में देश के सहस्रों नर-नारी सम्मिलित हुए और परिणामस्वरूप जेलें सत्याग्रहियों से खचाखच भर गईं। इसी बीच भारतीय समस्या के समाधान के लिए ब्रिटिश सरकार ने लंदन में 'गोल-मेज-परिषद्' करने की घोषणा की। ऐसी तीन परिषदें १९३०, १९३१ तथा १९३२ ई० में हुईं। कांग्रेस ने पहली गोलमेज-परिषद् का तो बहिष्कार किया, किंतु १९३१ ई० में वाइसराय लार्ड इरविन तथा महात्मा गांधी के बीच समझौता हो जाने के कारण जब सभी राजनीतिक बंदी रिहा कर दिए गए और नमक-कानून में भी सुधार किया गया, तब गांधीजी ने अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया और पं० मदन-मोहन मालवीय तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ वह दूसरी गोल-मेज-परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इंगलैंड गए। पर इससे भी कोई ठोस नतीजा नहीं निकला, क्योंकि सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की चट्टान से टकराकर समझौते की नौका एकदम चकनाचूर हो गई!

तब १९३३ ई० में ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा प्रकाशित श्वेत-पत्र के आधार पर, भारत में संवैधानिक सुधार करने के लिए १९३५ ई० का सुधार-कानून पास किया गया। इसमें केन्द्र में संघीय सरकार तथा प्रदेशों में प्रांतीय स्वराज्य स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया था। देशी नरेशों से सहयोग न मिलने के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारण केन्द्र में संघ की स्थापना तो न हो सकी, फिर भी प्रान्तीय स्वराज्य की योजना को कार्यान्वित करने के लिए १९३७ ई० में निर्वाचन हुए और आठ प्रान्तों में बहुमत प्राप्त होने पर कांग्रेस ने वहाँ मंत्रिमंडलों की स्थापना की। इन मंत्रि-मण्डलों ने जिस योग्यता के साथ कार्यभार वहन किया, उससे यह साबित हो गया कि भारतवासी योग्यतापूर्वक प्रशासन भी कर सकते हैं।

१९३९ ई० में द्वितीय महा-युद्ध के छिड़ जाने पर ब्रिटेन ने भारतीय सेनाओं को उक्त मंत्रि-मंडलों की सहमति के बिना ही युद्धस्थल में भेज दिया! इस प्रश्न पर मतभेद होने के कारण सभी कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिए।

इन्हीं दिनों भारत की राज-नीतिक स्थिति को दृढ़ रखने के अभिप्राय से वाइसराय लार्ड लिन-लिथगो ने १९४० ई० में अपना प्रसिद्ध "अगस्त - प्रस्ताव" पेश किया। किंतु कांग्रेस ने उसे ठुकरा दिया। तब १९४२ ई० में ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने अपने एक सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारतीय नेताओं से समझौता करने के लिए भेजा। किंतु पर्याप्त सद्भावना के बाव-जूद यह "क्रिप्स-मिशन" भी असफल रहा।

'भारत छोड़ो'—अब तो भार-तीय नेताओं के धैर्य का बाँध टूट गया! कांग्रेस सत्ता का हस्तान्त-रण तुरन्त ही चाहती थी। अतः ९ अगस्त, १९४२ ई०, को गांधीजी की प्रेरणा से कांग्रेस ने अपने इतिहास-प्रसिद्ध "भारत छोड़ो" प्रस्ताव की उद्घोषणा की। इसके साथ ही गांधीजी सहित कांग्रेस के सभी चोटी के नेता रातों-रात बंदी बना लिए गए! इससे देशव्यापी असंतोष एवं क्षोभ छा गया और विदेशी शासन-सत्ता के विरुद्ध चतुर्दिक तोड़-फोड़ और विद्रोह का आन्दोलन प्रारंभ हो गया। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए अभूतपूर्व दमन किया गया तथापि सरकार शांति स्थापित करने में सर्वथा असफल रही।

मातृभूमि की बंधन-मुक्ति के लिए 'आजाद हिन्द सेना' का संगठन करनेवाले महान् लोकनायक नेताजी सुभाषचन्द्र बोस।

सत्ता-हस्तान्तरण (१९४७ ई०)—द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते-होते इंगलैंड में होनेवाले नए निर्वाचन में टोरी दल पराजित हो गया और लेबर पार्टी की विजय हुई। इस नए दौर के शुरू होते ही पुनः समझौते की वार्ता चलाई गई। पर मुस्लिम लीग के कर्णधार जिन्ना की हठवादिता के कारण, इस सिलसिले में लार्ड वैवेल द्वारा आयोजित 'शिमला-सम्मेलन' (१९४५ ई०) असफल सिद्ध हुआ। इसी प्रकार कांग्रेस और मुस्लिम लीग को सन्निकट लाकर दोनों में समझौता कराने के हेतु इंगलैंड से आया हुआ "कैबिनेट-मिशन" भी जब असफल रहा, तो मुस्लिम और गैर-मुस्लिम आबादी की बहुलता के आधार पर भारत को दो स्वतंत्र राज्यों में विभाजित करके दोनों को अलग-अलग सत्ता हस्तांतरित कर देने का निश्चय किया गया। इसी नीति के अधीन १९४७ ई० में ब्रिटेन ने एक अधिनियम पास करके 'भारत' और 'पाकिस्तान' के रूप में इस देश का बँटवारा कर सत्ता का हस्तान्तरण कर दिया। पं० जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधान मंत्री बने।

प्रभुसत्तासंपन्न गणतंत्र—१५ अगस्त, १९४७ ई०, को देश के कोने-कोने में सोल्लास स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया। तदनंतर 'विधान-निर्मात्री परिषद्' ने स्वतंत्र भारत का अपना संवि-धान तैयार किया। तदनुसार २६ जनवरी, १९५० ई०, को भारत एक प्रभुसत्तासम्पन्न गणतंत्र राज्य बन गया। इसके प्रथम राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद हुए।

भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई एक गौरवपूर्ण रक्तहीन क्रांति थी! यह महात्मा गांधी के सफल एवं सुयोग्य नेतृत्व में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाखों नर-नारियों के सद्प्रयास एवं उत्सर्ग का सुपरिणाम था। यद्यपि हमारे स्वातंत्र्य-समर के सिपाहियों और सेनानियों को जब-तब संगीनों एवं बंदूकों का सामना करके अपूर्व दमन और जुल्म का शिकार बनना पड़ा, फिर भी उन्होंने निहत्थे ही इस संग्राम में विजय पाई। उनके पास यदि कोई शस्त्र थे, तो वे थे केवल सत्य और अहिंसा के अमोघ अस्त्र !

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों में गांधीजी के उपरान्त तीन महापुरुषों के नाम इतिहास के पटल पर चिरकाल तक जगमगाते रहेंगे। ये हैं--नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, सरदार वल्लभ भाई पटेल और पं० जवाहरलाल नेहरू के नाम, जिन्हें भारतीय आजादी की सिद्धि में योग देनेवाले तीन महाशिल्पियों की संज्ञा हम प्रदान कर सकते हैं। यद्यपि दैव के क्रूर विधान के कारण एक हवाई दुर्घटना में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस स्वयं तो मातृभूमि की मुक्ति के स्वर्णिम दिवस के उदय के पूर्व ही इस लोक से उठ गए, तथापि द्वितीय महायुद्ध के समय रहस्यपूर्ण ढंग से भारत से बाहर जाकर एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के अंचल में इतिहासप्रसिद्ध 'आजाद हिन्द सेना' का निर्माण कर उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यशाही को जो गंभीर सैनिक चुनौती दी थी, उसने इस देश पर से अंग्रेजों का पंजा ढीला कराने में कोई कम महत्वपूर्ण योग नहीं दिया ! उनकी उत्कट देशभक्ति, अद्वितीय संगठन-शक्ति, अदम्य साहस तथा वीरोचित बलिदान की गाथा हमारे इतिहास के पन्नों में सुनहले अक्षरों में अंकित है ! उन्हीं के समकक्ष के दृढ़संकल्पी योद्धा और अनूठे संगठनकर्त्ता थे सरदार वल्लभभाई पटेल, जो एक महान् व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे। सत्ता-हस्तान्तरण के समय अंग्रेजों द्वारा छोड़े गए इस देश के पेचीदा और अस्तव्यस्त रूप को सँवार कर उसे एकता के साँचे में निबद्ध करने का श्रेय उन्हें ही है। और पं० जवाहरलाल नेहरू के बारे में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या है—उन्हीं के कंधों पर तो राष्ट्रपिता गांधीजी के उपरान्त हमारी राष्ट्र-नौका के संचालन का मुख्य भार आ पड़ा है ! वही तो आधुनिक भारत के प्रधान रूप-निर्माता हैं। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद, अनेकानेक विषम बाधाओं और संकटापन्न परिस्थितियों के बावजूद पिछले सत्रह वर्षों से अथक परिश्रम करते हुए जिस योग्यतापूर्वक देश को आगे बढ़ाने का अनवरत प्रयत्न उन्होंने किया है, वह तो आज हमारे इतिहास की प्रमुख कहानी बन गई है। आज प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं की सीढ़ी पर चढ़ते हुए यह देश जिस प्रकार औद्योगिक, सामाजिक और शैक्षणिक उत्कर्ष के शिखर की ओर अनवरत बढ़ रहा है, वह एकमात्र पंडितजी की ही देन है। वह एक समाजवादी प्रजातंत्र के रूप में देश के आर्थिक-सामाजिक ढाँचे को विकसित कर उसे सच्चे अर्थ में एक 'कल्याणकारी राज्य' बनाने को वह कृतसंकल्प हैं। यही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी भारत का मान बढ़ाने में उन्होंने सब से अधिक योग दिया है।

पं० जवाहरलाल नेहरू।

विश्व-शान्ति की समस्या

द्वितीय महायुद्ध का अंत होने पर सोवियत यूनियन (रूस), संयुक्त राज्य (अमेरिका), ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस के परस्पर सैद्धांतिक मतभेद एवं अविश्वास इतने बढ़ते चले गए कि दोनों वर्ग साम्यवादी एवं पूँजीवादी इन दो परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त हो गए। पहले गुट का अगुआ रूस तथा दूसरे का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

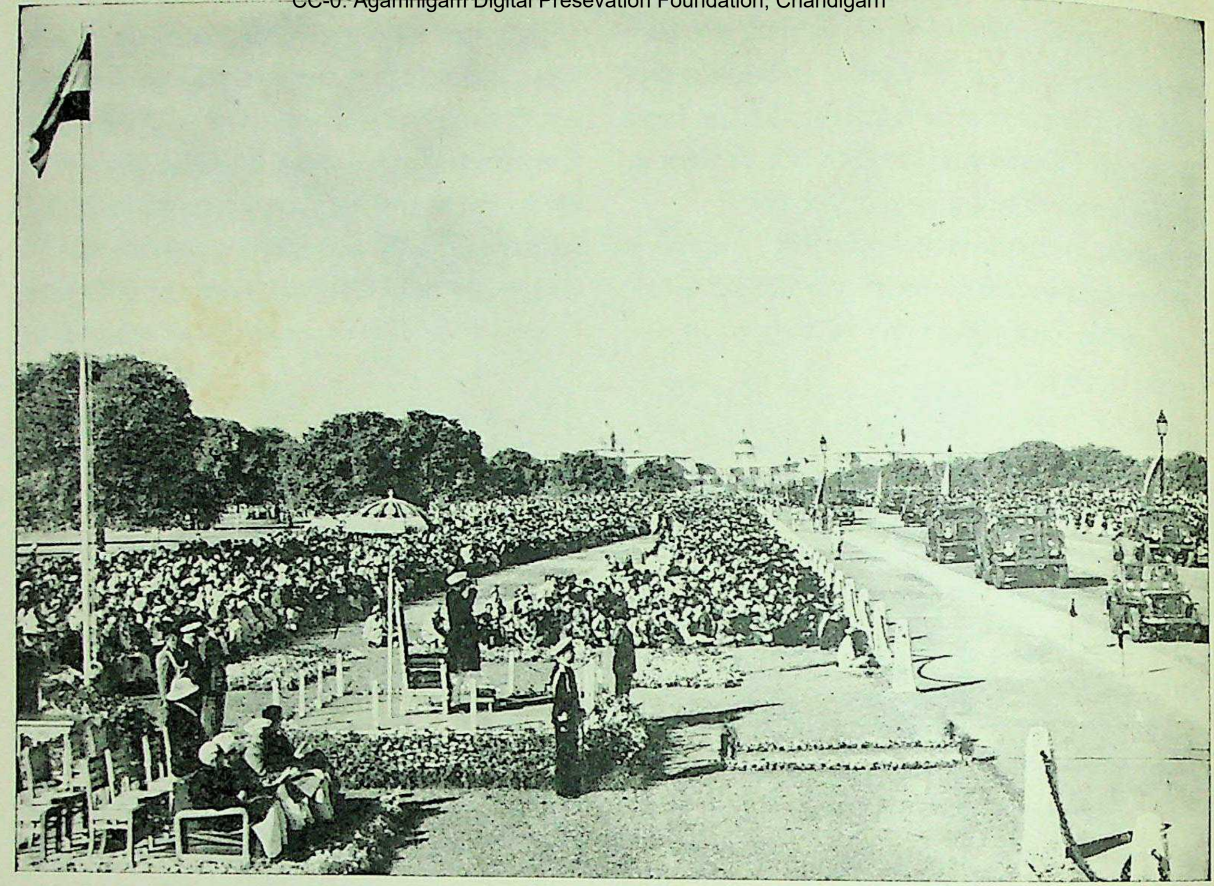

२६ जनवरी, १९५० ई०, को सार्वभौम प्रभुसत्तासंपन्न गणतंत्र बन जाने के बाद से उक्त दिवस भारत का एक महान् राष्ट्रीय पर्व-दिवस बन गया है। राजधानी दिल्ली में इस दिन राष्ट्रपति एक भव्य परेड की सलामी लेते हैं।

नेता अमेरिका बना। इन दोनों दलों ने अपने-अपने आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रचार एवं प्रसार के लिए तथा अपने-अपने पक्ष के समर्थन के लिए कई सैनिक गुट-बंदियां--'नेटो', 'सीटो', 'बगदाद-पैक्ट', 'वारसॉ-पैक्ट' आदि--स्थापित कीं और अपने परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों से प्रभावित मध्य तथा दक्षिणी-पूर्वी योरप के देशों को अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट लिया। इधर जर्मनी के साथ-साथ उसकी राजधानी बर्लिन का भी पश्चिमी और पूर्वी नामक दो क्षेत्रों में बँटवारा कर दिया गया। उक्त दोनों क्षेत्रों का नियंत्रण एवं अधिकार क्रमशः मित्र-राष्ट्रों तथा रूस के पल्ले पड़ा। इस पारस्परिक मतभेद के कारण दोनों गुट एक-दूसरे की कटु निन्दा, आलोचना तथा वाक्-प्रहार द्वारा निरंतर शीत-युद्ध का वातावरण बनाए रखने लगे। यह परिस्थिति राष्ट्रों की शस्त्रीकरण-प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप--विशेषकर संयुक्त राज्य (अमेरिका) के साथ-साथ सोवियत रूस के हाथों में भी आणविक अस्त्रों के निर्माण की कुंजी आ जाने तथा इन दोनों ही बड़े राष्ट्रों द्वारा हजारों की तादाद में परमाणु-बम, हाइड्रोजन-बम, अंतर्महाद्वीपीय रॉकेट आदि प्रलंयकर विनाश-साधनों का अंबार लगा दिए जाने के कारण--आज अत्यन्त खतरनाक हो गई है। आज मानव अपनी महान् युगयात्रा के दौर में मानो एक कगार पर आ खड़ा हुआ है। वह एक ओर तो पिछले दिनों की अपनी वैज्ञानिक प्रगति की बदौलत अंतरिक्ष में स्पुतनिकों और रॉकेटों की झड़ी बाँधकर शून्य आकाश को लाँघ पड़ौसी ग्रहों तक जा पहुँचने के लिए तैयार खड़ा है; दूसरी ओर यह विकट संभावना भी उसके सम्मुख उपस्थित है कि यदि दुर्भाग्यवश पुनः तृतीय महायुद्ध की चिनगारियाँ भड़क जायँ, तो उसकी प्रलयलीला में कुछ ही घंटों की अवधि में समूची मानव जाति का विनाश हो सकता है! इस संकट के क्षण में यदि कोई संबल उसके पास है, तो वह है केवल उसका सहज विवेक और सद्बुद्धि! आशा है, मनुष्य अपना अगला कदम विवेक की राह पर ही बढ़ाएगा, सामूहिक आत्मघात के गर्त की ओर नहीं!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

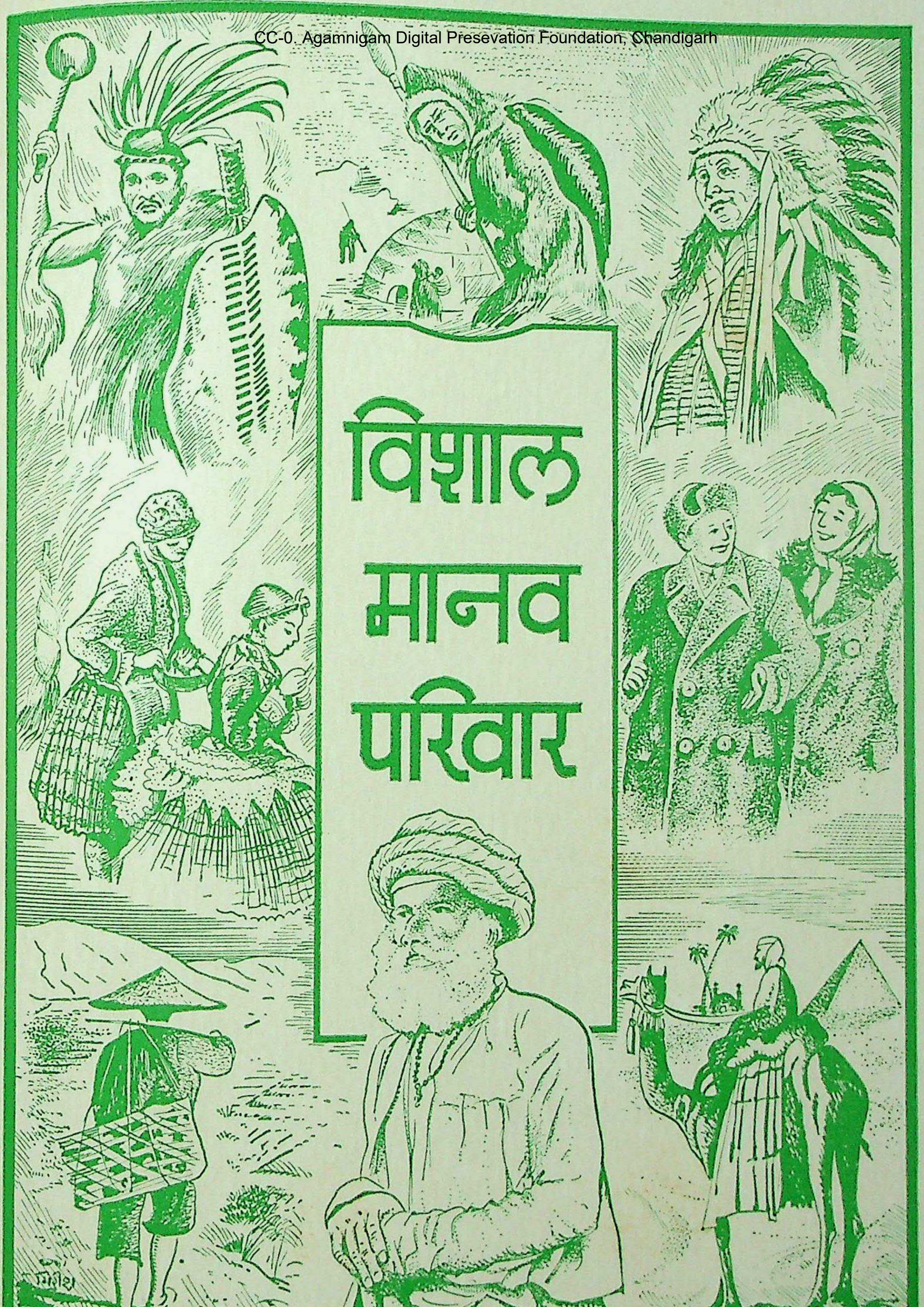

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलाप्रेमी जापानियों की एक जीवन-झाँकी

इन जन्मजात सौन्दर्योपासक लोगों ने अपने रहन-सहन, पहनावे आदि में अपने देश की प्राकृतिक सुषमा को हूबहू उतार लिया है [विशेष विवरण पृ० ३८२८-३८३२ पर पढ़िए]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसार के देश और उनके निवासी—(१) एशिया महाद्वीप

इस विभाग के अंतर्गत, पिछले कई एक खंडों में, धरती की गोद में बसनेवाले विशाल मानव कुटुंब की कतिपय चित्र-विचित्र आदिम जातियों की झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जो अभी भी अपना परंपरागत आदिमयुगीन जीवन बिता रही हैं। आइए, अब 'सभ्यता से परे' की उस दुनिया से विदा होकर तथाकथित 'सभ्य जगत्' की परिधि में जीवन-यापन करनेवाली मानवता का भी परिचय प्राप्त किया जाय! यह विवरण विविध भूखंडों और उनके अंतर्गत सम्मिलित विभिन्न देशों के क्रमानुसार दिया जा रहा है।

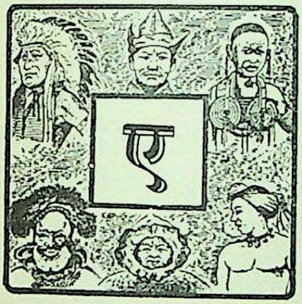

एशिया संसार का सब से बड़ा महाद्वीप है--यह पृथ्वी के स्थल-भाग के एक तिहाई क्षेत्र में फैला हुआ है। यह पश्चिम में योरप से जुड़ा हुआ है और बाकी तीन ओर महासागरों से परिवेष्टित है। एशिया और योरप दोनों को मिलाकर 'यूरेशिया' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। एशिया का क्षेत्रफल संसार के कुल क्षेत्रफल का एक तिहाई है और इसकी आबादी संसार की कुल आबादी के ५० प्रतिशत से भी अधिक है।

एशिया अपेक्षाकृत ऊँचा प्रदेश माना जाता है। उसके मध्य भाग में अवस्थित पामीर के पर्वतजाल को 'दुनिया की छत' की उपाधि दी गई है। यहाँ से विभिन्न दिशाओं में कई पर्वत-शृंखलाएँ फैलती चली गई हैं। इन्हीं में से एक हिमालय पर्वतमाला है, जो तिब्बत और भारत की सीमा-प्राचीर है। इस पर्वतमाला के कारण ही उत्तर की ठंडी हवाएँ भारत में नहीं आ पातीं।

एशिया का उत्तरी भाग साइबेरिया का विस्तृत मैदान है, जो उत्तरी ध्रुव-प्रदेश तक फैला हुआ है। इस मैदान के दक्खिन में मंगोलिया, एशियाई तुर्किस्तान और मध्य एशिया का क्षेत्र विस्तृत है, जहाँ से उमगकर मानव जातियों ने संसार के सभी क्षेत्रों में प्रसार किया है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारत, बर्मा, थाईलैण्ड, वीतनाम, कम्बोडिया, लाओस, हिन्देशिया, मलयेशिया, फिलीपाईन्स, लंका, नेपाल और पाकिस्तान आदि देश शामिल हैं। पूर्वी एशिया के अंतर्गत चीन, कोरिया, जापान और फारमोसा द्वीप की गणना की जाती है। पश्चिमी एशिया में अफगानिस्तान, ईरान, इराक, सऊदी अरब, जार्डन, सीरिया, लेबनान और इसराइल आदि प्रमुख देश हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से संयुक्त अरब-गणराज्य भी वस्तुतः पश्चिमी एशियाई क्षेत्र का देश कहा जा सकता है, यद्यपि भौगोलिक स्थिति के लिहाज से वह अफ्रीका भूखंड का अंश है।

एशिया महाद्वीप को यह अद्वितीय श्रेय प्राप्त है कि इसी क्षेत्र से संसार के सभी बड़े धर्म--हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई मत और इस्लाम--आदि की उत्पत्ति हुई है। संसार की प्राचीन तीन प्रमुख नदी-घाटियों--सिन्धु नदी-घाटी, दजला और फरात नदियों की घाटी तथा हांग-हो नदी-घाटी--की सभ्यताओं का विकास भी एशिया में ही हुआ है। इसके अतिरिक्त चौथी नदी-घाटी--नील नदी-घाटी--की सभ्यता भी घनिष्ट रूप से एशियाई सभ्यताओं के साथ संबद्ध है। इस प्रकार एशिया को सभ्यता और संस्कृति का मूल स्थान कहा जा सकता है। हमारे लिए तो इस महाद्वीप का महत्व संसार के अन्य सभी भूखण्डों से कहीं अधिक है; कारण, हमारी मातृभूमि--भारत--इसी का एक महान् अंग है।

तो फिर, आइए, अब एक-एक करके इस महिमामय भूखण्ड के विविध देशों और उनके निवासियों का परिचय प्राप्त करें! इस तारतम्य में भारतभूमि का विवरण यहाँ नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दिया जा रहा है; कारण, उसका [illegible] गया है; कारण, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से ये क्षेत्र एक विभाग के अंतर्गत विस्तारपूर्वक पहले ही दिया जा चुका है। इसी प्रकार सोवियत रूस के अधीन उत्तरी और मध्य एशिया के प्रदेशों तथा तुर्की का भी विवरण इस अध्याय में न देकर सुविधा की दृष्टि से योरपीय देशों के प्रकरण में दिया अब प्राच्य से कहीं अधिक पाश्चात्य कहे जा सकते हैं। इस सर्वेक्षण का आरम्भ हम भारत के पड़ोसी देशों--नेपाल, लंका, पाकिस्तान और बर्मा--से कर रहे हैं। तदनंतर पूर्वी और पश्चिमी एशिया के अन्य देशों का भी परिचय कराया गया है।

: नेपाल :

हिमालय के प्रांगण में बसा हुआ नेपाल एक छोटा-सा देश है। इसका क्षेत्रफल ५४,३६२ वर्गमील और आबादी करीब ८५ लाख है। इसके पश्चिम, दक्षिण और पूर्व में भारत एवं उत्तर में तिब्बत का पठार फैला है।

प्राकृतिक दशा—नेपाल छोटी-पतली घाटियों का देश है, जो दक्षिण-पूर्व की दिशा में समानान्तर ढंग से फैलती चली गई हैं। इनमें प्रमुख घाटी वह है, जिसमें काठमांडू बसा है। यह उपत्यका दक्षिण और उत्तर की दो घाटियों के मिलने से बनी है। इस घाटी के लिए 'चूरिया' और 'महाभारत' नामक पर्वतशृंखलाएँ प्राकृतिक रक्षा-प्राचीर का काम देती हैं। नेपाल के उत्तर में हिमालय की मुख्य गिरिशृंखला फैली है, जिस पर गौरीशंकर (एवरेस्ट) और कंचनजंघा जैसी संसार की सर्वोच्च चोटियाँ अवस्थित हैं। निचले क्षेत्र में उमस अधिक होती है और दलदल तथा सीलन का दौरदौरा छाया रहता है। इस निचले भाग को 'तराई' कहा जाता है।

इतिहास—१८ वीं शताब्दी तक नेपाल में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। तब भारत से आनेवाले कुछ क्षत्रियों ने, जो अपने को गोरखा (गोरक्षक) कहने लगे, पुराने राजाओं को पराजित कर वहाँ के वर्तमान राजतंत्र की नींव डाली। कहा जाता है कि ये राजपूत १४ वीं शताब्दी में ही भारत से नेपाल में प्रवेश कर चुके थे। नेपाल की वर्तमान सीमाएँ १८१४-१५ ई० में अंग्रेजों से सन्धि के फलस्वरूप निश्चित की गईं। तभी से नेपाल की राजधानी काठमांडू में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट भी रहने लगा। अंग्रेजों ने नेपाल की स्वाधीनता का सदैव सम्मान किया। १८४६ से १९५१ ई० तक नेपाल के शासन में वहाँ के प्रधान मंत्रियों का सर्वोपरि हाथ रहा। ये राणा कहलाते थे और उनका पद परंपरागत था। १९५१ ई० में इन राणाओं का तख्ता उलट दिया गया और वहाँ फिर से नेपाल-नरेश का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसके बाद कुछ समय के लिए वहाँ वैधानिक राजतंत्र भी स्थापित हुआ। पर पिछले दिनों वहाँ के शासन-तंत्र में काफी फेरफार हो गया है और वर्तमान नेपाल-नरेश द्वारा एक नवीन 'पंचायती प्रजातांत्रिक व्यवस्था' चलाई गई है।

जाति, रहन-सहन, कला, धर्म आदि—नेपाल के लोगों की आकृति मंगोल जातिवालों के चेहरे से मिलती-जुलती होती है। उधर भारत से आकर बसनेवाले राजपूत और गुरखा लोगों का यहाँ के प्राचीन बाशिन्दों के साथ सम्मिश्रण होने से भारतीयता की भी झलक उनमें देखने को मिलती है।

नेपालियों के भोजन में गेहूँ, चावल और चीनी मुख्य पदार्थ हैं। मांसाहार का भी प्रचलन है। लोग धान से बनी देशी शराब का भी प्रयोग करते हैं। वेश-भूषा में यहाँ पहाड़ी क्षेत्रों के चुस्त पायजामे, कुरते, कोट और गोल ऊँची टोपी का विशेष प्रचार है। यही यहाँ की राष्ट्रीय वेश-भूषा मान ली गई है।

यहाँ की राजभाषा गुरखाली अथवा पूर्वी पहाड़ी कही जाती है, जो तिब्बती-बर्मी बोलियों से प्रभावित भाषा है। उस पर संस्कृत और हिन्दी का काफी प्रभाव है।

नेपाल के निवासी हिन्दू-बौद्ध दोनों ही संस्कृतियों से प्रभावित हैं। इनके दैनिक जीवन में इन धर्मों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यहाँ के देवालयों में पत्थर और लकड़ी पर हिन्दू देवी-देवताओं और बौद्ध बोधिसत्वों से संबंधित अति कलापूर्ण चित्र अंकित मिलते हैं। काँसे की बड़ी कलापूर्ण मूर्तियाँ यहाँ ढाली जाती हैं और पीतल तथा ताँबा आदि धातुओं की वस्तुओं के भी अच्छे कारीगर मिलते हैं। स्त्रियाँ हाथकरघे और बुनाई का काम बड़ी सुघड़ता से करती हैं।

नेपाल-निवासी बड़े मेहनती होते हैं। इनका जीवन सीधा, सच्चा और कर्त्तव्यनिष्ठ होता है। वीरता और साहस के लिए इनकी ख्याति संसारप्रसिद्ध है। गुरखा लोग अपनी वीरता और सामरिक प्रवृत्ति के कारण अद्वितीय सैनिक माने जाते हैं।

नेपाल संसार का एकमात्र हिन्दू राज्य है। पशुपतिनाथ यहाँ का प्रमुख तीर्थस्थान है, जहाँ बागमती नदी के तट पर

शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक श्रीपशुपति का देवालय है। नेपाल-नरेशों का अन्तिम संस्कार यहीं होता है। काठमांडू के निकट एक बड़े तालाब में शेषशायी विष्णु की एक विशाल प्रतिमा जल पर तैरती हुई-सी दिखाई देती है। इसके निकट ही 'स्वयंभू' नामक पवित्र पर्वत है, जो नेपाल में बौद्धों का प्रमुख तीर्थ है। यहाँ पर कई स्तूप और मंदिर हैं। इसके शिखर तक पहुँचने के लिए ३०० सीढ़ीवाला एक जीना है, जिसके प्रत्येक सोपान पर बुद्ध की प्रतिमाएँ बनी हुई हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगर—नेपाल का सब से बड़ा नगर काठमांडू है, जो यहाँ की राजधानी भी है। इस नगर में अनेक हिन्दू मंदिर और बौद्ध मठ हैं। बागमती के तट पर स्थित नेपाल की प्राचीन राजधानी पाटन भी सुंदर देवालयों से सज्जित एक दर्शनीय नगर है। उधर भडगाँव और विराटनगर नेपाल के महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र हैं। दक्षिण में भारतीय सीमा के रक्सौल नामक स्थान से अमलेखगंज तक रेलगाड़ी की छोटी लाइन आती है। इसी भाँति भारतीय सीमा के जयनगर नामक स्थान से बीजुलपाड़ा तक भी रेल की एक लाइन है।

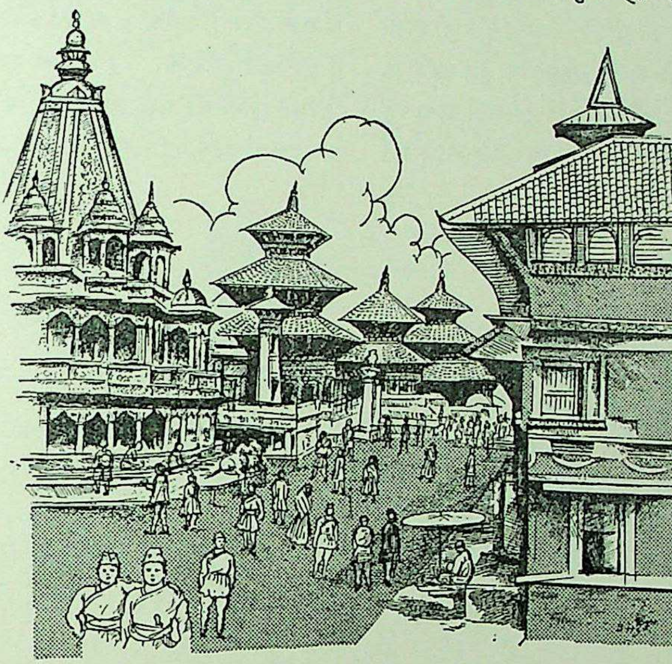

नेपाल की एक झाँकी :: यह है सुन्दर देवालयों से सज्जित वहाँ की प्राचीन राजधानी पाटन का एक दृश्य !

नेपाल का आयात-निर्यात व्यापार इन्हीं दोनों स्टेशनों से होता है। काठमांडू से भारत के लिए हवाई यातायात की भी व्यवस्था है। पिछले दिनों भारत के सहयोग से नेपाल और भारत को जोड़नेवाली एक महत्वपूर्ण सड़क 'त्रिभुवन-राजपथ' का निर्माण किया गया है। मोटर-यातायात में इससे सुविधा हो गई है।

विकास—बहुत अरसे तक तिब्बत की तरह नेपाल भी आधुनिकता के प्रभाव से अछूता बना रहा। जब से राणाओं का अधिकार समाप्त हुआ है, वहाँ की बंद खिड़कियाँ खुली हैं और अब यह देश तेजी से प्रगति की ओर कदम बढ़ाने लगा है। उसके इस उन्नति और विकास के अनुष्ठान में नेपाल को भारत से पर्याप्त सहायता मिल रही है। परंतु नेपाल में शिक्षा का प्रचार अभी कम हुआ है। वहाँ के ९ प्रतिशत लोग ही अभी साक्षर हैं। इस ओर अब विशेष ध्यान दिया जा रहा है। देश में करीब दो हजार स्कूलों में अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था की गई है और प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने की दिशा में भी प्रयास किए जा रहे हैं। काठमांडू में एक विश्वविद्यालय बनाने की भी योजना सामने है।

: लंका :

भारत के दक्षिण में हिन्द महासागर में स्थित लंका द्वीप का क्षेत्रफल २५,३३२ वर्गमील और आबादी करीब ९० लाख है। इसकी राजधानी कोलम्बो है। द्वीप का दक्षिणी मध्यभाग पर्वतीय है। यहाँ का सबसे ऊँचा पर्वत पिदुरुतालगाला है, जिसकी ऊँचाई ८,२९१ फीट है। अन्य एक शिखर आदम-चोटी है, जिसकी ऊँचाई ७,३६० फीट है। यहाँ के प्राकृतिक दृश्य बड़े मनोरम हैं। लंका की नदियाँ बहुत छोटी हैं। वे मध्य के पहाड़ी क्षेत्र से निकलकर विभिन्न दिशाओं में समुद्र में गिरती हैं। लंका के पश्चिमोत्तर समुद्रतट के निकट कुछ द्वीप हैं, जो चूने के पत्थरों के हैं। ये द्वीप लंका-भूमाग के अवशेष मात्र मालूम होते हैं। उधर लंका और भारत के बीच 'आदम का पुल' नामक एक प्राकृतिक रचना है, जो एक टूटी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शृंखला के रूप में लंका को भारत के साथ मिलाती है। यहाँ समुद्र की गहराई बहुत कम है और बालू की दीवार-सी बन जाती है। 'आदम-पुल' के सम्बन्ध में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि आदम को जब स्वर्ग से निकाला गया, तो वह इसी पुल से भागकर पृथ्वी पर आया था।

लंका में ताप अधिक रहता है, लेकिन चारों ओर समुद्र से घिरे होने के कारण यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण हो जाती है। मानसूनी क्षेत्र होने से यहाँ वर्षा खूब होती है।

इतिहास—लंकावासी अपने द्वीप को सिंहल द्वीप भी कहते हैं। इसी से यहाँ के निवासी सिंहली कहलाते हैं। कहते हैं, सिंहली जाति के पूर्वपुरुष ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी में भारत से लंका आए थे और उन्होंने इस द्वीप में अपने राज्य की स्थापना की थी। उक्त प्राचीन सिंहल राज्य की संस्कृति की स्मृति यहाँ के निवासियों में अभी भी ताजी है। उस काल के प्राचीन नगरों, विशेषकर उनकी अद्भुत सिंचाई-व्यवस्था के अवशेष काफी मात्रा में अभी भी मिलते हैं। इन सिंचाई के साधनों का जीर्णोद्धार भी किया गया है।

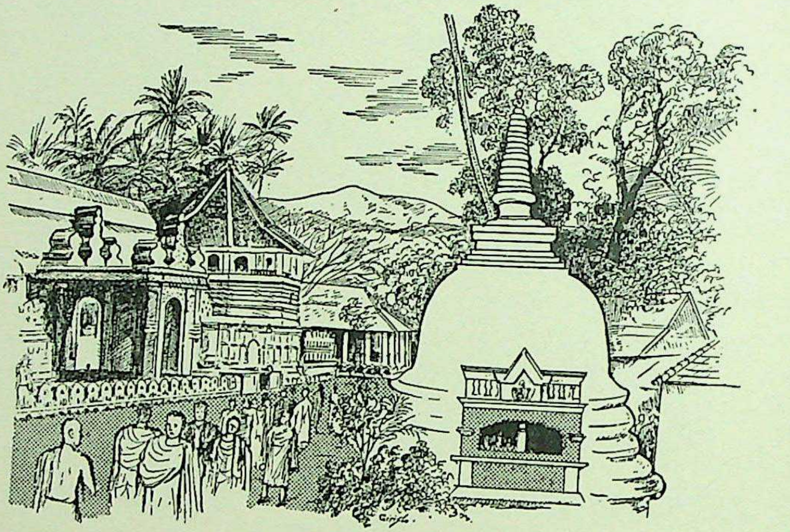

लंका का एक सुप्रसिद्ध बौद्ध देवालय, जहाँ भगवान् बुद्ध का पवित्र दाँत स्तूप में सुरक्षित रक्खा हुआ है।

१० वीं शताब्दी ई० के बाद लंका पर दक्षिण भारत के तमिल लोगों ने अनेक आक्रमण करके द्वीप के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। फलतः सिंहली लोगों ने लंका के पहाड़ी भागों और दक्षिणी भागों में जाकर शरण ली। बाद में सिंहली लोगों ने भारत के मलयालमभाषी क्षेत्र पर आक्रमण करके कुछ समय के लिए वहाँ अपना अधिकार कर लिया। प्राचीन काल से ही लंका में भारतीय, अरबी एवं चीनी समुद्री व्यापारी आकर व्यापार करते रहे हैं। इसी व्यापार-व्यवसाय के बहाने १५०५ ई० में पुर्तगालियों ने लंका के समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। तदनंतर १६५६ ई० में पुर्तगालियों के स्थान पर डच लोगों ने यहाँ अपना डेरा आ जमाया। १७९६ ई० में यहाँ अंग्रेजों का प्रवेश हुआ, फलतः १८१५ ई० में यह द्वीप विधिवत् अंग्रेजी साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। अंत में १९४८ ई० में स्वाधीनता प्राप्त कर लंका एक स्वतंत्र संसदीय प्रजातान्त्रिक राज्य बन गया।

जाति, धर्म, रहन-सहन आदि——लंका में सिंहली जाति के ६३ लाख लोग रहते हैं, जिनमें २३ लाख कंडियन हैं। कंडियन सिंहली लोगों में जात्याभिमान और कट्टरपन अधिक है। लंका में बसनेवाले तमिलों की संख्या १० लाख के करीब है। ये लोग ज्यादातर हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं और प्रायः चाय-बागानों में काम करते हैं। लंका में करीब ५ लाख मुसलमान भी बसते हैं। इनके अतिरिक्त ५० हजार के करीब पुर्तगाली, डच आदि मिश्रित लोगों की आबादी भी है। करीब ६ हजार योरपियन भी इस द्वीप में रहते हैं। सिंहली लोगों के आगमन से पूर्व के लंका के आदिम निवासी वेद्दा कहलाते हैं। उनकी संख्या अब बहुत कम रह गई है। ये अभी भी अपने पत्थर के हथियारों से आखेट करके घने वनों में अर्द्ध-नग्नावस्था में पाषाणयुग की-सी स्थिति में जीवन-यापन करते हैं। लंका के निवासियों का मुख्य भोजन चावल है। साथ में मांस और मछली का भी काफी प्रयोग होता है। इनमें नारियल के पानी और अनन्नास तथा नीबू के शर्बत को पीने का बड़ा रिवाज है। यहाँ की बनी शराब अर्क कहलाती है। सिंहली जाति पर शताब्दियों से भारत का प्रभाव पड़ता रहा है। इसी प्रभाव के कारण बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी इन लोगों में जाति-व्यवस्था का भी बोलबाला है। इधर योरपीय सभ्यता का भी लंका पर काफी प्रभाव पड़ा है। इसी से आजकल लोग योरपीय ढंग को अधिकाधिक अपनाते जा रहे हैं।

तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के लगभग लंका में भारत से बौद्ध धर्म के प्रचारक पहले-पहल आए थे। फलतः धीरे-धीरे यहाँ की अधिकतर आबादी बौद्ध धर्मावलम्बी बन गई। बाद में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जो तमिल लोग भारत से यहाँ आए, वे हिन्दू धर्म को ही अपनाये रहे। इनके अतिरिक्त यहाँ के करीब [illegible] प्रतिशत लोग ईसाई भी हैं, जिनमें कैथोलिक अधिक हैं।

बौद्ध मत की प्रधानता के कारण लंका में इस धर्म के देवालयों की विशिष्ट महिमा है। इनमें सबसे महत्व का तीर्थस्थल कैंडी में स्थित वह प्रख्यात मंदिर है, जिसमें भगवान् बुद्ध का पवित्र दाँत सुरक्षित है।

लंका के अधिकांश लोग सिंहली भाषा का प्रयोग करते हैं। यही लंका की राष्ट्रभाषा भी है। पर यहाँ के तमिल लोग तमिल भाषा का प्रयोग करते हैं, जिसे एक क्षेत्रीय भाषा की मान्यता प्राप्त है। पिछले दिनों लंका का नाम बदलकर 'श्री लंका' कर दिया गया है।

नगर और दर्शनीय स्थल — लंका की राजधानी कोलंबो एक सुंदर नगर है। इसकी आबादी करीब ६ लाख है। यही यह. का मुख्य बन्दरगाह भी है। दूसरा महत्वपूर्ण नगर जाफना है, जो तमिलप्रधान है। यह भी उत्तम बन्दरगाह है। मोरातुआ में लकड़ी पर नक्काशी का अच्छा काम होता है। कैंडी लंका का सबसे रमणीक पहाड़ी नगर है। अन्य उल्लेखनीय स्थल गाले और त्रिनकोमाली हैं, जो बन्दरगाह हैं।

लंका से दक्षिण-पश्चिम दिशा में अरब सागर में मालद्वीप नामक कुछ छोटे-छोटे द्वीप हैं। ये द्वीप एक सुल्तान के अधीन हैं। इनमें द्रविड़, सिंहली और अरब जातियों के मिश्रित लोग निवास करते हैं।

: पाकिस्तान :

पाकिस्तान का जन्म १९४७ ई०में भारत-विभाजन के फलस्वरूप हुआ। इस नवनिर्मित देश के दो भाग आरंभ में थे—पश्चिम में पंजाब का मुस्लिम-बहुसंख्या वाला पश्चिमी हिस्सा, अविभाजित भारत का संपूर्ण पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त, सिन्ध और बिलोचीस्तान तथा पूर्व में विभाजित बंगाल का मुस्लिम-बहुसंख्यक क्षेत्र और असम का सिलहट जिला (जिसमें करीमगंज तहसील के कुछ थाने शामिल नहीं थे)। पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान के नाम से पुकारे जानेवाले इन दोनों अंगों के बीच लगभग एक हजार मील का फासला था। उस समय समूचे पाकिस्तान की आबादी लगभग पौने नौ करोड़ थी और क्षेत्रफल ३६४,७३७ वर्गमील।

तब १९७१ ई० के दिसंबर मास में विद्रोह के फलस्वरूप पूर्वी पाकिस्तान स्वतंत्र बन गया और उसने 'बाँगला देश' का नाम ग्रहण कर लिया। तब से पाकिस्तान का क्षेत्रफल सिमटकर ३१०,४०३ वर्गमील (अर्थात् ८०१,४०८ वर्गकिलोमीटर) मात्र रह गया और उसकी आबादी लगभग सात करोड़ बताई जाती है। इस आबादी का लगभग ९८ प्रतिशत अंश मुस्लिम धर्मावलंबियों का है; कारण, अपनी कट्टर धर्मान्ध नीति के अधीन इस देश ने गैरमुस्लिमों को खदेड़कर बाहर निकाल दिया है।

प्राकृतिक अवस्था—इस प्रदेश का सबसे महत्वपूर्ण अंग सिन्धु एवं झेलम, चनाब, रावी, सतलज आदि उसकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित उर्वर मैदानी भाग है। वैसे हिन्दूकुश, सुलेमान, किरथर और सफेद कोह नामक सीमावर्ती पर्वतों से घिरा, प्रदेश का एक बड़ा अंश पहाड़ी ऊबड़खाबड़ क्षेत्र भी है तथा सिन्ध के पूर्वी भाग में वर्षा-रहित रेगिस्तान का भी बोलबाला यहाँ है। ये क्षेत्र बहुत कम आबादीवाले और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं।

जाति, रहन-सहन, भाषा, धर्म आदि—पाकिस्तान के अधिकांश निवासी इंडो-आर्यन नस्ल के हैं। ये लोग अधिकतर लंबी नासिका के, ऊँचे-पूरे, गौर अथवा गेहुँए वर्ण के होते हैं। ऐसे लोगों का बाहुल्य पंजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में ही है। सिन्ध और बिलोचिस्तान के लोगों पर स्पष्टतया भूमध्यसागरीय तथा द्रविड़ रक्त के मिश्रण की छाप दिखाई देती है। बिलोचिस्तान में खानाबदोशों की एक जाति ऐसी भी है, जिसकी 'ब्राहुई' नामक बोली द्रविड़-परिवार से संबंधित है।

पाकिस्तानियों का मुख्य भोजन गेहूँ और मांस है। पहनावे के लिहाज से पठान चौड़ी सलवार, लम्बी कमीज या कुर्ता और कढ़ी हुई वास्कट पहनता है। सिर पर वह छोटा-सा साफा बाँधता है और उसकी चप्पल विशेष प्रकार की होती है। पंजाब में पायजामा और सलवार दोनों पहने जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में लुंगी और कुर्ते का भी चलन है। यहाँ भी सिर पर साफा बाँधा जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाकिस्तानियों की कौमी पोशाक शेरवानी और कुल्लेदार साफा है। इनके साफे का जो हिस्सा पीछे लटका रहता है, उसे शमला कहते हैं। औरतें सलवार और दुपट्टे का प्रयोग करती हैं। बुर्का पहनने का भी रिवाज यहाँ अभी औरतों में काफी है।

भारत की तरह पाकिस्तान भी एक कृषिप्रधान देश है। ब्रिटिश काल में, विभाजन से पूर्व पंजाब और सिन्ध में आबपाशी के लिए नहरों का जाल-सा बिछ चुका था। विभाजन के बाद इनमें से अधिकतर नहरों का क्षेत्र पाकिस्तान को मिला। इससे वहाँ गेहूँ, चाँवल, कपास आदि की फसलें लहलहाने लगीं। औद्योगिक दृष्टि से पाकिस्तान पिछड़ा हुआ है। वहाँ ऊनी-सूती कपड़े की कुछ मिलें हैं। थोड़े-बहुत लोहे के कल-पुर्जे आदि भी अब बनने लगे हैं। खनिज संपत्ति के लिहाज से भी पाकिस्तान समृद्ध नहीं है। यहाँ मात्र सेंधा नमक, जिप्सम, प्राकृतिक गैस तथा थोड़ा-सा कोयला ही उपलब्ध है।

यद्यपि राजकाज में यहाँ अंग्रेजी का ही प्रयोग होता है, पर पाकिस्तान की मुख्य भाषा उर्दू है, जो फारसी लिपि में लिखी जाती है। स्थानीय बोलियों में पश्चिमोत्तर सीमाक्षेत्र में पश्तो, बिलोचिस्तान में द्रविड़ भाषा ब्राहुई, पश्चिमी पंजाब में पंजाबी और सिंध में सिंधी भाषा का प्रचलन यहाँ पर है।

इतिहास—पाकिस्तान का इतिहास भारतीय इतिहास का ही भाग रहा है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता प्राचीनतम नदी-घाटी-सभ्यताओं में गिनी जाती है। इस पुरातन सभ्यता के महत्वपूर्ण पुरातत्वावशेष सिन्ध और पश्चिमी पंजाब के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा नामक स्थानों में खुदाई में मिले हैं। भारत पर आक्रमण करनेवाले यूनानी, शक, हूण, मंगोल, अरब, अफगान, तुर्क आदि सभी हमलावर क्रमशः इसी क्षेत्र से होकर गुजरते रहे हैं। मुसलमानी शासनकाल में इस क्षेत्र में बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन के फलस्वरूप इस्लाम के मतानुयायियों की संख्या बढ़ गई; अतः जब अंग्रेजों ने भारत का विभाजन किया, तो पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल में मुसलमानों का बहुमत होने के फलस्वरूप इन क्षेत्रों को पाकिस्तान के रूप में पृथक् कर दिया गया। चूँकि इस राष्ट्र की स्थापना धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करके की गई है, अतः धर्मनिरपेक्षता का यहाँ सवाल ही नहीं उठता। यह राज्य अपने को 'इस्लामी' राज्य मानता है। यहाँ कहने को प्रजातंत्र है, परन्तु वास्तव में अधिनायक-तंत्र का ही बोलबाला है।

नगर—पाकिस्तान के नगरों में सबसे बड़े नगर कराँची के अलावा लाहौर, रावलपिंडी, हैदराबाद, पेशावर, मुलतान, बहावलपुर प्रमुख हैं। यहाँ की राजधानी 'इस्लामाबाद' है, जोकि रावलपिंडी के निकट बसाई गई है। कराँची की जनसंख्या लगभग पैंतीस लाख और लाहौर की इक्कीस लाख है। कराँची ही यहाँ का प्रमुख बंदरगाह भी है।

: बाँगला देश :

संसार के रंगमंच पर एक नवीन राष्ट्र के रूप में 'बाँगला देश' का उदय दिसंबर, १९७१ ई०, में उस समय हुआ, जबकि गृह-युद्ध के फलस्वरूप पाकिस्तान का पूर्वीय अंग विद्रोह करके स्वाधीन बन गया और इस नवीन स्वतंत्र राज्य ने 'बाँगला देश' नाम धारण करके अपने आपको एक गणतंत्र उद्घोषित किया। चूँकि भारत-विभाजन से पूर्व पाकिस्तान के पश्चिमी भूभाग की भाँति यह क्षेत्र भी अभिन्न रूप से हमारे अपने देश का ही एक अंग था, अतः इसकी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भारतीय इतिहास तथा संस्कृति की मूल धारा के साथ अभिन्न भाव से जुड़ी हुई है। सिवाय इस एक बात के कि इस भूक्षेत्र की जनसंख्या में मुस्लिम धर्मावलंबियों का बाहुल्य है (जिसके कि आधार पर यह इलाका पाकिस्तान का अंग बना दिया गया था), यहाँ के निवासियों और भारत में रहनेवाले शेष बँगला भाषा-भाषी लोगों में कोई अन्तर नहीं है। वही रंग-रूप, वही मंगोलियन-द्रविड़ नस्ल का चेहरा-मोहरा, वही पहनावा, वही भात और मछली का भोजन! यहाँ तक कि इनके द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बोली जानेवाली बँगला भाषा का स्वरूप भी (उसमें पाए जानेवाले संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्दों के नाते) हूबहू वही है, जो कि पश्चिमी बंगाल के निवासियों की बोली का। सबसे सूचक बात तो यह है कि इस नवजात राष्ट्र ने अपना जो राष्ट्रीय गीत स्वीकार किया है वह कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ की रचना है।

प्राकृतिक एवं आर्थिक स्थिति—दक्षिण की ओर सागर तथा शेष दिशाओं में भारत एवं (कुछ अंश में) बर्मा की सीमा-रेखा से घिरे हुए बाँगला देश का कुल क्षेत्रफल १४२,७९७ वर्गकिलोमीटर तथा जनसंख्या लगभग साढ़े सात करोड़ है। यह भूक्षेत्र मुख्यतया गंगा, ब्रह्मपुत्र और मेघना जैसी महान् नदियों के प्रस्रवण से निर्मित डेल्टा के मैदान को लेकर बना है, जिसका दक्षिणी भाग बंगभूमि के अनेकानेक दलदली टापुओं की भूलभुलैया में फैला सुन्दरवन नामक बीहड़ क्षेत्र है। प्रदेश के दक्षिण-पूर्वीय चटगाँव-क्षेत्र का उपरला इलाका पर्वतीय है।

गंगा-ब्रह्मपुत्र आदि नदियों से सिंचित उपजाऊ मैदान की अमूल्य विरासत का धनी बाँगला देश एक कृषिप्रधान प्रदेश है। यहाँ की ८२ प्रतिशत जनसंख्या खेतीहर है और कृषि की मुख्य उपज धान, पटसन, गन्ना, चाय आदि हैं। पटसन की तो संसार भर की ५० प्रतिशत पूर्ति बाँगला देश से ही होती है। कृषि के अलावा मछली पकड़ने का उद्योग भी यहाँ के निवासियों का एक बड़ा जीवन-निर्वाह-साधन है। यहाँ छोटी-बड़ी नदियों और पोखरों-जलाशयों का जाल-सा बिछा है, जो मत्स्य-उत्पादन के साथ-साथ यातायात एवं आवागमन के साधन के रूप में भी प्रदेश के निवासियों के लिए वरदानतुल्य है। परन्तु वर्षाकाल में बाढ़ का प्रकोप होने पर यही वरदान कभी-कभी विनाशकारी अभिशाप भी बन जाया करता है। बाँगला देश में समुद्री तूफानों और बवण्डरों का प्रकोप आए दिन होता रहता है। १९७० ई० में ऐसे ही एक भयंकर तूफान की लपेट में आकर वहाँ २२ लाख नरनारी काल के गाल में समा गए थे! इस देश की जनता औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण गरीबी के चंगुल में फँसी हुई है। यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं—पटसन और सूती कपड़े की कुछ मिलें तथा शक्कर, दियासलाई, काँच, अखबारी कागज, एल्यूमीनियम और सिमेंट के पिछले दिनों स्थापित इने-गिने कारखाने। हाल ही में चटगाँव में एक छोटा-सा

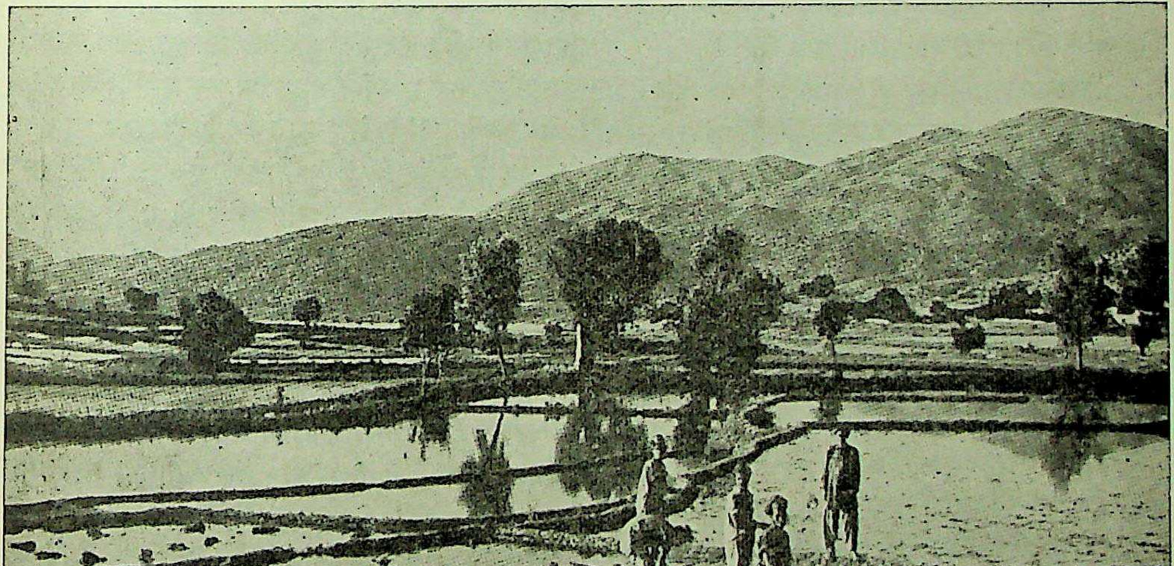

कृषिप्रधान बाँगला देश की एक झाँकी :: यहाँ पटसन (जूट) तथा धान की खेती बहुतायत से होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस्पात का कारखाना भी स्थापित हुआ है। यहाँ प्राकृतिक गैस भी उपलब्ध है और औद्योगिक विकास के प्रचुर स्रोत हैं, जिनसे लाभ उठाया जा सकता है।

नगर आदि—बाँगला देश की राजधानी ढाका है, जो प्रदेश का सबसे बड़ा नगर भी है। उसकी जनसंख्या १५ लाख के लगभग है। अन्य प्रमुख नगर राजशाही, मैमनसिंह और चटगाँव हैं। चटगाँव और चालना यहाँ के प्रमुख बंदरगाह हैं। ढाका, राजशाही, मैमनसिंह और चटगाँव में विश्वविद्यालय स्थापित हैं।

[अभी हाल ही में इस नवजात राष्ट्र को एक दुर्भाग्यपुर्ण अनुभव के दौर से गुजरना पड़ा है। फलतः वहाँ की राजनीतिक परिस्थिति फिलहाल डाँवाडोल-सी हो गई है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'बाँगला देश' का उदय पाकिस्तान के विरुद्ध विद्रोह के फलस्वरूप हुआ था। इस विद्रोह के जननेता थे—शेख मुजीबुर्रहमान, जो कि देश के राष्ट्रपिता-तुल्य थे। गत १५ अगस्त, १९७५ ई०, के दिन उनकी हत्या कर दी गई और सेना की सहायता से सरकार का तख्ता पलट दिया गया।—सं०]

: बर्मा :

भारत के पूर्व में नागा-पहाड़ियों के उस पार स्थित बर्मा 'पगोडाओं का देश' कहलाता है। इस देश में बौद्ध धर्म के अनेक सुंदर देवालय हैं। ये देवालय 'पगोडा' कहलाते हैं। इनमें सबसे मशहूर है राजधानी रंगून के पास स्थित 'सुनहला पगोडा', जिसके स्वर्णिम कलश में सोने-चाँदी की घंटियाँ लटकती हैं।

नेपाल की भाँति बर्मा भी हमारा एक महत्वपूर्ण पड़ोसी है और उसके साथ हमारे सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक संबंध बहुत पुराने हैं। १८८५ से १९३७ ई० तक तो बर्मा ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत भारत ही का अंग बना हुआ था। १९३७ ई० में वह भारत से पृथक् कर दिया गया। अंत में १९४८ ई० में वह स्वतंत्र हो गया और वहाँ आज गणराज्य स्थापित है। बर्मा का क्षेत्रफल २,६१,७८९ वर्गमील है।

प्राकृतिक अवस्था—बर्मा को प्राकृतिक आधार पर तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—पश्चिमी भाग में उत्तर से दक्षिण की ओर फैले हुए पहाड़ हैं; बीच में मैदानी भाग है, जिसमें इरावदी और उसकी सहायक नदियाँ बहती हैं; और पूर्व में शान का पठार है, जिसके बीच से सालवीन नदी बहती है। इस नदी के किनारों पर ऊँची-ऊँची चट्टानें और कगार हैं। दक्षिण में टेनासरीम की पहाड़ियाँ हैं। बर्मा मानसूनी क्षेत्र है। मई से सितम्बर तक यहाँ काफी वर्षा होती रहती है।

इतिहास—बर्मा में छठी शताब्दी ई० में तिब्बत की प्यूष नामक जाति आई और उसने प्रोम में अपनी राजधानी स्थापित की। सांस्कृतिक दृष्टि से प्यूष जाति पेग में रहनेवाली मोन जाति से काफी प्रभावित हुई, जो स्वयं भारतीय संस्कृति से प्रभावित थी। बाद में इन दोनों जातियों को तिब्बती लोगों ने परास्त कर मध्य बर्मा में एक नया राज्य स्थापित किया। इस राज्य की राजधानी पागान में थी। १२८७ ई० में इस देश पर शान जाति ने आक्रमण किया। करीब २५० वर्ष तक बर्मा अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहा। इन दिनों आवा का शान, पेगू का मोन और टौंगू का बर्मी राज्य एक दूसरे को परास्त करने में लगे रहे। अंत में टौंगू राज्य की शक्ति बढ़ी और १५३१ ई० में पूरे बर्मा में इसी का शासन स्थापित हो गया। १७५७ ई० में यहाँ एक राजवंश स्थापित हुआ, जो १८८५ ई० तक कायम रहा। उसे अंग्रेजों ने उखाड़ फेंका।

जाति, रहन-सहन, आदि—बर्मा की जनसंख्या लगभग दो करोड़ है। इसमें अधिकतर लोग बर्मी जाति के हैं—शेष करेन, शान, काचिन, चिन और मोन हैं। शान लोग विशेषतः घाटियों के निवासी हैं। वे अपने धान के खेतों की सिंचाई की अच्छी व्यवस्था करते हैं। मोन पेगू के निकट निवास करते हैं। काचिन देश के पूर्वोत्तर भाग में रहते हैं। बर्मा में भारतीय, चीनी और यूरेशियन भी बसते हैं। चूँकि यह देश कृषिप्रधान है, इसी से यहाँ के अधिकांश लोग गाँवों में निवास करते हैं। यहाँ की मुख्य उपज चावल है, जो यहाँ के लोगों का प्रमुख भोजन है। उसके साथ वे मांस, मछली आदि का भी प्रयोग करते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बर्मा में पुरुष और स्त्री दोनों लुंगी अथवा तहमत पहनते हैं; ऊपर कमीज अथवा ब्लाउज धारण कर वे सिर पर बड़ा-सा रूमाल बाँधते हैं। अब नगरों में योरपीय पोशाक का भी प्रचार बढ़ता जा रहा है। यहाँ की मुख्य भाषा बर्मी है। अल्पसंख्यक जातियाँ अपनी-अपनी भाषाओं का प्रयोग करती हैं। बर्मी बोली का तिब्बती भाषा से निकट का सम्बन्ध है।

बर्मा के ८५ प्रतिशत निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। करेन जाति के करीब ३॥ लाख लोगों ने ईसाई धर्म अपना लिया है; यद्यपि उनमें से अधिकतर अभी अपने जातीय देवी-देवताओं की ही पूजा करते हैं। बर्मा के बौद्धों में यह परिपाटी है कि वे जीवन के कुछ वर्ष भिक्षुओं की भाँति बिताते हैं। इस देश में शिक्षा का अच्छा प्रसार है। यहाँ करीब ५६ प्रतिशत लोग साक्षर हैं। रंगून और मांडले में विश्वविद्यालय हैं।

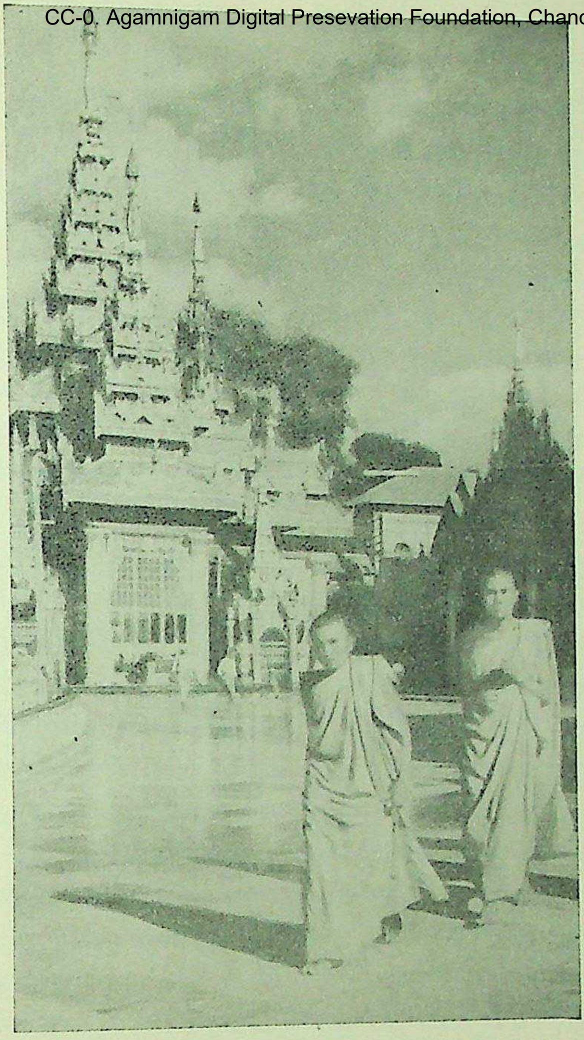
रंगून के संसारप्रसिद्ध सुनहले पगोडा के प्रांगण की झाँकी।

बर्मा कृषिप्रधान होने के साथ-साथ वन्य और खनिज उपज की दृष्टि से भी बड़ा समृद्ध है। यहाँ की सागौन नामक इमारती लकड़ी तो जगत्प्रसिद्ध है ही; साथ ही यह देश पेट्रोलियम, टिन, जस्ता, सीसा, चाँदी आदि धातुओं और माणिक्य नामक रत्न का भी भांडार है। इनके निर्यात पर ही यहाँ का आर्थिक जीवन टिका हुआ है।

नगर—बर्मा का मुख्य नगर रंगून है। वह न केवल यहाँ की राजधानी ही है, प्रत्युत प्रमुख बन्दरगाह और व्यापार एवं संस्कृति का केन्द्र भी है। इसकी आबादी लगभग साढ़े सात लाख है। इस नगर का ३७० फीट ऊँचा 'सुनहला पगोडा' बौद्धों का एक संसारप्रसिद्ध दर्शनीय स्थल है। दूसरा महत्वपूर्ण नगर मांडले (आबादी १८६,०००) है, जहाँ कभी इस देश की राजधानी स्थापित थी। बंदरगाहों में रंगून के बाद मोलमीन, बेसीन, अक्याब और पेगू महत्वपूर्ण हैं।

: थाईलैंड :

बर्मा के पूर्व में स्थित थाईलैंड देश का नाम पहले स्याम था; उसका मौजूदा नाम कुछ वर्ष हुए रखा गया है। यहाँ की भाषा में इस शब्द का अर्थ होता है--'स्वतंत्र जाति का देश'। थाईलैंड का क्षेत्रफल १९७,२७१ वर्गमील और आबादी करीब २॥ करोड़ है।

प्राकृतिक स्थिति—थाईलैंड मेनाम नदी की घाटी के क्षेत्र में हिन्द-चीन प्रायद्वीप के मध्यवर्ती मैदानी भाग में स्थित है। इसका कुछ हिस्सा मलय प्रायद्वीप के उत्तरी छोर तक फैला हुआ है। इसके दक्षिण में स्याम की खाड़ी है; पूर्व में कंबोडिया है और उत्तर में बर्मा और लाओस की सीमा आ गई है। इसकी पश्चिमी सीमा बर्मा के अलावा कुछ अंश तक बंगाल की खाड़ी को भी छूती है।

इतिहास—थाई जाति के लोग मूलतः कभी चीन के दक्षिणी प्रदेश में रहते थे; बाद में वहाँ से ये लोग बर्मा, स्याम और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्द-चीन के दूसरे क्षेत्रों में फैले। जब चीन के दक्षिणी प्रान्त युन्नान में स्थापित थाई राज्य की राजधानी पर मंगोलों ने अधिकार कर लिया, तो थाई लोगों ने चाओफ्राया नदी की घाटी में अधिक दक्षिण की ओर खिसककर, 'अयुथ्या' (अयोध्या) में राजधानी कायम करके, एक नूतन राज्य की स्थापना की।

कुछ समय तक इस क्षेत्र में दो राज्य रहे, जिनमें से एक की राजधानी उत्तर में चींगमाइ और दूसरे की दक्षिण में 'अयोध्या' में थी। अनेक युद्धों के उपरांत आखिर अयोध्या-राज्य ने चींगमाइ राज्य पर भी अधिकार कर लिया। उसके बाद स्याम और बर्मा में अनेक बार युद्ध हुए। १८वीं शती के मध्य में 'अयोध्या' और बर्मा में भी अनेक युद्ध हुए; फलतः १७६७ ई० में अयोध्या नगर नष्ट कर दिया गया। इसके बाद एक नए राज्य की स्थापना हुई, जिसकी राजधानी बैंकाक में स्थापित की गई। अब बर्मी आक्रमणकारी देश से निकाल बाहर कर दिए गए और इस नवीन राज्य में वियन-तियेन, लुआंग प्रवांग और हिन्द-चीन के बहुत-से क्षेत्रों के साथ मलय के भी काफी भाग को मिला लिया गया। यही नहीं, इस राज्य ने कम्बोडिया-नरेश को भी अपनी प्रभुता मानने को बाध्य किया। १८५५ ई० में थाई-नरेश मोंगकुट ने ब्रिटेन से मैत्री और व्यापार-सन्धि करके पश्चिमी लोगों के लिए अपने देश के द्वार खोल दिए। १८६८ ई० में चूल-लांग कर्ण नामक राजा गद्दी पर बैठा। उसने ४२ वर्ष तक राज्य किया और दासप्रथा का अन्त करके देश की उन्नति करने का भरपूर प्रयास किया। १९३२ ई० में सेना के विद्रोह के फलस्वरूप स्याम में एक वैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई। द्वितीय महायुद्ध में इस देश ने जापान से सन्धि कर ली, फलतः उसे हिन्द-चीन के कुछ क्षेत्र मिल गए। ये क्षेत्र युद्ध की समाप्ति के बाद पुनः हाथ से निकल गए।

जाति, रहन-सहन, धर्म, संस्कृति—थाईलैण्ड के ९० प्रतिशत निवासी थाई जाति के हैं। इनके अतिरिक्त चीनी, भारतीय और मलय जाति के भी लोग यहाँ रहते हैं। कुछ अंग्रेज और अमेरिकन भी यहाँ बसते हैं। थाई लोग मुख्यतया बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। इसी से पीले वस्त्र पहने हुए बौद्ध भिक्षु बहुतायत से यहाँ घूमते मिलते हैं। यहाँ कुछ लोग ईसाई भी हैं। थाईलैण्ड की राजभाषा थाई है। परन्तु इसके साथ-साथ अंग्रेजी का भी काफी प्रयोग होता है।

नगरों में रहनेवाले थाई पुरुष बाहर निकलते समय तो ज्यादातर पश्चिमी पोशाक पहनते हैं, पर घरों में 'सरोंग' नामक रंगीन लुंगी पहनने का रिवाज है। यहाँ की महिलाएँ कमर के नीचे 'पासिन' नामक एक छोटा-सा 'स्कर्ट' पहनती हैं और ऊपर कमर तक लम्बा सलूका धारण करती हैं। यहाँ का मुख्य भोजन चावल है। मछली, मांस आदि का भी काफी सेवन किया जाता है। केला, आम, अनन्नास, पपीता आदि फल यहाँ अधिकता से होते हैं। थाई लोग बड़े सुसंस्कृत और प्रसन्नमुख होते हैं। वे अपने लौकिक शिष्टाचार के लिए प्रख्यात हैं। इनकी संस्कृति में भारतीय संस्कृति का प्रभाव पग-पग पर परिलक्षित होता है। इसकी एक झलक हमें शुद्ध संस्कृत शब्दों से अपनाए गए यहाँ के लोगों और स्थानों के के नामों में मिलती है।

नगर—थाईलैंड की अधिकतर आबादी गाँवों में रहती है। राजधानी बैंकाक ही यहाँ का एकमात्र बड़ा नगर है। इसकी जनसंख्या १७ लाख के करीब है। इस नगर की एक विशेषता उसके मध्य नसों की तरह फैली नहरों का वह जाल है, जिन पर से नावों द्वारा यहाँ का यातायात होता है। अपनी इसी विशेषता के कारण बैंकाक 'पूर्व का वेनिस' कहलाता है। यह न केवल एक बड़ा बन्दरगाह है, प्रत्युत हवाई यातायात का भी महत्वपूर्ण केन्द्र है!

: मलयेशिया :

मलय, सिंगापुर, सारावाक और उत्तरी बोर्नियो को मिलाकर अभी हाल ही में 'मलयेशिया' नामक एक गणतंत्रात्मक संघ-राज्य की स्थापना हुई है। इस संघ में शामिल मलय प्रदेश का क्षेत्रफल ५०,६९० वर्गमील और आबादी ६,२७९,००० है। उधर, सिंगापुर का क्षेत्रफल २२४ वर्गमील और आबादी १,४४६,०००; सारावाक का क्षेत्रफल ४७,००० वर्गमील और आबादी लगभग ६,३१,०००, एवं उत्तरी बोर्नियो का क्षेत्रफल २,२२६ वर्गमील और आबादी ७५,००० है। इस प्रकार पूरे मलयेशिया संघ का क्षेत्रफल १,२९,५२८ वर्गमील और आबादी ८८,३२,००० है।

प्राकृतिक स्थिति—मलयेशिया संघ के प्रमुख सदस्य मलय प्रदेश की शक्ल बहुत-कुछ इटली से मिलती-जुलती है। यह एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रायद्वीप है, जिसके पूर्व में स्याम सागर और पश्चिम में बंगाल की खाड़ी एवं मलक्का का आखात है। इसकी उत्तरी सीमा थाईलैण्ड के दक्षिणी भाग को छूती है और दक्षिणी छोर पर सिंगापुर का द्वीप अवस्थित है। मलय प्रायद्वीप में पहाड़ी भाग अधिक है। यहाँ की प्रमुख नदी पेराक है, जो दक्षिण-पश्चिम की ओर बहकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है।

मलय में विषुवत्क्षेत्रीय वनों का बाहुल्य है। ये वन बहुत घने हैं और अधिक वर्षा के कारण सदैव हरे बने रहते हैं। इन वनों में विभिन्न प्रकार के पक्षी, कीट-पतिंगे और पशु पाये जाते हैं। हाथी, चीता, गैंडा, वानर, मगर, सर्प आदि विभिन्न प्रकार के वन्य जीव-जन्तुओं की उपस्थिति के कारण यहाँ के जंगल बड़े भयावने लगते हैं।

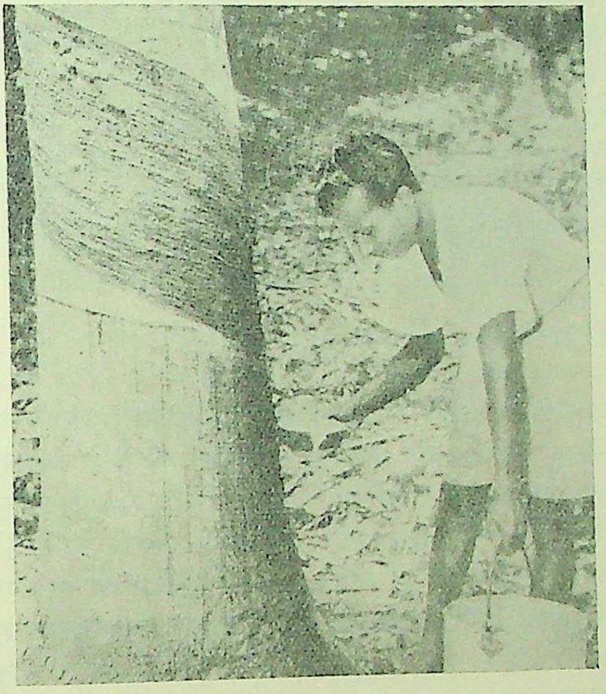

मलय प्रदेश में वृक्ष के तने से रवड़ निकाला जा रहा है।

इतिहास—इस भू-भाग में बसनेवाली मलय जाति ने सम्भवतः हिन्देशियाई द्वीप-समूह से आकर यहाँ अपना डेरा जमाया है। इस जाति का इस प्रायद्वीप में आगमन अनुमानतः २००० ईस्वी पूर्व हुआ होगा। यह भी कहा जाता है कि इससे पहले एशिया के मुख्य भू-भाग से हिन्देशिया की ओर लोगों का प्रवाह भी इसी प्रायद्वीप से होकर गुजरा होगा। कालान्तर में इस प्रायद्वीप के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे राज्यों का विकास हुआ और मलक्का नामक उसके बन्दरगाह की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। इस बन्दरगाह से मसालों का व्यापार होता था। १४१४ ई० में यहाँ के नरेश ने इस्लाम अंगीकार कर लिया, जिसके फलस्वरूप पूरे प्रायद्वीप में इसी मत का प्रचार हो गया। इन दिनों मलक्का के शासकों का झंडा सुमात्रा द्वीप पर भी फहराता था। तब १५११ ई० में मलक्का पर पुर्तगालियों ने कब्जा कर लिया और वे इस बन्दरगाह का प्रयोग अपने मसालों के व्यापार के लिए करने लगे। १६४१ ई० में पुर्तगालियों के पंजे से छूटकर यह बंदरगाह डच लोगों के हाथों में आ गया। अंत में सिंगापुर, मलक्का, पेनांग और वेल्ज़िली प्रान्त पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया, जिसके फलस्वरूप मलय प्रायद्वीप और आस-पास के द्वीपों में काफी संख्या में भारतीय और चीनी लोग भी आ बसे। १९०९ ई० में अंग्रेजों ने मलय में अपने अधीन संरक्षित एक संघ-राज्य की स्थापना की, जिसमें इस प्रायद्वीप के केलांतन, त्रेंगान्, केडा और परलिस क्षेत्र भी शामिल कर लिए गए, जो पहले स्याम राज्य के अधीन थे। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में इस क्षेत्र पर कुछ समय के लिए जापान का अधिकार हो गया। परन्तु युद्ध की समाप्ति पर १९४८ ई० में यह संघ-राज्य फिर से संगठित किया गया, जिसके फलस्वरूप अंततोगत्वा मलय-संघ और सिंगापुर राज्य दोनों को ही स्वायत्त-अधिकार प्रदान कर दिए गए। अंतिम घटना १६ सितम्बर, १९६३ ई०, को 'मलयेशिया' की स्थापना के रूप में अभी हाल में घटी है। इस योजना द्वारा मलय, सिंगापुर, सारावाक और उत्तरी बोर्नियो के साबा क्षेत्र को मिलाकर एक झंडे के नीचे लाया गया है।

बोर्नियो द्वीप के उत्तरी भाग में स्थित सारावाक और साबा क्षेत्र पर पहले अंग्रेजों का शासन था। उधर द्वीप का दक्षिणी भाग डच लोगों के अधिकार में था। आजकल इस द्वीप का दक्षिणी भाग हिन्देशिया में शामिल हो गया है और उत्तरी भाग मलयेशिया संघ में मिल गया है।

जाति, भाषा, रहन-सहन, धर्म आदि—मलय और सिंगापुर यद्यपि मुख्यतः मलय जाति की आवासभूमि है, परन्तु इनके अलावा यहाँ ३४ लाख चीनी तथा लगभग ८ लाख भारतीय और पाकिस्तानी भी विद्यमान हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ के निवासियों में मलय जाति के लोगों की संख्या से बाहरी लोगों की संख्या कहीं अधिक हो गई है। मलय लोग अधिकांशतः गाँवों में रहते हैं और अन्य जाति के लोग नगरों में।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

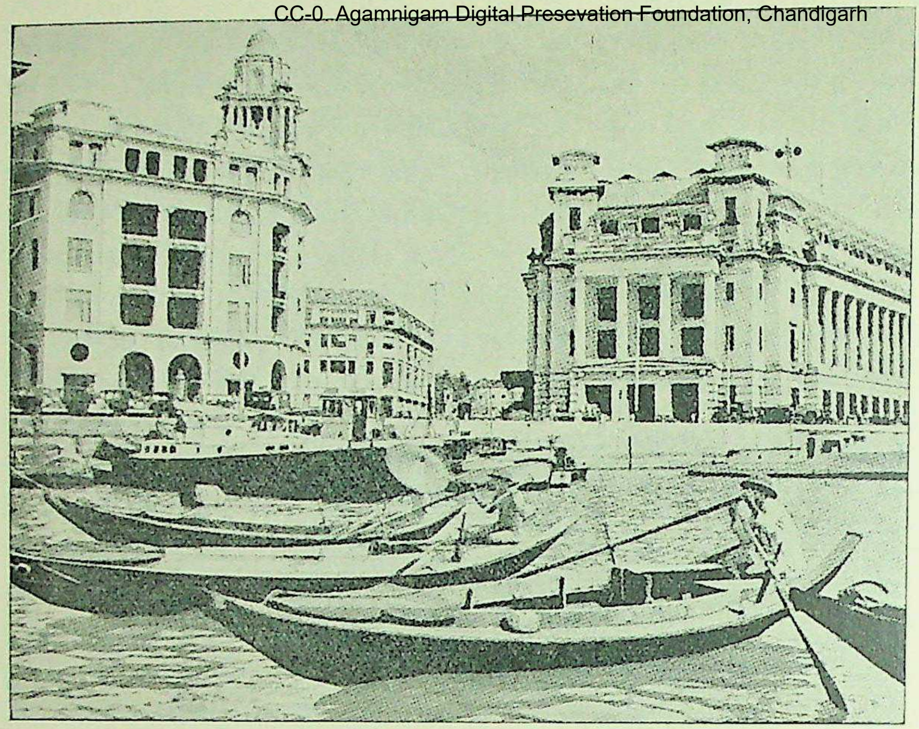

मलयेशिया के सब से बड़े नगर सिंगापुर का एक दृश्य।

अधिकांश जनता गरीब है। यहाँ का व्यापार-वाणिज्य प्रायः चीनी जाति के लोगों के हाथों में है। मलय-संघ और सिंगापुर में मलय भाषा ही राष्ट्रभाषा है। यह अरबी और रोमन दोनों लिपियों में लिखी जाती है। परन्तु लंबे समय से ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बने रहने के कारण अंग्रेजी भाषा का भी काफी प्रयोग यहाँ होता है। मुसलमान होने के नाते वैसे तो मलय लोगों पर इस्लाम का गहरा प्रभाव है, फिर भी

बोर्नियो द्वीप के सब से प्राचीन निवासी दयाक जाति के आदिवासी लोग हैं, जो उक्त द्वीप के मध्य भाग में रहते हैं। उनके अलावा यहाँ मलय और दूसरी जातियों के भी लोग बसते हैं। सारावाक, उत्तरी बोर्नियो और ब्रुनई में अकेले चीनी लोगों की ही संख्या दो लाख २८ हजार है। दयाक जाति के लोग अच्छे नाविक होते हैं। मलय लोग धान के खेतों और रबड़ के बागानों में काम करते हैं।

इन क्षेत्रों के मलय लगभग सब के सब मुसलमान हैं। दयाक अपने जातीय देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। उनमें से जो मुसलमान हो गए हैं, वे मलय लोगों में घुल-मिल गए हैं।

मलय समाज सदियों से सामन्तवादी सुलतानों और जागीरदारों के शिकंजे में जकड़ा हुआ है। इसी से यहाँ की अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण इनकी परंपरा पर हिन्दू-संस्कृति की भी स्पष्ट छाप है।

मलय प्रदेश की आर्थिक समृद्धि यहाँ की टिन एवं रबड़ की उपज पर निर्भर करती है। उल्लेखनीय है कि यह देश संसार में टिन धातु का सब से बड़ा भांडार है। साथ ही इसकी गणना रबड़ के भी प्रमुख उत्पादकों में की जाती है।

नगर——मलयेशिया की राजधानी कुआला-लम्पुर बहुत बड़ा नगर नहीं हैं; उसकी आबादी केवल दो लाख है। इस क्षेत्र का सब से बड़ा नगर वस्तुतः सिंगापुर है, जिसकी आबादी करीब १४॥ लाख है। पूर्व का एक महान् बंदरगाह होने के नाते सिंगापुर प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों का संगम-सा बन गया है।

: उत्तरी और दक्षिणी वीतनाम :

बर्मा और थाईलैंड के पूर्व में स्थित 'हिन्द-चीन' नामक प्रख्यात प्रायद्वीप में इन दिनों कई एक स्वतंत्र राज्य हैं, जिनका उद्भव इस भूभाग से उपनिवेशवादी फ्रेंच साम्राज्य के विघटन के बाद हुआ है। ये राज्य हैं——उत्तरी वीतनाम, दक्षिणी वीतनाम, लाओस और कम्बोडिया। इस प्रायद्वीप में सदियों पूर्व भारतीय और चीनी संस्कृतियों का समागम होने के फलस्वरूप आज एक विशिष्ट मिश्रित सभ्यता की झाँकी हमें देखने को मिलती है, जिसका प्रभाव यहाँ के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाशिन्दों के रक्त में भी स्पष्ट है। उत्तरी और दक्षिणी वीतनाम का विभाजन १७ वीं अक्षांश रेखा के आधार पर किया गया है। उत्तरी वीतनाम में लाल नदी की घाटी का टोंकिन क्षेत्र और उत्तरी समुद्रतटवर्ती प्रदेश शामिल है। इसका क्षेत्रफल ६४,००० वर्गमील और आबादी १३,५००,००० है। यहाँ की राजधानी हनोई है। दक्षिणी वीतनाम में अनाम राज्य के कोचीन चीन और दक्षिणी प्रदेश शामिल हैं। इसका क्षेत्रफल ६६,५०० वर्गमील और आबादी १ करोड़ २० लाख है, जिसमें करीब २० हजार योरपियन हैं। यहाँ की राजधानी सैगोन है।

इतिहास—वीतनाम विशेषतः पुराने अनाम राज्य की ही सीमाओं में फैला है। इस क्षेत्र में ईस्वी पूर्व १८१ में चीन के हान साम्राज्य के समय में एक चीनी राज्य की स्थापना हुई थी, जो ९३९ ई० तक कायम रहा। अंत में अनामवासियों ने विद्रोह करके चीनी राज्य का अन्त कर दिया और अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, जो ९३९ ई० से १८८२ ई० तक कायम रहा। उसके बाद पूरे अनाम राज्य पर फ्रांस का अधिकार हो गया।

१९२९ ई० में हो-ची-मिन्ह के नेतृत्व में एक व्यापक राज्यक्रान्ति संगठित की गई। १९४५ ई० में जापान ने इस क्षेत्र को अपने सीधे अधिकार में लेने का प्रयास किया। जापान की पराजय के बाद फ्रांस ने जब इस क्षेत्र पर फिर से अपना राज्य स्थापित किया, तो यहाँ का राष्ट्रवादी आन्दोलन उग्र रूप से पुनः शुरू हो गया और विद्रोही सैनिकों ने उत्तरी हिन्द-चीन पर अधिकार कर लिया। अंत में १९५६ ई० के बाद वहाँ एक स्वतंत्र गणतंत्र की स्थापना हो गई।

जाति, धर्म, रहन-सहन आदि—उत्तरी वीतनाम के टोंकिन क्षेत्र में अनामी जाति के लोगों की घनी आबादी है। अनामी जाति मंगोल और मलय जाति का मिश्रण है। सांस्कृतिक दृष्टि से इस पर चीन का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। अनामी लोग मेहनती, उद्दंड और निर्भय प्रकृति के होते हैं। आम तौर से वे पायजामे की तरह का ढीला पतलून और बन्द गले का कोट पहनते हैं। कुछ क्षेत्रों में लुंगी और पूरी बाँह का सलूका पहनने का भी प्रचलन है।

उत्तरी वीतनाम में ईसाई धर्म के प्रति विरोधभाव अधिक है, क्योंकि ईसाई मिशनरियों ने सदैव शासक पक्ष का समर्थन किया था। इस क्षेत्र में धान की अच्छी फसल होती है। यहाँ कोयला और कुछ दूसरे खनिज भी मिलते हैं।

दक्षिणी वीतनाम में जन-सामान्य बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, लेकिन शहरों में वैसे कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई लोगों का प्रभाव बहुत ज्यादा है। यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन चावल है। भोजन में मसालों की अधिकता रहती है।

नगर—उत्तरी वीतनाम की राजधानी हनोई है, जो एक बड़ा बन्दरगाह है। इसकी आबादी ५ लाख है। दक्षिणी वीतनाम का सब से बड़ा नगर सैगोन है, जिसकी आबादी १८ लाख है। अन्य उल्लेखनीय नगर ह्यू और हैपोंग हैं।

: लाओस और कंबोडिया :

वीतनाम के पश्चिम में स्थित लाओस की उत्तरी सीमा ठेठ चीन से जा मिलती है। पहले यह प्रदेश अनाम के शासकों के अधीन था। १८९३ ई० से इस क्षेत्र पर फ्रांस का संरक्षण हो गया। हिन्द-चीन से फ्रांस का डेरा-तंबू उखड़ने पर अन्य राज्यों के साथ लाओस में भी स्वतंत्र सरकार की स्थापना हुई और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि के द्वारा उसे एक तटस्थ राज्य मान लिया गया। वैसे अभी वहाँ के विवाद पूर्णतया शान्त नहीं हुए हैं।

लाओस का क्षेत्रफल ९१,५०३ वर्गमील और आबादी २० लाख है। यहाँ की प्रशासकीय राजधानी वियनतियेन में है। परंतु यहाँ के नरेश लुआंग प्रवांग में रहते हैं, जो इस प्रदेश की प्राचीन राजधानी थी।

हिन्द-चीन प्रायद्वीप के बीच के उर्वर मैदानी भाग में स्थित कम्बोडिया इस क्षेत्र का द्वितीय महत्वपूर्ण राज्य है। कंबोडिया का क्षेत्रफल ६७,५७१ वर्गमील है और आबादी करीब ५० लाख है। यहाँ की राजधानी फोमपेन्ह है।

इतिहास—पाँचवीं शताब्दी ई० में भारत से कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मण इस प्रदेश में आया था। उसने यहाँ की रानी को पराजित करके उससे विवाह कर लिया। उस ब्राह्मण ने आस-पास के राज्यों को अधीन कर एक नया राजवंश चलाया, जिसका झंडा लगभग छः सौ वर्षों तक इस क्षेत्र में फहराता रहा। उसी के नाम पर इस देश का नाम पड़ा बताया जाता है। यहाँ के निवासियों ने खुलकर भारतीय संस्कृति को अपना लिया, जिसके साक्षी यहाँ विद्यमान लग-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भग तीन दर्जन हिन्दू मंदिरों के अवशेष हैं। उनमें विष्णु अथवा शिव की पूजा होती थी। बाद में यहाँ बौद्ध धर्म का भी प्रचार हुआ।

ख्मेर राज्यकाल में कम्बोडिया में हिन्दू धर्म का पूर्ण प्रभाव छाया हुआ था। ख्मेर बड़े प्रतापी राजा थे। उनकी राजधानी अंगकोर थाम में थी। उक्त स्थल के भग्न मंदिरों की संख्या ६०० के लगभग है। इनमें अंगकोरवत का मंदिर सब से भव्य है। इस मंदिर के मूर्ति-शिल्प में रामायण और महाभारत की कथाओं की अनेक झाँकियाँ चित्रांकित हैं।

ख्मेरों के प्राचीन लेखों में वेद, पुराण, संस्कृत महाकाव्य, धर्मशास्त्र तथा भारतीय दर्शनशास्त्रों के उद्धरण मिलते हैं। उनके मंदिरों में विशाल पुस्तकालय होते थे, जिनमें संस्कृत ग्रंथों का बाहुल्य था!

१४ वीं-१५ वीं शताब्दियों में थाई जाति ने कम्बोडिया पर अनेक आक्रमण किए और अंगकोर पर अधिकार कर लिया। उस समय से कम्बोडिया की राजधानी फोमपेन्ह में स्थापित की गई। तब से यही नगर बराबर यहाँ की राजधानी बना हुआ है।

थाई आक्रमणों के फलस्वरूप कम्बोडिया का हिन्दू राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और अंत में वहाँ अनाम राज्य का प्रभुत्व हो गया। १८६४ ई० में कंबोडिया फ्रांस के कब्जे में आ गया। उसी समय से इस क्षेत्र का नाम फ्रांसीसी हिन्द-चीन पड़ गया। द्वितीय महायुद्ध के समय इस क्षेत्र पर कुछ समय के लिए जापान का भी कब्जा हो गया था। अंत में महायुद्ध के बाद हिन्द-चीन में फ्रांस के अधिकार की समाप्ति होने पर यह स्वतंत्र हो गया।

जाति, रहन-सहन, आदि—लाओसवासी थाई जाति के सजातीय हैं। इस देश में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक है। अधिकतर कम्बोडियावासी मोन और ख्मेर जाति के लोग हैं। इन दोनों जातियों में भारतीय तत्त्व अधिक पाया जाता है। कम्बोडियावासियों का कद लम्बा होता है और वे दुबले-पतले होते हैं। ये लोग सामान्य रूप से 'सम्पुट' धोती पहनते हैं। ख्मेर जाति के अतिरिक्त कम्बोडिया में वीतनामी, चीनी, लाओसवासी, बर्मी और योरपियन जातियों के लोग भी रहते हैं। कम्बोडिया कृषि-प्रधान देश है। यहाँ धान की फसल अधिक होती है। कम्बोडिया की एक विशेषता यह है कि हिन्दू धर्म से प्रभावित होते हुए भी यहाँ जातिभेद नहीं है; वैसे ख्मेर अपनी उत्पत्ति ब्राह्मण कुल से मानते हैं। यहाँ दशहरा और कार्तिक मास में विशेष राष्ट्रीय समारोह होते हैं। ख्मेर भाषा भारतीय भाषा-समूह की बोली है, जिसमें संस्कृत शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यही यहाँ की राष्ट्र-भाषा भी है, यद्यपि सरकारी कामकाज में अधिकतर फ्रांसीसी भाषा का ही प्रयोग किया जाता है। अब यहाँ अंग्रेजी भाषा का भी प्रचार बढ़ रहा है।

यहाँ का प्रमुख भोजन चावल है। साथ में मांस, मछली, रोटी, मक्खन आदि भी खाए जाते हैं।

नगर—लाओस का सब से बड़ा नगर लुआंग प्रवांग है, जिसकी आबादी १४२,००० है। जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा नंबर वियनतियेन का है, जिसकी आबादी १२२,००० है। कम्बोडिया का प्रमुख नगर राजधानी फोमपेन्ह है। इसकी जनसंख्या ५.१ लाख है। जनसंख्या के लिहाज से सब से बड़ा नगर कोम्पोङ्ग चाम है। उसकी आबादी ६४९,००० है।

हिन्देशिया

मलय प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्व की ओर हिन्द महासागर में छोटे-बड़े लगभग ३,००० द्वीपों का एक समूह है। ये सब मिलकर 'इंडोनेशिया' या हिन्देशिया कहलाते हैं। इन द्वीपों में सब से बड़े हैं सुमात्रा, कलियन्तान (बोर्नियो) और जावा। छोटे टापुओं में बाली द्वीप सब से प्रसिद्ध है। इस देश की राजधानी जावा द्वीप के जकार्ता नामक नगर में स्थापित है। कुल मिलाकर इन द्वीपों का क्षेत्रफल ५,७९,१८७ वर्गमील है और आबादी ८ करोड़ ८० लाख के लगभग है।

प्राकृतिक स्थिति—हिन्देशिया का द्वीप-समूह बर्मा और थाईलैंड से लेकर ऑस्ट्रेलिया तक फैले हुए किसी प्राचीन विलुप्त प्रायद्वीप का अवशेष मात्र है। संभव है कि इस भूखंड का कभी एशिया के महाद्वीप से भी संबंध रहा होगा, पर बाद में विघटित होकर उसके अवशेष इन द्वीपों के रूप में ही रह गए हैं। इस क्षेत्र में ज्वालामुखियों और भूचालों का सदैव ही काफी जोर रहा है। जावा के ज्वालामुखी तो आज भी सक्रिय हैं। सुमात्रा में भी कई उग्र ज्वालामुखी हैं।

इतिहास—प्राचीनकाल में जावा, बाली और सुमात्रा आदि द्वीपों में भारतीय लोगों ने अपने उपनिवेश बनाए थे। चौथी शताब्दी ई० में अथवा उससे पूर्व श्रीविजय ने सुमात्रा में एक हिंदू राज्य की प्रतिष्ठा की थी। सुमात्रा की अपेक्षा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जावा में भारतीय संस्कृति का कहीं अधिक प्रभाव पड़ा। जनश्रुति के अनुसार यहाँ अगस्त्य ऋषि का आगमन हुआ था। उन्हीं के हाथों यहाँ भारतीय संस्कृति का बीजारोपण हुआ। चीनी यात्री फाहियान के अनुसार, पाँचवीं शताब्दी ई० में जावा में ब्राह्मण-धर्म का ही प्रचार था। बौद्ध धर्म का प्रचार वहाँ इसके बाद हुआ।

जावा के बौद्ध अवशेषों में बोरोबुदुर का स्तूप सब से प्रसिद्ध है। इस महान् स्मारक की दीवारों पर के मूर्ति-शिल्प में बुद्ध के जीवन की घटनाएँ एवं अन्य भारतीय झाँकियाँ अंकित हैं। इन सब पर गुप्तकालीन भारतीय कला की स्पष्ट छाप है। मध्य जावा के हिन्दू मंदिरों में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं और कहीं-कहीं राम एवं कृष्ण की जीवन-घटनाओं को भी प्रदर्शित किया गया है। पूर्वी जावा में जो मंदिर अथवा अवशेष मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि जावा के राजा हिन्दू अथवा तांत्रिक बौद्ध थे। वस्तुतः जावा - निवासियों के आचार - व्यवहार, रीति-नीति, शासन - विधान, कला - कौशल, भाषा-साहित्य आदि का विकास भारत ही के अनुकरण पर हुआ था। आज भी जावा के नृत्यों, नाटकों एवं रीति-व्यवहार में स्पष्ट रूप से भारतीय प्रभाव झलकता है। बाली द्वीप के निवासी तो अपने नाम, वेश-भूषा, धर्म और शिष्टाचार से शत-प्रतिशत हिन्दू कहे जा सकते हैं। उनके नृत्य, संगीत, नाटक आदि पर भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप है। सब से अद्भुत बात तो यह है कि हिन्देशिया के कोई २० लाख लोग अपने को 'हिन्दू' कहते हैं।

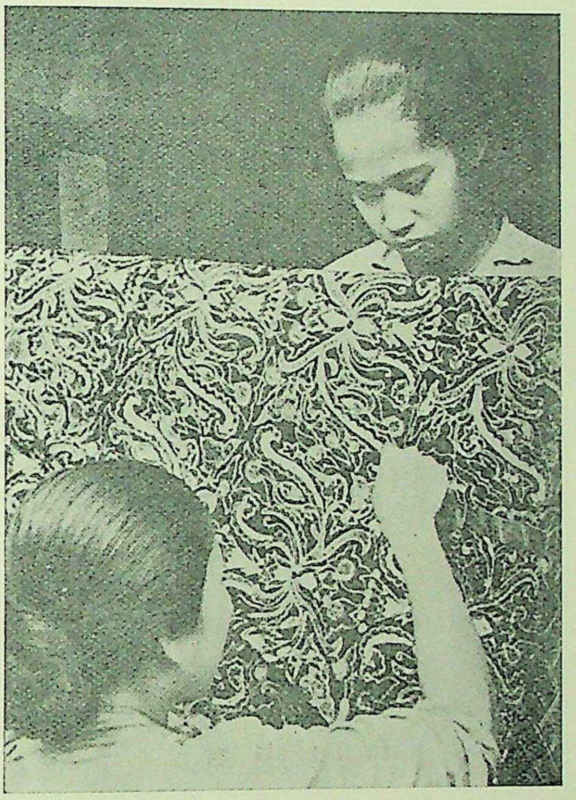

कपड़े पर कलापूर्ण रंगीन छपाई का काम करती हुई इंडोनेशियन महिलाएँ।

१७ वीं शताब्दी के मध्य में हिन्देशिया के द्वीप डच साम्राज्य में शामिल कर लिए गए। उन्होंने हिन्देशियावासियों की सामाजिक व्यवस्था में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं किया। द्वितीय महायुद्ध के समय डच साम्राज्य जापानी आक्रमण के सम्मुख धराशायी हो गया। यद्यपि युद्ध की समाप्ति पर उसे पुनः स्थापित करने का प्रयास किया गया, परन्तु इस बीच हिन्देशियावासियों ने स्वतंत्र होने के लिए सक्रिय आन्दोलन छेड़ दिया था। अतः आखिरकार हिन्देशिया स्वाधीन होकर एक पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र बन गया।

जाति, रहन-सहन, धर्म, भाषा, आदि—हिन्देशिया के लोगों में मलय जाति का प्राधान्य है। यह एक मिश्रित जाति है, जिसमें ऑस्ट्रेलियाई, नीग्रो, द्रविड़, मंगोल तथा भारतीय आदि विविध नस्लों का सम्मिश्रण हुआ है। अधिकतर हिन्देशिया-वासी आजकल इस्लाम के अनुयायी हैं। इनके अतिरिक्त लगभग २० लाख हिंदू और ३० लाख ईसाई भी यहाँ निवास करते हैं।

हिन्देशिया की राष्ट्र-भाषा 'इंडोशियन' है, जो मलय-ऑस्ट्रेलियाई परिवार की बोली है। इस भाषा में संस्कृत नामों और शब्दों का बाहुल्य है। हिन्देशिया-वासियों का मुख्य भोजन चावल है। साथ में मांस-मछली का भी काफी प्रयोग किया जाता है।

इंडोनेशियन लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि है। यहाँ की कृषि-पैदावार में चावल के उपरान्त रबड़, शकर, चाय, काफी, नारियल, ताड़ का तेल और काली मिर्च मुख्य हैं। खनिज संपत्ति की दृष्टि से पेट्रोलियम और टिन यहाँ की सब से मूल्यवान् पैदावार है। स्वतंत्र होने के बाद इस देश ने उद्योग के क्षेत्र में तेजी से प्रगति की है, जिसके फलस्वरूप हर प्रकार की उपभोक्ता सामग्री के कारखाने यहाँ उठ खड़े हुए हैं। यहाँ के कुटीर उद्योग में वस्त्रों की एक विशिष्ट प्रकार की छपाई बहुत मशहूर है, जिसमें बड़े चटकीले रंगों का प्रयोग किया जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगर—हिन्देशिया के द्वीपों में जावा सब से घना बसा हुआ है। अतः यहाँ बड़े नगरों की कमी नहीं है। राजधानी जकार्ता की आबादी ३५ लाख है। उधर सुराबाया (१० लाख), बांडुंग (९ लाख), सोलो (३॥ लाख) और जोगजाकार्ता (लगभग २ लाख) भी काफी बड़े शहर हैं। सुमात्रा का सब से बड़ा नगर पालेमबांग (३। लाख) है। यही यहाँ के तेल की निकासी का मुख्य बन्दरगाह है। सेलीबीज द्वीप का प्रमुख नगर मकासार (३॥ लाख) है।

ः फिलीपाईन्स ः

हिन्देशिया के उत्तर में अर्धगोलाकार आकार में प्रशान्त महासागर में फैले हुए फिलीपाईन्स द्वीप-समूह में कुल मिलाकर कोई सात हजार द्वीप शामिल हैं। परन्तु उनमें से केवल ४६२ ही ऐसे हैं, जिनका विस्तार एक वर्गमील से अधिक होगा। इनमें के ४,३३४ द्वीपों का तो अभी तक नामकरण भी नहीं हुआ है! केवल ११ द्वीप बड़े हैं। ये हैं--लुजोन, मिंडानाओ, समर, नीग्रोस, बासीलान, पानय, मिंडोरो, लेते, सीबू, बोहोल और मास-बाटें। इस देश का क्षेत्रफल ११५,७५८ वर्गमील है और आबादी लगभग २॥ करोड़।

इतिहास—१६वीं शताब्दी में स्पेनवासियों ने यहाँ के मुसलमान शासकों को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया था। १८९६ ई० की क्रांति के बाद इस पर अमेरिका ने अपना अधिकार कर लिया। अमेरिकन शासनकाल में इसकी काफी उन्नति हुई। १९४६ ई० में यह एक स्वतंत्र गणतंत्र बन गया।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि--फिलीपाईन्स द्वीप-समूह में बसनेवाली फिलीपिनो जाति मलय जाति-समूह की एक शाखा है। वैसे यहाँ चीनी, स्पेनी, अमेरिकन, अंग्रेज, भारतीय, जापानी और योरप तथा एशिया के अन्य देशों के निवासी भी रहते हैं। यहाँ के अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक हैं। बाकी लोगों में मुसलमानों की संख्या सब से अधिक है।

फिलीपाईन्स के ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी पुरानी वेश-भूषा और रीति-रिवाजों की झाँकी देखने को मिलती है। यहाँ की महिलाएँ 'बालिन्टावाक' नामक रंग-बिरंगी पोशाक और पुरुष कसीदे से कढ़ी हुई कमीज पहनते हैं। आजकल योरपीय पोशाक का भी रिवाज बढ़ता जा रहा है।

यहाँ धान, गन्ना, सन, जूट, तम्बाकू, मक्का, नारियल, केला, पपीता आदि की अच्छी पैदावार होती है।

फिलीपाईन्स की राष्ट्रभाषा तागालोग है। यह मलय भाषा-परिवार की बोली है। कुछ पुराने लोग स्पेनिश भाषा का भी प्रयोग करते हैं। आजकल यहाँ अंग्रेजी का भी काफी प्रचार है। फिलीपाईन्स में प्रत्येक क्षेत्र में प्राच्य और पाश्चात्य का अनूठा मिश्रण मिलता है--चाहे वह वेश-भूषा का क्षेत्र हो, चाहे भाषा अथवा रीति-रिवाजों का। यह मिश्रण इनके खानपान के क्षेत्र में भी दिखाई देता है। वैसे यहाँ का प्रधान भोजन तो चावल है, परन्तु प्राच्य ढंग की मसालेदार वस्तुओं के साथ-साथ योरपीय ढंग के भोजन का भी रिवाज अब काफी बढ़ गया है। यहाँ मछली भी बहुत खाई जाती है।

फिलीपाईन्सवासी बड़े संगीतप्रेमी होते हैं। उनके संगीत में प्राच्य और पाश्चात्य दोनों संगीतों का मिश्रण है। नृत्य का भी यहाँ बहुत प्रचार है। आदिम जातियों में अपने-अपने सामूहिक नृत्यों का प्रचलन है।

नगर--फिलीपाईन्स का सब से बड़ा नगर मनीला है, जिसकी जनसंख्या २० लाख है। यह एक अच्छा बंदरगाह है। यहाँ के नागरिक जीवन पर बहुत-कुछ अमेरिकन रंग-ढंग की छाप दिखाई देती है। क्वेजोन सिटी (१ लाख) में, जो मनीला के निकट की एक बस्ती है, देश की राजधानी स्थापित है। सेबू और बेसिलान सिटी भी प्रमुख नगर हैं।

ः जापान ः

एशिया के पूर्वीय तट के समीप, प्रशान्त महासागर में चार बड़े द्वीपों के समूह के रूप में स्थित, जापान क्षेत्रफल के लिहाज से यद्यपि कोई बहुत बड़ा देश नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्रगति में वह संसार के प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों की बराबरी कर सकता है। एशिया का तो निस्संदेह वही सब से उन्नत देश है। स्वयं जापानी अपने देश को 'निपान' के नाम से पुकारते हैं। यह देश चार बड़े द्वीपों को मिलाकर बना है, जिनके नाम हैं--होक्काइडो, होनशू, शिकोकू

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

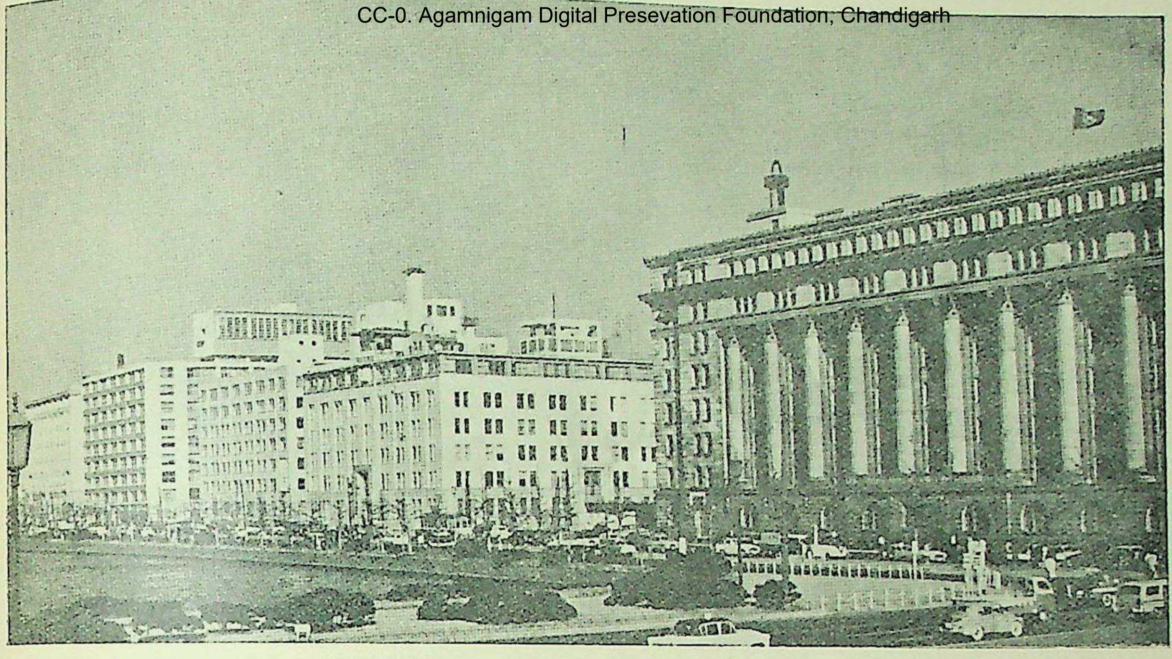

जापान की राजधानी और सब से बड़े नगर टोकियो की एक झलक :: जनसंख्या के लिहाज से यही आजकल दुनिया का सब से बड़ा नगर है ।

और क्यूशू । इन द्वीपों का कुल क्षेत्रफल १,४२,२७० वर्ग-मील है और आबादी ९ करोड़ १२½ लाख है । यहाँ की राजधानी टोकियो है, जो जनसंख्या के लिहाज से इन दिनों संसार का सब से बड़ा नगर है ।

प्राकृतिक रूप—जापान के द्वीप एक ऐसी पर्वत-शृंखला पर बसे हैं, जो चीन और रूस की सीमा को छूते हुए प्रशांत महासागर में डूब गई है । होनशू द्वीप में दो पर्वत-श्रेणियाँ हैं, जो करीब-करीब पूरे द्वीप की लम्बाई में फैली हुई हैं। यही जापान का सब से बड़ा द्वीप है । ये पर्वत-श्रेणियाँ पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतट के समानान्तर फैली हुई हैं। पश्चिमी पर्वत-श्रेणी क्यूशू द्वीप में फिर से दिखाई देती है और पूर्वी पर्वत-श्रेणी शिकोकू द्वीप में । होक्काइडो द्वीप की पर्वत-श्रेणियाँ पंखे की भाँति फैली हैं, जिनमें अधिकांश की उत्पत्ति ज्वालामुखियों के आधार पर हुई हैं । जापान में १९२ ज्वालामुखी हैं, जिनमें से ५८ आज भी सक्रिय हैं । इनमें फूजीयामा का ज्वालामुखी सब से प्रसिद्ध है । यह १२,३८९ फीट ऊँचा है । यहाँ कई एक मैदान भी हैं, जिनमें क्वांटो अथवा टोकियो का मैदान सब से बड़ा है । यह मैदान ५,००० वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ है ।

ज्वालामुखियों का देश होने के कारण जापान में प्रतिवर्ष करीब १,५०० भूचाल आते हैं । कोई सप्ताह ऐसा नहीं गुजरता, जिसमें दो-एक बार यहाँ भूचाल न आते हों । यहाँ की नदियों की लम्बाई अधिक नहीं है, लेकिन पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण उनमें तीव्र प्रवाह होता है ।

इन द्वीपों की जलवायु शीतोष्ण है। दक्षिणी भाग में कुछ गरमी भी पड़ती है । यहाँ की वर्षा का मान ३५ से १०२ इंच तक है । यहाँ के आधे क्षेत्र में जंगल हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की इमारती लकड़ी और बाँस पाए जाते हैं । विश्व का एक महान् औद्योगिक देश होने पर भी जापान का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है । कृषि के क्षेत्र में यहाँ संसार भर में सब से अच्छी सघन खेती की जाती है ।

इतिहास—जापान प्राचीन यामातो जाति के लोगों का आदि स्थान है । इस जाति के लोग यहाँ के दक्षिण-पश्चिमी भागों में रहते हैं। बाकी देश में आयनू जाति के लोग रहते हैं, जो कोरिया प्रायद्वीप से आकर यहाँ बस गए थे । आयनू जाति काकेशस जाति से मिलती-जुलती है ।

चौथी शताब्दी ईस्वी के बाद जापान और कोरिया में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुआ, जो सैकड़ों वर्षों तक बना रहा। कोरिया के माध्यम से जापान में चीन का भी प्रभाव पहुँचा । ७८४ से ११९२ ई० तक जापानी सभ्यता का अतिशय विकास हुआ । इन दिनों जापान की राजधानी नारा में स्थापित थी । इस काल में जापान में वीर योद्धाओं के वर्ग को बहुत महत्व प्रदान किया गया ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धान के खेत में काम करते हुए जापानी कृषक।

केवल उसके अपने मूल चार द्वीपों में ही सीमित कर दिया गया।

जाति, भाषा, रहन-सहन, धर्म, संस्कृति आदि—जापानी लोगों को पीत वर्ण का माना जाता है, पर वस्तुतः उनका रंग उत्तरी योरप के निवासियों से कुछ दबा हुआ और दक्षिणी इटली के निवासियों का-सा होता है। ये लोग मुख्यतः कोरिया से होकर पहुँचनेवाली आयनू और मंगोल जातियों तथा हिन्देशिया और फिलिपाईन्स से आनेवाली मलयेशियन जातियों की मिश्रित संतानें हैं। केवल होक्काइडो द्वीप में आयनू जाति के श्वेत-काय लोग अपनी काकेशियन विशिष्टता कायम रखे हुए हैं।

एशिया के सभी देशों की अपेक्षा जापान में आबादी का करीब ४५ प्रतिशत भाग शहरों में रहता है। इसका प्रमुख कारण है वहाँ की औद्योगिक प्रगति। जापान की गणना आज संसार के प्रधान औद्योगिक देशों में की जाती है। आज के इस विज्ञान-युग में उपयोग में आनेवाली ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे जापानी लोग अपने ही देश के कारखानों में न बनाते हों। जापान में न अच्छी जाति का लोहा मिलता है, न कोयला ही। फिर भी यहाँ हर तरह की मशीनरी बनाई जाती है। जहाजों के निर्माण के क्षेत्र में तो इन दिनों जापान ने ब्रिटेन, संयुक्त राज्य (अमेरिका) आदि सभी देशों से बाजी मार ली है।

औद्योगिक उन्नति के पथ पर इतना आगे बढ़ा हुआ होने पर भी जापान का सब से महत्वपूर्ण व्यवसाय कृषि है, जिसमें यहाँ की आबादी का ४५ प्रतिशत भाग लगा हुआ है। यहाँ की कृषि की मुख्य उपज धान है, जिसकी एक विशेष ढंग से सघन खेती की जाती है।

जापानी लोग सम्राट् के दैवी अधिकार में विश्वास करते हैं। परन्तु १९५२ ई० से यहाँ एक नवीन संविधान चालू किया गया है, जिसमें वैधानिक राजतंत्र को मान्यता प्रदान की

सोलहवीं शताब्दी में हिदेयोशी के नेतृत्व में जापान में राष्ट्रीय जागरण की एक जबर्दस्त लहर उठी। हिदेयोशी ने राष्ट्रीय एकता का जो कार्य शुरू किया था, उसे इयेयाशू ने (जो प्रथम तोकूगावा शोगुन कहलाता है) जारी रखा। उसने अपनी राजधानी येदो में स्थापित की। यही नगर बाद में टोकियो के नाम से प्रख्यात हुआ। इसके बाद दो शताब्दी तक जापान का दूसरे देशों से कोई सम्पर्क नहीं रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी में जापान ने संसार के दूसरे देशों से सम्पर्क स्थापितकर निश्चयात्मक ढंग से पाश्चात्य तौर-तरीके अपनाये। तब १८९४-९५ ई० में चीन को और १९०५ ई० में रूस को युद्ध में पराजित करने के बाद फारमोसा, सखालिन के दक्षिणी भाग और कोरिया पर जापान का कब्जा हो गया और मंचूरिया का रेलमार्ग भी उसके अधिकार में आ गया। १९३१ ई० में उसने पूरे मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और १९३६ ई० में चीन पर भी आक्रमण कर दिया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान में जापान ने एशिया के दक्षिण-पूर्वी भाग से पश्चिमी देशों का शासन सर्वथा समाप्त करके वहाँ अपना झंडा फहरा दिया था; लेकिन महायुद्ध के अन्त में धुरी-राष्ट्रों की पराजय के साथ जापान को भी पराजित होना पड़ा। यह पराजय अमेरिका द्वारा हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम के प्रहार से हुई, जिससे जापान को आत्मसमर्पण करने को बाध्य होना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के अन्त में जापान से उसके समस्त अधिकृत प्रदेश ले लिए गए और उसका राज्य

गई है। यद्यपि आधुनिकता में जापान किसी भी पश्चिमी देश से पीछे नहीं है, फिर भी यहाँ के निवासियों में अपने रीति-रिवाजों, पारिवारिक सम्बन्धों और आचार-व्यवहार का गर्व के साथ पालन होता है।

जापानी लोगोंका घर बड़ा सादा, किन्तु अत्यंत साफ-सुथरा और कलापूर्ण होता है। जापान ज्वालामुखियों और भूचालों से त्रस्त देश है, अतः यहाँ के घरों को हल्के से हल्का बनाया जाता है और उनमें लकड़ी का प्रयोग अधिकता से किया जाता है। नगरों की बड़ी इमारतों में भी खपरैलों का प्रयोग किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों के मकानों में छप्परों का प्रयोग होता है। मकानों के भीतर दीवारें बहुत कम होती हैं। कमरों के विभाजन के लिए दीवारों के स्थान पर हटाये जानेवाले दरवाजों का प्रयोग किया जाता है, जिन पर हल्का कागज लगा रहता है। कभी-कभी उन्हें दफ्ती का भी बनाते हैं। गरमी के दिनों में खिड़कियों के खोल देने पर जापानी घरों को बाहर से समूचा देखा जा सकता है।

जापानी लोग घरों में 'तातायी' नामक चटाइयों पर झुककर बैठते हैं। जाड़े के दिनों में ये लोग 'हिबाची' नामक अँगीठी से अपने को गरमाते हैं।

जापानी समाज पितृसत्ताप्रधान परिवार का समाज है। परिवार में पिता का अधिकार और शासन सर्वोपरि होता है। ज्येष्ठ पुत्र का परिवार में विशेष आदर होता है। प्रतिदिन प्रातः सब से पहले परिवार की प्रधान गृहपत्नी जगकर मकान की सफाई करती है। ज्यों-ज्यों दूसरे लोग जगते जाते हैं, वे ठंडे पानी से मुँह हाथ साफ करते हैं। नाश्ता सब से पहले पिता को परोसा जाता है, तब दूसरों को मिलता है।

जापान की भाषा को किसी विशेष भाषा-समूह में शामिल नहीं किया जा सकता। चीनी लिपि की भाँति उसकी लिपि में भी सांकेतिक चिन्हों अथवा चित्रों का उपयोग किया जाता है। पश्चिमी देशों की भाँति जापान में भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा का स्तर ऊँचा है। यहाँ शतप्रतिशत लोग साक्षर हैं। यहाँ कई एक विश्वविद्यालय हैं।

जापानी लोग जन्मजात कलाप्रेमी और सौन्दर्योपासक होते हैं। उनका यह कला-प्रेम छोटे-छोटे उद्यानों को सजाने, फूलों के गुलदस्ते बनाने, रंगों की छपाई करने, चीनी मिट्टी के सुंदर बर्तन बनाने आदि में तो निखरा है ही, साथ ही साथ उनके चाय-समारोह, नृत्य और अभिनय एवं नाटक, आदि में भी पग-पग पर उसका परिचय हमें मिलता है।

जापान का परम्परागत धर्म 'शिंटो' कहलाता है। इसमें पशु-पक्षियों तक की पूजा होती है और सभी वस्तुओं में देवत्व की भावना स्वीकार की जाती है। १८६८ ई० से संशोधित रूप में यह धर्म यहाँ का राजधर्म मान लिया गया है। जापान के शिंटो धर्म के अनुयायी बौद्ध धर्म को भी मानते हैं। इन दोनों मतों में विरोध नहीं माना जाता। जापान में विशेषतः बौद्ध धर्म की महायान शाखा का प्रचार है। बौद्धों और शिंटो धर्मावलंबियों के अलावा यहाँ करीब ५ लाख ईसाई भी हैं, जिनमें प्रोटेस्टेन्ट लोगों की संख्या अधिक है।

नगर—जापान में प्राचीन और अर्वाचीन दोनों के साथ-साथ दर्शन किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक ओर यदि हमें प्राचीन नगर कोयटो की झाँकी देखने को मिलती है, तो दूसरी ओर टोकियो, ओसाका और योकोहामा जैसे आधुनिक नगर भी उपलब्ध हैं। जनसंख्या के लिहाज से टोकियो इस समय संसार का सब से बड़ा नगर माना जा रहा है। इसकी आबादी ९१ लाख है! करीब तीन सौ वर्ष पूर्व तोकूगावा

जापानी लोग जन्मजात कलाप्रेमी होते हैं। प्रस्तुत चित्र में अपने विशिष्ट वाद्यों पर संगीत का अभ्यास करती हुई कतिपय जापानी महिलाएँ दिग्दर्शित हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शोगुनों ने इस स्थान में अपनी राजधानी स्थापित की थी। उस समय इस स्थान का नाम येदो था और यह सुमिदा नदी के मुहाने पर स्थित था। आधुनिक टोकियो नगर का बहुत-सा क्षेत्र उस समय समुद्र में था, जिसे बाद में बसने योग्य बनाया गया। देश की राजधानी होने के साथ ही टोकियो जापान की राजनीति, संस्कृति और व्यापार का भी प्रधान केन्द्र है। कोयटो की भी आबादी कम नहीं है—वह करीब १४ लाख है। यह नगर १,१०० वर्षों तक जापान की राजधानी रह चुका है। यहाँ प्राचीन कारीगरी की वस्तुओं और रेशमी वस्त्र-उद्योग के अलावा चीनी मिट्टी के बर्तन, लाख का सामान और कांसे का सामान भी बनता है। ओसाका जापान का प्रमुख औद्योगिक नगर है, यह यहाँ के वस्त्र-उद्योग का मुख्य केन्द्र है। इसकी आबादी २६ लाख है। योकोहामा देश का मुख्य बन्दरगाह है। इसकी आबादी ११ लाख है।

फूजीयामा पर्वत के निकट फूजी हाकोने नामक स्थान में ईज़ू और निक्को नामक दो राष्ट्रीय उद्यान जापान के उल्लेखनीय दर्शनीय स्थल हैं। वहाँ पहाड़, जंगल, झील, झरने, जलप्रपात आदि के बड़े ही रमणीय नैसर्गिक दृश्य निखरे हुए हैं। इसी प्रकार मियाजीमा द्वीप में समुद्र में बनाया गया शिंटो मंदिर का तोरण भी दर्शनीय है। उधर योकोहामा के निकट कामाकूरा में भगवान् बुद्ध की एक विशाल कांसे की प्रतिमा भी दर्शकों के आकर्षण की वस्तु है। यह ७०० वर्ष पुरानी है।

: कोरिया :

एक प्रायद्वीप के रूप में एशिया के पूर्वीय तट से बाहर निकला हुआ 'कोरिया', पिछले दिनों के अपने गृह-युद्ध के कारण, आज संसार के लिए एक सुपरिचित देश बन गया है। उक्त गृहयुद्ध के कारण ही यह देश आजकल उत्तरी और दक्षिणी कोरिया नामक दो स्वतंत्र भागों में विभक्त है। समस्त कोरिया का क्षेत्रफल ८५,२६६ वर्गमील है। इसमें उत्तरी कोरिया ४६,८१४ वर्गमील में और दक्षिणी कोरिया ३८,४५२ वर्गमील में फैला हुआ है। कोरिया की कुल आबादी ३ करोड़ १२ लाख के लगभग है। इसमें उत्तरी कोरिया की आबादी ९६ लाख और दक्षिणी कोरिया की २ करोड़ १५ लाख २६ हजार है। उत्तरी कोरिया की राजधानी प्योंगयांग में और दक्षिणी कोरिया की सियोल में स्थापित है।

प्राकृतिक दशा—कोरियावासी अपने देश को 'चोसोन' के नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ होता है 'उषःकाल की शान्ति का देश'। उषःकाल की वेला में कोरिया के गगनमंडल की छवि सचमुच हीरे के पर्वत की आभा से होड़ बदने लगती है! सख्त काले पत्थर के पर्वतों की पतली घाटियों में प्रवाहित यहाँ की नदियों का जल बड़ा स्वच्छ होता है। कोरिया प्रायद्वीप का अधिकांश क्षेत्र पर्वतीय है। उत्तर में पहाड़ों की शृंखला इस देश को चीन के मंचूरिया प्रदेश से अलग करती है। पूर्व में क्वानमो नामक पहाड़ हैं। इसका ढाल पश्चिम की ओर है, जहाँ समुद्र-तट के निकट उर्वर मैदान है।

इतिहास—ईस्वी पूर्व पहली शताब्दी में कोरिया में तीन छोटे-छोटे राज्य थे—दक्षिण-पूर्व में सीला, उत्तर में कोगुरयू और दक्षिण-पश्चिम में पैकचे। ६६८ ई० में सीला राज्य का प्रभुत्व पूरे कोरिया प्रायद्वीप पर हो गया। उस समय से लेकर ठेठ उन्नीसवीं सदी में जापान द्वारा अधिकृत होने की घड़ी तक कोरिया ने अपनी एकता और स्वतंत्रता निरंतर बनाए रक्खी, यद्यपि यहाँ के शासकों को काफी समय तक चीन के सम्राटों को नजराना अदा करना पड़ा। १९वीं शताब्दी में रूस और जापान दोनों ने कोरिया पर अपना नियंत्रण जमाना चाहा। अंत में १९०५ ई० में रूस-जापान युद्ध में विजयी होकर जापान ने कोरिया को अपना संरक्षित प्रदेश घोषित कर दिया और १९१० ई० में तो उस पर पूरा अधिकार ही कर लिया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत संघ और अमेरिका ने कोरिया पर अलग-अलग कब्जा किया और ३८ अक्षांश की रेखा को मध्यवर्ती सीमा मानकर उसे 'उत्तरी कोरिया' और 'दक्षिणी कोरिया' नामक दो अलग क्षेत्रों में विभाजित कर दिया। उसके बाद उत्तरी कोरिया में 'जनवादी गणतंत्र' और दक्षिण कोरिया में 'कोरिया गणतंत्र' के नाम से दो जुदा राज्यों की स्थापना की गई। १९५० ई० में उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया में परस्पर युद्ध हो गया, जिसमें दक्षिणी कोरिया की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ की सेनाओं को जाना पड़ा। आखिर, १९५३ ई० में, दोनों देशों की सीमा फिर से ३८ अक्षांश पर कायम कर दी गई।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—कोरियाई लोग एक प्राचीन जाति के लोग है, जो मंगोल और काकेशियन जातियों के मिश्रण से बनी है। पश्चिमी एशिया से आनेवाली आयनू

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाति में काकेशियन जाति के पर्याप्त लक्षण मिलते हैं । इस जाति के लोग पश्चिमी एशिया से पहले कोरिया में आकर बसे थे, तब यहाँ से जापान पहुँचे थे ।

कोरियाई जाति की भाँति उसकी भाषा भी अल्ताई और यूराल पर्वतों के बीच के क्षेत्रों में बोली जानेवाली भाषा की सजातीय है । यह भाषा चीनी और जापानी भाषा से भिन्न है । कोरिया के मैदानी भाग की भूमि अत्यन्त उर्वर है । उस पर प्राचीन काल से सघन खेती की जाती रही है । कोरिया की आबादी के ७५ प्रतिशत लोग खेती करते हैं । यहाँ की मुख्य पैदावार धान है; वैसे जौ, गेहूँ, मक्का, ज्वार, आलू, कपास आदि की भी खेती होती है । दक्षिणी कोरिया में सेब अधिक पैदा किए जाते हैं ।

खनिज संपदा की दृष्टि से कोरिया बड़ा समृद्ध है । यहाँ कई महत्वपूर्ण खनिज पाए जाते हैं, जिनमें सोना और लोहा अधिक उल्लेखनीय हैं । उत्तरी कोरिया में बड़े उद्योगों का संचालन जल-विद्युत् की शक्ति से किया जाता है । दक्षिण कोरिया में अधिकतर छोटे उद्योग संगठित किए गए हैं ।

कोरियाई लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, यद्यपि कम्युनिस्ट शासन में आने के बाद से उत्तरी कोरिया में धर्म का तिरस्कार किया जा रहा है । दक्षिणी कोरिया में ३५ लाख बौद्ध और लगभग १५ लाख 'चोन्डोक्यो' सम्प्रदाय के अनुयायी हैं । इनके अतिरिक्त ८॥ लाख प्रोटेस्टेन्ट और १ लाख ६० हजार रोमन कैथोलिक ईसाई भी हैं ।

कोरिया की संस्कृति पर चीन और जापान दोनों का गहरा प्रभाव पड़ा है, फिर भी प्राचीन काल से यहाँ की संस्कृति और सभ्यता अपना एक अलग रूप बनाए हुए है । यह देश प्राचीन काल में ही इतनी उन्नति कर चुका था कि योरप में छापेखाने के धातुओं के अक्षरों के बनने से पहले ही यहाँ उनका विकास हो चुका था ! ९३६ से १३९२ ई० में कोरयू राज्यकाल में यहाँ के चीनी के बर्तनों पर बड़े ही आकर्षक डिजाइन बनाये जाते थे । अपने देश के प्राकृतिक दृश्यों ने कोरियाई लोगों को जन्मजात सौंदर्यप्रेमी बना दिया है । वे संगीत और नृत्य के बड़े प्रेमी होते हैं । पर जीवन में रस लेने के साथ-साथ आजीविका और भरणपोषण के लिए वे कड़ी मेहनत भी करते हैं ।

नगर—कोरिया का सब से बड़ा नगर सियोल है, जो दक्षिणी कोरिया की राजधानी है । इसकी आबादी १५ लाख से अधिक है । दूसरा सब से बड़ा नगर पुसान (१० लाख) है, जो कोरिया का सब से बड़ा बंदरगाह है । उत्तरी कोरिया की राजधानी प्योंगयांग की जनसंख्या ५ लाख है ।

: चीन :

एशिया महाद्वीप के पूर्वी भाग के अर्धगोलाकार प्रायद्वीप को ही चीन के नाम से पुकारा जाता है । इस भूखंड का क्षेत्रफल २,४२४,२३२ वर्गमील है और आबादी लगभग ६५ करोड़ है । आज के दिन भीतरी मंगोलिया (क्षेत्रफल २,६९,२३१ वर्गमील), तिब्बत (४,६९,२९४ वर्गमील) और सिंकियांग प्रदेश (७,०५,७६८ वर्गमील) पर भी चीन का अधिकार है। इस देश की राजधानी आजकल पीकिंग में है ।

प्राकृतिक अवस्था—चीन का आधे से अधिक भीतरी भाग एशिया का मध्य पठारी क्षेत्र है । उत्तर में मंगोलिया का पठार है । यहाँ खिनगान पर्वत मंचूरिया के मैदान को घेरे हुए हैं । पामीर से कुनलुन और हिमालय पर्वत-शृंखला के बीच का पठारी भाग तिब्बत भी इन दिनों चीन के अधीन है । चीन के पठारी क्षेत्र का दक्षिणी भाग बर्मा और लाओस की सीमा को छूता है । इस देश की मुख्य नदियाँ हांग-हो (पीत नदी) और यांगत्सी हैं । इन नदियों के मुहानों पर विस्तृत मैदान हैं । पीत नदी २,६१० मील लम्बी और यांगत्सी की लंबाई ३,४३० मील है । चीन की सब से घनी आबादी का क्षेत्र इन्हीं नदियों की घाटियों में है ।

इतिहास—पुरातत्त्वीय दृष्टि से चीन एक अति प्राचीन देश है । वहाँ की प्राचीन सभ्यता का विकास लगभग तीन हजार वर्ष ईस्वी पूर्व पीत नदी (हांग-हो) और उसकी सहायक वेइ नदी के संगम पर हुआ था । चीन में हान जाति का हमेशा बोलबाला रहा है । इस जाति का सब से प्रसिद्ध राजवंश तांग था, जिसने ६१८ से ९०७ ई० तक राज्य किया; तदनंतर १३६८ से १६४४ ई० तक इसी जाति के मिंग नामक राजवंश की तूती बोलती रही । इन लोगों का मुख्य केन्द्र यांगत्सी नदी की घाटी में था । १२७९ से १३६८ ई० तक चीन पर मंगोल (युवान) लोगों का और १६४४-१९१२ ई० तक मंचूरिया के मंचू (चिंग) राजवंश के शासकों का आधिपत्य रहा । समुद्र-मार्ग से सब से पहले पश्चिम से पुर्तगाली लोग चीन पहुँचे । उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों ने चीन में व्यापार-प्रसार

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के लिए प्रसिद्ध 'अफीम-युद्ध' किया, जिसमें चीनियों को मात खाना पड़ी और देश के पाँच बन्दरगाह अंग्रेजों के व्यापार के लिए खोल देने पड़े। तभी से हांगकांग पर अंग्रेजों का अधिकार बना हुआ है। १९११-१२ ई० में राज्यक्रान्ति होने पर मंचू राजवंश का शासन समाप्त हो गया और चीन में गणतंत्र स्थापित किया गया। परंतु १९३१ ई० में जापान ने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और १९३७ ई० में उसने मुख्य चीन पर भी आक्रमण कर दिया। आखिर द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर चीन को मंचूरिया और दूसरे प्रदेश वापस मिल गए। लेकिन १९४९ ई० में वहाँ के राष्ट्रवादी नेता च्यांग काई शेक कम्युनिस्टों से पराजित हो गए और उन्हें ताइवान (फारमोसा) द्वीप में जाकर शरण लेना पड़ी। इस प्रकार चीन में माओत्से तुंग के नेतृत्व में कम्युनिस्ट राज्य स्थापित हुआ, जिसे चीन के लोग 'जनवादी गणतंत्र' के नाम से पुकारते हैं।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—चीन की आबादी संसार में सब से अधिक है। १९५९ ई० की जनसंख्या के अनुसार उसकी संख्या ६५ करोड़ थी। उसमें प्रतिवर्ष ६० लाख की वृद्धि होती है! मुख्य चीन के ९० प्रतिशत लोग हान जाति के हैं। कुछ अन्य नस्लों के लोग भी वहाँ मौजूद हैं। ये लोग अपने को हान लोगों से सर्वथा भिन्न मानते हैं। उदाहरणार्थ, सिंकियांग क्षेत्र में तुर्की-उइगर जाति के करीब ५० लाख मुसलमान बसते हैं, जो चीनी लोगों से अपना कोई नाता-रिश्ता नहीं मानते। इसी तरह मध्य एशिया के हुइत्से जाति के ६० लाख निवासी भी अपने को प्राचीन मध्य एशियाई जातियों का वंशज बताते हैं। हान जाति के अतिरिक्त इन अन्य नस्लों के कोई ३½ करोड़ लोग चीन में हैं। इनमें लोलो, मियाओ आदि कई आदिम वर्गीय जातियाँ भी शामिल हैं, जो दक्षिणी और पश्चिमी चीन में रहती हैं।

चीन कृषिप्रधान देश है। पहले यहाँ किसानों और जमींदारों में पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर नाता रहा करता था। कम्युनिस्ट शासनकाल में चीन के प्राचीन ग्रामीण परिवारों को तोड़-मोड़कर नवीन कम्युनिस्ट अधिकृत सामूहिक सामुदायिक जीवन का आरम्भ किया गया है, जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं को निरंकुश अधिकार प्राप्त हैं। कृषि के अतिरिक्त प्राचीन काल ही से कई एक कुटीर-उद्योग भी इस देश में होते रहे हैं, जिनमें प्रमुख रेशम और रेशमी वस्त्र के उत्पादन का उद्योग है। पिछले दिनों कम्युनिस्ट शासन के अधीन, सोवियत रूस की मदद से, यहाँ इस्पात, मशीनरी तथा अन्य आधुनिक वस्तुओं के निर्माण के हेतु भारी उद्योग भी स्थापित किए गए हैं। परन्तु इन उद्योगों का अधिकतर उपयोग चीन अपनी युद्ध-सामग्री के उत्पादन के लिए ही करता है, जो कि उसकी प्रसारवादी नीति का अंग बना हुआ है।

चीन की हान जाति की प्रमुख विशेषता उसकी नृशंसता है। यह जाति अपने को पीकिंग क्षेत्र की आदि पीत मानव-जाति का वंशज मानती है। अपने जातीय अभिमान के कारण यह सदैव दूसरों को कष्ट देती रही है। इसकी नैतिक मान्यताओं का भी कोई ठौर-ठिकाना नहीं। चीनी लोग किस बात को कब बदल देंगे, इसका कोई भरोसा नहीं रहता। इनका खान-पान भी विचित्र होता है। यद्यपि चावल और मछली-मांस इनका मुख्य भोजन है, लेकिन आवश्यक मात्रा में उनके न मिलने के कारण ये लोग सभी प्रकार के पशुओं, कीड़ों-मकोड़ों, चूहों आदि छोटे-से-छोटे जानवर तक का मांस खाने के अभ्यस्त हो गए हैं। यहाँ तक कि साँप, मेंढक आदि का भी उपयोग भोजन में करते हुए ये लोग नहीं हिचकते! हान जाति की यह भी विशेषता है कि इसकी आबादी बड़ी तेजी से बढ़ती है और यह जाति दूसरी जातियों को, जिनकी किसी भी क्षेत्र में संख्या अधिक हो, शीघ्र ही अल्पसंख्यक जाति बना देती है। पारिवारिक जातीय सम्बन्धों में हानवंशीय चीनियों में अभी भी आदिम जातियों की-सी बर्बरता कायम है और वे दूसरी जातियों को निरन्तर दबाने का अनुचित प्रयत्न करते रहते हैं।

चीन के लोग विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं, लेकिन लिखित भाषा पूरे देश में एक ही है। यह आधुनिक चीनी भाषा मंडारिन अथवा कू-यू कहलाती है। चीनी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट है और वह एक प्रकार की चित्र-लिपि में लिखी जाती है। कम्युनिस्ट शासन में इस भाषा के ३० हजार संकेत-चित्रों के स्थान पर लैटिन लिपि के ३० अक्षरों को अपनाया जा रहा है।

धर्म के नाम पर चीन की हान जाति के लोग अपने पैतृक विश्वासों और रूढ़ियों को कट्टरतापूर्वक मानते रहे हैं। इनके धर्म में कन्फ्यूशियसवाद, बौद्ध धर्म और ताओ धर्म सभी की मिली-जुली खिचड़ी रही है। करीब ७० लाख महायान सम्प्रदाय के बौद्ध भी यहाँ निवास करते हैं। उधर तिब्बती और मंगोल जातियों के अपने-अपने बौद्ध लामा-सम्प्रदाय हैं। पूरे चीन में मुसलमानों की भी संख्या करीब एक करोड़ होगी, जिनमें से ५० लाख के लगभग तो अकेले सिंकियांग ही में रहते हैं। यहाँ करीब ४० लाख रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई और १० लाख प्रोटेस्टेन्ट ईसाई धर्म के अनुयायी भी मौजूद हैं। परन्तु अब कम्युनिस्ट शासन में धर्म का काफी

तिरस्कार किया जा रहा है और नई पीढ़ी को अनीश्वरवाद के रंग में ही रँगा जा रहा है। चीन में सामान्य शिक्षा के साथ-साथ प्रचारात्मक कम्युनिस्ट राजनीतिक शिक्षा पर बहुत जोर दिया जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चीन अपनी प्रसारवादी आक्रामक नीति और साम्राज्य-लिप्सा के लिए इतिहास में सदैव ही कुख्यात रहा है। उसकी यह लिप्सा कम्युनिस्ट तानाशाही के अधीन सैनिक विस्तार के फलस्वरूप पिछले दिनों और भी उग्र हो उठी है, जिससे वह विश्व-शान्ति के लिए खतरा बन गया है। अपनी इस उद्दंडता का नग्न परिचय उसने पिछले दिनों भारत पर निर्लज्ज और बर्बर हमला करके दिया है। इसका एक नतीजा यह हुआ है कि यह देश आज दुनिया की सहानुभूति खोकर अकेला पड़ गया है।

नगर—चीन में दस लाख से अधिक आबादीवाले कई एक नगर हैं। राजधानी पीकिंग की आबादी करीब ३० लाख है। उधर भारी उद्योगों के केन्द्र मुकडेन की आबादी भी २१ लाख के लगभग है। उत्तर का सब से बड़ा बंदरगाह तीनसीन लगभग २७ लाख की आबादीवाला शहर है। इसी तरह नानकिंग, जो कभी चीन की राजधानी रह चुका है तथा आज रेशमी और सूती वस्त्र-उद्योग का प्रमुख केन्द्र है १३ लाख आबादी का शहर है। मध्य चीन का प्रमुख औद्योगिक केन्द्र वूहान है। उसकी आबादी १२ लाख है। पूर्वोत्तर चीन का औद्योगिक नगर हारबिन है, जहाँ से रूसी ट्रांस-साइबेरियन रेलमार्ग जाता है। यह भी १२ लाख की आबादी का शहर है। उधर दक्षिणी चीन में भी कई बड़े नगर हैं। इनमें यांगत्सी नदी के किनारे बसा हुआ चुंगकिंग, जहाँ द्वितीय महायुद्ध के समय चीन की राजधानी थी, ११ लाख की आबादी का नगर है। शंघाई तो एशिया के सब से बड़े नगरों में है। इसकी आबादी ६२ लाख से भी अधिक है। यह एक महत्वपूर्ण व्यापार-केन्द्र और बहुत बड़ा बंदरगाह है। यहाँ से देश का लगभग आधा व्यापार संचालित किया जाता है। इसके दक्षिण में स्थित कैन्टन बन्दरगाह भी एक बड़ा नगर है। इसकी आबादी १५ लाख है।

: फारमोसा--ताइवान :

चीन के दक्षिण-पूर्वीय समुद्र-तट से लगभग एक सौ मील की दूरी पर फारमोसा की खाड़ी में इसी नाम का एक बड़ा द्वीप है, जिसे 'ताइवान' कहकर भी पुकारा जाता है। इसका क्षेत्रफल १३,८९० वर्गमील और आबादी १ करोड़ से भी अधिक है। इस टापू का 'फारमोसा' नाम पुर्तगालियों का दिया हुआ है, जो यहाँ पहुँचनेवाले सर्वप्रथम योरपीय थे। चीनी लोग इसे 'ताइवान' के नाम से पुकारते हैं।

प्राकृतिक दशा—फारमोसा द्वीप में ऊँचे पहाड़ भी हैं और सपाट मैदान भी। यहाँ की दो चोटियाँ--निताका-यामा और माउंट सिल्विया—क्रमशः १३,५०० और १२,८९७ फीट ऊँची हैं। पश्चिमी भाग में उपजाऊ मैदान फैला हुआ है। यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है और वार्षिक वर्षा कम से कम ६० इंच होती है।

इतिहास—छठवीं शताब्दी ईस्वी में चीन के कुछ लोगों ने आकर इस द्वीप में पहले-पहल अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। करीब १० शताब्दी बाद जब चीन पर मंचू लोगों का आक्रमण हुआ, तो बहुत-से चीनियों ने भागकर पुनः इस द्वीप में शरण ली। १५९० ई० में यहाँ पुर्तगाली व्यापारियों का आगमन हुआ और उनके बाद डच और स्पेनिश लोगों ने यहाँ अपने व्यापारिक अड्डे बनाए। इन योरपीय लोगों को चीन के मंचू शासकों ने कुछ समय बाद यहाँ से भगा दिया। १८९५ ई० में इस द्वीप पर जापान का अधिकार हो गया। पर द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने पर वह पुनः चीन को वापस कर दिया गया। १९४९ ई० में कम्युनिस्टों से परास्त होने के बाद च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी कोमिनतांग सरकार चीन से निर्वासित होकर इस द्वीप में आ बसी। इन दिनों वही संयुक्त राष्ट्र-संघ में चीन का प्रतिनिधित्व करती है।

जाति, रहन-सहन आदि--ताइवान द्वीप के मूल निवासी मलयेशियन जाति के हैं। उनकी संख्या लगभग डेढ़ लाख है। ये लोग इस द्वीप के दुर्गम स्थानों में रहते हैं, जहाँ वे अपनी जातीय परम्पराओं, रीति-रिवाजों और वेश-भूषा को सुरक्षित बनाए हुए हैं। वर्तमान बाशिन्दों में चीन से आकर बसनेवालों की संख्या अधिक है।

ताइवान में चीनी भाषा की 'अमोय' नामक बोली का प्रयोग किया जाता है। सरकारी स्कूलों में मंडारिन चीनी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाती है। मलयेशियन जाति के लोग मलय और हिन्देशिया की भाषाओं से मिलती-जुलती बोली का प्रयोग करते हैं। धर्म के लिहाज से चीनी लोग बौद्ध और ताओ धर्म का परिपालन करते और आदिम जातियों के लोग अपने जातीय देवताओं की पूजा करते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ताइवान मुख्यतः एक कृषिप्रधान देश है। यहाँ की प्रमुख पैदावार चावल, गेहूँ, चाय, शकरकंद, सोयाबीन, पटसन और तंबाकू है। फलों में केला और अनन्नास अधिक पैदा होते हैं। खनिज संपदा में भी यह द्वीप बड़ा समृद्धिशाली है। यहाँ पेट्रोलियम, कोयला, सोना, चाँदी, ताँबा आदि सभी खनिज निकलते हैं। वनों से उम्दा किस्म की इमारती लकड़ी प्राप्त होती है।

नगर—ताइवान का प्रमुख नगर उसकी राजधानी तैपेइ है, जिसकी आबादी ७½ लाख है। ढाई-तीन लाख तक की आबादी के अन्य नगरों में तैनान, तैचुंग और काहोइयुंग उल्लेखनीय हैं। तैनान एक महत्वपूर्ण व्यापार-केन्द्र और द्वीप की सांस्कृतिक हलचल का स्रोत है। १८९५ ई० में जापान द्वारा इस टापू के हथियाने जाने से पूर्व यहीं पर ताइवान की राजधानी स्थापित थी। तैचुंग पश्चिमी समुद्रतटवर्ती क्षेत्र की कृषि की उपज की एक बड़ी मंडी है। काहोइयुंग दक्षिणी भूभाग का महत्वपूर्ण बंदरगाह है। जापानी शासनकाल में ही यह स्थान एक औद्योगिक केन्द्र बन गया था। पिछले दिनों संयुक्त राज्य (अमेरिका) की आर्थिक सहायता की बदौलत यहाँ कई नए कारखाने उठ खड़े हुए हैं। अन्य एक उल्लेखनीय नगर कीलुंग है, जिसकी आबादी तो पूर्वोक्त नगरों से कम है, परन्तु अपनी विशिष्ट प्राकृतिक स्थिति के कारण जो इस द्वीप का प्रमुख बंदरगाह बन गया है। अभी हाल में यहाँ एक विशाल जहाज-घाट बनाया गया है।

: तिब्बत :

जनसंख्या में कम होने पर भी क्षेत्रफल के लिहाज से तिब्बत मध्य एशिया का एक बहुत बड़ा देश है। यह देश भौगोलिक रचना, जाति, भाषा, संस्कृति आदि सभी के लिहाज से एक स्वतन्त्र इकाई है, यद्यपि पिछले दिनों चीन ने अपनी सेना भेजकर जोर-जुल्म से इसकी स्वाधीनता को हड़प लिया है। तिब्बत का क्षेत्रफल ४,६९,२९४ वर्गमील और आबादी ६० लाख है। यहाँ की राजधानी लासा है।

प्राकृतिक स्थिति—कुनलुन और हिमालय पर्वतमाला के बीच के पठार पर ग्यारह-बारह हजार से लेकर पंद्रह-सोलह हजार फीट तक की ऊँचाई पर बसा हुआ तिब्बत अपनी ऊँचाई के कारण 'दुनिया की छत' के नाम से विख्यात है। इसके पश्चिम में काराकोरम पर्वतमाला है। अपनी अत्यधिक ऊँचाई के कारण इस देश को स्वभावतः कड़ी सरदी का सामना करना पड़ता है। केवल निचली घाटियों में ही जलवायु इस योग्य है कि लोग अधिक संख्या में स्थायी रूप से वहाँ बस सकें। इनमें प्रधान घाटी साँपो या ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी है। यह नदी दक्षिणी तिब्बत में लगभग ९०० मील तक बहती है। इस क्षेत्र में लगभग १८ इंच वर्षा हो जाती है और नदी के जल से आबपाशी करने की भी सुविधा है।

इतिहास—तिब्बत के निवासी मंगोल जाति के सजातीय हैं। कहते हैं, आरम्भ में ये लोग भी घुमक्कड़ पशुपालकों की भाँति जीवनयापन करते थे। तब छठवीं शताब्दी ई० में तिब्बत में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना हुई, जिसमें चीन का पश्चिमी भाग, नेपाल और बर्मा का भी कुछ अंश शामिल था। सातवीं शताब्दी ई० में भारत से आनेवाले कुछ धर्मपुरुषों के प्रभाव से यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। उसी के रूपान्तर से कालांतर में यहाँ के प्रसिद्ध लामा-सम्प्रदाय का विकास हुआ। भारतीय पौराणिक साहित्य के अनुसार तिब्बत सिद्धों का प्रमुख स्थान है। यहाँ के मानसरोवर और कैलास जैसे स्थल प्रमुख भारतीय तीर्थ माने जाते हैं।

१३वीं शताब्दी में तिब्बत पर चीन का आक्रमण हुआ। परन्तु उसे स्थानीय शासन का अधिकार प्राप्त रहा। कालान्तर में समूचे चीन के धर्मगुरु के रूप में उसकी प्रतिष्ठा स्थापित हो गई। तिब्बत के धर्मगुरुओं ने ही हिन्द-चीन और मंगोलिया में बौद्ध धर्म को फैलाया। १८ वीं शताब्दी में मंचू राजवंश के शासनकाल में चीन के शासकों ने पुनः तिब्बत पर आक्रमण किया, लेकिन चीनी सेनाओं के हटते ही तिब्बत के लामा प्रशासकों ने अपने को फिर से स्वतंत्र बना लिया। इन्हीं दिनों भारत के ब्रिटिश शासकों को तिब्बत के साथ व्यापार करने की अनुमति सहित कुछ विशेषाधिकार मिल गए। १९११-१२ ई० की राज्यक्रान्ति के बाद चीन का तिब्बत पर नाम-मात्र का ही प्रभुत्व शेष रह गया। इस अवधि में चीन, तिब्बत और भारत की ब्रिटिश सरकार ने भारत-तिब्बत-सीमारेखा के रूप में मैकमहोन रेखा को स्वीकार किया, जिसके लिए १९१४ ई० में शिमला में परस्पर एक सन्धि भी की गई। चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के बाद, १९५१ ई० की सन्धि के अनुसार, भारत ने तिब्बत में अपने विशेषाधिकारों को छोड़ दिया और उस देश पर चीन की प्रभुता को स्वीकार कर लिया। यद्यपि उस सन्धि में चीन ने तिब्बत के स्वशासन का अधिकार स्वीकार किया था, परन्तु १९५९ ई० में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उक्त संधि को ताक पर रखकर चीनी सेनाओं ने तिब्बत पर कब्जा कर लिया, जिसके फलस्वरूप वहाँ के प्रधान शासक एवं धर्मगुरु दलाई लामा को भागकर भारत में शरण लेना पड़ी। तब से तिब्बत चीनी कम्युनिस्ट शासन के पंजे में है।

जाति, रहन-सहन, भाषा आदि—जातीय और सांस्कृतिक दृष्टि से तिब्बत चीन से सर्वथा भिन्न देश है, यद्यपि तिब्बती लोग चीनियों की तरह मंगोल (पीत वर्ण) जाति के ही हैं। तिब्बती भाषा भारतीय भाषा से अधिक मिलती है। यहाँ के निवासियों के जीवन के संबंध में एक विस्तृत लेख इस ग्रंथ के पिछले एक खंड में पहले ही दिया जा चुका है, अतः तत्संबंधी विवरण फिर से यहाँ दोहराना अनावश्यक है।

[illegible] लाख वर्गमील क्षेत्र में फैले रहने पर भी, तिब्बत में बड़े नगरों का अभाव है—उसका एकमात्र बड़ा शहर लासा है, जो सदियों से इस देश की राजधानी रहा है। यह नगर एक उपजाऊ घाटी में बसा हुआ है और इसकी आबादी १ लाख २७ हजार के लगभग है। लासा की सबसे दर्शनीय वस्तु एक ऊँचे टीले पर निर्मित 'पोताला राजप्रासाद' नामक वह भव्य इमारत है, जिसमें तिब्बत का प्रधान धर्मगुरु और शासक दलाई लामा रहा करता था। कहते हैं, इस अद्भुत इमारत में एक हजार कमरे हैं (खंड १ में पृ० ८२ पर इसका चित्र देखिए)। अन्य उल्लेखनीय नगर शिगात्से और ग्यानत्से हैं।

: मंगोलिया :

मंगोलिया मध्य एशिया का प्रधान देश है। इस देश का क्षेत्रफल ६,२५,७८३ वर्गमील और आबादी १० लाख है। यहाँ की राजधानी उलन बातोर है।

प्राकृतिक अवस्था—एशिया महाद्वीप के मध्यक्षेत्रीय पठार पर अवस्थित मंगोलिया का मैदानी हिस्सा समुद्र की सतह से तीन से छः हजार फीट तक की ऊँचाई पर है। इसके पश्चिमी भाग में अल्ताई पर्वत-श्रेणी है, जो १० हजार फीट तक ऊँची है। उत्तर में समानान्तर रूप से फैले खानगई पर्वत हैं; ये भी करीब-करीब इतने ही ऊँचे हैं। दक्षिणी भाग में गोबी का प्रसिद्ध रेगिस्तान है। मध्यक्षेत्र में अनेक झीलें हैं, जिनमें कई छोटी-छोटी नदियाँ गिरती हैं।

इतिहास—इतिहास में मंगोलिया और मंगोल जाति का घनिष्ट परिचय हमें १३ वीं शताब्दी ई० में आकर मिलता है, जब कि चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोलों ने कुछ ही दशकों की अवधि में एशिया और योरप के दूर-दूर तक फैले हुए क्षेत्रों में एक महान् साम्राज्य की स्थापना कर डाली थी। यह साम्राज्य अल्पकालिक ही रहा। कारण, १४ वीं शताब्दी में चीन के शासकों ने मंगोलों को अपने देश से उखाड़ फेंका। इसके बाद हर जगह मंगोलों का पराभव आरम्भ हो गया। १५ वीं शताब्दी में रूस से भी मंगोल-तातारों का डेरा-तंबू उठ गया। १७ वीं शताब्दी में चीन के मंचू राजवंश ने मंगोलिया के शासकों को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, फलतः १९११ ई० तक मंगोलिया पर चीन का ही प्रभुत्व बना रहा। अंत में १९११ ई० में राज्यक्रान्ति के फलस्वरूप जब चीन में मंचू राजवंश का शासन समाप्त हो गया, तो मंगोलिया के तत्कालीन लामा शासक ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। उसके बाद इस देश पर सोवियत रूस का प्रभाव बढ़ने लगा। १९४५ ई० में जनमत-संग्रह के उपरान्त मंगोलिया में एक स्वतंत्र जनवादी गणतंत्र की स्थापना की गई। इस गणतंत्र पर सोवियत रूस विशेष रूप से हावी है, जिसने उसके औद्योगिक विकास के हेतु हर प्रकार से सहायता दी है।

जाति, रहन-सहन, भाषा आदि—मंगोलिया-निवासी पीतवर्ण मंगोल जाति के हैं। इस जाति की विशेषता यह है कि इसके प्रतिनिधियों के बाल काले और खड़े होते हैं तथा चेहरे गोल और आँखें बादाम की शक्ल की एवं दबी हुई-सी होती हैं। मंगोलिया में केवल १५ प्रतिशत लोग ही नगरों में रहते हैं, शेष पशुपालकों का-सा घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते हैं। ये खानाबदोश खेमों में ही रहने के आदी हैं। प्राचीन काल में मंगोल पशुपालक 'आरात' कहलाते थे और वे निरन्तर नए-नए चरागाहों की खोज में घूमते रहते थे। अब सरकार की ओर से इन्हें स्थायी रूप से बसाने की कोशिशें की जा रही हैं। इस घुमक्कड़ जाति में आधारभूत इकाई परिवार माना जाता है। परिवार के सदस्यों की संख्या और सामर्थ्य के अनुसार ही उसकी पशु-संपदा की राशि निर्धारित रहती है। हर-एक परिवार बड़े-बड़े खेमों में रहता है, जिनका घेरा करीब बीस फीट तक का होता है। इन खेमों को जल्दी से लपेटकर ऊँटों पर लाद लिया जाता है और एक से दूसरे स्थान को सुविधापूर्वक ले जाया जा सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

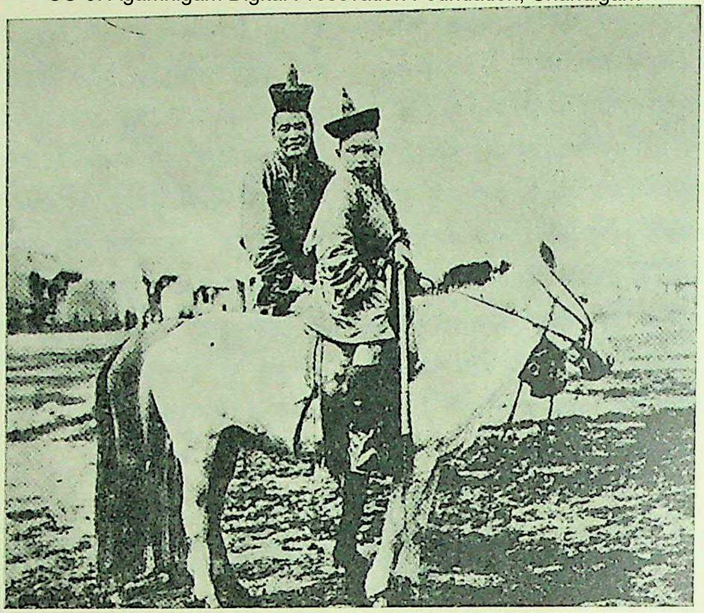

मंगोलिया के लोग संसार के सर्वोत्कृष्ट घुड़सवार माने जाते हैं।

मंगोलिया की नदियों में मछली अधिक होती हैं। उधर पशुपालन तो यहाँ का प्रधान व्यवसाय ही है। अतः यहाँ भोजन में मछली, मांस आदि की मात्रा अधिक रहती है। यहाँ से सोवियत रूस को ऊन, कच्चा चमड़ा आदि निर्यात किया जाता है और वहाँ से आवश्यक सामान मँगाया जाता है। मंगोलिया के गोबी रेगिस्तान में जंगली ऊँट और घोड़े पाए जाते हैं। उन्हें लोग पालतू बना लेते हैं।

मंगोलिया की भाषा मध्य एशिया की एक क्षेत्रीय भाषा है। इस भाषा के लिए रूसी सिरीलिक लिपि को अपना लिया गया है। १९४० ई० तक मंगोलिया में केवल एक ही स्कूल था! परन्तु १९६२ ई० से वहाँ प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है। अब तो कई एक माध्यमिक, तकनीकी और कृषि विद्यालयों के साथ-साथ राजधानी उलन बातोर में एक विश्वविद्यालय भी स्थापित हो गया है।

मंगोलिया के सामाजिक जीवन पर आजकल सोवियत संघ का विशेष प्रभाव होने के कारण, यहाँ की जनता में समाजवाद का जोर दिन-पर-दिन बढ़ रहा है। ये लोग बड़े कलाप्रेमी हैं और अपने परम्परागत संगीत का बड़े चाव से प्रयोग करते हैं। यहाँ का प्राचीन वाद्ययंत्र 'मोरिन हुर' तानपूरे से मिलता हुआ दो तारवाला एक वाद्ययंत्र है। मंगोलियावासियों का संगीत इसी वाद्य के साथ चलता है।

मंगोल जाति संसार की सब से निपुण अश्वारोही जाति कही जा सकती है। इस जाति के जीवन में घुड़सवारी और घुड़दौड़ को लोकक्रीड़ाओं में प्रधानता प्राप्त है। घुड़सवारी के अलावा कुश्ती, तीरंदाजी आदि में भी मंगोलियावासी बड़ी दिलचस्पी रखते हैं। इनकी वीरता और रणकौशल तो जगत्-विख्यात है ही।

चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोल जाति ने तिब्बत में प्रचलित बौद्ध लामा-धर्म को स्वीकार कर लिया था। बाद में मध्य एशियाई क्षेत्र में इस्लाम का प्रभाव बढ़ने पर कई मंगोलों ने इस्लाम धर्म को अंगीकार कर लिया। सोवियत संघ का प्रभाव बढ़ने से अब यहाँ लामाओं का प्रभाव कम होने लगा है। उनकी संख्या कुछ समय पूर्व तक कुल आबादी का मात्र छठवाँ हिस्सा थी। आजकल मंगोल लोगों में धर्म-निरपेक्षता एवं अनीश्वरवाद का जोर बढ़ता जा रहा है।

नगर—मंगोलिया की राजधानी उलन बातोर ही देश का सब से बड़ा नगर है। इस शहर की आबादी १ लाख २० हजार है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ छोटे नगर भी हैं।

: अफगानिस्तान :

पाकिस्तान और भारत के पश्चिम में स्थित अफगानिस्तान एक ऐसा घिरा हुआ देश है, जिसे समुद्र की ओर निकास का कोई निजी साधन प्राप्त नहीं है। इसका क्षेत्रफल २ लाख ५० हजार वर्गमील और आबादी १ करोड़ २० लाख है। नकशे में इसकी शक्ल लगभग त्रिकोणात्मक है। इसके उत्तर में सोवियत रूस के तुर्कमेनिस्तान, उजबेकिस्तान और ताजिकस्तान नामक राज्य हैं। पूर्व और दक्षिण में पाकिस्तान और पश्चिम में ईरान देश है। इसकी एक पट्टी रूस और भारत तथा पाकिस्तान की सीमाओं के बीच में आ गई है। इससे अफगानिस्तान की सीमा चीन से जा मिलती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राकृतिक स्थिति—अफगानिस्तान मुख्य रूप से पर्वतीय प्रदेश है। उसके उत्तर-पूर्व में २० हजार फीट तक ऊँची हिन्दूकुश पर्वत-माला और सुलेमान पर्वत-श्रेणी हैं, जो अफगानिस्तान और पाकिस्तान के बीच की सीमा निर्धारित करती हैं। मध्य क्षेत्र में हजराजात नामक पठार है। अफगानिस्तान का उत्तरी मैदानी भाग 'अफगानी तुर्किस्तान' कहलाता है। दक्षिण-पश्चिमी भाग में सीस्तान और रेगिस्तान नामक मरुप्रदेश है। काबुल नदी की घाटी बड़ी उर्वर है। अफगानिस्तान की सब से बड़ी नदी हेलमंद है, जो हजराजात पठार से निकलकर ७०० मील तक बहती और ईरान की सीमा के निकट एक दलदली खारी झील में गिरती है। उत्तर में आमू दरिया कुछ दूर तक सोवियत संघ और अफगानिस्तान की सीमा बनाती है। अफगानिस्तान में जाड़े में बड़े कड़ाके की सर्दी पड़ती है। ग्रीष्मकाल में यहाँ गरमी भी कम नहीं होती। उन दिनों ताप एक सौ डिग्री तक पहुँच जाता है, जब कि जाड़े में वही प्रायः हिमांक तक नीचे उतर जाता है।

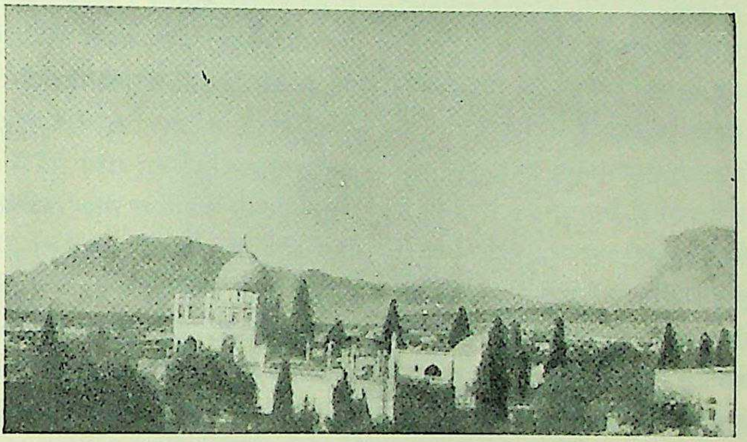

अफगानिस्तान के प्राचीन नगर कंधहार का दृश्य :: यहाँ मध्यकाल की कई दर्शनीय ऐतिहासिक इमारतें मौजूद हैं।

इ ति हा स—इस प्रदेश का उल्लेख प्राचीन इतिहास में पग-पग पर मिलता है। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में इस क्षेत्र पर सिकन्दर ने अधिकार कर लिया था। उसके बाद यहाँ यूनानी बौद्ध शासकों का राज्य स्थापित हो गया। सातवीं शताब्दी ई० में इस प्रदेश पर अरब आक्रमणकारियों का कब्जा हो गया। तभी यहाँ इस्लाम का प्रचार हुआ। तदनंतर चंगेज खाँ और तैमूरलंग के मंगोल आक्रमणों का भी आघात इसे सहना पड़ा, जिसके बाद बाबर के हाथों में आकर यह भारत के मुगल-साम्राज्य का एक प्रधान सूबा बन गया। १७२० ई० में मुगल आधिपत्य से छूटकर यह एक स्वतंत्र राज्य बन गया। तब से यह निरन्तर एक स्वाधीन राज्य बना हुआ है। अंग्रेज, ईरान के शासक और रूस समय-समय पर इस पर अपना दबाव डालने का भरपूर प्रयास करते रहे हैं। इस समय इस पर सोवियत संघ का काफी प्रभाव है।

जाति, रहन-सहन, धर्म, संस्कृति आदि—अफगानिस्तान के निवासियों का सामाजिक गठन आदिम जातियों के संगठन के सदृश्य है। यहाँ के बहुसंख्यक निवासी अफगान और पठान हैं। करीब २५ प्रतिशत लोग ईरानी भी हैं। हजराजात में मंगोल जाति के भी कुछ लोग मिलते हैं। उत्तर में तुर्कमान और तातार जाति के लोग रहते हैं। अफगानिस्तान के अधिकांश लोग ग्रामीण क्षेत्रों में सुरक्षित स्थानों पर बने सुदृढ़ घरों में रहते हैं। उधर उत्तर में रहनेवाले तुर्कमान अब तक खेमों में ही रहतेहैं। वस्तुतः बंजारों की भाँति रहनेवाले यहाँ के खानाबदोशों की संख्या बीस लाख से भी अधिक है। पठानों में प्रचलित एक किंवदन्ती के अनुसार यह माना जाता है कि ये लोग इसराइल की दस विलुप्त जातियों के वंशज हैं। स्वयं भी ये अपने को सैमेटिक मानते एवं मसोपोटामिया से आया हुआ बतलाते हैं। अफगानिस्तान के सभी लोग, चाहे वे अमीर हों अथवा गरीब, बहुत सादा जीवन व्यतीत करते हैं। चूँकि इन्हें भूतकाल में निरन्तर आक्रमणों का सामना करना पड़ा है, अतः स्वभाव से ये शंकालु हो गए हैं। लेकिन मित्रता होने पर अपने मित्र के लिए ये सभी कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। अफगान महिलाएँ पर्दे में रहती हैं—उनके लिए बाहर निकलने पर बुर्का पहनना अनिवार्य है।

अधिकतर अफगान कृषक हैं। अफगानिस्तान फलों और मेवों की उपज के लिए तो पुराने जमाने से ही प्रसिद्ध है। यहाँ अनार, सेब, अंगूर, खूबानी, अखरोट, बादाम, चिलगोजा सभी कुछ पैदा होते हैं। मसाले के तौर पर प्रयुक्त हींग की भी उपज का प्रमुख केन्द्र यही है। इस देश में रेलवे नहीं है—यहाँ का यातायात सड़कों और मोटरों से ही होता है। सामान ढोने के लिए प्रायः ऊँटों का प्रयोग किया जाता है।

अफगानिस्तान में दो भाषाएँ प्रचलित हैं—पठान लोग पश्तो बोलते हैं, बाकी लोग पुरानी फारसी भाषा का प्रयोग करते हैं। यहाँ के ज्यादातर निवासी इस्लाम धर्म के अनुयायी हैं। उनमें से अधिकांश सुन्नी सम्प्रदाय के मुसलमान हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अफगानिस्तात में अभी शिक्षा का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। बहुत-से बच्चे अभी स्कूल नहीं जाते। सरकार की ओर से अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है। काबुल में एक विश्वविद्यालय भी स्थापित किया गया है।

कला के क्षेत्र में अफगानिस्तान में अरबी और ईरानी संस्कृतियों का गहरा प्रभाव पड़ा है। यहाँ की कारीगरी में फूल-पत्ती और अरबी-फारसी अक्षरों के प्रयोग से सुन्दर डिजाइनें तैयार की जाती हैं। यहाँ के कालीनों और ऊनी चादरों में अकसर चटकीले रंगों का प्रयोग किया जाता है।

नगर—अफगानिस्तान का सब से बड़ा नगर राजधानी काबुल है। काबुल नदी के तट पर स्थित यह नगर एक सुरम्य घाटी में बसा हुआ है। इसकी आबादी ३ लाख है। अन्य नगर कंधहार, हेरात, मजार-ए-शरीफ और जलालाबाद हैं। कंधहार अपनी मध्यकालीन ऐतिहासिक इमारतों के लिए दर्शनीय है।

ईरान

ईरान पश्चिमी एशिया का सब से बड़ा देश है। इस देश के पूर्व में अफगानिस्तान, उत्तर में सोवियत रूस, पश्चिम में तुर्की और इराक तथा दक्षिण में फारस की खाड़ी और अरब सागर है। इसका क्षेत्रफल ६,२८,००० वर्ग-मील और आबादी १ करोड़ ९० लाख के लगभग है।

प्राकृतिक दशा—ईरान की शक्ल समानान्तर चतुर्भुज की-सी है। इसके मध्य भाग में पठार है, जिसकी ऊँचाई पश्चिम में ५,००० फीट और पूर्व में ३,००० फीट तक है। पठार के चारों ओर ऊँचे पहाड़ हैं। तुर्की की सीमा के निकट पश्चिम में पहाड़ और पठार दोनों की ऊँचाई अधिक हो गई है। पठार के उत्तरी सिरे पर एलबुर्ज पर्वतमाला है, जिसकी देमावन्द नामक चोटी १८,००० फीट ऊँची है। पूर्व में खुरासान-क्षेत्र में पहाड़ों की चोटियाँ नीची हैं। दक्षिण में जगरोस पर्वतमाला है, जो पश्चिम में मसोपटामिया और दक्षिण में फारस की खाड़ी तक फैली है। ईरान की अनेक नदियाँ पठारी भाग से निकल-कर खारी दलदली झील में समाप्त हो जाती हैं। ये नदियाँ गरमी में प्रायः सूख जाती हैं।

ईरान में गरमी और सर्दी दोनों ही तेज पड़ती है। जग-रोस के पहाड़ी क्षेत्र में वर्षा अधिक होती है। यहाँ के ढालों पर अच्छे चरागाह हैं। उत्तरी तूरान-क्षेत्र में वर्षा बहुत कम होती है—वहाँ मध्य एशिया के रेगिस्तान की-सी स्थिति है। ईरान का अधिकांश भाग रेगिस्तान अथवा अर्ध-रेगिस्तान जैसा है। यहाँ विशेष रूप से खारे पानी की दलदली भूमि की झाड़ियाँ और घास अधिक पाई जाती हैं। एलबुर्ज और जगरोस क्षेत्र में कुछ स्थानों पर जंगल भी हैं। कैस्पियन सागर के निकट के पहाड़ों पर भी जंगल पाये जाते हैं। यहाँ कुल भूमि के १५ प्रतिशत भूमि पर ही खेती होती है और उतनी ही भूमि में चरागाह फैले हैं।

इतिहास—ईरान बहुत पुराना देश है। इसे 'फारस' के नाम से भी पुकारा जाता है। २,००० ईस्वी पूर्व आर्य जाति की एक शाखा ने यहाँ आकर अपना डेरा जमाया था। उसी के नाम पर इस देश का नाम 'ईरान' पड़ गया। कालान्तर में इस देश में शक्तिशाली साम्राज्यों का विकास हुआ। ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी में पारसियों का राज्य पूर्व में सिन्धु नदी के तट से लेकर पश्चिम में ईजियन सागर तक और दक्षिण-पश्चिम में मिस्र और अरब तक फैला हुआ था।

इस महान् साम्राज्य के सब से प्रतापी शासक कुरश और दारा प्रथम थे। दारा के शासनकाल में ईरान का केवल राज्य-विस्तार ही नहीं हुआ, बल्कि ईरानी कला और साहित्य के क्षेत्र में भी अपूर्व उन्नति हुई। ई० पू० चौथी शताब्दी में यूनानी विजेता सिकन्दर से पराजित होने के बाद यहाँ क्रमशः यूनानियों, अरबों, मुगलों और तुर्कों का राज्य स्था-पित हुआ। इस्लाम के झंडे के नीचे आने से पूर्व के यहाँ के प्रसिद्ध ऐतिहासिक काल के गौरव की याद दिलानेवाले बड़े ही भव्य पुरातत्त्वावशेष पर्सीपोलिस आदि स्थानों की खुदाई में निकले हैं।

उन्नीसवीं सदी में इस देश पर रूस और ब्रिटेन अपना राज-नीतिक प्रभाव स्थापित करने की अनवरत चेष्टा करते रहे। तब प्रथम महायुद्ध के बाद रजाशाह पहलवी ने ईरान की बागडोर लेकर उसे एक आधुनिक राष्ट्र बनाने का आन्दोलन शुरू किया। इस अनुष्ठान के दौर में शिक्षा, यातायात और औद्योगीकरण के क्षेत्र में अनेक नए प्रयास शुरू किए गए, जिसका फल यह हुआ कि तुर्की की तरह ईरान का भी मानो कायापलट हो गया।

जाति, भाषा, वेषभूषा आदि—ईरानी लोगों को अपने जातीय गौरव पर बड़ा अभिमान है। इसीलिए यहाँ के विभिन्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षेत्रों में बसनेवाली जातियाँ-उपजातियाँ अपनी-अपनी बोलियाँ बोलते हुए निजी रीति-रिवाजों का निष्ठापूर्वक पालन करती हैं। ईरानी जाति से भिन्न जाति-समूहों में खुजिस्तान के अरब, पश्चिमी जगरोस पर्वतीय क्षेत्र के कुर्द, पश्चिमोत्तर अजरबैंजान क्षेत्र के अजरबैंजानी और पूर्वोत्तर गुरगान क्षेत्र के तुर्कमान लोग मुख्य हैं। इस देश के केवल २० प्रतिशत लोग शहरों में रहते और इतने ही बंजारों की भाँति घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते हैं।

तुर्की के कमाल अतातुर्क की भाँति रजाशाह पहलवी ने भी ईरान को आधुनिक राज्य बनाने के लिए पुरानी वेश-भूषा में आमूल परिवर्तन कर दिया और योरपीय वेश-भूषा अपनाने पर जोर दिया। उसने महिलाओं की पोशाक को भी आधुनिक बनाने की हिमायत की और पर्दा प्रथा को समाप्त कर दिया। परन्तु इन सब सुधारों के बावजूद ईरान की विभिन्न जातियों में अपनी - अपनी परम्पराओं और वेश-भूषाओं का अब भी काफी मात्रा में प्रचलन है।

धूम्रपान करता हुआ एक ईरानी।

ईरान की भाषा फारसी है, जिसका राजकाज और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से प्रभुत्व स्थापित है। यह मूलतः इंडो-योरपीय कुल की भाषा है, जिसका ग्रीक, लैटिन और संस्कृत से गहरा सम्बन्ध है। मध्य काल में केवल अरब शासकों के प्रभाव के कारण ही यह अरबी लिपि में लिखी जाने लगी थी। ईरान की अन्य भाषाएँ कुर्दी, लूरी और बलूची हैं। कहीं-कहीं अरबी और तुर्की भी बोली जाती हैं। योरपीय भाषाओं में यहाँ के व्यापारिक क्षेत्रों में पहले फ्रेंच का अधिक प्रयोग किया जाता था, पर आजकल अंग्रेजी जाननेवाले लोगों की संख्या काफी हो गई है। उत्तरी क्षेत्र के ईरानी रूसी भाषा भी समझते हैं।

शिक्षा की दृष्टि से ईरान पिछड़ा हुआ है--यहाँ केवल २० प्रतिशत लोग ही साक्षर हैं। परन्तु स्कूलों की संख्या में तेजी से वृद्धि की जा रही है। तेहरान, शिराज और तबरीज में विश्वविद्यालय भी हैं। यहाँ की शैक्षिक, कानून-सम्बन्धी और प्रशासन-व्यवस्था पर स्पष्ट रूप से फ्रांसीसी छाप है। १९३६ ई० से, जबकि यह फर्मान निकाला गया था कि महिलाएँ पर्दा छोड़ दें, स्त्रियों के लिए भी हर प्रकार की शिक्षा के द्वार खुल गए हैं और वे उसका यथेष्ट लाभ उठाने लगी हैं।

ईरानी कला में फूल-पत्तियों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार कलापूर्ण अलंकरण के लिए अरबी अक्षरों का भी बड़ी सुन्दरता से उपयोग किया जाता है।

धर्म की दृष्टि से ईरान के अधिकांश निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं और उनमें अधिकतर शिया सम्प्रदाय के हैं। केवल कुर्द और तुर्क लोग ही सुन्नी सम्प्रदाय के हैं। ईरान में शिया सम्प्रदाय के प्रचलन का सब से बड़ा कारण यह है कि हजरत अली के पुत्र हसन का विवाह एक ईरानी राजकुमारी से हुआ था और कर्बला के बलिदान का इस देश के इतिहास पर गहरा असर पड़ा है। यहाँ की आबादी में करीब २० हजार आर्मीनियन ईसाई और जरथुस्त्र द्वारा प्रतिपादित प्राचीन पारसी धर्म को माननेवाले १० हजार लोग भी सम्मिलित हैं।

ईरानियों में आजकल आधुनिक औद्योगिक देश बनने की आकांक्षा बड़ी बलवती हो उठी है। पेट्रोलियम के उत्पादन में संसार में ईरान का विशिष्ट स्थान है। इस उद्योग का मुख्य केन्द्र अबादान है। कृषि के क्षेत्र में वर्तमान शाह ने देश में भूमि - सम्बन्धी कानून बनाकर किसानों की दशा सुधारने के लिए ठोस कदम उठाये हैं।

नगर--ईरान का सब से बड़ा नगर राजधानी तेहरान है। इसकी आबादी १५ लाख है। पिछले दिनों इस नगर का आधुनिक ढंग से विकास किया गया है। फलतः यहाँ बड़े-बड़े चौक और ऊँची-ऊँची आधुनिक इमारतें देखने को मिलती हैं। देश-विदेश के अधिकांश व्यापारिक कार्यालय यहाँ मौजूद हैं। कारण, राजनगर होने के साथ-साथ यह देश का एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र भी है। आधुनिक तेहरान के दक्षिण भाग में अभी भी पुराना शहर अवशिष्ट है। उसकी सड़कें सँकड़ी और घुमावदार हैं।

ईरान का दूसरा सब से बड़ा नगर अजरबैंजान की राजधानी तबरीज है। इसकी आबादी करीब तीन लाख है। यह ईरानी कालीनों का प्रसिद्ध उत्पादन-केन्द्र है। इस क्षेत्र में भूचाल

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अधिक आते हैं, अतः यहाँ की ज्यादातर [illegible] हैं। ईरान का तीसरा बड़ा नगर इस्फहान है। यह नगर मध्य काल में ईरानी संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। इसकी आबादी लगभग ढाई लाख है। यहाँ १७ वीं शताब्दी ई० की अब्बास महान् द्वारा बनवाई गई अनेक इमारतें हैं। इस्फहान दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्र का मुख्य व्यापारिक नगर भी है। पूर्वोत्तर क्षेत्र का प्रमुख नगर मशेद है, जहाँ इमाम रजा का मकबरा स्थापित है। मशेद शिया लोगों का तीर्थ है। अन्य नगरों में, पेट्रोलियम निर्यात करनेवाला ईरान का प्रसिद्ध बन्दरगाह अबादान सब से महत्वपूर्ण है। यह नगर पड़ौस के तेल के कुओं से पाइप-लाइन द्वारा जुड़ा हुआ है। ईरान के अन्य प्रमुख बन्दरगाह हैं—बन्दर शाहपुर, खुर्रमशहर, बन्दर पहलवी, बन्दर अब्बास, बन्दर शाह और नवशहर। बन्दर पहलवी में ईरानी नौसेना का केन्द्र है।

: इराक :

दजला और फरात नदियों की उर्वर घाटी में बसे हुए इराक की गणना दुनिया के प्राचीनतम देशों में की जाती है। इसका कारण यह है कि इस क्षेत्र में संसार की एक महत्वपूर्ण नदी-घाटी सभ्यता का उद्भव और विकास हुआ था। इराक के पूर्व में ईरान, उत्तर में तुर्की, पश्चिम में सीरिया और जोर्डन एवं दक्षिण में सऊदी अरब की सीमाएँ आ गई हैं। इस देश का क्षेत्रफल १,७५,००० वर्गमील और आबादी लगभग ६५ लाख है। इसकी राजधानी बगदाद है।

प्राकृतिक स्थिति—इराक की प्राकृतिक स्थिति दजला और फरात नदियों की देन है। ये दोनों महान् नदियाँ तुर्की से निकलकर इराक में प्रवेश करती और पूरे देश की लम्बाई नापकर अंत में फारस की खाड़ी में जा गिरती हैं। इराक का उत्तरी क्षेत्र कुर्दिस्तान कहलाता है, जहाँ १० हजार फीट तक ऊँची अनेक चोटियाँ हैं। कुर्दिस्तान की पहाड़ियों से तीन नदियाँ निकलकर दजला में मिलती हैं। इन नदियों से सिंचाई का काम लिया जाता है। इराक के मध्य क्षेत्र में सख्त गरमी पड़ती है। ग्रीष्म ऋतु में वहाँ दिन का ताप १२० डिग्री तक पहुँच जाता है और रात में भी ८०-९० डिग्री तक रहा करता है।

इतिहास—इराक संसार का एक बहुत ही पुराना देश है। यहीं आज से पाँच-छः हजार वर्ष पूर्व इतिहासप्रसिद्ध सुमेरियन, बेबिलोनियन और असीरियन सभ्यताओं का विकास हुआ था, जिनके प्राचीन अवशेष यहाँ अब भी पाए जाते हैं।

कालान्तर में, इस क्षेत्र को हित्ती, ईरानी, ग्रीक, अरब और तुर्क आदि विविध जातियों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। सातवीं शताब्दी ई० में अरबों के झंडे के नीचे आने पर इराक इस्लाम का गढ़ बन गया। फलतः यहाँ का मुख्य नगर बगदाद मुसलमानों का एक प्रमुख धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र हो गया। १६ वीं शताब्दी में इराक तुर्की के ऑटोमन तुर्क साम्राज्य में मिला लिया गया और उसकी यह स्थिति प्रथम महायुद्ध के बाद तक बनी रही। तदुपरान्त उस पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। अंत में, १९३२ ई० में, वह पूर्ण स्वतन्त्र बन गया। १९५८ ई० तक इराक में एक राजतंत्र स्थापित था। तब एक सैनिक राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप उक्त राजतंत्र उलट दिया गया और वहाँ एक सैनिक अधिनायकतंत्र कायम हो गया, जो गणतंत्र का रूप लिए हुए है।

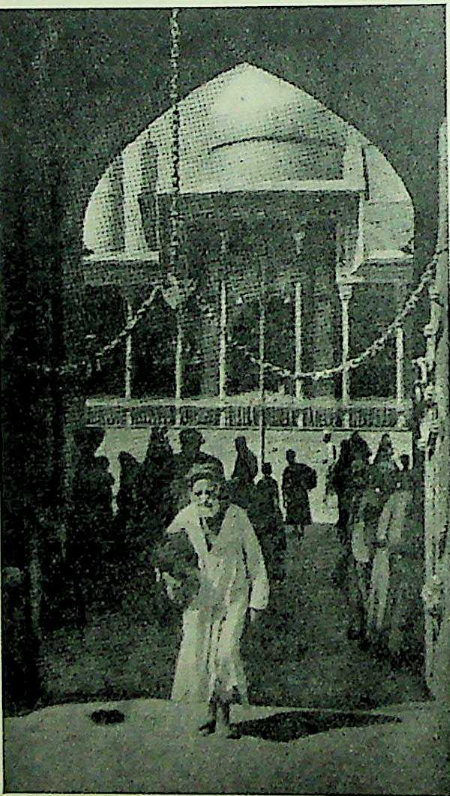

पुराने बगदाद का एक दृश्य।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—इराक में समय-समय पर अनेक जातियों का बोलबाला रहा है। परन्तु आजकल वहाँ अरब लोगों की ही संख्या सब से अधिक है। इस जाति के बद्दू नामक खानाबदोश लोग अब भी बंजारों का-सा जीवन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यतीत करते हैं। पूर्वी सीमा के निकट रहनेवाले इराकी ईरानी जाति के हैं और उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र में रहनेवाले कुर्द जाति के हैं। किरकुक के निकट तुर्कमान जाति के लोग रहते हैं। १९५८ ई० की राज्यक्रान्ति के बाद से कुर्दिस्तान में अशान्ति हो गई है और बहुत-से कुर्द भागकर ईरान चले गए हैं। इराक में सभी लोग अरबी भाषा का व्यवहार करते हैं। केवल कुर्द जाति के लोग फारसी और तुर्की भाषा से प्रभावित बोलियों का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग पुरानी सिरिआक और आर्मीनियन भाषाएँ भी बोलते हैं। यहाँ के अधिकतर लोग कृषक अथवा पशुपालक हैं। खेती की मुख्य उपज कपास, गेहूँ, तंबाकू आदि हैं। फलों में खजूर बहुतायत से पैदा होता है, जो यहाँ की जनता का एक प्रमुख खाद्य है। ईरान की तरह इराक भी खनिज तेल (पेट्रोलियम) का भंडार है। इसके प्रमुख केन्द्र किरकुक, मोसल और बसरा हैं।

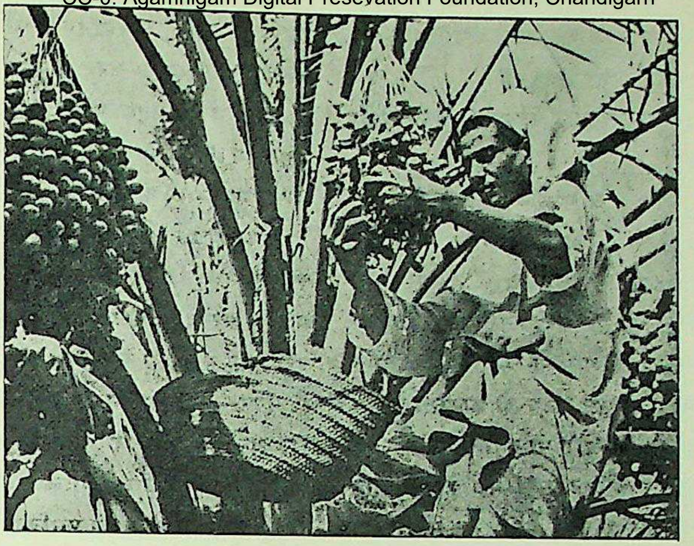

इराक में वृक्ष पर से पकी हुई खजूर उतारी जा रही है। यह फल यहाँ बहुतायत से पैदा होता है और जनसाधारण का प्रमुख खाद्य है।

अधिकांश इराकी इस्लाम धर्म के अनुयायी हैं। इनमें शिया और सुन्नी दोनों सम्प्रदायों के लोग मिलते हैं। इनके अलावा थोड़े-से ईसाई, मजीदी और यहूदी सम्प्रदाय के लोग भी यहाँ विद्यमान हैं। यजीदी लोग शैतान की पूजा करते हैं।

नगर—इराक का सब से बड़ा नगर उसकी राजधानी बगदाद है, जिसकी आबादी इन दिनों १३ लाख है। बगदाद बहुत पुराना नगर है। इसके प्राचीन वैभव का वर्णन 'अरेबियन नाइट्स' नामक प्रसिद्ध कथा-संग्रह में पग-पग पर मिलता है। आजकल बगदाद का नया क्षेत्र तो एकदम आधुनिक-सा है, परन्तु पुराने भाग में अभी भी पतली गलियों का जंजाल फैला हुआ है। यहाँ नीले खपरैलों की ऊँची-ऊँची मीनारोंवाली मसजिदों की भरमार है। इराक का द्वितीय बड़ा नगर मोसल है, जिसकी आबादी सात लाख से अधिक है। कुर्दिस्तान क्षेत्र का सब से महत्वपूर्ण नगर किरकुक है। इस शहर की आबादी करीब ४ लाख है। यह देश के पेट्रोलियम-उद्योग का प्रमुख केन्द्र है। तीसरा नगर बसरा है, जिसकी आबादी ५ लाख है। यह इराक का मुख्य बन्दरगाह है।

: सीरिया :

भूमध्यसागर के पूर्वीय तट पर स्थित सीरिया--जिसे 'साम' के नाम से भी पुकारा जाता है--पुरातत्वीय दृष्टि से इराक ही की भाँति ऐतिहासिक महत्व का देश है। इसकी राजधानी दमिश्क गत चार हजार वर्षों से एक बड़े नगर के रूप में मशहूर है! सीरिया का क्षेत्रफल ७२,२३४ वर्गमील और आबादी ३९ लाख है। इस देश के पश्चिम में भूमध्यसागर, उत्तर में तुर्की, पूर्व में इराक और दक्षिण में जोर्डान, इसराइल और लेबनान की सीमाएँ फैली हैं।

प्राकृतिक दशा—सीरिया की आकृति एक त्रिभुज जैसी है। इसके पश्चिमी हिस्से में पहाड़ी क्षेत्र है और पूर्वी भाग रेगिस्तान है। वस्तुतः यहाँ की कुल भूमि का लगभग ६० प्रतिशत भाग रेगिस्तान है! सीरिया का समुद्रतट के निकट का मैदान धीरे-धीरे अलाविते नामक पहाड़ के रूप में ऊँचा उठता चला गया है और एलघाब नाम का जिला एकदम दलदली है, जिसे साफ करके कृषि-योग्य बना लिया गया है। उधर लेबनान की सीमा के निकट हरमोन पहाड़ है और उत्तर और पूर्व में फरात नदी का ढाल है। दमिश्क के दक्षिण-पूर्व में जबील-अद्दुर्ज नामक एक ज्वालामुखी भी है, जिसकी शृंखला पूर्वोत्तर में पामीरा की ओर चली जाती है। फरात के पूर्वोत्तर का क्षेत्र अल-जजीरा कहलाता है। यह प्राचीन मसोपटामिया का अंश है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ग्रीष्मकाल में सीरिया में सख्त गरमी पड़ती है। परन्तु समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में रातें ठंडी हो जाती हैं। उधर हरमोन पर्वत पर जून-जुलाई तक बर्फ जमी रहती है।

इतिहास—सीरिया के इतिहास पर बेबिलोनियन, मिस्री, हित्ती, असीरियन, ईरानी, यूनानी, रोमन, अरब, मंगोल, और तुर्क सभी की छाप पड़ी है और सभी के अधीन उसे रहना पड़ा है। सातवीं शताब्दी ई० में अरब साम्राज्य की राजधानी दमिश्क में स्थापित हुई। तदनंतर १५१६ ई० से लेकर ठेठ प्रथम महायुद्ध के अन्त तक यह प्रदेश तुर्की साम्राज्य का सूबा बना रहा। कुछ समय के लिए सीरिया पर नेपोलियन ने भी अधिकार कर लिया था। उस समय जो फ्रांसीसी प्रभाव वहाँ स्थापित हुआ, वह बाद में और भी बढ़ा, जबकि प्रथम महायुद्ध में तुर्की की पराजय के बाद राष्ट्र-संघ के अधिकार में आने पर यह क्षेत्र प्रशासन के लिए फ्रांस को सौंप दिया गया। १९२३ से १९४१ ई० तक यहाँ अनेक असफल विद्रोह भी हुए। अन्त में १९४१ ई० में इसकी स्वतंत्रता मान ली गई और यहाँ से फ्रांसीसी सेनाएँ हटा ली गईं। इसके बाद कुछ समय के लिए 'सीरिया संयुक्त अरब गणराज्य' में भी शामिल हो गया था, लेकिन बाद में वह उससे अलग हो गया।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—सीरिया के निवासियों में अरब जाति की प्रधानता है, यद्यपि एशिया माइनर, ईरान, मध्य एशिया, मिस्र, मसोपटामिया, अरब और योरप से आनेवाली आक्रमणकारी जातियों का भी यहाँ के बाशिन्दों में काफी सम्मिश्रण हुआ है। यहाँ के करीब ४० प्रतिशत लोग शहरों में रहते और लगभग ३ प्रतिशत बंजारों का-सा घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते हैं।

सीरिया की भाषा अरबी है, परन्तु दमिश्क के निकट के कुछ लोग अरेमिक बोली बोलते हैं और आर्मीनियाई लोग अपनी मातृभाषा का ही प्रयोग करते हैं।

अन्य अरब देशों की भाँति यहाँ के भी ८५ प्रतिशत निवासी मुसलमान हैं, जिनमें सुन्नी सम्प्रदाय के लोग अधिक हैं। इनके अलावा करीब १० लाख ईसाई और ३० हजार यहूदी भी यहाँ रहते हैं। यहाँ के अधिकांश लोग कृषक हैं।

नगर—सीरिया का सब से बड़ा नगर दमिश्क है, जो उसकी राजधानी भी है। इसकी आबादी करीब चार लाख है। यह नगर चार हजार वर्ष से पश्चिमी एशिया का एक प्रमुख नगर बना हुआ है। दमिश्क की मसजिदों के गुम्बदों और मीनारों की झाँकी दूर-दूर तक दिखाई देती है। यहाँ की बाइजैन्टाइन शैली की मोजायक की बनी एक मसजिद विशेषतः दर्शनीय है।

उत्तर में अलेप्पो सीरिया का दूसरा महत्वपूर्ण नगर है। यहाँ तुर्की शैली का एक गढ़ और प्रासाद बने हैं। अलेप्पो उत्तरी सीरिया का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र है। यहाँ मुख्यतः रेशमी और सूती वस्त्र-उद्योग का व्यवसाय होता है। अन्य एक ऐतिहासिक स्थान पामीरा है, जिसकी स्थापना सम्राट् सालोमन ने की थी। इस नगर में बाल नामक पुरातन देवता का एक बड़ा मंदिर है।

: लेबनान :

भूमध्यसागर के पूर्वीय तट पर सीरिया के पश्चिम में बसा हुआ लेबनान एक छोटा किन्तु रमणीक देश है। इसका क्षेत्रफल ३,४०० वर्गमील और आबादी १४ लाख ३० हजार है। इसके पूर्व में एंटी-लेबनान और हरमोन नामक पहाड़ियाँ हैं, जो इसे सीरिया की सीमा से अलग करती हैं। लेबनान में गरमी तेज पड़ती है, परन्तु सागर के तट पर बसा होने के कारण उसका प्रभाव कम हो जाता है। अक्तूबर से मई तक के महीनों में यहाँ काफी पानी बरसता है! समुद्रतट पर यहाँ उमस अधिक होती है, लेकिन दिन में समुद्री हवा आती रहती है, इससे वह अखरती नहीं।

इतिहास—अन्य भूमध्यसागरीय देशों की तरह लेबनान का भी इतिहास बहुत प्राचीन है। पुरातनकाल में यहाँ प्रसिद्ध फोनिशियन जाति बसती थी, जिसने अपनी नौशक्ति के बल पर दूर-दूर तक समुद्री व्यापार फैलाया था। तुर्की के ऑटोमन साम्राज्य के समय में लेबनान एक अर्ध-स्वतन्त्र राज्य माना जाता था। तब प्रथम महायुद्ध के बाद यह फ्रांस के संरक्षण में आ गया और उसकी सीमाएँ बढ़ाकर आज की स्थिति तक ले आई गईं। अंत में सीरिया की तरह लेबनान भी फ्रांसीसी प्रशासन से स्वतंत्र हो गया और १९४६ ई० में वहाँ से फ्रांस की सेनाएँ हटा ली गईं। आज यह एक स्वतंत्र गणराज्य है।

जाति, भाषा, धर्म आदि—लेबनान-निवासी वैसे तो अपने को अरब मानते हैं, परंतु उन पर योरपीय सभ्यता और रहन-सहन का काफी प्रभाव पड़ा है। यहाँ की आबादी के ३० प्रतिशत लोग शहरों में रहते और बाकी ग्रामीण क्षेत्रों में रहकर खेती-बारी करते हैं। थोड़े-से आर्मीनियन लोगों को छोड़कर यहाँ के सभी लोग अरबी भाषा-भाषी हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेबनान के बाशिन्दों में यद्यपि मुख्यतः अरब जाति के लोग ही हैं, फिर भी यहाँ मुसलमान अधिक नहीं हैं--यहाँ के ५० प्रतिशत से भी अधिक लोग ईसाई हैं, जो १० विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए हैं। मुसलमानों में आधे शिया और आधे सुन्नी तथा करीब ८० हजार द्रुस सम्प्रदाय के हैं।

लेबनान में शिक्षा का स्तर काफी ऊँचा है। बेरूत में तीन विश्वविद्यालय हैं। १८६० ई० में यहाँ के प्रख्यात 'अमेरिकन विश्वविद्यालय' की स्थापना हुई। इसमें पश्चिमी एशिया के अनेक देशों के छात्र शिक्षा पाते हैं। लेबनान वस्तुतः एशिया और योरप के बीच का ऐसा संगमस्थल है, जहाँ पूर्व-पश्चिम की सभ्यताओं का मेल होता है।

नगर—लेबनान का सब से बड़ा नगर राजधानी बेरूत है। इसकी आबादी ५ लाख है। यह नगर एशियाई भूमध्यसागरीय तटवर्ती क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण व्यापार-केन्द्र है। अन्य उल्लेखनीय नगर त्रिपोली (आबादी १ लाख) और सैदा हैं, जो यहाँ के मुख्य औद्योगिक केन्द्र हैं।

: जोर्डान :

सऊदी अरब, इसराइल, सीरिया, इराक आदि से घिरा हुआ जोर्डान यद्यपि एक नवोत्थित राज्य है, तथापि उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अति प्राचीन है। इस राज्य के अंतर्गत जो क्षेत्र समाया हुआ है, उसका उल्लेख पुरातन यहूदी और ईसाई धर्म-ग्रन्थों में पग-पग पर मिलता है। वैसे इस राज्य की वर्तमान रूपरेखा वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध के बाद ही विकसित हुई है। इसका क्षेत्रफल ३७ हजार वर्गमील और आबादी १५ लाख ३० हजार है। यहाँ की राजधानी अमान में स्थापित है।

प्राकृतिक अवस्था—जोर्डान का ८० प्रतिशत भाग शुष्क रेगिस्तान है। केवल जोर्डान नदी के पश्चिम का भाग ही उर्वर है। वहीं कुछ खेती होती है। जोर्डान नदी 'मृत सागर' (डेड सी) में गिरती है। 'मृत सागर' चारों ओर से घिरी एक खारी झील है, जिसके पानी की सतह समुद्र की सतह से १,२९२ फीट नीचे है! यह संसार में सब से नीची पानी की सतह है। इसके पूर्व में ट्रांस-जोर्डान पर्वतमाला है, जिसमें जिलीद, मोआब और इडोम नामक प्राचीन पर्वत भी शामिल हैं। इनके बाद ढालू मैदान है, जो सिरहान की वादी में आकर चौरस हो जाता है। तदनंतर अरब का रेगिस्तान शुरू हो जाता है। पहाड़ी क्षेत्र में यहाँ कुछ जंगल भी हैं, लेकिन ज्यादातर रेगिस्तान वृक्ष-हीन सूखी मरुभूमि के रूप में फैला है।

इतिहास—कहा जाता है कि प्राचीनकाल में सब से पहले कृषि का विकास जोर्डान नदी की घाटी में ही हुआ था और नागरिक जीवन का भी आरम्भ सर्वप्रथम यहीं हुआ था! जोर्डान में आकर बसनेवाले सर्वप्रथम लोग अपने को 'इसराइल-पुत्र' कहते थे। ये लोग मिस्र से भागकर यहाँ आए थे। पेटरा, जेराश आदि स्थानों में प्राप्त प्राचीन गढ़ों के महत्वपूर्ण अवशेषों से उन नगरों के पुरातन महत्व का आभास मिलता है।

तुर्की के ऑटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत इस क्षेत्र में ट्रांस-जोर्डान के अमीर का राज्य था। उक्त अमीर को नाममात्र की स्वतंत्रता प्राप्त थी। १९२३ ई० में अंग्रेजों ने फिलिस्तीन के संरक्षित प्रदेश का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। इसके बाद के वर्षों में जोर्डान नदी के पश्चिमी तट के क्षेत्र में, जहाँ 'अरब लीजन' का अधिकार था, यहूदी और अरब लोगों में निरन्तर संघर्ष रहने लगा। १९४९ ई० में ट्रांस-जोर्डान के शासक अब्दुल्ला ने पश्चिमी तट के क्षेत्र पर अधिकार करके उसे अपने राज्य में मिला लिया और जोर्डान में हाशिमी राजवंश के राज्य की स्थापना की। इस प्रकार नवीन क्षेत्र की प्राप्ति से देश की आबादी तिगुनी हो गई।

जाति, रहन-सहन आदि—जोर्डान के पूर्वी भाग के निवासी अरब जाति के बद्दू हैं। उधर पश्चिमी भाग के लोगों के रक्त में इसराइल एवं तुर्की की कुछ जातियों और धर्मयुद्धों में भाग लेनेवाले ईसाई सैनिकों की नस्लों का सम्मिश्रण है। सामान्यतया जोर्डानवासी अपने को अरब जाति का मानते हैं। अरबों की राष्ट्रीय जागृति का इन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। यहाँ की आबादी की एक तिहाई संख्या ऐसे अरब शरणार्थियों की है, जो इसराइल की स्थापना के बाद फिलिस्तीन से हटकर यहाँ आकर बस गए हैं।

जोर्डान की भाषा अरबी है, परंतु अंग्रेजी भाषा का भी यहाँ काफी प्रयोग होता है। यहाँ के माध्यमिक स्कूलों में अंग्रेजी की पढ़ाई की अच्छी व्यवस्था है। हाथ-कारीगरी, कसीदागिरी, मिट्टी के बर्तनों का काम, लकड़ी की नक्काशी आदि यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। अमान में सरकार की ओर से एक कला-विद्यालय भी चलाया जाता है। धर्म के लिहाज से यहाँ के ९० प्रतिशत लोग मुसलमान हैं, जिनमें अधिकांश सुन्नी हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ एक लाख अरब ईसाई

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

धर्म के अनुयायी भी हैं, जो पूर्वी आर्थोडॉक्स चर्च के विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए हैं। जोर्डान मुख्यतया खेतिहर और पशुपालक देश है। यहाँ के अधिकांश लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं।

नगर—जोर्डान की राजधानी अमान है। इस नगर की आबादी ढाई-तीन लाख के बीच में है। देश में जो थोड़े-बहुत कल-कारखाने स्थापित हुए हैं, वे यहीं पर हैं। यरूशलम नगर का भी कुछ भाग जोर्डान के अधिकार में है। उसका शेष भाग इसराइल के अधीन है। जेरिको, नबलस और हेबरोन यहाँ के अन्य प्राचीन नगर हैं। जोर्डान का अकेला बन्दरगाह अकाबा है। यह बन्दरगाह अकाबा की खाड़ी पर स्थित है, जो लाल-सागर में मिलती है।

: सऊदी अरब :

अरब प्रायद्वीप का सब से बड़ा देश सऊदी अरब है। इसका क्षेत्रफल तो ९,२७,००० वर्गमील है, परन्तु आबादी केवल ७५ लाख है! यह देश पश्चिम में लाल सागर से लेकर पूर्व में फारस की खाड़ी तक फैला हुआ है। इसके उत्तर में जोर्डान और इराक तथा दक्षिण में यमन, अदन, मस्कत, ओमन आदि के राज्य हैं। इसकी राजधानी संयुक्त रूप से रियाद (नज्द) और मक्का (हेजाज) में स्थापित है।

प्राकृतिक दशा—अरब प्रायद्वीप आकृति में एक समानान्तर चतुर्भुज जैसा है, जिसकी लम्बाई १,५०० मील है। इसका मध्यवर्ती पठार २॥ हजार से ७ हजार फीट तक ऊँचा है। यह पठार अति प्राचीन चट्टानों द्वारा निर्मित है। पश्चिम और दक्षिण में समुद्रतट की एक पतली पट्टी को छोड़कर यह पठार अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा हो गया है। अरब की एक विशेषता यह है कि इसमें कोई भी नदी नहीं बहती।

सऊदी अरब में बहुत अधिक गरमी पड़ती है। वर्षा के नाम पर यहाँ के कुछ ही भाग में अधिक से अधिक १० इंच वर्षा होती है। इस विशाल भूखंड के अधिकांश हिस्से में निर्जन रेगिस्तान है। बीच-बीच में कहीं-कहीं पानी के सोते धरती में से निकल आए हैं। ऐसे ही क्षेत्र 'नखलिस्तान' कहलाते हैं। इन नखलिस्तानों में प्रायः खजूर के पेड़ होते हैं, जो यहाँ की प्रमुख वन्य संपदा है।

इतिहास—अरब का इतिहास देखने से पता चलता है कि प्राचीन काल में यह देश पूर्व और पश्चिम के बीच के व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ था। इसका व्यापार बेबिलान, मिस्र, ईरान और रोम के साथ चलता था। यह व्यापार केवल समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों तक ही सीमित था।

इतिहास में अरब देश की ख्याति विशेष रूप से इस बात के लिए है कि यहीं इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद का जन्म हुआ था। मोहम्मद साहब के बाद इस्लाम का प्रचार समस्त पश्चिमी एशिया में हो गया और अरबों का साम्राज्य एशिया के अतिरिक्त उत्तरी अफ्रीका और मध्य योरप तक विस्तृत हो गया। हजरत मोहम्मद के जीवन के साथ निकट का सम्बन्ध होने के कारण मक्का और मदीना इस्लाम धर्म के पवित्र धर्म-स्थान बन गए, जहाँ दुनिया के कोने-कोने से लाखों मुसलमान यात्री प्रति वर्ष 'हज' करने के लिए पहुँचने लगे।

अरब के वर्तमान राज्य की स्थापना अब्दुल अजीज इब्न सऊद ने की थी। इब्न सऊद वहाबी-आन्दोलन का नेता था। तुर्की के आॅटोमन-साम्राज्य के टूटने पर उसने हेजाज (मक्का) और नज्द (रियाद) दोनों पर अधिकार कर लिया और बाद में पूर्व और दक्षिण की ओर भी काफी दूरी तक अपने राज्य का प्रसार कर लिया।

जाति, भाषा, धर्म, आदि—अरब जाति भूमध्यसागरीय मानव-समूह के अन्तर्गत सेमेटिक वर्ग की एक महत्वपूर्ण जाति है। सेमेटिक वर्ग में अरब, यहूदी आदि कई जातियाँ सम्मिलित हैं। इस प्रदेश के बद्दू लोग सदियों से एक आदिम जाति के रूप में घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते चले आए हैं। अफ्रीका की नीग्रो जाति के सम्मिश्रण से उपजी नस्लों के लोग भी यहाँ प्रचुरता से पाये जाते हैं।

अरब की भाषा अरबी है। इस्लाम का जन्मस्थल होने के नाते अरब के समस्त निवासी मुसलमान हैं, जिनमें से कुछ नगरों और बस्तियों में बसते और शेष लंबे-चौड़े रेगिस्तानों के बीच घुमक्कड़ जीवन बिताते हुए एक से दूसरे नखलिस्तान की दौड़ लगाते रहते हैं। ये खानाबदोश छोटे-छोटे खेमों या तंबुओं में रहते और इनके इस घुमक्कड़ जीवन में यातायात के मुख्य साधन उनके ऊँट और घोड़े ही होते हैं।

थोड़े-बहुत लोग नखलिस्तानों में स्थायी रूप से भी अब बस गए हैं। यहाँ की प्रमुख उपज खजूर, काफी और पेट्रोलियम (खनिज तेल) हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगर—अरब के मुख्य नगर राजधानी रियाद और मक्का हैं। अधिकतर प्रशासकीय कार्यालय रियाद ही में स्थापित हैं। मक्का का महत्व मुख्यतया मुसलमानों के सर्वमान्य तीर्थ के रूप में ही है। इन दोनों नगरों की जनसंख्या डेढ़-डेढ़ लाख है। तीसरा बड़ा नगर जिद्दा है, जो लाल सागर पर स्थित यहाँ का प्रमुख बंदरगाह है। मदीना (आबादी ५० हजार) भी मुसलमानों का तीर्थ होने के कारण बड़े महत्व का स्थान है।

: यमन, अदन आदि :

अरब प्रायद्वीप के दक्षिणी किनारे पर लाल सागर से लेकर फारस की खाड़ी तक यमन, अदन का संरक्षित प्रदेश, ओमन, मस्कत, कुवैत आदि अनेक छोटे-छोटे राज्य बिखरे हुए हैं। इनमें यमन का क्षेत्रफल ७५,००० वर्गमील, मस्कत और ओमन का ८२,००० वर्गमील, अदन के संरक्षित प्रदेश का ११२,००० वर्गमील तथा कुवैत का केवल ५,८०० वर्गमील है। यमन की आबादी ४५ लाख; मस्कत और ओमन की ५॥ लाख; अदन-क्षेत्र की लगभग ८ लाख और कुवैत की २ लाख है। बहुत दिनों तक पिछड़े हुए रहने के कारण इन क्षेत्रों का राजनीतिक दृष्टि से यथेष्ट विकास नहीं हो पाया है। परन्तु अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति एवं मूल्यवान् खनिज संपदा के कारण इनका महत्व दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है।

इतिहास—यमन प्राचीनकाल से एक स्वतंत्र राज्य के रूप में संगठित रहा है। बाइबिल के अनुसार यह राज्य प्राचीन शेबा राज्य का अंग था एवं अफ्रीका और पूर्व के बीच यातायात का मुख्य केन्द्र था। बाइबिल में शेबा की रानी की सम्राट् सॉलोमन से हुई मुलाकात का विवरण भी है। कभी इथियोपियन और ईरान के शासकों का भी यमन राज्य पर अधिकार था। १५३८ से १६३० ई० तक और तदनंतर १८४९ से १९१८ ई० के बीच में यमन पर ऑटोमन तुर्क साम्राज्य का भी अधिकार रहा। शेष काल में अधिकांश समय तक यह राज्य स्वतंत्र ही रहा। पिछले दिनों यह प्रदेश 'संयुक्त अरब गणराज्य' का सदस्य बन गया है।

यमन की भाँति अरब के दक्षिणी समुद्रतट के अदन के संरक्षित प्रदेश के क्षेत्र का भी प्राचीनकाल में अफ्रीका और भारत के साथ व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में, भारत में अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए, अंगरेजों ने अदन पर अधिकार जमा लिया और बाद में मस्कत, ओमन और कुवैत राज्यों को भी अपने संरक्षण में ले लिया। अदन का प्रशासन पहले भारत-सरकार के सिपुर्द था। आजकल उसका शासन ब्रिटेन के उपनिवेश-विभाग द्वारा चलता है।

जाति, रहन-सहन आदि—इन छोटे-छोटे राज्यों के निवासी मुख्यतः अरब जाति के हैं, यद्यपि इनके रक्त में इथियोपियन, नीग्रो, भारतीय और ईरानी लोगों का भी पर्याप्त सम्मिश्रण हुआ है। यहाँ की भाषा अरबी है और सभी लोग इस्लाम धर्म के अनुयायी हैं।

कुवैत और उसके समीपवर्ती बहरीन द्वीप में भारी मात्रा में पेट्रोलियम (खनिज तेल) उपलब्ध होने के कारण अब वहाँ के शासक मालामाल हो गए हैं। यहाँ की मुख्य पैदावार कपास, जौ, काफी, खजूर और केला है। इन छोटे-छोटे राज्यों में सब से बड़ा नगर अदन है, जिसकी आबादी १ लाख है। यह एक महत्वपूर्ण बंदरगाह है। मस्कत, कुवैत, मनामा और बहरीन भी अपने-अपने क्षेत्रों के प्रमुख नगर हैं।

: इसराइल :

इसराइल एक नवनिर्मित देश है। इसका जन्म १९४८ ई० में फिलिस्तीन के बँटवारे के बाद हुआ है। इसका क्षेत्रफल ७,९९३ वर्गमील और आबादी लगभग २१ लाख है।

प्राकृतिक स्थिति—यह देश भूमध्यसागर के तट पर एक समुद्रतटवर्ती लंबी पट्टी के रूप में फैला हुआ है, जिसकी लम्बाई २७० मील तथा अधिकतम चौड़ाई ७० मील है। इसके पूर्व में सीरिया और जोर्डान हैं। उत्तर में इसकी सीमा लेबनान से और दक्षिण में 'संयुक्त अरब गणराज्य' से जा मिलती है। इसकी दक्षिणी नोक अकाबा की खाड़ी को छू लेती है। फिलिस्तीन के सुप्रसिद्ध 'मृत सागर' (डेड सी) का ३५ मील का तट इसराइल के अधिकार में है।

इतिहास—आज का इसराइल राज्य यहूदियों के इसी नाम के इतिहासप्रसिद्ध पुरातन देश का ही एक अंश है। ऐतिहासिक इसराइल राज्य में फिलिस्तीन का ठेठ हरमोन पर्वत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

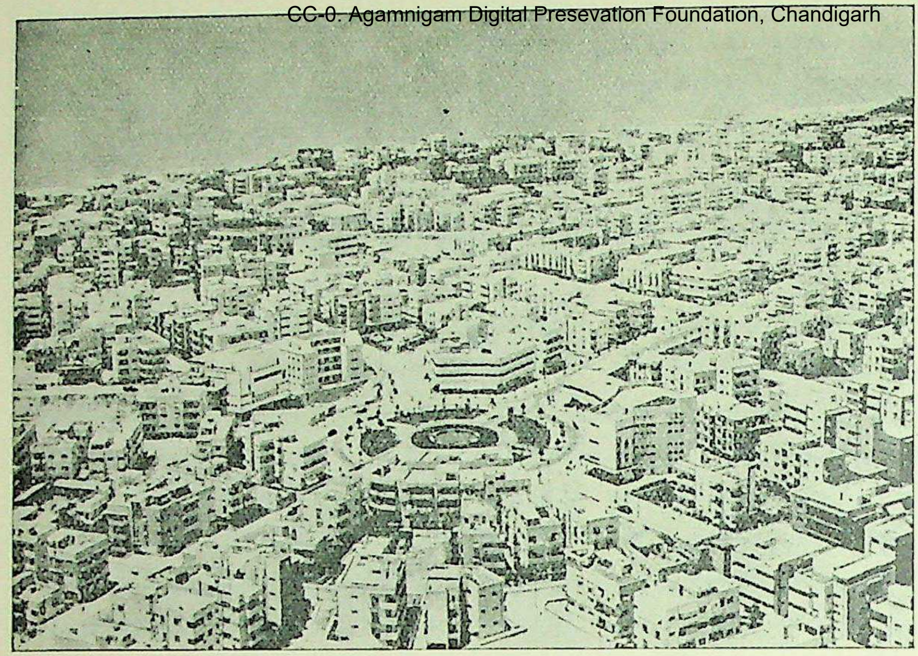

इसराइल के प्रमुख आधुनिक नगर तेल अवीव की झाँकी।

रहने के लिए दी थी। इसराइल में कृषि का आधुनिक वैज्ञानिक तरीके से विकास किया जा रहा है। खेती के साथ-साथ उद्योगों को भी यहाँ यथेष्ट मात्रा में विकसित किया गया है। हैफा में एक बहुत बड़ा तेलशोधक कारखाना स्थापित हुआ है। इसके अलावा रेडियो, मोटरों, घड़ियों और अन्य छोटी-बड़ी मशीनों तथा रसायन के कारखाने भी स्थापित किए गए हैं।

यहाँ की राजभाषा हिब्रू है, जिसका प्रयोग

से बीरशेबा तक का क्षेत्र शामिल था। १९१७ ई० में 'बालफर-घोषणा' के बाद संसार भर के देशों से आ-आकर यहूदी यहाँ बसने लगे। इस बात का फिलिस्तीन के निवासी अरबों ने कड़ा विरोध किया। इससे दोनों जातियों के बीच अनवरत संघर्ष छिड़ा रहने लगा। इस संघर्ष के फलस्वरूप ही आखिर फिलिस्तीन का बँटवारा हुआ और वहाँ से करीब ८ लाख अरबों को हटकर दूसरे देशों में जाकर बसना पड़ा।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—इसराइल में विविध भाषाभाषी और विविध प्रकार के रहन-सहनवाले लोगों का मानो एक मेला-सा लगा हुआ है! कारण, पिछले दिनों संसार के सभी देशों से--विशेष रूप से पूर्वीय योरप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका से--यहूदी लोग यहाँ आ-आकर बस गए हैं। यहूदियों के अतिरिक्त गलीली और नजीव के निकट के क्षेत्र में करीब डेढ़ लाख अरब भी अभी इसराइल में रहते हैं। इस नूतन देश की लगभग ८० प्रतिशत आबादी शहरों में ही रहती है--केवल २० प्रतिशत इसराइली गाँवों में रहते हैं। ये लोग खेती का काम करते हैं। इसराइल की ग्रामीण आबादी का २५ प्रतिशत भाग सामुदायिक और सामूहिक कृषि-क्षेत्रों में संलग्न है, जिनका इस देश में तेजी से विकास किया जा रहा है।

इसराइल के यहूदी सेमेटिक वर्ग के लोग हैं। किंवदन्ती है कि मिस्र से निर्वासित होने पर ईश्वर ने इन्हें यह भूमि

दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। अरबी भाषा भी काफी लोग यहाँ समझते हैं।

इन दिनों इसराइल में हिब्रू-संस्कृति के विकास पर विशेष जोर दिया जा रहा है, ताकि विभिन्न पृष्ठभूमियों से आए हुए यहूदी एकता के सूत्र में बँध सकें। इस दौर में साहित्य, नाटक, संगीत और अन्य कलाओं का बड़ी तेजी से विकास हो रहा है।

धर्म के लिहाज से यहाँ अधिकतर संख्या यहूदी धर्म (जूडा-इज्म) को माननेवालों की ही है, परन्तु साथ-ही-साथ करीब डेढ़ लाख अरब मुसलमान, ४५ हजार ईसाई और २० हजार द्रूसेस सम्प्रदाय के लोग भी यहाँ रहते हैं।

नगर—इसराइल का प्रधान नगर यरूशलम है, जो यहूदियों के लिए वैसा ही महत्व रखता है, जैसा कि हमारे लिए वाराणसी। इसके इसराइली क्षेत्र की आबादी १॥ लाख है। यद्यपि यरूशलम इसराइल की राजधानी है, परन्तु यह पूरा नगर इस देश के अधीन नहीं है। उसके एक भाग पर जोर्डान के अरब राज्य का भी कब्जा है। यहाँ का दूसरा प्रमुख नगर तेल अवीव है, जो एक संपूर्णतया आधुनिक बस्ती है। यहाँ एक छोटा-सा बंदरगाह भी है। जाफा तेल अवीव का उपनगर है और हैफा मुख्य बन्दरगाह। लाल सागर के तट पर स्थित एलाथ का भी यहाँ के बन्दरगाहों में महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्द महासागर को जहाज यहीं से जाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसार के देश और उनके निवासी—(२) अफ्रीका महाद्वीप

संसार के सब से बड़े भूखंड एशिया महाद्वीप के अंचल में बसनेवाले मानव कुटुंब के विविध कुनबों का पर्यावलोकन करने के उपरान्त, अब पड़ौसी अफ्रीका महाद्वीप की ओर अपनी निगाह घुमाना हमारे लिए एक नितान्त स्वाभाविक बात है। कारण जाति, वर्ण, संस्कृति एवं सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थिति आदि सभी तत्त्वों के लिहाज से इस भूभाग के निवासी योरप-अमेरिका से कहीं अधिक एशिया के ही निकटतर हैं।

अफ्रीका एशिया को छोड़कर संसार का सब से बड़ा महाद्वीप है। इसके पश्चिम में अटलांटिक महासागर, पूर्व में हिन्द महासागर और उत्तर में भूमध्यसागर है। उत्तर से दक्षिण तक ५,००० मील लम्बे इस विशाल भूखंड का क्षेत्रफल १,२०,००,००० वर्गमील और आबादी लगभग २२,५०,००,००० है।

अफ्रीका सदियों तक बाहरी यात्रियों के लिए दुर्गम बना रहा। इसका एक कारण उसके समुद्रतट के निकटवर्ती ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। उसका समुद्रतट बहुत कम कटा हुआ है, अतः यहाँ प्राकृतिक खाड़ियों और बन्दरगाहों की कमी है। नील, कांगो और नाइजर अफ्रीका की प्रसिद्ध बड़ी नदियाँ है। इस भूखंड के मध्यपूर्वीय क्षेत्र में कई झीलें हैं, जिनमें विक्टोरिया झील सब से प्रसिद्ध है। उत्तरी अंचल में सहारा का विस्तृत रेगिस्तान फैला है। दक्षिण में भी कालाहारी नामक एक छोटा-सा रेगिस्तान विद्यमान है।

अफ्रीका के निवासियों को पाँच श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। उत्तरी-पूर्वी भाग में स्थित मिस्र में (जो आजकल 'संयुक्त अरब गणराज्य' कहलाता है) अधिकांशतः अरब जाति के लोग रहते हैं। उधर इथियोपिया और सहारा प्रदेश में अधिकतर हामी या हैमेटिक जाति के लोग पाए जाते हैं। पश्चिमी अफ्रीका और सूदान असली नीग्रो जाति के लोगों के निवासस्थल हैं। इसी प्रकार कालाहारी रेगिस्तान में बुशमैन, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका में हाटेनटाट और कांगो में पिगमी (बौने) जाति के आदिम वर्ग के कुछ लोग मिलते हैं। उधर मध्य और दक्षिणी अफ्रीका में नीग्रो जाति की बान्तू जाति के लोगों का बाहुल्य है। इनके अतिरिक्त अफ्रीका में ५० लाख योरपियन लोग भी हैं, जो अधिकतर उत्तरी अफ्रीका के समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में अथवा दक्षिणी अफ्रीका में बसे हुए हैं।

अफ्रीका के मूल निवासी सदियों से विदेशियों के हाथों भाँति-भाँति से शोषित होते रहे हैं। मध्ययुग में अरब व्यापारियों ने नीग्रो लोगों को बलपूर्वक गुलाम बनाकर उनका व्यापार किया। बाद में पुर्तगाली, स्पेनिश आदि योरपियन लोगों ने भी उन्हें खरीदकर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों में बेचना शुरू किया। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब गुलामों का उक्त जघन्य व्यापार बंद कर दिया गया, तो विविध योरपियन देशों ने अफ्रीका को अनेक राज्यों में बाँटकर उसका आर्थिक शोषण आरम्भ कर दिया। इसका सब से नग्न रूप दक्षिणी अफ्रीका में अब तक कायम है। परन्तु पिछले दिनों एशिया की भाँति अफ्रीका में भी नवजागरण और स्वतंत्रता की तीव्र लहर उठ खड़ी हुई है, जिसके दौर में विविध अफ्रीकी देश एक के बाद एक उपनिवेशवाद के चंगुल से छुटकारा पाकर स्वाधीन होते चले जा रहे हैं।

अगले पृष्ठ पर अफ्रीका के विभिन्न देशों के क्षेत्रफल एवं जनसंख्या विषयक तालिका दी जा रही है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	आबादी
अंगोला	४,८१,३५०	४५,११,६००
अलजीरिया	८,४६,१२०	१,०७,५३,६००
इथियोपिया	३,९५,०००	१,८०,००,०००
उगांडा	९३,९८०	५६,३०,७००
कांगो	९,०४,७५०	१,४९,०९,४००
केनिया	२,२४,९६०	६६,११,४००
कैमरून	२,००,५७०	५०,३७,८००
गिनी	९५,३५०	२९,५०,५००
घाना	९१,६९०	५०,७३,०००
टंगानिका	३,६२,६६०	९३,६८,०००
ट्यूनीशिया	४८,३००	४०,७०,७००
तोगो	२१,५००	११,३७,८००
दक्षिणी अफ्रीका	४,७२,४९०	१,५२,११,०००

देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	आबादी
दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका	३,१७,७२५	६,१२,६००
नाइजीरिया	३,३८,६००	३,६६,०६,८००
फ्रांसीसी प्रदेश	३०,०४,६३५	३,२७,८२,८००
मोजाम्बिक	२,९७,७३०	६४,३५,३००
मोरक्को	१,५९,०००	१,०६,९१,६००
रोडेशिया और न्यासालैंड संघ	४,८०,०००	८३,८४,५००
लाइबेरिया	४३,०००	१५,००,०००
लीबिया	६,७९,४००	११,८९,६००
संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र)	३,८६,२००	२,७६,७५,०००
सियरालियोन	२७,९७०	२२,३८,६००
सूदान	९,७१,५००	१,१०,००,०००
सोमालिया	१,९८,०००	१३,४१,४००

: संयुक्त अरब गणराज्य :

'संयुक्त अरब गणराज्य' की स्थापना १९५८ ई० में मिस्र और सीरिया को मिलाकर की गई थी। बाद में यमन नामक अरब का छोटा-सा राज्य भी इसमें शामिल हो गया। परन्तु कुछ ही समय के बाद सीरिया उससे अलग हो गया। 'संयुक्त अरब गणराज्य' वस्तुतः मिस्र का ही दूसरा नाम है। अफ्रीका के पूर्वोत्तरीय कोने में चतुर्भुज की शक्ल का यह देश नक्शे में सहज ही पहचाना जा सकता है। इसका क्षेत्रफल ३,८६,२०० वर्गमील और आबादी लगभग २॥। करोड़ है। इसकी राजधानी काहिरा है।

प्राकृतिक स्थिति— मिस्र नील नदी की घाटी में बसा हुआ एक बहुत पुराना देश है। इसकी ९५ प्रतिशत जनसंख्या इसी घाटी की सँकड़ी पट्टी में आबाद है। इस पट्टी का सब से घना आबाद क्षेत्र नील के मुहाने का भूभाग है, जहाँ राजधानी काहिरा बसी हुई है। इस क्षेत्र का कुछ भाग दलदली भी है। यहाँ का कतारा का क्षेत्र समुद्र की सतह से ४४० फीट नीचा है। इन क्षेत्रों में खेती की जाती है। अरब की तरह मिस्र का भी लगभग ९७ फी सदी भाग रेगिस्तानी है,जो मुख्यतः पश्चिम की ओर है। इस भूमि के बीच-बीच में कई नखलिस्तान हैं, जिनमें सिवा, फैयूम, फाराफ्रा, दाखला और खारगा सब से प्रसिद्ध हैं। नील नदी मध्य अफ्रीका से उद्भूत होकर मिस्र की सीमा में दक्षिण की ओर से प्रवेश करती है। इस नदी में जुलाई और दिसम्बर के बीच जबर्दस्त बाढ़ आती है, जिसके कारण तटवर्ती क्षेत्रों पर प्रतिवर्ष मिट्टी की नई पर्तें बिछती जाती हैं। इन बाढ़ों के कारण मिस्र की भूमि बड़ी उपजाऊ हो गई है। इसीलिए मिस्रवासी नील नदी को अपना सब से बड़ा वरदान मानते हैं। आसवान और काहिरा के बीच यह नदी एक घाटी में से गुजरती है, जो कहीं-कहीं केवल ६ मील चौड़ी है। मिस्र का उत्तरी भाग सिनाई प्रायद्वीप है। यहाँ पर तथा लाल सागर के तटवर्ती क्षेत्र में कहीं-कहीं भूमि सात-आठ हजार फीट तक ऊँची चट्टानों से आच्छादित है।

मिस्र उष्ण जलवायु का प्रदेश है। भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्र में यहाँ करीब १० इंच वर्षा हो जाती है, पर समुद्रतट से दूर के क्षेत्रों में वर्षा बहुत कम होती है। यहाँ का जाड़े का मौसम बड़ा सुहावना होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

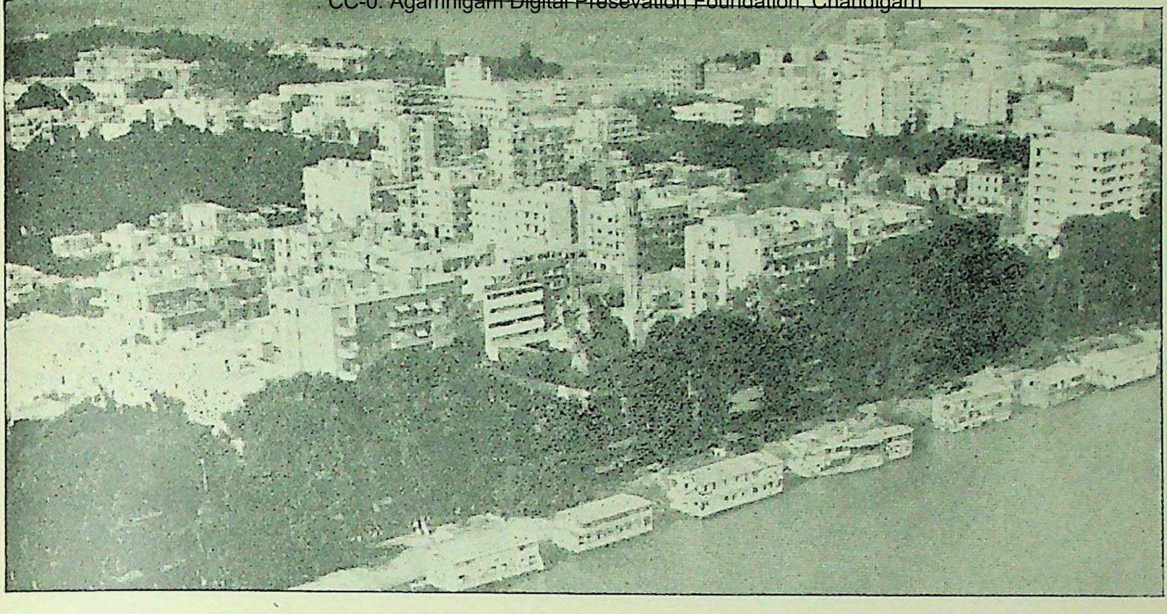

नील नदी के तट पर बसे हुए काहिरा नगर का एक दृश्य :: यह नगर अफ्रीका का सब से बड़ा शहर है।

रेगिस्तानी हिस्से को छोड़कर मिस्र के समस्त भूभाग में उत्तम खेती होती है। इसका मुख्य श्रेय यहाँ की सिंचाई-व्यवस्था को है। कपास, गेहूँ, मक्का, धान, गन्ना आदि यहाँ की मुख्य फसलें हैं। इनके अलावा अनेक प्रकार के फल और शाक भी काफी मात्रा में पैदा होते हैं।

इतिहास—दुनिया के देशों में मिस्र सब से प्राचीन कहा जाता है। यहाँ का छः-सात हजार वर्ष का शृंखलाबद्ध इतिहास उपलब्ध है। नील नदी की उर्वर घाटी में उत्पन्न यहाँ की पुरातन सभ्यता का आभास उसके अनेक प्राचीन अवशेषों में आज भी हम पा सकते हैं। ये अवशेष नील-घाटी के क्षेत्र में दूर-दूर तक बिखरे पड़े हैं। मिस्र का साम्राज्य काफी समय तक सीरिया और उत्तरी अरब तक विस्तृत रहा। उधर उत्तरी सूदान और इराक का भी कुछ भाग अरसे तक मिस्र के अधीन रहा। ईस्वी पूर्व ५२५ में ईरान ने मिस्र को जीत लिया—उसके बाद इस देश पर ईरानी, यूनानी, रोमन, बाइजैन्टाइन, अरब और तुर्क आदि विविध विदेशी शासकों का राज्य रहा। स्वेज-नहर के बन जाने पर अंग्रेजों ने मिस्र में गहरी दिलचस्पी लेना आरंभ किया। आखिर १८८२ ई० में उन्होंने उस पर राजनीतिक अधिकार भी कर लिया। उनके चंगुल से मिस्र का छुटकारा १९२२ ई० में जाकर हुआ, जब सुलतान अहमद फुआद के अधीन वहाँ एक वैधानिक राजतंत्र स्थापित किया गया। अंत में जनरल नजीब के नेतृत्व में सैनिक क्रांति के बाद १९५३ ई० में मिस्र में एक गणतंत्र स्थापित किया गया। पर अंग्रेजी सेना मिस्र में ठेठ १९५६ ई० तक डटी रही। इसके पाँच वर्ष बाद १९५८ ई० में कर्नल नासिर की अध्यक्षता में मिस्र और सीरिया को मिलाकर 'संयुक्त अरब गणराज्य' की स्थापना की गई, यद्यपि सीरिया शीघ्र ही इस संघ से पुनः जुदा हो गया।

जाति, रहन-सहन, आदि—मिस्र के निवासी अफ्रीका की कृष्णकाय नीग्रो जाति और कतिपय भूमध्यसागरीय जातियों के मिश्रण से बनी प्रसिद्ध हैमेटिक जाति के वंशज हैं। इनमें तीन प्रकार के लोग हैं—(१) नील नदी की घाटी में रहनेवाले कृषक, जो 'फेलाहीन' कहलाते हैं; (२) अरब जाति के बद्दू, जो कबीलों में घुमक्कड़ जीवन बिताते हुए पशुपालन का काम करते हैं, और (३) नूबियन जाति के लोग, जो मिश्रित अरब और नीग्रो रक्त के हैं। मिस्र के 'फेलाहीन' किसानों के जीवन में प्राचीन काल से बहुत कम परिवर्तन हुआ है। ये लोग स्वभाव से परम्परावादी और रूढ़िवादी हैं।

आजकल करीब ३० प्रतिशत मिस्री शहरों में रहते हैं। यहाँ की सब से घनी आबादी नील नदी के मुहाने के क्षेत्र में है, जो संसार के सब से घनी जनसंख्यावाले क्षेत्रों में है। भारत की तरह मिस्र भी एक कृषिप्रधान देश है। परंतु अब यहाँ उद्योग-धंधों का भी तेजी से विकास किया जा रहा है। पहले कोयले के अभाव में उद्योगों की यथेष्ट उन्नति यहाँ नहीं हो पाई थी, परंतु बिजली और तेल के प्रयोग से इस दिशा में अब काफी प्रगति हो रही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'संयुक्त अरब गणराज्य' की नवजागृति की प्रतीक आधुनिक मिस्री नारियाँ ।

करोड़ डालर की वार्षिक आय होती है। इस नहर से होकर प्रति वर्ष कोई बारह करोड़ टन माल जहाजों से ले जाया जाता है। १९५६ ई० में मिस्री सरकार ने इस नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया, जिसके कारण ब्रिटेन और फ्रांस के साथ उसका सशस्त्र संघर्ष भी हुआ। पर अंत में जीत मिस्र की ही हुई !

नगर — 'संयुक्त अरब गणराज्य' का प्रमुख नगर राजधानी काहिरा है, जिसकी आबादी करीब २५ लाख है। काहिरा अफ्रीका महाद्वीप का सब से बड़ा नगर है। अल काहिरा का अर्थ है 'विजय का नगर'। इस नगर के पास पुरातत्त्वीय महत्व के अनेक स्थल हैं, जिनमें गिजे के विशाल पिरामिड और स्फिंक्स तो संसारप्रसिद्ध हैं। काहिरा में आधुनिक इमारतों के साथ-साथ अरबी, यहूदी और कोप्टिक ढंग की पुरानी बस्तियों की भी कमी नहीं है। यहाँ की मुस्लिम इमारतों में नवीं शताब्दी की 'महमत अली की मस्जिद' विशेष रूप से दर्शनीय है। काहिरा के बाद मिस्र का दूसरा नगर सिकन्दरिया है, जो कभी एक मशहूर यूनानी विद्या-केन्द्र था। इस नगर की आबादी १२ लाख के करीब है। यही मिस्र का मुख्य बन्दरगाह है। अन्य महत्वपूर्ण बन्दरगाह पोर्ट सईद (२ लाख) और स्वेज (१।। लाख) हैं।

मिस्र के लोग अरबी भाषाभाषी हैं। परन्तु यहाँ पर बोली जानेवाली अरबी अन्य देशों में बोली जानेवाली अरबी से भिन्न है। आजकल मिस्र अरबी संस्कृति का प्रधान केन्द्र माना जाता है और अरबी राष्ट्रीय जागरण में उसका महत्वपूर्ण योगदान है। साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में यहाँ पाश्चात्य और अरबी दोनों प्रकार की संस्कृतियों का समन्वय हो रहा है। काहिरा, सिकन्दरिया और असयुत में विश्वविद्यालय स्थापित हैं। अल अजहार के प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय की स्थापना तो ९७० ई० में हुई थी।

मिस्र के ९० प्रतिशत निवासी मुसलमान हैं, जिनमें अधिकांश सुन्नी हैं। करीब १५ लाख कोप्टिक ईसाई भी यहाँ रहते हैं। इनके अतिरिक्त ५० हजार यहूदी भी यहाँ मौजूद हैं। मिस्र की प्रमुख संपदा स्वेज-नहर है, जिससे इस देश को ७

: उत्तरी अफ्रीका :

उत्तरी अफ्रीका में मोरक्को, स्पेनिश पश्चिमी अफ्रीका, ट्यूनीशिया, लीबिया और अलजीरिया नामक पाँच राज्य शामिल हैं। इनमें पहले तीन राज्य केवल समुद्रतटवर्ती पट्टियों के रूप में विस्तृत हैं, बाकी दो अर्थात् लीबिया और अलजीरिया राज्यों का प्रसार भीतरी रेगिस्तानी प्रदेश में भी है। इस क्षेत्र में अनेक पठार और पर्वतशृंखलाएँ हैं और यहाँ के पर्वतों की कुछ चोटियाँ जाड़े के दिनों में बर्फ से भी ढक जाती हैं। इन क्षेत्रों में झाड़ियों के जो जंगल मिलते हैं, उन्हें 'माकिस' कहा जाता है। इन वन्य क्षेत्रों के बाद रेगिस्तान है, जिसके बीच-बीच में कहीं-कहीं नखलिस्तान भी मिलते हैं।

अलजीरिया—उत्तरी अफ्रीका का सब से बड़ा राज्य अलजीरिया है। इसका क्षेत्रफल ८,४६,१२० वर्गमील और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आबादी करीब १ करोड़ है। यहाँ के ९० प्रतिशत क्षेत्र में रेगिस्तान ह और अधिकांश आबादी केवल उत्तरी क्षेत्र में ही केन्द्रित है।

उत्तरी अलजीरिया का क्षेत्र काफी उर्वर है। वहाँ सिंचाई की व्यवस्था भी उपलब्ध है। फलतः यहाँ गेहूँ और जौ की अच्छी फसलें होती हैं। अंगूर से बढ़िया शराब तैयार की जाती है। जैतून, तम्बाकू, फल, सब्जी, खजूर भी बहुत ज्यादा पैदा होते हैं। दक्षिण में रेगिस्तान तक पठार फैला हुआ है। रेगिस्तान में पशुओं के लिए चरागाह के योग्य भूमि प्राप्य है।

१५१८ ई० में अलजीरिया को तुर्कों ने जीत लिया था, लेकिन कुछ समय बाद वहाँ अराजकता फैल गई थी। तब १८३० ई० में इस क्षेत्र पर फ्रांस का अधिकार हो गया, जो १९६२ ई० में जाकर समाप्त हुआ। अब अलजीरिया एक स्वतंत्र गणतंत्र है।

यहाँ के अधिकांश निवासी अरब जाति के हैं, जो ज्यादातर इस्लाम के अनुयायी हैं। उत्तरी अलजीरिया में करीब १० लाख योरपियन भी रहते हैं, जिनमें फ्रांसीसियों की संख्या अधिक है। यहाँ के अरब और योरपियन लोगों में पिछले दिनों वर्षों तक एक रक्तरंजक संघर्ष चलता रहा, जिसका अंत आखिर इस देश की स्वाधीनता से हुआ।

अलजीरिया की राजधानी अलजियर्स है। ओरान तथा कांस्टेंटाइन यहाँ के अन्य प्रमुख नगर हैं। यहाँ के नागरिक जीवन पर फ्रांसीसी संस्कृति की गहरी छाप है।

मोरक्को—इस देश का क्षेत्रफल १,५९,००० वर्गमील और आबादी करीब एक करोड़ है। यहाँ के अधिकांश निवासी मुसलमान हैं।

इस प्रदेश में वर्षा कम होती है, अतएव यहाँ के निवासी भेड़, बकरी, घोड़े और ऊँट पालते हैं। समुद्रतट पर मछली बहुत मिलती है। कृषि की उपज में गेहूँ, जौ, दाल, मटर आदि की अच्छी फसलें होती हैं। अंगूर के बागों में शराब तैयार की जाती है। अंजीर, बादाम और खट्टे रसवाले फल भी यहाँ बहुतायत से पैदा होते हैं। सेमोलिना नामक एक विशेष प्रकार का गेहूँ भी यहाँ होता है, जो यहाँ का मुख्य खाद्य है।

खनिज पदार्थ में यहाँ प्राकृतिक फास्फेट की चट्टानों का बाहुल्य है, जिनसे उर्वरक तैयार किया जाता है। यहाँ का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र कैसाब्लांका है और राजधानी रबात है। मराकेश और फेज यहाँ के प्रसिद्ध प्राचीन नगर हैं।

मोरक्को के पुराने नगर प्रायः चारों ओर से दीवार से घिरे हुए हैं। यहाँ की मुसलमान औरतें बुर्के ओढ़कर निकलती हैं और पुरुष लम्बे चोगे पहनते हैं।

ट्यूनीशिया—अलजीरिया के पूर्वोत्तरीय कोने पर स्थित ट्यूनीशिया का क्षेत्रफल ४८,३०० वर्गमील और आबादी करीब ४० लाख है। यहाँ की राजधानी ट्यूनिस (७ लाख) है, जो एक नहर द्वारा भूमध्यसागर से संबद्ध है। मोरक्को की तरह ट्यूनीशिया के भी अधिकांश निवासी मुसलमान हैं। यहाँ की समुद्रतटवर्ती क्षेत्र की भूमि काफी उर्वर है। मुख्य उपज अनाज, अंगूर, जैतून, कार्क और पिस्ता है। राजधानी ट्यूनिस के निकट प्राचीन कार्थेज नगर के ध्वंसावशेष यहाँ के प्रमुख दर्शनीय स्थलों में से हैं। द्वितीय महायुद्ध में ट्यूनीशिया में मित्र और शत्रु राष्ट्रों के बीच अनेक युद्ध हुए थे।

लीबिया—लीबिया को प्रायः 'बालू के सन्दूक' के नाम से पुकारा जाता है, लेकिन वास्तव में यह है चट्टानों का सन्दूक, कारण यहाँ के रेगिस्तान की बालू में चट्टानें और पत्थर के टुकड़े भरे पड़े हैं। यहाँ का क्षेत्रफल ६,७९,४०० वर्गमील और आबादी ११ लाख से अधिक है। यहाँ के अधिकांश निवासी अरब जाति के बद्दू हैं, जो एक से दूसरे नखलिस्तान का चक्कर लगाते हुए भेड़-बकरियाँ पालते हैं।

लीबिया में तीन प्रमुख क्षेत्र हैं। प्रथम है पश्चिमी भाग, जो त्रिपोलीटानिया कहलाता है; इसकी राजधानी भूमध्यसागर के तट पर स्थित त्रिपोली है। दूसरा पूर्वी भाग सीरेनायका कहलाता है; इसकी राजधानी बेनगाजी है, जो एक प्राचीन नगर है। तीसरा क्षेत्र फेजान का रेगिस्तान है। यह त्रिपोली के दक्षिण में स्थित है। यहाँ का घाडेम्स नामक नगर प्राचीनकाल के कारवाँ-मार्ग पर है। यह नगर रेगिस्तान के प्रभाव से बचने के लिए अंशतः जमीन के नीचे बनाया गया है! प्राचीनकाल में फीनिशियन, रोमन, यूनानी, वेंडाल, अरब, फ्रांसीसी और स्पेनिश आदि कई जातियों के लोगों ने लीबिया पर आक्रमण किए और वहाँ अपनी बस्तियाँ बसाईं। यहाँ की आबादी बहुत छितरी हुई है और उस पर गरीबी के बादल छाए हुए हैं। समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में और नखलिस्तानी भूमि में थोड़ी-बहुत खेती होती है। यहाँ की मुख्य पैदावार अंजीर और जैतून की है। रेगिस्तान में कुछ भी पैदा नहीं होता।

स्पेनिश पश्चिमी अफ्रीका—मोरक्को के दक्षिण-पश्चिम में स्थित 'स्पेनिश पश्चिमी अफ्रीका' बहुत-कुछ बंजर प्रदेश है। यह दो भागों में विभाजित है—सगुइया अल-हमरा और रियोदिओरो। 'रियोदिओरो' का शब्दार्थ है सोने की नदी, लेकिन यहाँ न तो सोना ही है और न नदी ही! यहाँ की प्रमुख आय समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में मछली पकड़ने से होती है। इस प्रदेश का क्षेत्रफल १०५,४०९ वर्गमील और आबादी केवल ९० हजार है। यहाँ के मुख्य नगर इफनी और स्मारा हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

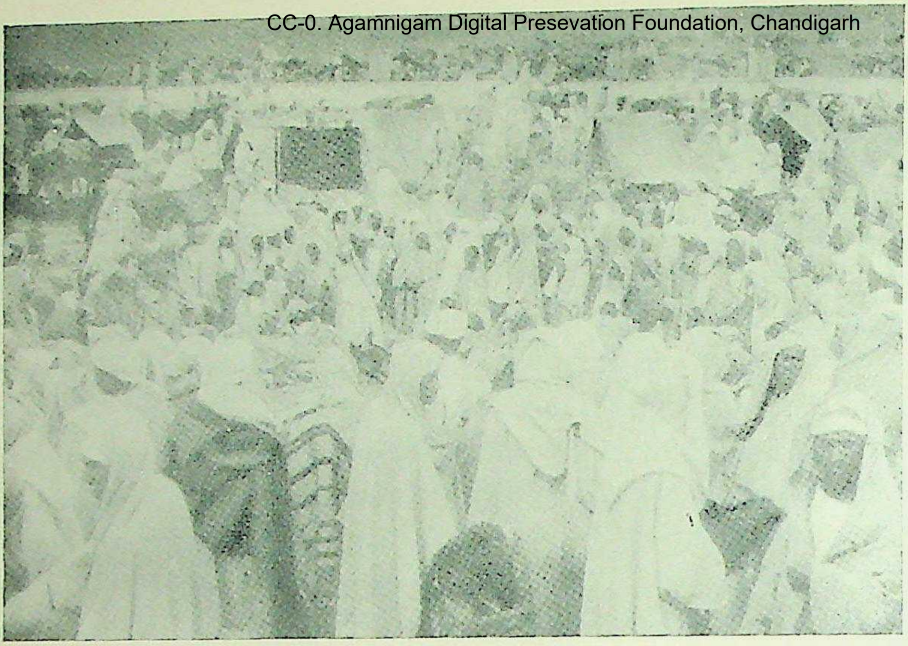

मोरक्को के मराकेश नगर की समीपवर्ती मरुभूमि में लगनेवाले मूर लोगों के एक हाट-बाजार का दृश्य ।

सहारा रेगिस्तान—अरबी भाषा में सहारा का अर्थ है 'खालीपन'। यह अर्थ उत्तरी अफ्रीका के इस नाम से प्रसिद्ध रेगिस्तान पर शत-प्रति-शत लागू होता है। कारण, लगभग ३५ लाख वर्गमील के दायरे में ठेठ अटलांटिक महासागर से लाल सागर तक फैला हुआ बालू तथा शुष्क चट्टानों का यह प्रदेश एक निपट निर्जन एवं शून्य क्षेत्र है। यही संसार का सब से बड़ा मरुस्थल है।

सहारा रेगिस्तान के कुछ हिस्से में बालू के टीले फैले हुए हैं, जो आँधी के प्रभाव से निरंतर बनते-बिगड़ते रहते हैं। इस मरुक्षेत्र का अधिकांश भाग चट्टानों के टूटने से बनी रेत से भरा हुआ है। इसे 'हमदा' कहते हैं। इस रेतीले मैदान में कई बड़े-बड़े पत्थर पड़े हुए मिलते हैं। इन्हें 'रेग' कहते हैं। मध्य सहारा में कतिपय पर्वतशृंखलाएँ भी फैली हुई हैं। इनमें अहागर पहाड़ दो मील तक की ऊँचाई का है। कुछ शांत ज्वालामुखियों की चोटियाँ भी यहाँ विद्यमान हैं। सहारा का सारा भूभाग वनस्पतिशून्य नहीं है। इसके चट्टानी भाग में छोटे-छोटे पौधे, घास और झाड़ियाँ भी मिलती हैं। कुछ स्थलों में भूमि की सतह के नीचे के पानी का स्तर काफी ऊपर आ गया है। ऐसे ही स्थल 'नखलिस्तान' कहलाते हैं। यहाँ खजूर आदि के पेड़ होते हैं। यहाँ की बस्ती केवल ऐसे ही स्थानों पर है। यात्रियों के कारवाँ एक से दूसरे नखलिस्तान को जाते हुए इन बस्तियों में से गुजरते रहते हैं। इन यात्राओं का मुख्य साधन केवल ऊँट है। सहारा के उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र के नखलिस्तानों में रहनेवाले लोग अरब जाति के हैं। ये मूर कहलाते हैं। ये लोग ज्यादातर मुसलमान हैं। कुछ बद्दू जाति के लोग भी यहाँ मिलते हैं। इन लोगों की भाषा और संस्कृति अरबी है।

सहारा के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में तीबू जाति के लोग रहते हैं। तीबू का अर्थ है चट्टानों में रहनेवाले। इन लोगों पर नीग्रो जाति का प्रभाव अधिक है। में तुआरेग नामक एक बंजारा जाति भी यहाँ पायी जाती है। यह जाति प्राचीन बर्बर जाति से सम्बन्धित है। इस जाति के लोग बंजारों की भाँति लगातार रेगिस्तान में एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा करते हैं। ये चमड़े के बने खेमों में रहते और बकरी, भेड़ तथा ऊँट पालते हैं। अन्य अरब देशों में जहाँ औरतों को पर्दे में रहना पड़ता है, वहाँ तुआरेग जाति में पुरुषों को पर्दे में रखा जाता है! इनका यह पर्दा रेगिस्तान में सूर्य की प्रखर किरणों से रक्षा करने में सहायक होता है।

: मध्य अफ्रीका :

सहारा रेगिस्तान और नील नदी की घाटी के दक्षिण में घास के बड़े मैदानों, अतिवृष्टि के घने जंगलों, और ऊँचे पठार से युक्त लगभग ४५ लाख वर्गमील का एक क्षेत्र पश्चिम में अटलांटिक महासागर से पूर्व में ठेठ हिन्द महासागर तक फैला हुआ है। इसी विशाल भूभाग को सम्मिलित रूप से 'मध्य अफ्रीका' की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसके पश्चिम में सवान्ना का मैदान पसरा हुआ है। यह मैदान सहारा के दक्षिण से शुरू होकर ठेठ समुद्रतटवर्ती जंगलों तक फैला है। इसका कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाग इतना दलदली है कि उसमें मनुष्य अब तक नहीं जा पाया है। पूर्व में सूदान का घास का मैदान है, जो ठेठ इथियोपिया के पठार तक फैला हुआ है। इसी दिशा में आगे चलकर हमें अफ्रीका की सुप्रसिद्ध किलिमनजारो एवं केनिया नामक चोटियाँ मिलती हैं। मध्य अफ्रीका के मैदानों में शिकार के जानवर बहुतायत से पाये जाते हैं। इस भूभाग की पानी की निकासी नील, कांगो और उनकी सहायक नदियों द्वारा होती है।

सहारा के दक्षिण में फैला हुआ सवान्ना का मैदान लगभग ७०० मील चौड़ा है। यहाँ एक तरह की आदमकद घास होती है, जिसे साफ करके खेती की जाने लगी है। यहाँ शेर, हाथी, गैंडा, जिराफ आदि जानवर बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। उत्तरी भाग में पालतू पशुओं के भी झुंड चरते हुए देखे जा सकते हैं। इस क्षेत्र के अधिकांश निवासी नीग्रो जाति के हैं। पूर्वी भाग में सुप्रसिद्ध 'मसाई' जाति के लोग रहते हैं, जो मुख्यतः पशुपालन का काम करते हैं। ये लोग मांस नहीं खाते और आधुनिकता के प्रभाव से अपने को बिल्कुल बचाए रखते हैं। इनका मुख्य भोजन दूध है। यहाँ की एक विषैली मक्खी पशुओं की घोर शत्रु है। अतः पशुपालन का काम विशेषतया उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों में ही होता है, जहाँ इन मक्खियों का कम प्रकोप है।

अपनी विचित्र ढंग की कुटिया के सामने घाना का एक ग्रामीण नीग्रो परिवार।

सवान्ना के दक्षिण में कांगो-घाटी का सघन वन्य क्षेत्र है। विषुवत् रेखा के निकट होने के कारण यहाँ घनघोर वर्षा होती है। इस क्षेत्र में नीग्रो जाति के विभिन्न कबीलों के अलावा थोड़े-से पिगमी भी रहते हैं। इन लोगों में जादू-टोने का बहुत प्रचलन है। यहाँ जूड़ीतापवाले मच्छरों की भरमार है। यहाँ के नगरों में प्रायः आधुनिकतम अट्टालिकाओं के साथ आदिम जातियों की गोल छप्परवाली झोपड़ियाँ भी पास-पास देखने को मिलती हैं।

प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से यह भूभाग अत्यन्त संपन्न है। इसी से आकृष्ट होकर विविध योरपीय देशों ने यहाँ अपने-अपने साम्राज्य स्थापित किए थे। पहले उन्होंने नीग्रो लोगों को खरीदकर अमेरिका में बेचने का व्यापार किया। तब इस क्षेत्र के प्राकृतिक साधनों का जी भरकर शोषण किया। अब इस क्षेत्र के प्रायः सभी देश स्वतंत्र हो चुके हैं। मध्य अफ्रीका के काफी नीग्रो मुसलमान हैं। पिछली शताब्दी में यहाँ ईसाई धर्म का भी काफी प्रचार हुआ है।

मध्य अफ्रीका में मारीटानियन रिपब्लिक, सेनेगाल, माली संघ, गिनी, सियरालियोन, लाइबेरिया, आइवरी कोस्ट, घाना, वोल्तायक रिपब्लिक, तोगो, दहोमी, नाइजीरिया, नाइजर रिपब्लिक, चाड रिपब्लिक, कैमरून, गाबोन रिपब्लिक, कांगो रिपब्लिक, कांगो-संघ, रुआंडा-उरुंडी, उगांडा, टंगानिका, केनिया, सूदान, इथियोपिया, सोमालिया संघ, जंजीबार आदि राज्य शामिल हैं। इनमें से कतिपय महत्वपूर्ण राज्यों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

घाना—मध्य अफ्रीका के पश्चिमी क्षेत्र के देशों में घाना राज्य का विशेष महत्व है। इस देश में करीब एक हजार वर्ष पूर्व एक नीग्रो साम्राज्य का उदय हुआ था। इस नीग्रो साम्राज्य की राजधानी घाना थी और उसका विस्तार ठेठ सवान्ना के मैदान तक था। घाना के निवासी नीग्रो नस्ल के और लम्बे कद के होते हैं। इनकी स्त्रियाँ रंग-बिरंगे सूती कपड़े पहनती हैं और सिर पर साफे जैसा एक उपवस्त्र बाँधती हैं। आजकल यहाँ पश्चिमी वेशभूषा का भी चलन बढ़ चला है। घाना की राजधानी अकरा है, जिसका आधुनिक ढंग से विकास किया गया है। इस नगर से करीब २० मील दूर टेमा नामक स्थान पर एक सुरक्षित बन्दरगाह भी बनाया गया है। घाना में काकाओ की फसल बहुत होती है। संसार भर की काकाओ की पैदावार का दो-तिहाई भाग इसी क्षेत्र में पैदा किया जाता है। यहाँ अफ्रीका की हौसा नामक भाषा बोली जाती है, जो नीग्रो जाति की मुख्य बोली है। इस भाषा का प्रयोग करीब डेढ़ करोड़ लोग करते हैं। अब अंग्रेजी भाषा का भी प्रचार बढ़ चला है। घाना में शिक्षा का स्तर ऊँचा है।

नाइजीरिया—सहारा से लगभग सौ मील दक्षिण में स्थित नाइजीरिया लगभग पौने चार लाख वर्गमील में फैला हुआ एक समुद्रतटवर्ती देश है, जिसकी आबादी समस्त अफ्रीकन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देशों से अधिक है--यहाँ लगभग ३ करोड़ ८८ लाख नर-नारी बसते हैं। इस भूभाग की प्रमुख प्राकृतिक देन नाइजर नदी है, जिसने गिनी की खाड़ी पर विशाल डेल्टा बनाया है। यहाँ के निवासी नीग्रो जाति के हैं। कुछ हैमेटिक नस्ल के लोग भी यहाँ हैं, जो 'फुलानी' कहलाते हैं। खनिज संपदा की दृष्टि से यह देश बड़ा सम्पन्न है--यहाँ टिन, सोना, जस्ता, कोयला, लोहा, सभी कुछ मिलता है। यहाँ के मुख्य नगर राजधानी लागोस (३॥ लाख) और इबादान (५ लाख) हैं। इस देश का अभी हाल में ही ब्रिटिश आधिपत्य से छुटकारा हुआ है।

सूदान—सवान्ना के पूर्व में सूदान का मैदान है, जिसमें इसी नाम का राज्य अवस्थित है। सूदानी लोग मिश्रित बर्बर और नीग्रो रक्त के हैं। उनमें अधिकतर मुसलमान हैं। यहाँ का मुख्य व्यवसाय पशु-पालन एवं कृषि है। यहाँ विशेषतः अनाज और कपास की खेती होती है। पिछले दिनों 'गेजीरा' योजना के अंतर्गत १० लाख एकड़ का एक क्षेत्र विकसित किया गया है, जिसकी सिंचाई के लिए नील नदी के बाँध से पानी मिलता है। इस क्षेत्र में कपास बहुतायत से पैदा होता है। सूदान में नील नदी के किनारे की भूमि दलदली है। यह 'सूद' कहलाती है। इस क्षेत्र के दलदलों पर प्रायः पौधे बहते दिखाई देते हैं और अनेक प्रकार की मछलियाँ भी उनमें मिलती हैं। यहाँ एक प्रकार की लम्बी घास बहुतायत से होती है। इस देश का सब से बड़ा नगर खारतूम है, जो नीली और श्वेत नील के संगम पर बसा हुआ है। सूदान पहले ब्रिटेन और मिस्र के अधीन था। अब वह एक स्वाधीन गणराज्य है।

इन दिनों अफ्रीका के नवस्वाधीन देश आधुनिकता की दिशा में बड़ी तेजी से कदम बढ़ा रहे हैं। वहाँ अब महिला डॉक्टरों तक की कमी नहीं है !

कांगो-संघ—बेलजियन कांगो, जो अब कांगो-संघ के नाम से पुकारा जाता है, ९ लाख वर्गमील के क्षेत्र में फैला हुआ विषुवत् सघन वनों का प्रदेश है। इस प्रदेश में लगभग १॥ करोड़ व्यक्ति निवास करते हैं, जो अधिकतर बांतू नीग्रो नस्ल के हैं। यहाँ करीब २०० भिन्न जातियाँ निवास करती हैं, जिनमें बौने पिगमियों से लेकर सात फीट कद के वातूसी लोग भी हैं। विषुवत् रेखा के निकट के क्षेत्रों में घनघोर वर्षा होती है। फलतः यहाँ घने जंगल हैं, जिनमें बड़े ऊँचे-ऊँचे पेड़ होते हैं। इन पेड़ों की पत्तियाँ बहुत चौड़ी होती हैं। इस क्षेत्र की जलवायु उष्ण है--यहाँ बारी-बारी से वर्षा और गरमी पड़ती रहती है। यहाँ की मुख्य नदी कांगो है, जो अपनी सहायक नदियों के सहित यहाँ के यातायात में महत्वपूर्ण योग प्रदान करती है।

घनघोर वर्षा के जंगलों में रहनेवाली यहाँ की आदिम जातियाँ कबीलों की भाँति जीवन-यापन करती हैं। उनके गोल झोपड़ों की दीवारें मिट्टी की होती हैं और खिड़कियों का उनमें सर्वथा अभाव होता है। ये मकान बड़े साफ-सुथरे दिखाई देते हैं। इन लोगों के भोजन में खजूर का तेल, अनाज और दाल मुख्य पदार्थ हैं। कभी-कभी ये मांस का भी व्यवहार करते हैं। ये जातियाँ प्रायः अपने शरीर पर गुदना गुदाती और चाकू से ऐसे घाव बनाती हैं, जिससे स्थायी निशान बन जाते हैं। ये लोग अपने शरीर को रँगते भी हैं। लकड़ी के नगाड़ों अथवा ढोलकों के सांकेतिक स्वरों के द्वारा ये लोग वनों में दूर-दूर तक परस्पर बातचीत एवं समाचारों का विनिमय कर लेते हैं। कांगो की राजधानी लियोपोल्डविले एक बड़ा नगर है, जिसकी जनसंख्या लगभग ४ लाख है। यह नगर कांगो नदी के तट पर बसा है। यहाँ से समुद्रतट पर स्थित मतादी बन्दरगाह तक रेल द्वारा सामान भेजा जाता है। कांगो खनिज संपत्ति की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है। यहाँ हीरा और सोना तक मिलता है। इस राज्य के कटांगा नामक प्रदेश में टिन, ताँबा, जस्ता और युरेनियम नामक खनिज भी उपलब्ध हैं। कटांगा की राजधानी एलिजबेथविले एक आधुनिक नगर है।

विषुवत् रेखा के दक्षिणी भाग में फ्रांसीसी इक्वेटोरियल अफ्रीका का क्षेत्र है। इसका क्षेत्रफल १० लाख वर्गमील के लगभग है। इसकी राजधानी ब्राजाविले है। यहाँ अब कांगो रिपब्लिक नामक एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की गई है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इथियोपिया — सवान्ना का मैदान पूर्व में जहाँ पर समाप्त होता है, वहीं से इथियोपिया की सीमा आरंभ होती है। यह देश एक ऊँचे पठार पर बसा है। यहाँ १३,००० फीट तक ऊँचे कुछ प्रसुप्त ज्वालामुखी पर्वत भी हैं। ऊँचाई के क्षेत्र में यहाँ भेड़, बकरी आदि पशु पाले जाते हैं और निचले ढालों में अनाज, गन्ना, कपास, कॉफी, खजूर, अंजीर और खट्टे फलों की खेती की जाती है। खनिज पैदावार में यहाँ लोहा, सोना और ताँबा मिलता है। परन्तु उद्योग की दृष्टि से यह देश अभी पिछड़ा हुआ है। बाइबिल के अनुसार इथियोपिया पर कभी महारानी शेबा का शासन था। आज भी यहाँ एक सम्राट् का शासन है। इथियोपिया के लोग हबशी कहलाते हैं। इनमें अमहारा, टाइग्रियन, माला, दानाकिल आदि कई वर्ग के कबीले शामिल हैं। यहाँ के अधिकतर लोग ईसाई धर्म के अनुयायी हैं। कुछ मुसलमान भी हैं। इथियोपिया की राजधानी अदीस अबाबा है, जिसकी जनसंख्या ५ लाख है।

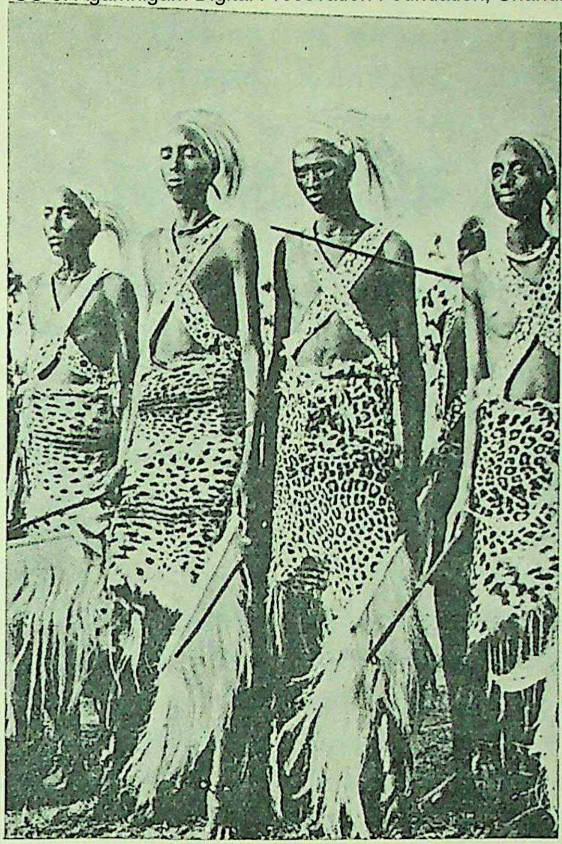

अफ्रीका भाँति-भाँति की वेशभूषा से सज्जित कृष्णकाय जातियों के महान् अजायबघर-सा है। इस विशाल महाद्वीप के मूल निवासी जादू-टोने में अनन्य विश्वास रखते हैं।

केनिया, उगांडा और टंगानिका—इथियोपिया के दक्षिण में पूर्वी अफ्रीकी का पठार है, जो अफ्रीका के मध्यवर्ती पठार से एक गहरी और लम्बी घाटी द्वारा पृथक् है। यहाँ कई गहरी और लम्बी झीलें तथा ऊँचे मैदान और पहाड़ हैं। इस भूभाग का पूर्वी क्षेत्र केनिया नामक देश है, जो हाल ही में अंग्रेजी शासन से मुक्त होकर स्वतंत्र राज्य बना है। केनिया का पठार चौकोर है। यहाँ के मूल निवासी किकूयू जाति के कृष्णकाय लोग हैं। पर योरपियन लोगों की भी काफी आबादी यहाँ है। केनिया की राजधानी नैरोबी (१।।। लाख) एक आधुनिक नगर है।

अफ्रीका के पूर्वी समुद्रतट पर स्थित टंगानिका राज्य भी काफी समय तक अंग्रेजों के संरक्षण में रहा है। अफ्रीका का सुप्रसिद्ध पर्वत किलिमनजारो इसी प्रदेश में है। इसके चारों ओर के क्षेत्र में काफी वर्षा होती है। यहाँ के निवासी मिश्रित नीग्रो और अरब रक्त के हैं। इनमें अधिकतर मुसलमान हैं। उन पर अरबी संस्कृति का गहरा प्रभाव है। टंगानिका की राजधानी दारेस्सलाम (लगभग १।। लाख) है, जो एक महत्वपूर्ण बंदरगाह भी है।

उत्तरी सवान्ना और विषुवत् रेखा के क्षेत्र के सेतु के नाम से प्रसिद्ध उगांडा की भूमि बड़ी उर्वर है। यहाँ कपास, तंबाकू, चाय, कॉफी और गन्ने की अच्छी खेती होती है। इस क्षेत्र की विक्टोरिया झील अफ्रीका की सबसे बड़ी झील है। इस झील का तट केनिया, उगांडा और टंगानिका तीनों देशों की सीमाओं को छूता है। विक्टोरिया झील के उत्तर और दक्षिण में और भी कई बड़ी झीलें हैं, जिनमें रूडोल्फ अलबर्ट, टंगानिका और न्यासा उल्लेखनीय हैं।

जंजीबार—पूर्वी अफ्रीका के समुद्रतट से करीब २० मील दूर हिन्द महासागर में स्थित जंजीबार द्वीप लौंग की पैदावार के लिए संसार भर में मशहूर है। यहाँ का शासन एक सुलतान के अधीन है। यह द्वीप भी बहुत समय तक अंग्रेजों का संरक्षित प्रदेश रह चुका है और अभी हाल ही में उसे स्वाधीनता प्राप्त हुई है।

जंजीबार के निवासी मुख्यतः अरब जाति के हैं। वैसे यहाँ अफ्रीकी लोगों के अलावा प्रवासी एशियाई लोगों की भी काफी आबादी बसी हुई है। यहाँ का प्रमुख नगर राजधानी जंजीबार है, जो एक महत्वपूर्ण बंदरगाह है। पहले यहाँ के अरब निवासी गुलामों का जघन्य व्यापार करते थे।

जंजीबार के निकट पेम्बा नामक एक द्वीप है। यहाँ से अफ्रीका के समुद्रतट तक पालवाली नावें चलती हैं, जिनसे अरब और भारत तक समुद्री व्यापार किया जाता है।

सोमालीलैंड—हिन्द महासागर में पसरे हुए अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वोत्तरीय शृंगाकार स्कंध पर अवस्थित इस राज्य के कृष्णकाय निवासी 'सोमाली' कहलाते हैं। ये सदियों से ऊँट-पालक खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं। अब यह राज्य स्वाधीन हो गया है। यहाँ की राजधानी जीबूती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: दक्षिण अफ्रीका :

दक्षिण अफ्रीका में 'दक्षिण अफ्रीकी संघ-राज्य' के अतिरिक्त अंगोला, दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, रोडेशिया, बेचुआनालैण्ड, मोजाम्बिक, स्वाजीलैण्ड, बसूतोलैण्ड, तथा मैडागास्कर द्वीप की गणना की जाती है। चूँकि यह क्षेत्र विषुवत् रेखा के दक्षिण में स्थित है, अतः यहाँ ग्रीष्मऋतु दिसम्बर में होती और जाड़ा जुलाई में पड़ता है। यहाँ की जलवायु की इसी विशेषता से आकृष्ट होकर पुर्तगाली, डच और अंग्रेजों ने इस प्रदेश में अपने उपनिवेश बसाये थे।

दक्षिण अफ्रीका के सभी देश ऊँची पठारी भूमि पर बसे हैं। यहाँ के पूर्वी समुद्र-तट के निकट ऊँचे-ऊँचे पहाड़ तथा पश्चिम की ओर सूखे मैदान और पठारों के ढाल है। इस देश में वर्षा कम होती है और नदियाँ भी गिनी-चुनी हैं, जो वर्षाकाल में बाढ़ से एकाएक उफन पड़ती तथा शेष समय सूखी पड़ी रहती हैं।

दक्षिण अफ्रीकी संघ-राज्य—इस राज्य का क्षेत्रफल ४७२,००० वर्गमील है और आबादी लगभग १।। करोड़ है, जिसका ८० प्रतिशत अंश बान्तू जाति के नीग्रो लोगों का है। यहाँ के श्वेत निवासियों में अंग्रेज तथा डच लोगों का बाहुल्य है। ये अपने को 'अफ्रीकनर' कहते हैं। इन लोगों ने 'अफ्रीकान्स' नामक एक विशिष्ट बोली भी विकसित की है, जिसका आधार डच भाषा है। इस बोली में बहुत-से अफ्रीकी शब्द भी शामिल हैं। इन लोगों के अतिरिक्त, यहाँ १० लाख मिश्रित जाति के तथा ५ लाख प्रवासी एशियाई भी रहते हैं। इनमें भारतीयों की संख्या सब से अधिक है।

दक्षिण अफ्रीका के केप और नेटाल प्रान्त प्राकृतिक सौंदर्य के लिए प्रख्यात हैं। यहाँ योरपीय लोगों ने अपनी आदि बस्तियाँ इसीलिए बसाई थीं। यहाँ १४८२ ई० में पहले-पहल पुर्तगाली लोग आए। बाद में 'केप ऑफ गुड होप' पर अंगरेजों का कब्जा हो गया। इस प्रदेश में गेहूँ काफी पैदा होता है। नेटाल में केला, अनन्नास तथा गन्ना भी बहुतायत से पैदा होता है।

'दक्षिण अफ्रीकी संघ' के केप और नेटाल प्रान्तों में अंगरेजों का तथा ट्रांसवाल और ऑरेंज फ्री स्टेट में अफ्रीकनरों का प्रभुत्व है। परन्तु सम्पूर्ण 'दक्षिण अफ्रीकी संघ' पर वैसे अफ्रीकनरों की ही सत्ता ह। नेटाल की राजधानी पीटरमारित्सबर्ग में स्थापित है, लेकिन यहाँ का प्रमुख नगर और बन्दरगाह डरबन है। इस नगर में भारतीय नस्ल के लोग काफी संख्या में रहते हैं।

ट्रांसवाल और ऑरेंज फ्री स्टेट में अफ्रीकनर लोगों ने बड़े-बड़े कृषि-फार्मों की स्थापना की ह। उनके अधीन यहाँ कई बड़े-बड़े चरागाह भी हैं, जिनमें लाखों भेड़ें पाली जाती हैं। ट्रांसवाल में कपास, तंबाकू, मटर तथा नारंगी आदि फल बहुतायत से होते हैं। खनिज संपदा की दृष्टि से यह प्रदेश बहुत अधिक सम्पन्न है। यहाँ सोना, कोयला, हीरा, असबेस्टस, प्लेटिनम, क्रोमियम और ताँबा आदि सब-कुछ मिलता है। पश्चिमोत्तर क्षेत्र में लोहे का मूल्यवान् भांडार है। हीरे दक्षिण अफ्रीका की ऑरेंज नदी के पास तथा केप प्रान्त के किम्बरले नामक स्थान पर मिलते हैं। किम्बरले की खान को 'बड़ा गड्ढा' (बिग होल) कहा जाता है। यह गड्ढा पौन मील चौड़ा और एक-तिहाई मील गहरा है ! इस खान से अब तक करोड़ों रुपयों के मूल्य के हीरे निकाले जा चुके हैं। ट्रांसवाल की राजधानी प्रेटोरिया है। दक्षिण अफ्रीकी संघ-राज्य के सरकारी कार्यालय यहीं पर स्थित हैं। परन्तु यहाँ का मुख्य नगर वस्तुतः जोहन्सबर्ग है, जहाँ संसारप्रसिद्ध सुवर्ण की खानें हैं। ट्रांसवाल का 'क्रोगर राष्ट्रीय उद्यान' एक संसारप्रसिद्ध दर्शनीय स्थल है। इस संरक्षित वन्य प्रदेश में कई सौ वर्गमील के क्षेत्र में सिंह, जिराफ, जेबरा, हिप्पोपोटेमस, जंगली भैंसा आदि वन्य पशुओं को शिकारियों से सर्वथा निर्भय होकर अपनी प्राकृतिक दशा में रहने दिया जाता है। इन्हें देखने को यात्री दूर-दूर से आते हैं।

दक्षिण अफ्रीका के नीग्रो अपना जातीय आचार-व्यवहार अपनाए हुए हैं। उधर यहाँ के श्वेत निवासी योरपीय ढंग से रहते हैं। इस क्षेत्र के गोरे उपनिवेशवादियों ने रंगभेद की जघन्य नीति अपनाकर यहाँ के मूल कृष्णकाय निवासियों का निरन्तर दमन किया है। इस रंगभेद-नीति की संसार भर में लगातार भर्त्सना की जा रही है, फिर भी दक्षिण अफ्रीका की सरकार नीग्रो और अन्य अश्वेत लोगों को गोरों के निकट नहीं बसने देती और उन्हें पृथक् स्थानों पर रहने को मजबूर कर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रही है। इस रंगभेद-नीति की कुटिलता यहाँ के सामाजिक, व्या-पार, शिक्षा, नौकरी आदि सभी क्षेत्रों में स्पष्ट दिखाई देती है।

इस क्षेत्र का सब से बड़ा नगर जोहन्सबर्ग है, जो दक्षिण अफ्रीका का सब से बड़ा शहर है। यहाँ १० लाख आदमी निवास करते हैं। इनमें आधे श्वेत और आधे नीग्रो हैं। नीग्रो खानों में मजदूरी करते हैं अथवा घरेलू नौकरों का काम करते हैं। दूसरा महत्वपूर्ण नगर केप-टाउन है, जिसकी आबादी लगभग ७ लाख है। यह नगर अफ्रीका महाद्वीप के धुर दक्षिणी नोक पर बसा है।

मोजाम्बिक—मोजाम्बिक का क्षेत्रफल २९७,७३० वर्ग-मील और आबादी ६४॥ लाख है। यहाँ कपास और नारियल बहुतायत से होता है। यहाँ की राजधानी ल्युरेन्को मार्केस है, जो एक बंदरगाह भी है। इस देश पर पुर्तगाल का अधिकार है। यहाँ के मूल निवासी बान्तू जाति के नीग्रो हैं। इन दिनों यहाँ तेजी से स्वातंत्र्य-आन्दोलन चल रहा है।

मैडागास्कर—अफ्रीका के पूर्वी समुद्र-तट से २५० मील दूर हिन्द महासागर में स्थित मैडागास्कर ग्रीनलैंड के बाद संसार का सब से बड़ा द्वीप है। यहाँ की मिट्टी लाल है, अतः इसे 'लाल द्वीप' भी कहते हैं। शताब्दियों पूर्व दक्षिण-पूर्वी एशिया के निवासी इस द्वीप में आए थे। बाद में यहाँ अफ्रीका से नीग्रो लोग आए। इन लोगों के मिश्रण से मैडागास्कर के निवासियों की एक अलग जाति बन गई। यहाँ वैसी ही भाषा बोली जाती है, जैसी प्रशान्त महासागर के द्वीपों के निवासी बोलते हैं। मैडागास्कर 'मैलागासी गणतंत्र' कहलाता है। इसकी राजधानी तेनानारिवे है, जो द्वीप के बीच के पठार पर स्थित है। यहाँ का मुख्य बन्दरगाह तामातावे है।

दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका—यह प्रदेश पहले जर्मनी के अधीन था। प्रथम महायुद्ध के बाद इसे 'दक्षिण अफ्रीका संघ' के संरक्षण में सिपुर्द कर दिया गया। इसका क्षेत्रफल ३१७,-७२५ वर्गमील और आबादी ६ लाख है। इस देश पर दक्षिण अफ्रीकी संघ का अधिकार होने से यहाँ भी श्वेत और अश्वेतों का संघर्ष विद्यमान है। यहाँ के ४० प्रतिशत निवासी जर्मनवासियों की संतानें हैं, पर इनकी भाषा अफ्रीकान्स है।

रोडेशिया—रोडेशिया के दो भाग हैं, जो उत्तर और दक्षिण रोडेशिया कहलाते हैं। ये दोनों क्षेत्र एक संघ के रूप में संघटित हैं। दक्षिण रोडेशिया के पठारों के चरागाहों में पशुपालन किया जाता है। यहाँ खट्टे रसवाले फल, मक्का और तम्बाकू की अच्छी पैदावार होती है। जंगलों में सागौन की अच्छी इमारती लकड़ी पाई जाती है। वांकी नामक स्थान में कोयले की एक कीमती खान है। उसके निकट के क्षेत्र का तेजी से औद्योगीकरण हो रहा है। यहाँ की राजधानी सेलिस-बरी है और बुलावायो यहाँ का मुख्य व्यापार-केन्द्र है। इस नगर में सूती कपड़े की कई मिलें और मशीनें तैयार करनेवाला एक कारखाना स्थापित हैं। उत्तर रोडेशिया में ताँबे की खाने हैं। रोडेशिया की प्रमुख नदी जम्बेजी है, जो लीविंगस्टोन नगर के निकट विक्टोरिया प्रपात के रूप में ३०० फीट नीचे गिरती है। दक्षिण रोडेशिया में एक बड़ा बाँध बनाया गया है, जिससे सिंचाई की व्यवस्था की जाती है।

यह प्रदेश पहले ब्रिटिश उपनिवेश था, अतः यहाँ के श्वेत लोगों का अब भी सरकार पर गहरा प्रभाव है। पर दक्षिण अफ्रीका के गोरे उपनिवेशवादियों ने यहाँ के तीन क्षेत्रों को एकमात्र यहाँ के मूल कृष्णकाय वासियों अफ्रीकी नीग्रो लोगों के रहने के लिए सुरक्षित घोषित करके पृथक् कर रक्खा है। ये क्षेत्र 'बसूतोलैंड', 'बेचुआनालैंड' और 'स्वाजीलैंड' कहलाते हैं।

बसूतोलैण्ड—इसमें बसूतो लोग बसते हैं। ये अत्यन्त गरीबी से रहते हैं, लेकिन हैं बड़े स्वतंत्रताप्रेमी। ये अपने पुराने रीति-रिवाजों को अब भी चला रहे हैं। इस प्रदेश के उत्तर क्षेत्र में कारू नामक पहाड़ी इलाका है, जिसमें पेड़-पौधे तक नहीं होते। यहाँ केवल छोटी-छोटी झाड़ियाँ होती हैं। इस क्षेत्र में भेड़ और बकरियाँ ही पाली जा सकती हैं। बसूतो लगातार अपना स्वातंत्र्य-आन्दोलन चला रहे हैं।

बेचुआनालैंड—यह प्रदेश दक्षिण रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका संघ के बीच में है। यह भी केवल अफ्रीकी लोगों के रहने के लिए सुरक्षित है। अब यह एक स्वतंत्र राज्य है। इसमें ३० लाख बान्तू जाति के नीग्रो निवास करते हैं। ये लोग ज्यादातर छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं। इनके घर गोल झोपड़ों की तरह के होते हैं, जिनकी दीवारें मिट्टी की होती हैं। ये अधिकतर पशुपालन और खेती का काम करते हैं। नौजवान लोग काम करने के लिए खानों में भी चले जाते हैं।

स्वाजीलैंड—स्वाजीलैंड भी अफ्रीकी कृष्णकाय लोगों का एक संरक्षित प्रदेश है। यहाँ के अफ्रीकी बहुत पुराने तरीके से जीवन व्यतीत करते हैं। इनके जीविकोपार्जन के प्रमुख साधन पशुपालन, शिकार और खेती हैं।

अंगोला—यह प्रदेश पुर्तगाल के अधिकार में है। इसका क्षेत्रफल ४८१,००० वर्गमील और आबादी ४० लाख है। यहाँ के निवासी खेती के अलावा पशुपालन का काम भी करते हैं। यहाँ की खेती की मुख्य उपज मटर, धान और मक्का है। पुर्तगाली शोषण यहाँ बर्बरता की चरम सीमा तक पहुँच चुका है। फलतः यहाँ के नीग्रो अपने देश की स्वतंत्रता के लिए निरंतर संघर्ष कर रहे हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसार के देश और उनके निवासी—(३) योरप

एशिया और अफ्रीका की सैर करने के उपरान्त यह स्वाभाविक ही है कि हमारे कदम 'पुरानी दुनिया' के उस महत्वपूर्ण भूखंड की ओर बढ़ें, जो उपर्युक्त दोनों महाद्वीपों का निकट पड़ौसी है; साथ ही तथाकथित 'पाश्चात्य सभ्यता' का मूल जन्मस्थान एवं प्रमुख केन्द्र होने के नाते आज के इस वैज्ञानिक युग में जिसका अति महत्वपूर्ण स्थान बन गया है।

योरप अपेक्षाकृत एक छोटा महाद्वीप है। यह वस्तुतः विशाल एशिया भूखंड के ही विस्तार जैसा है। इसीलिए भूगोल के पंडित योरप और एशिया को मिलाकर एक साथ 'यूरेशिया' के नाम से पुकारते हैं। योरप की पूर्वीय सीमा यूराल पर्वतमाला है और दक्षिण में काला सागर एवं भूमध्य सागर उसकी सीमा निर्धारित करते हैं। इस भूखंड के पश्चिम में अटलांटिक महासागर और उत्तर में आर्कटिक महासागर है।

इस महाद्वीप का क्षेत्रफल ३६,७०,००० वर्गमील और आबादी ५६ करोड़ के करीब है। यहाँ के कुछ क्षेत्रों की प्रति वर्गमील आबादी संसार के सभी भूभागों से अधिक है।

आकार में छोटा होते हुए भी इतिहास में योरप का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कारण, तथाकथित 'पश्चिमी सभ्यता' का जन्मस्थल यही भूखंड है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलेंड आदि प्रदेशों में पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार योरप से ही फैलकर हुआ है।

अपने आकार के अनुपात के लिहाज से योरप को काफी लंबा समुद्रतट मिला है। इसका कारण यह है कि इसके अनेक जलभाग चारों ओर स्थल से घिरे हैं। भूमध्य सागर, एड्रियाटिक सागर, एजियन सागर, काला सागर, उत्तरी सागर और बाल्टिक सागर ऐसे ही जलखंड हैं। इस परिस्थिति का योरप के निवासियों के रहन-सहन पर विशेष प्रभाव पड़ा है। ये लोग अपने भोजन का बहुत बड़ा अंश समुद्र ही से प्राप्त करते हैं। साथ ही समुद्र की विशेष देन ही की बदौलत यह महाद्वीप समुद्री व्यापार का मुखिया बन पाया है।

योरप का बहुतेरा भाग पर्वतीय है। उदाहरणार्थ, उत्तरी योरप के स्कॉटलैंड, वेल्स, स्वीडन, फिनलैंड, नार्वे और आइसलैंड जैसे क्षेत्र लगभग पूरे के पूरे पहाड़ी हैं। दक्षिणी योरप में भी आल्प्स, पिरेनीज, एपेनाइन्स और कारपेथियन्स आदि अनेक बड़ी पर्वतमालाएँ फैली हैं। उधर बाल्कन प्रदेश के युगोस्लाविया, अल्बानिया, बलगारिया और यूनान आदि देशों में भी काफी पहाड़ हैं। स्पेन, इटली और बाल्कन प्रदेश पहाड़ों के कारण ही एक दूसरे से अलग हो पाए हैं। योरप में विविध राष्ट्रों का विकास इसी प्रकार के अलगाव से सम्भव हो सका है।

मध्य योरप का अधिकांश इलाका मैदानी है। यह विस्तृत मैदान ठीक अटलांटिक महासागर के तट से आरंभ होकर फ्रान्स, बेल्जियम, हॉलैंड, उत्तरी जर्मनी, पोलैंड और सोवियत रूस में से गुजरता हुआ ठेठ यूराल पर्वत तक चला गया है।

योरप की सब से लम्बी नदी डैन्यूब है, जो जर्मनी के दक्षिण-पश्चिमी भाग से निकलकर ऑस्ट्रिया, हंगरी, युगोस्लाविया और रूमानिया में से गुजरती हुई अंत में काले सागर में जा गिरती है। इस महाद्वीप की दूसरी उल्लेखनीय नदी राइन है, जो पश्चिमी जर्मनी से उत्तर की ओर बहती हुई, नीदरलैंड्स में से गुजरती और आखिर उत्तरी सागर में जा गिरती है। उधर सोवियत रूस में वोलगा और नीपर नामक महान् जलधाराएँ बहती हैं। ये काले सागर में गिरती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन काल में योरप में सभ्यता का प्रमुख केन्द्र यूनान एवं भूमध्य सागर के द्वीपों में स्थापित था। तत्संबंधी विशेष विवरण इस ग्रंथ के अन्य एक विभाग में आप पा ही चुके हैं। यूनान के बाद रोम का उदय हुआ और योरप के अधिकांश भूभाग पर उसका साम्राज्य स्थापित हो गया। यह साम्राज्य स्कॉटलैंड से लेकर ठेठ काले सागर तक फैला हुआ था। रोमन सेनाएँ सदियों तक पूर्व और उत्तर की ओर की बर्बर आक्रमण-कारी जातियों से दक्षिणी और मध्य योरप की रक्षा करती रहीं। अंत में जब रोमन शक्ति का अवसान हो गया, तो उत्तरी जातियाँ दक्षिण की ओर फैलने लगीं, जिसके फलस्वरूप धीरे-धीरे ये नए लोग यहाँ के बाशिन्दों के साथ घुल-मिल गए। इस बीच रहन-सहन की सुख-सुविधा से आकृष्ट होकर एशिया की भी कई एक जातियाँ आकर योरप में बस गईं। इस प्रकार इस भूखंड में अनेकों जातियों, भाषाओं और राष्ट्रों का एक मेला-सा लग गया।

पूर्व से आनेवाले आक्रमणकारियों के पास अपनी सुविक-सित सभ्यता के साथ-साथ शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्र भी थे। इन आक्रमणकारियों के निरंतर दबाव के कारण योरप की अनेक प्राचीन जातियों को पश्चिम की ओर बढ़ने को मजबूर होना पड़ा। इस प्रकार स्थानान्तर करनेवालों में केल्ट जाति के लोग प्रमुख थे। इनके वंशज आजकल ब्रिटैनी तथा आयलैंड, वेल्स और स्कॉटलैंड में मिलते हैं। आइरिश सागर के मैनद्वीप के निवासी शुद्ध केल्ट जाति के हैं। इसी प्रकार इंगलैण्ड के कार्न-वाल क्षेत्र के असली बाशिन्दे भी इसी जाति-समुदाय के हैं। केल्ट जाति की उपजातियों की अपनी-अपनी विशिष्ट बोलियाँ थीं, जिनमें से अनेक का अब लोप हो चुका है।

रोमन साम्राज्य के वैभव के दिनों में दक्षिणी और पश्चिमी योरप में कई एक रोमन उपनिवेश स्थापित हुए थे। वहाँ बस जानेवाले रोमन लोगों का रक्त आज के फ्रांसीसी, स्पेनिश, पुर्तगाली, इटैलियन और रूमानियन लोगों की नसों में मौजूद है। इन सभी जातियों की भाषाओं का विकास लैटिन के आधार पर हुआ था।

उधर जिन बर्बर जातियों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण किया था, वे सब जर्मन नस्ल की थीं। उनके वंशज अंगरेज, डच, जर्मन और स्कैन्डीनेवियन लोग हैं।

जर्मन जातियों के बाद पूर्वी योरप पर स्लाव भाषा-भाषी एशियाई जातियों का आक्रमण हुआ। ये जातियाँ भी घुल-मिलकर आखिर यहीं बस गईं। इनका रक्त रूसी, पोलिश, चैकोस्लोवेकियन, स्लाव, सर्ब, क्रोट, स्लोवेनीज और बलगे-रियन जातियों में विद्यमान है।

इस प्रकार वर्तमान योरप में अधिकांशतः लैटिन, जर्मन और स्लाव इन तीन प्रकार की भाषा-संस्कृतियों के लोग मिलते हैं। इनके अतिरिक्त फिन और हंगेरियन लोगों जैसे कुछ अन्य छोटे समूह भी हैं। फिन लोगों की संस्कृति बहुत-कुछ स्कैन्डी-नेवियन जातियों के समान है, फिर भी उनकी भाषा निराली है। हंगेरियन जाति के लोग हंगेरी के अतिरिक्त युगोस्लाविया और रूमानिया में भी पाये जाते हैं। उधर योरप के दक्षिणी-पूर्वी कोने में यूनान तथा आसपास के द्वीपों में प्राचीन ग्रीक लोगों के वंशज हैं तथा उन्हीं के पड़ौस में इस्तंबुल के आसपास तुर्की जाति के लोग पाये जाते हैं। इन सभी की अपनी-अपनी भाषा और संस्कृति है।

अधिकांश योरपवासी गौरवर्ण के है। उत्तरी योरप के निवासी लम्बे कद के होते हैं और उनकी आँखें नीली तथा बाल हल्के भूरे रंग के होते हैं। दक्षिणी योरप में रहनेवालों का कद अपेक्षाकृत ठिगना तथा आँखें और बाल काले रंग के होते हैं।

विगत अनेक शताब्दियों में जो जातियाँ आकर योरप में बसीं वे शनैः-शनैः एक दूसरे में घुल-मिल गईं और उनमें विवाहादि सम्बन्ध हुए। फलतः आज यूनानी, रोमन, केल्ट, जर्मन और स्लाव जाति विविध जातियों का रक्त समस्त योरप में कमोबेश फैल चुका है, जिससे पूरे महाद्वीप के निवासियों में एक विशेष प्रकार की एकता का भाव पैदा हो गया है। इस एकता की संस्थापना में ईसाई धर्म का भी गहरा हाथ रहा है।

: नार्वे :

योरप का धुर उत्तरी क्षेत्र स्कैन्डीनेविया के नाम से अभिहित किया जाता है। इस क्षेत्र के अंतर्गत नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क नामक तीन देश शामिल किए जाते हैं। इस भूभाग के सम्बन्ध में यह लोक-कथा प्रसिद्ध है कि ईश्वर ने सात दिनों में जिस समय सृष्टि-रचना पूरी की, उस समय उक्त रचना को देखने के लिए शैतान आया। जब उसने पृथ्वी को देखा, तो उसे बेतरह क्रोध आ गया और उसने उस पर एक बड़ी चट्टान लुढ़का दी, जो उत्तरी सागर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में जाकर गिरी। वही चट्टान स्कैंडीनेवियन पठार के रूप में आज हमारे समक्ष विद्यमान है! यह चट्टान ऐसी नहीं थी कि उस पर कोई जीव रहता अथवा पेड़-पौधे उग सकते। फलतः बड़े महाद्वीपों को बनाने के बाद ईश्वर के पास जो मिट्टी बची रह गई, उसे उसने इस चट्टान पर छिड़क दिया। पर ईश्वर के पास इतनी मिट्टी नहीं थी कि पूरी चट्टान उससे ढक पाती। यही कारण है कि इस पठार पर बहुत थोड़ी उर्वर भूमि पाई जाती है। आज का मनुष्य इस प्रकार की लोक-कथाओं में विश्वास नहीं करता। उसे तो भूतत्त्ववेत्ताओं का यह कथन ही कहीं अधिक जँच पाता है कि स्कैन्डीनेवियन पठार उस प्राचीन प्रागैतिहासिक भूखंड का एक अंश है, जो कभी योरप से अमेरिका तक आर्कटिक महासागर के क्षेत्र में फैला हुआ था।

आज के दिन स्कैंडीनेविया के अन्तर्गत नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क नामक तीन स्वतंत्र राष्ट्रों का अस्तित्व है। यद्यपि उनका इतिहास भिन्न रूप में विकसित हुआ है, फिर भी उनमें मौलिक एकता है और उनकी भाषाएँ परस्पर मिलती-जुलती हैं। इन तीनों देशों का आज के संसार के तटस्थ देशों में महत्वपूर्ण स्थान है। आइए, नार्वे से आरंभ करके क्रमशः इन तीनों ही देशों की संक्षेप में जानकारी प्राप्त करें।

नार्वे उत्तरी योरप का एक अनूठा प्राकृतिक सौंदर्यस्थल है। यहाँ के समुद्रतट के गहरे कटाव (फ्योर्ड), ऊँचे जलप्रपात, बर्फ की चादरें एवं मध्य रात्रि का सूर्य संसार भर के यात्रियों को आकृष्ट करते हैं। इस देश का क्षेत्रफल १,२५,१८१ वर्गमील और आबादी लगभग ३६ लाख है। यहाँ की राजधानी ओस्लो है।

प्राकृतिक दशा—अटलांटिक महासागर के सुप्रसिद्ध तप्त स्रोत 'गल्फ स्ट्रीम' के कारण नार्वे का पश्चिमी समुद्रतट हिम से बचा रहकर शीतकाल में भी नौकाओं के लिए खुला रहता है। नार्वे की अधिकांश भूमि पहाड़ी है। यहाँ की पर्वतमालाएँ उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर देश की पूरी लम्बाई में फैली हुई हैं। इन पहाड़ों की चौड़ाई दक्षिण में अधिक हो गई है और उनका रूप पठार का-सा हो गया है। इस क्षेत्र में वर्ष के आठ महीने बर्फ जमी रहती है। उत्तर-पूर्व और दक्षिण में कई पतली उर्वर घाटियाँ हैं। इन घाटियों के ढालों के पेड़

नार्वे की राजधानी ओस्लो का विहंगम दृश्य :: चित्र के मध्य में बंदरगाह के सिरे पर यहाँ के सुप्रसिद्ध टाउनहॉल की भव्य इमारत दिखाई दे रही है। [फोटो—भारतस्थित 'नार्वेजियन दूतावास' के सौजन्य से]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नार्वे के लोग बड़े आमोदप्रिय हैं। वे अपने अवकाश का अधिकांश समय सौन्दर्यस्थलों में विहार एवं नाच-गान में व्यतीत करते हैं। प्रस्तुत चित्र में अपनी पुरातन राष्ट्रीय वेशभूषा में उनके एक लोकनृत्य की झाँकी दिग्दर्शित है। [फोटो—भारत-स्थित 'नार्वेजियन दूतावास' के सौजन्य से।]

काटकर लकड़ी नदियों में बहा दी जाती है। यह लकड़ी यहाँ के कागज के कारखानों तक पहुँचाई जाती है। पश्चिमी समुद्रतट के निकट द्वीपों की एक लम्बी श्रृंखला है। इन द्वीपों में नार्वेवासी प्रायः अपने अवकाश का समय बिताने जाते हैं।

नार्वे का उत्तरी भाग आर्कटिक क्षेत्र की परिधि में आ जाता है। फलतः वहाँ मध्यरात्रि में भी सूर्य के दर्शन होते हैं। ग्रीष्म के दो महीने भर इस क्षेत्र में सूर्य नहीं डूबता और शीतकाल में दो महीने तक वह उदय नहीं होता। नार्वे के नार्डलैण्ड प्रदेश में ऐसा प्रतीत होता है, मानो पर्वत समुद्र में धँसता चला गया है। यहाँ पर समुद्र से ऊपर उठी हुई पर्वत-चोटियाँ ही द्वीप बन गई हैं। उत्तरी भाग के ट्रोम्स और फिनयार्क प्रदेश में हमेशा बर्फ जमी रहती है। यहाँ पर नार्वे का सीमान्त रूसी प्रदेश से जा मिलता है।

इतिहास—कहा जाता है कि नार्वे में मानव जाति करीब दस हजार वर्ष से निवास कर रही है। यहाँ की पूर्वी घाटियों में नार्डिक जाति के लोग हिमयुग के बाद से ही आकर बस गए थे। ऐतिहासिक दृष्टि से नार्वे में एक सार्वभौम राज्य की स्थापना नवीं शताब्दी ईस्वी में हुई। उसके पहले वहाँ छोटे-छोटे राजा और सामन्त राज्य करते थे। उस समय राजाओं को बनाने और उन्हें हटाने में देश की जन-पंचायतों का पूरा हाथ रहता था। नार्वे की यह परम्परा आधुनिक काल तक चली आई है।

नार्वे के प्राचीन निवासी लोहा गला लेते थे और बढ़िया किस्म के शस्त्रास्त्र, औजार और आभूषण आदि बनाते थे। ये लोग 'वाईकिंग' कहलाते थे और अपनी सुदृढ़ नौकाओं पर अटलांटिक महासागर के तूफानों का सामना करते हुए दूर-दूर तक समुद्र-यात्रा करते थे। ये लोग योरप के देशों पर आक्रमण करके उन्हें लूटा भी करते थे। समुद्री मार्ग से जानेवाले जहाजों को भी ये लोग निर्दयतापूर्वक लूट लेते थे।

इन वाइकिंग लोगों ने इंगलैण्ड, उत्तरी फ्रांस, स्कॉटलैण्ड, आइसलैण्ड और ग्रीनलैण्ड तक अपनी बस्तियाँ आबाद की थीं—यहाँ तक कि १००० ई० के लगभग (कोलंबस से चार सौ वर्ष पूर्व) वे अमेरिका के तट पर भी जा उतरे थे! नवीं शताब्दी के अन्त में हेराल्ड नामक एक नरेश ने, जिसका राज्य ओस्लो के निकटवर्ती क्षेत्र में था, छोटे-छोटे राजाओं और सामन्तों को पराजित करके नार्वे में सब से पहले एक सार्वभौम संयुक्त राज्य की स्थापना की थी। इसके बाद नार्वे पर डेनमार्क के नरेशों का प्रभाव बढ़ गया था, जिसके साथ ही वहाँ की जनता में ईसाई धर्म का प्रचार भी बढ़ने लगा था।

मध्य युग में स्वीडन और डेनमार्क के नरेशों ने नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क को एक शासन-सूत्र में बाँधने के अनेकों प्रयास किए, जिनके फलस्वरूप इस देश को लम्बे अरसे तक स्वीडन अथवा डेनमार्क की प्रभुता में ही रहना पड़ा।

उन्नीसवीं शताब्दी में नार्वेवासियों की राष्ट्रीय विधान-सभा द्वारा एक नया संविधान स्वीकार करके, देश में राजतंत्र को कायम रखते हुए, कानून बनाने और कर लगाने का अधि-

कार संसद को प्रदान किया गया। इस नवनिर्मित संसद (स्टाटिंग) ने स्वीडन के राजा कार्ल तेरहवें को नार्वे का नरेश निर्वाचित किया। इस प्रकार नार्वे और स्वीडन दोनों एक ही झंडे के नीचे आ गए। इन दोनों देशों की यह एकता १९०५ ई० तक कायम रही। तब परस्पर मतभेद के कारण उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और नार्वे की संसद ने डेनमार्क के राजकुमार कार्ल को अपना राजमुकुट पहनाकर हॉकन सप्तम के नाम से उसका अभिषेक किया। उस समय से नार्वे एक स्वाधीन स्वतंत्र राष्ट्र की भाँति विकास कर रहा है।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—नार्वे के लोग नार्डिक जाति के हैं। वे लम्बे, हट्टे-कट्टे और गौर वर्ण के होते हैं। इनके सिर गोल और केश भूरे होते हैं। ये स्वभाव से ही प्रजातांत्रिक प्रवृत्ति के लोग हैं। नार्वे में किसी को भी कोई पदवी नहीं दी जाती। सभी नागरिक, चाहे वे पुरुष हों अथवा स्त्री, यहाँ समान माने जाते हैं। शिक्षा और सामाजिक सुधार की दृष्टि से भी नार्वे योरप के अन्य कई देशों की अपेक्षा बहुत उन्नत है। यहाँ का जीवनस्तर संसार में सब से ऊँचा माना जाता है।

यद्यपि नार्वे में करभार बहुत अधिक है, लेकिन वहाँ गरीबी नहीं है। सरकार की ओर से सामाजिक सुरक्षा के अनेकों कार्यक्रम चलाए जाते हैं। यहाँ के निवासी बड़े मेहनती हैं। वे कृषि, उद्योग, मछली पकड़ने तथा व्यापार आदि से पर्याप्त धनोपार्जन करते हैं। नार्वेजियन भाषा डेनिश और स्वीडिश से मिलती-जुलती ट्यूटानिक समूह की बोली है। नार्वे के उत्तर में आदिम वर्ग के २० हजार लाप्स रहते हैं। इन लोगों के बारे में पिछले एक खंड में विशेष हाल आप पढ़ ही चुके हैं।

नार्वेवासियों के व्यवहार में बड़ी सादगी रहती है, लेकिन वे जन्मजात सौन्दर्योपासक हैं, जिससे उनका जीवन सरस बना रहता है। वे अपने अवकाश का समय देश के विविध सौन्दर्य-स्थलों के सैर-सपाटे में व्यतीत करते हैं। नौका-विहार, स्केटिंग, लोक-नृत्य आदि में उनकी विशेष दिलचस्पी रहा करती है। मछली पकड़ना, लकड़ी एवं कागज का उद्योग और जहाजरानी यहाँ के प्रमुख व्यवसाय हैं। नार्वे में जल की शक्ति से 'हाइड्रो-इलेक्ट्रिक' बिजली पैदा करने में विशेष प्रगति हुई है।

नगर—नार्वे का सब से बड़ा नगर उसकी राजधानी ओस्लो है, जिसकी जनसंख्या ४॥। लाख है। यह नगर एक अच्छा बन्दरगाह भी है। यहाँ के टाउनहॉल की इमारत आधुनिक योरपीय स्थापत्य-शैली का एक उत्कृष्ट नमूना माना जाता है। दूसरा उल्लेखनीय नगर बर्गेन है, जो पश्चिमी तट का प्रमुख बंदरगाह है।

: स्वीडन :

स्कैन्डीनेवियन देशों में स्वीडन सब से बड़ा देश है। इसका क्षेत्रफल १,७३,६२४ वर्गमील और आबादी ७४ लाख है। इसकी राजधानी स्टॉकहॉम है।

प्राकृतिक स्थिति—स्वीडन स्कैन्डीनेवियन प्रायद्वीप का पूर्वी भाग है। इसकी लम्बाई लगभग एक हजार मील है। इसकी सीमाएँ नार्वे और फिनलैण्ड के भूभाग से मिलती हैं। विस्तृत पहाड़ियों और घाटियों से भरपूर इस देश के दक्षिणी भाग में कुछ मैदानी हिस्सा भी है। स्वीडन की अधिकांश नदियाँ उत्तर-पश्चिम दिशा से दक्षिण-पूर्व की ओर बहती हैं। पहाड़ी भाग से मैदानी भाग में प्रवेश करते समय इन नदियों का स्वरूप प्रायः चौड़ी झील का-सा हो गया है। ये झीलें योरप की बड़ी झीलों में गिनी जाती हैं।

कहते हैं, हिम-युग में स्वीडन का पूरा प्रदेश बर्फ से ढका हुआ था। जब उक्त हिम की चादर हटी, तो यहाँ की धरती का तल समुद्र से ऊपर उठ आया। बोथनिया का क्षेत्र ऐसा ही है, जो समुद्र से ऊपर उठ आया है। इस क्षेत्र में एक सौ वर्षों में करीब दो-तीन फीट जमीन अभी भी ऊपर उठती रहती है।

अटलांटिक महासागर के प्रभाव के कारण स्वीडन उतना शीतल नहीं रहता, जितना उत्तरी ध्रुव के निकट होने के कारण उसे होना चाहिए। फिर भी नार्वे की अपेक्षा यहाँ शीत का प्रकोप अधिक होता है।

इस देश के अधिकांश क्षेत्र में जंगल फैले हैं। यही यहाँ का मुख्य धन है। खनिज संपदा की दृष्टि से भी स्वीडन पर्याप्त संपन्न है, यहाँ लोहा आदि अनेक धातुओं के भांडार विद्यमान हैं।

इतिहास—एक राष्ट्र के रूप में स्वीडन का विकास दसवीं शताब्दी ई० में ही हो गया था। उस समय इसका प्रभाव-क्षेत्र काले सागर तक विस्तृत था। १५२३ ई० में गुस्टावस वासा ने इस देश को डेनमार्क की पराधीनता से मुक्त किया। इसके पूर्व यहाँ डेनमार्क के किंग क्रिश्चियन का राज्य हो गया था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वीडन की राजधानी स्टॉकहॉम का दृश्य [फोटो—भारतस्थित 'स्वीडिश दूतावास' के सौजन्य से]।

१७वीं शताब्दी में इस देश का दूसरा प्रसिद्ध शासक गुस्टावस अडोल्फस हुआ। उसने रूस और पोलैण्ड को पराजित करके बाल्टिक सागर के पूर्वी तट तक अपने साम्राज्य का प्रसार किया। १६९७ ई० में चार्ल्स द्वादश स्वीडन की गद्दी पर बैठा। वह अपने देश का महानतम योद्धा माना जाता है, जिसकी वीरता की धाक संपूर्ण योरप में जमी हुई थी।

आजकल स्वीडन में एक वैधानिक राजतंत्र स्थापित है। यहाँ की संसद में दो सदन होते हैं।

जाति, रहन-सहन आदि—स्वीडन के निवासी ट्यूटन जाति के वंशज हैं। ये लोग लम्बे और गौरवर्ण होते हैं और इनकी आँखें नीली होती हैं। कुछ फिन जाति के लोग भी यहाँ बसते हैं। स्वीडन के उत्तर में लापलैण्ड में करीब ७ हजार लाप जाति के लोग भी निवास करते हैं।

स्वीडिश भाषा उत्तरी जर्मन भाषा-समूह की एक बोली है। लाप और फिन जाति के लोग अपनी-अपनी भाषाओं का प्रयोग करते हैं। यहाँ प्रोटेस्टेन्ट ईसाई सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव है। स्वीडन में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा है। यहाँ के उपसाला और लुंड विश्वविद्यालय क्रमशः १४७७ ई० और १६६८ ई० में स्थापित हुए थे। स्टॉकहॉम और गोटेबर्ग में भी विश्वविद्यालय हैं।

स्वीडन के निवासियों का जीवन-स्तर अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचा है। यहाँ के किसान कड़ी मेहनत करके अनाज, दूध, मक्खन और पनीर आदि तैयार करते हैं, जो दूसरे देशों को भेजे जाते हैं। यहाँ के लोग खेती-बाड़ी के अतिरिक्त जंगल काटने का काम भी करते हैं। स्वीडिश मल्लाह सील मछली का शिकार करने में बड़े कुशल होते हैं। मध्य स्वीडन और नारलैण्ड में लोहे की मूल्यवान् खानें हैं। कोयले के अभाव में यहाँ उद्योगों के विकास में कठिनाई रही है, परन्तु अब जल-विद्युत् उत्पन्न करके अनेक उद्योगों का विकास हुआ है।

स्वीडन में क्रिसमस का त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। वसन्त के आगमन को भी यहाँ के लोग बड़े उत्साह से मनाते हैं। तदनंतर मध्य ग्रीष्म में 'मे' के पर्व पर 'मे पोल' नामक एक खम्भा गाड़ा जाता है, जिसे झंडों आदि से सजाया जाता है। इस अवसर पर नृत्य आदि के समारोह होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

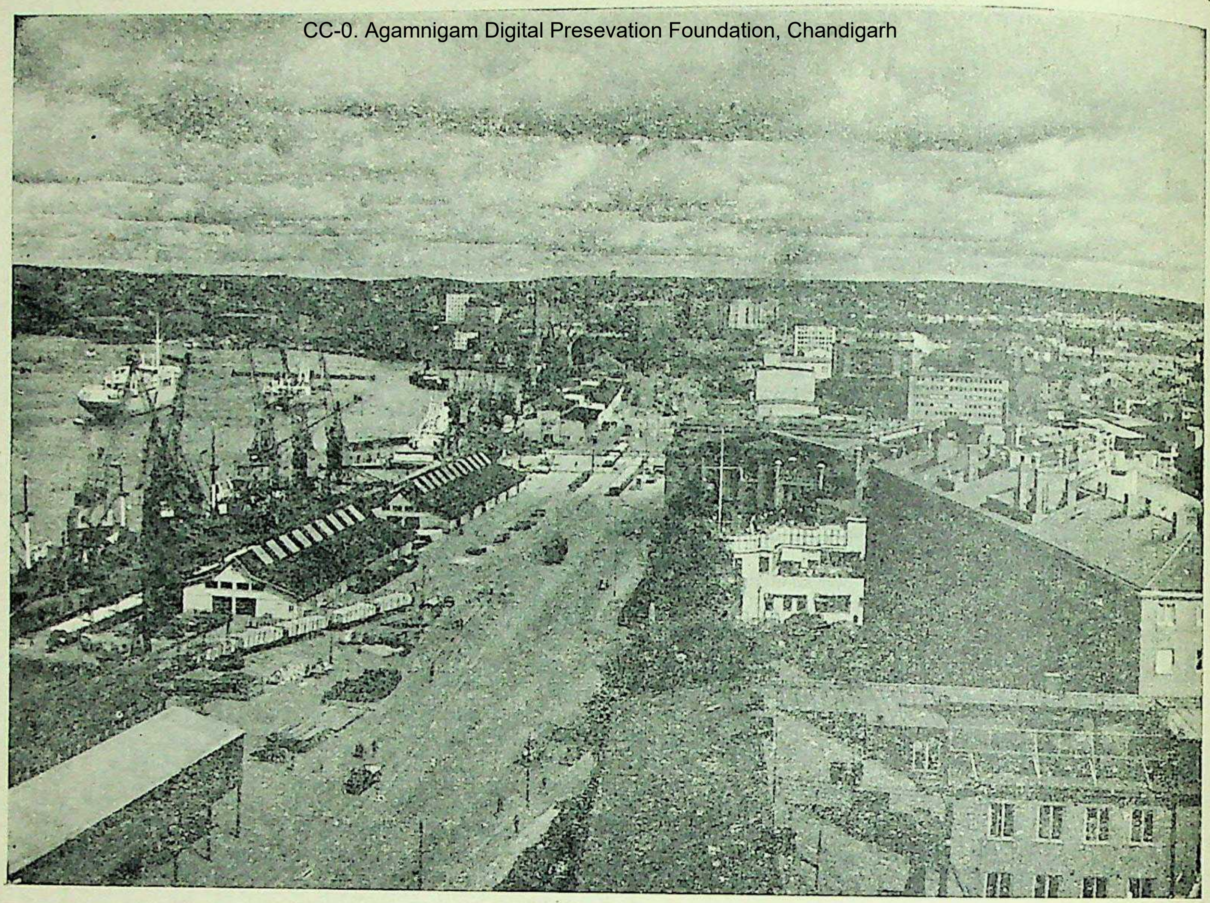

स्वीडन का प्रमुख बंदरगाह और उद्योग-केन्द्र गोटेबर्ग [फोटो—भारतस्थित 'स्वीडिश दूतावास' के सौजन्य से]।

नगर—स्वीडन का सब से बड़ा नगर स्टॉकहॉम है। यही यहाँ की राजधानी भी है। इस नगर की आबादी आठ लाख है। यह उत्तरी योरप का वेनिस कहलाता है। यहाँ के राजभवन, सिटीहॉल और संग्रहालय बड़े आकर्षक हैं। दूसरा उल्लेखनीय नगर गोटेबर्ग (आबादी चार लाख) है, जो इस देश का एक प्रमुख बंदरगाह तथा उद्योग-केन्द्र है।

: डेनमार्क :

स्कैन्डीनेवियन देशों में डेनमार्क सब से छोटा है। इसका क्षेत्रफल १६,५७४ वर्गमील और आबादी केवल ४४॥ लाख है। यहाँ की राजधानी कोपनहेगन (काबनहवन) है।

प्राकृतिक अवस्था—इस देश का सब से बड़ा भूभाग जटलैण्ड (अथवा जीललैण्ड) का प्रायद्वीप है, जिसके पश्चिम में उत्तरी सागर का प्रसार है। डेनमार्क में ५०० द्वीप शामिल हैं, जिनमें सब से बड़े द्वीप जीलैण्ड, फीएन, लोलैण्ड और फाल्स्टर द्वीप हैं। यहाँ के अधिकांश द्वीप बाल्टिक सागर के प्रवेश-मार्ग में हैं। इनमें तीन जल-मार्ग हैं, जिनमें 'ग्रेट बेल्ट' सब से चौड़ा है और 'लिटिल बेल्ट' सब से सँकड़ा। डेनमार्क में ऊँचे पहाड़ों का सर्वथा अभाव है। यहाँ की सब से ऊँची पहाड़ी ६०० फीट ऊँची है ! यहाँ की जलवायु इंगलैण्ड से मिलती-जुलती है। जनवरी में यहाँ कभी-कभी पानी जम जाता है।

इतिहास—डेनमार्क के इतिहास का उल्लेख रोमन लेखक टेसीटस ने किया है। करीब १२० वर्ष ईस्वी पूर्व यहाँ बसनेवाले ट्यूटन जाति के लोग उत्तर से दक्षिण योरप की ओर बढ़े थे। इन लोगों ने रोम की सेनाओं का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुकाबला किया था, यद्यपि अन्त में रोमन सेनाओं ने दक्षिण फ्रांस और उत्तर इटली से इन लोगों का सफाया कर दिया था। पाँचवीं शताब्दी ई० में यहाँ के जट् और आंग्ल जाति के लोगों ने ब्रिटेन पर भी आक्रमण किया था। दसवीं शताब्दी ई० में डेनमार्क का गोर्म नामक एक शासक हुआ, जिसका लिखित विवरण उपलब्ध है। इसी के शासनकाल में यहाँ के निवासियों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया। डेनमार्क का राजवंश योरप का सब से पुराना राजवंश है। इसका पिछले एक हजार वर्ष का शृंखलाबद्ध इतिहास मिलता है। आज के दिन यहाँ एक संवैधानिक राजतंत्र स्थापित है। यहाँ के लोकप्रिय नरेश अत्यंत सादगी से जीवन बिताते हैं।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—स्कैन्डीनेवियन जाति के अन्य लोगों की भाँति डेन लोग भी नार्डिक - ट्यूटानिक जाति के हैं। डेनिश भाषा एक समृद्ध भाषा है। इस भाषा का अंग्रेजी, जर्मन और अन्य स्कैन्डीनेवियन भाषाओं से निकट का संबंध है। डेनमार्क एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की कृषि बहुत उन्नत दशा में है। कृषि के अलावा यहाँ का प्रमुख व्यवसाय पशु-पालन है। यहाँ की दूध की डेरियाँ संसारप्रसिद्ध हैं। यहाँ की गौएँ संसार में सब से अधिक दूध देती हैं। मांस के लिए सुअर-पालन का भी प्रचलन यहाँ है। मुर्गी और मुर्गी के अंडों का भी काफी व्यापार यहाँ होता है। पहले यहाँ घोड़ों को पालने का भी उद्योग खूब बढ़ा-चढ़ा था। यहाँ के घोड़े खेती के काम-काज में बड़े उपयोगी माने जाते थे। पर खेती की मशीनों का प्रयोग बढ़ने से इस व्यवसाय को क्षति पहुँची है।

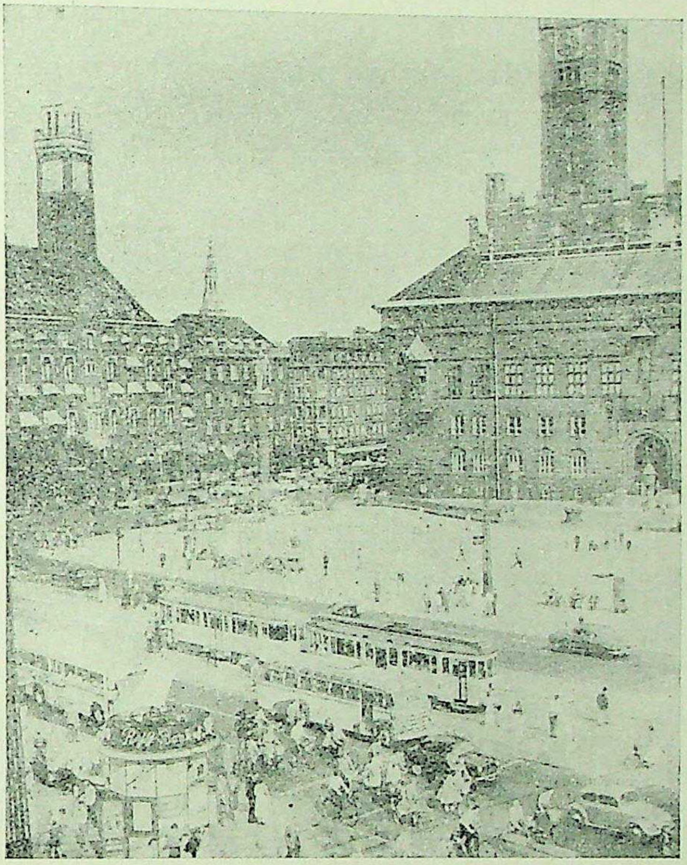

डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन की झाँकी।

'डेन' जाति के लोग अपनी चुस्ती, तेजी और अतिथि-सत्कार के लिए प्रसिद्ध हैं। वे जन्मजात विनोदी और हास्यप्रिय होते हैं।

डेनमार्क में प्राचीन और अर्वाचीन का अनूठा सम्मिश्रण देखने को मिलता है। यहाँ लोग विशेष अवसरों पर अब भी प्राचीन ढंग की अपनी विशेष पोशाकें पहना करते हैं। ग्रीष्म कालीन अवकाश बिताने के लिए ये लोग प्रायः शहरों से बाहर समुद्र-तटवर्ती क्षेत्रों में छोटे घरों में जाकर रहते हैं और सागरस्नान करके तथा धूप में नंगे बदन रहकर प्राकृतिक आनन्द लेते हैं। यहाँ साइकिल-सवारी का काफी प्रचलन है—प्रायः नरेश भी साइकिल पर सवार देखे जा सकते हैं!

नगर—डेनमार्क का प्रधान नगर कोपेनहेगन है। इसकी जनसंख्या १२ लाख है। यह नगर एक उत्तम बंदरगाह भी है।

ग्रेट ब्रिटेन

ग्रेट ब्रिटेन को राजकीय व्यवहार में 'युनाइटेड किंगडम ऑफ ग्रेट ब्रिटेन' के नाम से पुकारा जाता है। इसके अन्तर्गत इंगलैंड, स्कॉटलैंड और वेल्स तथा उत्तरी आयलैंड का ब्रिटिश अधिकृत प्रदेश सम्मिलित है। इस राज्य का क्षेत्रफल ९४,२१४ वर्गमील और आबादी ५ करोड़ १४ लाख के लगभग है। इसमें आयरिश सागर का मैन द्वीप तथा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इंगलिश चैनल और स्कॉटलैंड के समुद्र-तट पर कई छोटे-छोटे द्वीप भी सम्मिलित हैं।

प्राकृतिक स्थिति—ब्रिटिश द्वीप-समूह चारों ओर समुद्र से घिरा होने के कारण योरपीय महाद्वीप से सर्वथा अलग है। इसकी उक्त स्थिति प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस प्रकार समुद्र से घिरे होने के कारण ही ये द्वीप बाहरी आक्रमण से प्रायः सुरक्षित रहे हैं।

ब्रिटेन की जलवायु पर उसके चारों ओर फैले समुद्र का सब से अधिक प्रभाव पड़ा है। अटलांटिक महासागर की 'गल्फ स्ट्रीम' नामक उष्ण धारा के कारण ब्रिटेन के समुद्र-तट पर, जिन अक्षांशों में उसकी स्थिति है उसकी अपेक्षा जाड़े में कम सरदी पड़ती है। ब्रिटेन के सब से ऊँचे पहाड़ स्कॉटलैंड में हैं। उनकी ऊँचाई ४ हजार फीट से कुछ ही अधिक है। यहाँ वर्षा अटलांटिक महासागर की हवाओं के साथ हुआ करती है। लेक क्षेत्र और उत्तरी वेल्स में प्रतिवर्ष २०० इंच तक वर्षा होती है! पूर्वी इंगलैंड और स्कॉटलैंड में वर्षा का औसत मान २५ से ३० इंच तक ही है।

इंगलैंड की मुख्य नदी टेम्स है, जो कोट्सवाल्ड नामक पहाड़ियों से निकलकर मैदानी भाग में प्रवेश करती और पूर्व की ओर बहकर इंगलिश चैनल में गिरती है। इस नदी के तट पर प्राचीनकाल के कुछ मानव-आवासों के अवशेष भी मिले हैं। ब्रिटेन की राजधानी लन्दन इसी नदी के तट पर स्थित है।

इतिहास—ब्रिटिश द्वीप-समूह की प्राकृतिक स्थिति ने उसके इतिहास को लगातार प्रभावित किया है। २५०० ई० पूर्व से लेकर १० वीं शताब्दी ई० तक इन टापुओं पर अनेक जातियों के आक्रमण हुए। प्रागैतिहासिक काल में इन द्वीपों में छोटे कद की आदिम जाति के कुछ लोग जमीन में गड्ढे खोदकर और उन्हें छप्पर से पाटकर रहते थे। जब योरपीय भूभाग से नए आक्रमणकारियों का आगमन हुआ, तो ये आदिवासी इस द्वीप के पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्रों में चले गए। इंगलैण्ड के मैदानी भागों में ४३ ई० से पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ तक रोमन राज्य कायम रहा। यहाँ के आदिवासियों ने रोमन आक्रमणकारियों का विशेष प्रतिरोध नहीं किया और रोमन प्रभुता स्वीकार करके वे उन्हें कर देते रहे। रोमन शासनकाल में इंगलैण्ड की उत्तरी सीमा पर कई गढ़ और किले तथा राजपथ और नगर स्थापित किए गए, जिनके अवशेष अब तक मिलते हैं।

स्कॉटलैण्ड, वेल्स, आयलैंड और कार्नवाल में बसनेवाले केल्ट जाति के लोगों ने अपनी भाषा और संस्कृति को सदियों तक सुरक्षित बनाए रखा है। पाँचवीं और छठी शताब्दी में इंगलैण्ड के दक्षिणी और पूर्वी भाग में आंग्ल और सेक्सन जाति के लोग बस गए और वहाँ उन्होंने खेती करना शुरू किया। आंग्ल जाति के नाम पर ही 'इंगलैण्ड' और 'इंगलिश' भाषा का नामकरण हुआ है।

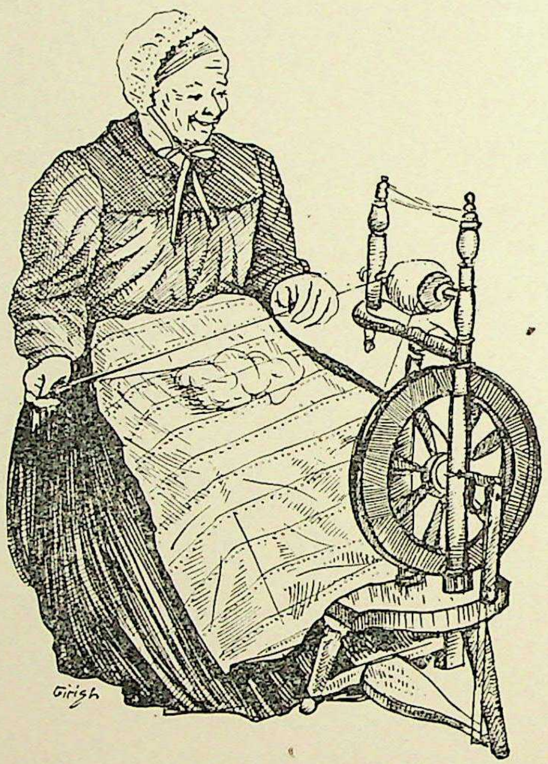

स्कॉटलैंड की एक वृद्धा अपने परम्परागत चरखे पर ऊन कात रही है।

आंग्ल-सेक्सन लोगों के बाद डेन और स्कैन्डीनेवियन वाइकिंग लोगों ने इंगलैण्ड, आयरलैण्ड और स्कॉटलैण्ड में लूट-पाट करके वहाँ अपनी बस्तियाँ बसाईं। दसवीं शताब्दी ई० में ब्रिटेन पर फ्रांस की नार्मन जाति ने आक्रमण किया। नार्मन नरेशों ने भूमि-व्यवस्था को सामंती आधार पर संगठित किया और उनके शासनकाल में यहाँ फ्रांसीसी प्रभाव बढ़ा। इस द्वीप में आकर बसनेवाली इन केल्ट, आंग्ल, सेक्सन, डेन, स्कैन्डीनेवियन एवं नार्मन जातियों के लोग ही आज घुल-मिलकर ग्रेट ब्रिटेन के नागरिक बन गए हैं।

१२८४ ई० में इंगलैंड का वेल्स पर अधिकार हो गया और १७०७ ई० में स्कॉटलैंड भी अन्तिम रूप से इंगलैंड के साथ मिल गया। दीर्घकाल तक आयलैंड पर भी इंगलैंड की सत्ता स्थापित रही, पर १९२३ ई० में उत्तरी भाग को छोड़कर शेष आयलैंड स्वतन्त्र राज्य बन गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

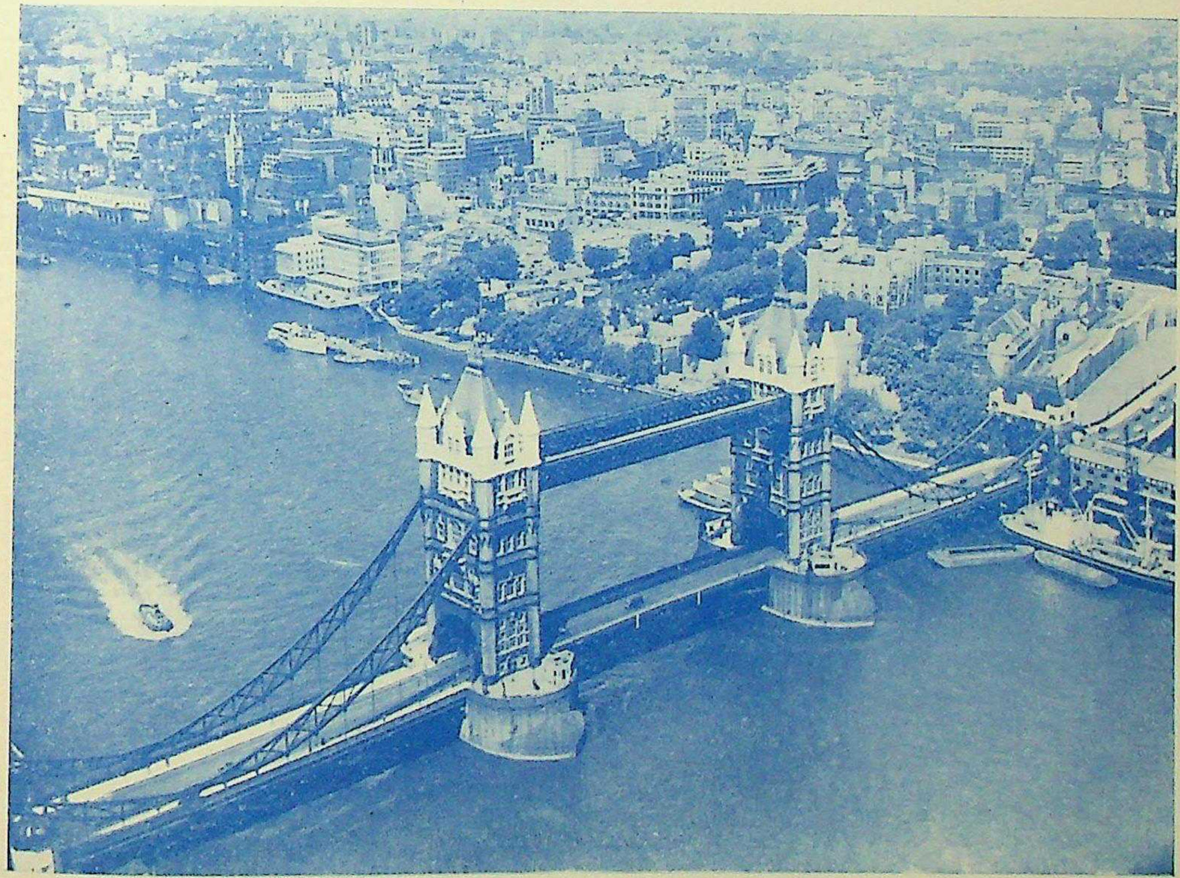

ग्रेट ब्रिटेन की राजधानी और प्रमुख नगर लन्दन की दो झाँकियाँ :: (ऊपर) पार्लमिण्ट-भवन; (नीचे) टेम्स नदी पर निर्मित प्रसिद्ध 'टॉवर-ब्रिज' [फो०—भारत-स्थित 'ब्रिटिश हाइ कमीशन' के सौजन्य से]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

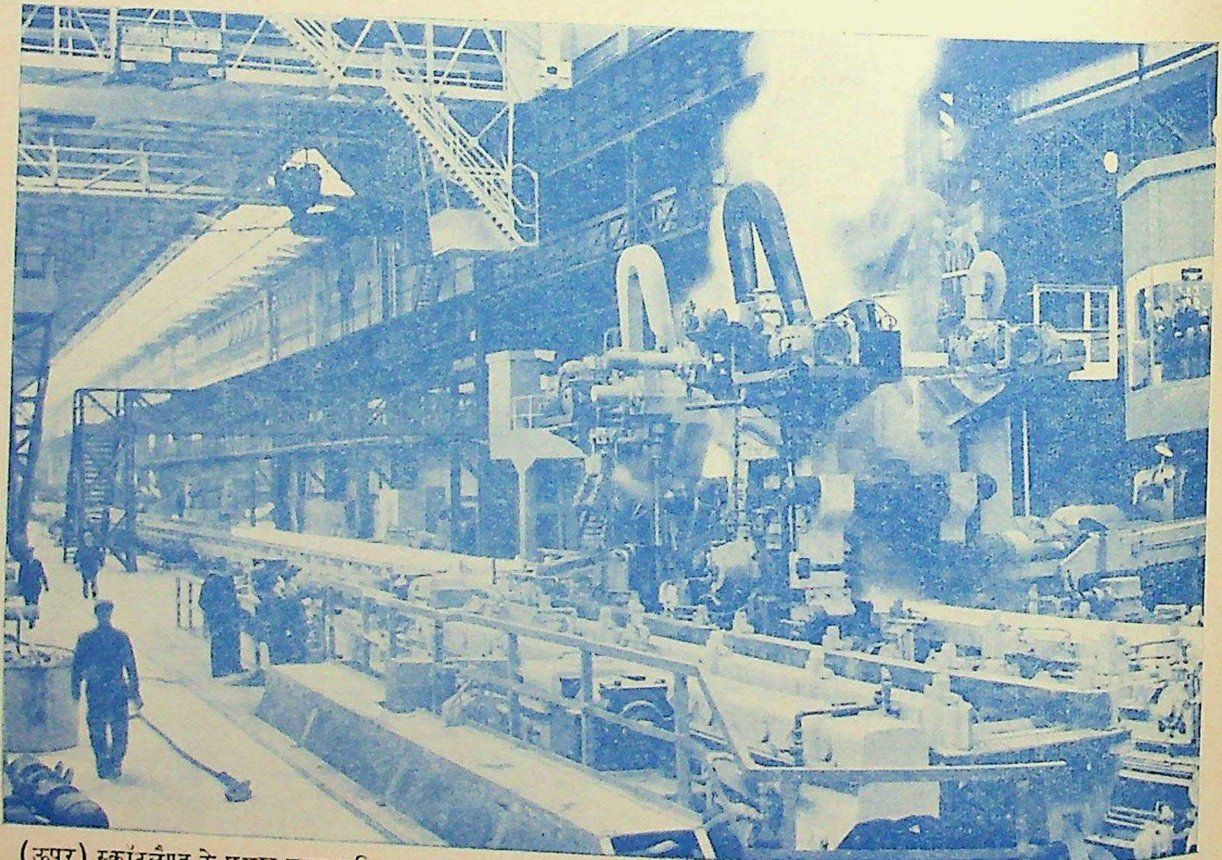

(ऊपर) स्कॉटलैण्ड के प्रमुख नगर एडिनबरा का एक दृश्य; (नीचे) औद्योगिक ब्रिटेन की एक झलक [फो०—भारत-स्थित 'ब्रिटिश हाइ कमीशन' के सौजन्य से]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१५ वीं शताब्दी ई० में अमेरिका की खोज के बाद ब्रिटिश द्वीपों का महत्व बढ़ने लगा, क्योंकि पुरानी और नई दुनिया के बीच यातायात के लिए इन द्वीपों की स्थिति बड़ा महत्व रखती थी। उपनिवेशों की स्थापना और व्यापार के प्रसार के कारण इंगलैंड और अन्य योरपीय शक्तियों में निरंतर संघर्ष हुआ। आखिर नेपोलियन की पराजय के बाद ब्रिटेन की प्रभुता बहुत अधिक बढ़ गई। १९ वीं शताब्दी के अन्त तक एशिया, अमेरिका और अफ्रीका के बहुत बड़े भूभाग पर ब्रिटेन का अधिकार हो गया, यहाँ तक कि यह कहा जाने लगा कि महान् ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी भी अस्त नहीं हुआ करता! कहते हैं, जिस समय ब्रिटिश सत्ता का गौरव-सूर्य अपनी पूर्ण आभा में था, उस समय संसार के एक चौथाई निवासी उसके अधिकार में थे। परन्तु आगे चलकर यह साम्राज्य विघटित हो गया। १७७६ ई० में अमेरिका ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। १९३१ ई० से ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और कनाडा को भी ब्रिटिश कामनवेल्थ के अंतर्गत स्वतंत्र डोमिनियनों की स्थिति प्रदान कर दी गई। द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत, बर्मा, लंका और अफ्रीका के कई देश स्वतंत्र हो गए।

अपनी रंग-बिरंगी परंपरागत पोशाक में स्कॉटलैण्ड के ये बैंडवादक कितने आकर्षक लगते हैं [फोटो—भारतस्थित 'ब्रिटिश दूतावास' के सौजन्य से]।

जाति, भाषा, धर्म, रहन-सहन आदि—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इंगलैंड, स्कॉटलैंड, वेल्स आदि के निवासी केल्ट, ऑग्ल-सेक्सन, डेन, नार्मन आदि जातियों के मिश्रण से विकसित हुए हैं। स्कॉटलैंड, वेल्स, आयरलैण्ड और कार्नवाल में अब तक केल्ट जाति के लोगों का प्रभाव अधिक है। ये लोग अब भी अपने को अंगरेज न कहकर स्कॉच अथवा वेल्स - निवासी कहना अधिक पसंद करते हैं। स्कॉटलैण्ड में मध्यकालीन सामंतों की वीरगाथाओं का बड़ा प्रचलन है, जिन्हें सुनकर आज भी वहाँ के लोगों को स्फुरण होने लगता है।

ब्रिटेनवासी खास तौर से नगरवासी लोग हैं। यहाँ की आधी आबादी बड़े नगरों और उपनगरों में केन्द्रित है। गाँवों में लोग प्रायः कृषि-क्षेत्रों (फार्मों) में अलग - अलग घर बनाकर रहते हैं। ग्रेट ब्रिटेन की भाषा इंगलिश (अंगरेजी) है। इस भाषा का आज संसार के अनेक देशों पर आधिपत्य स्थापित है। वेल्स में २९ प्रतिशत लोग वेल्श नामक बोली का और उत्तरी स्कॉटलैण्ड में करीब एक लाख व्यक्ति गेलिक भाषा का प्रयोग करते हैं।

१६ वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में स्वतंत्र ऑग्लिकन ईसाई चर्च की स्थापना हुई थी। तब से यहाँ मुख्यतः प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का ईसाई धर्म ही प्रचलित है। स्कॉटलैण्ड में प्रेसबिटेरियन सम्प्रदाय के ईसाई धर्म का प्रचलन है। इनके अतिरिक्त ४६ लाख रोमन कैथोलिक ईसाई भी यहाँ रहते हैं।

ब्रिटिश द्वीपों में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा है। यहाँ ९० पब्लिक स्कूल और कोई २५ विश्वविद्यालय हैं। ब्रिटेन मुख्य रूप से एक औद्योगिक देश है। कृषि और खानों में लगे हुए लोगों से दस गुने अधिक लोग यहाँ औद्योगिक संस्थान में काम करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी अमेरिका के बाद ब्रिटेन का ही स्थान सर्वोपरि है। अपनी अतुलित जहाजी शक्ति की बदौलत ब्रिटेन को इस व्यापार में बड़ी मदद मिली है। यहाँ की वेशभूषा और भोजन में वैभव और सम्पन्नता की छाप पग-पग पर दिखाई देती है।

नगर—ब्रिटेन की राजधानी लंदन है। एक अरसे तक यही संसार का सब से बड़ा नगर रहा है। इसकी आबादी ८२ लाख से अधिक है। यह टेम्स नदी के मुहाने पर बसा है और एक महान् बन्दरगाह है। यहाँ के दर्शनीय स्थलों में पार्लमिंट-भवन, टॉवर-ब्रिज, सेंट पॉल कैथेड्रल, ब्रिटिश म्यूजियम, वेस्टमिन्स्टर एबे तथा बकिंघम-राजमहल आदि उल्लेखनीय हैं। लंदन के अतिरिक्त यहाँ के अन्य बड़े नगर हैं—मैनचेस्टर, बर्मिंघम, ग्लासगो, लीड्स, शेफील्ड, लिवरपुल और न्यूकैसिल। स्कॉटलैण्ड की राजधानी एडिनबरा और उत्तरी आयरलैण्ड की राजधानी बेलफास्ट भी अच्छे नगर हैं। ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज यहाँ के प्रमुख शिक्षा-केन्द्र हैं। वहाँ के विश्वविद्यालय जगत्प्रसिद्ध हैं। बर्मिंघम, मैनचेस्टर और शेफील्ड महान् औद्योगिक केन्द्र हैं।

: आयर्लैंड :

आयर्लैंड ब्रिटिश द्वीप-समूह का ही एक द्वीप होने और काफी अरसे तक ब्रिटेन के आधिपत्य में रहने के बावजूद, जाति और संस्कृति के लिहाज से, एक सर्वथा स्वतंत्र इकाई रहा है। इन दिनों इस द्वीप के दो भाग हैं। एक तो वह उत्तरी छोटा-सा भाग, जो ब्रिटेन के अधीन है; उसकी राजधानी बेलफास्ट है। दूसरा शेष बड़ा भाग, जो एक स्वतंत्र गणराज्य है; उसकी राजधानी डबलिन है। यहाँ 'आयर्लैंड' से हमारा आशय स्वतंत्र गणराज्य से ही है। इसे आजकल 'आयर' के नाम से पुकारा जाता है। इस देश का क्षेत्रफल २७,१६३ वर्गमील और आबादी २९ लाख ५५ हजार है।

प्राकृतिक स्थिति—स्वतंत्र आयर्लैंड पूरे द्वीप के ८० प्रतिशत भाग में पसरा हुआ है। इसकी शक्ल एक तश्तरी की जैसी है। यहाँ की नदियाँ पूर्व की ओर बहकर आयरिश सागर में गिरती हैं। इस क्षेत्र में कई सुन्दर झीलें हैं।

आयर्लैंड की जलवायु अटलांटिक महासागर की हवाओं से प्रभावित रहती है। यहाँ के विभिन्न भागों में ३० से ८० इंच तक वर्षा होती है।

इतिहास—आयर्लैंड के गेलिक समाज का उद्‌भव और विकास कैसे हुआ, इसका शृंखलाबद्ध इतिहास तो नहीं मिलता, लेकिन दंत-कथाओं और लोक-गाथाओं के रूप में तद्विषयक अनेक किंवदंतियाँ प्राप्त हैं। ऐतिहासिक काल में आकर जिस जाति से हमारा यहाँ पहलेपहल साक्षात्कार होता है, वह है सुप्रसिद्ध केल्ट जाति, जिसका आयर्लैंड की संस्कृति और सभ्यता के निर्माण में प्रमुख हाथ रहा है। यह जाति रोमन आक्रमणकारियों द्वारा भी पराभूत नहीं हो पाई थी। जब योरप अंधकार-युग में से गुजर रहा था, उस समय आयर्लैंड में इस जाति की सभ्यता और संस्कृति काफी विकसित थी। छठवीं शताब्दी ई० में संत पैट्रिक के हाथों इस द्वीप में पहलेपहल ईसाई धर्म का प्रचार हुआ। उस समय तक आयर्लैंड में अनेक छोटे-छोटे नरेशों का राज्य था। बाद के वर्षों में आंग्ल-नार्मन आक्रमणकारियों ने अधिकांश आयर्लैंड पर अधिकार कर लिया और यहाँ के सामन्तों को निकाल बाहर किया।

अंगरेजों के शासनकाल में आयर्लैंड पर कठोर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया गया। उसे इंगलैण्ड में मिल जाने के लिए जबरन राजी किया गया और वहाँ की संसद को भंग कर दिया गया। वहाँ के कैथोलिकों का भी घोर दमन किया गया। फलतः आयरिश लोगों द्वारा स्वतंत्रता-संग्राम आरंभ किया गया, जो निरन्तर तेज होता चला गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यहाँ घोर अकाल पड़ा, जिसमें करीब दस लाख नर-नारी भुखमरी से प्रभावित हुए। इसके फलस्वरूप कई लाख व्यक्ति अमेरिका, ब्रिटेन और ऑस्ट्रेलिया में जाकर बस गए। इधर देश की मुक्ति का आन्दोलन दिन-पर-दिन तीव्र होता चला गया। १९१६ ई० में प्रसिद्ध 'ईस्टर-विद्रोह' हुआ, जिसके बाद यहाँ छापे-मार युद्ध शुरू हो गया। आखिर लम्बे संघर्ष के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

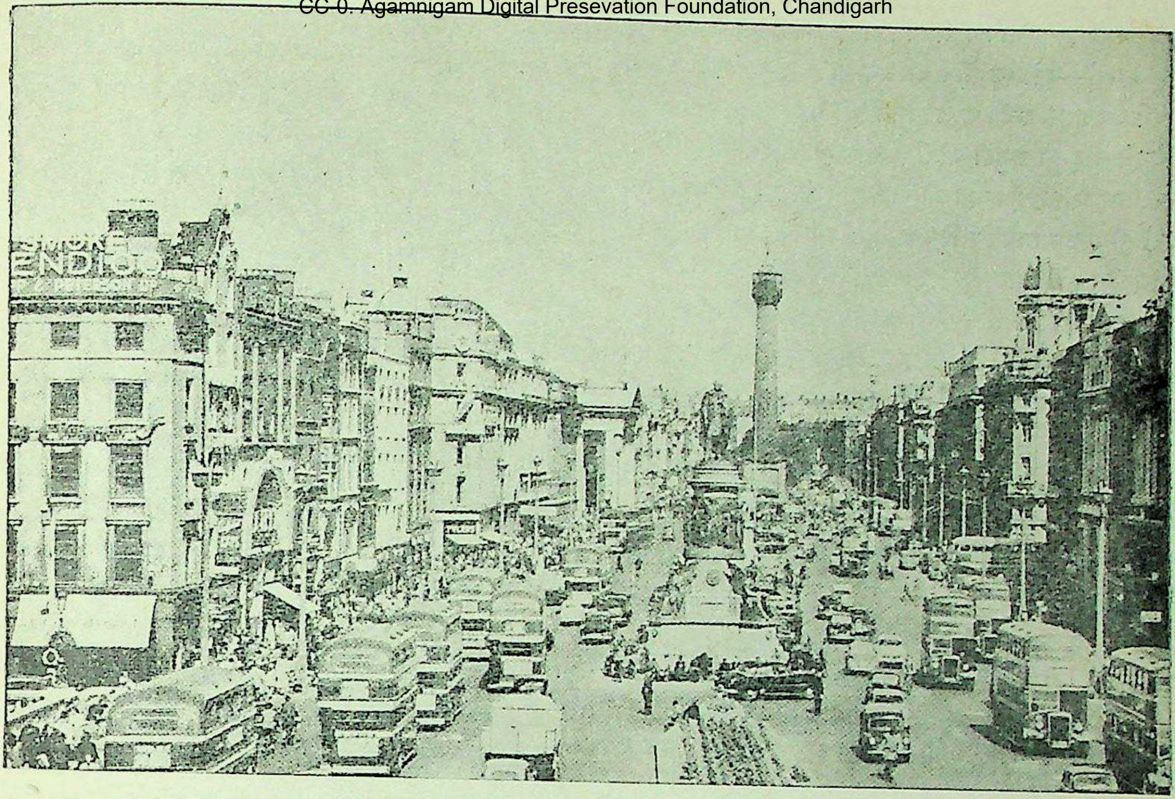

आयर्लैंड की राजधानी डबलिन का एक दृश्य ।

उपरान्त १९२१ ई० में इस देश में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत स्वतंत्र औपनिवेशिक राज्य की स्थापना की गई। बाद में 'आयरिश फ्री स्टेट' का नाम बदलकर 'आयर' कर दिया गया और १९४९ ई० में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से पृथक् होकर यहाँ एक स्वतंत्र गणतंत्र की स्थापना हो गई।

जाति, भाषा, रहन-सहन, आदि—आयरलैंड के मूल निवासी संभवतः, उत्तर-पाषाण-युग में भूमध्यसागर के क्षेत्र से आकर यहाँ बसे थे। इन लोगों का कद ठिगना और बाल काले थे। बाद में यहाँ केल्ट जाति के लोगों का आगमन हुआ। आयरलैंड की सभ्यता का विकास इन्हीं के हाथों हुआ। कालांतर में इंगलैंड और स्कॉटलैंड के लोग भी काफी संख्या में आकर यहाँ आ बसे। इस प्रकार आयरलैंड में विभिन्न जातियों का एक समुदाय बन गया। इस समाज की एकता स्थापित करने में ईसाई धर्म के कैथोलिक सम्प्रदाय ने विशेष योग दिया।

आयरलैंड की गेलिक भाषा पर आर्य बोलियों का प्रभाव है। यह भाषा यहाँ के पश्चिमी क्षेत्र में आज भी बोली जाती है। अंग्रेजी भाषा को भी यहाँ काफी लोग बोलते हैं।

आयरलैंड एक कृषि-प्रधान देश है; यहाँ उद्योगों का विशेष विकास नहीं हुआ है। यहाँ के निवासी वैसे तो सरल स्वभाव के होते हैं, परंतु स्वातंत्र्य-आंदोलन के लम्बे संघर्ष के कारण प्रथम साक्षात्कार में वे कुछ जिद्दी और कटु प्रतीत होते हैं।

नगर—आयरलैंड का प्रधान नगर डबलिन है, जो यहाँ की राजधानी भी है। इस नगर की आबादी ५॥ लाख है। अन्य उल्लेखनीय नगर कॉर्क और लिमेरिक हैं।

: हॉलैण्ड :

ब्रिटिश द्वीप-समूह से विदा होकर जब हम पुनः योरप के मुख्य भूखण्ड पर कदम रखते हैं, तो सम्मुख ही एक ऐसी समुद्रतटवर्ती मैदानी पट्टी से हमारा साक्षात्कार होता है, जिसकी सतह कहीं-कहीं सागर की सतह से भी नीची है! अपनी इसी विशेषता के कारण इस पट्टी के समूचे क्षेत्र को 'नीदरलैण्ड्स' अर्थात् 'निचले प्रदेश' के नाम से पुकारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता है। इस भूभाग के अंतर्गत दो स्वतंत्र राष्ट्रों का अस्तित्व है। ये हैं--हॉलैण्ड और बेल्जियम। आइए, क्रमशः इनका परिचय प्राप्त करें। पहले हॉलैंड ही को लिया जाय। यह देश अपने अद्भुत समुद्री बांधों (डाइकों) और हवा-चक्कियों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की राजधानी 'दि हेग' है, जहाँ अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित है। हॉलैंड का क्षेत्रफल १२,५२९ वर्गमील और आबादी १,१०,९६,००० है।

प्राकृतिक स्थिति—हॉलैण्ड और बेल्जियम दोनों देशों को मिलाकर 'लोलैण्ड' (निचला देश) कहा जाता रहा है। यहाँ की भूमि समतल है और समुद्र की सतह से वह ज्यादा से ज्यादा १०० फीट की ऊँचाई से भी कम सतह पर है। केवल दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में ऊँचाई १,०५३ फीट तक पहुँचती है। यहाँ के समुद्र-तट की मुलायम भूमि के बाद बालू के टीले फैले हुए हैं, जो ३० या ४० फीट की ऊँचाई के हैं। दक्षिण-पश्चिम में इन रेतीले टीलों की कतारें म्यूज और राइन नदियों के मुहाने के पास कट गई हैं, जिससे समुद्र-तट के निकट अनेक छोटे-छोटे द्वीप-से बन गए हैं। उत्तर में समुद्र-तट के निकट फ्रीजियन नामक द्वीप-समूह है। बालू के टीलों के बाद की भूमि में कृत्रिम नाले हैं, जिन्हें यहाँ पोल्डर कहा जाता है। ये नाले समुद्री सतह से नीचे हैं। इनके द्वारा पानी की निकासी की जाती है। निश्चित स्थानों से बिजली अथवा हवा-पम्पों के द्वारा इनके पानी को बड़ी नहरों अथवा नदियों में गिरा दिया जाता है। पूर्व की भूमि में बालू अधिक है। यहाँ की भूमि तीन श्रेणियों में रक्खी जा सकती है--नदियों की बाढ़ से प्रभावित निचला भाग; म्यूज नदी के दक्षिण से उत्तर की ओर चला गया ढालू प्रदेश और राइन नदी का उत्तरी भाग। हॉलैण्ड के समुद्री बाँध यदि तोड़ दिए जाएँ, तो यहाँ का एक तिहाई से अधिक भूभाग समुद्री पानी में डूब जायगा। यहाँ के समुद्र-तट पर उत्तरी सागर की ठोकर पड़ती है, जिससे उसका किनारा बहुत क्षत-विक्षत दिखाई देता है। उत्तरी सागर से मोर्चा लेते रहने के कारण ही यहाँ के निवासी सजग, धैर्यवान् और साहसी बन पाए हैं।

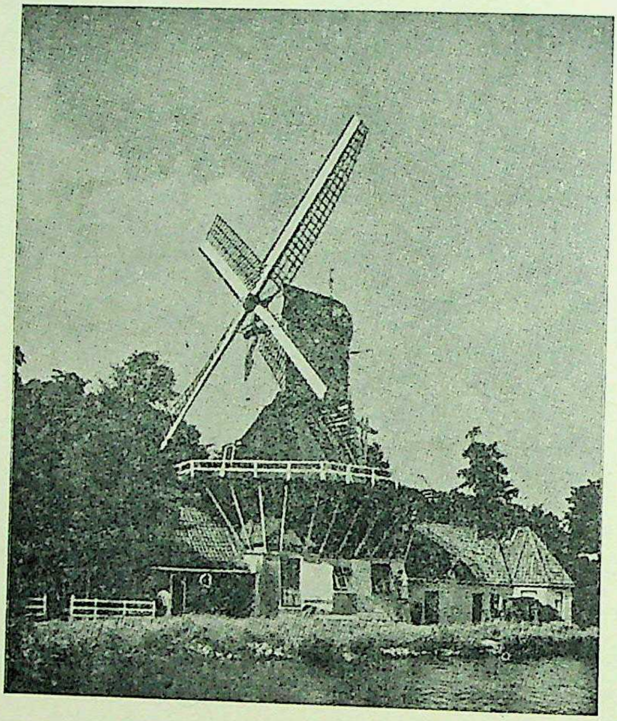

हॉलैण्ड के ग्राम्य क्षेत्र में प्रायः इस प्रकार की हवा-चक्कियों की छवि देखने को मिलती है।

इस देश में जाड़े में शीत का काफी प्रकोप रहता है और ग्रीष्म में गरमी भी कम नहीं पड़ती। वर्षा मामूली होती है। यहाँ हवाएँ बहुत तेज चला करती हैं, जिनका उपयोग हवा-चक्कियों को चलाने में किया जाता है।

इतिहास—आरंभ में हॉलैंड का समुद्र-तट दलदली और जंगली था। यहाँ की भूमि पर शुरू-शुरू में सामंतों का अधिकार था, जो कभी एक तो कभी दूसरे नरेश के अधीन रहते थे। रोमन काल में यहाँ के निवासियों का उल्लेख 'बटावियन' के नाम से किया जाता था। ये लोग ट्यूटानिक जाति की एक शाखा के थे। दक्षिण में फ्रीजियन जाति के लोग रहते थे, जो इंगलैण्ड में जाकर बसनेवाले सैक्सन लोगों के सजातीय समझे जाते हैं। उनकी भाषा भी सैक्सन भाषा से मिलती-जुलती थी।

१५वीं शताब्दी ई० में हॉलैण्ड और बेल्जियम दोनों स्पेन-नरेश के राज्य के अंग बना लिए गए। डच लोग इस स्पेनिश शासन के शीघ्र ही कट्टर शत्रु बन गए। उनमें विद्रोह की भावना इसलिए भी बढ़ गई, चूँकि चार्ल्स पंचम और फिलिप द्वितीय के शासनकाल में उन्हें निरंतर दबाकर सभी अधिकार स्पेनिश सैनिक अधिकारियों और अभिजात-वर्ग के लोगों को सौंप दिए गए थे। इस बीच जब यहाँ मार्टिन लूथर के प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय का प्रचार बढ़ा, तो डच लोग कैथोलिक स्पेन की दासता से मुक्त होने के लिए बेचैन हो उठे। वे विलियम 'प्रिंस आफ आरेंज' के नेतृत्व में स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए संगठित हुए और यह स्वातंत्र्य-संग्राम ८० वर्ष तक चला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके दौरान में सैकड़ों डचों को मौत के घाट उतार दिया गया। अंत में जब स्पेन की सेना ने लीडेन नगर पर घेरा डाला, तो डच जनता ने समुद्री बाँधों को काटकर उन्हें भागने के लिए मजबूर कर दिया। आखिरकार डच लोगों को अपने स्वातंत्र्य-आन्दोलन में सफलता मिली, जिसके फलस्वरूप १६४८ ई० में स्पेन और हॉलैण्ड में सन्धि हो गई। इस संधि के अनुसार उत्तरी नीदरलैण्ड (हॉलैण्ड) और दक्षिणी नीदरलैण्ड (बेल्जियम) की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गई।

१६०२ ई० में डच 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' की स्थापना होने पर ईस्ट इंडीज के व्यापार पर हॉलैण्ड का एकाधिकार-सा हो गया था और डच जहाज संसार के कोने-कोने में जाने लगे थे। परन्तु १८वीं शताब्दी में इस देश का पुनः पराभव शुरू हो गया और नेपोलियन के जमाने में यहाँ फ्रेंच आधिपत्य स्थापित हो गया, जो ठेठ १८१३ ई० में जाकर समाप्त हो पाया। १८३० ई० में बेल्जियम और हॉलैण्ड दोनों एक-दूसरे से अलग हो गए। प्रथम महायुद्ध में हॉलैण्ड तटस्थ रहा, परन्तु द्वितीय महायुद्ध में जब हिटलर ने इस देश पर अधिकार कर लिया, तो डच लोगों ने नाजियों का डटकर मुकाबला किया तथा उन्हें पराजित करने के लिए अपने समुद्री बाँधों को तोड़ दिया एवं उद्योगों को भी नष्ट कर दिया। युद्धोपरान्त स्वतंत्र होने पर हॉलैण्डवासियों ने थोड़े ही समय के भीतर उक्त बाँधों को फिर से बना लिया। आज हॉलैण्ड की गणना पुनः योरप के सुसमृद्ध देशों में की जाने लगी है।

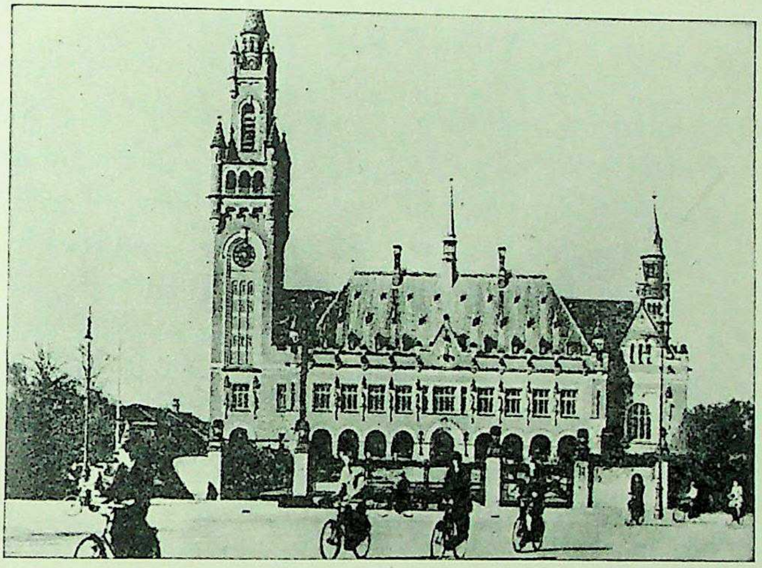

हॉलैण्ड की राजधानी 'दि हैग' में स्थापित 'अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय' का भवन।

जाति, रहन-सहन, आदि—कहते हैं, प्रारम्भ में यहाँ जर्मन नस्ल की अनेक उपजातियाँ आकर बस गई थीं। उत्तरी समुद्र-तट के निकट फ्रीजियन लोग बसे थे, राइन के मुहाने पर बातारी, दक्षिण में फ्रेंक और पूर्व में सैक्सन जाति के लोग। प्राकृतिक प्रकोप तथा समुद्र के निरंतर खतरे ने इन सभी लोगों को क्रमशः पारस्परिक सहयोग के सूत्र में बाँध दिया। इन विविध जातियों के सम्मिश्रण से ही आखिर उस जाति का निर्माण हुआ, जिसे आज हम 'डच' कहते हैं।

हॉलैण्ड की सब से अनोखी वस्तु 'जुइडरजी' नामक सेतु है, जिसके द्वारा उत्तरी सागर के दक्षिण भाग को समुद्र से अलग करके जमीन से घेर दिया गया है। यह समुद्री बाँध २० मील लम्बा है और उसके ऊपर एक चौड़ी सड़क है। इस प्रकार समुद्र से निकले भूभाग को चरागाह बना दिया गया है। निचले भाग के पानी की निकासी के लिए पोल्डर निर्मित किए गए हैं।

डच भाषा जर्मन भाषा-समूह की बोली है। इस भाषा के अतिरिक्त यहाँ के स्कूलों में जर्मन और अंग्रेजी को भी पढ़ाया जाता है। डच लोगों की अपनी विशिष्ट राष्ट्रीय पोशाक है। इस पोशाक के साथ लोग प्रायः पुरानी तर्ज के लकड़ी के जूते पहनते हैं, जिन्हें 'क्लोमपेन' कहा जाता है। छोटे-छोटे नगरों में अब भी इस पोशाक का काफी चलन है। पुरुषों में मिरजई की भाँति का एक वस्त्र पहनने का प्रचलन है। महिलाएँ भड़कीली कसीदाकारी के अंगवस्त्र पहनती हैं। हॉलैण्ड में रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट दोनों सम्प्रदाय के लोग हैं। उनकी संख्या करीब-करीब बराबर है।

यहाँ के लोक-जीवन पर सेन्ट निकोलस की कथा का बड़ा प्रभाव है। इस पौराणिक संत की स्मृति में दिसंबर में विशेष पर्व मनाया जाता है। सेन्ट निकोलस बच्चों का संरक्षक माना जाता है। इस अवसर पर सभी बालकों को उपहार मिलते हैं। डच लोगों का कलाप्रेम जगत्प्रसिद्ध है। उनकी कलाभिरुचि उनके रंग-बिरंगे वस्त्राभूषणों में भी फूटी पड़ती है। अमस्टरडम के म्यूजियम (राष्ट्रीय संग्रहालय) में डच मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, चीनी मिट्टी के बर्तन और चित्रकला आदि की अनेकानेक अद्भुत वस्तुएँ प्रदर्शित हैं। १७वीं शताब्दी में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हॉलैंड में अनेक विश्वविख्यात कलाकार हुए, जिनका परि-चय आपको अन्य एक विभाग के अन्तर्गत मिल ही चुका है ।

हॉलैंड एक कृषिप्रधान और पशुपालक देश है । यहाँ की करीब २० प्रतिशत आबादी कृषि-सम्बन्धी कामों में ही लगी हुई है । यहां का दुग्ध-व्यवसाय जगत्प्रसिद्ध है । यहाँ की दुग्ध-शालाएँ आधुनिकतम कोटि की हैं । दूधवाले पशुओं के अति-रिक्त सुअर तथा मुर्गी पालने और मत्स्य-उद्योग का भी यहाँ काफी शौक है ।

औद्योगिक साधनों की कमी होते हुए भी हॉलैंड उद्योग की दृष्टि से पिछड़ा हुआ नहीं है । यहाँ की आबादी का लगभग ४० प्रतिशत भाग विविध उद्योगों में लगा हुआ है । यहाँ के प्रमुख उद्योग जहाज-निर्माण, जहाजरानी, पेट्रोलियम, इंजी-नियरिंग, वस्त्र, खाद्य-पदार्थ और चमड़े के उद्योग हैं ।

नगर—हॉलैण्ड की राजधानी 'दि हेग' नामक नगर (आबादी ६ लाख) है, जहाँ राष्ट्रों के आपसी विवादों को निपटाने के लिए निर्मित सुप्रसिद्ध 'अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय' स्थापित है । परंतु यहाँ का प्रमुख नगर वस्तुतः अमस्टरडम (आबादी ९ लाख) है । इस नगर को 'उत्तर का वेनिस' कहा जाता है । यहाँ की नहरों की बड़ी ख्याति है । अमस्टरडम के निकट हारलेम नामक नगर है, जहाँ के 'ट्यूलिप' नामक फूल संसार भर में प्रसिद्ध हैं । दूसरा एक उल्लेखनीय नगर रॉटर-डम (आबादी ७॥ लाख) है ।

: बेल्जियम :

नीदरलैंडस् की निचली समुद्रतटवर्ती पट्टी का दक्षिणी भाग बेल्जियम सदियों तक हॉलैण्ड के साथ एक ही राजनीतिक बंधन में बँधा रहने के बावजूद जाति, भाषा और संस्कृति के लिहाज से एक सर्वथा स्वतंत्र देश है । इस राज्य का क्षेत्रफल ११,७७५ वर्गमील और आबादी करीब ९०,२६,००० है ।

प्राकृतिक स्थिति—बेल्जियम के भूभाग को प्राकृतिक दृष्टि से तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है । उत्तरी क्षेत्र में निचली भूमि है, जहाँ समुद्रतट का प्रसार है । यह क्षेत्र 'फ्लैंडर्स' कह-लाता है । यहाँ बालू अधिक है । केन्द्रीय क्षेत्र में जमीन की सतह ऊँची है । यह म्यूज और शेल्ट नदियों के बीच के दो-आबे का मैदान है, जो बहुत उर्वर है । उधर दक्षिण-पूर्व का आर्डेनीज नामक क्षेत्र पठारी है । यहाँ की भूमि समुद्र की सतह से २,२८३ फीट तक ऊँची है ।

बेल्जियम की म्यूज और शेल्ट नामक प्रमुख नदियों का उद्गमस्थल फ्रांस में है । ये नदियाँ बेज्जियम की भूमि को सींचती हुई हॉलैंड में प्रविष्ट होकर आखिर उत्तरी सागर में जा गिरती हैं ।

इतिहास—ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की तरह बेल्जियम में भी आरम्भ में केल्ट जाति के लोग रहते थे । तीसरी शताब्दी ईस्वी में जर्मन नस्ल की फ्रैंक जाति ने इस भूभाग के उत्तरी क्षेत्र पर अधिकार स्थापित कर लिया । इन लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों को या तो खदेड़कर बाहर निकाल दिया या उनका विनाश कर दिया । बाद को इन लोगों ने दक्षिणी भाग पर भी अधिकार कर लिया । १६ वीं शताब्दी में हॉलैंड और बेल्जियम दोनों पर स्पेन का कब्जा हो गया । पराधीनता की इस स्थिति में बेल्जियम पहले स्पेन और फिर आॅस्ट्रिया के अधीन ठेठ १९वीं शताब्दी तक रहा । फ्रेंच राज्यक्रान्ति और नेपोलियन के समय में इस देश पर कुछ समय के लिए फ्रांस का भी अधिकार हो गया था । तदनंतर यह हॉलैण्ड के अधीन हो गया । आखिर १८३० ई० में यहाँ के लोगों ने हॉलैंड के विरुद्ध विद्रोह कर दिया । तब से यह देश एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित है । पिछले दोनों महायुद्धों में इस देश को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी ।

जाति, रहन-सहन, आदि—बेल्जियम योरप के सब से अधिक घने बसे हुए देशों में है । यहाँ दक्षिण में रहनेवाले बेलून और उत्तर के निवासी फ्लेमिंग कहलाते हैं । फ्लेमिंग फ्रैंक नामक उस जर्मन जाति के वंशज हैं, जिसने उत्तरी बेल्जियम पर अधि-कार करके वहाँ के प्राचीन निवासियों को निकाल बाहर किया था । अब उत्तर और दक्षिण के लोगों में केवल भाषा का ही अंतर है । अन्य बातों में दोनों में काफी मेल-जोल हो चुका है ।

बेल्जियम एक द्विभाषी राज्य है । यहाँ उत्तर में फ्लेमिश और दक्षिण में बेलून भाषा को राजभाषा की स्थिति प्राप्त है । फ्लेमिश भाषा डच भाषा से और बेलून फ्रेंच से संबंधित है । बेल्जियम के पूर्वी सीमा-प्रदेश में जर्मन भाषा का भी प्रयोग होता है । कुछ क्षेत्रों में फ्रेंच भी बोली जाती है । यहाँ के अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं ।

फ्लेमिश जाति के लोगों में हाथ-करघे के कपड़ों और लेस-फीतों की बुनाई की प्राचीन परम्परा अभी तक विद्यमान है । यहाँ के जनजीवन में तड़क-भड़क के रंग-बिरंगे पहनावे का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशेष चलन है। इसकी छवि त्यौहारों के समय खास तौर से देखने को मिलती है। यहाँ कार्नी-वाल नामक उत्सव बड़े पैमाने पर मनाए जाते हैं। संत निकोलस का पर्व भी बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। इस मौके पर दूकानें सजाई जाती हैं और बच्चों को उपहार दिए जाते हैं। क्रिस्मस, नववर्ष-दिवस तथा ऐपीफेनी-दिवस नामक पर्व भी उत्साह से मनाए जाते हैं।

बेल्जियम के जनजीवन में दैत्यों की कथाओं का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इन कथाओं की झाँकियाँ १५ वीं शताब्दी से जुलूसों के रूप में यहाँ निकाली जाती रही हैं। बेल्जियनों को घुड़सवारी और धनुर्विद्या से बहुत अधिक प्रेम है। इन्हें राष्ट्रीय क्रीड़ाओं की प्रतिष्ठा प्राप्त है।

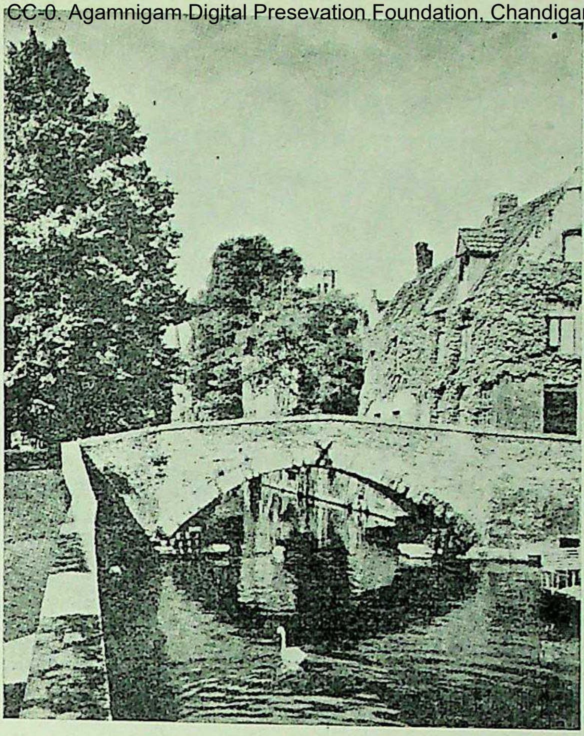

बेल्जियम एक सुन्दर देश है। यहाँ की एक मध्यकालीन बस्ती के बीच से निकलती हुई इस नहर की छवि कितनी मनमोहक है!

हॉलैण्ड की तरह बेल्जियम भी एक कृषि-प्रधान देश है। इस देश की ६० प्रतिशत भूमि कृषि के योग्य है। उद्योग के लिहाज से भी यह देश काफी समुन्नत है। यहाँ कोयले और लोहे की मूल्य-वान खानें हैं। यहाँ की आबादी के ४० प्रतिशत लोग उद्योगों में संलग्न हैं। इन उद्योगों में इस्पात का सामान, मशीनरी, रासायनिक पदार्थ, सूती और ऊनी वस्त्र तथा काँच का सामान बनाने के धंदे मुख्य हैं।

नगर—बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स है, जिसकी आबादी करीब ९ लाख है। यहाँ के दूसरे महत्वपूर्ण शहर एंटवर्प की आबादी करीब ५ लाख है। यही यहाँ का प्रमुख बंदरगाह है। अन्य उल्लेखनीय नगर घेंट और लीज हैं।

: फ्रांस :

बेल्जियम के पश्चिम में अटलांटिक महासागर के तट पर स्थित फ्रांस अपेक्षाकृत बहुत बड़ा देश है। इसका क्षेत्र-फल २,०६,२६२ वर्गमील और आबादी ४,५०,००,००० है। फ्रांस की पूर्वी सीमा इटली, स्विट्जरलैण्ड, जर्मनी, लुक्जमबर्ग और बेल्जियम नामक देशों की सीमा से जा मिलती है। इस देश के उत्तर में इंगलिश चैनेल, पश्चिम में अटलांटिक महा-सागर की बिस्के की खाड़ी और दक्षिण में स्पेन तथा भूमध्य सागर का प्रसार है।

प्राकृतिक स्थिति—यद्यपि पश्चिमी योरप की सब से ऊँची चोटी माउंट ब्लांक (१५,७८१ फीट) फ्रांस में ही है, फिर भी इस देश का अधिकांश क्षेत्र ३०० फीट से १,००० फीट तक की ऊँचाई का है। यहाँ के निचले क्षेत्र में कई बड़ी नदियाँ बहती हैं। इनमें सब से महत्वपूर्ण सीन है, जिसकी घाटी में पेरिस स्थित है। दूसरी बड़ी नदी गेरोन है। इसकी घाटी में केन्द्रीय पठार के ढाल आते हैं। दक्षिणी भाग में निचली जमीन है, जहाँ दलदल और झाड़ियाँ अधिक हैं। तीसरी प्रसिद्ध नदी रोन है, जिसकी घाटी आल्प्स पर्वतमाला को केन्द्रीय पठार से अलग करती है। फ्रांस में आल्प्स पर्वतमाला का आकार अर्धचन्द्राकार है। यह शृंखला रिविरा समुद्रतट से स्विट्जर-लैण्ड तक फैली हुई है। इसके भीतरी क्षेत्र में ऊँची-ऊँची चोटियाँ हैं। रोन नदी के उत्तर में चूने से निर्मित जूरा पर्वत और दक्षिणी सीमा पर कम चौड़े पेरीनीज पहाड़ फैले हुए हैं।

फ्रांस का समुद्रतट विविध प्रकार की झाँकियाँ प्रस्तुत करता है। उत्तर में फ्लैंडर्स के समुद्रतट के निकट बालू के टीलों का बाहुल्य है। पश्चिम की ओर बढ़ने पर ऊँचे कगार मिलते हैं। उधर ब्रिटेनी का समुद्रतट चट्टानी है। इस क्षेत्र के दक्षिण में समुद्रतट दलदली है और बीच-बीच में बालू के टीले हैं। भूम-ध्यसागर के तट पर रोन के पश्चिम में भी बालू का प्रसार है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अटलाण्टिक महासागर की 'उष्ण धारा' और भूमध्यसागर के प्रभाव से फ्रांस के समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों की जलवायु प्रायः समशीतोष्ण रहती है। इसी से शीतकाल में पश्चिमी फ्रांस में पूर्व की अपेक्षा कम सर्दी पड़ती है। दक्षिणी क्षेत्र अधिक गरम है। केवल पहाड़ों के ऊँचे स्थलों पर ठंडक अधिक पड़ती है।

इतिहास—रोमन साम्राज्य के उदय के पहले फ्रांस में अनेक जातियाँ रहती थीं। उन सब में एकता स्थापित करने का प्रमुख श्रेय रोमन साम्राज्य को ही था। रोम के पतन के बाद यह देश जर्मन जातियों के आक्रमणों से पदाक्रान्त रहा। इन आक्रमणकारियों में प्रमुख फ्रैंक जाति के लोग थे। इस जाति का शार्लमैन नामक राजा बड़ा प्रतापी हुआ। उसका राज्य जर्मनी और फ्रांस दोनों देशों में फैला हुआ था। शार्लमैन की मृत्यु के बाद ८१४ ई० में उसके साम्राज्य का बँटवारा हो गया। विभाजन में पश्चिमी क्षेत्र फ्रांस का राज्य बना। यह राज्य सामन्तों के प्रभाव के कारण शीघ्र ही कमजोर हो गया। ९८७ ई० में ह्यूकापे फ्रांस का राजा चुना गया। उसने पड़ोसी क्षेत्रों पर प्रभुत्व स्थापित करके इस राज्य को एक सुदृढ़ साम्राज्य में परिणत कर दिया।

१७वीं शताब्दी में फ्रांस ने कनाडा, अफ्रीका, मैडागास्कर, वेस्ट इंडीज तथा दक्षिणी अमेरिका में अपने उपनिवेश स्थापित किए। १८वीं शताब्दी में इस देश की महान् राज्यक्रान्ति हुई, जिसने सामंतवादी राजतंत्र-व्यवस्था को समाप्त करके यहाँ पहलेपहल प्रजातान्त्रिक गणतंत्रात्मक राजव्यवस्था की प्रस्थापना की। इस क्रान्ति की उद्घोषणा के अन्तर्गत स्वतंत्रता, समता और भ्रातत्व के सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया। इस उद्घोषणा का प्रभाव सारे योरप की विचारधारा पर पड़ा। यद्यपि नेपोलियन के युद्धों के कारण कुछ समय तक फ्रांस की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो गई थी, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति के दौर में इस देश ने पुनः अपने आपको सँभाल लिया और बड़ी तरक्की की। इसके बाद बीसवीं शताब्दी के दो महायुद्धों के कारण उसे पुनः बहुत क्षति उठानी पड़ी, परंतु युद्धोपरान्त यह देश फिर से उठ खड़ा हुआ। आज बावजूद इसके कि ब्रिटेन की तरह उसका भी औपनिवेशिक साम्राज्य बहुत-कुछ विघटित हो चुका है, फ्रान्स आर्थिक दृष्टि से बहुत अच्छी स्थिति में है।

फ्रांस के ब्रिटैनी प्रान्त की स्त्रियाँ अपने बच्चों को इस अनोखे परिधान में सुरक्षित रखती हैं।

जाति, रहन-सहन आदि—रोमन साम्राज्य के उदय के पूर्व फ्रांस में भूमध्यसागरीय जाति के लोग रहते थे। तदनन्तर जर्मन जाति की उपशाखा के फ्रैंक जाति के लोग इस क्षेत्र में आकर बसे। ये लोग ज्यादातर उत्तरी भाग में बसे थे, अतः वे 'नार्समैन' अथवा 'नार्मन' कहलाए और उनके नाम के आधार पर देश का उत्तरी क्षेत्र नार्मण्डी के नाम से पुकारा जाने लगा। उधर केल्ट जाति के लोग जिस क्षेत्र में थे, उसे ब्रिटैनी के नाम से पुकारा जाने लगा। इन्हीं प्राचीन जातियों के सम्मिश्रण से प्रसिद्ध फ्रैंच जाति का विकास हुआ है। इधर फ्रांस में विभिन्न देशों के लोग भी आकर बस गए हैं। उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी कारखानों में काम करने के लिए बहुतेरे इटैलियन आ गए हैं तथा फ्रैंच अफ्रीकी उपनिवेशों—विशेष रूप से अल्जीरिया—से भी काफी तादाद में आकर लोग यहाँ बस गए हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

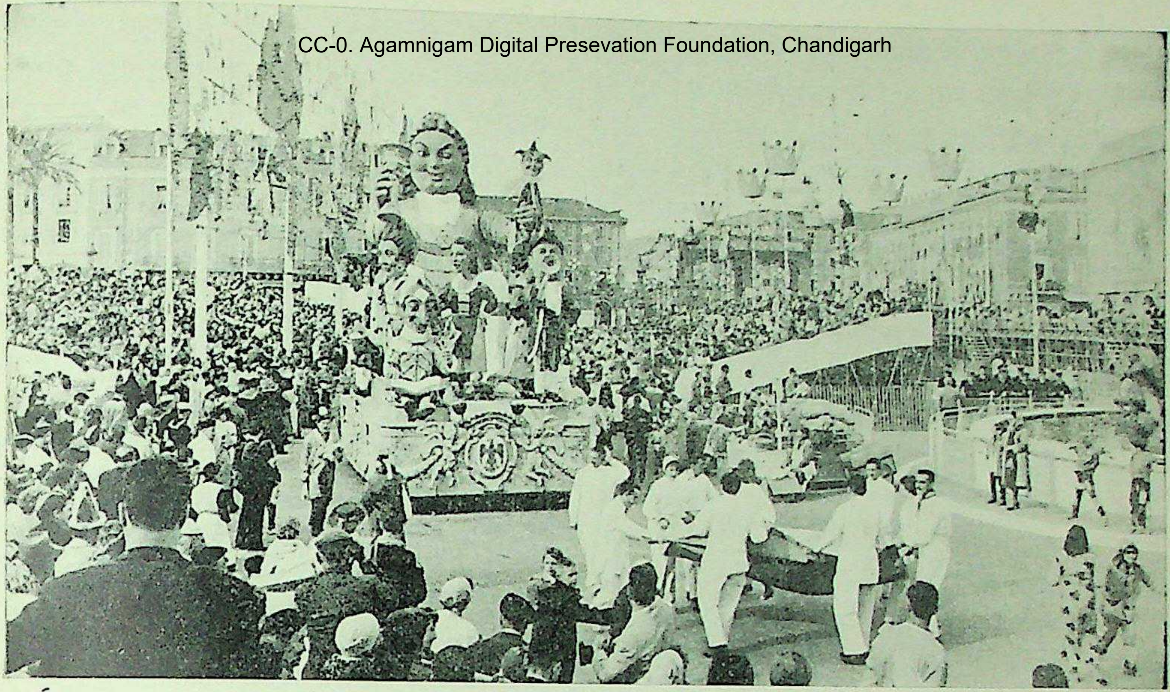

फ्रेंच लोग राग-रंग और मनमौजीपन के लिए दुनिया भर में मशहूर हैं। यह उनके एक कार्निवाल के जुलूस की झाँकी है
[फोटो—भारतस्थित 'फ्रेंच दूतावास' के सौजन्य से]।

प्रथम श्रेणी का औद्योगिक राष्ट्र होते हुए भी फ्रान्स की आबादी का बहुत बड़ा भाग कृषि-व्यवसाय में संलग्न है। यहाँ के ६० प्रतिशत क्षेत्र में कृषि होती है, जिसमें देश के २५ प्रतिशत लोग लगे रहते हैं। खेती के कामकाज में यहाँ पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ अधिक काम करती हैं। इन दिनों यहाँ अधिकतर मशीनों से खेती होती है। कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी यहाँ का एक बड़ा व्यवसाय है। खनिज उपज की दृष्टि से भी यह देश काफी संपन्न है। यहाँ कोयला, कच्चा लोहा, बॉक्साइट और पोटाश काफी मात्रा में मिलते हैं। यहाँ के उद्योगों में खनिज-उद्योग, मोटरकार और वायुयान-निर्माण, इंजीनियरिंग के विविध सामान का उत्पादन, वस्त्र-उद्योग और रासायनिक उद्योग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। योरपीय व्यापार में फ्रांस का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस देश ने योरपीय 'साझा-बाजार' के निर्माण में अग्रणी रूप से भाग लेकर पश्चिमी जर्मनी, इटली, बेल्जियम, लुक्जमबर्ग और हॉलैण्ड से घनिष्ठ व्यापारिक सहयोग स्थापित कर लिया है।

संसार के अन्य देशों के किसानों की भाँति फ्रांस का किसान भी व्यक्तिपरक है। उसे अपने खेत, घर और पशुओं से बड़ा मोह है। फ्रांसीसी समाज में व्याप्त व्यक्तिवाद का आधार वस्तुतः यहाँ का कृषक-वर्ग ही है, जिसे सामन्तवादी बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए राज्यक्रान्ति के शस्त्र को अपनाना पड़ा था। क्रान्ति के बाद नवीन फ्रांसीसी औद्योगिक एवं व्यावसायिक समाज का विकास इसी व्यक्तिवाद के आधार पर हुआ है। कृषकों का यह व्यक्तिपरक दृष्टिकोण फ्रांसीसी संसद में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

फ्रांसीसी लोग स्वभाव से मिलनसार और सहज मित्र बन जानेवाले होते हैं। उनमें आडम्बर की मात्रा कम होती है। वे जन्मजात विनोदी और मनोरंजनप्रिय होते हैं। बातचीत की आतुरता के लिए तो ये लोग संसार भर में प्रसिद्ध हैं। कला और राग-रंग के प्रति उनमें जन्मजात अनुराग होता है। देश की बौद्धिक हलचल का मुख्य केन्द्र पेरिस है। वहाँ के विचारकों का प्रभाव पूरे देश पर पड़ता रहा है। राज्यक्रान्ति के समय और उसके बाद फ्रांसीसी सामाजिक जीवन को अनुप्राणित करने में पेरिस का हाथ सर्वोपरि रहा है।

फ्रांसीसी भाषा गॉल क्षेत्र में बोली जानेवाली लैटिन भाषा के अपभ्रंश के रूप में विकसित हुई है। इस भाषा का प्रयोग फ्रांस के अतिरिक्त फ्रेंच उपनिवेशों, बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड, इटली, मिस्र, हैती, अमेरिका के लुसियाना राज्य और कनाडा के क्वीबेक प्रान्त में भी होता है। फ्रांस में रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयाइयों की संख्या अधिक है। प्रोटेस्टेन्ट आदि अन्य सम्प्रदायों की संख्या दस लाख से अधिक नहीं होगी।

१३वीं शताब्दी में फ्रांस योरप का प्रमुख सांस्कृतिक और बौद्धिक केन्द्र बन गया था। तभी से फ्रेंच साहित्य योरपीय साहित्य का धुराधार बन गया। यहाँ के विचारकों ने योरप में नए विचारों को फैलाया। नवजागरण-आन्दोलन में भी फ्रांस ने सब से महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। यहाँ चित्रकला, संगीत, आदि ललित कलाओं का अद्भुत विकास हुआ। यहाँ के गॉथिक शैली के गिरजाघर और वार्साई का राजप्रासाद मध्यकालीन स्थापत्य-कला के सुन्दर नमूने हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वितीय महायुद्ध के बाद फ्रांस ने अपने कई उपनिवेशों को स्वतन्त्र कर दिया है और उसके जो उपनिवेश अभी बाकी हैं, उन्हें भी 'फ्रांसीसी समुदाय' में शामिल कर लिया गया है। इस समुदाय में फ्रांस के अतिरिक्त अफ्रीका का सहारा-क्षेत्र, हिन्द महासागर के द्वीप, कैरीबियन क्षेत्र के मार्टिनिक और गादेलुपे तथा फ्रांसीसी गायना, न्यू कैलीडोनिया, फ्रांसीसी पोलिनेशियन द्वीप, आदि क्षेत्र शामिल हैं।

नगर—फ्रांस की राजधानी और सब से बड़ा नगर पेरिस है, जिसकी आबादी करीब ७० लाख है। पेरिस वाणिज्य, संस्कृति, शिक्षा, कला और यातायात का देश का सब से बड़ा केन्द्र है। वह फ्रान्स ही नहीं, बल्कि योरप भर का सांस्कृतिक पीठस्थान है। सीन नदी के दोनों तटों पर बसे हुए इस नगर की शोभा और रंगीनी विश्वविश्रुत है। संसार भर के पर्यटक निरंतर आकर्षित होकर इस नगर के प्रति ललकते रहते हैं। कलाकारों का तो यह तीर्थस्थल-जैसा है। यहाँ अनेक दर्शनीय स्थान और इमारतें हैं, जिनमें सब से उल्लेखनीय हैं—लगभग ९०० फीट ऊँची प्रसिद्ध 'ईफिल टॉवर', लुव्र नामक महान् कला-संग्रहालय, वार्साई के भव्य राजप्रासाद और नात्रदम का मध्यकालीन गिरजाघर। पेरिस के अतिरिक्त फ्रांस के अन्य बड़े नगर हैं—लायंस (५॥ लाख), तूलु (२॥। लाख), नाइस (२॥ लाख), मार्सेल (६॥ लाख), और बोर्दो (२॥ लाख)।

: स्पेन :

प्राकृतिक स्थिति—फ्रांस के दक्षिण-पश्चिम में आइबेरियन प्रायद्वीप के अधिकांश भाग में फैला हुआ स्पेन एक आकर्षक देश है। इसके उत्तर में पेरीनीज पर्वतमाला का प्रसार है; पूर्व तथा दक्षिण में भूमध्यसागर है एवं उत्तर तथा पश्चिम में अटलांटिक महासागर का विस्तार है। इस देश का क्षेत्रफल १,९४,२३२ वर्गमील और आबादी करीब तीन करोड़ है। स्पेन की उत्तरी सीमा पर पेरीनीज पर्वत की चोटियाँ सदैव बर्फ से ढकी रहती हैं। यहाँ का मध्यवर्ती पठार भूरे रंग की चट्टानों से निर्मित है।

इतिहास—प्राचीनकाल में स्पेन के दक्षिणी और पूर्वी समुद्रतट पर फीनीशियन और यूनानी लोगों ने अपनी बस्तियाँ स्थापित की थीं। ईस्वी पूर्व २०१ में यह देश रोमन साम्राज्य में मिला लिया गया। रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों में इस क्षेत्र पर वेन्डाल और विसीगॉथ नामक बर्बर जातियों के आक्रमण हुए। ७११ ईस्वी में मूर जाति के मुसलमानों ने दक्षिण से इस क्षेत्र पर आक्रमण करके उसके अधिकांश भाग पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। केवल उत्तरी भाग में अस्तूरिया, लियोन, गैलीशिया, नवारे और अरागान के छोटे-छोटे राज्य उनके चंगुल से मुक्त बने रहे। बाद में इन्हीं राज्यों ने मिलकर इस देश को मूरों के प्रभाव से मुक्त कराया। अमेरिका की नई दुनिया का पता लगने पर स्पेनिश लोगों ने वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित किए। उधर उत्तरी अफ्रीका और फिलीपाइन द्वीप-समूह में भी उनका राज्य स्थापित हो गया। कुछ समय तक हॉलेण्ड, बेल्जियम और उत्तरी इटली पर भी स्पेनिश झंडा फहराया। लेकिन इस विशाल साम्राज्य की अवधि बहुत थोड़ी रही। १८वीं शताब्दी में उपर्युक्त योरपीय देश स्पेन के राज्य से अलग हो गए और १८९८ ई० में लैटिन अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों और फिलीपाइन पर संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने अधिकार कर लिया।

नेपोलियन ने अपने भाई जोसेफ बोनापार्ट को स्पेन का नरेश बना दिया था। पर १८०८ ई० में मैड्रिड की जनता ने विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, जिससे उक्त नगर की सड़कों पर जमकर लड़ाइयाँ हुईं। इस युद्ध के बाद स्पेनवासियों ने फ्रांसीसियों को अपने देश से निकाल दिया। फ्रांसीसियों के निकाले जाने के बाद फर्डीनेन्ड सप्तम के अधीन स्पेन में एक राजतंत्र की स्थापना हुई थी, पर उसके निधन के बाद ४० वर्ष तक इस देश में अन्तःकलह होता रहा। १९३१ ई० में अंतिम स्पेन-नरेश अलफोन्सो देश छोड़कर भाग गया और वहाँ एक प्रजातांत्रिक गणतंत्र की स्थापना हुई। पर पाँच वर्ष के बाद ही जनरल फ्रैंको ने सेना के सहयोग से देश में एक गृहयुद्ध आरम्भ कर दिया। यह गृहयुद्ध चार वर्ष तक चला। उसके अन्त में जनरल फ्रैंको के अधीन स्पेन में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तानाशाही शासन स्थापित हो गया। तब से देश की बागडोर अधिनायक फ्रैंको के ही हाथों में है।

जाति, रहन-सहन, धर्म, आदि—स्पेन में प्राचीनकाल में आइबेरियन, केल्ट, कार्थेजीनियन, रोमन, विसीगॉथ और मूर आदि अनेक जातियों का पदार्पण हुआ। उन्हीं के सम्मिश्रण से वर्तमान स्पेनिश जाति बनी है। इस देश की अधिकांश आबादी समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में घनीभूत है। प्रायद्वीप के मध्य पठारी क्षेत्र में केवल यहाँ-वहाँ छितरी हुई आबादी है।

स्पेनिश भाषा लैटिन से उत्पन्न रोमान्स (रोमानी) नामक भाषा - परिवार की एक बोली है। यह संसार में सब से अधिक बोली जानेवाली पाँचवीं भाषा है। स्पेन के अलावा यह मध्य और दक्षिणी अमेरिका के अनेक राज्यों की भी राजभाषा है। देश के विविध क्षेत्रों में इसके अनेक प्रादेशिक रूप प्रचलित हैं। धर्म के लिहाज से स्पेन में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय का प्रभाव सब से अधिक है।

स्पेन के लोगों को नृत्य-गान का बड़ा शौक है :: यह एक स्पेनिश नृत्य की झाँकी है।

स्पेनिश संस्कृति का सब से अधिक विकास १६ वीं से १८ वीं शताब्दी के बीच में हुआ था। इन दिनों यहाँ अनेक प्रसिद्ध चित्रकार और साहित्यकार हुए। स्पेन के नृत्य जगत्प्रसिद्ध हैं। यहाँ की नृत्य-शैली पर जिप्सी नृत्य-प्रणाली का विशेष प्रभाव है।

स्पेन में 'साँड़ की लड़ाई' प्रमुख मनोरंजन माना जाता है। इस क्रूर क्रीड़ा में साँड़ से लड़नेवाला व्यक्ति रंगभूमि में उस पशु का सामना करता है। उसे बढ़िया पोशाक पहनाई जाती है और उसके हाथ में एक लाल कपड़ा होता है, जिससे वह साँड़ को आकृष्ट एवं उत्तेजित करता है। बचाव के लिए उसके पास तलवार रहती है। इस द्वन्द्व-युद्ध में कभी - कभी उसे उत्तेजित साँड़ के पैने सींगों का शिकार बनकर अपनी जान तक से हाथ धो लेना पड़ता है ! कई त्यौहारों के अवसर पर सधे हुए साँड़ - संचालक उन पशुओं के साथ खेलते हुए जुलूस में भी निकलते हैं।

स्पेन अपने ऐतिहासिक भवनों के लिए प्रसिद्ध है। इनमें ग्रानाडा की अलहम्बरा नामक इमारत, कोरदोबा की मसजिद, अलकाजार का किला, गिराल्डा की मीनार और सेविल का गिरजाघर उल्लेखनीय हैं।

नगर—स्पेन की राजधानी मैड्रिड है। उसकी आबादी १९ लाख के करीब है। दूसरा प्रमुख नगर बार्सीलोना है, जो भूमध्यसागर के तट पर देश का प्रमुख बन्दरगाह है।

: पुर्तगाल :

आइबेरियन प्रायद्वीप के पश्चिमी समुद्र-तट पर एक चौड़ी पट्टी के रूप में स्थित पुर्तगाल देश का क्षेत्रफल ३२,२२४ वर्गमील और आबादी ८६,५४,००० है। इस देश के उत्तर और पूर्व में स्पेन है।

प्राकृतिक दशा—उत्तरी पुर्तगाल में ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और सँकड़ी घाटियाँ हैं। इस देश के पहाड़ स्पेन के पर्वतों से मिले हुए हैं। दक्षिणी पुर्तगाल की घाटियाँ उर्वर हैं। उनमें चौरस मैदान हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इतिहास—ईस्वी पूर्व दूसरी से पाँचवीं शताब्दी ई० तक पुर्तगाल लूसीटानिया के नाम से रोमन साम्राज्य का अंग बना हुआ था। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में इस पर मूर जाति ने अधिकार जमा लिया। अल्फोंजो प्रथम (११२८ से ११८५ ई०) के शासनकाल में इसे एक स्वतंत्र देश के रूप में मान्यता मिली। १५वीं और १६वीं शताब्दी में पुर्तगाली नाविकों ने 'केप ऑफ गुड होप' के रास्ते योरप से भारत पहुँचने के जलमार्ग एवं दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील आदि स्थानों का पता चलाया और वहाँ उपनिवेश स्थापित किए। इस युग में पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वाणिज्य का एक प्रमुख केन्द्र बन गई थी। १५८० से १६४० ई० तक इस देश पर स्पेन का अधिकार रहा और उसके बहुत-से उपनिवेश ब्रिटेन तथा हॉलैंड द्वारा हथिया लिए गए। १९१० ई० में यहाँ विद्रोह हुआ, जिसके फलस्वरूप यहाँ का शाही परिवार देश छोड़कर भाग गया। उस समय से यहाँ एक गणतंत्रात्मक राज्य चल रहा है, जो कि वस्तुतः एक अधिनायकतंत्र है।

जाति, रहन-सहन आदि—पुर्तगाल के लोगों के रक्त में केल्ट, नार्डिक और मूर जातियों का सम्मिश्रण है। दक्षिणी क्षेत्र में उनमें कुछ नीग्रो रक्त भी घुल-मिल गया है। अन्य अनेक लैटिन जातियों की भाँति पुर्तगाली लोगों में भी विचारों के आदान-प्रदान और अपनी योजनाओं पर वाद-विवाद करने की विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है। वे दूसरों की बातों में हस्तक्षेप करने को सदैव आतुर रहते हैं। इन लोगों को पशु-पक्षी पालने का बड़ा चाव है। इनके घरों में प्रायः बिल्ली आदि जानवर पले रहते हैं। यहाँ के पहाड़ी गाँवों में गदहों का बड़ा महत्व है, जो कि सामान ढोने और सवारी के काम में आते हैं। स्पेन की तरह पुर्तगाल में भी साँड़ की लड़ाई का रिवाज है, परन्तु यहाँ यह लड़ाई भिन्न प्रकार की होती है। यहाँ साँड़ को मारते नहीं तथा उससे लड़नेवाला घोड़े पर सवार होता है।

मूरों के शासनकाल में पुर्तगाली लोगों में धार्मिक मदान्धता और क्रूरता का बीजारोपण हुआ। यह प्रवृत्ति अब भी उनमें बनी हुई है। गुलामों के क्रय-विक्रय के व्यापार से पुर्तगालियों ने कभी बड़ा लाभ कमाया था। उन दिनों उनकी जातीय अहमन्यता अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी।

स्पेनिश भाषा की भाँति पुर्तगाली भाषा भी लैटिन परिवार की बोली है। उस पर मूरों की बोली का भी काफी प्रभाव पड़ा है। मध्यकाल में उस पर फ्रेंच भाषा का भी प्रभाव पड़ा था। धर्म के लिहाज से पुर्तगाली कट्टर रोमन कैथोलिक हैं।

पुर्तगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी पुरानी परम्पराएँ और रीति-रिवाज सुरक्षित हैं, यद्यपि राजधानी लिस्बन और ओपोर्टो जैसे नगरों में आजकल आधुनिकता का वातावरण देखने को मिलता है। पुर्तगाली लोग धार्मिक स्थानों की यात्राएँ करने में विशेष रुचि रखते हैं। यहाँ वेशभूषा आदि में अब भी पुराने डिजाइनों को बहुतायत से काम में लाया जाता है। यहाँ की बैलगाड़ी और नावें अभी भी पुराने किस्म की हैं। यहाँ का संगीत भी पुरानी धुनों पर आश्रित है।

यह एक विचित्र बात है कि बीसवीं शताब्दी के इस प्रगतिशील युग में भी पुर्तगाल उपनिवेशवाद का झंडा कायम रखने की कोशिश करते हुए अपने बचे-खुचे उपनिवेशों पर पंजा जमाये हुए है। इसी हठधर्म के फलस्वरूप अभी भी अजोर, मदीरा, केपवर्डे, साओतोपे और प्रिंसिए द्वीप के अतिरिक्त गिनी, अंगोला और मोजाम्बिक आदि देश पुर्तगाल के क्रूर चंगुल में हैं। इस उपनिवेशवादी पंजे से छुटकारा पाने के लिए अंगोला, मोजाम्बिक आदि के लोग निरन्तर स्वातंत्र्य-आन्दोलन चला रहे हैं। चीन के दक्षिणी समुद्रतट पर मकाओ नामक बस्ती तथा हिन्देशिया के निकट टाइमोर द्वीप पर भी अभी पुर्तगाल का ही अधिकार है। भारत में गोआ, डामन और ड्यू नामक बस्तियाँ अभी हाल ही में पुर्तगाली पंजे से स्वतंत्र हुई हैं। वे पुनः भारत में शामिल हो गई हैं।

नगर—पुर्तगाल का सब से बड़ा नगर लिस्बन है। उसकी आबादी ८॥ लाख के लगभग है। दूसरा बड़ा नगर ओपोर्टो है, जिसकी आबादी लगभग २॥। लाख है। लिस्बन एक उत्तम प्राकृतिक बंदरगाह है। यहां कई इमारतें दर्शनीय हैं।

: इटली :

इटली ऐतिहासिक दृष्टि से यूनान के बाद योरप का सब से महत्वपूर्ण देश है। प्राचीन यूनान की भाँति इस देश ने भी योरपीय संस्कृति और सभ्यता का विकास करने में महत्व का योग दिया है।

इटली एक प्रायद्वीप है, जो योरप के दक्षिणी भूभाग से उभरकर भूमध्यसागर में बढ़ता चला गया है। इस प्रायद्वीप की शक्ल मनुष्य के बूट पहने हुए पैर की-सी है। प्रायद्वीप के सिरे पर स्थित सिसली द्वीप उक्त बूट के पंजे जैसा मालूम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देता है। पश्चिम की ओर भूमध्यसागर में स्थित सार्डीनिया नामक द्वीप भी इटली का ही अंग माना जाता है। सिसली और सार्डीनिया सहित इटली का क्षेत्रफल १,१६,२२५ वर्गमील और आबादी ५ करोड़ है। यहाँ की राजधानी रोम है। कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय का केन्द्र 'वैटिकन' भी रोम में ही है।

प्राकृतिक स्थिति—इटली का उत्तरी क्षेत्र सुप्रसिद्ध आल्प्स पर्वत द्वारा चन्द्राकार ढंग से परिवेष्टित है। यातायात की सुविधा के लिए इस क्षेत्र की आल्प्स-श्रेणी में कई स्थानों पर सुरंगें बना दी गई हैं। इन्हीं सुरंगों द्वारा इटली का पश्चिमी और केन्द्रीय योरप के देशों के बीच आवागमन होता है।

आल्प्स के अलावा इटली की दूसरी प्रमुख पर्वतशृंखला एपेनाइन पर्वतमाला है, जो लिगुरियन आल्प्स पर्वतश्रेणी से दक्षिण की ओर मिली हुई है। यह पर्वतमाला ठेठ एड्रियाटिक सागर के समुद्रतट तक पहुँच जाती है। इस पर्वतीय क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की मिट्टी, चट्टानें और बालू के पत्थर मिलते हैं, जिनका प्राकृतिक सौन्दर्य अद्भुत है।

इटली के नगरों में वेनिस अपनी नहरों के कारण सब से अनूठा है। ये नहरें इस नगर के यातायात की प्रमुख प्रणालियाँ हैं।

एपेनाइन पर्वतमाला का ढाल पश्चिम की ओर है, अतएव यहाँ की नदियों का बहाव भी उसी दिशा में है। टस्कनी, लैटियम और उमब्रिया के पहाड़ अधिक ऊँचे नहीं हैं, परन्तु यहाँ संगमर्मर आदि विभिन्न प्रकार की कीमती चट्टानें पाई जाती हैं। नेपल्स के समीप इटली का जगत्प्रसिद्ध ज्वालामुखी वेसुवियस अब भी धुँआ उगला करता है। उसमें कई बार भीषण विस्फोट हो चुके हैं। एपेनाइन के पूर्व में गरगानो और अपूलिया के पठार हैं। इटली की प्रमुख नदियाँ टाइबर, पो, आर्नो और पेस्कारा हैं। इनमें पो नदी की घाटी का महत्व सब से अधिक है।

इटली के उत्तरी भाग की जलवायु केन्द्रीय योरप की जलवायु के समान है। दक्षिणी भाग और द्वीपों की जलवायु भूमध्यसागर से प्रभावित रहती है। यहाँ अधिक गरमी पड़ती है। आल्प्स और एपेनाइन पर्वतमाला के ऊँचे भागों पर हिमपात होता है। साफ शुष्क वायु और धूप का आनन्द योरप में सब से अधिक इटली में ही मिलता है।

इतिहास—इटली के प्राचीन इतिहास का विस्तृत विवरण आप अन्य एक विभाग के अंतर्गत पढ़ ही चुके हैं, अतः उसे यहाँ विस्तारपूर्वक दोहराने की आवश्यकता नहीं है। सुविख्यात रोमन साम्राज्य के शताब्दियों के इतिवृत्त के साथ जुड़ा रहने के कारण इटली की आत्म-कहानी एक प्रकार से समूचे योरप की आत्म-कथा के साथ संलग्न है। पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की नींव ग्रीस के साथ-साथ रोमन उपलब्धियों पर भी आश्रित है। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर की कतिपय बर्बर जातियों ने इटली के उत्तरी भाग को रौंद डाला था। तदनंतर दक्षिणी इटली को लेकर बाइजैन्टाइन साम्राज्य और सिसली के अरब शासकों में वर्षों तक संघर्ष हुआ था। बाद में उत्तरी इटली कुछ समय तक 'होली रोमन साम्राज्य' का अंग बन गया था। लेकिन 'होली रोमन सम्राटों' और पोप में अनवरत संघर्ष के फलस्वरूप नेपल्स, फ्लोरेंस, मिलान और वेनिस नामक नगर मध्य काल में स्वतंत्र नगर-राज्य के रूप में संगठित हो गए। उस युग में इन नगरों की अपूर्व व्यापारिक उन्नति के फलस्वरूप देश का वैभव बहुत बढ़ गया और ये स्थान योरपीय शिक्षा और कला के महान् केन्द्र बन गए। योरप का महान् पुनर्जागरण-आन्दोलन—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसके आधार पर अंत में योरुपीय देशों में प्रजातंत्र, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, बौद्धिक ज्ञान, विज्ञान तथा कला और कारीगरी आदि का विकास हुआ था––इन्हीं नगरों से आरम्भ हुआ था। इस आंदोलन के कारण इटली उन दिनों योरप का नेता माना जाने लगा था।

१६वीं शताब्दी में इटली पर अधिकार जमाने के लिए फ्रांस और स्पेन में काफी संघर्ष हुआ, जिसके बाद १५० वर्ष तक इस देश पर स्पेन का अधिकार रहा। कुछ समय के लिए उस पर ऑस्ट्रिया ने भी शासन किया। उधर नेपोलियन ने भी कुछ काल के लिए उस पर कब्जा करके वहाँ की लड़ाकू जातियों को संगठित किया। १८४८ ई० में इटली में एक क्रांतिकारी आंदोलन का श्रीगणेश हुआ, जिसका लक्ष्य था इटैलियनों में एकता स्थापित करना और उन्हें स्वतंत्र करना। इस आंदोलन के फलस्वरूप १८६१ ई० में कुछ छोटे राज्यों ने मिलकर सार्डीनिया-नरेश विक्टर इमानुअल को अखिल इटली का सम्राट् घोषित कर दिया और १८७० ई० में उसी राज्य में पोप के राज्य को भी मिला लिया गया। इस प्रकार समस्त इटली में एकता स्थापित हो गई।

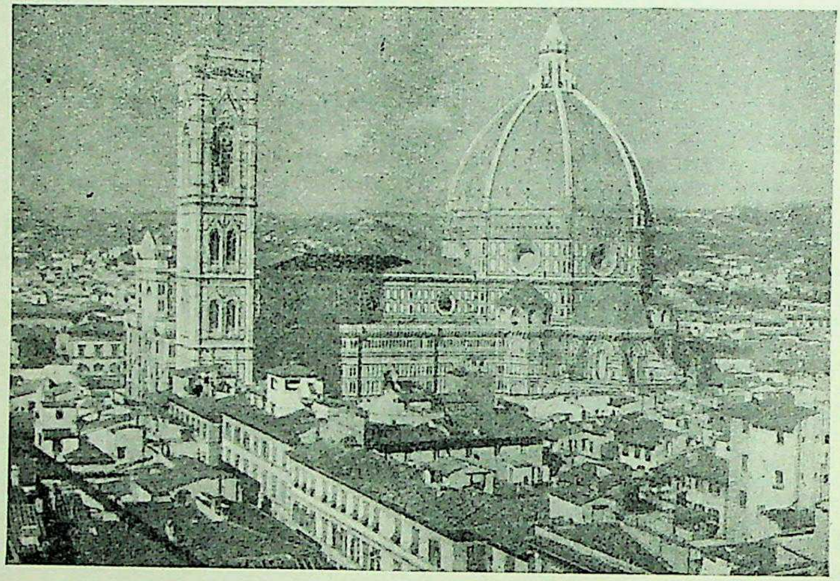

इटली मध्यकालीन कला-स्मारकों के महान् संग्रहालय जैसा है। भव्य गुंबद और सुन्दर मीनारों से युक्त फ्लोरेन्स नगर की इस छवि पर गौर कीजिए।

प्रथम महायुद्ध के बाद हुई शान्ति-संधि से इटली में तीव्र असंतोष फैला। इसका नतीजा यह हुआ कि मुसोलिनी के नेतृत्व में वहाँ फासिस्ट दल का उदय हुआ, जिसने शासन पर अधिकार कर लिया। मुसोलिनी इटली का एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। परंतु द्वितीय महायुद्ध में परास्त होने पर स्वयं देश के नागरिकों ने ही उसकी हत्या कर दी! तब से इटली में एक प्रजातांत्रिक गणतंत्र स्थापित है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इटली के उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेश––लीबिया, सोमालिया और इरीट्रिया––संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दिए गए। इनमें से प्रथम दो तो बाद में स्वतंत्र हो गए और तीसरा इथियोपिया के साथ मिल गया।

भूमध्यसागर में इटली के दक्षिणी सिरे पर स्थित सिसली और उसके पश्चिम में स्थित सार्डीनिया नामक द्वीप भी इटैलियन राष्ट्र के ही अधीन हैं। सिसली की आबादी ४५ लाख है। यह द्वीप अधिकतर पहाड़ी है। सुप्रसिद्ध एटना ज्वालामुखी इसी द्वीप में है। उक्त ज्वालामुखी के विस्फोटों से निकली मिट्टी की बदौलत इस द्वीप की धरती बड़ी उपजाऊ हो गई है। सार्डीनिया की आबादी करीब १३ लाख है।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि––इटली के प्राचीन बाशिन्दों में सब से महत्वपूर्ण इट्रस्कन जाति के लोग थे, जो संभवतः एशिया से आकर टस्कनी और पो-घाटी में बस गए थे। बाद में केल्ट जाति के लोगों ने आकर इन इट्रस्कनों को पो-घाटी से भगा दिया। अन्त में रोमन लोगों का उदय हुआ, जिन्होंने अन्य सब को परास्त करके उन्हें अपने में मिला लिया। यह कार्य ई० पू० तीसरी शताब्दी में हो चुका था। उसके बाद गॉथ, लम्बार्ड और अरब आदि लोगों का आक्रमण हुआ। ये सब आज अखिल इटैलियन जाति में घुल-मिल गए हैं, फिर भी इटली के उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्रों के निवासियों के स्वभाव और आचार-व्यवहार में स्पष्ट अन्तर है। दक्षिण के लोग अधिकतर कृषक हैं। वे आडम्बरहीन और उद्दंड स्वभाव के होते हैं। उत्तर के लोग चालाक, चुस्त, गर्वीले और व्यवसाय-कुशल हैं।

इटली की आबादी के ४० प्रतिशत लोग खेती में व्यस्त हैं। खाद्यान्न के सम्बन्ध में यह देश आत्मनिर्भर है। यहाँ गेहूँ, चावल, मक्का और गन्ने की खेती अधिक होती है। पूरे देश में अंगूर के बाग फैले हैं, जिससे शराब तैयार की जाती है। सेब भी यहाँ काफी मात्रा में होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिछले दिनों इटली में उद्योगों का काफी विकास हुआ है। आजकल यहाँ प्रति वर्ष ७० लाख टन इस्पात तैयार होता है। यहाँ साइकिल, मोटर, स्कूटर आदि के बड़े कारखाने हैं। इनके अलावा रेलवे-इंजन, बिजली का सामान, मशीनी सामान, रबड़ तथा सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र एवं रासायनिक पदार्थों के उद्योग भी यहाँ काफी उन्नत अवस्था में है।

इटली की प्रधान बोली लैटिन भाषा-परिवार की है। इस भाषा का निर्माण १३ व शती में हो चुका था। सार्डीनिया और दक्षिणी इटली की भाषा पर स्पेनिश भाषा का प्रभाव है। उत्तरी क्षेत्र के कुछ स्थानों में जर्मन और फ्रेंच भी बोली जाती हैं।

इटली-निवासी ज्यादातर रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के हैं। सामान्यतया यहाँ के लोग धर्मपरायण होते हैं। इटली की सांस्कृतिक वसीयत योरप के सभी देशों से बढ़ी-चढ़ी है। रोमन और पुनर्जागरण-काल में कला एवं साहित्य के क्षेत्र में इस देश ने महान् उपलब्धियाँ की थीं। तत्सम्बन्धी विस्तृत विवरण अन्य विभागों के अंतर्गत आप पढ़ ही चुके हैं।

नगर—इटली का प्रधान नगर राजधानी रोम है, जिसकी आबादी लगभग २२ लाख है। प्राचीन रोमन साम्राज्य का प्रमुख पीठस्थान होने के नाते यह नगर प्राचीनकाल में पाश्चात्य जगत् का सब से महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। उसके पुरातन वैभव और गौरव की याद दिलानेवाली रोमन युग की अनेक इमारतें आज भी यहाँ मौजूद हैं। उधर रोमन कैथोलिक ईसाई संप्रदाय के प्रधान धर्मगुरु पोप का आवास-स्थल होने के नाते भी इस नगर का सदियों से विशिष्ट महत्व रहा है। यह रोमन कैथोलिक ईसाइयों का महान् धर्मतीर्थ है। देश के यातायात का प्रमुख संगमस्थल होने के नाते भी इसका काफी महत्व है। यहाँ अंतर्राष्ट्रीय महत्व का हवाई केन्द्र है। इटली के अन्य बड़े नगर हैं--मिलान (आबादी २५ लाख), नेपल्स (१२ लाख), ट्यूरीन (१४ लाख), जेनोआ (९ लाख), फ्लोरेंस (६ लाख), बारी (१२ लाख) और वेनिस (७॥ लाख)। इनमें मिलान, फ्लोरेंस तथा वेनिस में ऐतिहासिक महत्व की अनेक कलापूर्ण इमारतें हैं। मिलान का गिरजाघर योरप के सब से बड़े गिरजाघरों में है। फ्लोरेंस में पुनर्जागरणकाल की कई एक सुंदर कलापूर्ण इमारतें हैं। वेनिस अपनी अद्भुत जल-प्रणालियों के लिए जगद्विख्यात है। ये नहरें यातायात के लिए सड़कों की तरह काम में लाई जाती हैं। नेपल्स एक उत्तम बंदरगाह है और ट्यूरीन देश का महान् औद्योगिक नगर है।

वैटिकन नगर-राज्य—१९२९ ई० की संधि में इटली द्वारा रोम नगर के मध्य में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के केन्द्र वैटिकन नगर-राज्य को सार्वभौम सत्तासम्पन्न स्वतंत्र राज्य की मान्यता प्रदान की गई। इस नगर-राज्य का क्षेत्रफल केवल १०८.७ एकड़ है, जिसमें सेंट पीटर का प्रसिद्ध गिरजाघर, कुछ अन्य इमारतें और टाइबर नदी के दक्षिणी तट का एक उद्यान शामिल है। वैटिकन नगर की सीमा में नहीं होते हुए भी रोम और उसके बाहर की १२ इमारतें भी इस राज्य में शामिल मानी जाती हैं।

चौथी शताब्दी ई० से वैटिकन नगर कैथोलिक सम्प्रदाय के प्रधान--पोप--की राजधानी है। पुनर्जागरणकाल में पोपों ने कला को बड़ा संरक्षण प्रदान किया था। उस समय से वैटिकन के राजप्रासाद में कला का एक महान् संग्रहालय स्थापित है। सेन्ट पीटर का गिरजाघर संसार में सब से बड़ा और प्रसिद्ध ईसाई प्रार्थना-मंदिर है। इसके निर्माण में इटली के अनेक महान् कलाकारों की देन का समावेश हुआ है।

वैटिकन-प्रासाद का निर्माण १५ वीं शताब्दी में कराया गया था। उसके भित्ति-चित्रों की रचना रैफेअल और माइकेल एंजेलो जैसे नवजागरणकाल के महान् कलाकारों ने की थी। पोप के अंगरक्षक स्विस जाति के सैनिक होते हैं, जो अपनी प्राचीन परम्परा की वेशभूषा में बड़े आकर्षक लगते हैं। इस नगर-राज्य का अपना झंडा है; मुद्रा तथा डाक-व्यवस्था, रेलवे-स्टेशन, समाचारपत्र, रेडियो-स्टेशन आदि भी अपने हैं।

: स्विट्ज़रलैंड :

आल्प्स पर्वत के प्रांगण में स्थित स्विट्ज़रलैंड 'पृथ्वी के स्वर्ग' के नाम से प्रख्यात है। यहाँ की प्राकृतिक सुषमा और नैसर्गिक दृश्य अद्वितीय हैं। इस देश का क्षेत्रफल १५,९४४ वर्गमील और आबादी ५२,१०,००० है। यहाँ की राजधानी बर्न है।

प्राकृतिक स्थिति—स्विट्ज़रलैंड के कुल क्षेत्र का दो-तिहाई भाग पर्वतीय है और शेष अंश ढालू पहाड़ी पठार है। इस देश की पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित जूरा पर्वत की घाटियों में घने जंगल हैं। यहाँ की नदियों का बहाव पूर्वोत्तर दिशा में है और वे सब राइन नदी में मिलती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काश्मीर की तरह स्विट्जरलैंड को भी 'पृथ्वी के स्वर्ग' की संज्ञा प्रदान की जाती है ! हिममंडित पर्वतों के बीच स्थित इस छोटे-से स्विस ग्राम की सुषमा पर गौर कीजिए ! [फो०—भारतस्थित 'स्विस दूतावास' के सौजन्य से।]

स्विट्जरलैंड में आल्प्स पर्वतमाला की दो श्रेणियाँ हैं, जो उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा में फैली हैं। उत्तरी क्षेत्र की चोटियाँ बहुत ऊँची हैं। यहाँ की जुंगफ्राउ चोटी १३,६५३ फीट और फिंस्टरर हार्न नामक चोटी १४,०३२ फीट ऊँची है। यह पर्वतमाला १३० मील लम्बी है। इसके बीच में रीउस नदी की गहरी पतली घाटी है, जो दक्षिणी आल्प्स से निकलकर उत्तर की ओर बहती हुई मध्यक्षेत्रीय पठार में पहुँचती है। स्विस इतिहास में इस नदी की घाटी का बड़ा महत्व है। आजकल इस घाटी से ज्यूरिख से सेंट गोथार्ड दर्रे तक जानेवाला रेलमार्ग बना है, जिससे स्विट्जरलैंड से इटली की ओर जाया जा सकता है। बर्नीज ओवरलैण्ड पर्वतमाला में अनेक नदियाँ हैं, जो उत्तर अथवा उत्तर-पश्चिम की ओर बहती हैं। ये नदियाँ जब पठारी क्षेत्र में पहुँचती हैं, तो पुराकाल में हिमखंडों के एकत्र होने से बनी झीलों में जाकर मिल जाती हैं। स्विट्जरलैंड में इस प्रकार की कई झीलें हैं। उन में सब से बड़ी ज्यूरिख, लुकर्न, थुन और ब्रिज नामक झीलें हैं।

दक्षिणी आल्प्स पर्वतमाला में पूर्व की ओर ग्रिसन नामक चौड़े पर्वत हैं, जो बर्नीज ओवरलैण्ड श्रेणी से अलग हैं। यहाँ के पर्वतों में अनेक दर्रे हैं। पश्चिम में मांट ब्लांक और मांटेरोजा नामक चोटियाँ क्रमशः १५,७८१ और १५,२०३ फीट ऊँची हैं। दक्षिणी पहाड़ों के पानी का बहाव दक्षिण की ओर है, लेकिन इस जल की निकासी का कोई मार्ग नहीं है। इसी कारण यहाँ अनेक झीलें बन गई हैं।

स्विट्जरलैंड के लिए पर्वतों का बड़ा महत्व है। पर्वतों से ही इस देश की सीमाएँ निरंतर सुरक्षित बनी रह सकी हैं और इन्हीं की बदौलत इस देश का एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में विकास हुआ है। स्विट्जरलैंड में शीतकाल में भयंकर सर्दी पड़ती है। यहाँ हिमपात भी बहुत होता है। लेकिन दक्षिण की गरम हवाओं के कारण बर्फ प्रायः बहुत जल्दी पिघल जाती है। यहाँ की धूप रमणीक और आनन्ददायक होती है।

स्विट्जरलैंड में कई स्थानों में कृषि के लिए जंगल साफ कर दिए गए हैं, परन्तु पहाड़ी क्षेत्र में अब भी घने वन हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यहाँ के सभी क्षेत्रों में भाँति-भाँति के पुष्पों की बहार छाई रहती है। पर्वतों के ढाल पर उम्दा किस्म की घास भी होती है, जो गरमी के दिनों में चरागाह का काम देती है। झीलों में विभिन्न प्रकार की मछलियाँ पाई जाती हैं।

इतिहास—प्राचीनकाल में स्विट्जरलैण्ड में केल्ट जाति की हेल्वेशियन नामक उपजाति के लोग रहते थे। ई० पू० ५८ में यहाँ रोमन लोगों ने अपनी बस्तियाँ बसाईं और सड़कों का निर्माण किया। बाद में अलमनी, बर्गन्डियन, हूण, ऑस्ट्रोगॉथ और फ्रैंक जातियों ने आक्रमण करके इस भूभाग को अनेक भागों में बाँट लिया। ११वीं शताब्दी तक यह देश अनेक छोटी-छोटी इकाइयों में बँटा हुआ था। उसी समय यह 'होली रोमन साम्राज्य' का अंग बना लिया गया।

१३वीं शती ई० में इतिहास-प्रसिद्ध 'स्विस संघ' की स्थापना हुई। यह कदम उरी, स्विज और उंटर वाल्डेन नामक घाटियों के निवासियों द्वारा अपने जर्मन शासकों के विरुद्ध विद्रोह के बाद उठाया गया। इससे कुछ वर्ष पहले ही, सेन्ट गोथार्ड दर्रे की सड़क का निर्माण हुआ था, जिससे व्यापार के लिए एक नया मार्ग खुल गया था। जब स्वतंत्रता का आन्दोलन फैला, तो कई एक स्वतंत्र घाटियों का एक संघ बन गया। ये घाटियाँ आल्प्स क्षेत्र के योरपीय मार्गों का नियंत्रण करती थीं। मध्य पठारी क्षेत्र में जुंग, ज्यूरिख, बर्न आदि नगरों का विकास ऐसे ही व्यापारिक मार्गों के निकट हुआ था।

१६४८ ई० की वेस्टफालिया की सन्धि में स्विट्जरलैण्ड को एक स्वतंत्र देश के रूप में मान्यता प्रदान की गई।

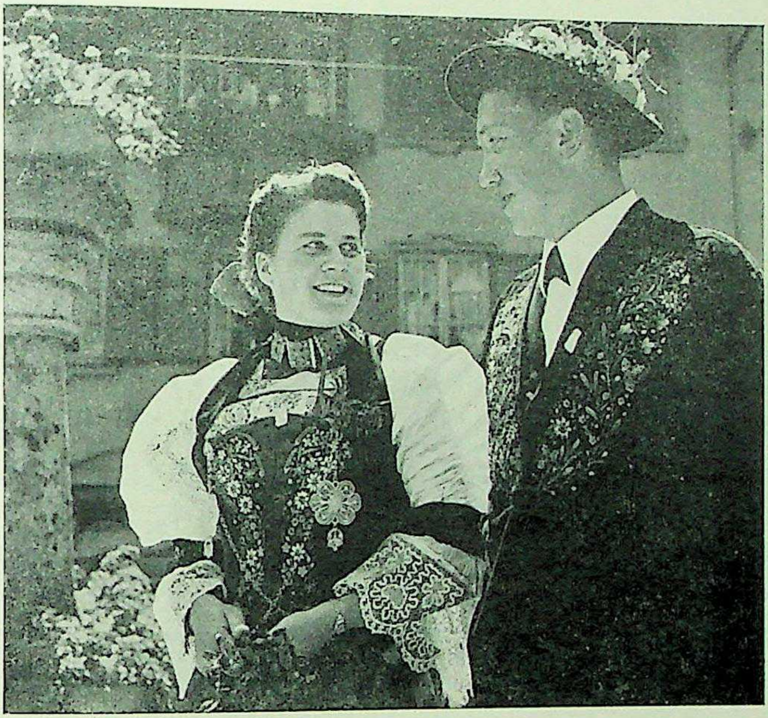

हर पर्वतीय देश के निवासियों की भाँति स्विट्जरलैण्ड के लोग भी तड़कीले-भड़कीले पहनावे के शौकीन हैं। इस नवविवाहिता दम्पति का पहनावा कितना आकर्षक है !
[फोटो—भारतस्थित 'स्विस दूतावास' के सौजन्य से]

उद्योग, रहन-सहन आदि—अपने सीमित साधनों के बावजूद स्विट्जरलैंड ने कई छोटे-छोटे उद्योगों का विकास कर लिया है। इनमें सब से महत्वपूर्ण है घड़ियों के निर्माण का उद्योग, जो यहाँ का प्रधान कुटीर-उद्योग है। संसार भर में स्विस घड़ियों की बराबरी कोई नहीं कर सकता।

स्विट्जरलैण्ड एक तटस्थ देश है। अपनी इस तटस्थ नीति के कारण वह अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का केन्द्र-स्थल बन गया है। स्विस लोग बड़े शान्तिप्रिय माने जाते हैं, यद्यपि इनके पूर्वज पेशेवर सैनिक होते थे, जो योरप के विभिन्न देशों की सेनाओं में भरती होते थे और अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे।

स्विट्जरलैंड में आजकल चार राजभाषाएँ हैं! पाँचवीं शताब्दी से आकर बसनेवाले यहाँ के ७२ प्रतिशत जर्मन जाति के लोगों की भाषा जर्मन है। उधर करीब २१ प्रतिशत लोग फ्रेंच बोलते हैं। फ्रेंच-भाषी लोग ज्यादातर पश्चिमी कैन्टनों में रहते हैं। टिसिनो नामक कैन्टन के छः प्रतिशत लोग इटैलियन भाषा-भाषी हैं और पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र के एक प्रतिशत निवासी रोमांस भाषा-भाषी हैं। भाषा और सांस्कृतिक विविधता के होते हुए भी स्विट्जरलैण्ड में किसी प्रकार का कलह नहीं है। यहाँ सभी लोग परस्पर प्रेम और सद्भावना के साथ रहते हैं। ईसाई धर्म के सुधार आन्दोलनों का इस देश पर काफी प्रभाव पड़ा है। आजकल यहाँ ५६ प्रतिशत प्रोटेस्टेन्ट और ४२ प्रतिशत रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के लोग हैं।

स्विट्जरलैंड के निवासी बड़े स्वस्थ होते हैं। पर्वती क्षेत्र होने के कारण यहाँ के रीति-रिवाज, पहनावे तथा आचार-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवहार में अनेक प्रकार की विचित्रताएँ पाई जाती हैं। यहाँ के प्रत्येक कैन्टन की अपनी विशिष्ट प्रकार की वेशभूषा है, जिसे अवकाश और उत्सवों के समय विशेष रूप से पहना जाता है। खाना पकाने के लिए यहाँ सामूहिक चूल्हे अथवा ढाबे होते हैं। उत्सवों और समारोहों में प्रायः प्राचीन परिपाटी का पालन किया जाता है। दिसम्बर में सेन्ट निकोलस का पर्व बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है और जुलूस निकाले जाते हैं।

नगर—स्विट्जरलैण्ड की राजधानी बर्न नामक नगर में स्थापित है। इसकी आबादी लगभग १॥ लाख है। परन्तु यहाँ का सब से बड़ा नगर ज्यूरिख (आबादी ४ लाख) है, जो देश का सब से बड़ा व्यापारिक और सांस्कृतिक केन्द्र है। यह रमणीक नगर एक बड़ी झील के किनारे बसा है। अन्य नगर जेनेवा (१॥ लाख), लॉसेन (१ लाख) और बेजल (२ लाख) हैं।

: जर्मनी :

द्वितीय महायुद्ध में पराजित होने के बाद जर्मनी का वह क्षेत्र जो ओडर नदी के पूर्व में था और जिसमें पूर्वी प्रशिया, पोमेरेनिया तथा साइलेसिया के प्रान्त शामिल थे, शेष भाग से अलग कर दिया गया। इसी प्रकार पश्चिमी सीमा की ओर हॉलैण्ड और बेल्जियम के पास का कुछ भूभाग भी जर्मनी से अलग कर दिया गया। इस तरह आज की जर्मनी में पुराने क्षेत्र का केवल ७५ प्रतिशत भाग ही शेष रह गया है। युद्ध की समाप्ति पर इस खंडित जर्मनी को चार क्षेत्रों में बाँट दिया गया था। उधर बर्लिन नगर को भी (जो रूसी अधिकार-क्षेत्र में पड़ता था) चार भागों में विभाजित कर दिया गया था। इन चारों क्षेत्रों में क्रमशः रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाएँ रखी गई थीं। सोवियत रूस और पश्चिमी देशों के मतभेदों के कारण पश्चिमी देशों द्वारा अधिकृत प्रदेश में 'जर्मन संघीय गणतंत्र' की स्थापना हुई। उधर सोवियत रूस के अधिकार-क्षेत्र में 'जर्मन प्रजातंत्रीय गणतंत्र' नामक अन्य एक राज्य की स्थापना हुई। इसी भाँति पश्चिमी देशों द्वारा अधिकृत बर्लिन-क्षेत्र को पश्चिमी जर्मनी की सरकार में शामिल कर दिया गया और पूर्वी बर्लिन के क्षेत्र में पूर्वी जर्मनी की कम्युनिस्ट सरकार की राजधानी स्थापित कर दी गई। चूँकि बर्लिन नगर पूर्वी जर्मनी की सीमाओं के भीतर पड़ता था, अतः पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बोन में रखी गई। पिछले दिनों जर्मनी के इन पूर्वी और पश्चिमी भागों की एकता के अनेक प्रयास भी हुए, परन्तु इस सम्बन्ध में अब तक कोई समझौता नहीं हो पाया है।

जर्मनी का राजकीय नाम 'ड्यूशलैण्ड' है। इसका कुल क्षेत्रफल १,३७,२६० वर्गमील और आबादी लगभग ७॥ करोड़ है। इसमें पूर्वी जर्मनी का क्षेत्रफल ४१,३७९ वर्गमील और आबादी १ करोड़ ८० लाख है तथा पश्चिमी जर्मनी का क्षेत्रफल ९६,५३९ वर्गमील और आबादी ५ करोड़ २५ लाख है। इसी प्रकार पश्चिमी बर्लिन का क्षेत्रफल जहाँ १८६ वर्गमील और आबादी २२॥ लाख है, वहाँ पूर्वी बर्लिन का क्षेत्रफल १५६ वर्गमील और आबादी १२॥ लाख है।

प्राकृतिक स्थिति—भौगोलिक दृष्टि से दक्षिण में आल्प्स पर्वत से लेकर उत्तर में उत्तरी सागर तथा बाल्टिक सागर तक और पश्चिम में राइन नदी से लेकर पूर्व में ओडर नदी तक फैले हुए समूचे जर्मन भूभाग को चार भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग आल्प्स पर्वतमाला की उत्तरी चोटियों का क्षेत्र है। दूसरे क्षेत्र में दक्षिणी जर्मनी का वह भाग आता है, जिसमें स्वाबियन और फ्रांकोनियन जूरा नामक दो प्रमुख ढाल शामिल हैं। तीसरा क्षेत्र पश्चिम में बेल्जियम की सीमा से शुरू होकर पूर्व में चेकोस्लोवाकिया तक चला गया पर्वतीय क्षेत्र है। इस भाग में जो घाटियाँ हैं, उनमें राइन की घाटी प्रमुख है। जर्मनी का सुप्रसिद्ध 'काला जंगल' इसी क्षेत्र के अन्तर्गत पड़ता है। चौथा क्षेत्र वह उत्तरी मैदान है, जिसकी चौड़ाई १३० से २०० मील तक है। इस मैदान में हिमयुग के हिमखंडों के कारण गहरी खाइयाँ-सी बन गई हैं। ये खाइयां अद्भुत प्राकृतिक दृश्य बनाती हैं।

जर्मनी की भूमि का ढाल उत्तर की ओर है। फलतः यहाँ की सभी नदियाँ उत्तर की ओर बहकर उत्तर सागर और बाल्टिक सागर में गिरती हैं। इन नदियों में राइन, बेसर, एल्ब और ओडर प्रमुख हैं। यहाँ की अधिकांश नदियाँ जहाजरानी के योग्य हैं। इस कार्य में विशेष योग देने के लिए कई नहरें भी बनाई गई हैं। उनमें सब से प्रसिद्ध 'मिटललैण्ड नहर' है, जो अपनी सहायक प्रणालियों द्वारा राइन और ओडर नदियों को जोड़ती है। इससे जर्मनी के आन्तरिक जलमार्गों का जाल काफी विस्तृत हो गया है।

जर्मनी के उत्तर-पश्चिम भाग की जलवायु पर समुद्र का काफी असर पड़ता है। वहाँ शीत का प्रकोप उतना भयंकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं होता और गरमी भी कम पड़ती है। इसके विपरीत दक्षिणी और पूर्वी भागों में सख्त सर्दी पड़ती है और गरमी भी काफी होती है। पूर्वी जर्मनी में जाड़े में नदियों में बर्फ जमने से यातायात में पर्याप्त बाधा पड़ती है।

इतिहास—प्राचीनकाल में जर्मनी का अधिकांश भाग रोमन साम्राज्य के बाहर ही रहा। रोम का पतन होने पर जर्मन जातियाँ दक्षिण और पश्चिमी क्षेत्रों में फैलने लगीं और स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम तथा फ्रांस के क्षेत्रों में जाकर बस गईं। इस प्रकार जर्मनी की वर्तमान सीमाओं का विकास हुआ। आठवीं और नवीं शताब्दी ई० में फ्रैंक जाति के सम्राटों ने इस क्षेत्र के अधिकांश भाग को जीत लिया। ८४३ ई० में फ्रैंक साम्राज्य का बँटवारा होने पर राइन नदी के पूर्व का क्षेत्र एक स्वतंत्र राज्य बना दिया गया। यही वर्तमान जर्मन राज्य का आदि प्रारूप था।

मध्य युग में जर्मनी 'होली रोमन साम्राज्य' का अंग था। उस सत्ता का लोप होने पर जर्मन राष्ट्र अनेकों ड्यूक, मारग्रेव, काउंट आदि सामन्तों और छोटे-छोटे नरेशों के राज्यों में बँट गया था। धार्मिक सुधार आन्दोलन से जर्मनी की इस विभाजन-प्रवृत्ति को और भी बढ़ावा मिला, क्योंकि कुछ सामन्तों एवं नरेशों ने उक्त सुधार आन्दोलन में हिस्सा लिया और कुछ ने उसका विरोध किया। तीसवर्षीय युद्ध और उसके बाद के संघर्षों के कारण जर्मनी की आर्थिक दशा काफी बिगड़ गई। अंत में १७६३ ई० में पेरिस की सन्धि द्वारा यहाँ शान्ति स्थापित हुई। इसके बाद के युग में जर्मनी में संगीत, साहित्य, दर्शन आदि का बड़ा विकास हुआ।

परंपरागत वेश में जर्मनी के बेवेरिया प्रांत की एक महिला।

नेपोलियन के युद्धों के बाद जर्मनी में एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के आन्दोलन ने जोर पकड़ा। इस आन्दोलन की चरम सिद्धि उन्नीसवीं शताब्दी के महान् जर्मन प्रधान मंत्री 'लौह पुरुष' बिस्मार्क द्वारा प्रशिया के नरेश के अधीन निखिल जर्मनी के एकीकरण के रूप में हुई। परन्तु प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के कारण वहाँ के राजवंश का अन्त हो गया और एक गणतंत्र की स्थापना की गई, जिसे इतिहास में 'वीमर गणतंत्र' के नाम से पुकारा जाता है। इसके अधीन जर्मनी की एकता तो कायम रही, लेकिन उससे देश की आन्तरिक समस्याएँ नहीं सुलझ पाईं। आर्थिक और राजनीतिक संकट के इस वातावरण में हिटलर ने सत्ता पर अधिकार कर लिया। १९३८ ई० में उसने पहले तो ऑस्ट्रिया पर तथा उसके बाद चैकोस्लोवाकिया के सुडेटनलैण्ड और मेमेल नामक नगर पर भी कब्जा जमा लिया। अंततोगत्वा १९३९ ई० में जब उसने पोलैण्ड पर भी आक्रमण कर दिया, तो द्वितीय महायुद्ध की रणभेरी बज उठी! इस महायुद्ध में भी पुनः जर्मनी को पराजित होना पड़ा, जिसके फलस्वरूप युद्धोपरान्त उसकी पूर्वी सीमा ओडर एवं नीस नदियों तक निर्धारित कर दी गई और बचा हुआ पूर्वी भाग तथा स्टेटिन नगर पोलैण्ड को दे दिया गया। बाकी हिस्से और राजधानी बर्लिन का भी बँटवारा हो गया, जिससे इस देश के पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी नामक दो हिस्से बन गए।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—जर्मन लोग नार्डिक जाति के वंशज माने जाते हैं। ये लोग इस क्षेत्र में संभवतः स्कैण्डीनेविया से आए थे। आज के दिन जर्मनी के पूर्वोत्तर क्षेत्र के निवासी प्रशियन, दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र के निवासी बवेरियन, पश्चिमी क्षेत्र के राइनलैण्डर और पूर्व के सैक्सन कहलाते हैं। जर्मनी में वैसे तो अनेक क्षेत्रीय बोलियों का प्रसार है, फिर भी साहित्य और राजकाज की भाषा एक ही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

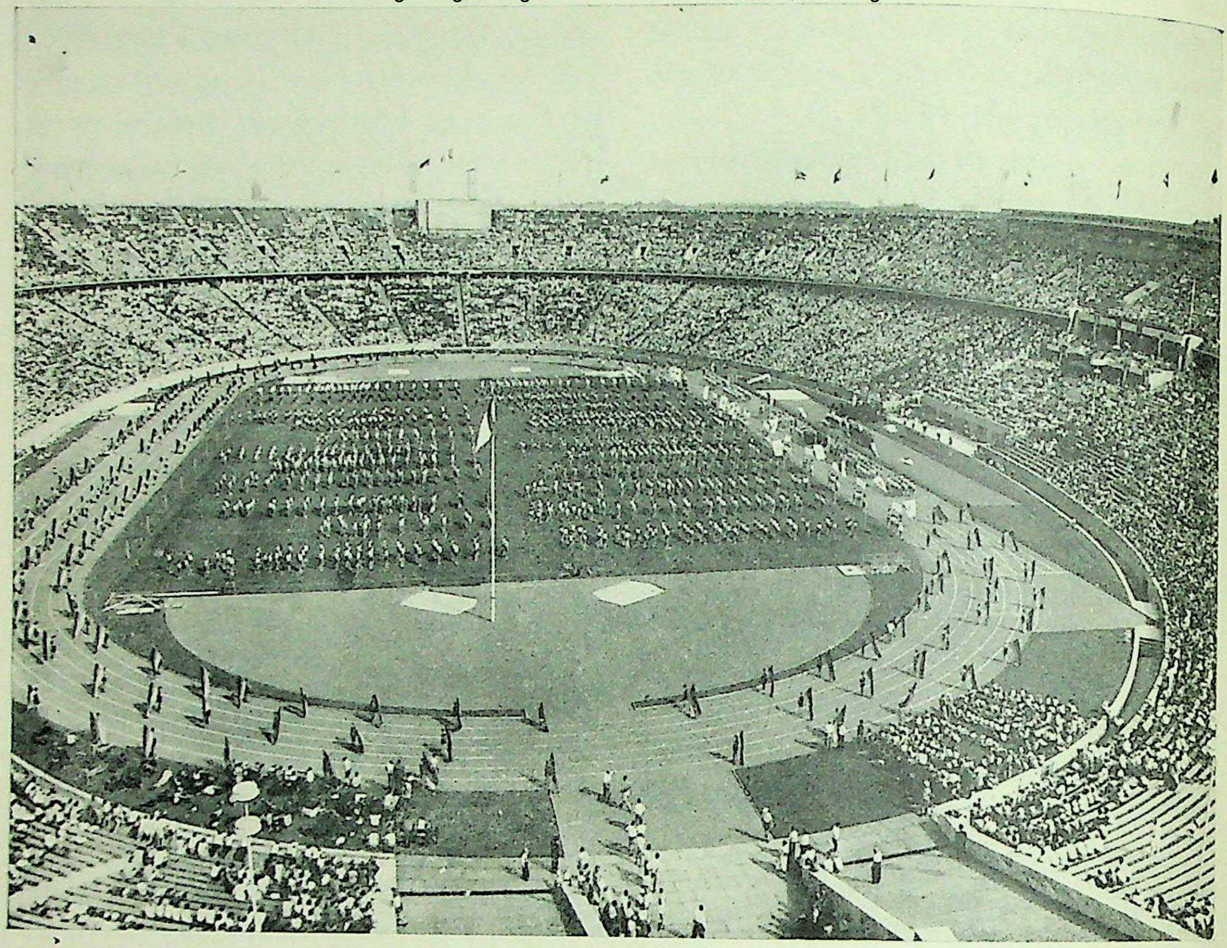

जर्मन लोग केवल संगीत, विज्ञान, दर्शन आदि में ही अभिरुचि नहीं रखते; वे खेल-कूद में भी पूरी दिलचस्पी लेते हैं। यह बर्लिन के एक क्रीड़ा-समारोह की झाँकी है। [फो०—भारतस्थित 'पश्चिमी जर्मनी' के दूतावास के सौजन्य से।]

यहाँ के लोगों ने ईसाई धर्म को पहले-पहल शार्लमैन के शासन में अंगीकार किया था। धार्मिक सुधार आन्दोलन के बाद यहाँ के ६० प्रतिशत लोग प्रोटेस्टेन्ट बन गए।

जर्मन जाति को अपनी सांस्कृतिक वसीयत पर विशेष गर्व है। विश्व-संस्कृति के विकास में इस जाति की उपलब्धियों का विशेष योग है। जर्मन लोगों ने विज्ञान, दर्शन, संगीत, साहित्य और कला सभी क्षेत्रों में विशेष स्थान प्राप्त किया है। ये लोग अच्छे वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ होते हैं। अपनी वीरता, साहस और रणकौशल के लिए भी ये लोग इतिहास में सदैव प्रसिद्ध रहे हैं। परन्तु जर्मन जाति में कुछ ऐसे दोष भी हैं, जिनके कारण उसने योरप में संकट पैदा करने में पिछली शताब्दियों में काफी योग दिया है। यह है उसकी जातिगत अहम्मन्यता, अहंकार और अभिमान की प्रवृत्ति। इसी प्रवृत्ति के कारण दो महायुद्धों में जर्मन शासकों ने संसार-विजय के अभियान शुरू किए, जिनके फलस्वरूप इस राष्ट्र को हर प्रकार की क्षति उठानी पड़ी। परन्तु युद्ध की भयंकर क्षति उठाने के बाद भी जिस प्रकार इस जाति ने अपने देश का पुनर्निर्माण किया, उससे उसकी सर्जनात्मक क्षमता का परिचय मिलता है।

जर्मनी योरप का अग्रणी औद्योगिक देश है। आधुनिक बड़े उद्योगों का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जिसमें जर्मन लोगों ने कोई न कोई उपलब्धि न की हो। जर्मन औद्योगिक प्रगति का प्रमुख श्रेय एक तो यहाँ की मूल्यवान् खनिज संपदा को है, दूसरे जर्मन जाति की महान् वैज्ञानिक प्रतिभा का भी इस दिशा की उन्नति में गहरा हाथ रहा है। पश्चिमी जर्मनी का रूर प्रदेश संसार के सब से बड़े कोयला-क्षेत्रों में से है। उधर लोहे के भंडार की दृष्टि से भी जर्मनी विशेष रूप से सौभाग्यशाली है। इन्हीं साधनों की बदौलत वह संसार का एक महान् औद्योगिक केन्द्र बन गया है। यहाँ भाँति-भाँति की छोटी और बड़ी मशीनें, बिजली का सामान, रासायनिक द्रव्य,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वस्त्र, कागज, दवाइयाँ आदि सभी कुछ [illegible] में तैयार होते हैं। इस दृष्टि से पूर्वी जर्मनी की अपेक्षा पश्चिमी जर्मनी अधिक संपन्न स्थिति में है।

यद्यपि जर्मनी योरप का प्रमुख औद्योगिक देश है, तथापि कृषि के क्षेत्र में भी वह पिछड़ा हुआ नहीं है। इस देश के पश्चिमी और पूर्वी दोनों अंगों की आबादी का एक बहुत बड़ा भाग कृषि में संलग्न है। पश्चिमी जर्मनी में तो जनसंख्या का पाँचवाँ हिस्सा खेती पर ही निर्भर करता है। यहाँ की कृषि की मुख्य पैदावार चुकंदर, आलू और गेहूँ है।

नगर—जर्मनी के अधिकतर बड़े नगर नदियों के किनारे पर--विशेषकर राइन नदी के तट पर--स्थित हैं। राइन नदी में दूर तक जहाजरानी होने के कारण इसके तटवर्ती नगरों में उद्योगों के विकास में विशेष सहायता मिली है। कोयले की खानों के केन्द्र रूर प्रदेश का मुख्य नगर ईसेन (७। लाख) लोहा, इस्पात और मशीन उद्योग का महान् केन्द्र बन गया है। उधर रूर और राइन नदी के संगम पर स्थित डुइसबर्ग तथा डुसलडार्फ (६।।। लाख) भी प्रथम कोटि के औद्योगिक नगर हैं। दक्षिणी जर्मनी का प्रमुख नगर म्युनिख (१० लाख) है, जो व्यापार और यातायात का महत्वपूर्ण केन्द्र है। इसी तरह उत्तरी भाग के मुख्य नगर हामबर्ग (१८ लाख) और ब्रेमेन हैं, जो देश के मुख्य बन्दरगाह हैं। पूर्वी जर्मनी का ड्रेसडेन नगर (५ लाख) अपने चीनी मिट्टी के बर्तनों के लिए संसार भर में प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र का दूसरा बड़ा नगर लाइपजिक (६। लाख) है। अन्य बड़े नगरों में कोलन (७।। लाख), डार्टमंड (६। लाख), फ्रैंकफर्ट (६।। लाख), स्टटगार्ट (६। लाख) और नूरमबर्ग (४।। लाख) उल्लेखनीय हैं। परन्तु जर्मनी का मुख्य और सब से बड़ा नगर तो निस्संदेह बर्लिन ही है, जो पूर्वी जर्मनी के क्षेत्र में होते हुए भी पूर्वी और पश्चिमी दोनों जर्मनियों के अधिकार में है। इस महानगर की आबादी ४० लाख से भी अधिक है। पिछले महायुद्ध में यह नेस्तनाबूद हो गया था, परंतु अब इसका पुनर्निर्माण हो गया है। यह नगर जर्मनी का हृदयस्थल है। महायुद्ध के पहले बर्लिन की प्रख्यात इमारतें थीं--'ब्रांडनबर्ग द्वार', 'रिखस्टाग' नामक संसद-भवन और संग्रहालय-भवन। युद्ध में इन सभी की महान् क्षति हुई थी।

ऑस्ट्रिया

ऑस्ट्रिया का अधिकृत नाम 'रिपब्लिक आस्टरीख' है। यह देश अपने पर्वतीय दृश्यों, संगीत-समारोहों और पर्वतीय क्षेत्रों की शीतकालीन क्रीड़ाओं के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ का क्षेत्रफल ३२,३७५ वर्गमील और आबादी ६९,८४,००० है।

प्राकृतिक स्थिति—ऑस्ट्रिया योरप का सब से अधिक ऊबड़खाबड़ क्षेत्र है। यहाँ का ९३ प्रतिशत भाग आल्प्स पर्वतमाला से अभिभूत है। यहाँ दो प्रमुख पर्वतमालाएँ हैं--एक इटली की सीमा के निकट, जिसमें 'ग्रासग्लोकनर मासिफ' नामक १२,४६० फीट ऊँची चोटी शामिल है; दूसरी उत्तर की ओर की इससे कम ऊँची श्रृंखला। यहाँ की घाटियों की लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर है। पूर्व के क्षेत्र में डेन्यूब की घाटी है। डेन्यूब के उत्तर का पर्वतीय क्षेत्र बोहीमिया के पर्वतों से मिल जाता है।

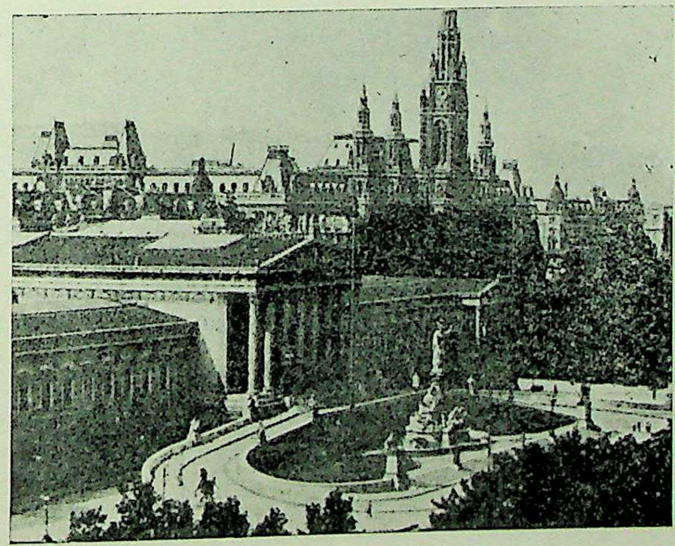

ऑस्ट्रिया की राजधानी विएना की एक झलक।

ऑस्ट्रिया में शीतकाल में तेज सरदी पड़ती है और बर्फ भी गिरा करती है। ऊँची चोटियों पर वर्ष भर हिमपात होता है। वसन्तकाल में बर्फ का गलना शुरू हो जाता है, इससे यहाँ की नदियों में बाढ़ आ जाती है। कभी-कभी यहाँ बर्फीले तूफान भी आते हैं और पहाड़ कटकर गिर जाते हैं।

ऑस्ट्रिया के कुल क्षेत्रफल का ४० प्रतिशत भाग जंगलों से भरा हुआ है ! फलतः यहाँ इमारती लकड़ी और शहतीरों का अच्छा कारोबार है। खेती विशेषतर उत्तर-पूर्व और पूर्वी क्षेत्र में ही होती है।

इतिहास—ऑस्ट्रिया का इतिहास हैप्सबर्ग राजपरिवार के इतिहास के साथ घुला-मिला हुआ है। इस परिवार के लोग १३ वीं शताब्दी ई० में इस क्षेत्र के ड्यूक अथवा सामन्त बने थे। उनका लक्ष्य पूर्व की ओर से डेन्यूब की घाटियों से होने-वाले आक्रमणों से जर्मनी की रक्षा करना था। इसी उद्देश्य से इन लोगों ने विएना में अपनी राजधानी की स्थापना की थी और वहाँ एक मजबूत किला भी बनाया था। इस नगर के चारों ओर तुर्कों ने दो बार घेरा डाला था। उनके हटने पर ऑस्ट्रिया की सेनाएँ हंगरी के मैदान और बाल्कन प्राय-द्वीप तक आगे बढ़ गई थीं। इस प्रकार हैप्सबर्ग साम्राज्य की स्थापना हुई। यह राज्य ठेठ १९१८ ई० तक कायम रहा। प्रथम महायुद्ध के खत्म होने पर हैप्सबर्ग राज्य छिन्न-भिन्न हो गया—केवल ऑस्ट्रिया का वर्तमान क्षेत्र भर बाकी रह गया। इस प्रकार ऑस्ट्रिया के सिकुड़कर लघु बन जाने का प्रभाव उसके आर्थिक ढाँचे पर विशेष रूप से पड़ा। इसका लाभ उठाकर हिटलर ने १९३८ ई० में उस पर जबरन अधिकार जमा लिया। महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के बाद कुछ समय तक इस देश को मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं के अधिकार में रहना पड़ा। अंत में १९५५ ई० में वह पुनः एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न स्वतंत्र देश बन गया। आज वहाँ एक संघात्मक गणतंत्र स्थापित है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाति, भाषा, धर्म, रहन-सहन, आदि—ऑस्ट्रिया के निवासियों के रक्त में चेक, इटैलियन, पोलिश, रूथेनियन मगयार, क्रोशियन, स्लोवानीज और सर्व आदि विविध जातियों का मिश्रण पाया जाता है। यहाँ की प्रमुख भाषा जर्मन है, जिसका उच्चारण यहाँ के लोग विशेष रूप से करते हैं।

ऑस्ट्रियावासी ज्यादातर कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं। यहाँ केवल २० प्रतिशत भूमि पर खेती होती है, जिसमें गेहूँ और दूसरे अनाज तथा साग-सब्जी पैदा किए जाते हैं। यहाँ के पशु गरमी के दिनों में आल्प्स पहाड़ के ऊँचे भागों में चले जाते और जाड़े में नीचे के भागों में चराई के लिए आते हैं। खनिज संपदा में ऑस्ट्रिया काफी समृद्ध है। यहां कोयला, लोहा, पेट्रोलियम, ग्रेफाइट, बॉक्साइट और नमक की चट्टानें पाई जाती हैं। फलतः उद्योग के क्षेत्र में लोहा और इंजीनियरिंग के काफी कारखाने यहां विकसित हो गए हैं। इनके अतिरिक्त कई छोटे-छोटे उद्योग भी यहाँ पर हैं।

नगर—ऑस्ट्रिया की राजधानी विएना में देश की कुल आबादी के लगभग एक तिहाई लोग बसते हैं। इस नगर की जनसंख्या लगभग २५ लाख है। डेन्यूब नदी के किनारे पर स्थित इस नगर में कई दर्शनीय स्थान हैं। इनमें मध्य युग की चहारदीवारी के अतिरिक्त एक महान् गिरजाघर और हैप्सबर्ग राजपरिवार के महल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ का राष्ट्रीय पुस्तकालय योरप का सब से बड़ा पुस्तकालय माना जाता है। विएना पाश्चात्य संगीत का महान् केन्द्र है। यहाँ का राष्ट्रीय ओपेरा-हाउस कलाप्रेमियों का विशेष आकर्षण-केन्द्र है।

: हंगरी :

ऑस्ट्रिया की सीमाओं से जुड़े हुए हंगरी देश का नाम हैप्सबर्ग साम्राज्य का अंग होने के कारण, बहुत काल तक ऑस्ट्रिया के साथ ही लिया जाता रहा, किन्तु अब वह एक स्वतंत्र राष्ट्र है। इस देश का क्षेत्रफल ३५,९११ वर्गमील और आबादी ९८,८८,००० है।

प्राकृतिक दशा—हंगरी के अधिकांश भाग में ढालू मैदान हैं, जिनमें घास के चरागाह हैं। डेन्यूब नदी उत्तर से दक्षिण की ओर बहकर इस देश को दो बराबर भागों में बाँट देती है। यहाँ की उत्तरी पहाड़ियों में घने जंगल हैं। ट्रांस-डेन्यूब क्षेत्र के जंगलों को साफ करके वहाँ कृषि की जाती है। गरमी के दिनों में यहाँ तेज गरम हवाएँ चलती हैं और जाड़े में बर्फीले तूफान आते हैं। जनवरी में डेन्यब नदी में कहीं-कहीं पानी जम जाया करता है।

इतिहास—हंगरी के निवासी 'मगयार' जाति के हैं। ये लोग डेन्यूब के मैदान में योरप और एशिया के पहाड़ी क्षेत्रों से आए थे। इनके आने के पूर्व हूण और अन्य खानाबदोश जातियों ने इस क्षेत्र पर हमले किए थे और यहाँ अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। १५२६ ई० में तुर्की सेना ने डेन्यूब के मैदान पर आक्रमण करके मगयारों को पराजित कर दिया। इसके बाद देश के अधिकतर हिस्से पर ऑस्ट्रियन हैप्सबर्ग राजवंश का आधिपत्य हो गया। १९ वीं शताब्दी से हंगरी में राष्ट्रीय आंदोलन ने जोर पकड़ा। फलतः १८४८ ई० में मगयार लोगों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने ऑस्ट्रियन सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अन्त में ऑस्ट्रिया-हंगरी के संयुक्त राज्य की स्थापना हुई, जिसमें हंगरी को ऑस्ट्रिया के बराबर दर्जा दिया गया।

प्रथम महायुद्ध में ऑस्ट्रिया-हंगरी की पराजय के बाद इस संयुक्त राज्य का अन्त हो गया। महायुद्ध के बाद हंगरी के विशृंखल होने पर उसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। इससे यहाँ के किसानों में घोर असन्तोष फैला। द्वितीय महायुद्ध के दौरान में १९४१ ई० में, हंगरी पर जिस समय जर्मन लोगों ने अधिकार किया था, उस समय वहाँ का आन्तरिक विरोध अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। अंत में १९४४ ई० में जर्मन आधिपत्य समाप्त होने पर यहाँ एक जनवादी गणतंत्र की स्थापना की गई। पाँच वर्ष बाद शासन-सूत्र कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में आ गया, जिसके विरुद्ध १९५६ ई० में विद्रोह हुआ, पर उसका दमन कर दिया गया। आज हंगरी एक कम्युनिस्ट देश है।

जाति, भाषा, रहन-सहन आदि—हंगरी के बहुसंख्यक निवासी मगयार जाति के हैं। यह जाति मंगोल जाति की शाखा और फिन लोगों की सजातीय मानी जाती है। अनुमान है कि यह जाति रूस के यूराल पर्वतीय क्षेत्र से आकर यहाँ बसी है। अतः इसमें एशियाई-तुर्की रक्त का मिश्रण होने की संभावना है।

मगयार लोग स्वभाव और परम्परा से किसान वृत्ति के हैं। इन कृषकों का योरप में अपना विशिष्ट स्थान है। तुर्की शासन के समय से इन लोगों में एक साथ बड़ी बस्तियों में रहने की परम्परा चली आई है।

मगयार भाषा फिनो-युगरिक वर्ग की एक बोली है, जिसे ये लोग यूराल क्षेत्र से अपने साथ लाए थे। इस भाषा का सम्बन्ध फिनिश और इस्टोनियन भाषाओं से भी है। अन्य योरपीय भाषाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पिछली शताब्दी में इस भाषा में अनेक सुधार करके उसे आधुनिक रूप दे दिया गया है। फलतः अनेक नवीन शब्द मगयार भाषा में मिल गए हैं। इस प्रकार मिले हुए शब्दों में लैटिन, तुर्की, जर्मन, फ्रेंच और स्लाव भाषाओं के शब्द प्रमुख हैं।

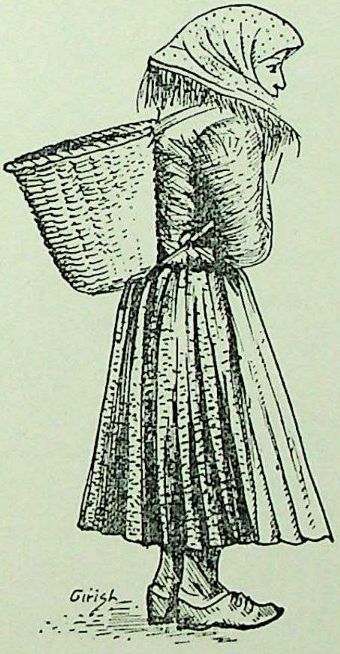

हंगरी के ग्रामवासियों की वेशभूषा।

हंगरी के ६० प्रतिशत निवासी ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। यहाँ की ग्रामीण हस्तकला की वस्तुओं—जैसे मिट्टी के बर्तन और लेस आदि—पर परंपरागत सुन्दर डिजाइन बनाए जाते हैं। इन डिजाइनों में फूल-पत्तियों का विशेष प्रयोग किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में यहाँ रंग-बिरंगे कपड़े पहनने का बड़ा रिवाज है। सामूहिक संगीत और नृत्य में भी हंगेरियन लोगों की विशेष अभिरुचि है।

दूसरे महायुद्ध से पहले मगयार जाति के दो-तिहाई लोग रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई थे। परन्तु जब से कम्युनिस्ट शासन आरम्भ हुआ है, राज्य की ओर से किसी धर्म को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

यद्यपि हंगरी एक कृषिप्रधान देश है, तथापि द्वितीय महायुद्ध के बाद से यहाँ उद्योग के क्षेत्र में भी कुछ प्रगति हुई है। यहाँ के उद्योगों में कृषि-यंत्र, वस्त्र और चमड़े से संबंधित उद्योग प्रमुख हैं।

नगर—हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट है। इस नगर की आबादी करीब २० लाख है। १८७२ ई० तक बुडा और पेस्ट दो अलग-अलग नगर थे। बाद में दोनों को मिलाकर एक कर दिया गया। देश के उद्योगों में से दो-तिहाई इसी नगर में स्थित हैं। यही हंगरी के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का प्रधान केन्द्र है। डेन्यूब के दक्षिणी तट की पहाड़ी पर स्थित बुडा के किले से समूचे नगर का बड़ा सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। इस नगर का प्रमुख मनोरंजन-केन्द्र डेन्यूब नदी के बीच का मारगेरेट द्वीप है। इस द्वीप में बड़े-बड़े

उद्यान, खेल के मैदान, खुली नाट्यशालाएँ, अजायबघर और चिड़ियाखाना आदि स्थित हैं। बुडापेस्ट के अलावा हंगरी के अन्य बड़े नगर हैं--मिस्कोल्क (१॥ लाख), देब्रेकन (१। लाख) और शेजेड (१। लाख)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: चैकोस्लोवाकिया :

चैकोस्लोवाकिया का क्षेत्रफल ४९,७०० वर्गमील और आबादी १,३४,१०,००० है। यह देश चैक और स्लोवाक नामक दो विभिन्न जातियों के क्षेत्रों को मिलाकर बनाया गया है। यहाँ की राजधानी प्राग अथवा प्राहा है।

प्राकृतिक स्थिति—चैकोस्लोवाकिया डेन्यूब की सहायक नदी मोरावा द्वारा दो भागों में विभाजित है। इसका पश्चिमी भाग पुरानी चट्टानों से निर्मित है! इस क्षेत्र में सुडेटन, बोहीमियन और मोरावियन पर्वतमालाएँ फैली हैं। दक्षिण में बोहीमिया के पठार का निचला भाग है, जिसमें बहनेवाली नदियों के किनारे ऊँचे हैं। उत्तरी भाग में उर्वर मैदान हैं, जहाँ घनी आबादी है और अच्छी खेती होती है। पूर्वी भाग में अर्धचन्द्राकार रूप में कारपैथियन पर्वतमाला फैली है।

बोहीमिया की नदियाँ एल्ब नदी में मिलती हैं। वे पश्चिमोत्तर दिशा में बहकर देश के एक तिहाई पानी की निकासी उत्तरी सागर में करती हैं। मोराविया और स्लोवाकिया की नदियाँ दक्षिण-पूर्व की ओर बहकर केन्द्रीय डेन्यूब में मिल जाती हैं। साइलेशिया में कोयले की खाने हैं। मोराविया के निचले भाग की भूमि बहुत उर्वर है।

पश्चिमी चैकोस्लोवाकिया की जलवायु पश्चिमी योरप जैसी है और पूर्वी की पूर्वी योरप की-सी। पश्चिमी भाग में अटलांटिक महासागर की हवाएँ जलवायु को बहुत-कुछ समशीतोष्ण बना देती हैं। पूर्वी भाग में शीतकाल में कड़ी सर्दी और ग्रीष्म में काफी गरमी रहती है। बोहीमिया के निचले भागों में जाड़े के दिनों में घना कुहरा छाया रहता है।

चैकोस्लोवाकिया में स्टेपीज क्षेत्र के-से घास के लम्बे-चौड़े मैदानों का बाहुल्य है; साथ ही यहाँ घने जंगल भी हैं, जिनसे इमारती लकड़ी प्राप्त होती है।

अपनी परंपरागत वेशभूषा में एक चैक महिला :: वस्त्र पर लेस की बारीक कढ़ाई पर गौर कीजिए।

इतिहास—चैकोस्लोवाकिया की वर्तमान राजनीतिक इकाई चैक और स्लोवाक जातियों के मेल से बनी है। १०वीं शताब्दी ईस्वी में बोहीमिया में प्रेमिसलिड नामक राजवंश का आधिपत्य था, जो करीब ४०० वर्षों तक कायम रहा। १८ वीं शताब्दी में यह क्षेत्र हैप्सबर्ग साम्राज्य का अंग बन गया। तदनंतर १९वीं शताब्दी में यहाँ राष्ट्रीयता की लहर उठी और धीरे-धीरे यहाँ की सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक इकाई की सत्ता स्वीकार की जाने लगी। अंत में प्रथम महायुद्ध की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समाप्ति पर चैकोस्लोवाकिया को एक स्वतंत्र सार्वभौम सत्ता-सम्पन्न राज्य मान लिया गया।

१९३८ ई० में हिटलर ने बोहीमिया, मोराविया और साइलेशिया प्रदेशों के जर्मन भाषा-भाषी क्षेत्रों पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। यह स्थिति आखिरकार १९४५ ई० में हिटलर की पराजय के साथ समाप्त हुई। युद्धोपरांत यहाँ की सरकार कम्युनिस्टों के हाथ में चली गई। फलतः यहाँ के सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और आर्थिक विकास के लिए रूसी पंचवर्षीय योजनाओं का ढंग अपनाया गया।

जाति, संस्कृति रहन-सहन आदि—चैकोस्लावाकिया में विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण हुआ है। दूसरे महायुद्ध के पहले यहाँ ७५ लाख चेक, ३० लाख जर्मन, २५ लाख स्लोवाक ५ लाख मगयार और ९० हजार पोल जाति के लोग रहते थे। इनके अतिरिक्त करीब २॥ लाख यहूदी भी बसते थे।

चेक और स्लोवाक भाषाएँ पश्चिमी स्लाव वर्ग की भाषाओं से मिलती-जुलती हैं।

धर्म के लिहाज से महायुद्ध के पहले यहाँ के ७३ प्रतिशत लोग रोमन कैथोलिक थे। पर कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के बाद से राज्य की ओर से धर्म को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, यद्यपि लोगों को व्यक्तिगत तरीके से किसी भी धर्म को मानने की आजादी है।

चैकोस्लोवाकिया कृषि और उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में बहुत आगे बढ़ा हुआ है। यहाँ कृषि काफी विकसित अवस्था में है। यहाँ की प्रमुख उपज अनाज, गन्ना और आलू हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में इस देश का तीव्र गति से औद्योगीकरण हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि खनिज पदार्थों की दृष्टि से यह देश बड़ा समृद्ध है। यहाँ के साइलेशिया और पिलसेन प्रदेश में कोयले की मूल्यवान् खान है। उधर स्लोवाकिया के पहाड़ों में कच्चे लोहे का अटूट भांडार है। बोहीमिया के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में यूरेनियम जैसी अमूल्य धातु भी उपलब्ध है।

स्लोवाकिया में आटा मिलें, पिलसेन में शराब के कारखाने तथा उत्तरी बोहीमिया में सूती कपड़े, चीनी मिट्टी के बर्तन, शीशे आदि के कारखाने हैं। उधर पश्चिमी चैकोस्लोवाकिया में लोहा, इस्पात और इंजीनियरिंग के भारी उद्योग हैं। मोराविया में बढ़िया फर्नीचर बनता है।

समुद्रतट के लाभ से वंचित होकर भी चैकोस्लोवाकिया व्यापार में पिछड़ा हुआ नहीं है। स्थल-मार्गों की दृष्टि से इस देश की स्थिति अति महत्वपूर्ण है। यहाँ के व्यापार की स्थिति मध्ययुग में भी अच्छी थी।

नगर—चैकोस्लोवाकिया का प्रधान नगर राजधानी प्राग (या प्राहा) है, जिसकी आबादी लगभग १० लाख है। इस नगर में अनेक मध्यकालीन दर्शनीय इमारतें हैं, जिनमें वल्टवा नदी के किनारे का ह्राडकैनी नामक किला ९ वीं शताब्दी का है। उसी नदी पर बना १४ वीं शताब्दी का चार्ल्स-पुल भी एक अनूठी रचना है।

चैकोस्लोवाकिया अपने किलों और गढ़ों के लिए प्रसिद्ध है। प्राग के निकट कार्लस्टेन, वाह घाटी में ट्रेनसिन और ओरावा के निकट कारपैथियन घाटी में ओरावस्की पोट्जामोक यहाँ के प्रसिद्ध किले हैं। यहाँ के सब से दर्शनीय पर्वत कारपैथिन पर्वतमाला के तातरा पहाड़ हैं, जहाँ की नुकीली चोटियाँ वाह घाटी से दिखाई देती हैं। पश्चिमी मोराविया में छोटी-छोटी गुप्त नदियाँ हैं। यहाँ के पहाड़ों की चोटियों पर रंगीन पत्थर मिलते हैं।

बोहीमिया, मोराविया और स्लोवाकिया में कई सुन्दर-सुन्दर छोटे नगर हैं।

: पोलैण्ड :

जर्मनी और यूक्रेन के मैदानों को जोड़नेवाली मैदानी पट्टी में बसे हुए पोलैण्ड को इतिहास में योरप के सब से ज्यादा सताए गए देश की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। कारण, पड़ौसी देशों ने बार-बार इस देश पर हमला करके इसकी जमीन को हड़पा या इसका बँटवारा किया है। कुछ समय तक तो योरप के राजनीतिक मानचित्र पर से इस देश का नाम ही उड़ा दिया गया था! पिछले महायुद्ध के बाद पोलैंड का पुनः एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ है। इस देश का क्षेत्रफल १,२०,३५९ वर्गमील और आबादी करीब ३ करोड़ है। यहाँ की राजधानी वारसा है।

प्राकृतिक स्थिति—पोलैण्ड का ९० प्रतिशत क्षेत्र समुद्र की सतह से १,००० फीट से कम ऊँचाई का है। केवल दक्षिण में रायसी पर्वत की तातरा चोटी की ऊँचाई ८,२१२ फीट है। इस देश के उत्तरी निचले मैदानों में अनेक झीलें हैं। उधर समुद्रतट के पास बालू के टीले और नदियों के मुहानों पर रेतीली भूमि की भरमार है। यहाँ भूमि धीरे-धीरे ऊँची होती चली गई है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्लोवाकियन सीमा के निकट कारपेथियन श्रेणी है, जिनमें तातरा का पर्वत भी शामिल है। पोलैण्ड की महान् नदी विस्चुला है।

इतिहास—पोलिश राज्य की स्थापना पहले-पहल १०वीं शताब्दी ई० में विस्चुला और ओडर नदियों की घाटियों में हुई थी। इस देश की सीमाओं का शुरू ही से कोई प्राकृतिक आधार न होने के कारण, दुर्भाग्यवश बाद की शताब्दियों में उसका मानचित्र लगातार बदलता रहा। मध्यकाल में इस देश को ट्यूटानिक सामंतों, लिथूनियनों, तातारों और आटोमन तुर्कों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। अंत में १४१० ई० में ट्यूटानिक सामन्तों की पराजय के बाद से इस देश की उन्नति का रास्ता खुला। पर अन्तः-कलह और गृह युद्ध के कारण कुछ ही दिनों में यह देश फिर कमजोर हो गया, जिससे लाभ उठाकर १७७२ ई० में रूस, प्रशिया और ऑस्ट्रिया ने पहली बार उसका बँटवारा किया। १७९५ ई० में उसका तीसरी बार बँटवारा किया गया, जिसमें रूस को इस देश का सब से अधिक भूभाग मिला। १९वीं शताब्दी में पोलैण्ड में अनेक बार राष्ट्रीय विद्रोह हुए, लेकिन प्रथम महायुद्ध के अंत तक यहाँ स्वतंत्र राज्य की स्थापना न हो सकी। १९३९ ई० में जब हिटलर द्वारा पोलैंड पर सैनिक आक्रमण किया गया, तो दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया। इस कुकृत्य के बाद हिटलर ने रूसी अधिनायक स्टालिन के साथ मिलकर इस देश का बँटवारा कर लिया। नाजी आधिपत्य के दिनों में पोलैंड के निवासियों पर लोमहर्षक अत्याचार किए गए, जिसके दौर

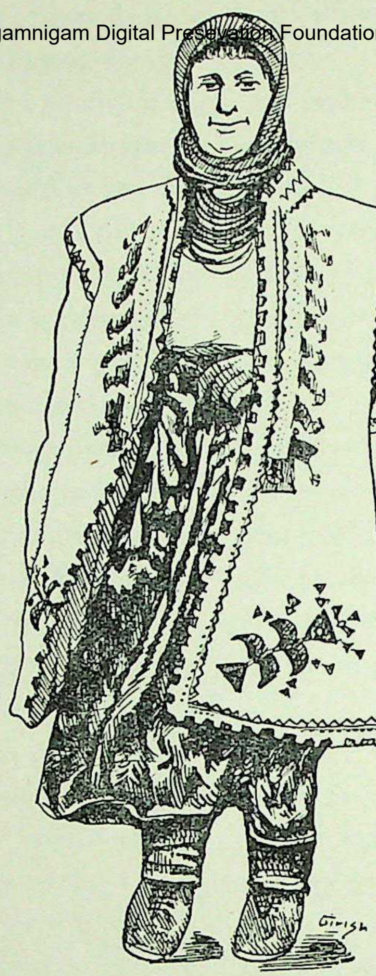

पोलैंड के ग्रामीण स्त्री-पुरुष :: ये अब भी अपने पुराने ढंग की पोशाकें पहनते हैं।

में हजारों नर-नारी मौत के घाट उतार दिए गए! आखिर जर्मनी की पराजय होने पर पुनः पोलैण्ड के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की गई। इन दिनों इस देश का प्रशासन कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में है।

जाति, भाषा, संस्कृति, रहन-सहन आदि—पोलिश जाति पश्चिमी स्लाव समूह की एक उपजाति है। उसका चैक और स्लोवाक जातियों से निकट का संबंध है। पोलिश लोगों के अतिरिक्त पोलैण्ड में २ लाख यूक्रेनियन, १ लाख २० हजार बाइलोरशियन, ६५,००० जर्मन, ५०,००० यहूदी, १५,००० स्लोवाक और कुछ हजार लिथूनियन और जिप्सी लोग भी रहते हैं।

पोलिश भाषा स्लाव भाषा-समूह की बोली है। यहाँ के अल्पसंख्यक समुदाय अपनी-अपनी बोलियों का प्रयोग करते हैं। कम्युनिस्ट शासन के अधीन पोलैण्ड में पुर्ननिर्माण का कार्य काफी तेजी से हुआ है। यद्यपि यह एक कृषिप्रधान देश है, परन्तु उद्योग के क्षेत्र में भी अब इसने बहुत आगे कदम बढ़ा लिए हैं। यहाँ इस्पात, रासायनिक द्रव्य और इंजीनियरिंग के सामान के कई भारी कारखाने उठ खड़े हुए हैं। पोलैण्ड में लकड़ी पर नक्काशी करने, चीनी मिट्टी के बर्तनों पर रंग-बिरंगे फूल बनाने तथा शीशों में चित्रकारी करने की हस्तकलाओं का प्राचीन काल से ही प्रचलन है। उक्त लोककलाओं का उपयोग अब औद्योगिक डिजाइनों में भी किया जाने लगा है।

पोलैण्ड के लोग सरल स्वभाव के हैं। उन्हें अपनी आस्थाओं और मान्यताओं में दृढ़ विश्वास है। यहाँ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की भूमि अधिक उर्वर नहीं है, फलतः इन लोगों को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। सोवियत रूस के प्रभाव में यहाँ पहले किसानों की भूमि लेकर बड़े राजकीय कृषिफार्म स्थापित करने का प्रयास किया गया था, लेकिन अपनी भूमि के प्रति अटूट लगाव होने के कारण किसानों के अधिकांश खेत अब उनकी निजी सम्पत्ति बन गए हैं।

नगर—पोलैण्ड का सब से बड़ा नगर राजधानी वारसा है, जिसकी आबादी १० लाख है। गत महायुद्ध में इस नगर को जर्मन बमबारी से बहुत अधिक क्षति उठानी पड़ी थी, परन्तु अब उसका पुनर्निर्माण हो चुका है। अन्य नगरों में देश की प्राचीन राजधानी क्राकाओ (आबादी ४॥ लाख), पोजनान (३॥ लाख), लोज (७ लाख), और ब्रेस्लॉ (४ लाख) उल्लेखनीय हैं। गदांस्क (पूर्ववर्ती नाम डान्जिग) और शेजेचिन (पूर्ववर्ती नाम स्टेटिन) देश के प्रमुख बंदरगाह हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद डान्जिग को एक स्वतंत्र नगर बनाकर पोलैण्ड तथा जर्मनी के बीच एक तटस्थ गलियारा कायम कर दिया गया था।

: फिनलैंड :

फिनलैण्डवासी अपने देश को 'झीलों के देश' (सुओमी) के नाम से पुकारते हैं। यह सर्वथा उपयुक्त ही है, कारण अपने क्षेत्रफल के अनुपात से जितनी झीलें इस देश में हैं, उतनी योरप के अन्य किसी भी देश में नहीं हैं। स्कैन्डीनेविया के पूर्वी छोर पर स्थित इस देश के पूर्व में सोवियत रूस, दक्षिण में फिनलैण्ड की खाड़ी, पश्चिम में बोथनिया की खाड़ी और स्वीडन तथा उत्तर में नार्वे आ गया है। इसका क्षेत्रफल १,३०,००० वर्गमील और आबादी करीब ४४ लाख है। इसकी राजधानी हेलसिन्की है।

प्राकृतिक स्थिति—फिनलैण्ड के पूरे क्षेत्र को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) समुद्रतटवर्ती मैदानी भाग, (२) मध्य क्षेत्र का पठारी भाग, जिसमें झीलें बहुत ज्यादा हैं, और (३) ध्रुव-क्षेत्र की परिधि में आनेवाला उत्तरी भाग। फिनलैण्ड के उत्तरी भाग में साल में चार से छः महीने तक सख्त सरदी पड़ती है। दक्षिणी भाग में सरदी का मान कुछ कम रहता है। दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में साल में ९० दिन बर्फ गिरती है। लापलैण्ड नामक उत्तरी क्षेत्र में तो वर्ष में २१० दिन तक बर्फ गिरती है! यहाँ के बाल्टिक सागर के सभी बन्दरगाह जाड़े के पाँच महीनों तक बर्फ जमने से बन्द पड़े रहते हैं।

इतिहास—१२ वीं से उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक फिनलैण्ड स्वीडन का हिस्सा समझा जाता था। तदनन्तर १९१७ ई० तक वह रूसी साम्राज्य का अंग बना रहा। द्वितीय महायुद्ध के बाद शान्ति-व्यवस्था के आधार पर फिनलैण्ड का दशमांश क्षेत्र सोवियत रूस को मिल गया है।

जाति, धर्म, रहन-सहन आदि—फिनलैंडवासी फिनो-युग्रियन जाति के लोग हैं। इस जाति का हंगरी की मगयार जाति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये जातियाँ करीब दो हजार वर्ष पहले रूस से इस क्षेत्र में आकर बस गई थीं। १२वीं शताब्दी ई० में स्वीडन के लोगों ने फिनलैंड पर आक्रमण करके उसके समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में अपनी बस्तियाँ बसाई। उक्त स्वीडन-वासियों की सन्तानें अब भी फिनलैंड में पाई जाती हैं—उनकी संख्या कुल आबादी की ८·६ प्रतिशत है। उत्तरी क्षेत्र में कुछ हजार लाप जाति के लोग रहते हैं। फिन जाति के लोगों को प्रकृति ने सख्त मेहनती बना दिया है। इसी से यहाँ के लोगों का स्वास्थ्य अच्छा होता है। यहाँ फिनिश और स्वीडिश दो राज-भाषाएँ हैं। धर्म के लिहाज से यहाँ के अधिकतर लोग प्रोटेस्टेण्ट हैं। फिनलैंड की प्रधान संपत्ति उसकी वन-सम्पदा है। यही उसकी समृद्धि का मुख्य स्रोत है। इस प्राकृतिक देन का भर-पूर उपयोग फिन लोगों ने अपने उद्योगों के निर्माण और विकास में किया है। वन्य लकड़ी पर निर्भर यहाँ का सब से बड़ा उद्योग कागज-निर्माण का धंधा है।

नगर—इस देश का प्रधान नगर राजधानी हेलसिंकी है, जो फिनलैण्ड की खाड़ी पर स्थित है। इसकी आबादी करीब चार लाख है। यही यहाँ का मुख्य बन्दरगाह भी है।

: सोवियत रूस :

पश्चिम में बाल्टिक सागर से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक विस्तृत सोवियत रूस क्षेत्रफल के लिहाज से इन दिनों संसार का सब से बड़ा देश है, यद्यपि आबादी के लिहाज से उसका स्थान चीन और भारत के बाद दुनिया में तृतीय माना जाता है। सोवियत रूस का पूरा क्षेत्रफल ८६ लाख वर्गमील है। इसमें से २१ लाख १० हजार वर्गमील का क्षेत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसार की सभी जातियों की भाँति रूसी लोगों में भी अनेक परंपरागत नृत्य प्रचलित हैं। प्रस्तुत चित्र में एक प्रसिद्ध रूसी नृत्य की छवि दिग्दर्शित है। [फो०—भारत-स्थित 'सोवियत रूसी दूतावास' के सौजन्य से।]

योरप में और शेष भूभाग एशिया में है। इसी तरह यहाँ की कुल आबादी २० करोड़ ८८ लाख है, जिसमें से १६ करोड़ ८० लाख नर-नारी योरपीय क्षेत्र में हैं और शेष एशियाई क्षेत्र में निवास करते हैं।

प्राकृतिक स्थिति—भारत की तरह सोवियत रूस भी अधिकतर मैदानी देश है। नक्शे में देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस भूभाग का ढाल धीरे-धीरे उत्तर की ओर आर्कटिक महासागर की ओर फैला है। इस देश का बीसवाँ भाग ६,५६० फीट की ऊँचाई से अधिक ऊँचा है; शेष भाग दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक तो ६५६ से ६,५६० फीट की ऊँचाई तक का पठार और दूसरा मैदानी भाग। देश के बीच में योरप और एशिया के संधिस्थल पर यूराल पर्वतमाला फैली है। दक्षिण में कारपेथियन पर्वतमाला और काकेशस पर्वत हैं, जो मध्य एशिया के पर्वतों से सम्बद्ध हैं। रूस की भूमि की ऊँचाई अधिक न होने पर भी वहाँ के मैदान एकदम सपाट नहीं हैं। मॉस्को की पश्चिमोत्तर दिशा में वाल्दे का पठार है और दक्षिण में स्मोलेंस्क-मॉस्को की ऊबड़खाबड़ पहाड़ियाँ हैं। हाँ, एकदम दक्षिण में चौरस मैदान है, विशेष रूप से कैस्पियन सागर के निकट के क्षेत्र में, जहाँ कुछ स्थानों पर जमीन की सतह समुद्र की सतह से भी ८५ फीट तक नीची है! कैस्पियन सागर के पूर्व में तूरान का मैदान अधिकांश रेगिस्तानी है।

यूराल पर्वतमाला तो केवल ५,००० फीट ऊँची है, पर कॉकेशस की ऊँचाई १८,४८१ फीट तक है। इसकी दो चोटियाँ तो योरप में सब से अधिक ऊँची हैं।

मध्य एशिया में पामीर से आरम्भ होनेवाली पर्वतमालाएँ पश्चिम और पूर्व दोनों ओर फैली हैं। ये पर्वतमालाएँ सोवियत भूमि को अफगानिस्तान और चीन से पृथक् करती हैं। इनकी दक्षिणी शृंखला के स्टालिन शिखर (२४,५६० फीट) और लेनिन शिखर (२३,३८२ फीट) बड़े ऊँचे हैं। तीनशान पर्वत चीन तक और अल्ताई पर्वत मंगोलिया तक फैले हैं। मध्य की कुजनेस्क घाटी में सोवियत रूस का सब से बृहत् कोयले का भांडार है। पूर्वोत्तर में मध्य साइबेरिया का पठार है, जहाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

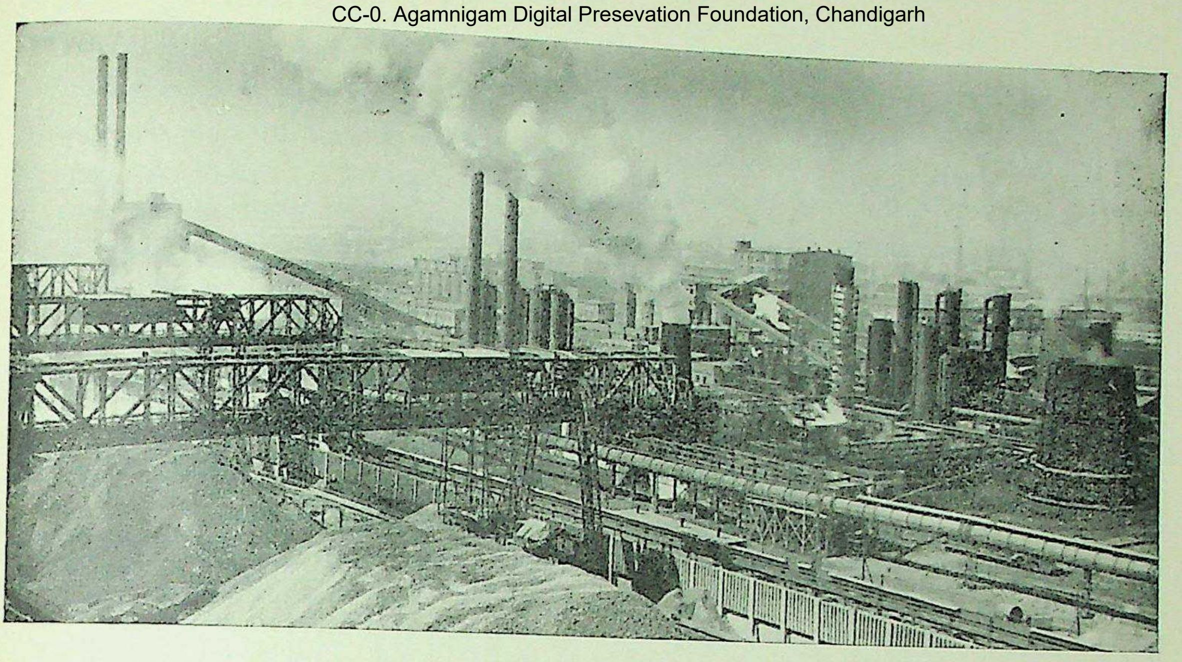

योजनाबद्ध विकास द्वारा सोवियत रूस ने आज संसार के महान् औद्योगिक देशों की पंक्ति में अपने लिए अग्रिम स्थान बना लिया है। यहाँ हर प्रकार के भारी और छोटे उद्योग स्थापित हैं। यह एक महत्वपूर्ण रूसी उद्योग-क्षेत्र की छवि है।
[फो०—भारतस्थित 'सोवियत रूसी दूतावास' के सौजन्य से।]

वरखोयांस्क पर्वतमाला प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में चन्द्राकार होकर लीना नदी के मुहाने के मैदान को घेरे हुए है। इसके बाद चेरस्की पर्वतमाला है। दक्षिण-पूर्व में सिखोटेलिन पर्वतश्रेणी ब्लाडीवॉस्टक के उत्तर में समुद्रतट के समानान्तर फैली हुई है।

सुदूर पूर्व में कमचटका के पठार से दो पर्वत-श्रेणियाँ फूटी हैं, जिनमें एक प्रशान्त महासागर में कुराइल द्वीप-समूह की शृंखला के रूप में जापान तक फैली है। कमचटका का केल्यूचेवेस्काया नामक ज्वालामुखी योरप और एशिया में सब से ऊँचा ज्वालामुखी पर्वत है। कुराइल पर्वतों में १६ ज्वालामुखी पर्वत हैं, जहाँ हमेशा धुआँ निकला करता है।

सोवियत रूस में कई एक लम्बी नदियाँ हैं। इनमें से बहुतेरी जाड़े के दिनों में जम जाया करती हैं, फिर भी इनका देश के आर्थिक जीवन में बहुत बड़ा स्थान है। इन नदियों में योरपीय क्षेत्र की प्रधान धाराएँ हैं बोल्गा, द्वीना, नीपर और डान। इनमें से कई को बड़ी नहरों से जोड़कर मिला दिया गया है, जिससे बाल्टिक सागर से ठेठ काला सागर और कैस्पियन समुद्र तक एक अनवरत जलमार्ग का सिलसिला बन गया है। मध्य एशिया की मुख्य नदियाँ आमू और सीर दरिया हैं, जिन्होंने उस क्षेत्र के रेगिस्तानी भाग को भी उर्वर बना दिया है। यूराल पर्वत के पूर्व में ओब, येनीसेई और लीना नामक कई बड़ी नदियाँ हैं, जो उत्तर की ओर बहकर आर्कटिक महासागर में गिरती हैं। इन नदियों का पानी समुद्र के निकट जम जाता है, अतः गरमी के दिनों में उनमें अक्सर बाढ़ आ जाती है। ओब नदी ने तो बहुत बड़े क्षेत्र को दलदल ही बना दिया है। येनीसेई नदी का प्रवाह तेज है। लीना पूर्वी रूस की सब से लम्बी नदी है। इसका पानी भी काफी समय तक जमा रहता है, अतः इसके द्वारा आवागमन की सुविधा नहीं है। उधर सुदूर पूर्व की मुख्य नदी आमूर है, जो प्रशान्त महासागर में गिरती है।

सोवियत रूस का उत्तरी भाग ध्रुव-क्षेत्र की परिधि में आता है, अतः वहाँ सख्त सर्दी पड़ती है। कुछ क्षेत्रों में वर्षपरयन्त बर्फ जमी रहती है। साइबेरिया में तो ताप शून्य से भी ५६ डिग्री से ६४·४ डिग्री तक नीचे चला जाता है! महासागर से तटवर्ती क्षेत्र में हवा की तेजी के कारण सर्दी बर्दाश्त नहीं की जा सकती। दक्षिण में क्रीमिया, कॉकेशस के दक्षिणी क्षेत्र एवं तूरान के मैदान में सर्दी अपेक्षाकृत कम पड़ती है।

जाति, संस्कृति, रहन-सहन, आदि—जितने क्षेत्र में सोवियत रूस का आज प्रसार है, उसमें पिछले हजारों वर्षों से अनेक जातियों का उद्गम, सम्मिश्रण और आवागमन होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा है। अनेक विद्वान् मध्य एशिया की [illegible] पर्वतमाला से मंगोलिया तक के काँठे से आर्य जाति का सम्बन्ध मानते हैं। इस क्षेत्र में शृंखलाबद्ध इतिहास आरम्भ होने से बहुत पहले अनेक योरपीय जातियों और उनकी भाषाओं का विकास हुआ था, जिनका प्रभाव योरप और एशिया के अधिकांश देशों पर पड़ा। मध्य एशिया से निकलकर दूर-दूर तक अपना आतंक जमानेवाली जातियों में आर्य, सीथियन, हूण, श्वेत हूण, मंगोल, तातार, पार्थयिन आदि मुख्य थीं। इनके अतिरिक्त कभी प्राण-रक्षा के लिए तो कभी उपजाऊ भूमि की तलाश में अथवा अपने अधिकार-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए भी अनेक घुमक्कड़ जातियाँ एक स्थान से दूसरे स्थानों को जाती गईं।

उधर आधुनिक विद्वानों का यह भी मत है कि रूस की स्लाव जाति योरपीय क्षेत्र से पूर्व की ओर बढ़ी थी। योरप

लोग मंगोल शासकों के विरुद्ध निरंतर विद्रोह करते रहे। ११४७ ई० में मंगोल शासकों के अधीन कजान के तातारी खान ने, जो उस समय कजान का सामन्त था, मॉस्को नगर की स्थापना की। धीरे-धीरे सभी स्लाव राजा मॉस्को के अधीन हो गए और १४७८ ई० में इस राज्य में नोवोग्राड भी शामिल हो गया। मॉस्को के नरेश ने तातारी राज्य को कर आदि देना बन्द कर दिया और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। १५५२ ई० में मॉस्को-नरेश ने कजान राज्य को जीत लिया और तब से तातार राज्य का अन्त हो गया। तातारी शासनकाल में ही रूस के निवासियों का यूराल और साइबेरिया के क्षेत्रों में आना-जाना शुरू हो गया था और उन्होंने वहाँ अपनी बस्तियाँ भी बसा ली थीं। १६४९ ई० में प्रशान्त महासागर के तट पर ओखोत्स्क नामक स्थान पर पहली रूसी बस्ती बसाई गई।

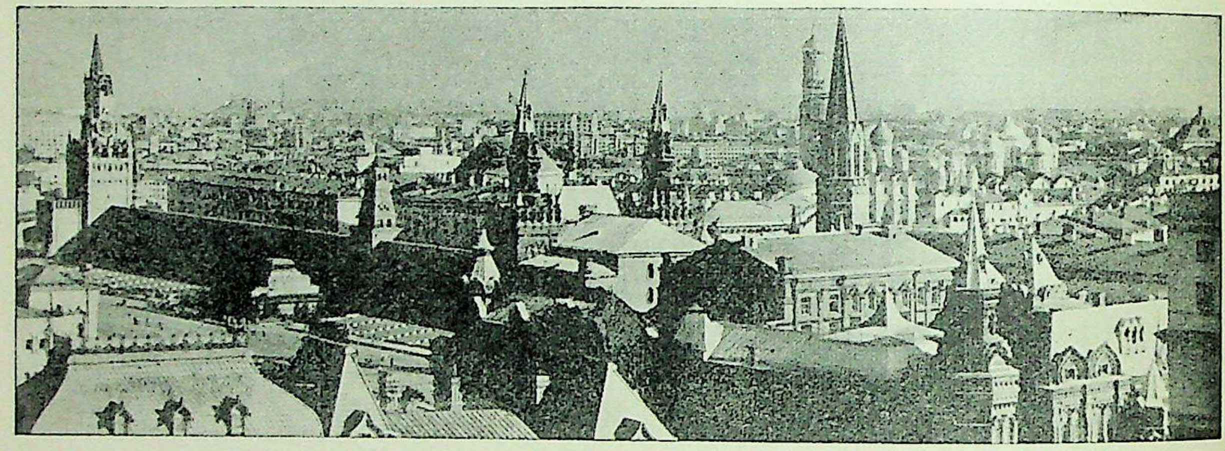

सोवियत रूस की राजधानी मॉस्को का विहंगम दृश्य [फो०—भारतस्थित 'सोवियत रूसी दूतावास' के सौजन्य से]।

और एशिया की नदियों के किनारे बसनेवाली यह जाति जब पूर्व की ओर बढ़ी, तो उसका सम्पर्क उन जातियों से हुआ जो एशिया के इस पश्चिमी भाग में आने को मजबूर हुईं थीं। आठवीं शताब्दी ई० में स्लाव लोगों ने खीव नगर को अपना केन्द्र बनाकर एक सामन्तवादी शासन का विकास किया। ८६२ ई० में नोवोग्राड नगर में भी एक राजवंश की स्थापना हुई। स्लाव जाति के नेतृत्व को लेकर नोवोग्राड और खीव में काफी समय तक संघर्ष चलता रहा। ११६९ ई० तक इस क्षेत्र में खीव के स्लाव नेताओं का ही प्रभाव अधिक रहा। ९८८ ई० में खीव के स्लाव-नरेश ने बाइजैन्टाइन ईसाई धर्म को अपना लिया। इसके फलस्वरूप रूस में तेजी से ईसाई धर्म का प्रचार हुआ। १२४० ई० में मंगोलों ने खीव राज्य को समाप्त कर दिया, परन्तु नोवोग्राड ने अपनी स्वतंत्रता बनाए रक्खी। स्लाव

सत्रहवीं शताब्दी में पीटर महान् रूस का शासक बना। उसने सेंट पीटर्सबर्ग की स्थापना की, जिसका नाम क्रान्ति के बाद से लेनिनग्राड हो गया है। पीटर ने यह प्रयास किया कि उसका देश अन्य योरपीय देशों के स्तर तक ऊँचा उठ सके। उसी ने रूस में पहलेपहल आधुनिकता लाने की कोशिश की।

१८ वीं शताब्दी में रूसी राज्य कॉकेशस पर्वत के दक्षिणी भाग में भी फैल गया। इसी बीच में उत्तर में पोलैण्ड का भी कुछ भाग रूस में मिला लिया गया।

१९ वीं शताब्दी में रूस ने एशिया में अपनी शक्ति बढ़ाई। उसने प्रशान्त महासागर के तट पर सखालिन पर अधिकार कर लिया और मंचूरिया भी उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ गया। पर १९०४-५ ई० में उसे युद्ध में जापान से पराजित होना पड़ा। फलतः कुछ क्षेत्र उसके अधिकार से निकल गए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१९१७ ई० में रूस में राज्यक्रान्ति हो गई और तत्कालीन शासक (जार) की हत्या कर दी गई। प्रथम महायुद्ध में जर्मन सेनाओं के आक्रमण से रूस को काफी क्षति उठानी पड़ी और उसकी आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई। राज्यक्रान्ति के बाद देश में गृह-युद्ध मच गया। लेकिन १९२२ ई० तक पूरे देश में बोल्शेविक सरकार की सत्ता कायम हो गई। इस प्रकार संघात्मक आधार पर एक समाजवादी राज्य (सोवियत यूनियन ऑफ सोशलिस्ट रिपब्लिक्स) की स्थापना हो गई।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सखालिन, तूवा, फिनिश करेलिया, इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, पोलैण्ड और रूमानिया का कुछ भाग तथा प्रशिया का कोनिग्सबर्ग क्षेत्र और चैकोस्लोवाकिया का रुथेनिया प्रदेश रूस में शामिल कर लिया गया।

इस समय सोवियत संघ में १५ गणतंत्र शामिल हैं। ये गणतंत्र वहाँ की प्रमुख जातियों के आधार पर निर्मित राज्य हैं। पश्चिमी सीमा के पास इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, बाइलो-रूस, यूक्रेन और मोल्डाविया नामक छः गणतंत्र हैं। कॉकेशस के क्षेत्र में जार्जिया, आर्मीनिया और अजरबैजान नामक तीन गणतंत्र हैं। मध्य एशिया में कज्जकस्तान, किरघीजिया, ताजिकस्तान, उजबेकिस्तान और तुर्कमेनिस्तान नामक पाँच राज्य हैं। इनमें सब से प्रमुख है रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणतंत्र। इसमें सोवियत संघ का ७५ प्रतिशत भूभाग और आधे से अधिक आबादी शामिल है। यह राज्य इस समय संसार का सब से बड़े क्षेत्रफलवाला राज्य है। द्वितीय महायुद्ध के बाद से पूर्वी योरप के पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, बल्गारिया और हंगरी भी सोवियत रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गए हैं।

जाति, संस्कृति, भाषा, रहन-सहन आदि—१९२६ ई० में रूस में १६९ जातियाँ और जपजातियाँ थीं, जिन्हें उनकी संस्कृति, शारीरिक आकृति और लक्षण आदि विशिष्ट गुणों के आधार पर मान्यता प्रदान की गई थी। व्यावहारिक दृष्टि से उनको एक दर्जन वर्गों में ही रखा जा सकता है। इनमें सब से अधिक संख्या पूर्वी स्लाव जाति के लोगों की है, जिनमें रूसी, यूक्रेनी और बाइलो-रूसी शामिल हैं। सोवियत संघ की कुल आबादी के तीन-चौथाई लोग इसी जाति के हैं। इनकी संख्या लगभग १२ करोड़ है। यूक्रेनी लोगों की संख्या ४ करोड़ है। ये लोग रूस के सब से अच्छे किसान माने जाते हैं। बाइलो-रूसी लोगों की संख्या ८० लाख है।

रूस में स्लाव जाति के बाद तुर्की जाति के लोगों की आबादी सब से अधिक है। ये लोग पूरे मध्य एशिया में रहते हैं। इनकी संख्या १ करोड़ ६० लाख है। मंगोल राज्य के समय पूरे रूस पर शासन करनेवाली कज्जाक जाति के लोग आजकल मॉस्को के पूर्व में वोलगा नदी के तट के कजान राज्य में रहते हैं। इन लोगों को 'कॉसेक्स' भी कहा जाता है। घुड़सवारी और घोड़े पालने में इस जाति की विशेष ख्याति है। इन लोगों की संख्या ४० लाख है। मध्य एशिया के दक्षिणी भाग में उजबेकिस्तान राज्य है। उजबेक जाति तुर्की वर्ग की एक उपजाति है। कॉकेशस के दक्षिण की अजेर वर्ग भी तुर्की जाति से निकली है। यह सदियों पहले वहाँ जाकर बस गई थी। इस क्षेत्र का गणराज्य अजरबैजान कहा जाता है। कॉकेशस क्षेत्र की मुख्य जातियाँ जार्जियन और आर्मीनियन हैं। इस क्षेत्र में ईरानी जाति के कुछ लोग भी रहते हैं। आर्मीनियन जाति के लोग संसार भर में सब से पुराने ईसाई हैं।

फिनो-युग्रियन जाति का उद्भव अल्ताई क्षेत्र में हुआ। बाद में अन्य बंजारी जातियों के दबाव में इन लोगों को उत्तर और पश्चिम की दिशा में जाना पड़ा। इस जाति के लोग वोलगा-यूराल क्षेत्र में रहते हैं। उधर रूस के पश्चिमोत्तर सीमा-क्षेत्र में कारेलियन, फिन और इस्टोनियन जाति के लोग बसते हैं। बाल्टिक क्षेत्र में लैटवियन और लिथुआनियन लोग बसते हैं। ये जातियाँ स्लाव जाति की उपजातियाँ हैं।

मोल्डेवियन जाति के लोग रूमानियन वर्ग के सजातीय हैं। इस जाति का विकास विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से हुआ है। ये लोग काले सागर के क्षेत्र में रहते हैं। रूस में २५ लाख यहूदी भी हैं।

सोवियत भूमि में मंगोल जाति की आकृति के काफी लोग मिलते हैं। इनमें बैकाल क्षेत्र के बरयात और वोलगा के मुहाने के कालमुक शुद्ध मंगोल जाति के समझे जाते हैं। पूर्वी साइबेरिया क्षेत्र के कुछ लोगों का सम्बन्ध अमरीकी रेड इंडियन जातियों से बताया जाता है।

अफगानिस्तान की सीमा के निकट रहनेवाले ताजिक लोग ईरानी जाति के हैं। उधर मध्य एशिया की प्राचीन एशियाई जातियों के कुछ लोगों का सम्बन्ध एस्किमो जाति से बताया जाता है।

इन विभिन्न जातियों को अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक उपलब्धियों को विकसित करने की पूरी छूट देते हुए अब एक विशाल जाति के रूप में विकसित किया जा रहा है।

सोवियत संघ में आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निरंतर क्रान्तिकारी उन्नति होती जा रही है। वहाँ एक नए प्रकार की समाज-रचना की जा रही है, जो पूँजीवादी देशों की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोवियत संघ में कोई ८० भाषाएँ बोली जाती हैं। इस भाषा-समूह को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है——स्लाव भाषाएँ, बाल्टिक क्षेत्र की भाषाएँ और भारतीय-ईरानी भाषाएँ। बास्टो-स्लाव भाषाओं में रूसी, यूक्रेनी और बाइलो-रूसी प्रमुख हैं। इन भाषाओं के लिए अधिकतर सिरिलिक लिपि का प्रयोग किया जाता है। यह लिपि पूरे सोवियत संघ की राजकीय लिपि है।

क्रान्ति के पूर्व रूस में ईसाई ऑथोडाक्स चर्च का बोलवाला था। यद्यपि कम्युनिस्ट समाज में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है, तथापि महायुद्ध के बाद सोवियत संघ में धार्मिक मामलों में रियायत दी जाने लगी है। वहाँ के नागरिक अपनी आस्था के अनुसार धार्मिक पूजा कर सकते हैं।

राज्यक्रान्ति के बाद सोवियत संघ में साक्षरता और शिक्षा का बड़ी तेजी से प्रसार हुआ है। इन दिनों सोवियत संघ में विश्वविद्यालय-स्तर की ७६७ शिक्षण-संस्थाएँ हैं। यहाँ वैज्ञानिक और तकनीकी (प्राविधिक) शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता है।

यहाँ के सामूहिक कृषि-फार्मों के जीवन में प्राचीन परम्पराओं, रीति-रिवाजों, वेशभूषा, लोकगीत, समूह-नृत्य और लोक-संस्कृति को काफी बढ़ावा दिया जाता है। मॉस्को और लेनिनग्राड में नाटक और ओपेरा के उत्तम केन्द्र स्थापित हैं। ओपेरा और ड्रामा के क्षेत्र में सोवियत संघ के सभी गणराज्यों की अपनी-अपनी महान् देन है। रूस में 'बेले' नामक नृत्य-नाट्य की परम्परा तो दो सौ वर्ष पुरानी है।

पिछले दिनों पूर्वनिर्धारित योजनाओं द्वारा सोवियत संघ ने औद्योगिक क्षेत्र में अपने ही बूते पर आश्चर्यजनक प्रगति की है, जिसके फलस्वरूप आज हम उसे वैज्ञानिक और प्राविधिक स्तर पर संयुक्त राज्य (अमेरिका) जैसे सर्वोच्च श्रेणी के औद्योगिक समुन्नत राष्ट्र को भी चुनौती देते पाते हैं। सोवियत संघ की इस अद्‌भुत प्रगति का बहुत-कुछ श्रेय जहाँ उसकी योजनाबद्ध राजकीय नियंत्रणमूलक व्यवस्था को दिया जाना चाहिए, वहाँ हमें इस बात को भी नहीं भूल जाना चाहिए कि लाखों वर्गमील के बृहत् विस्तार में फैला हुआ यह देश प्राकृतिक साधनों के लिहाज से संसार का एक अति संपन्न भूभाग है। यहाँ की खनिज संपदा का कोई अंदाज नहीं किया जा सकता। साइबेरिया के क्षेत्र में खनिजों के अपरिमित भांडार भूगर्भ में छिपे हुए हैं। सोवियत संघ में कोयला, लोहा, सोना, जस्ता, सीसा, टिन, तांबा, यूरैनियम तथा पेट्रोलियम जैसे मूल्यवान् खनिज भारी मात्रा में उपलब्ध हैं। इसके साथ-साथ यहाँ की नदियों के पानी को गिराकर बहुत बड़े परिमाण में विद्युत्-शक्ति भी उपलब्ध की गई है। इन साधनों के विकास से इस देश ने अपने यहाँ सभी प्रकार के छोटे और बड़े उद्योग स्थापित कर लिए हैं। आज उद्योग का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं, जिसमें यह राष्ट्र दखल न रखता हो। यहाँ इस्पात, मशीनरी, हवाई जहाज, रॉकेट, मोटरकार, रासायनिक द्रव्य, वस्त्र और इंजीनियरिंग के सामान आदि सभी वस्तुओं के कारखाने हैं। उद्योग के साथ-साथ कृषि के क्षेत्र में भी सोवियत संघ की उपलब्धियाँ अति महत्व की हैं। लाखों एकड़ बंजर भूमि को आबाद करके बड़े-बड़े सामूहिक कृषि-फार्म स्थापित किए गए हैं, जिन पर मशीनों से खेती की जाती है। यहाँ की मुख्य कृषि-उपज गेहूँ, कपास और तिलहनों की है।

नगर—सोवियतसंघ का सब से बड़ा नगर राजधानी मॉस्को है, जिसकी लाबादी ५० लाख से अधिक है। वह संसार का पाँचवाँ सब से बड़ा नगर है। मॉस्को का क्रेमलिन नामक राजप्रासाद और मुख्य चौक 'रेड स्क्वायर' दर्शनीय हैं। इस नगर में प्राचीन और नवीन भवनों का विचित्र सम्मिश्रण देखने को मिलता है। यहाँ का राजकीय ऐतिहासिक संग्रहालय, बोल्शाइ थियेटर, बड़ा राजकीय विक्रय-भवन और लेनिन-विश्वविद्यालय आदि देखने योग्य इमारतें हैं। विश्वविद्यालय की इमारत १,२६० फीट ऊँची है। यहाँ अनेक देशों के छात्र शिक्षा पाते हैं। मॉस्को के अतिरिक्त सोवियत संघ में अन्य कई बड़े और महत्वपूर्ण नगर हैं, जिनमें लेनिनग्राड की आबादी ३३ लाख, खीव की ११ लाख, बाकू की करीब १० लाख, गोर्की की ९॥ लाख और खारकोव, ताशकंद तथा नोवोसिबिरस्क में से प्रत्येक की करीब ९ लाख है। दो लाख से अधिक आबादीवाले रूसी नगरों की संख्या ६० से अधिक है।

: बाल्कन प्रदेश :

आल्प्स पर्वतमाला के दक्षिण-पूर्व में एड्रियाटिक सागर, एजियन सागर और काला सागर से परिवेष्टित योरप के दक्षिण-पूर्वी प्रदेश को सम्मिलित रूप से 'बाल्कन प्रदेश' के नाम से पुकारा जाता है। इस क्षेत्र में युगोस्लाविया, यूनान, बल्गारिया, अल्बानिया और रूमानिया देश शामिल हैं। इनके अलावा थ्रेस और इस्तंबुल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(कुस्तुनतुनिया) के आसपास का तुर्की का योरपीय भूभाग भी इसी क्षेत्र में सम्मिलित किया जाता है ।

प्राचीनकाल में इस क्षेत्र पर यूनान और रोम का आधिपत्य रहा । अन्धकार-युग में यहाँ स्लाव जातियों का आगमन हुआ, जिससे यहाँ पर कृषि का विकास हुआ और एक नवीन संस्कृति का उदय हुआ । मध्य काल में यह प्रदेश तुर्की के ऑटोमन साम्राज्य के अधीन हो गया । उन दिनों इस्लाम के प्रसार और प्रभाव के बावजूद भी यहाँ की स्लाव जातियों ने न तो ईसाई धर्म को ही छोड़ा और न अपनी भाषा और परंपरागत संस्कृति को ही तिलांजलि दी । यही नहीं, उनके द्वारा निरन्तर तुर्की साम्राज्य के चंगुल से स्वतंत्र होने के प्रयास भी होते रहे ।

युगोस्लाविया — ऑस्ट्रिया और हंगरी के दक्षिण में एड्रियाटिक समुद्र के तट पर स्थित युगोस्लाविया राज्य बालकन क्षेत्र का सब से बड़ा राज्य है । इस देश का क्षेत्रफल ९८,७२५ वर्गमील और आबादी लगभग १ करोड़ ८४ लाख है ।

युगोस्लाविया एक पहाड़ी देश है । इसके उत्तर में आल्प्स पर्वतमाला की पूर्वी शाखाएँ तथा उत्तर-पूर्व में रोडोप नामक पर्वत हैं । यहाँ की सब से बड़ी नदी डेन्यूब है, जिसके तट पर राजधानी बेलग्रेड स्थित है । डेन्यूब नदी के उत्तरी क्षेत्र में अच्छी खेती होती है ।

अपनी परंपरागत पोशाक में युगोस्लाव स्त्री-पुरुष ।

युगोस्लाविया का समुद्रतटवर्ती भूभाग जिन दिनों रोमन साम्राज्य का अंग था, उस समय वहाँ की पहाड़ियों को काट-कर सड़कें बनाई गई थीं । योरप के अन्धकार-युग में इस क्षेत्र में स्लाव भाषाभाषी लोगों का आगमन हुआ और वही यहाँ के प्रमुख निवासी बन गए । उन लोगों में सर्ब जाति के लोगों की संख्या अधिक थी । दुशन नामक राजवंश के काल में इस देश में प्रशासन की भली प्रकार की व्यवस्था स्थापित की गई । तुर्कों के आक्रमण के बाद सर्ब जाति के लोग उत्तर की ओर बिखर गए । वे मोरावा-घाटी में जा बसे और उन्होंने नाम मात्र के लिए तुर्कों की प्रभुता स्वीकार कर ली । समूचे बालकन प्रदेश में सब से पहले सर्ब लोगों ने ही तुर्कों के चंगुल से मुक्ति प्राप्त की । इस प्रकार सर्बिया के नाम से एक स्वतंत्र राज्य की प्रस्थापना हुई । प्रथम महायुद्ध के बाद सर्बिया, मांटीनिग्रो, मैसीडोनिया, बोसनिया, हर्जेगोविना, स्लोवेनिया और क्रोशिया-स्लोवेनिया के कुछ क्षेत्रों को मिला-कर नवीन युगोस्लाविया राज्य की स्थापना की गई । १९३४ ई० में यहाँ के नरेश अलेक्जेन्डर प्रथम की फ्रांस में हत्या कर दी गई । द्वितीय महायुद्ध के समय युगोस्लाव लोगों ने जर्मन सेनाओं का डटकर मुकाबला किया और छापामार युद्ध द्वारा दुश्मन के दाँत खट्टे कर दिए ! महायुद्ध की समाप्ति पर अपने महान् नेता मार्शल टीटो के अधीन इस देश में अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

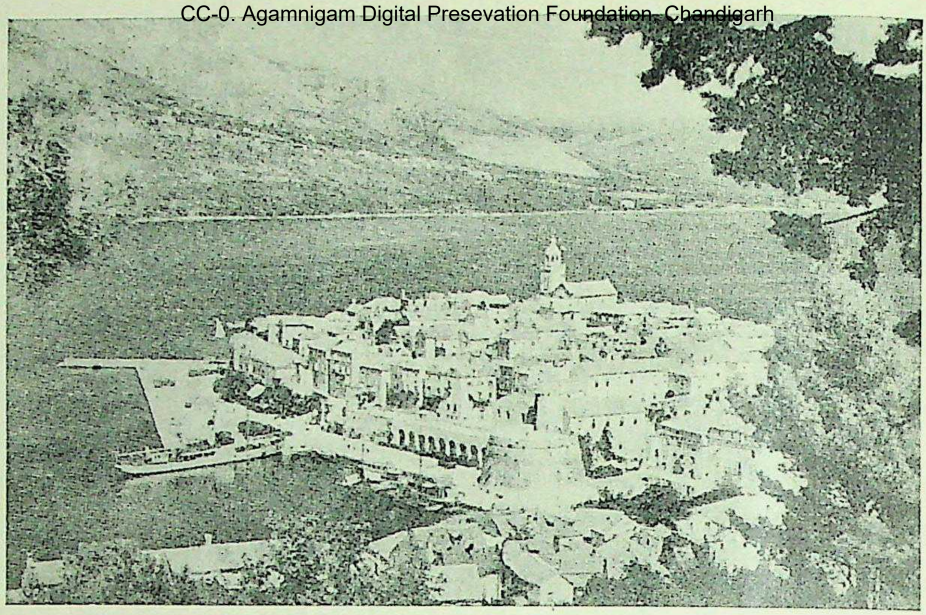

युगोस्लाविया प्राकृतिक दृष्टि से बड़ा ही रमणीक देश है। यह एड्रियाटिक सागर-तट के समीप के एक द्वीप पर की एक बस्ती का दृश्य है।

ढंग के एक समाजवादी राज्य की स्थापना की गई है। टीटो ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की तरह बड़े राज्यों के गुटों से अलग रहकर तटस्थता की नीति अपनाई है। इससे इस देश को आज की दुनिया में ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त है। युगोस्लाविया एक संघीय राज्य है—उसमें छः राज्य शामिल हैं। इस देश की कम्युनिस्ट पार्टी अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन से सर्वथा स्वतंत्र है।

युगोस्लोविया में ईसाई धर्म के रोमन कैथोलिक और आर्थोडाक्स चर्च के अनुयायियों के अतिरिक्त मुसलमान भी काफी संख्या में रहते हैं।

इस देश में सब से अधिक आबादी सर्ब जाति के लोगों की है, जिनमें मांटेनेग्रिन लोग भी शामिल हैं। यहाँ के अन्य प्रमुख जातिवर्ग क्रोट्स, स्लोवेनीज और मैसीडोनियन हैं। ये सभी जातियाँ सर्ब जाति की सजातीय हैं। सर्ब लोग युगोस्लाविया के पूर्वी भाग और बेलग्रेड के चारों ओर रहते हैं। बीच की घाटी में क्रोट्स लोग रहते हैं। स्लोवेनीज आल्प्स पर्वत की तराई के क्षेत्रों में आॅस्ट्रिया की सीमा के निकट रहते हैं। मैसीडोनियन लोग दक्षिणी भाग में रहते हैं। सीमा के निकट अल्बानियन और हंगेरियन जाति के भी कुछ लोग रहते हैं। दुर्गम पहाड़ियों में कुछ प्राचीन आदिम जातियों के लोग भी निवास करते हैं। इनमें जाद्रुगा जाति के लोगों का प्रमुख स्थान है। इनकी सामाजिक व्यवस्था पितृसत्तात्मक है। ये लोग आत्मनिर्भर गाँवों में रहते हैं।

युगोस्लाविया में सर्बो-क्रोट, स्लोवेनीज और मैसीडोनियन भाषाओं का प्रयोग होता है। ये सभी भाषाएँ स्लाव-वर्ग की हैं। सर्बो-क्रोट भाषा म दो लिपियों का प्रयोग किया जाता है—पश्चिम में लैटिन लिपि का और पूर्व में सिरीलिक का। मैसीडोनियन भाषा सिरीलिक लिपि में लिखी जाती है। उत्तरी अल्प-संख्यक लोगों में रूमानियन और मगयार भाषाओं का भी प्रचलन है। दक्षिण में अलबानियन और यूनानी भाषाएँ बोली जाती हैं। युगोस्लाविया के लोग स्वभाव से उद्यमी, साहसी और चतुर होते हैं। महायुद्ध के बाद इस देश ने कृषि और उद्योग के क्षेत्र में बहुत उन्नति की है। यहाँ गेहूँ, जौ और चुकंदर के अलावा अंजीर, अंगूर आदि की अच्छी पैदावार होती है। खनिज संपदा में काफी संपन्न होने के कारण यहाँ तत्सम्बन्धी उद्योगों का विशेष रूप से विकास हुआ है। यहाँ ताँबा, सीसा, लोहा, बॉक्साइट सब-कुछ उपलब्ध है। उद्योगों में तंबाकू, शकर, वस्त्र और इमारती लकड़ी के व्यवसाय विशेष महत्व रखते हैं। युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड है, जिसकी आबादी लगभग ५ लाख है। यहाँ का राष्ट्रीय थियेटर योरप का सब से अच्छा ओपेरा माना जाता है। दूसरे प्रमुख नगर जगरेब (४। लाख), साराजेवो (१।। लाख) और स्कोपल्जे (१।। लाख) हैं।

यूनान—पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के जन्मस्थान यूनान की भी गणना बालकन क्षेत्र के राज्यों में ही की जाती है। इस देश का क्षेत्रफल ५१,२४६ वर्गमील और आबादी ८१ लाख से अधिक है। यहाँ की राजधानी एथेन्स है। यूनानी प्रायद्वीप का दक्षिणी भाग भूमध्यसागर में पसरा हुआ है। उसके अंतर्गत अनेक द्वीप हैं, जिनके बीच छोटी-छोटी खाड़ियाँ हैं। यूनान में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जो समुद्र से ८० मील से अधिक दूर हो! इसका अधिकांश भाग पहाड़ी है। पूर्वोत्तर दिशा में स्थित यहाँ के ९,५७१ फीट ऊँचे ओलिम्पस पहाड़ के बारे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में प्राचीन यूनानियों का विश्वास था कि उस पर देवताओं का निवास है ! यूनान का कुछ भाग मैदानी भी है । यूनान के पूर्व एवं पूर्वोत्तर का पहाड़ी भाग एजियन द्वीप की पर्वत-शृंखलाओं का सिलसिला है और पश्चिम तथा दक्षिण में आल्प्स पर्वतमाला का अंश है । यहाँ प्रायः भूचाल आते रहते हैं ।

यूनान की जलवायु भूमध्यसागरीय है । यहाँ आकाश अधिकांशतः स्वच्छ नीला बना रहता है और दिन में धूप साफ रहती है । यहाँ वर्षा बहुत कम होती है ।

मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में प्राचीन यूनान की महान् देन के विषय में इस ग्रंथ के अन्य विभागों के अन्तर्गत आप विस्तृत विवरण पढ़ ही चुके हैं, अतः उसे यहाँ विस्तारपूर्वक फिर से दोहराना अनावश्यक है । अति प्राचीनकाल में यहाँ कौन लोग रहते थे, इसका विवरण आज हमें नहीं मिलता । केवल यही कहा जा सकता है कि ३००० ई० पू० के लगभग यूनानियों ने एजियन खाड़ी के कुछ द्वीपों में अपनी बस्तियाँ बसाई थीं । धीरे-धीरे यूनान और पड़ोसी द्वीपों में अनेक नगर-राज्यों का विकास हुआ, जिनमें एथेन्स, स्पार्टा, कोरिंथ और थीब्स प्रमुख थे । ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में जब यूनान पर ईरानी आक्रमण हुआ, तो यहाँ के नगर-राज्य सुरक्षा के लिए परस्पर एक सूत्र में बँध गए; लेकिन थोड़े समय बाद ही इन नगर-राज्यों का सहयोग समाप्त हो गया । उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप एथेन्स और स्पार्टा में युद्ध हुआ, जिसमें एथेन्स पराजित हो गया । स्पार्टा के बाद थीब्स के राज्य का प्रभाव बढ़ा । तदनन्तर मेसीडोनिया के शासक फिलिप ने इस देश पर अपना नेतृत्व स्थापित कर लिया । फिलिप के पुत्र सिकन्दर ने ठेठ एशिया तक अपनी विजय-पताका फहराकर यूनान की स्थिति और अधिक सुदृढ़ बना दी । उस समय यूनान के नगर-राज्यों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी । सिकन्दर की मृत्यु के बाद रोम का प्रभाव बढ़ा और यह देश रोमन साम्राज्य का अंग बन गया ।

प्राचीन वेशभूषा में एक यूनानी महिला ।

रोमन साम्राज्य के विभाजन के बाद यहाँ बाइजैन्टाइन साम्राज्य का झंडा फहराया, जो १५ वीं शताब्दी तक कायम रहा । तदनंतर इस देश को तुर्कों ने अपने राज्य में मिला लिया । १८३० ई० में रूस, ब्रिटेन और फ्रांस की सहायता से यूनान पुनः एक स्वतंत्र राज्य बना । १९१३ ई० में मेसीडोनिया भी यूनान में मिला लिया गया । द्वितीय महायुद्ध में हिटलर की सेना ने यूनान पर भी अधिकार कर लिया था, परन्तु नाजियों की पराजय के बाद वहाँ फिर से स्वतंत्र सरकार की स्थापना हो गई । इस बीच १९४६-४८ ई० में वहाँ गृहयुद्ध की-सी स्थिति हो गई, लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन की सहायता से वहाँ के राजवंश को कम्युनिस्ट विद्रोहियों से अब तक बचाए रखा जा सका है । अब भूमध्यसागर का क्रीट द्वीप भी ब्रिटेन के शासन से मुक्त हो गया है और वहाँ स्वतंत्र सरकार की स्थापना हो गई है ।

यूनान में मुख्यतया दो प्रकार की जातियाँ पायी जाती हैं । एक तो वे लोग हैं, जो भूमध्यसागरीय मानव-समूह से सम्बन्धित हैं । इन लोगों का कद ठिगना और रंग साँवला होता है । दूसरे वे लोग हैं, जो यहाँ उत्तर से आकर बसे हैं । ये लम्बे कद और गोरे रंग के होते हैं । बाद में उत्तर से इस प्रदेश में स्लाव जाति का प्रसार हुआ, जिनकी भाषा और संस्कृति यूनानियों से भिन्न थी । इनके अतिरिक्त तुर्क, मैसीडोनियावासी, स्पेनवासी, यहूदी और आर्मीनिया के लोग भी यहाँ आकर बसे हैं । तुर्की शासन में यहाँ के विद्रोह को दबाने के लिए सूदान के सैनिक लाए गए थे । वे भी यहीं पर बस गए । उनका भी रक्त यहाँ के निवासियों में मिल गया है ।

आधुनिक यूनान में अभिजात्य-वर्ग का सर्वथा अभाव है । यह देश मुख्यतया खेतिहर है । यहाँ के ६० प्रतिशत लोग खेती करते हैं । यहाँ की राष्ट्रीय पोशाक हमारे अँगरखे से मिलती-जुलती है । वही यहाँ के शाही अंगरक्षकों की वर्दी है । शहरों के यूनानवासी योरपीय वेशभूषा अपनाये हुए हैं ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यूनान की भाषा इंडो-योरोपीय वर्ग की है। इस भाषा की कई स्थानीय बोलियों का यहाँ प्रचलन है। आधुनिक यूनानी भाषा का लिखित रूप प्राचीन शास्त्रीय यूनानी भाषा से मिलता-जुलता है, परन्तु बोलचाल की भाषा में विभिन्नताएँ हैं। यहाँ के कृषक परिवारों में चाँदी के आभूषणों का काफी प्रचलन है। कसीदागरी और कपड़ों पर बेलबूटों को काढ़ने का भी काफी रिवाज है। आजकल यहाँ की हाथ-कारीगरी की वस्तुओं में बाइजैन्टाइन काल के नमूनों को नया रूप दिया जा रहा है। धर्म के क्षेत्र में यहाँ पर यूनानी सम्प्रदाय के कैथोलिक ईसाई धर्म को राज-धर्म की प्रतिष्ठा प्राप्त है।

यूनान की सब से बड़ी धरोहर कला, साहित्य और विचार के क्षेत्र की उसकी वह महान् देन है, जो उसके प्राचीन शिल्प, स्थापत्य और साहित्य में आज भी अवशिष्ट है। यहाँ की राजधानी एथेन्स (आबादी १२ लाख) सदियों तक पाश्चात्य संस्कृति का प्रधान पीठस्थान रह चुका है। यह नगर आज भी देश का हृदयस्थल है। आधुनिक यूनान का दूसरा उल्लेखनीय नगर सेलोनिका (आबादी ३ लाख) है, जो मेसीडोनिया क्षेत्र का प्रमुख बंदरगाह है।

अपने अँगरखेनुमा विचित्र पहनावे में सज्जित एक यूनानी सैनिक !

बल्गारिया—बालकन प्रायद्वीप के बीच में स्थित बल्गारिया भी एक बड़ा देश है। उसके दक्षिण में यूनान और तुर्की, पश्चिम में युगोस्लाविया तथा उत्तर में रूमानिया देश हैं। इस देश के पूर्व में काला सागर है। इसका क्षेत्रफल ४३,००० वर्गमील और आबादी लगभग ७५ लाख है। यहाँ की राजधानी सोफिया है।

बल्गारिया की उत्तरी सीमा डेन्यूब नदी द्वारा निर्मित है। उसके दक्षिणी भाग में बालकन पर्वतश्रेणी है, जिसका ढाल उत्तर की ओर है। दक्षिण-पश्चिमी भाग में रोडोप पहाड़ हैं, जिन पर जंगल अधिक हैं। इस क्षेत्र में अनेक पतली घाटियाँ हैं।

बल्गारिया के लोग बल्गर नामक जाति के हैं, जो सम्भवतः सातवीं शताब्दी के अन्त में डेन्यूब नदी पार करके इस प्रदेश में आ बसी थी। ये लोग कई सदियों तक बाइजैन्टाइन साम्राज्य की सीमाओं पर लूटमार करते रहे। ९ वीं शताब्दी में इस जाति की शक्ति बहुत बढ़ गई। १४ वीं शताब्दी में इस प्रदेश पर तुर्की के ऑटोमन साम्राज्य ने कब्जा कर लिया। फलतः अगले पाँच सौ वर्ष तक यहाँ विदेशी शासन बना रहा। १९ वीं शताब्दी में बर्लिन-सन्धि के अधीन बल्गारिया को तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत स्थानीय स्वतंत्रता का अधिकार मिल गया। अंत में १९०८ ई० में यह देश पूर्ण स्वतंत्र घोषित कर दिया गया।

१९१२-१९१३ ई० में बालकन-युद्ध तथा उसके उपरान्त प्रथम महायुद्ध की लपेट में आकर इस देश को काफी क्षति उठानी पड़ी। तदनंतर द्वितीय महायुद्ध में भी इसे जर्मन आक्रमण का शिकार बनना पड़ा। युद्धोपरान्त यहाँ एक जनवादी प्रजातांत्रिक गणतंत्र की स्थापना की गई है, जिसका नेतृत्व अब यहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी करती है।

बल्गर जाति मंगोल जाति की एक शाखा के सम्मिश्रण से बनी है। इस जाति के लोग पहले वोलगा के तटवर्ती क्षेत्र में बसने के कारण ही वोलगर अथवा वोलगर कहे जाते थे। बाद में ये लोग डेन्यूब घाटी में फैल गए और वहाँ के स्लाव लोगों में घुलमिल गए। इन लोगों के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम बल्गारिया पड़ा है। तुर्की शासनकाल में इनका और जातियों से सम्मिश्रण हुआ। आजकल बल्गारिया में छः प्रतिशत लोग तुर्क हैं। तुर्की शासन के दिनों में कुछ जिप्सी लोग भी यहाँ आकर बस गए थे।

बल्गर जाति के लोग प्रधानतः कृषक हैं और वे अधिकतर गाँवों में ही रहते हैं। यहाँ के गाँवों के बीच में स्कूल, गिरजाघर अथवा गाँव-पंचायत का घर होता है, जो गाँव के प्रशासन का केन्द्र समझा जाता है। गाँव के चारों ओर खेत होते हैं। मैदानी भाग के ग्राम अपेक्षाकृत बड़े होते हैं। उन्हें 'सेलो' कहा जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बलगारियन भाषा स्लाव भाषा-समूह की बोली है। वह सर्बो-क्रोट भाषा से मिलती-जुलती है। इसकी लिपि रूसी भाषा की लिपि के समान है।

बलगारिया में लोक-कहानियों और लोक-गीतों का विशेष रूप से प्रचलन है। इन लोक-गीतों को यहाँ के लोग अपने सरल वाद्ययंत्रों के सहारे गाते हैं। धर्म के लिहाज से यहाँ के ज्यादा-तर लोग पूर्वी ऑर्थोडाक्स चर्च के अनुयायी हैं। कुछ मुसलमान भी यहाँ हैं। बलगारिया की राजधानी सोफिया (आबादी ७। लाख) है, जो यहाँ का प्रधान व्यावसायिक केन्द्र भी है। यह नगर बालकन क्षेत्र के महत्वपूर्ण यातायात-केन्द्रों में है।

(बाईं ओर) शिशुसहित एक बलगारियन ग्रामीण स्त्री; (दाहिनी ओर) एक रूमानियन तरुणी।

रूमानिया — बलगारिया के ठीक उत्तर में काले सागर के तट पर स्थित रूमानिया एक गोलाकार देश है। इसके पश्चिमी भाग में पठार और पूर्व में मैदान हैं। मध्य भाग में ट्रांसिल्वानियन आल्प्स नामक पर्वत हैं। इन पर्वतों पर घने जंगल हैं। ये पहाड़ इसी नाम की घाटी को घेरे हुए हैं। यहाँ की नदियाँ पहले पश्चिम की ओर बहती और फिर दक्षिण की ओर मुड़कर डेन्यूब की सहायक नदियाँ बन जाती हैं। यहाँ की पहाड़ियों की तराई में बड़ी मात्रा में पेट्रोलियम पाया जाता है। रूमानिया का मैदानी भाग दक्षिण और पूर्व के दो हिस्सों में बँटा हुआ है। दक्षिण के मैदानी भाग में कारपेथियन पर्वत की तराई का भाग और डेन्यूब-घाटी का हिस्सा सम्मिलित है। इस देश का क्षेत्रफल ९१,६७६ वर्गमील और आबादी १ करोड़ ८० लाख है। यहाँ की राजधानी बुखारेस्ट है। देश की समस्त हलचलों के केन्द्र स्वरूप इस नगर की आबादी १४ लाख है। मध्य युग में पूर्वी कारपेथियन क्षेत्र के गाँवों का प्रशासन वहाँ के स्थानीय शासकों — 'हसपोदारों' — के हाथों में था। इन पहाड़ी क्षेत्रों में लगभग चार शताब्दियों तक तुर्कों का भी राज्य रहा। इनके राज्य के अन्तर्गत उत्तर में मोल्डाविया और दक्षिण में वालाशिया नामक दो राज्यों का विकास हुआ। १८५९ ई० में पेरिस की सन्धि के आधार पर उक्त दोनों राज्य शामिल हो गए। तुर्की के ऑटोमन साम्राज्य के शक्तिहीन होने पर १८७८ ई० में रूमानिया को पूरी आजादी मिली। उस समय जर्मनी के होहेनजोलर्न-सिगमेरिंगेन नामक राजवंश का एक नरेश रूमानिया का शासक बनाया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रथम महायुद्ध के बाद रूमानिया का क्षेत्रफल काफी बढ़ गया, क्योंकि ट्रांसिल्वानिया का क्षेत्र और पूर्वोत्तर में रूस द्वारा छोड़ा गया बेसारेबिया का क्षेत्र भी उसमें मिला दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के समय अन्य बालकन राज्यों की भाँति इस देश पर भी जर्मनी ने अधिकार कर लिया था, पर १९-४४ ई० में आखिर जर्मन सेना खदेड़कर बाहर निकाल दी गई। १९४७ ई० में यहाँ का राजतंत्र उखड़ गया और उसके स्थान में पाँच वर्ष बाद एक जनवादी प्रजातान्त्रिक गणतंत्र स्थापित हो गया। उस समय से इस देश का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में है।

रूमानिया के ८५ प्रतिशत लोग लैटिन, केल्ट तथा स्लाव जातियों के मिश्रण से बनी जाति के वंशज हैं। यहाँ के अल्प-संख्यकों में जर्मन, मगयार तथा जिप्सी लोग भी काफी संख्या में पाए जाते हैं।

रूमानिया की भाषा प्राचीन रोमांस भाषा से उत्पन्न हुई है। उस पर स्लाव, तुर्की, मगयार और फ्रांसीसी भाषाओं का काफी प्रभाव पड़ा है।

खनिज संपदा के लिहाज से रूमानिया बड़ा संपन्न है। यहाँ की सब से महत्वपूर्ण खनिज उपज पेट्रोलियम है। इस देश में प्रतिवर्ष १ करोड़ १० लाख टन खनिज तैल निकाला जाता है। यह उद्योग राज्य की ओर से चलाया जाता है।

पेट्रोल साफ करने के उद्योग के अतिरिक्त यहाँ और भी कई छोटे-बड़े उद्योग हैं, जिनमें खाद्य पदार्थ, वस्त्र, चमड़े का सामान आदि तैयार करने के धंदे प्रमुख हैं। आजकल रूमानिया का सब से अधिक व्यापार सोवियत रूस और पूर्वी योरप के अन्य कम्युनिस्ट देशों से होता है।

अधिकतर रूमानियावासी कृषक हैं। ये अपने घरों और पशुओं को सजाकर रखने के बड़े शौकीन हैं। कढ़े हुए पर्दों और बेलबूटेदार चीनी के बर्तनों का यहाँ अधिक उपयोग किया जाता है। यहाँ की हाथ-कारीगरी के बने वस्त्र और बर्तन मशहूर हैं।

यद्यपि कम्युनिस्ट शासन में धर्म को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, फिर भी यहाँ की जनता ऑर्थोडाक्स और यूनानी कैथोलिक चर्च की अनुयायी बनी हुई है। इन धर्म-संप्रदायों का वैटिकन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

अल्बानिया—बालकन राज्यों में अल्बानिया सब से छोटा देश है। इस राज्य का क्षेत्रफल १०,७०० वर्गमील और आबादी करीब १४ लाख है।

यह देश बालकन प्रायद्वीप के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित है। यहाँ के पहाड़ समुद्रतट के निकट एक दीवार-सी बनाते हैं और नदियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर बहकर एड्रियाटिक सागर में गिरती हैं। अल्बानिया के उत्तर और पूर्व में युगोस्लाविया तथा दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में यूनान देश है।

इस देश में १९१२ ई० तक तुर्कों का शासन स्थापित था। तदनंतर यह एक स्वतंत्र राज्य बना। १९३९ ई० में इस देश पर इटली ने अधिकार कर लिया था और वहाँ के नरेश को गद्दी से हटा दिया था। १९४४ ई० में यहाँ एक स्वतंत्र जनवादी गणतंत्र की स्थापना की गई। पिछले कुछ अर्से से अल्बानिया सोवियत रूस से नाराज है और अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में उग्र नीति के पृष्ठपोषक चीन का समर्थक बन गया है। यह देश युगोस्लाविया को अपना परम्परागत शत्रु मानता है।

अल्बानियन लोग प्राचीन इलीरियन और एपीरोट् जाति के वंशज माने जाते हैं। ये जातियाँ प्राचीनकाल में बालकन प्रदेश के पश्चिमी भाग में रहती थीं। अल्बानियन भाषा प्राचीन इलीरियन भाषा की पुत्री है। वह इंडो-योरपीय भाषाओं के परिवार की मानी जाती है। इस देश के दो-तिहाई लोग मुसलमान हैं। शेष रोमन कैथोलिक हैं। अल्बानिया का प्रमुख व्यवसाय कृषि और पशु-पालन है। खनिज संपदा में यह देश काफी संपन्न है, परन्तु अभी इस दिशा में विशेष लाभ नहीं उठाया जा सका है। यहाँ ताँबा, लोहा, क्रोमाइट और खनिज तैल उपलब्ध है। यहाँ का प्रमुख नगर राजधानी तिराना है, जिसकी आबादी ५० हजार है।

: तुर्की :

तुर्की का बहुत थोड़ा प्रदेश ही योरप के अंतर्गत है; उसका अधिकांश भाग एशिया में है। फिर भी इस देश को एशियाई के बजाय प्रायः एक योरपीय देश ही माना जाता है। इसका कारण यह है कि सदियों तक इस देश का प्रमुख केन्द्र योरप के बालकन-क्षेत्र में ही अवस्थित रहा है। तुर्की के उत्तर में काला सागर और दक्षिण में भूमध्यसागर का प्रसार है। एशियाई भूभाग पर इसकी दक्षिणी सीमा सीरिया की सीमा से जा मिलती है। इस देश का क्षेत्रफल २,९६,३८० वर्गमील और आबादी २,७५,००,००० है। यहाँ की राजधानी अंकारा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

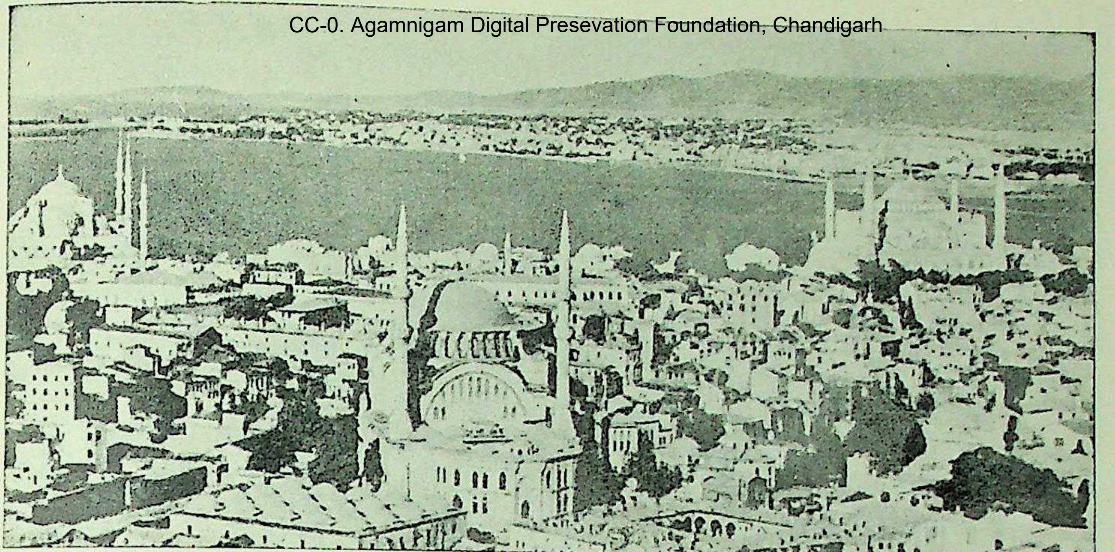

तुर्की के सब से बड़े नगर इस्तंबुल (पूर्ववर्ती नाम कुस्तुनतुनिया या कांस्टेन्टीनोपल) का विहंगम दृश्य :: बॉस्फोरस जलडमरुमध्य पर स्थित यह ऐतिहासिक नगर सदियों तक पहले सुप्रसिद्ध बाइजैन्टाइन साम्राज्य और तदनंतर ऑटोमन साम्राज्य की राजधानी रहा है। यहाँ मध्यकाल की अनेक दर्शनीय इमारतें हैं, जिनमें सोफिया की मसजिद सबसे भव्य है।

प्राकृतिक स्थिति—तुर्की का अधिकांश भाग ऊँचा पठार है, जिसकी औसत ऊँचाई तीन से पाँच हजार फीट के बीच में है। इस देश के पूर्व में स्थित अरारात पर्वत करीब १७ हजार फीट ऊँचा है। बाइबिल के उपाख्यानों के अनुसार इसी पर्वत पर जलप्लावन के बाद हजरत नूह की नौका आकर रुकी थी। इसके अतिरिक्त १२ हजार फीट की ऊँचाई के और भी कई पर्वत यहाँ हैं। उत्तर में काला सागर का तटवर्ती भाग मैदानी है। यहाँ नदियों के मुहानों की भूमि रेतीली बन जाती है। दक्षिणी समुद्रतट पर भी अन्तोलिया और अदाना के निकट थोड़ा मैदानी भाग है। उधर सीरिया की सीमा के निकट उर्फा और मर्दिन के मैदानी भाग हैं। पश्चिम में पठार धीरे-धीरे एजिएन सागर के पास खत्म हो जाता है। तुर्की के पहाड़ों के दर्रे पूर्व से पश्चिम की ओर हैं। एजिएन सागर के तट पर अनेक खाड़ियाँ हैं, जिनमें प्राकृतिक बन्दरगाह हैं। मध्य तुर्की में बहुत-सी झीलें हैं। यहाँ की किजिल नदी काला सागर में, मेन्डेरेस नदी एजिएन सागर में, सेहान नदी भूमध्यसागर में और फरात और दजला नदियाँ फारस की खाड़ी में गिरती हैं।

इतिहास—सामान्य रूप से यह माना जाता है कि इस क्षेत्र के निवासी प्राचीन हित्ती जाति के वंशज हैं। हित्ती साम्राज्य के समाप्त होने पर इस क्षेत्र के एशियाई भूभाग पर बारी-बारी से फ्रीजियन, लीडियन, ईरानी, यूनानी और रोमन साम्राज्यों का झंडा फहराया। ३३० ई० में रोमन साम्राज्य के विभाजन के समय बाइजैन्टाइन साम्राज्य की राजधानी बाइजेन्टियम में स्थापित हुई। यही नगर बाद में कांस्टेन्टीनोपल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाइजैन्टाइन साम्राज्य को ईरानी, अरब, सेलजुक तुर्कों आदि के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। १४५३ ई० में कांस्टेन्टीनोपल पर तुर्कों के ऑटोमन नरेशों ने अपना अधिकार कर लिया।

ऑटोमन या उस्मानी तुर्क मध्य एशिया से आनेवाले तुर्कों की सन्तान माने जाते हैं। ये लोग जब अन्तोलिया में आकर बसे, तो अपनी वीरता और सैन्य बल से १५वीं शताब्दी में अरब के इस्लाम साम्राज्य के उत्तराधिकारी बन गए। ऑटोमन तुर्क साम्राज्य अपने वैभव की चरम सीमा के युग में पूर्व में ईरान से लेकर मोरक्को तक और दक्षिण में यमन से लेकर हंगरी और क्रीमिया तक फैला हुआ था। तुर्कों ने दो बार विएना नगर पर घेरा डाला था। परन्तु १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में आकर तुर्क साम्राज्य का पराभव हो गया। प्रथम महायुद्ध के समय तुर्की के जो दक्षिणी अरब प्रदेश साम्राज्य में रह गए थे, वे भी निकल गए। तुर्की अन्तोलिया प्रदेश के विभाजन को रोकने में बड़ी मुश्किल से कामयाब हुआ। उसी समय अतातुर्क कमाल पाशा ने तुर्की के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथों में लिया। उसने योरपीय राष्ट्रों को तुर्की की वर्तमान सीमाओं को स्वीकार करने पर बाध्य किया। इसके लिए १९२३ ई० में लासाने की सन्धि हुई। उसके अनुसार अन्तोलिया और थ्रेस का थोड़ा-सा भाग तुर्की को मिला। थ्रेस प्रदेश में ही कांस्टेन्टीनोपल अथवा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

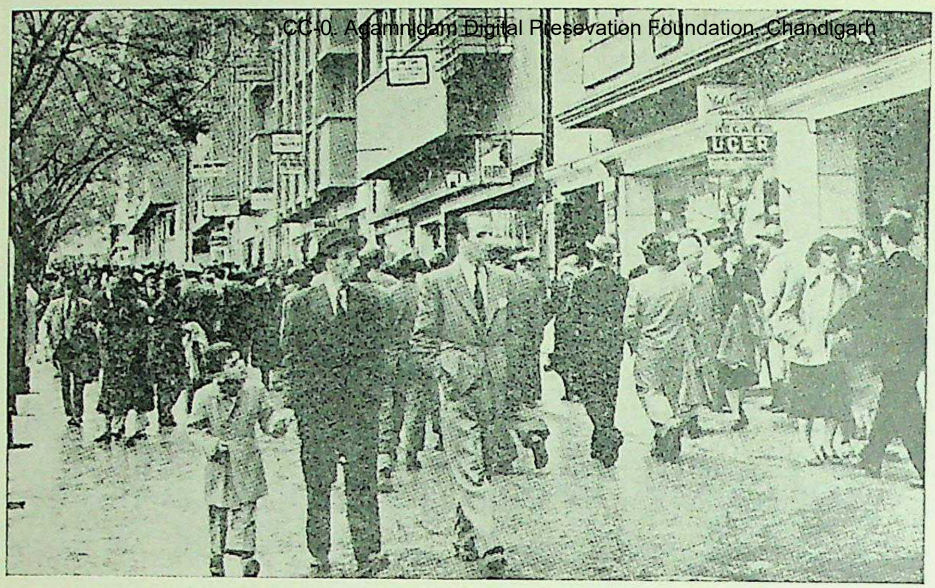

प्रथम महायुद्ध के बाद अपने महान् नेता कमाल अतातुर्क के प्रयत्नों से तुर्की का सर्वथा काया-कल्प हो गया है और यहाँ के लोगों ने पहनावे तथा आचार-व्यवहार में पूर्णतया आधुनिक योरपीय ढंग अपना लिया है। यह राजधानी अंकारा की एक झलक है।

ऐसा देश है, जिसमें अरब की सेमेटिक जाति का प्रभाव नहीं है। यहाँ के ८० प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। तुर्की के प्रमुख अल्पसंख्यक कुर्द जाति के लोग हैं। ये लोग दक्षिण-पूर्वीय क्षेत्र में रहते हैं। उनकी संख्या १५ लाख के करीब है। इनकी भाषा कुर्दी है, जो ईरानी परिवार की बोली मानी जाती है। करीब पौने चार लाख अरबी भाषा - भाषी लोग भी यहाँ हैं।

इस्तंबुल नगर स्थित है। कमाल अतातुर्क ने अपने देश को आधुनिकता के मार्ग पर आगे बढ़ाने का सफल कार्यक्रम कार्यान्वित किया। उसने तुर्को में गणतंत्र की स्थापना की और सुलतान तथा खलीफा के पदों को समाप्त कर दिया। कमाल अतातुर्क ने तुर्की में केवल राजनीतिक सुधार ही नहीं किए, वरन् अपने देश को एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में परिणत करने का भी सफल प्रयत्न किया। उसने तुर्की-निवासियों को पुरानी वेशभूषा--तुर्की टोपी, पायजामा, बुर्का आदि--का तिरस्कार कर योरपीय पोशाक पहनने पर बाध्य किया और महिलाओं को पर्दे में रखने की परिपाटी को तोड़ दिया। सारांश यह है कि सभी मध्ययुगीन आचार-व्यवहार को समाप्त करके उसने लोगों को आधुनिकता अपनाने पर जोर दिया।

तुर्की की आबादी में सेलजुक ऑटोमन तुर्कों के वंशजों की संख्या कुल आबादी का २५ प्रतिशत है। यहाँ के ७५ प्रतिशत लोग क्षेत्र के मूल निवासियों अथवा पूर्ववर्ती बाशिन्दों के वंशज हैं। इन लोगों में आर्मीनियन, ईरानी और भूमध्यसागरीय जातियों का पर्याप्त मिश्रण हुआ है। तुर्की के लोगों के बाल काले और आँखें भी काली होती हैं। भूमध्यसागरीय प्रभाववाले लोगों के सिर प्रायः लम्बे होते हैं। यहाँ के कुछ लोगों के सिर गोल भी हैं। उनका रंग गोरा, आँखें नीली और बाल लाल होते हैं। इन पर स्पष्टतः मंगोल जाति का प्रभाव दिखाई देता है। पश्चिमी एशिया में तुर्की ही एक

इस्तंबुल में ८२ हजार यूनानी भी रहते हैं। इस प्रकार तुर्की एक बहुभाषाभाषी बहुजातीय देश है।

तुर्की भाषा यूराल-अल्ताई समूह की भाषा है। इसका फिनिश, हंगेरियन तथा मंगोलियन वर्ग की मांचू भाषा से निकट का सम्बन्ध है। ऑटोमन तुर्क साम्राज्य के युग में इस बोली में अरबी भाषा के भी अनेक शब्द ले लिए गए थे। फारसी भाषा के भी बहुत-से शब्दों का तुर्की भाषा के शब्द-समूह में समावेश हो गया है। तुर्की भाषा पहले अरबी लिपि में लिखी जाती थी। बाद में कमाल अतातुर्क ने सुधार करके उसे लैटिन लिपि में लिखना आरम्भ कराया। यहाँ के ९९ प्रतिशत लोग इस्लाम के अनुयायी हैं।

गणतंत्र की स्थापना के बाद तुर्की में कला, साहित्य और संगीत के क्षेत्र में काफी पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। आधुनिक तुर्की सभ्यता ऑटोमन तुर्की सभ्यता और पाश्चात्य सभ्यता के सम्मिश्रण से ही विकसित हुई है।

नगर—यद्यपि तुर्की की राजधानी अंकारा (५॥ लाख) है, तथापि यहाँ का सब से बड़ा नगर इस्तंबुल (पूर्ववर्ती नाम कुस्तुनतुनिया) है, जिसकी आबादी १२ लाख है। इस्तंबुल एक उत्तम बंदरगाह है। सदियों तक यहाँ सुप्रसिद्ध बाइजैन्टाइन साम्राज्य की राजधानी रही। तदनंतर यह ऑटोमन तुर्की का पीठस्थान बन गया। यहाँ मध्यकाल की अनेक इमारतें मौजूद हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसार के देश और उनके निवासी—(४)
उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका

एशिया, योरप और अफ्रीका की तथाकथित 'पुरानी दुनिया' से विदा होकर, आइए, अब अटलांटिक महासागर के पार के उस भूभाग के देशों का पर्यावलोकन करें, जिसे 'नई दुनिया' के नाम से पुकारा जाता है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका नामक दो विशाल महाद्वीपों को अपने अंचल में समेटे हुए इस क्षेत्र को भौगोलिक शब्दावली में प्रायः 'पश्चिमी गोलार्द्ध' की भी संज्ञा प्रदान की जाती है।

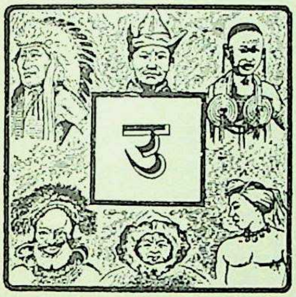

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों को मिलाकर 'नई दुनिया' के नाम से अभिहित किया जाता है। उत्तरी अमेरिका में कनाडा, संयुक्त राज्य, मैक्सिको आदि बड़े देशों के अलावा ग्वाटामाला, हान्डुरास, निकारागुआ, कोस्टारीका और पनामा आदि कई छोटे देश भी सम्मिलित हैं। दक्षिणी अमेरिका में ब्राजील, अर्जेन्टाइना, बोलीविया, चाइल, कोलम्बिया, इक्वेडोर, पीरू, परागुए, उरुगुए, वेनेजुला तथा ब्रिटिश, फ्रेंच और डच गायना नामक देश शामिल हैं।

पश्चिमी गोलार्द्ध के उपर्युक्त दोनों भूखंडों में उत्तरी अमेरिका आकार में बड़ा है और उसका महत्व भी अधिक है; कारण, इसी महाद्वीप के अंचल में संयुक्त राज्य और कनाडा जैसे समुन्नत राष्ट्र अवस्थित हैं। उत्तरी अमेरिका का क्षेत्रफल ७६ लाख वर्गमील है और उसकी आबादी लगभग २५ करोड़ है। विषुवत् रेखा के उत्तर में लगभग १०° अक्षांश से ८०° अक्षांश के बीच पसरे हुए इस विशाल भूखंड में हिमांक से कई अंश नीचे तक की घोर शीत से लेकर कड़ी गरमी तक के विविध तापवाले जलवायु-क्षेत्र विद्यमान हैं। यहाँ हिममंडित पर्वतशिखरों, उन्नत पठारों, हजारों मील लंबी नदियों, बहुत बड़ी झीलों, लंबे-चौड़े मैदानों, सघन वनों और शुष्क मरुस्थल आदि सभी प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों की झाँकी निखरी हुई है। इस भूखंड का धुर उत्तरी इलाका ध्रुवप्रदेशीय वीरान हिमक्षेत्रों तथा शीतप्रधान वनों से आच्छादित है। इसका पश्चिमी अंचल पहाड़ी है। वहाँ रॉकी पर्वतमाला तथा अन्य पहाड़ी सिलसिले उत्तर से दक्षिण की ओर समानान्तर फैले हैं। पूर्वीय अंचल में भी एपेलेशियन पर्वतमाला और लॉरेंशियन श्रेणी नामक दो पहाड़ी सिलसिले मौजूद हैं। ये पहाड़ अपेक्षाकृत नीचे हैं। पूर्व और पश्चिम के इन ऊबड़खाबड़ उच्च प्रदेशों के बीच ढालू या सपाट लंबा-चौड़ा मैदान फैला है, जिसमें अनेक बड़ी नदियाँ बहती हैं। मध्यवर्ती भाग में विशाल झीलों के एक अनूठे सिलसिले की झाँकी निखरी हुई है। नदियों में सब से बड़ी हैं मिसीसिपी, मैकेंजी, मिसौरी और सेंट लारेंस, जिनमें से प्रत्येक की लंबाई लगभग ढाई हजार मील है। झीलों में सब से बड़ी सुपीरियर झील है। इसका क्षेत्रफल ३१ हजार वर्गमील है।

इन दिनों उत्तरी अमेरिका की आबादी का मुख्य अंश तीन-चार सौ वर्षों से योरप से आकर यहाँ बस जानेवाली श्वेतांग जातियों का है, यद्यपि यहाँ के मूल निवासियों का भी अभी सर्वथा नामोनिशान नहीं मिट पाया है। उनकी यादगार कायम रखते हुए उत्तरी हिमक्षेत्र के एस्किमो तथा मध्य एवं दक्षिणी भाग के रेड इंडियन जाति के कुछ बचे-खुचे लोग अभी भी इस भूखंड में विद्यमान हैं। ये लोग हजारों वर्षों से इस भूभाग में अपना डेरा जमाये हुए हैं। इनके अलावा दास-प्रथा के जमाने में अफ्रीका से लाए गए कृष्णकाय नीग्रो भी यहाँ की आबादी के एक महत्वपूर्ण अंश हैं। अल्प संख्या में कुछ एशियाई जातियों के लोग भी यहाँ आकर बस गए हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तरी अमेरिका में मुख्यतः अंग्रेजी भाषा का ही बोलबाला है, जो संयुक्त राज्य और कनाडा की राजभाषा है। वैसे कुछ क्षेत्रों में फ्रेंच का भी प्राधान्य है। विभिन्न क्षेत्रों के रेड इंडियन लोग अपनी विशिष्ट पुरानी बोलियों का भी प्रयोग करते हैं। मैक्सिको और अन्य मध्य अमेरिकन देशों में लोग प्रधानतः स्पेनिश एवं उससे प्रभावित बोलियों का प्रयोग करते हैं।

उत्तर में कैरीबियन सागर से लेकर दक्षिण में दक्षिणी ध्रुव के अन्टार्कटिक महाद्वीप तक फैला हुआ दक्षिणी अमेरिका पूर्व में अटलांटिक महासागर और पश्चिम में प्रशान्त महासागर से परिवेष्टित है। यह महाद्वीप पनामा-स्थलडमरूमध्य के जरिए उत्तरी अमेरिका से जुड़ा हुआ है। इसका क्षेत्रफल ७० लाख वर्गमील है (जो पृथ्वी के सम्पूर्ण स्थल-भाग का सातवाँ हिस्सा है) और यहाँ की आबादी १३ करोड़ है।

इस महाद्वीप के पश्चिमी समुद्रतट के समानान्तर फैली हुई एंडीज पर्वतमाला की लम्बाई संसार की सभी पर्वतमालाओं से अधिक है। इसकी अनेक चोटियाँ २१,००० फीट से भी अधिक ऊँची हैं। इस पर्वतश्रेणी में अनेक सजीव ज्वालामुखी विद्यमान हैं, फलतः यहाँ प्रायः भूचाल का दौरदौरा बना रहता है।

दक्षिणी अमेरिका के पूर्व में दो पठार फैले हैं। ये हैं—१. पूर्वोत्तर भाग में ब्राजील का पठार, जो अमेजन नदी के दक्षिण में पूर्वी समुद्रतट तक फैला है; २. गायना का पठार, जिसकी भूमि अत्यन्त ऊबड़खाबड़ है।

चाइल के उत्तर में इक्वेडोर तक करीब एक हजार मील तक फैली हुई लम्बी रेगिस्तानी पट्टी की गणना संसार के शुष्कतम क्षेत्रों में की जाती है। ब्राजील-पठार के दक्षिण का निचला भाग अर्जेन्टाइना में 'पाटागोनिया' कहलाता है।

दक्षिणी अमेरिका की प्रमुख नदियाँ अमेजन, ओरीनोको और पराना-परागुए हैं। अमेजन दक्षिणी अमेरिका की सब से बड़ी नदी है। इसकी लम्बाई ४,००० मील और कछार की चौड़ाई २० से ८०० मील तक है! इस नदी के बीच में अनेकों चौड़े टापू हैं! एंडीज पर्वतों से निकलकर यह महान् नदी अटलाण्टिक महासागर में गिरती है। इस नदी के मुहाने पर ४० मील की दूरी तक समुद्र का पानी मीठा रहता है और इसके द्वारा १,००० मील तक जहाजरानी हो सकती है। ओरीनोको गायना के पर्वतों से निकलकर कैरीबियन सागर में गिरती है। इसकी लम्बाई करीब १,८०० मील है। इसमें १,००० मील तक जहाजरानी हो सकती है। पराना-परागुए ब्राजील के पर्वतों से निकलकर अटलाण्टिक महासागर में गिरती हैं। ये भी जहाजरानी के योग्य हैं। इनका मुहाना बहुत चौड़ा है।

उत्तरी अमेरिका की भाँति दक्षिणी अमेरिका में भी अनेक झीलें हैं। इस महाद्वीप के विषुवत्-क्षेत्र के घने जंगलों में अनेक प्रकार के पेड़-पौधे और जीव-जंतु पाए जाते हैं। यहाँ के उत्तरी भाग की जलवायु उष्ण है, लेकिन समुद्र के प्रभाव से गरमी की उग्रता कम हो जाती है। दक्षिणी भाग शीतप्रधान है।

दक्षिणी अमेरिका की आधी से अधिक आबादी श्वेत जातियों, रेड इंडियनों और नीग्रो लोगों के मिश्रण से बनी है। योरप से दक्षिणी अमेरिका में सब से पहले स्पेन और पुर्तगाल के लोग पहुँचे थे। इन लोगों ने रेड इंडियन स्त्रियों से विवाह किया। फलतः योरपीय तथा इंडियन लोगों के मिश्रण से मेसतीजो नामक एक अलग जाति ही बन गई। कोलम्बिया, वेनेजुला और चाइल के दो-तिहाई लोग इसी जाति के वंशज हैं। परागुए की तो पूरी आबादी ही इस जाति की है। शुद्ध रक्त के कुछ रेड इंडियन भी दक्षिणी अमेरिका में मिलते हैं। ये इक्वेडोर, पीरू और बोलीविया में रहते हैं। योरप के लोगों द्वारा दक्षिणी अमेरिका की खोज की गई, उससे पहले इस पूरे महाद्वीप में रेड इंडियन लोग ही रहते थे।

यहाँ के पहाड़ी क्षेत्रों में बसनेवाली जातियों की सभ्यता काफी विकसित थी। इनमें 'इंका' लोगों का साम्राज्य बहुत बड़ा था। दूसरा राज्य अरौकानियन लोगों का था, जिनका राज्य चाइल के उत्तर में फैला था।

ब्राजील में ५० लाख नीग्रो अथवा नीग्रो रक्त-मिश्रित लोग भी विद्यमान हैं। इनमें से अधिकांश उस देश के पूर्वी समुद्रतट और मध्य-पश्चिमी भाग में सोने की खानों के निकट रहते हैं। नीग्रो लोगों का अन्य एक समूह कोलम्बिया के पूर्वोत्तर समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में रहता है। ये लोग अफ्रीका से पकड़कर लाए गए गुलामों की सन्तानें हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी तक रियोडिलाप्लाटा के दक्षिणी भाग में आबादी नहीं के बराबर थी। जब योरप के लोग इस भूभाग में आकर बसने लगे, तो उन्होंने अधिकतर रेड इंडियन लोगों को यहाँ से भगा दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि अर्जेन्टाइना की प्रायः पूरी आबादी योरपीय लोगों की ही हो गई। केवल घुड़सवार और घोड़े पालनेवाले कुछ लोग मिश्रित मेसतीजो, गावचो तथा पम्पा जाति के हैं।

दक्षिणी अमेरिका में जातियों के इतने अधिक मिश्रण के बावजूद बहुतेरे लोग अभी ऐसे हैं, जिनके रहन-सहन में बहुत कम अन्तर आया है। गायना के जंगलों में अब भी नीग्रो जाति के 'बुश नीग्रो' नामक जंगली लोगों के गाँव हैं। ये लोग उन गुलाम नीग्रो लोगों की सन्तानें हैं, जो गोरों के चंगुल से निकल भागकर जंगलों में रहने लगे थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षिणी भाग में रहनेवाले कुछ रेड इंडियन भी अभी वैसे ही रहते हैं, जैसे प्रस्तर-युग में उनके पूर्वज रहते थे। इनमें सब से उल्लेखनीय हैं अमेजन के जंगलों में रहनेवाले करीबू और अरावाक जाति के लोग, जो अभी भी अपना पुराने ढंग का जीवन व्यतीत करते हैं। ब्रिटिश गायना में कुछ भारतीय लोग भी रहते हैं। ये अंग्रेजों द्वारा मजदूरी के लिए यहाँ ले आए गए थे। ये अपने परंपरागत हिन्दू ढंग से ही रहते हैं। दक्षिणी अमेरिका में स्पेनिश और पुर्तगाली भाषाओं से प्रभावित लैटिन भाषा-समूह की बोलियाँ प्रचलित हैं। इन्हीं भाषाओं के कारण यह क्षेत्र प्रायः 'लैटिन अमेरिका' के नाम से भी पुकारा जाता है। यहाँ कैथोलिक मत का विशेष प्रभाव है।

: कनाडा :

नई दुनिया के धुर उत्तरी भाग में, प्रशान्त महासागर से अटलाण्टिक महासागर तक ३,५०० मील लम्बे क्षेत्र में फैला हुआ कनाडा क्षेत्रफल की दृष्टि से सोवियत रूस को छोड़कर संसार के सभी देशों से बड़ा है। इसके उत्तर में हिममंडित ध्रुव-क्षेत्र फैला है और दक्षिणी सीमा पर संयुक्त राज्य का प्रसार है। इस देश का क्षेत्रफल ३८,५१,११३ वर्गमील तथा आबादी करीब १॥। करोड़ है।

प्राकृतिक स्थिति—कनाडा के उत्तरी भाग में हडसन की खाड़ी के पास का क्षेत्र 'लॉरेंशियन शील्ड' कहलाता है। इस क्षेत्र का अधिकांश भाग उन्नत पठार जैसा है, जिसके बीच-बीच में झीलें बन गई हैं। यहाँ वर्षपर्यन्त हिमपात होता रहता है। इस क्षेत्र में लोहा, सोना, निकल और कई एक रेडियो-धर्मी खनिज भी पाए जाते हैं। यहाँ की नदियाँ उत्तर की ओर बहकर हडसन की खाड़ी में गिरती हैं। कनाडा में काफी बड़े क्षेत्र में जंगल फैले हैं, जिनसे यहाँ बड़ी मात्रा में इमारती लकड़ी प्राप्त होती है। शील्ड-क्षेत्र के दक्षिण में अनेक बड़ी झीलें हैं। यहाँ के दक्षिणवर्ती क्षेत्र की भूमि बड़ी उर्वर है।

इतिहास—कनाडा का पता पहलेपहल जॉन कैबाट और कार्टियर नामक अन्वेषकों ने लगाया था। १६४२ ई० में सेंट लारेंस नदी पर एक फ्रांसीसी बस्ती बसाई गई थी। यहीं आजकल मांटरियल नगर स्थित है। जिस समय यहाँ फ्रांसीसी लोगों का आगमन हुआ था, उस समय इस भूभाग में रेड इंडियन जाति के लोगों का प्रभुत्व था। योरपीय लोगों को यहाँ अपनी बस्तियाँ कायम करते समय इन लोगों के साथ कड़ा संघर्ष करना पड़ा था। १७६० ई० में ब्रिटिश सेनाओं ने फ्रांसीसी बस्तियों को जीत लिया। फलतः यहाँ ब्रिटिश झंडा फहराने लगा। आजकल कनाडा ब्रिटिश कामनवेल्थ के अंतर्गत एक स्वतंत्र डोमीनियन है।

जाति, रहन-सहन, आदि—कनाडा में अनेक जातियों के लोगों का सम्मिश्रण हुआ है। परन्तु यहाँ की आबादी में आधे से ज्यादा लोग इंगलेंड से आए हुए हैं और लगभग एक-तिहाई फ्रांसीसी रक्त के हैं। कुछ लोग यूक्रेन, जर्मनी, इटली, हॉलैण्ड, बेल्जियम और पूर्वी योरप के देशों से भी आकर यहाँ बस गए हैं।

कनाडा प्राकृतिक सौंदर्य का स्थल है। नार्वे की भाँति यहाँ के उत्तरी भाग में भी अर्द्ध-रात्रि में सूर्य के दर्शन होते हैं! शीत का प्रकोप यहाँ वर्षपर्यन्त बना रहता है, परन्तु इस कड़ी शीत की बदौलत कनाडा के निवासियों का स्वास्थ्य बड़ा अच्छा रहता है। यहाँ के लोगों का जीवन-स्तर काफी ऊँचा है। उनका पहनावा और रहन-सहन आम तौर पर योरपीय ढंग का है।

कनाडा में अंग्रेजी और फ्रेंच दोनों को राजभाषा की प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस देश का संविधान संघात्मक है। यहाँ के निवासियों को अपनी-अपनी परम्पराओं, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों से काफी लगाव है, फिर भी सभी में परस्पर प्रगाढ़ भाईचारा है। धर्म के लिहाज से यहाँ रोमन कैथोलिक ईसाई मत के माननेवालों की संख्या अधिक हैं।

राज्य और नगर—कनाडा में १२ बड़े-बड़े प्रान्त हैं। ये हैं—ब्रिटिश कोलम्बिया, अलबर्टा, सस्केटचेवान, मेनीटोबा, ओन्टारियो, क्वीबेक, न्यूब्रंसविक, नोवास्कोशिया, एडवर्ड द्वीप, न्यूफाउण्डलैण्ड, यूकोन और पश्चिमोत्तर सीमा-क्षेत्र।

ब्रिटिश कोलम्बिया प्रशान्त समुद्रतट का क्षेत्र है। इसकी राजधानी विक्टोरिया है। यहाँ का समुद्रतट नार्वे के समुद्रतट की भाँति है। इस प्रांत का प्रमुख नगर वेंकुअर (६॥। लाख) एक उत्तम बंदरगाह है।

अलबर्टा की राजधानी एडमंटन है। इस प्रदेश में कनाडा का सब से बड़ा राष्ट्रीय प्राकृतिक उद्यान है, जो ४२,००० वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ है। एडमंटन पेट्रोलियम का प्रमुख उत्पादन-केन्द्र है। अन्य एक महत्वपूर्ण पेट्रोलियम-उत्पादन-केन्द्र कलगरी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

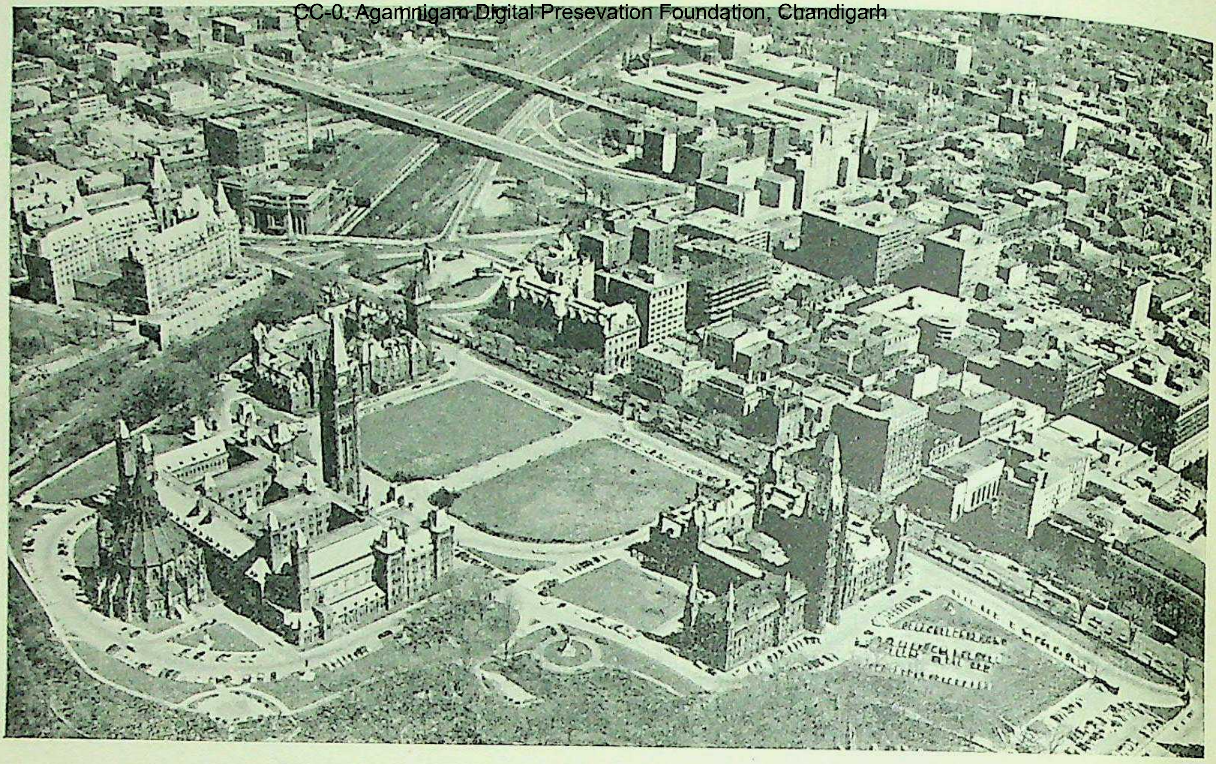

कनाडा की राजधानी ओटावा की झाँकी [फो०—भारत-स्थित 'कनाडियन हाइ कमीशन' के सौजन्य से]।

सस्केटचेवान में बड़े पैमाने पर गेहूँ की खेती होती है। इस प्रदेश की राजधानी रेगिना है। रेगिना और सस्काटून उद्योग और कृषि-उपज के प्रमुख व्यापार-केन्द्र हैं।

मैनीटोबा की राजधानी विनीपेग नगर (४ लाख) है। यह प्रान्त हडसन की खाड़ी तक फैला हुआ है। इस प्रदेश में गेहूँ की अच्छी उपज होती है। यहाँ के घने जंगल, झीलों से भरपूर पहाड़ी क्षेत्र तथा जल-प्रपात दर्शनीय हैं।

ओन्टारियो प्रान्त की राजधानी टोरन्टो (१४ लाख) है। इस प्रान्त का ओटावा नगर (३॥ लाख) पूरे कनाडा की राजधानी है। इस प्रदेश में अनगिनत झीलें हैं। नियागरा नामक संसार-प्रसिद्ध जलप्रपात इसी प्रान्त में है। यहाँ का मुख्य उद्योग मछली पकड़ना है।

क्वीबेक कनाडा का सब से बड़ा प्रान्त है। यहाँ की राजधानी इसी नाम का नगर है। इस नगर की स्थापना फ्रेंच उपनिवेशकों द्वारा की गई थी। यह चारों ओर रक्षाप्राचीर से घिरा है। कनाडा का सब से बड़ा नगर मांटरियल (१६ लाख) भी इसी प्रदेश में है। समुद्र से काफी दूर होने पर भी यह नगर सेंट लारेंस नदी तथा नहर-योजना की बदौलत एक महत्वपूर्ण बंदरगाह है। मांटरियल कागज-उद्योग और अनाज के व्यापार का महान् केन्द्र है।

लारेंस की खाड़ी के निकट के न्यूब्रंसविक (राजधानी फ्रेडेरिक्टन), नोवास्कोशिया (राजधानी हैलीफैक्स) और एडवर्ड द्वीप (राजधानी चार्लोटे टाउन) नामक तीन प्रांत इमारती लकड़ी के लिए प्रसिद्ध हैं। हैलीफैक्स अटलांटिक तट का महत्वपूर्ण बंदरगाह है। नोवास्कोशिया में मछली पकड़ने का उद्योग काफी विकसित है। एडवर्ड द्वीप का प्रमुख उद्योग रोएँदार खाल का व्यापार है।

न्यूफाउंडलैण्ड की राजधानी सेन्ट जोन्स है। यह प्रान्त कनाडा के पूर्वी भाग में है। इसका कुछ भाग उत्तरी ध्रुव-क्षेत्र में पड़ता है। इसके लैबराडोर-क्षेत्र में कड़ी सरदी पड़ती है। बहते हुए हिमखंडों का दृश्य यहाँ एक सामान्य वस्तु है। यहाँ अनेक प्रकार के खनिज पाये जाते हैं।

यूकोन और पश्चिमोत्तर सीमा-क्षेत्र बहुत-कुछ निर्जन प्रदेश हैं। ब्रिटिश कोलम्बिया को अलास्का से जोड़नेवाली प्रसिद्ध सड़क यूकोन से ही गुजरती है। इस प्रान्त में हिमपात सब से ज्यादा होता है।

अपने प्राकृतिक साधनों की बदौलत कनाडा ने उद्योग और कृषि के क्षेत्र में संसार के देशों में अपने लिए प्रतिष्ठित स्थान बना लिया है। कनाडा खनिज संपदा की दृष्टि से बड़ा संपन्न है—यहाँ संसार में सब से अधिक अस्बेस्टॉस और प्लेटीनम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

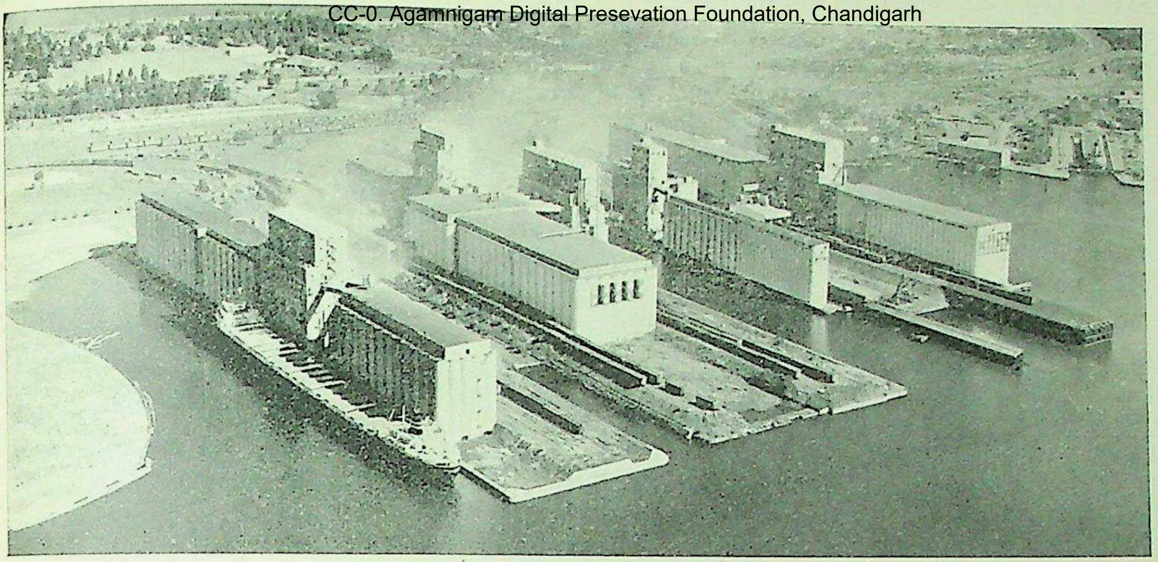

कनाडा की गणना संसार के महान् गेहूँ-उत्पादक क्षेत्रों में होती है :: प्रस्तुत चित्र में यहाँ की आधुनिक ढंग की गेहूँ की खत्तियों या 'एलिवेटरों' की झाँकी दिग्दर्शित है [फो०—भारत-स्थित 'कनाडियन हाइ कमीशन' के सौजन्य से]।

मिलता है। सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा, जस्ता, यूरेनियम, कोयला, लोहा तथा पेट्रोलियम आदि भी यहाँ कसरत से मिलते हैं। इनके अलावा यहाँ के वनों से काफी मात्रा में लकड़ी भी उपलब्ध है, जिससे इमारती आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त कागज भी बनता है। इस प्रकार उद्योग के क्षेत्र में कनाडा ने अपने लिए गौरव का स्थान बना लिया है। यहाँ के लकड़ी चीरने तथा कागज बनाने के उद्योग में कोई डेढ़ लाख आदमी संलग्न हैं। उपभोक्ताओं की सामग्री-पूर्ति के भी कई बड़े-बड़े कारखाने यहाँ हैं, जिनमें खाने-पीने के पदार्थों से लेकर छोटी-बड़ी मशीनें, मोटरगाड़ियाँ और हवाई जहाज तक निर्मित होते हैं। उद्योग की तरह कृषि के क्षेत्र में भी कनाडा बहुत समुन्नत है। यह संसार के प्रमुख गेहूँ-उत्पादक देशों में से है। मांस और दुग्ध के लिए पशु-पालन का धंधा भी यहाँ का एक उन्नत व्यवसाय है।

: संयुक्त राज्य :

कनाडा के दक्षिण में अटलांटिक और पैसिफिक महासागरों के बीच लगभग ३० लाख वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ 'संयुक्त राज्य' (युनाइटैड स्टेट्स ऑफ अमेरिका) नई दुनिया का सब से महत्वपूर्ण देश है। उसकी महिमा इसी बात से प्रकट है कि आम तौर पर जब हम 'अमेरिका' का नाम लेते हैं, तो हमारा आशय प्रायः इसी देश से होता है। उत्तरी अमेरिका के मध्यवर्ती भूभाग में अवस्थित इसके ४८ राज्यों के अतिरिक्त इसी महाद्वीप के उत्तर-पूर्वी सिरे पर स्थित अलास्का तथा प्रशान्त महासागर के बीच स्थित हवाई द्वीप-समूह भी इसी संघ-राज्य के अंग हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इसका क्षेत्रफल ३५,४७,०९८ वर्गमील के आँक तक और आबादी उन्नीस करोड़ के अंक तक पहुँच जाती है।

प्राकृतिक स्थिति—प्राकृतिक दृष्टि से संयुक्त राज्य को मोटे तौर पर तीन प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है—१. कम ऊँचे पहाड़ी सिलसिलों से आच्छादित पूर्वी अंचल, जिसकी प्रमुख श्रेणी एपेलेशियन पर्वतमाला है; २. मध्य का ढालू अथवा सपाट मैदानी या पठारी क्षेत्र; ३. पश्चिमी पर्वतीय अंचल, जिसमें रॉकी पर्वतमाला तथा सिएरा निवादा नामक गिरिश्रृंखलाओं की शाखा-प्रशाखाएँ लंबे-चौड़े क्षेत्र में एक-दूसरे के समानान्तर-सी फैली हैं। पूर्वी क्षेत्र की पहाड़ियों की ऊँचाई तो अधिक से अधिक केवल छः हजार फीट के लगभग होगी; हाँ, पश्चिमी क्षेत्र में रॉकी और सिएरा निवादा पर्वतमालाओं के कई शिखर तेरह-चौदह हजार फीट की ऊँचाई तक आकाश में उठे हुए हैं! इस क्षेत्र के पहाड़ी सिल-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सिलों के बीच-बीच में नदियों द्वारा भूमि के कटाव के फलस्वरूप कई एक गहरी घाटियाँ बन गई हैं, जिनमें सब से मशहूर कोलोरेडो नदी की घाटी है। इस घाटी का 'ग्रांड कैनयान' नामक खड्ड लगभग मील भर गहरा है और उसके कगारों की रंग-बिरंगी चट्टानों ने प्राकृतिक विखंडन के फलस्वरूप अद्भुत रूप ग्रहण कर लिया है! इनका दृश्य देखने के लिए लाखों पर्यटक प्रति वर्ष कोलोरेडो-घाटी की सैर करने जाते हैं।

देश के मध्यवर्ती मैदानी भूभाग की एक प्रमुख विशेषता उसके उत्तरी अंचल में अवस्थित उन पाँच विशाल झीलों का समुदाय है, जिन्होंने समुद्र से सैकड़ों मील दूर होते हुए भी अपने आस-पास के भूभागों को सागर का-सा लाभ प्रदान कर रक्खा है। इनके नाम हैं—लेक सुपीरियर, लेक मिचिगेन, लेक ओंटारियो, लेक ह्यू रॉन और लेक ऐरी। मध्य खंड में ही देश की सब से बड़ी नदियों——मिसीसिपी और मिसौरी——का भी जाल फैला है, जिनकी बदौलत कृषि-उपज के लिहाज से यहाँ के खेत मानो सोना उगलते हैं। कोलोरेडो और मिसीसिपी-मिसौरी के अलावा संयुक्त राज्य की अन्य नदियाँ हैं——युकोन, कोलंबिया, रिओग्रांडे, हडसन और पोटोमाक। इनमें से कुछ में दूरी तक जहाजरानी भी होती है और कुछ पर बाँध बाँधकर काफी मात्रा में बिजली पैदा की गई है तथा सिंचाई के लिए भी पानी का उपयोग किया गया है।

न्यूयार्क बंदरगाह के प्रवेशद्वार पर स्थापित स्वतंत्रतादेवी की प्रतिमा, जो संयुक्त राज्य के प्रजातांत्रिक रूप की प्रतीक है।

इतिहास—१५ वीं शताब्दी में कोलम्बस ने जब अमेरिका की खोज की थी, तब इस अज्ञात भूभाग को उसने 'नई दुनिया' के नाम से सम्बोधित किया था। यद्यपि कोलम्बस की खोज के पूर्व लोगों को इस क्षेत्र का ज्ञान नहीं था, तथापि उस समय भी यहाँ रक्तवर्ण के कई लोग रहते थे, जिन्हें कोलम्बस ने 'रेड इंडियन' कहा था। इन निवासियों का भारत से संबंध था या नहीं, यह विवादास्पद है; यद्यपि मेक्सिको प्रदेश के लोगों की मय-संस्कृति पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है।

कोलम्बस द्वारा इस प्रदेश की खोज के बाद योरपवासी यहाँ आकर धड़ाधड़ बसने लगे। स्पेनिश लोग मेक्सिको में बसे; फ्रेंच कनाडा में; डच वर्तमान न्यूयार्क-क्षेत्र में और स्वीडनवासी महाद्वीप के मध्य-पश्चिमी भाग में। उधर १८ वीं शताब्दी के मध्य तक वर्जीनिया राज्य की राजधानी—— विलियम्सबर्ग——ब्रिटिश उपनिवेशों का प्रधान केन्द्र बन गई। जार्ज तृतीय के राज्यकाल में ब्रिटिश नीति का तीव्र विरोध होने के फलस्वरूप अन्त में प्रसिद्ध अमेरिकन राज्यक्रान्ति हुई, जिसके अधीन स्वतन्त्रता की घोषणा करके सर्वप्रथम १३ राज्यों ने मिलकर एक स्वतंत्र संघ-राज्य की स्थापना की, जो 'संयुक्त राज्य' कहलाया। इस संघ में बाद में अन्य राज्य भी मिल गए और बहुत-से क्षेत्र खरीदकर मिला लिए गए। अब इस संघ के राज्यों की संख्या (अलास्का और हवाई द्वीप के मिलने से) ५० हो गई है।

जाति, रहन-सहन, आदि—संयुक्त राज्य में प्रायः सभी योरपीय देशों से आ-आकर लोग बसते रहे हैं। ये सभी लोग गौर वर्ण के होने के नाते शीघ्र ही आपस में घुलमिल गए और 'अमेरिकन' कहलाने लगे। अंग्रेजी बस्तियों की बहुलता एवं सुव्यवस्था के कारण यहाँ अन्य भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा का महत्व सर्वाधिक हो गया और वही वहाँ की राजभाषा बन गई। परन्तु यहाँ की और ग्रेट ब्रिटेन की अंग्रेजी में काफी उच्चारण-भेद है।

संयुक्त राज्य की आबादी इन दिनों १८ करोड़ से भी अधिक है। इनमें से ३० प्रतिशत लोग इंगलैण्ड, आयरलैण्ड

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

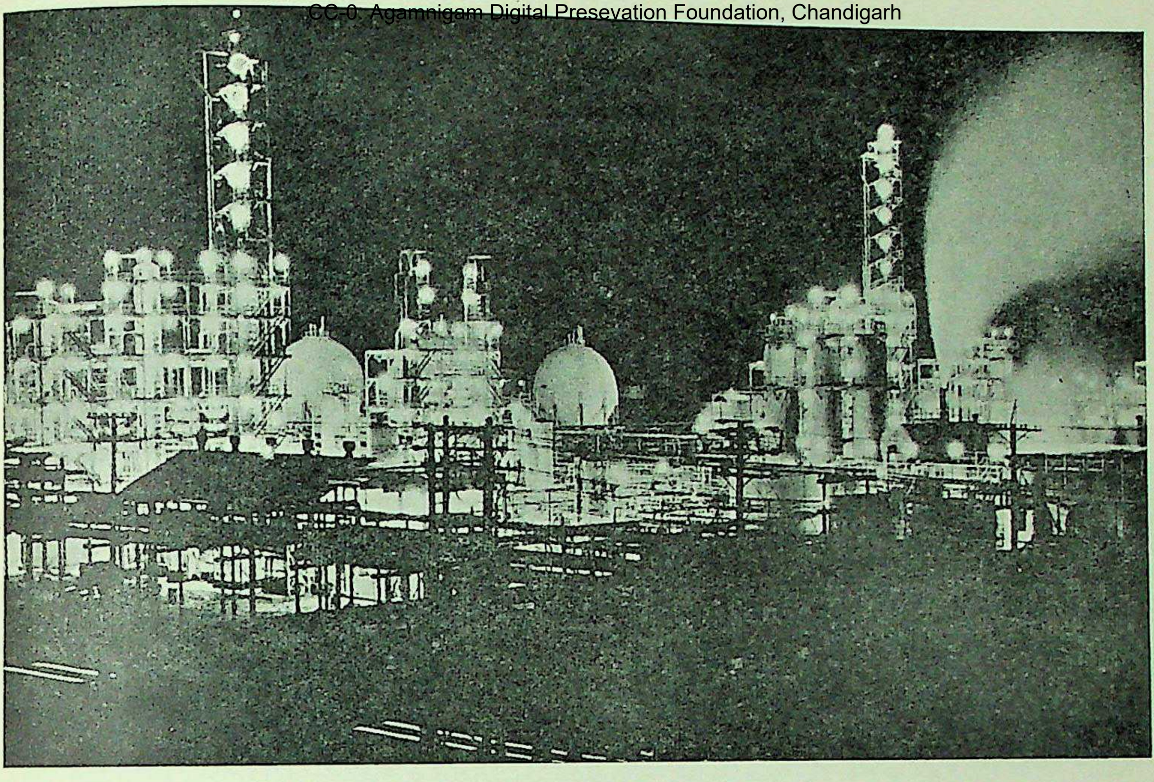

संयुक्त राज्य संसार का सब से बड़ा औद्योगिक देश है। यहाँ के इन तेल-शोधक कारखानों की झाँकी से इस देश की औद्योगिक प्रगति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

अथवा स्कॉटलैण्ड से आकर बसनेवाले लोगों की सन्तानें हैं। पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया और हंगरी से आकर बसनेवालों की सन्तानें अधिकतर मिचीगन, ओहियो, इंडियाना और इलीनोस के औद्योगिक राज्यों में केन्द्रित हैं। विसकन्सिन और मिनेसोटा राज्यों में स्वीडिश जाति के लोगों की प्रधानता है। दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में मैक्सिकन जाति के लोगों का बाहुल्य है। उत्तरी भाग के न्यू इंगलैण्ड और न्यूयार्क राज्य में तथा दक्षिण के लूसीयाना प्रदेश में अधिकतर लोग फ्रांसीसी रक्त के हैं। पूर्वोत्तर क्षेत्र के नगरों में आयरिश, इटैलियन और प्योरटोरिकी जाति के लोगों की अधिकता है। नीग्रो लोग दक्षिण के क्षेत्र में अधिक हैं। उधर पेंसिल्वानिया में जर्मन जाति के लोगों का बाहुल्य है।

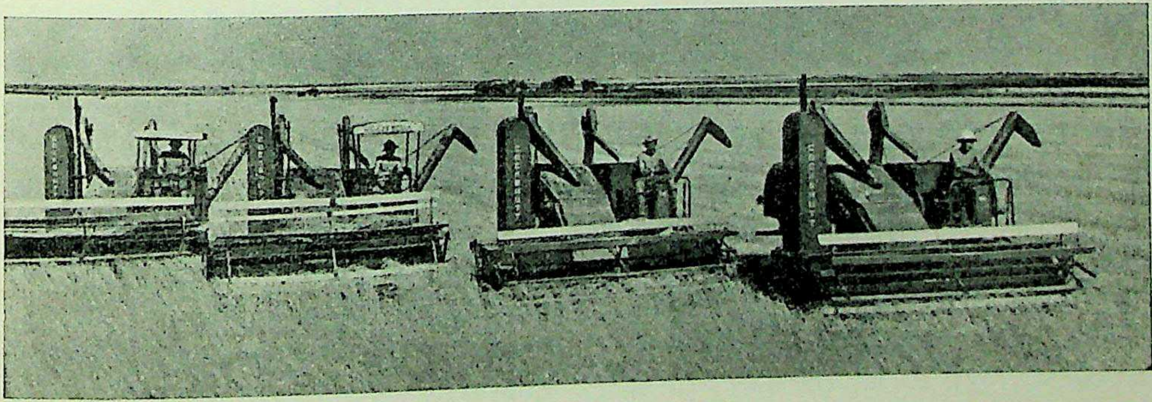

संयुक्त राष्ट्र न केवल उद्योग के क्षेत्र में ही अग्रणी है, प्रत्युत कृषि के क्षेत्र में भी वह दुनिया भर में सब से अधिक समुन्नत देश है। आज के दिन यहाँ के अधिकतर कृषि-फार्मों पर सभी काम मशीनों से होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

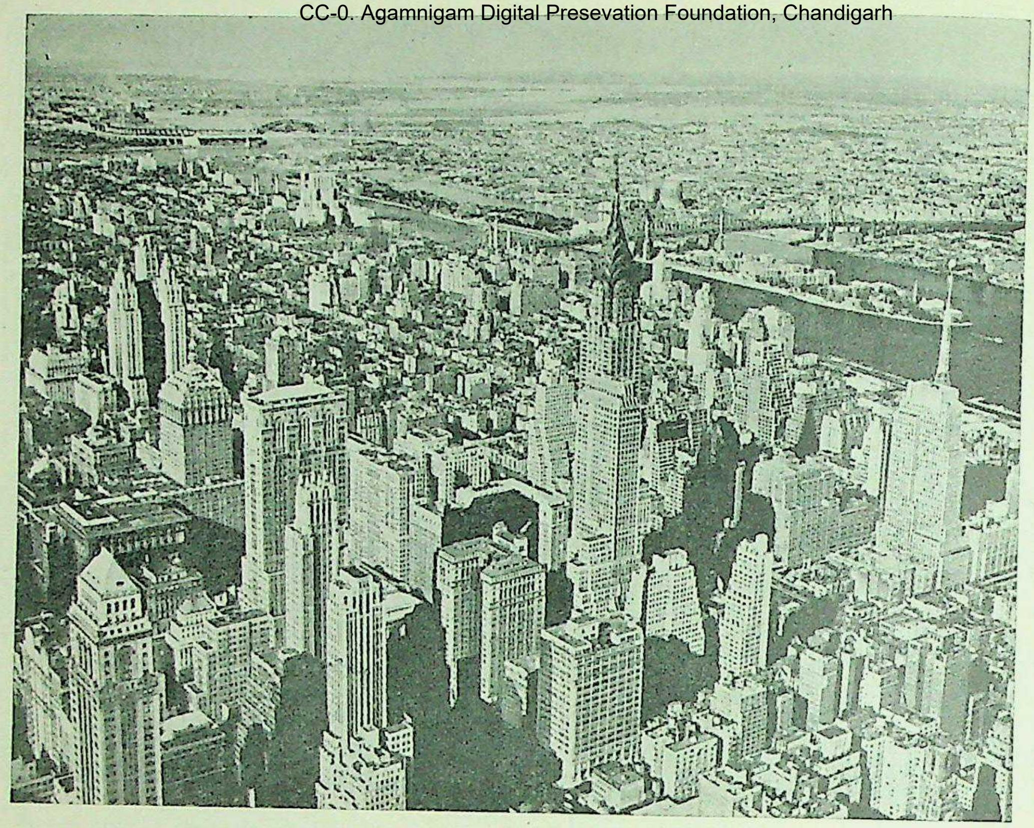

न्यूयार्क की गगनचुंबी अट्टालिकाओं की एक झलक :: यह नगर न केवल संयुक्त राज्य ही का प्रत्युत आज के दिन दुनिया का सब से बड़ा शहर है। इसकी आबादी एक करोड़ से अधिक है।

समष्टि-भावना और उनकी व्यक्तिगत विशिष्टता का सफलतापूर्वक समन्वय किया है।

इस नई दुनिया में आकर बसनेवाले अग्रदूतों ने अपनी महत्वाकांक्षाओं को मूर्त रूप देने के लिए अथक परिश्रम किया था। उनके साहस, धैर्य, कर्मपरायणता और कर्तव्यनिष्ठा के कारण ही आज संयुक्त राज्य संसार भर के स्वतंत्र प्रजातांत्रिक देशों

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त राज्य एक बहुजातीय और बहुधर्मी राष्ट्र है। इसीलिए इस राष्ट्र के संस्थापकों ने इसे एक संघ-राज्य के रूप में संगठित किया था, ताकि उसकी प्रत्येक इकाई अपनी विशिष्टताओं और आकांक्षाओं को विकसित करते हुए एक महान् राष्ट्र के रूप में समन्वित हो सके। इस संघ में शामिल होनेवाले विविध राज्यों ने संघ-प्रशासन को कुछ ही अधिकार प्रदान किए हैं; शेष अधिकार अपने पास ही सुरक्षित रखे हैं। संघ-राज्य की प्रतिनिधि संस्था 'सिनेट' में प्रत्येक राज्य के दो प्रतिनिधि आते हैं। फलतः महत्वपूर्ण निर्णयों में सिनेट ही का प्रभाव अधिक रहता है। संघीय प्रशासन राष्ट्रपति के नेतृत्व में चलता है, जिसका चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होता है। उधर 'कांग्रेस' के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव सीधे नागरिकों द्वारा होता है। राज्यों में अपनी-अपनी गणतंत्रात्मक व्यवस्थाएँ हैं। संयुक्त राज्य के प्रत्येक निवासी की नागरिकता दोहरी होती है। वह एक ओर तो समूचे संघ का नागरिक है; दूसरी ओर जिस राज्य में वह निवास करता है, वहाँ की नागरिकता भी उसे प्राप्त होती है। इस दोहरी नागरिकता के द्वारा संयुक्त राज्य ने अपने नागरिकों की

का नेता बन गया है तथा धन और ऐश्वर्य के क्षेत्र में भी आज वह सब से आगे है। इसका कारण कृषि और उद्योग के क्षेत्र की यहाँ की महान् प्रगति है। विज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र में भी यह राज्य आज संसार भर में अग्रणी है।

यद्यपि संयुक्त राज्य बाहरी दुनिया की निगाह में अधिकतर सब से उन्नत औद्योगिक राष्ट्र के रूप में ही प्रख्यात है, तथापि कृषि के क्षेत्र में भी वह कम उन्नत नहीं है। वस्तुतः यह देश उद्योग और कृषि दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से समुन्नत है। यहाँ की कुल भूमि के ६० प्रतिशत भाग में खेती होती है। यह खेती विशेषतया मशीनों की मदद से ही होती है। यहाँ आधुनिक कृषि-यंत्रों से सुसज्जित लगभग ६० लाख फार्म या 'कृषि-क्षेत्र' हैं, जिनके अधीन १२० करोड़ एकड़ भूमि है। प्रत्येक फार्म में औसत १९५ एकड़ पर खेती होती है। इस कृषि-कार्य में कोई तीन-चार करोड़ व्यक्ति संलग्न हैं।

यहाँ की कृषि-पैदावार में मक्का, गेहूँ, जौ, धान आदि अनाजों के अलावा प्रमुख स्थान कपास का है, जिसकी संसार में सब से बढ़िया किस्म यहाँ पैदा की गई है। अन्य कृषिजन्य पदार्थों में तंबाकू, आलू, गन्ना तथा भाँति-भाँति के

फलों और मेवों की उपज उल्लेखनीय है। इन वस्तुओं के अलावा यहाँ की भूमि का बहुत बड़ा भाग दुग्ध-पदार्थों एवं मांस के लिए पाले जानेवाले पशुओं की खाद्यपूर्ति के हेतु तरह-तरह का चारा उगाने में भी प्रयुक्त होता है।

परन्तु कृषि में अग्रणी होते हुए भी संयुक्त राज्य की असाधारण उन्नत स्थिति का प्रमुख श्रेय वस्तुतः उद्योग के क्षेत्र में उसकी प्रगति को है। अपनी इस महान् औद्योगिक वरिष्ठता की बदौलत ही यह राष्ट्र आज सारे संसार पर हावी हो गया है। इस देश ने अपनी यह औद्योगिक वरिष्ठता कई अनुकूल परिस्थितियों की बदौलत प्राप्त की है। एक तो यहाँ आकर बसनेवालों को हजारों वर्षों से धरती में गड़ी पड़ी हुई खनिज संपदा का अटूट भांडार हाथ लग गया, जिसमें लोहा, कोयला, पेट्रोलियम, सोना, ताँबा, चाँदी, जस्ता, सीसा, निकल, कोबाल्ट, बॉक्साइट, मैंगेनीज, युरेनियम आदि सभी कुछ था। दूसरे, एशिया और योरप की युद्ध-जनित अशांत परिस्थितियों से कई सौ वर्षों तक सर्वथा मुक्त रहने के कारण, यहाँ के लोगों को शांतिपूर्वक उक्त साधनों का विकास करने का अद्वितीय मौका मिलता रहा। तीसरे, साधनों के अनुपात में आबादी का दबाव यहाँ अपेक्षाकृत बहुत कम रहा। इन सब अनुकूलताओं की बदौलत आज यह देश संसार का सब से धनी और संपन्न राष्ट्र बन गया है। आज उद्योग का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जिसमें इस राष्ट्र का हाथ सर्वोपरि न हो। क्या इस्पात और अन्य धातुओं से बने पदार्थ; क्या छोटी-बड़ी मशीनरी; क्या मोटरकार और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हवाई जहाज; क्या [illegible] और उससे संबंधित पदार्थ; क्या कागज और प्लास्टिक; क्या रुई, ऊन, नकली रेशम और उनसे निर्मित वस्त्र, आदि सभी वस्तुओं का भारी मात्रा में उत्पादन करके यह राष्ट्र प्रति वर्ष दुनिया के बाजारों को अपने माल से पाटता जा रहा है। इससे जो अगाध संपति वह अर्जित करता है, उसे अन्य राष्ट्रों को उधार देकर वह प्रति वर्ष एक अगाध राशि सूद के रूप में भी कमा रहा है। इस प्रकार आज वह दुनिया का सब से बड़ा 'साहूकार राष्ट्र' बन गया है।

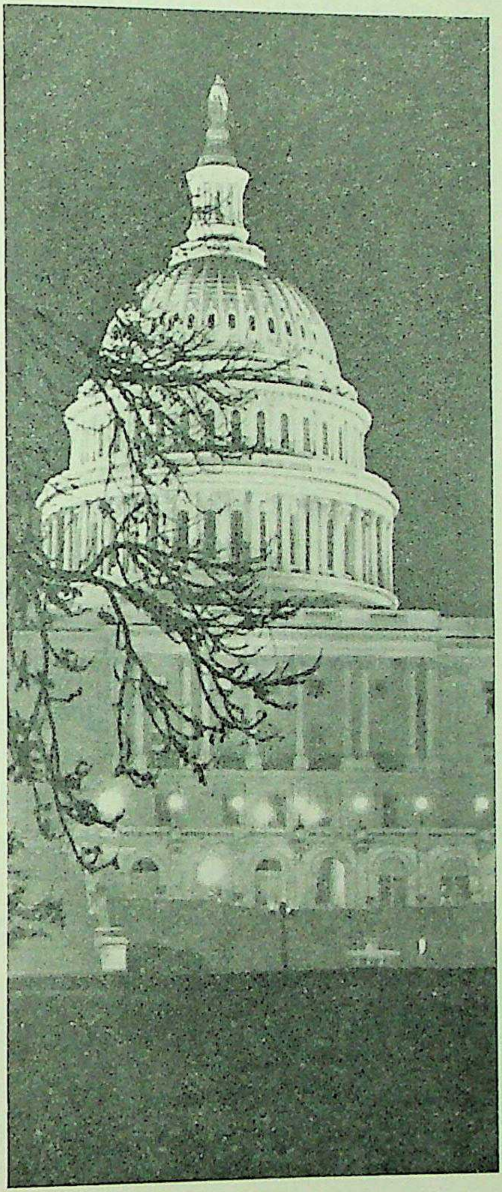

राजधानी वाशिंगटन डी० सी० में स्थित संयुक्त राज्य का प्रधान राष्ट्रीय भवन :: 'कैपीटाल'।

अमेरिकन लोगों की यह विशेषता है कि वे अपने काम में पूरी उमंग और जोश से लगे रहते हैं। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी बनकर जीना चाहता है। धर्म के क्षेत्र में यह राष्ट्र सर्वथा निरपेक्ष है। यहाँ प्रशासन और धर्म का किसी प्रकार का वास्ता नहीं है। सामान्यतया अमेरिका में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के ईसाई अधिक हैं, पर करीब ४ करोड़ कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई भी यहाँ हैं। यहाँ यहूदियों की भी संख्या बहुत है। देश भर में ढाई लाख से अधिक गिरजाघर हैं।

प्रायः यह समझा जाता है कि संयुक्त राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अमीर है। यह धारणा नितान्त गलत है। वस्तुतः अमेरिका में मध्यम श्रेणी के लोगों की संख्या अधिक है। यहाँ करीब ६ करोड़ व्यक्ति नौकरी करते हैं। परिवार की आमदनी में महिलाओं का भी काफी योग रहता है। यहाँ के लोग दूसरे लोगों की स्वतंत्रता का सम्मान करते हुए सब की मदद करने के लिए सर्वदा आतुर रहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संयुक्त राज्य में जीवनक्रम इतनी तेज रफ्तार से चलता है कि उसमें ढिलाई और आलस्य के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है। दूर से देखने में ऐसा लगता है कि इन लोगों को अपने सिवा किसी दूसरे का ध्यान ही नहीं है। यद्यपि ये लोग अपने घरों का प्रबन्ध स्वयं ही करते हैं, पर छुट्टी के समय अवकाश के क्षणों का भी पूरा उपयोग करते हैं।

मनबहलाव के लिए यात्रा करना अमेरिकन लोगों का विशेष मनोरंजन है। यहाँ १७४ राष्ट्रीय उद्यान हैं, जिनमें प्रति वर्ष १० करोड़ लोग घूमने जाते हैं! इन उद्यानों की देखभाल सरकार की ओर से की जाती है।

नगर—संयुक्त राज्य में दस लाख से अधिक आबादीवाले एक दर्जन शहर हैं। ये हैं—न्यूयार्क (न्यूजर्सी-सहित आबादी १ करोड़ २० लाख); शिकागो (५५ लाख); लॉस एन्जेलस (४४ लाख); फिलाडेल्फिया (३७ लाख); डेट्राइट (३० लाख); बोस्टन (२४ लाख); सेन फ्रांसिस्को (२२ लाख); पिट्सबर्ग (२२ लाख); लुई (१७ लाख); क्लीवलैंड (१५ लाख); वाशिंगटन डी० सी० (१५ लाख); बाल्टीमोर (१३ लाख); मीनियापोलिस (११ लाख); बफैलो (११ लाख) और हाउस्टन (१० लाख)।

इनमें न्यूयार्क न केवल संयुक्त राज्य का प्रत्युत संसार का सब से बड़ा नगर है। इसी नगर में संयुक्त राष्ट्र-संघ का केन्द्र है। अतः इसे एक प्रकार से संसार की राजधानी की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

न्यूयार्क एक विशिष्टतम नगर है। वह संयुक्त राज्य की सम्पन्नता का प्रतीक माना जा सकता है। इस नगर का नाम आरंभ में न्यू अमस्टरडम था। इसे डच नाविकों और व्यापारियों ने बसाया था। बाद को इस नगर पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इस नगर से समुद्र को जानेवाले जलमार्ग के द्वार पर एक द्वीप में स्वतंत्रता-देवी की एक भव्य प्रतिमा स्थापित है। यहाँ के मनहट्टन-क्षेत्र में सैकड़ों फीट ऊँची अनेकों गगनचुंबी इमारतों का जत्था खड़ा है। इन इमारतों में सब से ऊँची है 'एम्पायर स्टेट बिल्डिंग', जिसमें १०२ मंजिलें हैं। यह इमारत १,२५० फीट ऊँची है। न्यूयार्क में अमेरिकन लोगों के अतिरिक्त संसार के अन्य देशों के लोग भी देखने को मिलते हैं। व्यापार, उद्योग और पूँजी का यह नगर प्रधान केन्द्र है। यहाँ की 'वाल स्ट्रीट' संसार भर के कुबेरों की राजधानी कही जा सकती है। यह एक महान् बन्दरगाह भी है। न्यूयार्क के चौराहों की शान-शौकत संसार भर में अद्वितीय है। यहाँ की 'ब्राड वे' नामक सड़क पर थियेटरों और सिनेमाघरों का जमघट लगा हुआ है।

यद्यपि अमेरिका का सब से बड़ा नगर न्यूयार्क है, तथापि संयुक्त राज्य की राजधानी वाशिंगटन डी० सी० में स्थापित है। यह नगर बड़े नियोजित ढंग से बसाया गया है। अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप यहाँ पर राष्ट्रीय महत्व की अनेक इमारतें बनी हुई हैं। इनमें सब से भव्य 'केपीटॉल' नामक वह गुंबददार विशाल भवन है, जिसमें यहाँ की राष्ट्रीय संसद के दोनों सदनों की बैठक होती है। वाशिंगटन की अन्य उल्लेखनीय इमारतें हैं—'पेंटागान' नामक विशाल भवन, जिसमें देश का प्रधान सैनिक कार्यालय स्थापित है; 'ह्वाइट हाउस' नामक राष्ट्रपति-भवन; वाशिंगटन, जेफरसन और लिंकन नामक भूतपूर्व राष्ट्रपतियों के स्मारक तथा संयुक्त राज्य के राष्ट्रीय कला-संग्रहालय एवं पुस्तकालय के भवन।

अन्य अमेरिकन नगरों में शिकागो, सेन फ्रांसिस्को, लॉस एन्जेलस और डेट्राइट का भी अपना-अपना विशिष्ट महत्व है। शिकागो देश के मध्य-क्षेत्र का सब से बड़ा नगर है। वह रेल-यातायात और उद्योग का महान् केन्द्र है। सेन फ्रांसिस्को पैसिफिक तट का महत्वपूर्ण बंदरगाह है। लॉस एन्जेलस का हॉलीवुड नामक उपनगर अमेरिकन फिल्म-उद्योग की राजधानी है। उधर डेट्राइट देश के मोटर-उद्योग का प्रसिद्ध निर्माण-केन्द्र है।

: मैक्सिको :

संयुक्त राज्य के दक्षिण में ७,५८,००० वर्गमील के क्षेत्र में विस्तृत मैक्सिको एक बड़ा देश है। इस देश के पूर्व में इसी नाम की समुद्री खाड़ी, पश्चिम में प्रशान्त महासागर, दक्षिण में ग्वाटामाला नामक मध्य अमेरिकन देश और उत्तर में संयुक्त राज्य है। इसकी आबादी ३॥ करोड़ है।

प्राकृतिक स्थिति—मैक्सिको में कड़ी सर्दी से लेकर कड़ी गरमी तक की सभी प्रकार की जलवायु उपलब्ध हैं। यहाँ पर्वतीय दृश्यों का बाहुल्य है। मैक्सिको की घाटी में पोपोकेटेपेटल नामक एक ज्वालामुखी है, जिसमें से निरंतर धुंआ निकला करता है। इसकी ऊँचाई १७,८८० फीट है। इसके

CC0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साथ १७,३४२ फीट ऊँचा इक्सटासीहुआटल नामक एक और ज्वालामुखी भी यहाँ है। इन ज्वालामुखियों के कारण मैक्सिको में भूचाल अधिक आते हैं।

मैक्सिको के पूर्वीय समुद्र-तटवर्ती क्षेत्र और प्रशान्त महासागर की ओर के पश्चिमी क्षेत्र की जलवायु में बहुत अन्तर है। मैक्सिको की खाड़ी के तटवर्ती क्षेत्र में कुछ समय तक बहुत सर्दी पड़ती है और एकाएक भारी वर्षा होती है। यहाँ उत्तरी हवाओं का काफी जोर रहता है। प्रशांत महासागर के तटवर्ती क्षेत्र में लगातार उमस बनी रहती है। जलवायु की इस विविधता के कारण मैक्सिको में प्रायः सभी प्रकार के फल उपजते हैं। यहाँ के जंगलों में अनेक प्रकार के जीव-जन्तु मिलते हैं।

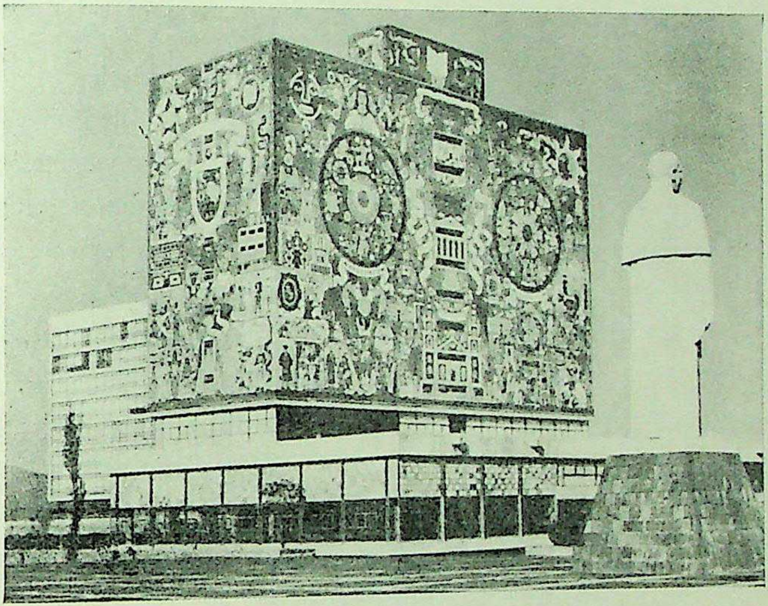

मैक्सिको नगर की एक अनूठी इमारत :: मैक्सिको-विश्वविद्यालय का भवन।

इतिहास— मैक्सिको के प्राचीन निवासी कहाँ से आए थे, इस सम्बन्ध में पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अनेक प्रस्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। परन्तु अब सामान्य रूप से यह बात मान ली गई है कि ये लोग मूलतः अलास्का के मार्ग से नई दुनिया में आए थे और धीरे-धीरे समस्त उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के भूखंड में फैल गए थे। ऐतिहासिक काल में मैक्सिको में उदित लोगों में सब से महत्वपूर्ण तोल्तेक और अज्तेक जाति के लोग थे। दक्षिणी अमेरिका के 'इंका' लोगों की भाँति तोल्तेक और अज्तेक भी सभ्यता की पगडंडी पर बहुत आगे बढ़े हुए थे। उनकी उच्च संस्कृति का पता उनकी पुरानी इमारतों और अन्य अवशेषों से चलता है। इनकी बनाई हुई पत्थर की बड़ी इमारतों के अवशेष मैक्सिको नगर के निकट तथा अन्यत्र अब तक मौजूद हैं। उनमें एक पिरामिड सब से भव्य है। यह सम्भवतः ४७० ई०पू० का है। ई० पू० ३८० से ९८७ ई० तक यहाँ मय जाति का राज्य रहा। इस राज्य के अवशेष अब तक यहाँ के दक्षिणी-पूर्वी प्रदेश के यूकातान पठार में पाए जाते हैं। मय जाति की कलाकृतियों के नमूने मध्य अमेरिका के जंगलों में सर्वत्र बिखरे हुए हैं। चिचेन-इत्जा के मय-अवशेष तो अपनी भव्यता और विशालता के लिए संसार भर में प्रसिद्ध हैं।

यहाँ की अन्य एक महत्वपूर्ण जाति रेड इंडियन वर्ग की जपोटिक जाति थी, जो उत्तर में रहती थी। इस जाति के लोगों ने सोने-चाँदी के काम में बड़ी तरक्की कर ली थी। इन लोगों के आभूषणों की डिजाइनों का चलन अमेरिका के आभूषण-विक्रेताओं के यहाँ अब तक देखने को मिलता है।

१५१९ ई० में कारटेज नामक एक स्पेनिश अवसरवादी अपने ४,००० सैनिकों के साथ वेराक्रूज के पास मैक्सिको के समुद्र-तट पर उतरा और उसने इस देश की राजधानी पर जबरन अधिकार कर लिया। तदनंतर स्पेन ने मेनडोजा नामक अपना एक वायसराय मैक्सिको पर राज्य करने के लिए भेजा। फलतः इस देश में स्पेन का शासन स्थापित हो गया।

१८१० ई० में इस स्पेनिश शासन के विरुद्ध पहला विद्रोह हुआ। परन्तु इस विद्रोह के नेताओं को गोली से उड़ा दिया गया। तदनंतर और भी कई विद्रोह हुए, जिसके फलस्वरूप अंत में १८२१ ई० में मैक्सिको में स्पेनिश राज्य समाप्त हो गया। इसके बाद पचास वर्षों तक इस देश में काफी गड़बड़ी का वातावरण छाया रहा। १९१० ई० में पुनः एक जनक्रान्ति हुई, जिसके फलस्वरूप १९१७ ई० में राष्ट्रीय संविधान का निर्माण करके यहाँ एक संघीय गणतंत्र स्थापित हो गया।

जाति, रहन-सहन, आदि—मैक्सिको के अधिकतर लोग स्पेनिश, फ्रांसीसी, उत्तरी अमेरिकन और रेड इंडियन लोगों की मिश्रित संतानें हैं, कारण इन लोगों में परस्पर काफी अन्तर्विवाह और मेल-मिलाप होता रहा है। यहाँ की प्रमुख भाषा स्पेनिश है और अधिकतर लोग रोमन कैथोलिक हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मैक्सिको की आबादी के केवल आधे से कम लोग ही खेती पर आश्रित हैं; शेष आबादी उद्योगों में लगी हुई है। यहाँ कपास, जूट, मक्का, दालें, तम्बाकू, कॉफी, रबर, कोकोआ, खरबूजे, तरबूज, अनन्नास और आड़ू आदि की अच्छी फसलें होती हैं। खेती में अब आधुनिक तरीकों को भी अपनाया जा रहा है। मैक्सिकोवासी अपने देश की प्राचीन परंपराओं के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए भी शीघ्रता से आधुनिक पद्धतियों को अपनाते जा रहे हैं। ये अपने को प्राचीन मानते हैं, परन्तु आधुनिकता से होड़ बदते हुए भी ये नहीं हिचकते। यहाँ रेलवे, मोटर-गाड़ियों और सूती वस्त्र-उद्योग की मशीनों का भी निर्माण होने लगा है। बिजली का भी सभी प्रकार का सामान तैयार होने लगा है। इस प्रकार तेजी से देश का औद्योगीकरण हो रहा है।

मैक्सिको की अर्थव्यवस्था में पालतू पशु और इमारती लकड़ी का विशेष महत्व है। यहाँ पाये जानेवाले खनिजों में सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, जस्ता आदि मुख्य हैं। पेट्रोलियम भी भारी मात्रा में यहाँ मिलता है। यहाँ के निर्यात-व्यापार का ५० प्रतिशत भाग खनिज पदार्थों के निर्यात से ही पूरा होता है। चाँदी का तो यहाँ से सभी देशों से अधिक निर्यात होता है।

यहाँ के निवासियों में रंगों और फूलों के प्रति सहज अनुराग पाया जाता है। उनका यह अनुराग यहाँ की पोशाकों में भी झलकता है। यहाँ की ग्रामीण बस्तियों में पुरानी पद्धति के नृत्यों का काफी प्रचलन है। इन नृत्य-उत्सवों के समय इनकी रंग-बिरंगी पोशाकें देखते ही बनती हैं।

नगर—मैक्सिको की राजधानी मैक्सिको (४० लाख) एक आधुनिक नगर है, तथापि इसमें प्राचीनता और आधुनिकता का अद्भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। इस नगर के इर्द-गिर्द प्राचीन मय और अज्तेक संस्कृति के भव्य अवशेष मौजूद हैं। नगर का मुख्य चौक 'प्लाजा' कहलाता है। इस चौक के दक्षिण की ओर यहाँ का राष्ट्रीय भवन स्थित है। यह भवन उसी स्थान पर बना हुआ है, जहाँ कभी यहाँ के अंतिम अज्तेक सम्राट् का राजप्रासाद खड़ा था। उस प्रासाद को स्पेनिश सैनिकों ने १६८९ ई० में नष्ट कर दिया था। स्पेनिश युग के यहाँ के एक गिरजाघर की इमारत भी बड़ी विशाल और सुन्दर है। उसमें अज्तेक और उससे पहले के युग की भी अनेक वस्तुएँ देखने को मिलती हैं। अन्य दर्शनीय स्थानों में यहाँ का संग्रहालय विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मैक्सिको नगर के निकट तेवतेहुकान नामक स्थान पर ऊँचे पिरामिडों के रूप में सूर्य और चन्द्रमा के दो विचित्र देव-स्थान विद्यमान हैं। इनमें सूर्य का पिरामिड सम्भवतः २०० ईस्वी का बना है। इन पिरामिडों में नक्काशीदार पत्थरों और मूर्तियों का कसरत से प्रयोग किया गया है।

प्रशान्त महासागर के समुद्रतट पर स्थित अकापुलको नामक स्थान मैक्सिको का प्रमुख स्वास्थ्य-केन्द्र है। इसी प्रकार अटलाण्टिक तट पर स्थित वेराक्रुज यहाँ का प्रसिद्ध बन्दरगाह है। यहाँ और भी कई नगर हैं। इनमें से प्रमुख हैं—गुआदालाजारा (६ लाख), माण्ढेरी (५॥ लाख), प्युबला (३ लाख) और मैरिडा (२ लाख)।

: मध्य अमेरिका :

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के बीच के भूभाग को प्रायः 'मध्य अमेरिका' के नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि मैक्सिको भी इसी क्षेत्र में अवस्थित है, परन्तु उसे उत्तरी अमेरिका का ही हिस्सा माना जाता है। मध्य अमेरिका के अंतर्गत प्रायः मैक्सिको के दक्षिण में स्थित ग्वाटामाला, हांडुरास, एल सलवाडोर, निकारागुआ, कोस्टारीका और पनामा देश का ही उल्लेख किया जाता है।

मध्य अमेरिका का अधिकांश क्षेत्र पहाड़ी है। यहाँ समुद्र-तट के निचले भागों में घने जंगल हैं। इसी कारण यहाँ स्थल-मार्ग से एक से दूसरे देश को जाने में बड़ी कठिनाई पड़ती है।

मध्य अमेरिका के अधिकांश निवासी प्राचीन रेड इंडियन लोगों की सन्तानें हैं। यहाँ के ६० प्रतिशत लोग शुद्ध इंडियन रक्त के हैं। ये लोग मय संस्कृति का विकास करनेवाले लोगों के वंशज हैं और अपनी प्राचीन परम्पराओं का अभी तक पालन करते हैं। ये अनेक छोटे-छोटे गाँवों में बसे हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक गाँव के अपने-अपने रीति-रिवाज हैं। इनका पहनावा भी विशेष प्रकार का होता है—यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों को प्रायः उनकी अलग पोशाकों से ही पहचान लिया जाता है।

हाट-बाजार के दिन ये लोग अपने सिर पर मिट्टी के बर्तन, कपड़े, साग-सब्जी और मुर्गियाँ आदि लादे हुए मीलों चलकर बाजार जाते और वहाँ से अपनी जरूरत की अन्य चीजें खरीदते हैं। इनके लिए बाजार का दिन क्रय-विक्रय के अलावा सामाजिक मिलन का दिन भी होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिक वर्षा के साथ-साथ इन देशों में गरमी भी काफी पड़ती है। इसी से यहां केला तथा कॉफी बहुत ज्यादा पैदा होते हैं।

ग्वाटामाला—मैक्सिको के दक्षिण में स्थित ग्वाटामाला मध्य अमेरिका का एक रमणीक देश है। इसका क्षेत्रफल ४२,०४२ वर्गमील है। यहाँ पहाड़, जंगल, मैदान, पठार सभी की झाँकी देखने को मिलती है। यहाँ की अतितलान नामक झील अत्यन्त सुन्दर है। देश की पुरानी राजधानी एंटीगुआ में स्पेनिश शासनकाल की अनेक दर्शनीय इमारतों के अवशेष हैं। मय-संस्कृति के भी अनेक खंडहर यहाँ मिलते हैं।

यहाँ की वर्तमान राजधानी का नाम ग्वाटामाला सिटी है। इसमें पुराने स्पेनिश घरों तथा आधुनिक इमारतों की छवि साथ-साथ देखने को मिलती हैं। ग्वाटामाला की ३५ लाख की आबादी में अधिकांश लोग रेड इंडियन अथवा मेस्तिजो जाति के हैं। यहाँ रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई धर्म का सब से अधिक प्रभाव है। इस देश की राष्ट्रभाषा स्पेनिश है। यहाँ के लोग ज्यादातर खेती-बारी और फलों की फसल तैयार करने में लगे हैं।

हांडुरास—ग्वाटामाला, एल सलवाडोर और निकारागुआ के बीच स्थित हांडुरास देश का क्षेत्रफल ४३,२२७ वर्गमील है। यहाँ का अधिकांश क्षेत्र पहाड़ी है। यहाँ विषुवत्प्रदेशीय जंगल अधिक हैं।

इस देश की राजधानी तेगुचीगल्पा है। इसमें १६वीं शताब्दी के स्पेनिश शासनकाल के अनेक गिरजाघर विद्यमान है। कोपन नामक स्थान पर मय-संस्कृति के अवशेष भी मौजूद हैं।

हांडुरास की राष्ट्रीय आमदनी का मुख्य स्रोत यहां के जंगलों में पाई जानेवाली इमारती लकड़ी है। यहाँ की मुख्य फसलें केला, कॉफी और कपास हैं। यहाँ के अधिकतर लोग मेस्तिजो जाति के हैं। इनके अलावा अमेरिकन, चीनी, जर्मन और स्पेनिश जाति के कुछ लोग भी यहाँ रहते हैं।

यहाँ के अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं। यहाँ की आबादी १७ लाख और राष्ट्रभाषा स्पेनिश है।

एल सलवाडोर—प्रशान्त महासागर के तट पर स्थित एल सलवाडोर अपने सुंदर समुद्रतट, हरे-भरे पहाड़ों, गहरी झीलों और जाग्रत ज्वालामुखियों के लिए प्रख्यात है। यहाँ का क्षेत्रफल ८,०५८ वर्गमील और आबादी २३ लाख से अधिक है। यहाँ विशेषतया मेस्तिजो जाति के रेड इंडियन लोग ही बसते हैं। यहाँ की भी बोली स्पेनिश है और कैथोलिक सम्प्रदाय का ईसाई मत ही यहाँ का प्रमुख धर्म है।

यहाँ की राजधानी सान सलवाडोर है। यहां के इंडियन लोगों की रंग-बिरंगी पोशाकें देखते ही बनती हैं।

निकारागुआ—हांडुरास और कोस्टारीका के बीच में स्थित निकारागुआ का क्षेत्रफल ५७,१४३ वर्गमील और आबादी १३ लाख है। इस देश में ज्वालामुखी बहुत ज्यादा हैं। यहाँ के भी अधिकांश लोग मेस्तिजो जाति के रेड इंडियन हैं और बोली स्पेनिश तथा धर्म कैथोलिक ईसाई मत है।

निकारागुआ की राजधानी मानागुआ है। यह नगर १९३१ ई० के भूचाल में एकदम नष्ट हो गया था। उसके बाद इसका पुनर्निर्माण किया गया है। इस नगर के समीप इसी नाम की एक बहुत बड़ी झील है। इससे भी बड़ी यहाँ की अन्य एक झील का नामकरण देश के ही नाम पर किया गया है।

यहाँ की मुख्य उपज कॉफी है। यहाँ चाँदी और सोने की खानें भी हैं तथा अटलाण्टिक तट के जंगलों में उम्दा इमारती लकड़ी पाई जाती है।

कोस्टारीका—इस देश का क्षेत्रफल १९,६९० वर्गमील और आबादी १० लाख है। निकारागुआ और पनामा के बीच की पतली पट्टी के रूप में फैला हुआ यह देश अधिकांशतः पहाड़ी है। यहाँ का इराज़ू नामक ज्वालामुखी ११ हजार फीट ऊँचा है। इस देश की राजधानी सान जोसे है।

कोस्टारीका में केले और कॉफी के बड़े-बड़े बाग हैं। यही इस राष्ट्र की आमदनी के मुख्य स्रोत हैं। यह देश पहले स्पेनिश साम्राज्य का अंग था और उसके दास-व्यापार का मुख्य केन्द्र माना जाता था। इसी से यहाँ की आबादी में नीग्रो जाति के लोग अधिक है। कुछ अंग्रेज, इटैलियन और जर्मन जाति के लोग भी यहाँ बसे हुए हैं।

यहाँ की भाषा स्पेनिश और धर्म कैथोलिक ईसाई मत है। यहाँ के सामाजिक जीवन में पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है।

पनामा—मध्य अमेरिका का जो भूभाग दक्षिणी अमेरिका से उत्तरी अमेरिका को जोड़ता है, वही पनामा कहलाता है। इसका क्षेत्रफल २८,५७६ वर्गमील और आबादी १० लाख है। यहाँ की आबादी में स्पेनिश और इण्डियन जाति के लोगों की संख्या ज्यादा है। इस देश में छोटे-छोटे नगरों की अधिकता है। यहाँ की राजधानी पनामा सिटी है।

इस देश के बीच की १० मील चौड़ी पट्टी पर संयुक्त राज्य का अधिकार है। इसी पट्टी में वह संसारप्रसिद्ध नहर बनाई गई है, जो प्रशान्त महासागर और अटलांटिक महासागर को जोड़ती है। इंजीनियरिंग के इस अद्भुत चमत्कार का परिचय इस ग्रंथ के पिछले एक खंड में आप पा ही चुके हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्यूबा, हैती, आदि पश्चिमी द्वीप-समूह के देश—मध्य अमेरिका के देशों के इस विवरण के साथ, कैरीबियन सागर के उत्तर में मेक्सिको के यूकातान प्रायद्वीप से लेकर ठेठ वेनेजुला के उत्तर-पूर्वी तट तक एक धनुषाकार द्वीप-शृंखला के रूप में फैले हुए उन छोटे-छोटे देशों का भी उल्लेख अप्रासंगिक न होगा, जिन्हें कि 'वेस्ट इंडीज' या पश्चिमी द्वीप-समूह की संज्ञा प्रदान की जाती है। इन द्वीपों की खोज पंद्रहवीं शताब्दी में कोलम्बस ने की थी और मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका के अन्य अनेक देशों की भाँति यहाँ पर भी लंबे अरसे तक स्पेनिश झंडा फहराता रहा था। इनमें क्यूबा, हैती, डोमीनिकन गणतंत्र और पोर्टोरिको क्षेत्रफल तथा जनसंख्या की दृष्टि से सब से बड़े साथ ही सब से महत्वपूर्ण हैं।

क्यूबा का क्षेत्रफल ४४,२०६ वर्गमील और आबादी ६१ लाख है। यह एक स्वतंत्र गणराज्य है, जो इन दिनों कम्यूनिस्ट प्रभाव में है। यहाँ गन्ने की उपज बहुत होती है। इसी से यह देश दुनिया का एक प्रमुख शकर-उत्पादक देश बन गया है। यहाँ की कृषि-पैदावार में तंबाकू, कॉफी तथा केला, अनन्नास आदि फलों को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यहाँ की राजधानी हवाना (८ लाख) वेस्ट इंडीज का सब से बड़ा नगर है। यह एक उत्तम बंदरगाह भी है।

हैती द्वीप (क्षेत्रफल १०,७०० वर्गमील और आबादी ३२ लाख), डोमीनिकन रिपब्लिक (क्षेत्रफल १८,७०० वर्गमील; आबादी २७ लाख) और पोर्टोरिको (क्षेत्रफल ३,४२३ वर्गमील; आबादी २३ लाख) भी महत्वपूर्ण गन्ना-उत्पादक स्वतंत्र देश हैं! पोर्टोरिको की राजधानी सान जुआन (४ लाख), डोमीनिकन रिपब्लिक की राजधानी त्रुजिल्लो (आबादी २॥। लाख) और हैती की राजधानी 'पोर्ट-आ-प्रिंस' (२ लाख) काफी बड़े नगर हैं।

: दक्षिणी अमेरिका :

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दक्षिणी अमेरिका के अंतर्गत १३ देश हैं, जिनके कि नाम ये हैं—ब्राजील, अर्जेन्टाइना, चाइल, बोलीविया, कोलंबिया, इक्वेडोर, पीरू, परागुए, उरुगुए, वेनेजुला, ब्रिटिश गायना, फ्रेंच गायना और डच गायना या सुरीनाम। आइए, अब इनमें से प्रत्येक का परिचय प्राप्त करें।

ब्राजील—यह दक्षिणी अमेरिका का सब से बड़ा देश है, जिसका क्षेत्रफल ३२,८७,७०० वर्गमील और आबादी छः करोड़ साठ लाख है। विषुवत् रेखा और वृश्चिक् रेखा के बीच में स्थित इस देश में अति उष्ण, काफी ठंडे, अत्यधिक वर्षावाले और वर्षाहीन आदि सभी प्रकार की जलवायु के क्षेत्र उपलब्ध हैं। यहाँ के विषुवत्-क्षेत्रों में घने जंगल हैं। यहाँ की प्रमुख नदी अमेजन है। अन्य बड़ी नदियाँ परागुए, उरुगुए, पराना और साओ फ्रांसिस्को हैं। पराना नदी का इगुआसू जल-प्रपात उत्तरी अमेरिका के संसार-प्रसिद्ध नियाग्रा जल-प्रपात से भी बड़ा है।

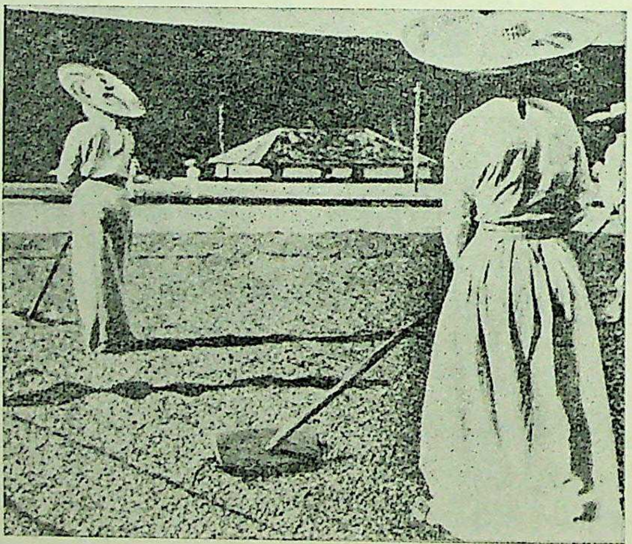

दक्षिणी अमेरिका की कृषि-उपज में कॉफी और कोकोआ का बड़ा महत्व है। प्रस्तुत चित्र में कॉफी के एक खलिहान की झाँकी दिग्दर्शित है।

अधिकांश ब्राजील-वासी पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, स्पेनिश, इटैलियन और नीग्रो लोगों की मिश्रित सन्तानें हैं। अमाजोनिया के सुदूर प्रान्त में काले बालवाले रेड इंडियन लोग रहते हैं, जो पुर्तगालियों से बहुत पहले यहाँ आए थे। उधर दक्षिणी प्रान्त में मिश्रित रक्त के 'गॉवचो' लोग रहते हैं, जो अच्छे पशुपालक हैं।

ब्राजील की ग्रामीण आबादी तेजी से शहरों की ओर स्थानान्तरित हो रही है। इसी से यहाँ नगरों की संख्या बढ़ती जा रही है। यहाँ एक लाख से अधिक जनसंख्यावाले ३९ नगर हैं। इनमें

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सब से बड़े हैं--साओ पॉलो और रियोडेजेनेरियो, जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या ३० लाख से अधिक है। रियोडेजेनेरियो एक उत्तम प्राकृतिक बंदरगाह है। अभी तक वही देश की राजधानी था। अब रियोडेजेनेरियो से करीब ६०० मील दूर एक पठार पर स्थित ब्रेजिलिया नामक स्थान में नई राजधानी स्थापित की गई है। इस नगर की श्वेत इमारतें धूप में खूब चमकती हैं और अत्यंत आकर्षक मालूम होती हैं।

ब्राजील एक कृषि-प्रधान देश है। इसकी आधी से अधिक आबादी कृषि पर ही आश्रित है। यहाँ कॉफी, कोकोआ, रबड़, कपास, गन्ना, तम्बाकू आदि की बड़े पैमाने पर खेती होती है। इमारती लकड़ी का भी व्यवसाय यहाँ काफी बढ़ा-चढ़ा है। पशुपालन का काम भी बड़े पैमाने पर होता है। खनिज उद्योग और इस्पात-उद्योग में काफी संख्या में यहाँ के लोग लगे हुए हैं। पेट्रोलियम-उद्योग भी विकसित हो रहा है।

१८८९ ई० से ब्राजील एक गणतन्त्र है। यहाँ के ९५ प्रतिशत लोग रोमन कैथोलिक हैं। ब्राजील की भाषा पुर्तगाली है। नगरों में कुछ लोग अंग्रेजी का भी प्रयोग करते हैं। यहाँ के रहन-सहन का ढंग योरपीय है, परन्तु चरवाहे अभी भी पुरानी पोशाक पहनते हैं। यहाँ पर लोक-संगीत और लोक-नृत्यों का विशेष प्रचलन है। यहाँ का 'सम्बा' नृत्य तो संसार भर में प्रसिद्ध हो गया है।

अर्जेन्टाइना—अर्जेन्टाइना दक्षिणी अमेरिका का दूसरा सब से बड़ा देश है। इसका क्षेत्रफल १०,८४,१०० वर्गमील और आबादी दो करोड़ है। दक्षिणी अमेरिका के धुर दक्षिणी सिरे तक फैले इस देश का क्षेत्रफल अधिक होने पर भी यहाँ की आबादी अधिक नहीं है। कहते हैं, स्पेनवासी यहाँ चाँदी की खोज में पहुँचे थे, इसी से इसका नाम 'अर्जेन्टाइना' (चाँदी का देश) पड़ गया। यह देश ३०० वर्षों तक स्पेन के अधीन रहा। यही कारण है कि यहाँ के गिरजाघरों और पुरानी इमारतों में स्पेनिश प्रभाव विशेष रूप से झलकता है। अर्जेन्टाइना की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसके सभी प्रान्त अलग-अलग देश जैसे मालूम होते हैं। यहाँ के चाको प्रान्त में घने जंगल हैं। टुकूमेन में गन्ने और सन्तरों की अच्छी फसल होती है। सैन्टियागो डेल एस्टेरो में स्वच्छ श्वेत नमक मिलता है। मेन्डोजा में अंगूर की फसलें अच्छी होती हैं, फलतः वहाँ शराब बनाने के कारखाने हैं। न्यूक्वेन और रियोनिग्रो के निकट के झीलवाले प्रदेश में बड़े उद्यान और अच्छे अवकाश-केन्द्र हैं; उधर कोरडोबा के पहाड़ी क्षेत्र में भी कई सुन्दर प्राकृतिक स्थल हैं। इस देश के मध्य भाग के मैदान को पम्पा का मैदान कहते हैं। इसमें घास बहुत होती है। मध्य चरागाहों में पशुपालन ही यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है। यहाँ के पालतू पशुओं की संख्या करीब ४॥ करोड़ है।

अर्जेन्टाइना से मांस को टीन के डिब्बों में बन्द करके अथवा बर्फ में रखकर भारी मात्रा में निर्यात किया जाता है। ऊन, चमड़ा, वनस्पति तेल और चावल का भी यहाँ से काफी निर्यात होता है। यहाँ पेट्रोलियम भी मिलता है।

इस देश की आबादी में स्पेन अथवा इटली से आए हुए लोगों की संख्या अधिक है। पाटागोनिया में कुछ लोग स्कॉटलैण्ड और वेल्स से आकर बसे हैं। नीग्रो और रेड इंडियन लोग यहाँ अल्प संख्या में हैं। हाँ, रेड इंडियन और स्पेनिश लोगों के मिश्रित रक्त से उत्पन्न "गाँवचो" जाति के लोगों की काफी संख्या यहाँ है। ये लोग पशुपालन का काम करते हैं और उम्दा घुड़सवार होते हैं।

यहाँ की भाषा स्पेनिश है, लेकिन बहुत से लोग अंग्रेजी का भी प्रयोग करते हैं। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था और रहन-सहन पर योरपीय प्रभाव है।

अर्जेन्टाइना की राजधानी ब्योनेस एयर्स (आबादी ३७ लाख) एक बहुत बड़ा नगर है। अपने उपनगरों सहित इसकी आबादी ८० लाख तक कूती जाती है! यह एक बड़ा बंदरगाह भी है।

बोलीविया—यह दक्षिणी अमेरिका का सब से ऊँचा देश है। एंडीज पर्वत की गोदी में बसा हुआ यह देश समुद्रतट से सर्वथा वंचित है। इस देश का क्षेत्रफल ४,२१,४०० वर्गमील और आबादी ३५,७०,८०० है। यहाँ सोना, चाँदी, टिन, पेट्रोलियम, यूरेनियम आदि बहुमूल्य खनिज उपलब्ध हैं।

बोलीविया-निवासियों में छोटे किसानों की संख्या अधिक है। ये लोग लामा और अलपाका आदि पशुओं को पालते हैं। यहाँ इंका-सभ्यता के कई महत्वपूर्ण अवशेष विद्यमान हैं। १५३८-१८१० ई० तक इस देश पर स्पेनिश प्रभाव रहा। तदनंतर यहाँ गणतन्त्र की स्थापना हो गई।

अधिकांश बोलीविया-निवासी इंडियन जाति के हैं। कुछ लोग स्पेनिश-इंडियन मिश्रित 'मेसतीजो' जाति के भी हैं। यद्यपि यह रेड इंडियन जाति के लोगों का देश है, फिर भी यहाँ लैटिन प्रभाव अधिक है। नगरों में प्रायः स्पेनिश ढंग की हल्के लाल रंग की छतें और छज्जे पाए जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में यहाँ के निवासी अब भी हल-बैलों से खेती करते हैं। इनके मकान सादे ढंग के होते हैं। यहाँ के अधिकांश लोग कैथोलिक हैं। इनकी वेशभूषा तड़कीली-भड़कीली और रंग-बिरंगी होती है। इनके पतलून और पायजामा प्रायः अलपाका की ऊन के होते हैं। महिलाएँ रंगीन शाल, चौड़ी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाढ़ के हैट और कई पर्तोंवाले पेटीकोट तथा ऊनी 'स्कर्ट' पहनती हैं। इस देश में शीत अधिक रहती है, अतः प्रायः भारी लबादा अथवा ओवरकोट भी पहना जाता है। यहाँ की राजधानी लापाज (आबादी ३॥ लाख) बहुत ऊँचाई पर स्थित एक दर्शनीय नगर है। इस देश का अन्य एक दर्शनीय स्थल संसार भर में सब से अधिक ऊँचाई पर स्थित तीती-काका नामक झील है।

चाइल—दक्षिणी अमेरिका के प्रशांत सागरीय समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में एक लम्बी पट्टी के रूप में स्थित चाइल देश का क्षेत्रफल २,८६,४०० वर्गमील और आबादी लगभग ७५ लाख हजार है। इस देश की लम्बाई २,६५० मील है। इसके एक ओर एंडीज पर्वत और दूसरी ओर प्रशान्त महासागर है। उत्तर में अताकामा नामक रेगिस्तान फैला है और बीच में पतली उर्वर घाटियाँ हैं। यहाँ के जंगलों में झीलों की प्रचुरता है और अनेक प्रसुप्त ज्वालामुखी भी भरे पड़े हैं, जिनके ढालों पर पशुपालन होता है। यहाँ की राजधानी सैंटियागो (आबादी १६ लाख) एक आधुनिक नगर है। आरम्भ में यह देश भी स्पेनिश उपनिवेश था, लेकिन थोड़े दिनों के बाद यहाँ एक गणतंत्र स्थापित हो गया।

चाइल में संसार की सब से बड़ी ताँबे की खान हैं। पेट्रोलियम, कोयला और नाइट्रेट भी यहाँ भारी मात्रा में मिलता है। इन खनिजों की उपलब्धि के बावजूद चाइल मुख्य रूप से एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की आधी आबादी कृषि से ही अपना जीविकोपार्जन करती है।

चाइल में अन्य दक्षिणी अमेरिकन देशों की अपेक्षा जातियों का मिश्रण कम हुआ है। अधिकांश चाइलवासी स्पेनिश रक्त के हैं, यद्यपि ब्रिटेन, इटली, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, आदि देशों से भी कुछ लोग यहाँ आकर बस गए हैं। इस देश के इंडियन अरौकानियन जाति के हैं। चाइल के उत्तरी झीलों के क्षेत्र में करीब डेढ़ लाख इंडियन लोग आज भी अपने झोपड़ोंवाले छोटे-छोटे गाँवों में (जिन्हें वे 'रूका' कहते हैं) रहते हैं। ये लोग अधिकतर पशुपालन का काम करते हैं। इनकी पोशाक दर्शनीय होती है। इनके अतिरिक्त हुआसो नामक अन्य एक पशुपालक जाति भी यहां पायी जाती है। यह भी अपने रंग-बिरंगे पहनावे के लिए प्रसिद्ध है।

चाइल के अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं। यहाँ की भाषा स्पेनिश वर्ग की है।

इस देश के दक्षिणी सिरे के पास जलवायु शीतप्रधान है। यहाँ आबादी बहुत कम है। यहाँ के जंगलों में भारी वर्षा होती है। यह भाग अन्टार्कटिक महाद्वीप के अत्यन्त निकट है। इस देश का समुद्र-तट बहुत लम्बा होने के कारण मछली पकड़ने का काम यहाँ कसरत से होता है।

कोलम्बिया—दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमोत्तर किनारे पर स्थित कोलम्बिया के उत्तर-पूर्व में वेनेजुला, पूर्व में ब्राजील तथा दक्षिण में पीरू और इक्वेडोर देश स्थित हैं। इसके पश्चिम में प्रशान्त महासागर और उत्तर में कैरीबियन सागर का प्रसार है। इसका क्षेत्रफल ४,३९,६०० वर्गमील और आबादी लगभग १॥ करोड़ है। यहाँ की राजधानी बोगोटा (आबादी १० लाख) एक महत्वपूर्ण व्यापारिक नगर है।

कोलम्बिया की विशेषता यह है कि यहाँ नमूने के तौर पर दक्षिणी अमेरिका के सभी देशों के दृश्य देखने को मिलते हैं। यहाँ ब्राजील जैसे विषुवतीय जंगलों के दृश्य भी हैं और अर्जेन्टाइना जैसे घास के मैदानों के नजारे भी ! उधर चाइल की भाँति सघन वनों तथा झीलवाले प्रदेशों की भी झाँकी यहाँ उपलब्ध हैं। यहाँ के कैरीबियन सागर के तटवर्ती क्षेत्र का अपना अलग ही आकर्षण है।

कोलम्बिया कृषि-प्रधान देश है। यहाँ कॉफी, केला और इमारती लकड़ी बड़े पैमाने पर होती है। खनिज उपज में यहाँ नीलम, सोना, प्लैटीनम और पेट्रोलियम मिलता है।

इस देश की खोज १६वीं शताब्दी के आरम्भ में कोलम्बस ने की थी। उसी के नाम पर इसका नामकरण 'कोलम्बिया' हुआ है। वर्षों तक यहाँ स्पेनिश झंडा फहराया। इसी से इस देश पर स्पेन का बहुत प्रभाव पड़ा। यहाँ के नगरों में हल्के लाल रंग से रँगी हुई स्पेनिश ढंग की टिन की छतों की झाँकी अब भी देखने को मिलती है। यहाँ के गिरजाघर बड़े सुन्दर हैं। १८१९ ई० में यहाँ एक स्वतंत्र गणतंत्र की स्थापना हो गई।

कोलम्बिया की राजधानी बोगोटा देश के मध्य पठारी क्षेत्र में स्थित है। यह नगर पूर्णतः योरपीय ढंग का है। कोलम्बिया के निवासी स्पेनिश रक्त के हैं। कैरीबियन सागर और प्रशान्त सागर के क्षेत्र में कुछ नीग्रो आबादी भी है। स्पेनिश लोगों के आगमन के पूर्व इस देश में 'कैरीब' और 'एंडीयन' (इंडीयन) जाति के लोग बिखरे हुए थे।

यहाँ के अधिकांश लोग रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं। इनकी भाषा स्पेनिश है, लेकिन अब अंग्रेजी भाषा का भी प्रचलन है। यहाँ के निवासी बड़े तड़कीले-भड़कीले और रंग-बिरंगे कपड़े पहनते हैं।

इक्वेडोर—कोलम्बिया और पीरू के बीच में प्रशान्त महासागर के पश्चिमी तट पर स्थित इक्वेडोर का क्षेत्रफल १,०६,२०० वर्गमील और आबादी करीब २४ लाख है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यहाँ की राजधानी क्विटो (आबादी २॥ लाख) है। ग्वायाक्विल (आबादी ३ लाख) यहाँ का प्रमुख बन्दरगाह है। यही यहाँ का सब से बड़ा नगर है। यहाँ के एक पर्वत चिम्बोराजो की ऊँचाई २०,५७७ फीट है!

इक्वेडोर में हजारों एकड़ भूमि में केले के बाग हैं, जिनकी हरियाली बड़ी मोहक मालूम होती है। इस देश से संसार के सभी देशों की अपेक्षा केले का सब से अधिक निर्यात किया जाता है। कॉफी और कोकोआ की भी यहाँ बहुत पैदावार होती है।

क्विटो करीब १० हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित है। इस नगर में अनेक स्पेनिश गिरिजाघर विद्यमान हैं। उनमें सुंदर पच्चीकारी के नमूने देखने को मिलते हैं। क्विटो दक्षिणी अमेरिका में स्पेनिश संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र रहा है।

इक्वेडोरवासी स्पेनिश और इंडियन लोगों की मिश्रित जाति के हैं। ये ज्यादातर रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं। यहाँ की राष्ट्रभाषा स्पेनिश है। यहाँ के कृषक रंग-बिरंगी आकर्षक पोशाक पहनते हैं। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है और वर्षपर्यन्त मौसम अच्छा रहता है।

पीरू—दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित पीरू में एंडीज पर्वत की सब से ऊँची चोटियाँ हैं। इस देश का क्षेत्रफल ५,१०,००० वर्गमील और आबादी १ करोड़ ७ लाख के करीब है। इसकी राजधानी लीमा है, जिसकी आबादी करीब १२ लाख है।

एंडीज पर्वत के पश्चिम में समुद्रतट के मैदानी भाग की भूमि खुश्क और बालूवाली है। इस पठारी भाग में केवल पशुपालन ही किया जाता है। यहाँ की घाटियों की भूमि उर्वर है। प्रसिद्ध तीतीकाका झील, जो संसार में सब से अधिक ऊँचाई पर स्थित है, इस देश की सीमा पर। इस झील के पश्चिमोत्तर में पीरू के प्राचीन 'इंका' सम्राटों की राजधानी कुजको है। एंडीज के पूर्वी भाग में अनेक नदियाँ है, जिनमें अमेजन भी शामिल है। यह उपजाऊ प्रदेश मोन्टाना कहलाता है। यहाँ खाद्य-पदार्थों की अच्छी उपज होती है।

पीरू का इतिहास बहुत पुराना है। १५३३ ई० में इस देश पर स्पेन ने अधिकार कर लिया था। उसके पहले यहाँ 'इंका' जाति का राज्य था। 'इंका' साम्राज्य की सीमाएँ वर्तमान पीरू राज्य की सीमाओं से कहीं दूर तक फैली थीं। इनके अवशेष अब तक मिलते हैं। यहाँ लामा, अलपाका आदि पशु अधिक पाले जाते हैं। एंडीज के पूर्वी क्षेत्र में कॉफी, चाय, कपास, मक्का, इमारती लकड़ी और भाँति-भाँति के फल पैदा किए जाते हैं। देश के दक्षिणी भाग में अरीक्वीपा नामक यहाँ का दूसरा बड़ा नगर है। यह एक शान्त ज्वालामुखी पर्वत के निकट बसा हुआ है।

पीरू के निवासियों में स्पेनिश और इंडियन मिश्रित जाति के लोग अधिक हैं। ये लोग सामान्यतया रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं। यहाँ की राष्ट्रभाषा स्पेनिश है। यहाँ के इंडियन लोगों की हाथ की कारीगरी--विशेष रूप से चाँदी के आभूषण बनाने की कारीगरी--प्रसिद्ध है।

परागुए—दक्षिणी अमेरिका के मध्यभाग में ब्राजील, बोलीविया और अर्जेन्टाइना से घिरे हुए परागुए देश का क्षेत्रफल १,५७,००० वर्गमील और आबादी करीब १८ लाख है। यहाँ की राजधानी असुनशियन है, जिसकी जनसंख्या दो लाख से अधिक है।

इस देश के उत्तरी भाग में ग्रान चाको का बंजर क्षेत्र है और दक्षिण में जंगल है। यहाँ की जलवायु अत्यन्त उष्ण है तथा धूप में बड़ी तेजी होती है। परागुए के अधिकांश निवासी कृषि और पशुपालन पर आश्रित हैं। यहाँ के पशुपालकों को अपने पशुओं को चराने के लिए दूर-दूर तक घोड़े पर सवार होकर घूमना पड़ता है।

असुनशियन नगर में पुरानी और नई इमारतों का विचित्र मिश्रण दिखाई देता है। यहाँ बड़े-बड़े मध्यकालीन राजप्रासाद और भवन हैं, जिनमें इटैलियन स्थापत्य के नमूने मिलते हैं। यपाकराइ झील के निकट सानबर्नाडिनो नामक नगर इस देश की ग्रीष्मकालीन राजधानी है।

यहाँ की आबादी में से अधिकांश लोग स्पेनिश-इंडियन मिश्रित मेस्तीजो जाति के हैं।

परागुए एक गणतंत्र राज्य है। यहाँ के भी अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के हैं।

यहाँ के अधिकांश लोग स्पेनिश और 'गौरानी' नामक दो भाषाओं का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग अंग्रेजी भाषा भी समझ लेते हैं। यहाँ 'यरबामेट' नामक एक विशेष प्रकार की चाय होती है, जिसके बागान लगाये जाते हैं। परागुअन लोग मिट्टी और पोर्सलेन के सुन्दर बर्तन तैयार करते हैं। लेस और बेल की बुनाई का भी बढ़िया काम यहाँ होता है। गिटार नामक वाद्ययंत्र का यहाँ विशेष प्रचलन है। पोलका नामक नृत्य यहाँ विशेष रूप से लोकप्रिय है।

उरुगुए—ब्राजील के दक्षिण में स्थित उरुगुए देश का क्षेत्रफल ७२,२०० वर्गमील और आबादी २८ लाख के करीब है। यहाँ की राजधानी मांटेविडो है, जिसकी आबादी ८॥ लाख है। यह देश अटलांटिक महासागर के तट पर स्थित है। यहाँ रियो डिलाप्लाटा, रियो उरुगुए और रियो नीग्रो

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नामक तीन बड़ी नदियाँ बहती हैं, जिनका उपयोग यातायात के लिए भी किया जाता है।

१९ वीं शताब्दी के आरम्भ तक उरुगुए प्लाटा क्षेत्र के वाइसराय के अधीन था और वह विशाल स्पेनिश साम्राज्य का अंग माना जाता था। इसी से इस देश की भाषा स्पेनिश हो गई और यहाँ रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई धर्म का काफी प्रचार हुआ।

उरुगुए के निवासी ज्यादातर स्पेनिश लोगों की ही संतानें हैं। यह देश दक्षिणी अमेरिका का कल्याणकारी राज्य माना जाता है, क्योंकि यहाँ श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही अनेक कानून बना दिए गए थे। इसी से यहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर काफी ऊँचा है।

उरुगुए दक्षिणी अमेरिका का एक महत्वपूर्ण पशुपालक देश है। यहाँ ऊन और मांस के लिए अच्छी नस्ल की भेड़ें पाली जाती हैं, जो बड़े-बड़े चरागाहों में रक्खी जाती हैं। यहाँ के ८० प्रतिशत क्षेत्र में ऐसे चरागाह हैं और बाकी में कृषि होती है।

उरुगुए की राजधानी मांटेविडो ही देश का मुख्य व्यापारिक केन्द्र भी है। यह एक बन्दरगाह भी है। यहाँ से प्रमुख रूप से मछली का निर्यात होता है।

वेनेज़ुला—कैरीबियन सागर के तट पर कोलम्बिया और ब्रिटिश वेस्ट इंडीज के बीच स्थित वेनेजुला आकार में बहुत बड़ा देश है। इस देश का क्षेत्रफल ३,५२,१०० वर्गमील और आबादी ६६ लाख है। यहाँ की राजधानी काराकास है, जिसकी आबादी करीब १२ लाख है।

इस प्रदेश में हजार से अधिक नदियाँ हैं, इसी से यह 'छोटे वेनिस' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनमें सब से बड़ी ओरीनोको नदी है, जो अपनी सहायक नदियों सहित इस क्षेत्र को सींचती है। इस क्षेत्र में भेड़ और अन्य उपयोगी पशु लाखों की संख्या में पाले जाते हैं।

यहाँ की माराकाइबो नामक झील के तट पर पिछले दिनों भारी मात्रा में पेट्रोलियम पाया गया है। इसी से इस झील के मुहाने पर स्थित माराकाइबो नगर खनिज तेल के उद्योग का मुख्य केन्द्र बन गया है। यहाँ लोहा, सोना और हीरे भी मिलते हैं। कृषि के क्षेत्र में यहाँ कॉफी, कोकोआ, धान और गन्ना की अच्छी पैदावार होती है।

१४९८ ई० में अपनी तीसरी यात्रा में इस देश का पता कोलम्बस ने लगाया था। १६ वीं शताब्दी में स्पेनिश लोगों ने यहाँ अपने उपनिवेश बनाए। वेनेजुलावासियों ने अनेक वर्षों तक स्पेन के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा और उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यह देश पूर्ण स्वतंत्र हो गया।

यहाँ के निवासियों में स्पेनिश रक्त के लोगों की संख्या अधिक है। करीब ६०-७० हजार लोग इंडियन जाति के भी यहाँ हैं। ये घने जंगलों में रहते हैं। अन्य दक्षिणी अमेरिकन देशों की भाँति यहाँ के भी अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक ईसाई हैं और यहाँ की राजभाषा स्पेनिश है।

वेनेजुला की राजधानी काराकास में चौड़े चौक, विस्तृत सड़कें और आधुनिकतम चौराहे हैं। यहाँ की इमारतें आधुनिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न हैं। नगर में ६,००० फीट की ऊँचाई पर एक होटल है, जहाँ बिजली के तारों पर चलनेवाली गाड़ियों से पहुँचा जाता है।

गायना-क्षेत्र—वेनेजुला के पूर्व और ब्राजील के उत्तर के पहाड़ों और समुद्रतट के बीच का क्षेत्र गायना कहलाता है। इसका क्षेत्रफल १,७२,९०० वर्गमील और आबादी करीब ९ लाख है। इस क्षेत्र में ब्रिटिश गायना, फ्रेंच गायना और सुरीनाम अर्थात् डच गायना नामक तीन देश शामिल हैं। इनका क्षेत्रफल क्रमशः ८३,००० वर्गमील, ३४,८०० वर्गमील और ५५,१०० वर्गमील है तथा कुल आबादी लगभग ९ लाख है। ब्रिटिश गायना की राजधानी जार्ज टाउन, फ्रेंच गायना की केयेनी और सुरीनाम की पारामारिबो है।

विषुवत्‌रेखा के उत्तर में स्थित होने के कारण इस क्षेत्र में जलवायु उष्ण है और वर्षा अधिक होती है। सुरीनाम और ब्रिटिश गायना के आधे निवासी एशियाई, भारतीय और जावा के लोग हैं, जिन्हें डच और अंग्रेज अपने उपनिवेशों में मजदूरी कराने के लिए यहाँ ले आए थे। बाकी लोगों में नीग्रो और रेड इंडियन तथा मिश्रित जातियों के लोग हैं।

सुरीनाम में संसार में सब से अधिक बॉक्साइट––कच्चा अल्युमीनियम––निकलता है। ब्रिटिश गायना में इस धातु के अतिरिक्त सोना, हीरा और मेंगनीज आदि खनिज भी मिलते हैं। फ्रेंच गायना में सोना मिलता है। ब्रिटिश गायना के जंगलों में उम्दा इमारती लकड़ी मिलती है।

भारत, जावा और अफ्रीका से जिन लोगों को यहाँ लाकर बसाया गया है, वे आज भी अपने रीति-रिवाजों का पालन करते हैं। अधिकांश भारतीय हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। ये लोग गन्ने के फार्मों में काम करते हैं।

ब्रिटिश गायना और फ्रेंच गायना के बीच में स्थित डच गायना या सुरीनाम देश पहले ब्रिटेन के अधीन था। बाद में यह प्रदेश ब्रिटेन द्वारा हॉलैण्ड को दे दिया गया। सुरीनाम वेस्ट इंडीज के डच राज्य का सब से समृद्ध और सम्पन्न भाग है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसार के देश और उनके निवासी—(५)
आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड

ऑस्ट्रेलिया जनसंख्या की दृष्टि से तो बहुत बड़ा देश नहीं कहा जा सकता, परन्तु क्षेत्रफल के लिहाज से वह एक विशाल भूभाग है। फिर, दक्षिणी गोलार्द्ध में अपनी विशिष्ट स्थिति की बदौलत महाद्वीपों में गिने जाने का भी गौरव उसे प्राप्त है। संसार के विविध देशों की परिचयमाला की इस अंतिम कड़ी में इस अनूठे भूभाग के साथ-साथ उसके निकट पड़ौसी न्यूजीलैंड का भी परिचय दिया जा रहा है, जोकि दक्षिणी गोलार्द्ध का दूसरा महत्वपूर्ण देश है।

ऑस्ट्रेलिया संसार का सब से छोटा महाद्वीप है। इसका क्षेत्रफल २९,७४,५८१ वर्गमील और आबादी १ करोड़ से कुछ ही अधिक है। ऑस्ट्रेलिया के डोमीनियन में छः राज्य सम्मिलित हैं। ये हैं––न्यू साउथ वेल्स (राजधानी सिडनी), पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया (राजधानी पर्थ), दक्षिणी ऑस्ट्रेलिया (राजधानी ऐडेलेड), विक्टोरिया (राजधानी मेलबोर्न), क्वीन्सलैण्ड (राजधानी ब्रिसबेन) और मुख्य भूभाग से १५० मील दूर स्थित तस्मानिया द्वीप (राजधानी होबार्ट)। इनके अतिरिक्त इस राज्य का एक अंग है संघ-प्रशासित उत्तरी क्षेत्र, जिसका प्रमुख नगर डारविन है।

प्राकृतिक स्थिति—प्राकृतिक दृष्टि से ऑस्ट्रेलिया की भूरचना एक नीचे पठार की-सी है, जिसका पूर्वी, दक्षिणी और उत्तरी भाग मैदान है तथा अपेक्षाकृत ऊँचा पश्चिमी हिस्सा पठार जैसा है। इस महाद्वीप की औसत ऊँचाई १००० फीट से भी कम है। इसका अधिकांश भाग निर्जन है और आबादी का अधिकांश दक्षिणी और पूर्वी भागों ही में केन्द्रित है। ऑस्ट्रेलिया में नदियाँ बहुत कम हैं। यह महाद्वीप जल के साधनों के लिहाज से अन्य महाद्वीपों जैसा संपन्न नहीं है। इसी तरह बहुत ऊँचे पहाड़ों का भी यहाँ अभाव है। यहाँ की सब से बड़ी नदी मरे लगभग १,५०० मील लंबी है और सब से ऊँचा पर्वतशिखर कोचियस्को केवल ७,३०५ फीट ऊँचा है।

इतिहास—ऑस्ट्रेलिया के भूभाग को प्राचीन हिन्देशियावासी और चीनी नाविक 'अज्ञात देश' के नाम से पुकारते थे। इनका यहाँ शायद आगमन भी हुआ होगा, परंतु इस क्षेत्र की अनुर्वरता ने उन्हें हतोत्साहित कर दिया होगा। दूसरी शताब्दी ई० में संभवतः भारतीय नाविक भी यहाँ व्यापार के लिए आए थे। उधर यूनानवालों को भी इस क्षेत्र का पता था। १६८८ ई० में डेम्पियर नामक एक अंग्रेज इस महाद्वीप के उत्तरी-पश्चिमी समुद्रतट पर उतरा। परन्तु इस भूभाग को ब्रिटिश उपनिवेश बनाने का श्रेय दरअसल जेम्स कुक को मिला। १७८८ ई० में ब्रिटिश नौसेना के कप्तान फिलिप ने ऑस्ट्रेलिया में पहले-पहल ब्रिटिश पताका फहराई थी। तदनंतर यह देश वर्षों ब्रिटिश साम्राज्य का अंग रहा। अब ऑस्ट्रेलिया एक स्वतंत्र डोमीनियन के तौर पर 'राष्ट्रमण्डल' का महत्वपूर्ण सदस्य है।

जाति, रहन-सहन आदि—ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासियों के संबंध में इस ग्रन्थ के पिछले एक खंड में आप विशेष हाल पढ़ चुके हैं। ये लोग अभी भी पाषाण-युग की-सी दशा में जीवनयापन करते हैं। इनकी कुल संख्या २७,००० के लगभग है। ब्रिटिश औपनिवेशिक विस्तार के साथ जब यहाँ अंग्रेजों की आबादी बढ़ी, तो साथ ही कुछ इटैलियन, डच, यूनानी और जर्मन भी यहाँ आ बसे। ये सब घुल-मिलकर यहाँ के मुख्य निवासी बन गए। इन सब के सम्मिश्रण से एक समन्वित 'ऑस्ट्रेलियन' जाति का निर्माण हो गया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

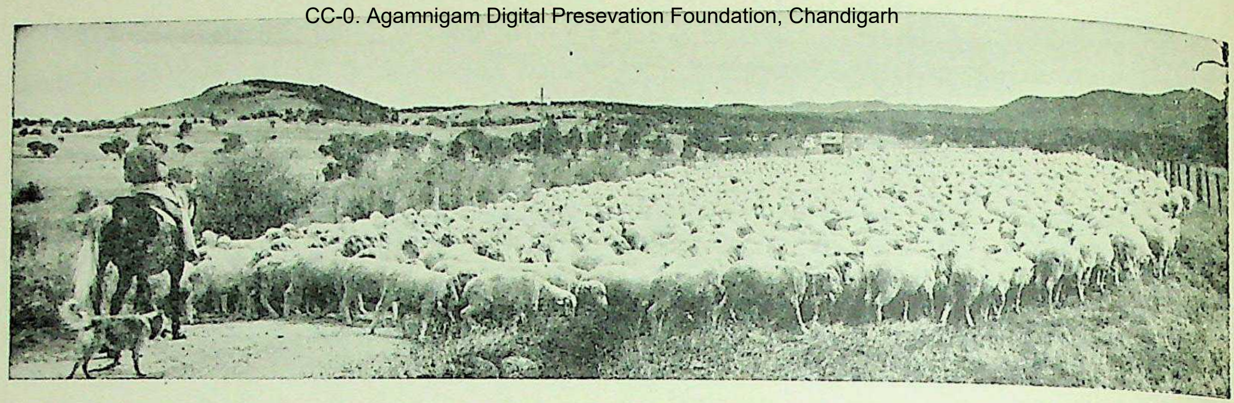

आॅस्ट्रेलिया की गणना संसार के महान् पशुपालक देशों में की जाती है। यहाँ ऊन और मांस के लिए लाखों भेड़ें पाली जाती हैं। प्रस्तुत चित्र में, यहाँ के एक पशुपालन-क्षेत्र की 'मैरिनो' नामक प्रख्यात भेड़ों के एक झुंड की झाँकी दिग्दर्शित है। [फो०—भारत-स्थित 'आॅस्ट्रेलियन हाइ कमीशन' के सौजन्य से]

जिसमें ऊपर उल्लिखित विविध जातियों की अपनी-अपनी विशेषताओं का भी समावेश हो गया। यहाँ की राजभाषा अंग्रेजी है और शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा है। तकनीकी शिक्षा पाने के लिए यहाँ के विश्वविद्यालयों में संसार भर के विद्यार्थी आते हैं। कृषि के क्षेत्र में तो आॅस्ट्रेलिया के वैज्ञानिकों ने अपनी धाक संसार भर में जमा दी है।

आॅस्ट्रेलियावासी बहुत अच्छे खिलाड़ी होते हैं। क्रीकेट, टेनिस और फुटबाल यहाँ के लोकप्रिय खेल हैं। क्रिकेट और टेनिस में तो आॅस्ट्रेलियावासियों ने संसार भर में ख्याति पाई है। तैराकी में भी दुनिया भर में इस देश की धूम है। आॅस्ट्रेलिया का समुद्रतट १२ हजार मील लम्बा है। न्यू साउथ वेल्स में पूरे साल लोग अपने अवकाश के समय को समुद्रतट की फेनिल लहरों पर बिताते हैं। इसी से ये अच्छे तैराक होते हैं। समुद्री नावों के खेलों में भी यहाँ के लोग विशेष अभिरुचि लेते हैं। प्रति वर्ष सिडनी से होबार्ट तक ६८० मील लम्बी नावों की दौड़ प्रशान्त महासागर में होती है। समुद्र में नाव चलाना प्रकृति को चुनौती देने के समान है, जिसमें अपनी निपुणता, कौशल और अनुभव के बल पर ये लोग एक दूसरे से बाजी मारने की कोशिश करते हैं।

आॅस्ट्रेलिया को बहुधा एक कृषि-प्रधान देश समझा जाता है। परन्तु वस्तुतः यहाँ की आबादी का अधिकांश भाग शहरों में ही केन्द्रित है और उद्योगों में रत है। यह देश खनिज संपदा की दृष्टि से काफी संपन्न है। यहाँ सोना, ताँबा, चाँदी, टिन, जस्ता, सीसा, लोहा और कोयला आदि सभी कुछ उपलब्ध हैं। इसी से यहाँ के उद्योगों में इन धातुओं के खनन और शोधन से संबंधित उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि के क्षेत्र में आॅस्ट्रेलिया की गणना संसार के महान् गेहूँ-उत्पादक देशों में होती है। गेहूँ के अलावा यहाँ की कृषि-उपज में मुख्य हैं—जौ, मक्का, आलू, गन्ना तथा अनेक प्रकार के फल। कृषि के साथ-साथ यहाँ का पशुपालन और ऊन का व्यवसाय भी

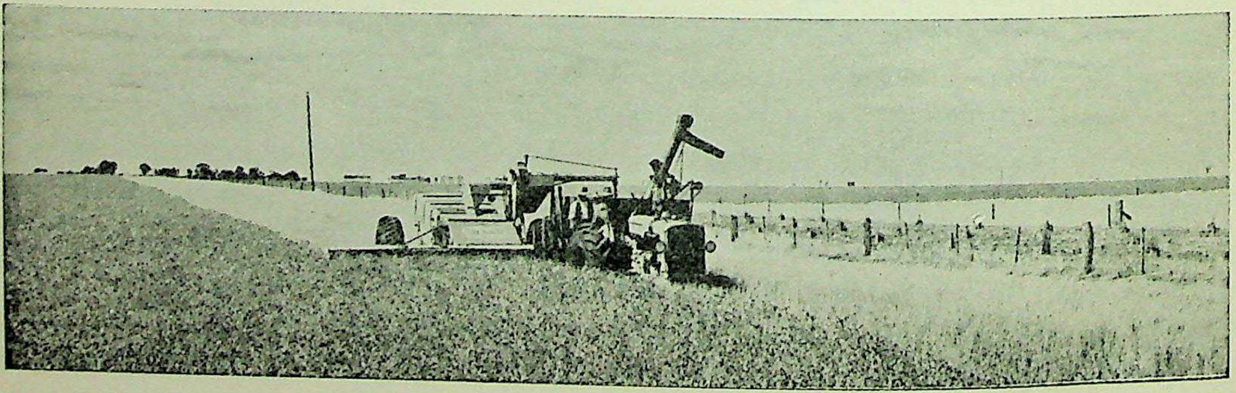

पशुपालन की भाँति आॅस्ट्रेलिया में कृषि-व्यवसाय भी बहुत ही समुन्नत स्तर पर है। यहाँ हजारों एकड़ के बड़े-बड़े कृषि-फार्म हैं, जिन पर मशीनों की मदद से खेती की जाती है। [फो०—भारत-स्थित 'आॅस्ट्रेलियन हाइ कमीशन' के सौजन्य से]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

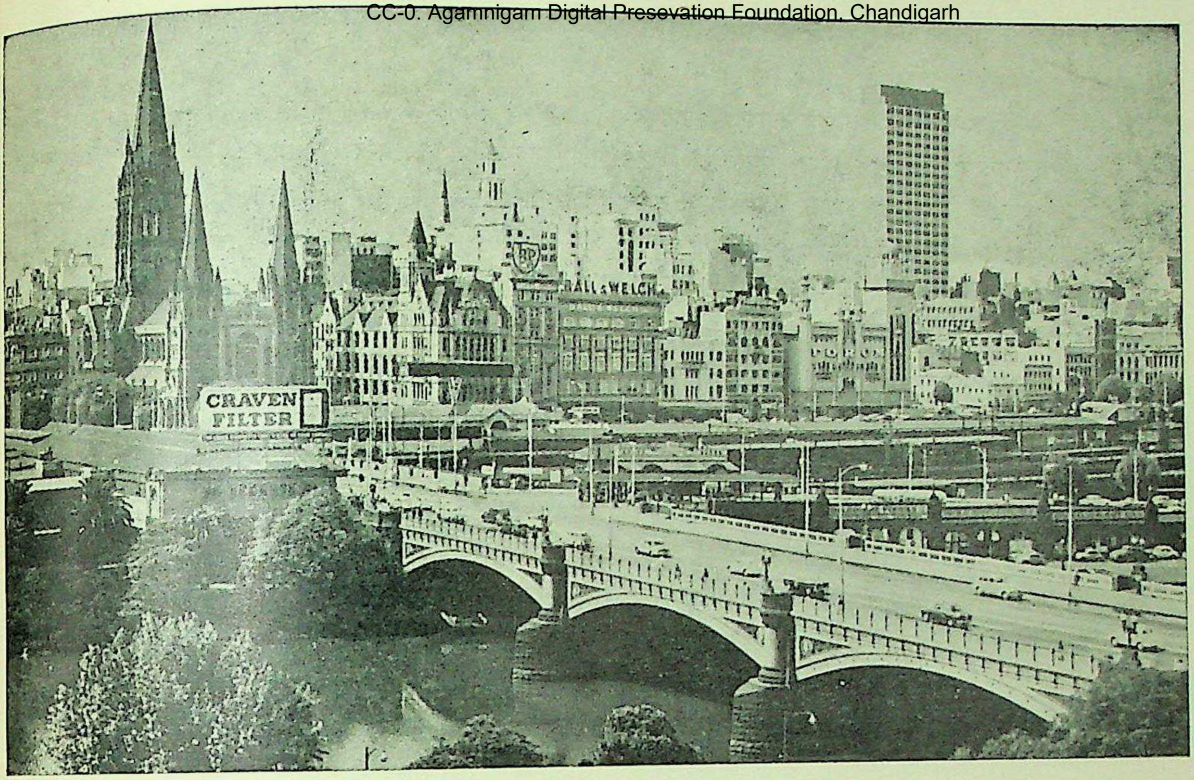

आँस्ट्रेलिया के सुप्रसिद्ध नगर मेलबोर्न की एक झलक [फोटो—भारत-स्थित 'आँस्ट्रेलियन हाइ कमीशन' के सौजन्य से]।

संसार भर में सब से बढ़ा-चढ़ा है। यहाँ ऊन, मांस तथा दुग्ध-जन्य पदार्थों के लिए लाखों की तादाद में उम्दा नस्ल की भेड़ें और गायें पाली जाती हैं, जिनसे होनेवाली आमदनी का परिमाण कृषि से होनेवाली कुल आमदनी से भी ज्यादा होता है।

खनिजों से संबंधित उद्योगों के अतिरिक्त इंजीनियरिङ्ग के क्षेत्र की भाँति-भाँति की मशीनरी, कृषि-यंत्र तथा सूती और ऊनी वस्त्रों के उत्पादन की दिशा में भी पिछले दिनों इस देश ने काफी प्रगति की है। ये उद्योग विशेषतः सिडनी, मेलबोर्न आदि नगरों में केन्द्रित हैं।

नगर—आँस्ट्रेलिया की राजधानी कैनबेरा है। यह एक छोटा-सा नवसंस्थापित नगर है, जिसकी आबादी केवल ३७,००० है। परन्तु इस देश में बड़े नगरों की कमी नहीं है। उदाहरणार्थ, सिडनी की जनसंख्या २० लाख, मेलबोर्न की १६ लाख, ब्रिसबेन की ५।। लाख, ऐडेलेड की ५ लाख, पर्थ की ३।। लाख और होबार्ट की १ लाख से भी अधिक है। इन नगरों में सिडनी और मेलबोर्न का महत्व सर्वाधिक है। वे देश की समस्त हलचलों के केन्द्र जैसे हैं। वे ही यहाँ के प्रमुख बंदरगाह भी हैं। सिडनी-बंदरगाह के मुहाने पर निर्मित विशाल पुल की गणना दुनिया के बड़े पुलों में होती है।

: न्यूजीलैंड :

आँस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व में प्रशान्त महासागर में स्थित न्यूजीलैंड देश 'उत्तरी द्वीप' और 'दक्षिणी द्वीप' नामक दो बड़े टापुओं तथा कुछ छोटे-छोटे द्वीपों को मिलाकर बना है। इस देश का क्षेत्रफल १,०३,७३६ वर्गमील और आबादी २३ लाख है।

योरपवालों को इन द्वीपों का पहलेपहल पता १६४२ ई० में तासमैन नामक एक डच नाविक द्वारा चला था। उस समय ये नितान्त निर्जन नहीं थे। यहाँ मावरी नामक एक लड़ाकू जाति बसी हुई थी। इस जाति के लोग एकदम असंस्कृत नहीं थे। वे उत्तम कृषक थे और लकड़ी पर बढ़िया नक्काशी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते थे। जब तासमैन ने 'दक्षिणी द्वीप' के समुद्रतट पर उतरने की कोशिश की, तो उसके दल के कुछ लोग मावरियों के हाथों युद्ध में मारे गए। फलतः उसे वापस भागना पड़ा। १७६९ ई० में अंग्रेज कप्तान जेम्स कुक ने इस देश को पुनः खोज निकाला। कुक की इस खोज के बाद आॅस्ट्रेलिया के न्यू साउथ वेल्स नामक ब्रिटिश उपनिवेश से लोग ह्वेल के शिकार और व्यापार के लिए न्यूजीलैण्ड पहुँचने लगे। १८-४० ई० में वेकफील्ड नामक अंग्रेज ने वर्तमान वेलिंगटन नगर के स्थान पर पहला श्वेत उपनिवेश बनाया। उसी वर्ष एक संधि की गई, जिसके अनुसार अंग्रेजों ने मावरियों की भूमि, जंगल और मछली पकड़ने के अधिकारों को स्वीकार कर लिया।

प्राकृतिक दशा—न्यूजीलैंड का अधिकांश भाग पर्वतीय है। यहाँ का तीन-चौथाई से अधिक भूभाग समुद्र से छः सौ से नौ हजार फीट तक की ऊँचाई का है। यहाँ की सब से ऊँची पहाड़ी चोटी 'माउंट कुक' है, जिसकी ऊँचाई १२,३४९ फीट है। 'उत्तरी द्वीप' का मध्य भाग एक ज्वालामुखीय पठार है। यहाँ गरम पानी के सोतों, गायसरों, आदि की भरमार है। दक्षिणी द्वीप में अनेक बड़ी-बड़ी झीलें हैं। ऊँची चट्टानों से विभूषित यहाँ के सागरतट की छवि नार्वे के 'फ्योर्डों' की याद दिलाती है। कहीं-कहीं समुद्रतट पर दूर-दूर तक बालू भी फैली है, जिसके बीच-बीच में बड़े-बड़े गोल पत्थर पड़े हुए हैं। इन पत्थरों से समुद्र की लहरें आकर टकराया करती हैं।

विषुवत् रेखा के दक्षिण में स्थित होने के कारण न्यूजीलैंड में ऋतुएँ उत्तरी गोलार्द्ध की ऋतुओं से बिल्कुल विपरीत होती हैं। वहाँ दिसम्बर महीने में खूब गरमी पड़ती और अगस्त तथा सितम्बर में वसन्त ऋतु होती है!

जाति, रहन-सहन आदि—न्यूजीलैण्ड के निवासियों में योरप से आकर बसनेवाले श्वेत वर्ग के लोगों का बाहुल्य है। यहाँ की आबादी में संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान मावरी जाति के लोगों का है, जो डेढ़ लाख के करीब हैं। इन लोगों ने इन द्वीपों में श्वेत जातियों के आगमन का सब से अधिक विरोध किया था और उनके साथ अनेक लड़ाइयाँ भी लड़ी थीं। पिछले वर्षों में मावरी लोगों को समाज, कानून और काम-धन्धे के सम्बन्ध में गोरों के ही समान नागरिक अधिकार मिल चुके हैं।

नौकाविहार और पहाड़ों की चढ़ाई में यहाँ के लोग विशेष मनोरंजन प्राप्त करते हैं। न्यूजीलैंड-निवासी सर एडमंड हिलैरी ने ही भारतीय शेरपा तेनसिंग के साथ एवरेस्ट-शिखर पर पहली बार विजय-पताका फहराई थी। हिलैरी ने १९५८ ई० में दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश को भी एक सिरे से दूसरे सिरे तक पार करके साहस का एक नया मानदंड स्थापित किया था!

भाषा के लिहाज से न्यूजीलैंड में अंग्रेजी का ही बोलबाला है, जो यहाँ की राजभाषा है। परन्तु वैसे मावरी भाषा को भी मान्यता प्राप्त है। यद्यपि मावरियों और योरपीय गोरों में परस्पर काफी सम्मिश्रण हो चुका है, तथापि दोनों के रीति-रिवाज और रहन-सहन के ढंग अभी भी पृथक् पहचाने जा सकते हैं। मावरी लोगों की जीवन-धारा पर अभी भी पोलीनेशियन संस्कृति की स्पष्ट छाप है।

न्यूजीलैंड में कृषि तथा पशु-पालन के व्यवसाय उन्नत स्तर पर हैं। यहाँ की भूमि का दो-तिहाई अंश खेती और पशुओं के चारे की उपज के काम में प्रयुक्त होता है। आॅस्ट्रेलिया की भाँति यहाँ भी बहुत बड़ी संख्या में भेड़, गाएँ आदि पशु पाले जाते हैं, जिनसे भारी मात्रा में ऊन, मांस और दुग्ध-जन्य पदार्थ पैदा किए जाते हैं। इन्हीं पदार्थों की उपज पर देश का निर्यात-व्यापार निर्भर है। परन्तु यहाँ के पशुपालन-क्षेत्रों का स्वरूप आॅस्ट्रेलिया के इसी प्रकार के फार्मों से सर्वथा भिन्न होता है। यद्यपि यहाँ पशुपालन का व्यवसाय इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ है कि ग्राम्य क्षेत्र की सैर करने पर हमें प्रति एक-दो मील के फासले पर एकाध डेरी-फार्म या पशुपालन-केन्द्र अवश्य देखने को मिल सकता है, परंतु इन फार्मों में प्रायः दुग्ध-उत्पादक पशुओं अर्थात् गायों के ही दर्शन हमें होंगे—वहाँ आॅस्ट्रेलियन पशुपालन-केन्द्रों की तरह हजारों-लाखों भेड़ों के झुंड कहीं भी देखने को नहीं मिल सकते। इसका कारण यह है कि न्यूजीलैंड मुख्यतः एक पर्वतीय देश है, वहाँ मीलों लम्बे-चौड़े चौरस मैदानों का अभाव है। यहाँ ऐसे पशुपालन-क्षेत्रों की कमी नहीं है, जो हजारों भेड़ें पालकर लाखों मन ऊन और मांस आदि का उत्पादन करते हैं। परन्तु इन क्षेत्रों द्वारा पाली गई भेड़ें एक लम्बे-चौड़े घेरे में न घिरी रहकर प्रायः समीपवर्ती पहाड़ों के ढाल पर चरती फिरती हैं और निश्चित मौसम में जब उनका ऊन उतारने अथवा उनके नवोत्पादित मेमनों के साल-सँभाल की जरूरत पड़ती है, तभी वे फार्म पर लाई जाती हैं।

नगर—न्यूजीलैंड में चार बड़े नगर हैं, जो यहाँ के प्रमुख बंदरगाह भी हैं। ये हैं—वेलिंगटन (२॥ लाख), आॅकलैंड (४ लाख), क्राइस्ट चर्च (२ लाख) और ड्यूनेडीन (१ लाख)। इनमें वेलिंगटन का महत्व विशेष है, कारण वही देश की राजधानी है। आॅकलैंड देश का सब से बड़ा बंदरगाह है। ये दोनों नगर 'उत्तरी द्वीप' में हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

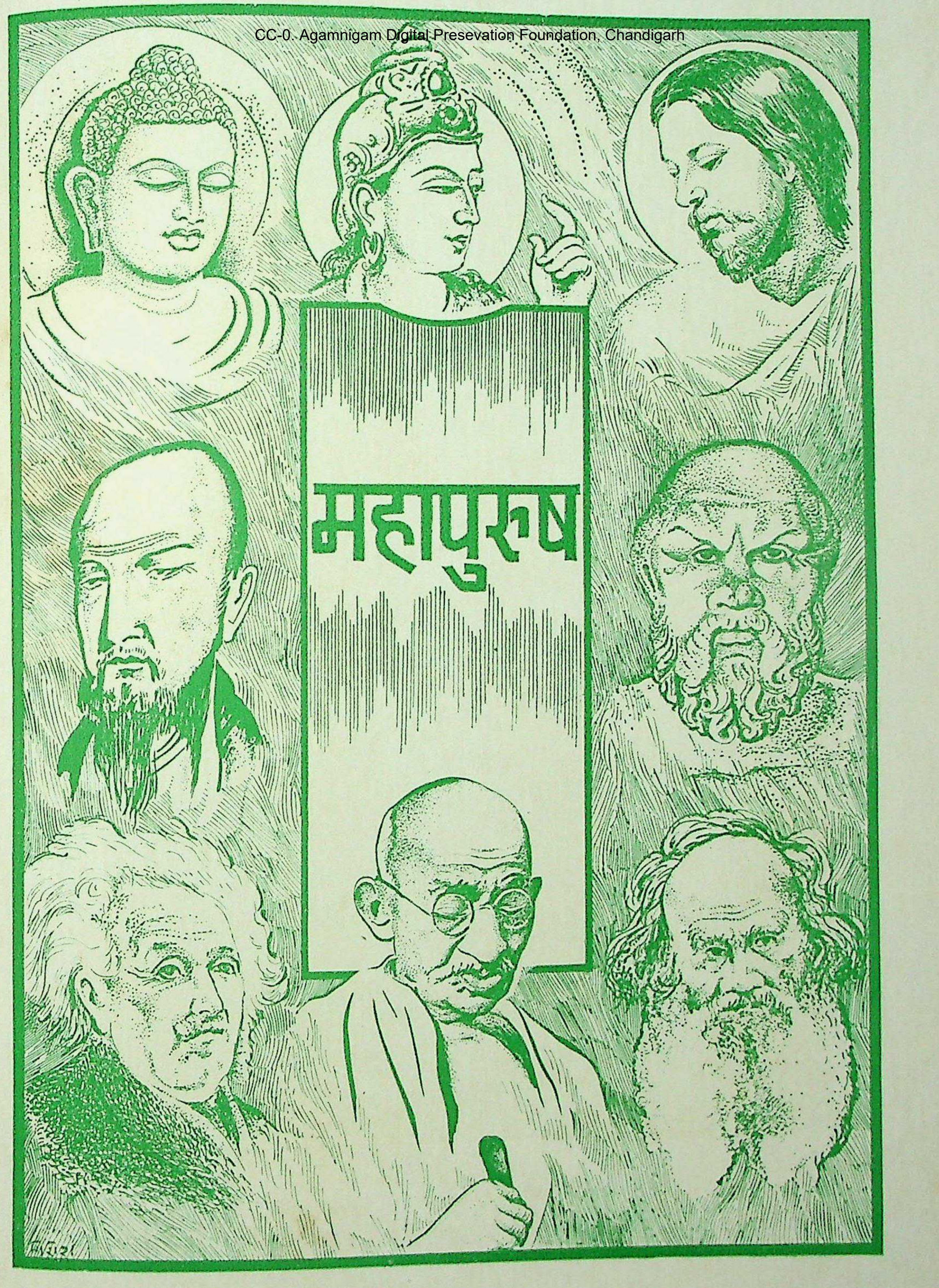

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युग-पुरुष महात्मा गांधी

जिनका 'सत्य' और 'अहिंसा' का संदेश हिंसा, द्वेष, घृणा और शोषण-रूपी दावानल की लपटों में झुलस रही मानवता के लिए आज मुक्ति और शान्ति का एकमात्र अमोघ उपाय प्रतीत होता है !

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आधुनिक भारत की दो महाविभूतियाँ :: श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानंद

आधुनिक भारत के निर्माण और पुनरुत्थान में योग देनेवाले महामनस्वियों की विविध आभायुक्त मणिमाला में, श्रीरामकृष्ण परमहंस और उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द की अद्‌भुत जोड़ी ऐसे दो अनुपम रत्नों की जोड़ी है, जिसकी समता का दूसरा उदाहरण इतिहास में मिलना दुर्लभ है। ये युगल महापुरुष जो अमर ज्योति जगा गए हैं, वह युग-युग तक हमारा मार्ग-निर्दशन करती रहेगी।

भारत आदिकाल ही से सन्त-महात्माओं का देश रहा है। यहाँ की जन-आत्मा ने राजनीतिज्ञों और श्रीसम्पन्न व्यक्तियों को कभी भी वह मान्यता प्रदान नहीं की, जो अर्ध-नग्न, कृशशरीर, अपढ़, सरलचित्त संन्यासियों एवं भगवा वस्त्रधारी भक्तों, संतों और महात्माओं को दी। बाह्य आडम्बर को समादृत न करके हृदय एवं आत्मा की शुचिता तथा सरलता को अधिक महत्व देना इस धर्मप्राण देश की सदैव विशेषता रही है। इसका कारण यह है कि इस देश ने अपने संत-महात्माओं से जो प्रसाद पाया, वह बड़े-बड़े चक्रवर्त्ती सम्राट् भी उसे नहीं दे सके। इन संत-महात्माओं ने समय-समय पर अपनी शिक्षा द्वारा देश को सदैव कल्याण की राह दिखाई। उन्होंने धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रगति एवं सुधार का स्वर जगाकर देश में एक नई चेतना को जन्म दिया। श्रीरामकृष्ण परमहंस ऐसे ही एक महान् सन्त थे, जिन्होंने अपने सरल जीवन तथा अमृत-मय उपदेशों से न केवल इस देश को प्रत्युत समस्त संसार को एक नवज्योति प्रदान की। उनकी समन्वयात्मक साधना की मौलिकता और सरलता ने सभी को प्रभावित किया। कलकत्ते के समीपवर्ती दक्षिणेश्वर-मन्दिर में भगवती काली के सम्मुख बैठकर साधना करनेवाला यह सन्त अपने जीवनकाल ही में न केवल जन-साधारण के लिए महान् आकर्षण-केन्द्र बन गया था, प्रत्युत वह पूर्व और पश्चिम के बड़े-बड़े पंडितों और दिग्गज तार्किकों तक को अपनी परिधि में बरबस खींच लाया था !

आरंभिक जीवन :: विचित्र भावोन्माद

रामकृष्ण का जन्म १७ फरवरी, १८३६ ई०, के दिन बंगाल प्रान्त के हुगली जिले में कामारपुकुर नामक ग्राम के एक गरीब ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उनके बचपन का नाम गदाधर था। उनके पिता खुदीराम चट्टोपाध्याय एक सरलचित्त धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। बचपन ही से गदाधर की सांसारिक कार्यों के प्रति किंचित् भी रुचि नहीं थी। दुर्भाग्यवश अल्पायु में ही जब उसे अपने पिता के वात्सल्य-स्नेह से वंचित हो जाना पड़ा, तो कामारपुकुर से विदा हो उसे अपने बड़े भाई रामकुमार के साथ कलकत्ते जाना पड़ा। वहाँ वह भाई के साथ दक्षिणेश्वर में स्थापित रानी रासमणि के काली-मन्दिर में रहने लगा। मंदिर के उस धार्मिक वातावरण ने उसका जीवन ही बदल दिया। उसके मन में भक्ति-भावना की प्रबल तरंगें उठने लगीं। वह देवी की स्तुति में भावभीने भक्ति-गीतों का गायन करते-करते तल्लीन हो जाता। उसे सभी दुनियावी बातें थोथी और अयथार्थ प्रतीत होने लगीं और वह प्राणपण से अपनी भक्ति-साधना में लीन हो गया।

इसी बीच ज्येष्ठ बन्धु रामकुमार की भी मृत्यु हो गई, जिससे गदाधर की संसार के प्रति उदासीनता और भी बढ़ गई। अब उसे सारा जग सारहीन लगने लगा और उसका वैराग्य और अधिक प्रबल हो गया। अब वह अहर्निश उस जगद्धात्री की पूजा, ध्यान और भक्ति में ही संलग्न रहने लगा। अपने अहं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को मिटाने तथा चित्त में समत्व-भाव को प्रकट करने के लिए वह मन्दिर का छोटा-से-छोटा कार्य अपने हाथ से करता, मन्दिर में प्रसाद पानेवाले साधु-सन्तों की जूठी पत्तलों तक को साफ करता और उन्हीं के उच्छिष्ठ भोजन को देव-प्रसाद मानकर अपना उदर-पोषण करता था। वह जीवमात्र को शिव-रूप में देखता था। उसकी यह तन्मयता देखकर लोग प्रायः उसे पागल समझते थे। देवी की प्रतिमा के आगे स्तुति-प्रार्थना करते-करते उसकी हिचकियाँ बँध जाती थीं, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता था तथा अश्रुधारा बहने लगती थी। एक दिन तो वह माँ के दर्शन के लिए इतना उद्विग्न हो उठा कि दर्शन न होने पर सूनी रात में आत्मघात के लिए उद्यत हो गया ! इस क्षण का वर्णन स्वयं उसी के शब्दों में सुनिए :—

"माँ का दर्शन न होने से हृदय में तीव्र वेदना उत्पन्न हुई। ऐसा ज्ञात होने लगा मानो भिगोए हुए वस्त्र को निचोड़ने के समान कोई मेरे हृदय को ऐंठकर निचोड़ रहा हो ! क्या माता का दर्शन मुझे कभी भी नहीं होगा ? इस विचार से जी घबड़ाने लगा और विचार आया कि अब इस अवस्था में जीवित रहकर करना ही क्या है ! बस, अब तो देवी के चरणों में प्राण दे देना ही उचित है ! इतने में ही वहीं जो तलवार लटक रही थी, उस पर एकाएक मेरी दृष्टि पड़ी ! उसके एक ही आघात से जीवन का अन्त कर देने के निश्चय से मैं उन्मत्त के समान छाती पर आघात करने ही जा रहा था कि माता का अपूर्व अद्‌भुत साक्षात्कार हुआ और मैं देहभान भूलकर गिर पड़ा !"

परम सिद्धि के शिखर पर

इस घटना के साथ ही यह तरुण पुजारी परमहंस बन गया। उसके लिए अब वह पाषाण-प्रतिमा सजीव बन गई ! अब उसे प्रति क्षण माँ के मधुर नूपुरों की ध्वनि सुनाई देने लगी और वह उसका उसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन करने लगा, जैसे कोई शिशु अपनी जननी से साक्षात्कार कर रहा हो ! इस साधना के क्रम में उसने कठोर तप से अपनी देह को सुखा डाला। बाह्य संसार का नाममात्र का ही भान उसे रहने लगा और उसकी दशा सचमुच पागलों की-सी हो गई, जिससे उसके अभिभावक चिंतित हो उठे ! उन्होंने उसे वायुपरिवर्तनार्थ कुछ समय के लिए कलकत्ते से देहात भेज दिया और शारदामणि नामक एक अल्पवयस्का बाला के साथ उसका विवाह भी कर दिया। परन्तु इससे उसकी चर्य्या में कोई अंतर नहीं आया। वह घंटों समाधि की स्थिति में ही रहता। उसका सम्पूर्ण समय माँ की गोद में ही बीतता। पत्नी शारदामणि के साथ उसका दाम्पत्य-संबंध भी केवल नाममात्र का ही था। वह भोग-वासना से सदैव दूर ही रहा। शारदामणि ने एक दिन पैर दबाते हुए पति से पूछा—'मुझे आप कौन समझते हैं ?' संत ने कहा—"जो माता उस काली-मंदिर में है; जोकि इस शरीर को जन्म देकर अभी नौबतखाने में निवास करती है; वही इस समय मेरे पैर दबा रही है। तू मुझे सचमुच ही सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में दिखाई देती है !" पति को पत्नी भी अपने अनुरूप ही मिली थी। शारदामणि पति के चरणों में सर्वस्व अर्पित कर उन्हीं के साथ त्यागमय, तपस्यामय जीवन बिताने लगीं और वास्तविक रूप से पति की जीवन-सहचरी बन गईं।

किंतु तुरीयावस्था की उक्त उच्च भूमिका पर पहुँचकर भी इस संत ने अपनी साधना का क्रम समाप्त नहीं कर दिया। उसने परम तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए भाँति-भाँति के प्रयोग किए और हर मार्ग को आजमाया। उसकी इस बहुमुखी साधना में मदद देने के लिए अप्रयास ही उसे योग्य पथप्रदर्शक भी मिल गए। पहले एक भैरवी संन्यासिनी दक्षिणेश्वर आई और उसने तंत्र की विधि से इस महासाधक की साधना में पथ-दिग्दर्शन किया। तदनंतर तोतापुरी नामक एक संन्यासी ने आकर उसे अद्वैत-सिद्धि के मार्ग पर आरूढ़ करने में मदद दी। उसी से संन्यास-दीक्षा पाकर वह 'रामकृष्ण' कहलाया।

परमहंस सभी धर्मों को समान रूप से देखते थे। उन्होंने कभी भी किसी धर्म अथवा समाज की निन्दा नहीं की। जिस समय हिन्दू-मुसलमान, आस्तिक-नास्तिक, आर्य-समाजी तथा सनातनधर्मी आदि आपस में संघर्ष कर रहे थे, उस समय यह संत सभी धर्मों का तत्त्व प्राप्त कर विश्व को यह संदेश दे रहा था कि धर्म को संघर्ष और शास्त्रार्थ की वस्तु न बनाओ; उसका प्रयोग करके जीवन को उच्च आदर्शों तक उठाओ और सत्य का प्रसार करो; सभी धर्मों का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति है; विविध मार्ग अंत में एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। वस्तुतः रामकृष्ण ने जो उपदेश दिए, उनका सच्चाई से जीवन में प्रयोग भी किया। उन्होंने हिंदू धर्म के अलावा कुछ समय तक इस्लाम और ईसाइयत की विधि से भी धर्म-साधना का प्रयास किया। उनका कथन था कि धर्म के बाह्य भेदों से मूल में कोई अन्तर नहीं पड़ता—मनुष्य सत्य की प्राप्ति के लिए किसी भी मार्ग को चुन सकता है।

राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन आदि ने सुधार की आवाज उठाकर धर्म के जिस मूल सत्य की ओर संकेत किया था, रामकृष्ण ने उसे अपने

जीवन में साकार बनाकर प्रस्तुत कर दिखाया। परमहंस को देखकर भारतीय जनता की अपने प्राचीन विश्वासों के प्रति पुन: आस्था बढ़ चली ! उसमें अपने धर्म के प्रति सम्मान का भाव जाग उठा और एक नई चेतना का उदय हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रामकृष्ण न तो संस्कृत जानते थे, न अंग्रेजी ही। उन्होंने न कभी कोई लेख लिखे और न किसी सभा में जाकर भाषण ही दिया। वह दक्षिणेश्वर-मन्दिर के चौक में बैठे-बैठे भक्तों से भक्ति - चर्चा किया करते थे। इसी दौर में उनके श्रीमुख से ज्ञान के अनमोल मुक्ताकण झड़ते रहते थे। सभी धर्मों की साधना करने पर भी उनका भगवती काली के प्रति विश्वास अविचल बना रहा। वह उस जगद्धात्री के अनन्त स्नेह - सागर में मानो एक बालक की भाँति अठखेलियाँ करते रहते थे।

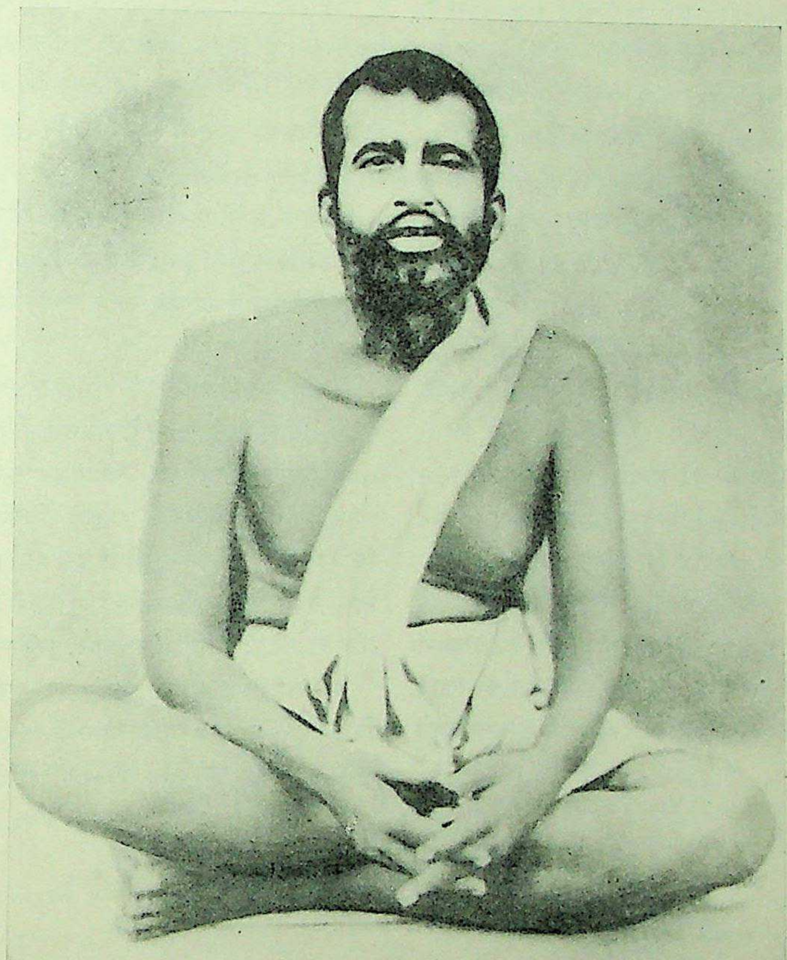

श्रीरामकृष्ण परमहंस।

उनके उपदेशों का सार

रामकृष्ण अंतर और बाह्य की निष्कलुषता चाहते थे। वह कथनी और करनी में समरसता के हिमायती थे। उनकी दृष्टि में ऊँच-नीच के भेदभाव के लिए स्थान न था। इस भेद को मिटाने से लिए वह अहर्निश माँ से प्रार्थना किया करते थे। विषमता के स्थान पर समता की और घृणा के स्थान पर प्रेम की स्थापना करना इस संत के जीवन का परम सिद्धान्त था। परमहंस चमत्कार दिखाकर किसी को प्रभावित करना नहीं चाहते थे और न धार्मिक शास्त्रार्थ में ही वह उलझते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन एक खुले धर्मग्रंथ जैसा था। उनकी शिक्षा मौखिक नहीं, प्रत्युत व्यवहार में निहित थी। उन्होंने किसी नवीन सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की और न कोई पंथ ही खड़ा किया। वह तो जीवन भर अपने अनुभूत सत्य का ही वितरण करते रहे।

इस संत के उपदेशों का आकाश इतना विशाल है कि उसमें विद्वान् और अपढ़ सभी अपनी सामर्थ्य भर उड़ सकते हैं। उनके उपदेशों की गंगा जब प्रवाहित होती थी, तो बड़े से बड़ा तार्किक भी मौन होकर उसकी स्निग्ध पीयूष-धारा में स्नान करने लगता था। उस समय के बंगाल के बड़े-से-बड़े विद्वान् —— जैसे केशवचन्द्र सेन, राखालदास, सुरेन्द्रनाथ मित्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचंद्र चटर्जी आदि —— उनके दिव्य व्यक्तित्व के सम्मुख नतमस्तक थे। उनकी उपदेश करने की शैली प्राचीन सन्तों की-सी थी; वह अपने मत का प्रतिपादन दृष्टान्तों और उपमाओं के सहारे किया करते थे। देह और आत्मा जैसे जटिल प्रश्नों को भी उन्होंने इस प्रकार सहज ढंग से स्पष्ट कर दिया था——

"कामिनी-कांचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय, तो देह अलग है, आत्मा अलग है, यह स्पष्ट दिखाई देने लगता है। जैसे नारियल का पानी सूख जाने पर उसके भीतर का खोपरा (गिरी) नरेटी से बिलकुल अलग हो जाता है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रौर खोपरा तथा नरेटी दोनों श्रलग-श्रलग दिखाई देने लगते हैं; या जैसे म्यान के भीतर रखी तलवार के विषय में कह सकते हैं कि म्यान श्रौर तलवार दो भिन्न चीजें हैं, वैसे ही देह श्रौर श्रात्मा के बारे में भी जानो।"

इस संत को कोरा ज्ञान रुचिकर नहीं था; उसे प्रेम तथा सदाचार से विहीन ज्ञान निरा पाखण्ड एवं निरर्थक लगता था। इसी तरह जिस ज्ञान से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो, वह भी उसकी दृष्टि में व्यर्थ था। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से बातें करते हुए एक बार इस महापुरुष ने कहा था--"परमेश्वर विद्या या बुद्धिबल से नहीं प्राप्त किया जा सकता; षड्दर्शनों की भी वहाँ तक पहुँच नहीं। उसके लिए तो श्रद्धा श्रौर भक्ति ही चाहिए। ब्रह्म श्रौर माया में श्रभेद है। उन्हें प्राप्त करने के लिए केवल प्रेम ही चाहिए। यदि हृदय में भक्ति श्रौर प्रेम है, तो फिर पूजन, उपचारों श्रादि की श्रावश्यकता ही नहीं।"

इस संत का तो कहना था--"केवल विद्या से क्या होगा? गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता तो है, परन्तु उसकी श्राँख तो बराबर मुर्दे पर लगी रहती है!"

रामकृष्ण धर्म-पिपासुओं की समता प्रायः मधुमक्खी से दिया करते थे। वह कहते थे--"मधुमक्खी फूल के चारों ओर तभी तक भनभनाती है, जब तक कि उसे मधु नहीं मिलता। मधु प्राप्त हो जाने पर वह भनभनाती नहीं, तब वह चुपचाप मधुपान करने लगती है। इसी प्रकार मनुष्य धर्म के विषय में तभी तक तर्क-वितर्क करता है, जब तक उसे धर्म का स्वाद नहीं मिलता। स्वाद मिलने पर वह चुपचाप साधना करने लगता है।"

परमहंस का यह दृढ़ विश्वास था कि हृदय की शुद्धता तथा निष्कलुषता के बिना ईश्वर-दर्शन होना असम्भव है। वह कहते थे कि "जिस प्रकार दर्पण पर मैल बैठ जाने पर उसमें मुख नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार मलिन हृदय में ईश्वर की छवि प्रकट नहीं होती। जैसे मैल हटा देने से दर्पण में मुँह दिखाई देने लगता है, वैसे ही हृदय के स्वच्छ होते ही भगवान् का रूप स्पष्ट होने लगता है।"

वह ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधना को नितान्त श्रावश्यक तथा अनिवार्य मानते थे। उनका कहना था कि--

"समुद्र में रत्न हैं, पर उन्हें पाने के लिए यत्न करना पड़ता है। इसी तरह जगत् में ईश्वर यद्यपि सर्वत्र व्याप्त है, पर उसे पाने के लिए साधना करनी पड़ती है।"

श्रपने जीवनकाल में ही रामकृष्ण का नाम भारत के कोने-कोने तक फैल चुका था। बाद में उनकी यशोगाथा को सारी दुनिया में फैलाने का श्रेय उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द को प्राप्त हुश्रा।

जीवन के श्रंतिम दिनों में रामकृष्ण गले के रोग के कारण कुछ भी बोलने श्रौर खाने में असमर्थ हो गए थे। फिर भी वह श्रपने शिष्यों को निरंतर उपदेश देते रहते थे। श्रपनी शिष्य-मंडली में उन्हें नरेन्द्र (स्वामी विवेकानंद) पर श्रमित विश्वास था। श्रन्तिम समय में उसे पास बुलाकर उन्होंने कहा था--"नरेन, मेरे ये सब लड़के हैं, तू सब से बुद्धिमान श्रौर शक्तिमान है, उनकी रक्षा करना श्रौर उन्हें सत्पथ पर चलाना।"

श्री रामकृष्ण का देहावसान १५ श्रगस्त, १८८६ ई०, के दिन हुश्रा। वह बंग प्रदेश धन्य है, जहाँ की शस्य श्यामला भूमि ने इतने महान् सन्त को श्रपनी गोद में खिलाया!

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द भारत की उन महान् विभूतियों में से थे, जो श्रवनति के क्षण में नवशक्ति श्रौर प्रेरणा देने के लिए समय-समय पर इस देश के प्रांगण में श्रवतरित होती रही हैं। यह महापुरुष प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन श्रौर श्रर्वाचीन, ज्ञान श्रौर कर्म का एक ही व्यक्तित्व में श्रद्भुत समन्वय लेकर उदित हुश्रा था। आजन्म निवृत्ति-मार्ग का पथिक होते हुए भी उसने तीव्र कर्मठता का परिचय दिया! ज्ञान की उत्तुंग भूमिका पर स्थित होते हुए भी वह मानव के सामान्य सुख-दुःख में साथ देते हुए जी भरकर हँसा श्रौर रोया! मुक्ति श्रौर निर्वाण का पहुँचा हुआ साधक होकर भी लोक के धरातल पर उतरकर 'दरिद्रनारायण' के लिए दर-दर भिक्षा माँगते वह नहीं हिचकिचाया! राजनीति से सर्वथा निर्लिप्त होते हुए भी उसके हृदय में स्वदेश-प्रेम की लौ श्रक्षुण्ण सुलगती रही! श्रौर सब से श्रद्भुत श्रनोखी बात तो यह थी कि केवल उनतालिस वर्ष की श्रल्पायु पाकर भी वह पूर्व श्रौर पश्चिम दोनों को श्रपने ज्ञान के प्रकाश से श्रालोकित कर गया!

आरंभिक जीवन

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ जनवरी, १८६३ ई०, को कलकत्ते के एक कुलीन श्रौर संपन्न कायस्थ परिवार में हुश्रा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। विवेकानन्द का संन्यासकाल से पूर्व का नाम था नरेन्द्र-नाथ दत्त। उनके पिता विश्वनाथ दत्त स्वच्छंद विचारों के एक सुसंस्कृत व्यक्ति थे। पिता पुत्र को किसी भी दशा में रूढ़िग्रस्त होने देना नहीं चाहते थे। बालक के मन पर घर के इस मुक्त वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ा। नरेन्द्र प्रायः मित्रों के साथ पिता का वाद-विवाद सुनता और उसमें स्वयं भी भाग लेता। आत्माभिमान तो उसमें बचपन से ही कूट-कूटकर भरा हुआ था। उसके प्रत्येक वचन और आचरण के हर कदम में एक ऊँचेपन का भाव परिलक्षित होता था। उसमें ओछापन लेशमात्र भी नहीं था––वह ऊँच-नीच, धनी-निर्धन सब को समान दृष्टि से देखता था और उनके प्रति सहज सौहार्द्र का भाव रखता था। सत्यभक्त तो वह ऐसा था कि किसी भी दशा में वह सत्य बात को छिपाना नहीं जानता था।

अपने सुदृढ़ शरीर, उन्नत ललाट, सुन्दर मुखाकृति, मधुर कंठ, अलौकिक बौद्धिक प्रतिभा एवं अद्वितीय वक्तृत्वशक्ति के बल पर यह युवक सहज ही अपने सहपाठियों और अध्यापकों के आदर एवं सम्मान का पात्र बन गया। उसके संबंध में कॉलेज के योरपीय अध्यक्ष महोदय की राय थी कि "जर्मनी और इंग्लैण्ड के सारे विश्वविद्यालयों में एक भी ऐसा छात्र नहीं, जो नरेन्द्र के समान मेधावी हो!"

अपने कॉलेज के शिक्षाकाल के दिनों में नरेन्द्रनाथ के मन पर पश्चिमी दर्शन का गहरा प्रभाव जमा हुआ था। वह हर्बर्ट स्पेंसर और जान स्टुअर्ट मिल के विचारों से विशेष प्रभावित था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा उद्भूत भावनाएँ भी उसके मन पर गहराई के साथ छाई हुई थीं। उक्त क्रान्ति द्वारा उद्घोषित स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के विचारों से वह बहुत प्रभावित हुआ था। इन पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से वह एक उग्र शंकाशील तार्किक हो गया था, यहाँ तक कि उसके अनवरत तर्क-वितर्क से चौंककर उसके सहपाठी उसे नास्तिक मानने लग गए थे।

श्रीरामकृष्ण के चरणों में

परन्तु सच तो यह था कि यह बेचैन युवक एक सच्चा जिज्ञासु था। वह परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैसा ही आतुर था, जैसा कि कोई वैज्ञानिक अपनी अभीष्ट वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने को उत्कंठित हो। उसका अधिकतर समय एकान्त साधना और चिन्तन में ही व्यतीत होता था। जब उसे और कहीं रोशनी न मिली, तो अपने अन्तःकरण में हिलोरें ले रही उत्कट जिज्ञासा के वशीभूत हो वह एक दिन राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्राह्म समाज के द्वार पर गया और उसके महान् कार्यकर्ता केशवचन्द्र सेन तथा महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर के सम्पर्क में आया! परन्तु वहाँ भी उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ा। कारण, किसी के भी विचारों को एकाएक मान लेने को यह युवक कदापि तैयार नहीं था।

अंत में एक दिन अनायास ही कलकत्ते के अपने एक मित्र के घर दक्षिणेश्वर के संत श्रीरामकृष्ण परमहंस के संपर्क में आने का मौका उसे मिला और यद्यपि वह इस पगले जैसे साधु की बातों एवं व्यवहार से विशेष प्रभावित नहीं हुआ, फिर भी न जाने कौन-से आकर्षण में बँधकर उसकी उत्कट जिज्ञासा उसे एक दिन दक्षिणेश्वर तक खींच ले गई, जहाँ श्री रामकृष्ण मानो उसकी अहर्निश राह देख रहे थे।

नरेन्द्र और रामकृष्ण का यह मिलन क्या था, मानो पूर्व और पश्चिम अथवा प्राचीन और आधुनिक काल का मिलन था! रामकृष्ण सरल सहज श्रद्धा की मूर्ति थे और नरेन्द्र था साक्षात् बुद्धिवाद की प्रतिमा। भला, दोनों में क्योंकर मेल बैठ सकता था? परन्तु नियति के विधानानुसार तो इसी तर्क-वादी को एक दिन दक्षिणेश्वर के उस अवधूत का उत्तरा-धिकार प्राप्त होना था! अतः धीरे-धीरे नरेन्द्र पर श्रीराम-कृष्ण का जादू पड़ने लगा और वह उनके अधिकाधिक निकट आता चला गया। उस महान् संत के सानिध्य से नरेन्द्रनाथ का शुष्क ज्ञान अंत में सरस बनकर धर्म की मधुर आस्था में परिणत हो गया। परमहंस के निष्काम प्रेम ने नरेन्द्र के शंका-शील हृदय पर विजय प्राप्त कर उसे अपना अपरिमित तेज और अन्तर्दृष्टि प्रदान कर दी, जिससे यह उद्भट युवक अंत में नरेन्द्रनाथ दत्त से 'स्वामी विवेकानंद' बन गया।

इन्हीं दिनों पिता की मृत्यु हो जाने से नरेन्द्र पर घोर आर्थिक संकट आ उपस्थित हुआ। उसने सोचा कि गुरुदेव सर्वसमर्थ हैं, अतः यदि भगवती से प्रार्थना करके मेरी सहायता कर देंगे, तो मेरे सम्पूर्ण संकट दूर हो जाएँगे। और सच ही रामकृष्ण शिष्य के लिए क्या नहीं कर सकते थे! परन्तु परीक्षा लेने के लिए उन्होंने नरेन्द्र से बार-बार कहा––"माँ की कृपा के बिना कुछ नहीं होगा। मैं कहता हूँ, आज रात मन्दिर में जाकर माँ से माँग! जो तू माँगेगा, माँ तुझे वही देंगी!" और नरेन्द्र काली की प्रतिमा के सम्मुख पहुँचा भी। पर वहाँ जाकर वह सब कुछ भूल गया। वह भक्ति में लीन होकर प्रार्थना करने लगा––"माँ, मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो! ताकि तुम्हारी कृपा से मैं सदा ही तुम्हें देख सकूँ!" इस प्रकार वह अपने लौकिक हित के लिए प्रार्थना करना तो भूल गया और उस जगद्धात्री के सम्मुख जाकर अपनी सुधबुध खो उसकी भक्ति में ही लीन हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिव्राजक के रूप में देश-भ्रमण

इस उद्‌भट शिष्य ने अपने महान् गुरु के चरणों में ६ वर्ष तक बैठकर धर्म के तत्त्व का जो ज्ञान प्राप्त किया था, उसे लोक में वितरित करने के हेतु श्रीरामकृष्ण के देहावसान के बाद वह गेरुआ धारण कर नरेन्द्रनाथ दत्त से विवेकानन्द बन गया। वह अपने सेवाधर्मी संन्यासी गुरुभाइयों को एक टोली के रूप में संघटित कर लोकसेवा के कँटीले पथ पर उतर पड़ा और इस सिलसिले में सबसे पहला कदम जो उसने उठाया, वह यह था कि हाथों में दंड धारण करके अकेले ही स्वदेश-दर्शन के लिए निकल पड़ा और सैकड़ों मील पैदल चलकर भारत के विभिन्न स्थलों की एक लंबी यात्रा उसने कर डाली। इस यात्रा के क्रम में उसने हिमालय से ठेठ कन्याकुमारी तक सारे देश को मानो अपने कदमों से नाप डाला। वह राजस्थान में अलवर राज्य के दीवान का अतिथि बना। वहाँ से आबू की पहाड़ियों में होते हुए खेतड़ी पहुँचा, जहाँ के महाराज उसके भक्त हो गए। यहाँ से वह जयपुर गया। यहीं वह सुप्रसिद्ध घटना घटी, जिसके परिणामस्वरूप पददलित नारी-वर्ग के प्रति उसके हृदय में अमित उदारता एवं सहानुभूति की भावना पैठ गई। घटना यह थी कि संध्या समय एक बैठक में महाराजा ने एक सुन्दर नर्तकी के नृत्य-संगीत-समारोह में सम्मिलित होने के लिए स्वामीजी से आग्रह किया। किन्तु स्वामीजी भला एक वेश्या के नृत्य-संगीत-समारोह में क्योंकर भाग लेने लगे ! वह रुष्ट होकर चल दिए। उनकी इस अवहेलना से नर्तकी की नारीसुलभ आत्मा कराह उठी ! उसने करुण कण्ठ से सूरदास का निम्न पद गाया—

"प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो,
समदर्शी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो।"

यह हृदयस्पर्शी विनती पास के कमरे में बैठे विवेकानंद के कानों में जब पड़ी, तो उनका हृदय द्रवित हो उठा ! स्वामी जी ने नर्तकी के सम्मुख जाकर उसके अपमान के लिए लज्जा प्रकट की। तब से नारी-जाति के प्रति उनके मन में सदैव उदार भावना बनी रही।

स्वामी विवेकानन्द।

अमेरिका में :: विश्व-धर्म-परिषद में शंखनाद

इन्हीं दिनों अपने मनोनीत कार्यक्रम को मूर्त रूप देने का एक निराला सुयोग इस तरुण संन्यासी के समक्ष अकस्मात् आ उपस्थित हुआ। वह कन्याकुमारी और रामेश्वरम् की यात्रा करके मदरास पहुँचा ही था कि उसने सुना कि संयुक्त राज्य (अमेरिका) के शिकागो नगर में एक विश्व-धर्म-सम्मेलन होने जा रहा है। इस समाचार से उसके मस्तिष्क में एक नई विचार-तरंग दौड़ गई ! उसने सोचा, क्यों न उक्त सम्मेलन में सम्मिलित होकर पश्चिम की दुनिया के लिए अपरिचित और अनजान बने हुए हिन्दू-धर्म के महान् सिद्धान्तों की सही-सही जानकारी कराई जाय और इस प्रकार अपने देश का गौरव बढ़ाया जाय ! इस संकल्प को कार्यान्वित करने के लिए कुछ मित्रों और भक्तों ने तत्काल ही आवश्यक आर्थिक प्रबंध भी कर दिया। इस प्रकार ३१ मई, १८९३ ई०, के दिन बम्बई से जापान होते हुए स्वामीजी अमेरिका पहुँचे और उक्त अनूठे धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हुए।

परन्तु यह कार्य बिल्कुल निष्कंटक रूप से संपन्न हो गया हो सो बात नहीं थी। वस्तुतः आरंभ में शिकागो पहुँचकर वह काफी परेशानी में पड़ गए थे। उनके पास इतनी रकम तो थी नहीं कि किसी होटल में उन्हें आश्रय मिल सकता ! सर्दी के दिन थे, रात्रि का अन्धकार बढ़ रहा था ! ठण्डक से बचने के लिए उनके पास पर्याप्त वस्त्र भी नहीं थे। अतः और कहीं आश्रय न पाकर उन्होंने सारी रात रेलवे-मालगोदाम के सामने पड़े हुए एक पैकिंग-बक्स में ही बिताई ! यही नहीं, उन्हें उक्त धर्म-सम्मेलन में शरीक होने के लिए प्रवेश-पत्र पाने में भी कठिनाई हुई। उक्त

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निराशा के घटाटोप में आखिर परमात्मा ने उनकी मदद के लिए हाथ बढ़ाया और एक सम्भ्रांत अमेरिकन महिला (मिसेज जार्ज डब्ल्यू हेल) ने आगे बढ़कर उन्हें न केवल अपने यहाँ आश्रय ही दिया, प्रत्युत उक्त धर्म-सम्मेलन में उनका प्रवेश कराने में भी भरपूर मदद की।

उक्त धर्म-परिषद् में स्वामीजी ने ज्योंही अपना व्याख्यान प्रारम्भ किया, उनके उदात्त स्वर से मंत्रमुग्ध हो समस्त श्रोतागण चतुर्दिक् करतल ध्वनि करने लगे ! उनके स्निग्ध, रससिक्त उद्घोष से सम्पूर्ण वातावरण आनन्द के सागर में मग्न हो गया। स्वामीजी ने अपनी कुछ मिनटों की उस छोटी-सी वक्तृता ही में अपने अगाध ज्ञान, विवेक और वाग्मिता का अपूर्व परिचय दिया ! उन्होंने उस छोटे-से भाषण में ही श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित सत्य को विश्व-धर्म के रूप में उपस्थित करके समस्त संसार को सत्य, समता, सहिष्णुता और प्रेम का संदेश दिया। इसके बाद तो अमेरिका में सर्वत्र उनकी धूम-सी मच गई और जगह-जगह से उन्हें भाषण देने के लिए निमंत्रण मिलने लगे ! उन्होंने संयुक्त राज्य के बड़े-बड़े नगरों में घूम-घूमकर अनेक वक्तृताएँ दीं और अंत में न्यूयॉर्क में कई दिनों तक टिककर वेदान्त की एक पाठशाला-सी वह चलाते रहे। स्वामीजी का भाषण सुनने के लिए अमेरिकन जनता उमड़ी पड़ती थी।

वापस स्वदेश में :: भाषणों का ताँता

अमेरिका से वापस स्वदेश लौटते समय स्वामीजी इंगलैंड भी गए। वहाँ भी उन्होंने वेदान्त पर कई एक प्रभावशाली भाषण दिए। यहाँ उनकी भेंट प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर से हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार ३ वर्ष का समय विदेशों में व्यतीत करके अंत में जब वह स्वदेश लौटे, तो स्वदेशवासियों ने अपना सारा हृदय उँडेलकर उनका स्वागत किया और उनका संदेश सुनने के लिए स्थान-स्थान में जनता उमड़ पड़ी !

अपने अगणित भाषणों, प्रवचनों, लेखों, पत्रों, संवादों आदि में व्यक्त ज्वाज्वल्यमान विचारों की जो अमित ज्ञान-राशि यह महापुरुष हमारे लिए छोड़ गया है, उसका संकलन दस जिल्दों में पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध है ! इससे उसकी वाणी की विशद परिधि का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है ! स्वामी विवेकानन्द की इन रचनाओं में निहित संदेश से आधुनिक भारत के छोटे-बड़े सभी जनों ने प्रेरणा पाई है और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, उनका मूल्य बढ़ता ही चला जाता है। ये रचनाएँ हमारी साहित्यनिधि का स्थायी अंग हैं।

स्वामीजी की वाणी वेदान्त की वाणी थी। उनके संदेश का निचोड़ उनके द्वारा उद्घोषित निम्न वाक्यों में पाया जा सकता है — "सच्चिन्तन के स्रोत में शरीर को बहा दो ! अपने मन में सर्वदा कहते रहो—'मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ।' तुम्हारे मन में दिन-रात यह बात संगीत की भाँति झंकृत होती रहे और मृत्यु के समय भी तुम्हारे अधरों पर 'सोऽहम् सोऽहम्' खेलता रहे ! यही सत्य है कि जगत् की अनन्त शक्ति तुम्हारे भीतर है। जो कुसंस्कार तुम्हारे मन को ढाँपे हुए हैं, उन्हें भगा दो ! साहसी बनो ! सत्य को जानो और उसे जीवन में परिणत करो। चरम लक्ष्य भले ही बहुत दूर हो, फिर भी उठो, जागो, उच्च ज्ञान का वर प्राप्त करो (उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत)।"

'रामकृष्ण-मिशन' का संगठन और इहलोक से प्रयाण

यह हमारे लिए दुर्भाग्य की बात थी कि यह तेजस्वी महा-पुरुष अल्पकाल तक ही इस लोक में रहा—वह चालीस वर्ष से भी कम आयु में शरीर त्यागकर परमधाम को सिधार गया ! अपने महान् गुरु द्वारा प्रवर्तित आदर्शों की भूमिका पर उन्हीं के नाम पर 'रामकृष्ण-मिशन' नामक जो महत्वपूर्ण सेवाधर्मी संस्था स्वामीजी ने स्थापित की थी, उसी के संगठन और विकास में उनके अंतिम कुछ वर्ष व्यतीत हुए। उनका देहावसान कलकत्ते के समीप इसी महान् संस्था के प्रधान केन्द्र 'बेलूर-मठ' में ४ जुलाई, १९०२, के दिन हुआ। स्वामीजी के देहान्त के बाद भी इस संस्था के विकास का क्रम निरन्तर जारी रहा, जिसके फलस्वरूप आज न केवल भारत में ही प्रत्युत संयुक्त राज्य (अमेरिका) और ग्रेट ब्रिटेन आदि विदेशों में भी उसकी अनेक शाखा-प्रशाखाओं का एक जाल-सा फैल गया है, जिसके अधीन कई एक अस्प-ताल, पुस्तकालय, प्रवचन-केन्द्र आदि चल रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का बौद्धिक रूप प्रस्तुत कर इस देश के सोते हुए आत्मगौरव और स्वाभिमान को मानो फिर से झकझोर दिया ! राजा राममोहनराय और महर्षि दयानन्द ने जिस सांस्कृतिक और धार्मिक आन्दोलन का सूत्र-पात किया था, विवेकानन्द के हाथों वह और भी विकसित हो उठा। परन्तु उनकी देन केवल धर्म या दर्शन के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी। वह इस देश को वास्तव में जीवन के हर क्षेत्र में समुन्नत देखने के लिए उत्कंठित थे। यदि यह कहा जाय कि लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी से पहले के युग के हमारे सब से बड़े जननायक वही थे, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात नहीं होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'सत्यं-शिवं-सुंदरम्' के महान् उद्गाता :: विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यदि यह पूछा जाय कि महात्मा गांधी के अलावा आधुनिक भारत का वह दूसरा महापुरुष कौन है, जिसकी यशोगाथा संसार के कोने-कोने तक पहुँच चुकी है, तो निश्चय ही हर कोई तुरंत ही गुरुदेव श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर का ही नाम लेते दिखाई देगा ! कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ न केवल आधुनिक भारत के ही महान् सपूत थे, प्रत्युत वह सच्चे अर्थ में एक विश्व-नागरिक थे। यहाँ उनकी एक संक्षिप्त जीवन-प्रशस्ति प्रस्तुत की जा रही है ।

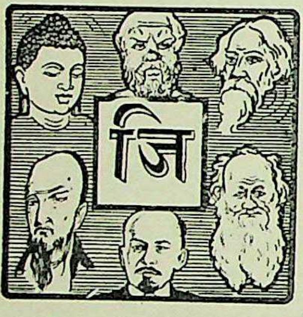

जिन दिनों पाश्चात्य सभ्यता की आँधी तीव्रता के साथ भारतभूमि को झकझोरने लगी थी और उसके वेग से चौंधियाकर देश का शिक्षित समाज आँखें मूँद पश्चिम की हर बात का अंधानुकरण कर रहा था, मध्यकाल और आधुनिक युग की उस संधिवेला में राजा राममोहनराय एवं श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसी विभूतियों ने इस भ्रमपूर्ण अन्धकार को विनष्ट करके देश को एक नवीन आलोकमय मार्ग की ज्योति दिखाई थी। फलतः सम्पूर्ण देश एक नवचेतना के उद्घोष से सजग हो उठा था। इसी संधिकाल में बंगाल के एक प्रतिष्ठित परिवार में रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ था। इस परिवार पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही की असीम कृपा थी। रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर बंगाल के एक महान् विद्वान् और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनका अधिकांश समय एकान्त साधना, स्वाध्याय और लेखन-पठन में ही व्यतीत होता था। महर्षि ब्राह्म समाज के नेता थे। रवीन्द्रनाथ उनके सब से छोटे पुत्र थे। उनका जन्म ७ मई, १८६१ ई०, को कलकत्ते के जोड़ासाँको नामक मोहल्ले में स्थित अपने पुराने पैतृक आवासस्थान में हुआ था।

माँ की अस्वस्थता और पिता के बाहरी कार्यों में व्यस्त रहने के कारण बालक रवीन्द्र का लालन-पालन प्रायः नौकरों के निरीक्षण में हुआ। नौकर उन्हें घर से बाहर नहीं जाने देते थे। अतः अपने मकान की दीवारों की परिधि में उनका कल्पनाशील मन एक प्रकार से बन्दी बना रहता था। बाह्य संसार की जो कुछ भी झलक उन्हें उपलब्ध होती, उसका लाभ वह अपने कमरे की खिड़की से लिया करते थे। वह प्रति दिन उषा की स्वर्णिम किरण, पक्षियों के कलरव, पुष्पों की मुसकान एवं आम और आँवले के वृक्षों के पत्तों का पवन के झोकों में झूमना देखकर आत्म-विभोर हो जाते थे। उनकी मुक्ताभिलाषी आत्मा बाल्य जीवन के उन कठोर बन्धनों से विकल हो उठती और शिक्षकों तथा नौकरों का हृदयहीन व्यवहार उन्हें प्रायः क्षुब्ध कर दिया करता था। पाठशाला का बन्दी वातावरण उन्हें अच्छा नहीं लगता था। पुस्तकों की रूखी शिक्षा उनके मन को लुभाने में असमर्थ थी। वह प्रायः पाठशाला न जाने के बहाने सोचा करते और रात्रि में जब घर पर शिक्षा देने को अध्यापक आते, तो पुस्तक खोलते ही इन्हें जम्हाई आने लगती तथा आँखों में नींद उतर आती थी! अध्यापक ताने देते कि अपने कुल में यही लड़का सबसे गावदी होगा! उन बेचारे को भला क्या पता था कि यही बालक आगे चलकर न केवल बँगला भाषा का महान् साहित्यकार, बल्कि इस युग का ख्यातिप्राप्त विश्वकवि होगा!

रवीन्द्रनाथ पर पिता का अगाध स्नेह था। एक बार जब वह हिमालय की यात्रा पर गए, तो किशोर रवीन्द्र को भी अपने साथ लिवा ले गए। इस यात्रा में मुक्त आकाश में मस्तक उठाए हुए हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों, हरे-भरे वृक्षों तथा निर्झरों के कलकल नाद से मुखरित उपत्यकाओं में निखरे पुष्पों की छवि ने बालक रवीन्द्र के कवि-हृदय को हर लिया।

किशोर रवीन्द्र की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही खानगी अध्यापकों के तत्त्वावधान में हुई। उन्होंने विविध कलाओं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तथा बंगला एवं अंग्रेजी भाषा का अध्ययन इसी प्रकार स्वतंत्र रूप से किया। उनके घर में साहित्य, संगीत और कला तीनों ही की त्रिवेणी प्रवाहित होती थी। रवीन्द्रनाथ ने संगीत की माधुरी से अपनी जीवन-वीणा को सस्वर बनाया और भाव-भरे गीत गाना शुरू किया। वह सात वर्ष की अल्पायु में ही गीत-रचना करने लगे थे! इसे देखकर उनके घरवाले बड़े प्रसन्न हुए। १८७८ ई० में १७ वर्ष की आयु में वह विशेष अध्ययन के लिए इंगलैंड भेज दिए गए। वहाँ उन्होंने अंग्रेजी भाषा और साहित्य का विशेष ज्ञान प्राप्त किया। टकसाली शिक्षा से बचे रहने के कारण वह संकुचित मनोवृत्ति से सदैव ही मुक्त बने रहे और उनकी साहित्यिक रचनाओं एवं कविताओं में मानवता, विश्वबन्धुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव अपनी पूर्ण आभा के साथ विकसित हुए।

साहित्य-साधना के प्रथम अंकुर

इंगलैण्ड से लौटने के पश्चात् वह पूर्णतया साहित्य-साधना में ही लीन हो गए। उनकी कुछ कविताएँ पहलेपहल 'ज्ञानांकुर' और 'भारती' नामक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। इन आरंभिक कविताओं में मार्मिक सौन्दर्यानुभूति और यौवन की मादकता की अनूठी भावपूर्ण तरंग छलकती है। इन्हीं दिनों पिता ने उन्हें गंगा के सुरम्य तट पर जमींदारी का कार्यभार सँभालने की आज्ञा दी। उक्त ग्राम्य वातावरण में प्रकृति का सान्निध्य पाकर रवीन्द्रनाथ का कवित्व और भी वेगमान हो उठा। यहाँ उन्होंने न केवल प्रकृति का ही विस्तृत अध्ययन किया, प्रत्युत भारतीय ग्राम्य जीवन को निकट से देखने का भी अपूर्व लाभ उन्हें प्राप्त हो सका। शीघ्र ही उनकी काव्य-प्रतिभा अपना प्रकाश चतुर्दिक बिखेरने लगी। इन दिनों 'साधना' नामक एक पत्रिका में वह धारा-प्रवाह लिख रहे थे। तब 'सांध्य संगीत' के नाम से उनका पहला काव्य-संग्रह निकला। इस कृति के प्रकाशन के साथ ही कवि की प्रतिभा के प्रति सबका ध्यान खिंच गया। इन कविताओं में जिस आन्तरिक अनुभूति, रहस्यमयता और सौन्दर्य का दर्शन हुआ, वह बंगला-साहित्य के लिए एक सर्वथा नई चीज थी। बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ और उनकी पत्नी रवीन्द्र को निरंतर उत्साहित करते और उनके गीतों का शोधन भी करते थे। शीघ्र ही रवीन्द्र की लेखनी नूतन एवं पुरातन की प्राचीरों को तोड़कर एक नव आध्यात्मिक चेतना और लोक कल्याणकारी गीतों का सर्जन करने लगी। उनकी रचनाओं में यौवन का उल्लास संयम की परिधि में उफनता--सा दिखाई पड़ने लगा। २२ वर्ष की अवस्था में साध्वी मृणालिनी देवी से विवाह हो जाने पर कवि के जीवन में एक नवीन रसधारा बहने लगी। उनका कोमल हृदय प्रेम की शीतल छाया पाकर और भी मृदुल हो उठा। साध्वी मृणालिनी ने रवीन्द्र के जीवन में सरसता भर दी। इस समय की उनकी अधिकतर कविताएँ प्रेम-रससिक्त हैं।

इस समय बंगला के साहित्याकाश में बंकिमचन्द्र का बोल-बाला था। उनकी दिव्य प्रतिभा और लेखनकला-कुशलता की ओर युवक रवीन्द्र का आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। बंकिम के गुणों को आत्मसात कर रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा और भी प्रभापूर्ण हो गई। इन्हीं दिनों 'प्रभात-संगीत' नामक उनका एक और काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। साहित्यिकों ने इस रचना का अपूर्व स्वागत किया। इसके बाद तो रवीन्द्रनाथ की कविताओं, कहानियों, नाटकों, निबंधों आदि से बंगला का साहित्य-सरोवर आप्लावित हो चला। इसी बीच उनके अन्तराल में बाह्याडम्बरों और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह का बीज भी अंकुरित हो चुका था। अतः उन्होंने समाज के सम्मुख एक क्रान्तिकारी सुधारक के रूप में अपना स्वर उद्घोषित करना शुरू किया। धर्म और समाज के प्रति सुधार का यह भाव उन्हें पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ की ब्राह्मसमाजी विचारधारा के फलस्वरूप उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था।

विश्व-भारती की स्थापना

१९०१ ई० का वर्ष रवीन्द्रनाथ के जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण है। कारण इसी वर्ष उन्होंने 'बंगदर्शन' के सम्पादन का कार्य-भार सँभालकर बंगला के साहित्य-गगन में नवचेतना की बिजली कौंधा दी। उनके संस्पर्श से यह पत्रिका सजीव हो उठी। इस वर्ष का उनका दूसरा महत्वपूर्ण कार्य था बोलपुर में उस ब्रह्मचर्य-आश्रम की नींव डालना, जो कि कालान्तर में 'विश्व-भारती' के नाम से उनका महास्मारक बन गया। जिस स्थान में यह आश्रम स्थापित हुआ, वह महर्षि देवेन्द्रनाथ को अति प्रिय था। वह यहाँ आकर प्रायः एकान्तवास तथा चिन्तन किया करते थे। किशोरावस्था में रवीन्द्रनाथ भी उनके साथ प्रायः यहाँ आया करते थे। रवीन्द्रनाथ को जीवन-सरिता का प्रवाह संयम के कूलों में ही भाता था। वह संयम को ही आनन्द का मूल मानते थे। यह भाव उनके साहित्य में सर्वत्र प्राण-रूप में विद्यमान है। कवि के कल्पनाशील हृदय ने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुकूल और पश्चिमी भौतिकवाद से वंचित एक आश्रम स्थापित करने की मधुर कल्पना बहुत पहले ही अपने मन में बसा ली थी,

jो समय पाकर साकार हुई। भारतीय आदर्शों के अनुकूल ढाली गई 'विश्व-भारती' के नाम से प्रसिद्ध यह शिक्षण-संस्था कालान्तर में कवि के सपनों की एक महान् संस्था बन गई। आज उसे एक विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा प्राप्त है। साहित्य, संगीत और कला के संगमस्थल जैसी इस संस्था का वातावरण आज विश्व-मैत्री की भावना से ओतप्रोत है। यहाँ आम्रकुञ्जों की शीतल छाया तथा फूस की झोपड़ियों में कलाओं का जो सर्वांगीण शिक्षण-कार्य होता है, वह कवि के भावलोक की रचनात्मक अभिव्यक्ति जैसा है।

पारिवारिक आघात और नई दिशाएँ

जिन दिनों कवि की काव्य-धारा अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हो रही थी, तभी उनकी साधना के दीप को दुर्भाग्य के झंझावात का एक क्रूर धक्का लगा! उनकी जीवनसंगिनी मृणालिनी देवी का देहावसान हो गया, जिससे उन्हें मर्मान्तक पीड़ा हुई और उनका हृदय टूक-टूक हो गया! पर इससे उनके साहित्य-सर्जन का ताँता नहीं टूट पाया। माँ के विछोह से संतप्त अपने छोटे-छोटे बच्चों के लिए रवीन्द्रनाथ ने इन्हीं दिनों 'कथा और कहानी' नामक एक अनूठी पुस्तक रची, जिसमें उन्होंने अनेक छोटी-छोटी कथाओं को कविता में प्रस्तुत किया है। कवि इन काव्य-कहानियों को गा-गाकर अपने बच्चों को सुनाया करते और मातृस्नेह से वंचित उनके अबोध मन को सान्त्वना देते थे। पत्नी के वियोग में स्वयं उनकी अपनी मर्म-व्यथा 'स्मरण' नामक रचना में संकलित है। इस कृति में उनके भावों की करुण विकलता का कुछ अनुमान निम्न हृदयस्पर्शी शब्दों से लगाया जा सकता है :—

"तुमने मेरे जीवन में मृत्यु की मधुरता घोल दी !
चिरविरह की आभा से तुमने मेरे हृदय को रँग दिया !"

यद्यपि कवि का हृदय पत्नी के चिरवियोग के फलस्वरूप वेदना के सागर में डूब गया था, तथापि वह निरालम्ब और हतप्रभ नहीं हुआ था। वह निरंतर सजग, चेतन और जागृत रहा। परन्तु इसी बीच जब उनकी छोटी पुत्री भी कालकवलित हो गई, तो वह तिलमिला गए! उधर १९०५ ई० में उनके पिता का भी स्वर्गवास हो गया! और तदनंतर बड़े पुत्र का भी असामयिक निधन हो गया। इस प्रकार एक के बाद एक वज्रपात होने से कवि को ऐसा आभास होने लगा मानो उनके पास कुछ भी न रहा—सब कुछ खो गया और वह निरीह हो गए! इस समय की उनकी मर्मान्तक पीड़ाएँ उनकी "खेया" नामक कृति में फूट पड़ी हैं। पर रवीन्द्रनाथ की दृष्टि को ये भूकंप अपने ध्रुव-बिन्दु से विचलित करने में समर्थ नहीं हो सके। कवीन्द्र परमात्मा पर सारा भार छोड़कर निश्चिन्त हो गए और १९०५ ई० में बंग-भंग के आंदोलन के समय उन्होंने देश-भक्ति से ओतप्रोत गीत गाते हुए देश की जनता को राष्ट्रीयता के मंत्र से अभिमंत्रित करना शुरू किया। उनका उच्च स्वर शीघ्र ही सम्पूर्ण देश में छा गया। परन्तु स्वभाव से कवि एवं दार्शनिक होने के कारण वह सक्रिय राजनीति में कभी भी सम्मिलित नहीं हो सके। वह राष्ट्रीय हलचलों के साथ रहते हुए भी सदैव जल में कमल के समान निर्लिप्त बने रहे, यद्यपि राष्ट्रभक्ति में वह किसी से भी पीछे नहीं थे। गांधीजी तो उन्हें राष्ट्र का पहरेदार कहते थे!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विदेशों में ख्याति और नोबुल-पुरस्कार द्वारा सम्मान

यद्यपि कवि मुख्यतः बंगला भाषा में ही लिखते थे, तथापि अंग्रेजी पर भी उनका पर्याप्त अधिकार था। उन्होंने अंग्रेजी में भी कई एक कविताएँ, कहानियाँ, आदि लिखी थीं। उनके प्रकाशन से विदेशों में भी लोग कवीन्द्र की साहित्यिक प्रतिभा से अवगत हुए। उनकी इंगलैंड और अमेरिका में बहुत प्रशंसा हुई। उनके काव्य में न केवल राष्ट्रीयता और प्राचीन संस्कृति का ही स्वर भरा हुआ था, प्रत्युत उसमें विश्व-भावना से अभिसिंचित श्रेष्ठ अध्यात्मवाद एवं दार्शनिकता का सौंदर्य झलकता था। बंगीय साहित्य-परिषद ने कवि की ५० वीं वर्षगाँठ मनाकर उन्हें उचित सम्मान प्रदान किया। इस अवसर पर बंकिम बाबू ने कवि के सम्बन्ध में कहा था—"यह साहित्य के अन्तरिक्ष का उदित होता हुआ सितारा है!" १९१३ ई० में महाकवि को उनकी 'गीतांजलि' नामक काव्य-रचना पर नोबुल-पुरस्कार प्राप्त हुआ। यह कृति उनका सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ माना गया!

कवि के इस अंतर्राष्ट्रीय सम्मान से विश्व के सम्मुख भारत का मस्तक उन्नत हुआ और समस्त संसार रवीन्द्रनाथ से परिचित हो गया। दिन-प्रति-दिन विभिन्न देशों की साहित्यिक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों से कवि को निमंत्रण मिलने लगे। फलतः आगामी वर्षों में रवीन्द्रनाथ ने अनेक देशों की यात्रा की। वहाँ जाने पर उनका राजकीय सम्मान हुआ। अमेरिका में दिए गए उनके व्याख्यानों का 'साधना' के नाम से एक संग्रह प्रकाशित हुआ। अनेक विश्वविद्यालयों ने सम्मानपूर्वक उन्हें डॉक्टर की उपाधि दी। ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय ने तो अपने विशेष प्रतिनिधि को शान्ति-निकेतन भेजकर 'डॉक्टर ऑफ लिटरेचर' की उपाधि कविवर को समर्पित की!

कवींद्र की प्रतिभा काव्य के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी, उन्होंने कहानी और उपन्यास लिखकर कई अमूल्य भेंटें दी थीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके 'नष्ट नीड़', 'नौका डूबी' और 'बऊ ठकुरानी की हाट' जैसे उपन्यासों में मानवीय आन्तरिक भावों की उच्च भूमिका तथा बंगाल की सामाजिक संस्कृति के मनोहारी चित्रपट के दर्शन होते हैं। 'गोरा' उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, जिसमें उनका आध्यात्मिक चिन्तन मानो सौन्दर्य की भूषा पहनकर आ उपस्थित हुआ है! इस कृति में उनकी जादूभरी लेखनी का कौशल निखर-सा पड़ा है। 'राजर्षि', 'बाँसुरी', 'घरे बाहिरे' 'योगायोग', 'शेषेर कविता' आदि उनके अन्य श्रेष्ठ उपन्यास हैं, जिनसे बंगला-साहित्य धनी हुआ है। उनकी कहानियाँ जीवन की सजीव झाँकी उपस्थित करती हैं। इनमें 'काबुलीवाला' तथा 'पोस्टमास्टर' तो विश्वख्यातिप्राप्त रचनाएँ हैं। उनके नाटक भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं, वे भारत के प्राचीन गौरवमय इतिहास तथा संस्कृति को कविवर की वाणी में उपस्थित करते हैं। सच तो यह है कि उनकी लोकमंगलकारी रचनाएँ भारत ही नहीं अपितु संसार के साहित्य की अमूल्य प्रेरणादायी निधि का स्थायी अंग बन गई हैं।

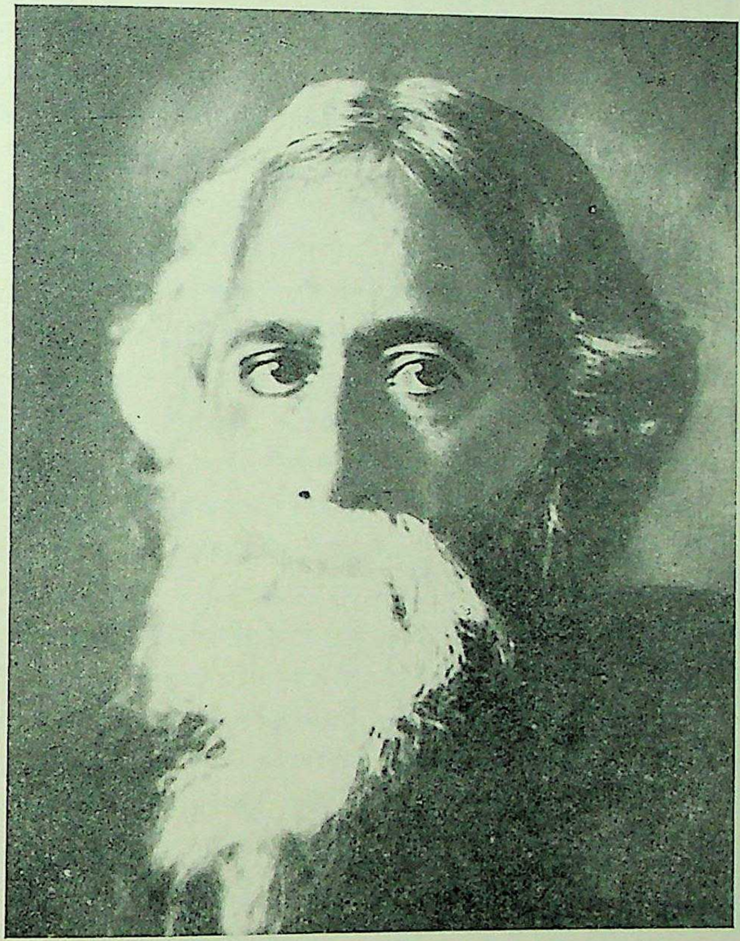

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

कलाकार रवीन्द्रनाथ बचपन से ही भ्रमणशील प्रवृत्ति के थे। उन्हें एकान्त साधना प्रिय थी, तथापि वह जग के कोलाहल के रस से भी अपने को वंचित रखना नहीं चाहते थे। उन्होंने दुनिया के विभिन्न देशों--इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली, जर्मनी, नार्वे, बालकन देश, ग्रीस, चीन, जापान, ईरान, मिस्र, मलाया, सीलोन, जावा, बाली, कनाडा आदि की यात्रा की और इन देशों को अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा मानवतावाद का सन्देश सुनाया। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को बन्धुता एवं प्रेम का उपदेश दिया, साथ ही पश्चिम की भौतिकतावादी प्रवृत्तियों के चमकते पर्दे के पीछे महानाश की संभावना का अनुभव करते हुए दुनिया को उस खतरे से सचेत किया। उन्होंने मानव-धर्म को अपने साहित्य में सँजोकर दुनिया के कोने-कोने में उसे विकीर्ण कर दिया। १९१५ ई० में शान्ति-निकेतन में गांधीजी और गुरुदेव का अपूर्व सम्मिलन हुआ था। गांधीजी युगपुरुष थे और रवीन्द्रनाथ विश्वकवि। यदि एक ने कर्म को प्रधानता दी थी, तो दूसरे ने कला को। दोनों महान् विभूतियाँ एक ही युग में एक साथ अपनी-अपनी पृथक् साधनाओं में रत रहीं। पर दोनों में परस्पर अपार स्नेह था। दोनों का उद्देश्य था देश की उन्नति तथा स्वाधीनता। गुरुदेव समय-समय पर गांधीजी का विरोध करते हुए भी नहीं हिचकते थे। पं० नेहरू ने दोनों महापुरुषों की तुलना निम्न मार्मिक ढंग से की है--"अमीर कलाकार होते हुए भी गरीबों के प्रति हमदर्दी होने के फलस्वरूप प्रजावादी बने हुए टैगोर तत्त्वतः भारत की सांस्कृतिक परम्परा और जीवन के प्रत्येक व्यवहार में रस लेने तथा जीवन का आनन्द भोगते-भोगते आयु व्यतीत करने की परम्परा के द्योतक थे! उधर गांधीजी, जो अधिक मात्रा में भारत की प्रजा के तथा लगभग भारत के किसान के मूर्त रूप बन गए थे, भारत की दूसरी प्राचीन परम्परा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अर्थात् त्याग, तप और संयम की परम्परा के प्रतिनिधि थे। ऐसा होते हुए भी टैगोर मुख्यतः विचारक थे और गांधीजी एक पक्के कर्मयोगी तथा प्रवृत्तिपरायण पुरुष। दोनों अलग-अलग ढंग से विश्वव्यापी दृष्टिवाले थे और ऐसा होते हुए भी दोनों पूरे-पूरे भारतीय थे।" परन्तु विश्व-नागरिक होते हुए भी रवीन्द्रनाथ के जीवन के कण-कण में राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की लौ समाई हुई थी। पंजाब के मार्शल-लॉ के दिनों में देशभक्तों पर अंग्रेजी सरकार के अत्याचारों को देखकर कविवर को दारुण दुःख हुआ था और उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त 'सर' की उपाधि वापस कर दी थी! १९३२ ई० के कुख्यात 'साम्प्रदायिक निर्णय' के विरुद्ध जब महात्मा गांधी ने जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ किया था, तब भी कविवर को बड़ा आत्मक्लेश हुआ था और उन्होंने विरोध व्यक्त करने के लिए ब्रिटिश प्रधान मंत्री को कड़ा तार दिया था और स्वयं पूना पहुँचकर गांधीजी की सुश्रूषा में लग गए थे। समझौता होने पर जब गांधीजी ने उपवास तोड़ा था, उस समय गुरुदेव ने स्वकण्ठ से एक आशाभरा गीत गाकर वातावरण में मृदुता भर दी थी! परन्तु राष्ट्रीय आंदोलन के पूर्ण समर्थक होने और गांधीजी के अनन्य आत्मीय होने पर भी, रवीन्द्रनाथ गांधीजी के चर्खा-आन्दोलन और सत्याग्रह-आंदोलन के अंग नहीं बन सके थे।

रवीन्द्रनाथ की चित्रकला

रवीन्द्रनाथ की सम्पूर्ण जिन्दगी कला की अमर साधना थी। साहित्य एवं संगीत की साधना तो उन्होंने बचपन से ही प्रारंभ कर दी थी और उसे एक उच्च स्तर तक पहुँचाया था। तदनंतर ६७ वर्ष की आयु में उनका ध्यान चित्रकला की ओर गया! इस संबंध में उन्होंने स्वयं लिखा है--"अब तक मैं अपनी भावनाओं को साहित्य तथा संगीत में व्यक्त करने का अभ्यस्त रहा हूँ, पर आत्माभिव्यक्ति के ये तरीके अपूर्ण ही रहे। अतः मैं भावनाओं के प्रकटीकरण के लिए चित्रित रेखाओं का सहारा लेने की दिशा में बढ़ रहा हूँ!" जीवन के अन्तिम समय तक उन्होंने लगभग २,००० चित्र बनाए। इन चित्रों की आत्मा के सम्बन्ध में वह कहते थे--"उस अन्तरवासी 'एक' की वेदना कहती है, मुझे बाहर प्रकाशित करो--रूप में, रंग में, सुर में, वाणी में, नृत्य में! तुम में से जो जैसे कर सकता है वैसे ही मेरी अव्यक्त व्यथा को व्यक्त कर दो!" १९३१ और १९३२ में कलकत्ते में दो बार उनके चित्रों की प्रदर्शनी हुई। उनकी यह चित्रकला यद्यपि स्वदेश के पारखियों के आकर्षण का केन्द्र नहीं बन पाई, किंतु योरप के कला-विशारदों ने इन चित्रों की प्रशंसा की और उन्हें एक सच्चे कलाकार के रूप में स्वीकार किया गया! इस प्रकार काव्य और संगीत की भाँति अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर चित्रकला में भी एक नवीन भावात्मक शैली की प्रतिष्ठा करके रवीन्द्रनाथ ने सबको चकित-थकित कर दिया!

सन्तप्त मानव-जाति की आत्मा को आनन्दित करना ही उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य था। वह सदैव पीड़ितों का पक्ष लेते थे। उन्हें अत्याचार असह्य था। प्रेम के सानिध्य में उन्होंने आनन्द से नृत्य किया और आराध्य तक जाने का गूढ़ मार्ग खोज निकाला। परन्तु आजीवन साहित्य-साधना में रत रहकर भी वह नख से शिख तक धर्म-लीन बने रहे। उनका पथ प्रेम का पथ था। उन्हें सर्वत्र प्रभु की कृपा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई देता था। समर्पण में उनका अडिग विश्वास था, उसे ही वह समग्र जीवन की प्रगति एवं विकास का मूल मानते थे। उन्होंने कहा है--"मैं जब तुझे जानता हूँ, तब मेरे लिए कोई पराया नहीं रह जाता है! तब एक भी द्वार बन्द नहीं रहता! हे प्रभो! मेरी इतनी प्रार्थना स्वीकार करना कि मैं असंख्य की क्रीड़ा में एक के स्पर्श के परम सुख को कभी न खोऊँ।"

यद्यपि रवीन्द्रनाथ को सौंदर्य की उपासना सब से प्रिय थी, तथापि सौन्दर्य का वासनामय रूप कभी भी उनके आकर्षण का केन्द्र नहीं बन सका। उनका सम्पूर्ण साहित्य 'परम सुन्दर' की आराधना ही की विराट चेष्टा है। उन्होंने एक स्थल पर कहा है--"सत्य की यथार्थ प्राप्ति आनन्द है और वही चरम सौन्दर्य भी है।" उनके सौन्दर्य की चेतना सूक्ष्म थी--वह हृदय के अन्तर को स्पर्श करती थी और अभ्यंतर में रसमय होकर आत्मस्थित हो जाती थी। अपने इस आदर्श को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है--"मनुष्य जब स्वार्थ या भोगेच्छा की प्रवृत्तियों से सर्वथा वीतराग, सर्वथा निरपेक्ष होकर वस्तुओं को देखता है, तभी वह सौन्दर्य का सच्चा रूप देख सकता है।"

रवीन्द्रनाथ जीवन के अन्तिम क्षण तक चिर साहित्य-साधना में ही अहर्निश रत रहे। जीवन के जिस सत्य को उन्होंने आत्मसात किया था, उसे कला के माध्यम से प्रकट करने के लिए वह अथक परिश्रम करते रहे। १९४० ई० में गांधीजी ने उनके बिगड़ते हुए स्वास्थ्य की दशा में कार्यरत रहते देखकर उन्हें विश्राम करने के लिए अनुरोध किया था। परन्तु अपनी उस रुग्णावस्था की मार्मिक पीड़ा में भी वह सदैव मुस्कराते रहे। अंत में यह महान् गीतगायक ७ अगस्त, १९४१ ई०, को ८१ वर्ष की अवस्था में इस लोक से सदा के लिए विदा हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन के महान् सूत्रधार :: लोकमान्य तिलक

किसी ने ठीक ही कहा है कि लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को स्वयं १८८० ई० का भारत मिला था और उन्होंने हमें भेंट में १९१९ ई० का भारत दिया ! इस प्रकार इस देश के लगभग अर्द्ध-शताब्दी के इतिहास के प्रधान शिल्पी के रूप में जिस महापुरुष का नाम लिया जाता हो, उसकी महिमा का बखान कोई क्या करे ? उनके गौरव का किंचित अनुमान केवल इसी बात से हम कर सकते हैं कि अपने तिरोधान के लगभग ४४ वर्ष बाद भी वह इस देश के हृदय में आज ज्यों-के-त्यों विराजमान हैं और गांधीजी को छोड़कर वही हमारे आधुनिक राष्ट्र-निर्माताओं में सब से अधिक सम्माननीय और पूज्य हैं !

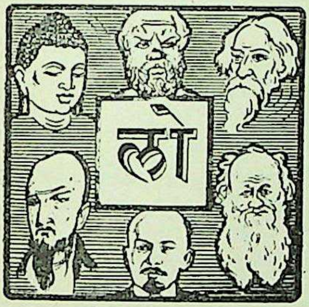

कमान्य बाल गंगाधर तिलक महात्मा गांधी से पूर्व के युग के राष्ट्रीय चेतना के हमारे सब से महान् सूत्रधार थे। जनता के जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में 'स्वराज्य' के विचार को उद्घोषित करनेवाले सर्वप्रथम जननायक लोकमान्य ही थे। वह अपने जमाने के देश के बेताज बादशाह थे। उन्होंने अपने प्रेरणा-मंत्रों से न केवल देश को जागृत ही किया था, प्रत्युत हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम का उद्घाटन करके वर्षों उसका सूत्र-संचालन भी किया था। अपने जमाने में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक संपूर्ण देश में उनकी अद्वितीय प्रतिष्ठा थी। वह देश की जनता के हृदयहार थे। वह जितने बड़े विद्वान् और तत्त्वज्ञानी थे, उतने ही बड़े लोकनेता एवं राजनीतिज्ञ भी थे। उनकी प्रखर राजनीतिक प्रतिभा एवं तात्कालिक सूझ-बूझ के सम्मुख विदेशी कूटनीतिज्ञों के छक्के छूट जाते थे। उनकी साहसभरी दहाड़ के सम्मुख ब्रिटिश साम्राज्यशाही का सिंहासन प्रायः डगमगा उठता था। यह लोकमान्य का ही बूता था कि उन्होंने जो सत्य बात थी, उसे निर्भीक स्वर में उद्घोषित किया। यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उन दिनों 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर ही रहेंगे' यह आवाज उठाना कोई हँसी-ठट्ठा न था। जिस समय तिलक का जन्म हुआ था, भारत में ब्रिटिश राज्य का सूर्य अपनी पूर्ण प्रभा से चमक रहा था। उन दिनों देश-हित में खुलकर विचार प्रकट करना भी देशद्रोह था ! आज यदि हम स्वतंत्र हैं, तो इस स्वतंत्रता के मंत्रदृष्टा तिलक ही थे। अपने त्यागमय जीवन के बल पर जिस वृक्ष का उन्होंने बीजारोपण किया था, वही वट आज स्वाधीन भारत के रूप में खड़ा है। वस्तुतः यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि यह महापुरुष देश की स्वतंत्रता के लिए ही जिया और उसी के लिए मरा।

जीवन की आरंभिक पृष्ठभूमि

इस महान् राष्ट्र-सेवक का जन्म २३ जुलाई, १८५६ ई०, को महाराष्ट्र के कोंकण प्रान्त के रत्नागिरि नामक स्थान में हुआ था। लोकमान्य के पिता गंगाधर राव गणित, संस्कृत और व्याकरण के महान् विद्वान् थे। वह शिक्षक का कार्य करते थे। वह जन्मजात स्वाभिमानी और निर्भीक एवं विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। बलवंत राव तिलक पर अपने पिता के स्वभाव, धार्मिक विचार, आचरण आदि का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। छात्र-जीवन में ही उनकी साहसिक प्रवृत्ति, कुशाग्र बुद्धि, जन्मजात तेजस्विता तथा दृढ़ निश्चयात्मक वृत्ति के चिन्ह परिलक्षित होने लगे थे। उनके अन्दर असाधारण निर्भीकता और प्रचण्ड इच्छाशक्ति विद्यमान थी। वह

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

असत्य के सम्मुख सिर झुकाने को कभी भी राजी नहीं हो सकते थे। इसी से उनके सभी सहपाठी और मित्र उनके व्यक्तित्व और प्रतिभा का लोहा मानते और सहज ही उनका सम्मान करते थे। परन्तु सिंह की-सी इस निर्भीक वृत्ति से अभिभूत होते हुए भी लोकमान्य पाषाण जैसे निर्मम नहीं थे। उनके अन्दर दया का अथाह सागर लहराता था; वह मनुष्यता और त्याग की सजीव मूर्ति थे। दूसरे के दुःखों को देखकर वे विचलित हो जाते थे और उसके शमन के लिए स्वयं कष्ट सहने को सदैव तत्पर रहते थे। इन्हीं गुणों ने उन्हें भारत का 'तिलक' बनाया था।

तिलक का विवाह १५ वर्ष की अल्पायु में ही हो गया था। जिस समय वह कॉलेज के विद्यार्थी थे, तभी उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। इसके पूर्व माँ का भी देहान्त हो चुका था। माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर तिलक संसार में निःसम्बल जैसे हो गए थे। फिर भी वह अधीर नहीं हुए थे। उन्होंने उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर पूना के डेकन कॉलेज से प्रथम श्रेणी में ऑनर्स के साथ बी० ए० की उपाधि ग्रहण की। तदनन्तर कानून की परीक्षा उत्तीर्ण कर वह समाज-सेवा के क्षेत्र में उतर पड़े। अपने विद्यार्थी-जीवन में ही वह देश की दुर्दशा से दुःखी रहते थे और मातृभूमि के उत्थान एवं बन्धन-मुक्ति के लिए जीवन समर्पित करने का संकल्प कर चुके थे।

सार्वजनिक क्षेत्र में

जिस समय तिलक कर्मक्षेत्र में उतरे थे, देश में उन दिनों एक अजीब वातावरण छाया हुआ था। पश्चिमी शिक्षा व संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का ह्रास हो रहा था। तिलक इस बढ़ते हुए खतरे से चिन्तित हुए। देश के पतन का मुख्य कारण उन्होंने पराधीनता और उसके फलस्वरूप उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना के अभाव तथा शिक्षा की दुर्व्यवस्था को ही समझा। इस दिशा में सक्रिय कदम उठाने का निश्चय करके सब से पहले उन्होंने अपने कुछ सहयोगियों को साथ लेकर राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने और शिक्षा में आमूल परिवर्तन करने के विचार से एक विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय में प्रारम्भ में केवल १९ ही विद्यार्थी थे, किन्तु बाद में उनकी संख्या बढ़कर १,९०० हो गई! कालांतर में यह संस्था महाराष्ट्र में राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र बन गई। तदनंतर नवीन पीढ़ी के लोगों में जागरण का मंत्र फूँकने के हेतु उन्होंने 'केसरी' और 'मराठा' नामक दो समाचारपत्र निकालने की योजना बनाई। 'केसरी' मराठी में और 'मराठा' अंग्रेजी में निकलता था। इन पत्रों के द्वारा न केवल राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र में ही जागृति का सर्जन हुआ, बल्कि समाज-सुधार के क्षेत्र में भी पर्याप्त कार्य किया गया। उनमें अभिव्यक्त प्रामाणिक समाचारों एवं विचारपूर्ण लेखों के कारण इन दोनों पत्रों की प्रतिष्ठा दिन-प्रति-दिन बढ़ती गई। इन पत्रों में लोकमान्य ने देश-भक्ति और स्वाभिमान का बिगुल बजाते हुए जनता के हित और लाभ के लिए अनेक विषयों को लेकर निर्भीक चर्चा की। फलस्वरूप उन्हें ब्रिटिश हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा और उसके दमन-चक्र का शिकार बन अनेक बार कटघरे के अन्दर जाना पड़ा। इससे तिलक की ख्याति सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैल गई। उनकी ये जेलयात्राएँ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए एक चिनगारी थीं।

तिलक भारतीय प्राचीन परम्परा के पोषक थे। भारतीय संस्कृति को उच्चता प्रदान करना उनके जीवन का एक प्रमुख उद्देश्य था। अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ होने पर भी उन्होंने अपनी वेशभूषा शुद्ध भारतीय ही रखी थी। उनके भव्य भाल पर सदैव प्राचीन ढंग की भारतीय पगड़ी और गले में विद्वत्ता का प्रतीक दुपट्टा सुशोभित रहता था! अपने आचरण और विचार से वह भारतीय राष्ट्र के सच्चे प्रतिनिधि लगते थे। उन्होंने महाराष्ट्र की सोई हुई चेतना को जागृत करने के लिए १८९३ ई० में "गणपति-उत्सव" तथा १८९४ ई० में "शिवाजी-जयन्ती" नामक दो सार्वजनिक उत्सवों का सूत्रपात किया था। उन्होंने घोषणा की थी कि "हमें अपने वीरों की पूजा करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इससे हमारी राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में बड़ा भारी सहारा मिलेगा।" इन उत्सवों से महाराष्ट्र में एक नवीन स्फूर्ति की लहर दौड़ गई।

१८९६ ई० में महाराष्ट्र में एक भीषण अकाल और प्लेग की महामारी की विभीषिका फैल गई, जिसकी लपेट में आकर सहस्रों नरनारी मरने लगे। प्रदेश के संकट की इस घड़ी में लोकमान्य कमर कसकर सेवा के क्षेत्र में कूद पड़े और उन्होंने निर्भीक स्वर से सरकारी नीति की आलोचना करके शासन द्वारा जनता की उपेक्षा की ओर दुनिया का ध्यान आकर्षित किया। तभी प्लेग-कमेटी के अंग्रेज अध्यक्ष को एक मराठा ने मार डाला! इस कृत्य को उभाड़ने का अपराध तिलक पर थोपा गया और उन्हें १८ माह का कारावास दिया गया!

कांग्रेस में उग्र पक्ष के प्रतिपादक

इस बीच भारतीय राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के हेतु आगे चलकर प्रसिद्धि पानेवाली महान् राष्ट्रीय संस्था 'कांग्रेस' का भी जन्म हो चुका था। इस संस्था के साथ लोकमान्य का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रारंभ ही से गहरा नाता रहा। परन्तु उन दिनों इसके मंच पर अत्यन्त दब्बू और नरम नीति के पृष्ठपोषकों का ही जमघट लगा था। उनके साथ तिलक जैसे निर्भीक स्वाधीनता के उपासक की पटरी बैठना कठिन था। फलतः शीघ्र ही कांग्रेस के आँगन में नरम और गरम विचारधारा के लोगों के बीच तनातनी बढ़ने लगी। तिलक उग्र विचारधारा के समर्थक थे। १९०७ ई० की सूरत-कांग्रेस में नरम दल के बहुमत के कारण उनके दल की हार हुई। अतः वह कुछ समय के लिए कांग्रेस से अलग हो गए। १९०८ ई० में केसरी पर एक अंग्रेज दम्पति की हत्या के समर्थन का आरोप लगाए जाने पर तिलक को पुनः सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। परिणामस्वरूप उन्हें ६ वर्ष का कठोर दण्ड भुगतना पड़ा। इस बार उन्हें बर्मा के माण्डले - जेल में भेजा गया।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक।

महान् तत्त्वदर्शी विद्वान्

इस कारावास की अवधि में ही इस महापुरुष ने अपने विख्यात ग्रंथ 'गीता - रहस्य' की रचना की। तिलक केवल राष्ट्रीय नेता ही नहीं थे, वह महान् तत्त्वदर्शी विद्वान् भी थे। वह राजनीति में लगे रहने पर भी गंभीर तत्त्व-चिन्तन में लगे रहते थे। वह अपना अवकाश का सारा समय प्राचीन वैदिक संस्कृति और वाङ्मय की खोज और शोध में बिताया करते थे। वह संस्कृत, गणित, ज्योतिष, इतिहास, दर्शन आदि के महान् पंडित थे। उन्होंने जर्मन भाषा भी सीखी थी। वह एक महान् पत्रकार भी थे। उनके द्वारा लिखे गए ग्रंथों में 'ओरायन', 'गीता-रहस्य', 'आर्यों का मूल निवासस्थान' आदि बड़े महत्व के हैं। 'गीता-रहस्य' के संबंध में गांधीजी ने कहा था--"गीता पर उनकी जो अधिकारपूर्ण टीका है, उससे अधिक मौलिक ग्रन्थ की सृष्टि न अभी तक हुई है और न निकट भविष्य में होने की आशा ही है।"

लोकमान्य तिलक अपने समय के सर्वप्रिय भारतीय नेता थे। देश की जनता सदैव उनके मुख की ओर निहारा करती थी। इसका कारण यह था कि जनता को उनके नेतृत्व पर अटल विश्वास था। उन्होंने देश के नवयुवकों का आह्वान करते हुए कहा था--"सब कुछ त्याग कर देश के लिए बलिदान हो जाओ! तुम्हारा अपना कुछ नहीं है। जो कुछ भी तुम में है, वह देश और उसकी जनता का है। अतः उसे उसी को लौटा दो। न कुछ लेकर आए हो और न कुछ लेकर जाओगे। सब कुछ यहीं बिखेर दो।"

'जनता के देवता'

१९१६ ई० में उन्होंने प्रसिद्ध 'होमरूल-आन्दोलन' चलाया और उसी सिलसिले में ब्रिटिश अधिकारियों से बातचीत करने के लिए वह इंगलैंड भी गए। अगस्त, १९२० ई०, में उनका नाम आगामी कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष पद के लिए भी प्रस्तावित हुआ था। किन्तु विधाता को यह स्वीकार नहीं था। जुलाई, १९२० ई०, में उन्हें न्यूमोनिया हो गया और आखिर १ अगस्त, १९२० ई०, के दिन वह इस संसार से उठ गए! उनका दाह-संस्कार बम्बई में चौपाटी के समुद्र - तट पर हुआ! उनकी शव-यात्रा के साथ ५ लाख व्यक्ति थे! उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए गांधीजी ने कहा था--"लोकमान्य तिलक जनता के देवता के समान थे। जनता उनके वचनों को वेदवाक्य के समान मानती थी!"

लौह पुरुष

लोकमान्य तिलक आधुनिक भारत के लौह पुरुष थे! उनके दृढ़ चरित्र, बलिदानी प्रवृत्ति और सिंह के-से व्यक्तित्व का परिचय इन शब्दों में मिल जाता है, जो कि उन्होंने अपने ६ वर्ष के कारावास की सजा सुनते समय गंभीर वाणी में निनादित किए थे--"संभव है, ईश्वरीय इच्छा यही हो कि जो कार्य करना मुझे अभीष्ट है, वह मेरे आजाद रहने की अपेक्षा मेरे कष्ट-सहन द्वारा ही अधिक फूले-फले!"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य जगत् की अनोखी विभूति :: लिओ ताल्स्ताय

जिस महापुरुष को गांधीजी ने अपना 'गुरु' माना, निश्चय ही वह कोई साधारण विभूति नहीं रहा होगा ! आइए, इस उद्बोधक चरित्र-चित्र द्वारा उस अनूठे व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त कीजिए !

'वसन्त का आगमन हो गया है ! सब ओर आश्चर्य ही आश्चर्य दृष्टिगोचर होता है ! प्रत्येक दिन आश्चर्यपूर्ण है । एक नग्न वृन्त पर सहसा अनेक पत्तियाँ निकल आई हैं। हरी, नीली, पीली ये रंग-बिरंगी चीजें एकाएक कहाँ से इस पृथ्वी में से उभर आई हैं ? छोटे-छोटे पक्षी आनन्दोन्मत्त हो एक झाड़ी से दूसरी झाड़ी की ओर खूब शोर मचाते हुए उड़ते फिर रहे हैं––न जाने क्यों ? वे कितने सुन्दर और भले लगते हैं ! अभी-अभी इसी क्षण दो बुलबुलें मेरी खिड़की के नीचे केलि कर रही हैं ! × × × × मैं तीन घंटे तक उनके साथ खेलता रहा। गवाक्ष खुले हुए हैं। रात्रि में उष्णता है। मेढक और चौकीदार अपनी-अपनी पुकार में व्यस्त हैं। सभी ओर सौंदर्य निखरा है ! मैं विचारमग्न हूँ। वसंत ने थोड़ी देर के लिए मेरे एकाकीपन में प्रवेश कर मुझे बेचैन कर दिया है ! मैं चाहता हूँ कि यह बेचैनी तुम्हें भी हो। संभव है, इनसे भी अधिक आनन्द के क्षण हो सकते हैं, परन्तु ऐसे पूर्ण सामंजस्य लिए हुए क्षण शायद ही मिलने के। × × × × कल मैं अपने खरीदे हुए जंगल में गया। उसे मैं काट रहा हूँ। बर्च (वृक्ष विशेष) में पत्तियाँ निकल रही हैं। वृक्षों पर बुलबुलों का वास है। इन्हें कुछ नहीं मालूम कि वे कभी सरकारी थे, अब मेरे हैं और काटे जा रहे हैं––कदाचित् ये यह मालूम करना भी नहीं चाहते। वे काट डाले जायँगे और फिर बढ़ जायँगे और हमारे बारे में कदापि कुछ भी नहीं जान पाएँगे ! समझ में नहीं आता, तुम्हें मैं यह अनुभव कैसे समझाऊँ ! × × × × सब तरफ पग-पग पर भगवान् की ही सत्ता विद्यमान है !'*

मानव दुःखी क्यों है––वह प्रकृति की तरह मुक्त क्यों नहीं ?

ताल्स्ताय का यह प्रकृति-प्रेम असाधारण था। उनका यही प्रकृति-प्रेम, आगे चलकर जब वह वृद्ध हो गए थे, मानव-प्रेम में परिणत हो गया था। प्रकृति के साथ रहकर जिस सौंदर्य, सरलता एवं स्वच्छंदता का दर्शन उन्होंने किया, मानव-जीवन में उसका अभाव उन्हें अनवरत खटकने लगा और वह दुःख से अभिभूत हो गए। मानव दुःखी क्यों है ? प्रकृति कितनी सुखी और सुन्दर है ! मनुष्य वैसा क्यों नहीं ? क्या मानव-जीवन का अन्त मरण है ? फिर क्यों जीवित रहा जाय ? बहुत दिनों तक जीने से लाभ भी क्या ? इन्हीं बातों को सोचकर महात्मा बुद्ध की तरह ताल्स्ताय भी जीवन की पहेली को सुलझाने में लग गए। उन्होंने समाज का जो रूप देखा, इससे उन्हें केवल घृणा और लज्जा ही हुई !

जीवन के प्रारम्भ में ही माता-पिता के स्नेह से वंचित रहने के कारण परिस्थिति ने उन्हें चिन्तनशील बना दिया था। वह अकेले बैठे-बैठे जीवन के विविध दृश्यों को देखते और शंकाएँ उपस्थित करते रहते थे। इन शंकाओं की निवृत्ति उन्हें सरल न मालूम पड़ती। पूर्ण सामंजस्ययुक्त जीवन सदैव उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता, पर वह उसका वरण न कर पाते।

* १ मई, १८५८ ई०, को लिखे गए उनके एक पत्र का अंश।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जब उन्हें स्कूल में भेजा गया, तो वहाँ का वातावरण उन्हें तनिक भी नहीं जँचा। जो भी विषय पढ़ाए जाते थे, उनमें से किसी में भी उनकी रुचि नहीं थी और अपनी रुचि के विषय पढ़ने की वहाँ आज्ञा नहीं थी। फल यह हुआ कि उनका प्राथमिक स्कूल का अनुभव बहुत ही कटु रहा। जब उनका प्रवेश विश्वविद्यालय में हुआ, तो वहाँ के आमोदपूर्ण जीवन में पहले तो उन्होंने अपने स्वभावानुसार असाधारण रूप से भाग लिया और नाच-गान तथा शिकार आदि में अपने को भुला दिया। उन्होंने एक प्रकार से अपने को हर तरह से 'बिगड़ने' दिया! जो भी बुराइयाँ बड़े आदमियों के लड़कों में हो सकती हैं, सभी तालस्ताय में विद्यमान थीं। परन्तु बड़ी-बड़ी भूलें होने पर भी उनकी जन्मजात विचारशीलता और मननशीलता ने उन्हें कभी भी नहीं छोड़ा। उन्हें जब कभी भी अवकाश मिलता, समाज का और अपने जीवन का पूर्ण विश्लेषण करने में वह जुट जाते थे और औचित्य-अनौचित्य पर विचार करते हुए जीवन को सामंजस्यपूर्ण बनानेवाले तथ्यों को खोजते थे।

विश्वविद्यालय के आमोद-प्रमोदपूर्ण जीवन में ओतप्रोत तालस्ताय एक दिन अमीरों के जो शत्रु बन गए, इसका एकमात्र कारण उनका बाल्यावस्था से ही विचारशील और एकान्तसेवी होना था। जीवन भर विचार करते-करते उन्होंने जीवन से अनेक सार ग्रहण किए, जिसमें सब से महत्वपूर्ण यह सत्य था कि सरल, आडम्बरहीन, परिश्रमशील जीवन में ही आत्म-सुख निहित है!

इसी सत्य से अभिभूत हो आखिर एक दिन उन्होंने कृषकों के-से वस्त्र पहने और हाथ में कुदाली और फावड़ा ग्रहण किया! इसी प्रवाह में बहकर उन्होंने अपने हाथों से जूते तक गाँठे!

कॉलेज-जीवन में ही तालस्ताय के हृदय में ये भावनाएँ उठा करती थीं कि वह संसार के दुःखी प्राणियों को सुख के मार्ग पर ले जाकर उन्हें मुक्ति दिलायेंगे और पीड़ित मानव को सच्चे सुख का भागी बनायेंगे। बाल्यावस्था में उनमें ईसा के प्रति जो श्रद्धा तथा भक्ति पैदा हो गई थी, वही युवावस्था में शनैः-शनैः एक ऐसी चेतना में परिणत होने लगी, जिसका अनुभव उन्हें ईश्वर की रची हुई प्रत्येक वस्तु में होने लगा। कभी-कभी तो उन्हें ऐसा भासित होने लगता था मानो ईसा और किसी भी पीड़ित पुरुष में कोई भी अन्तर नहीं है! पीड़ित मनुष्य की सेवा ही उन्हें सच्ची ईश्वर-सेवा जान पड़ती थी। भोग-विलास से उनका मन एकदम पूर्ण वैराग्य की ओर खिंच जाता था। भलाई क्या है? बुराई क्या है? इसी अन्वेषण के प्रयास में इनका समस्त जीवन बीता।

साहित्य के आँगन में पहला कदम

तालस्ताय के समय में रूसी कृषकों की दशा बड़ी ही दीन थी। देश में आए दिन अकाल पड़ा करते और सरकारी आदमी लगान वसूल करते समय लेशमात्र भी मनुष्यता का व्यवहार नहीं करते थे। तालस्ताय ने अपनी आँखों से किसानों की दुर्दशा देखी और वह उनके कष्ट-निवारण के लिए ताल ठोंककर मैदान में उतर पड़े। किसानों को विश्वास ही नहीं होता था कि कोई अमीर आदमी उनकी मदद के लिए अपना समय और धन दे सकता है! अमीरों के प्रति इन दीनों के हृदयों में सिवा घृणा के और कुछ नहीं रह गया था। उनके प्रति उनमें घोर अविश्वास की जड़ें जम गई थीं। तालस्ताय को अपने सेवाव्रत में इसी कारण असफलता ही पल्ले पड़ी। वह किसानों के दिलों में विश्वास पैदा न कर सके और अन्त में निराश होकर फिर विद्याध्ययन में लग गए। परन्तु विफल-प्रयास होने पर भी उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। वह जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिए अनवरत परिश्रम करते रहे। जब उन्हें अपना जीवन शून्य दिखाई पड़ता, तो वह एकदम आमोद-प्रमोद में अपना समय गँवाने की ठान लेते और जी भरकर नाच-गान, शिकार, ताश आदि की वेदी पर अपनी बलि चढ़ा देते। परन्तु उनका यह जीवन बहुत दिनों तक नहीं चला करता। फिर उनकी आँखों के सामने जीवनस्वप्न नाचने लगता और सामञ्जस्यपूर्ण जीवन के लिए उनकी उत्कंठा इतनी प्रबल हो उठती कि वह बेचैन हो जाते और पुनः त्यागमय जीवन की ओर झुक जाते। इसी दौर में एक बार काकेशश में जाकर उन्होंने एक झोपड़ी में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' के औपनिषदिक आदर्श को अपने जीवन में उतारने का प्रयास किया। परन्तु उनके परिवारवालों ने उनको ऐसा करने से रोका और उन्हें विवश किया कि वह सेना में सम्मिलित हो जाएँ। फलतः १८५१ ई० में उन्होंने सेना में प्रवेश किया। तुरन्त ही क्रीमिया का युद्ध प्रारम्भ हो गया और तालस्ताय को उसमें पूरा भाग लेना पड़ा। युद्ध के नर-संहार के दृश्यों ने तालस्ताय की आत्मा को कँपा दिया! साथ ही रूसी सिपाहियों की वीरता ने भी उनके हृदय में घर कर लिया। इस समय जो विचार तालस्ताय के मस्तिष्क में चक्कर काट रहे थे, उनको उन्होंने लिख डाला। 'सिवास्टोपोल की कहानियाँ' नामक उनकी ये प्राथमिक रचनाएँ बड़ी हृदयग्राही हुईं। उनकी प्रतिभा से रूसी पाठक और लेखक प्रभावान्वित हो उठे।

इन कहानियों के प्रकाशन से तालस्ताय की ख्याति इतनी बढ़ गई कि रूस के सम्राट् जार ने इन्हें लड़ाई से दूर किसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुरक्षित स्थान पर भेज देने का आज्ञापत्र निकालकर सिवास्टोपोल का पूर्ण विवरण लिखने का काम इन्हें सौंपा ! लौटकर जब यह वापस सेण्ट पीटर्सबर्ग में आए, तो इनका धूमधाम से स्वागत किया गया ! अमीरों को खुशी थी कि उन्हीं में से एक ऐसा योग्य व्यक्ति निकला, जिसने उन सब की नाक रख ली और उनके वर्ग का नाम रूस के कोने-कोने में फैला दिया ! साहित्यिकों ने इन्हें एक अत्यन्त प्रतिभावान् लेखक के रूप में देखा। अपनी रचनाओं की इस सफलता से ताल्स्ताय को बहुत प्रसन्नता हुई। परन्तु वह अपने लिखने से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्हें अपनी लेखन-शक्ति में एक भारी त्रुटि दिखाई पड़ती थी। विचार करने पर उन्होंने यह अनुभव किया कि उनकी उन्नति में सब से बड़ा बाधक था उनका गर्व ! उन्होंने यह महसूस किया कि सत्य को ज्यों-का-त्यों लिख देना ही सत्य की आत्मा की रक्षा का एकमात्र उपाय है। परन्तु यह जितना सरल दिखाई पड़ता था, वास्तव में उतना आसान काम नहीं था।

ताल्स्ताय में सत्य का दर्शन करने की अद्भुत शक्ति थी। डैनिश लेखक हैन्स एन्डर्सन की एक कहानी है, जिसमें एक राजा एकदम वस्त्रहीन दिगंबर है, तब भी जनता उसकी 'शाही पोशाक' को देख-देखकर आनन्द से विह्वल हो जाती है ! केवल एक बालक ही वहाँ ऐसा है, जो स्पष्ट देख रहा है कि राजा कुछ भी नहीं पहने हुए है। ठीक उस बालक की तरह ताल्स्ताय भी सत्य का दर्शन करने की अद्वितीय क्षमता से सुसज्जित थे। इसी क्षमता के कारण वह आगे चलकर साहित्य-महारथी बन सके।

ताल्स्ताय भली-भाँति समझ गए थे कि जब तक रूसी जनता शिक्षित न होगी, कोई भी सुधार सफल न होगा। अतः ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने रूस से बाहर जाने की ठानी और २९ वर्ष की आयु में वह जर्मनी को चल दिए। पाँच वर्ष में वह तीन बार रूस से बाहर गए। इस प्रकार अन्य देशों की जनता और उनकी सामाजिक स्थिति का सुविस्तृत ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया। जर्मन शिक्षा-प्रणाली से लाभ उठाने के लिए उन्होंने अपने ग्राम यास्नाया पोल्याना में एक स्कूल खोला। साथ ही अपने समस्त दासों को उन्होंने स्वाधीनता दे दी। इस कार्य द्वारा ताल्स्ताय ने अपनी महान् दूरदर्शिता और मानवता का परिचय दिया। उनके ऐसा करने के पश्चात् ही रूस में इस संबंधी कानून बन पाया कि सभी दासों को मुक्त कर दिया जाय। अपनी विदेश-यात्राओं से लौटते समय ताल्स्ताय अनेक महान् योरपीय लेखकों के ग्रन्थ साथ में लाए थे। इन किताबों को चुंगीवालों ने सेन्सर को दिखाने के लिए रोक लिया ! ५० वर्ष बाद भी उन पुस्तकों के वापस न मिलने पर ताल्स्ताय ने लिखा था--"सेन्सर महोदय कदाचित् अभी तक उन ग्रंथों का पारायण कर रहे हैं !"

ताल्स्ताय का समय पंचायत के कार्य, स्कूल में अध्यापन, और एक पत्र के सम्पादन में कट जाता था, यद्यपि उन्हें इनमें से किसी भी कार्य से सन्तोष नहीं होता था। उन्हें हृदय में ऐसा लगता था मानो जो कुछ वह कर रहे हैं सब झूठ है। जब उनका मस्तिष्क इस झूठ के बोझ को और अधिक न उठा सका, तो वह रुग्ण हो गए। आखिर वह पुनः बशकीर नामक आदिम घुमक्कड़ लोगों के मध्य में डेरा डालकर खुली हवा का सेवन करने, 'कूमिस' नामक मट्ठे का पान करने और पशु का-सा प्राकृतिक जीवन बिताने को चल खड़े हुए !

विवाह और पारिवारिक जीवन

जब वह स्वास्थ्य-लाभ करके पुनः घर वापस लौटे, तो उन्होंने विवाह करने की सोची। विवाह के समय उनकी अवस्था ३४ वर्ष की और वधू की १८ वर्ष की थी। विवाह से पूर्व उन्होंने अपनी भावी पत्नी को अपनी डायरी पढ़ने को दे दी थी, जिससे वह समझ जाय कि उसे कैसे पुरुष के साथ रहना होगा। डायरी में ताल्स्ताय ने ईमानदारी के साथ अपनी युवावस्था की सभी आवारगी की बातें स्पष्ट लिख दी थीं ! उनकी भावी पत्नी, जो उन्हें सद्गुणों की खान और एक देवता जैसा पुरुष समझे हुए थी, डायरी को पढ़कर विचलित हो उठी ! उसने रो-रोकर रात्रि बिताई और उन्हें डायरी लौटा दी ! पर उसने अपने भावी पति को उसके गत जीवन के असंयम के लिए क्षमा प्रदान कर दी। विवाह कर ताल्स्ताय बहुत प्रसन्न हुए और उनका समय आनन्द में कटने लगा। वह अपने को भूल गए। इन दिनों एक मित्र को अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"यह पत्र मैं ग्राम से लिख रहा हूँ और लिखते समय ऊपर के कमरे में वह मेरे भाई से बातें कर रही है। मैं अपनी पत्नी की बोली सुन रहा हूँ--वह जिसे मैं विश्व भर में सब से अधिक प्रेम करता हूँ। × × × × जब मुझे अधिक शान्ति होगी, मैं तुम्हें लम्बा पत्र लिखूँगा। × × × × × इस समय मुझे यही सतत विचार रहता है कि इस आनन्द के कदापि योग्य मैं नहीं हूँ। वह देखो······वह आ रही है ! मैं उसकी पद-ध्वनि सुन रहा हूँ, और वह कितनी प्रिय मालूम होती है ! महान् आश्चर्य तो इस बात का है कि तुम जैसे भले आदमी, और मेरी पत्नी, मुझे क्यों प्रेम करते हैं ?"

सोलह वर्ष तक ताल्स्ताय ने विवाहित जीवन का पूर्ण आनन्द लिया। उन्हें बालकों से बहुत प्रेम था, जो उन्हें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सदा घेरे रहते थे। वह एक क्षण में ही बच्चों का मन मोह लेते थे। इसी से बच्चे उनसे सारी बात बड़ी ही बेतकल्लुफी के साथ कह डालते थे। वह बच्चों के मन की बात को तुरंत ताड़ लिया करते थे। बच्चे उनके पास दौड़े-दौड़े आते और कहते कि उनके पास एक बड़ा रहस्य है, जिसका उद्घाटन करने से वे इंकार करते! तब तालस्ताय चुपके से उनके कान में उनके 'महान् रहस्य' की बात बतला देते थे! उस पर बच्चे खुशी से फूले न समाते थे, और आश्चर्य से कहते--"हमारे पापा कैसे अद्भुत हैं! उन्हें हमारा रहस्य कैसे मालूम हो गया?"

यास्नाया पोलयाना का तालस्ताय का जीवन बहुत शांतिपूर्ण था, यद्यपि भाई निकोलस की मृत्यु के पश्चात् उन्हें अनेक झंझटों का सामना करना पड़ा था एवं जमींदारी की देख-भाल और पारिवारिक जिम्मेदारियों का उत्तरदायित्व वहन करने में भी उन्हें पर्याप्त श्रम करना पड़ता था। क्रमशः परिवार में बच्चों की वृद्धि के साथ धन की भी प्रचुरता हो चली और अब अधिक भूमि खरीद ली गई तथा कृषि-पैदावार भी खूब बढ़ गई।

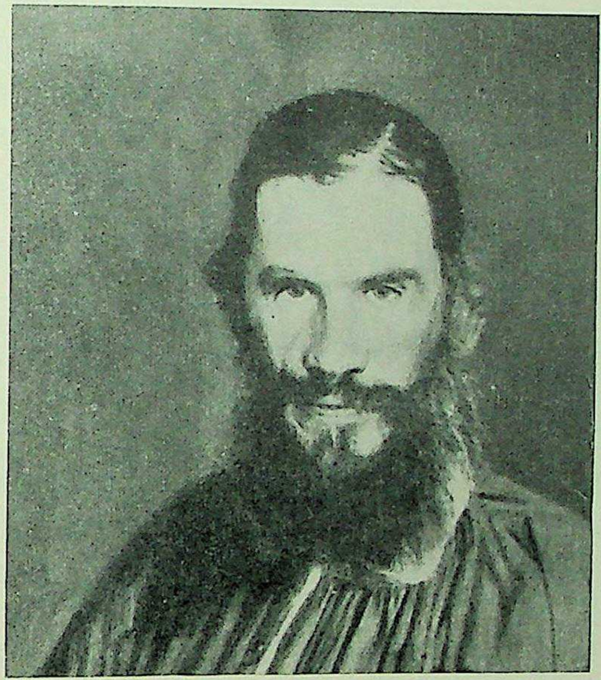

लिओ तालस्ताय ४५ वर्ष की अवस्था में।

इस जीवन के साथ-साथ उनका साहित्यसर्जन का भी काम चल रहा था। १८७९ में 'युद्ध और शांति' तथा उसके आठ वर्ष पश्चात् 'अन्ना करेनिना' नामक उनके महान् उपन्यास प्रकाशित हुए। जब 'अन्ना करेनिना' पुस्तकाकार में निकली, तो रूस में उसका बड़ा आदर हुआ और अन्य देशों में भी लोग तालस्ताय की प्रतिभा से अत्यधिक प्रभावान्वित हुए।

तालस्ताय अब बहुत वृद्ध हो गए थे। यद्यपि उनका अब तक का जीवन निरंतर मानसिक द्वन्द्व में बीता था, तथापि अन्तिम दिनों में उन्होंने सत्य की जो झाँकी देखी थी, उससे उनको संतोष प्राप्त हुआ था। उन्होंने युद्ध और हिंसा को पापाचरण मानकर अहिंसा में ही नैतिकता का अनुभव किया था। उनके इन विचारों से महात्मा गांधी तक प्रभावित हुए।

व्यक्तिगत जीवन की कुछ झाँकियाँ

तालस्ताय के संसर्ग में आनेवाले परिचित-अपरिचित सभी लोग उनसे प्रभावित होते थे। एक लेखक ने यास्नाया पोलयाना के उनके नित्यप्रति के जीवन के अपने संस्मरणों में उनके बारे में लिखा है--"यास्याना पोलयाना में सदैव आनन्द की लहरें लहराती थीं और इसके आदि स्रोत थे स्वयं तालस्ताय। बच्चों की शिक्षा, दार्शनिक प्रश्न और अन्य विषयों पर बातचीत करना तथा उन पर अपनी सम्मति देना तालस्ताय को बहुत भाता था। इसी तरह खेल-कूद और सैर-सपाटे में भी उन्हें बहुत आनन्द आता था। उन्हें खेत काटना और कुदाली चलाना सब से अधिक पसन्द था। वह मेरे साथ व्यायाम करते, दौड़ते, एक पाँव उठाकर कूदते और गोरोदकी (एक प्रकार का खेल) खेलते थे। वह एक ही हाथ से १८० पौंड का बोझ उठा लेते थे! मैं उनसे दौड़ में बाजी ले जाता था, लेकिन उनसे आगे नहीं बढ़ पाता था। खेलते समय वह हँसते ही रहते थे। जब कभी हम कार्य में व्यस्त खेतिहरों के खेतों में से निकलते, तो तालस्ताय किसी थके हुए कृषक के पास से उसका हँसिया ले लेते और उसका काम कर डालते थे! इस कार्य में मुझे भी उनका साथ निभाना पड़ता था। वह मुझसे पूछते--हम इतने बलिष्ठ होने पर भी लगातार छः दिन खेत क्यों नहीं काट सकते, जबकि किसान केवल रोटियाँ खाकर और गीली धरती पर सोकर ही ऐसा कर सकता है? अंत में वह कहते--उनकी-सी परिस्थिति में रहकर थोड़ा करके देखो तो! खेत छोड़ते समय वह थोड़ी-सी घास हाथ में लेते, उसे सूँघते और उसकी सुवास को सराहते थे।"

१८७६ ई० में उन्होंने प्रसिद्ध संगीतकार चैकोवस्की से परिचय प्राप्त किया। चैकोवस्की तालस्ताय का भक्त बन गया और उसने एक दिन केवल उन्हें प्रसन्न करने के लिए रूस के प्रसिद्ध गायनाचार्यों को एकत्रित कर एक महफिल का आयो-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जन किया। इस समारोह के बारे में उसने लिखा है––"मेरे जीवन में मुझे कभी इतना आह्लाद और गर्व नहीं हुआ, जैसा कि अपने पार्श्व में लिम्रो तालस्ताय को गायन सुनकर अश्रु बहाते देखकर!"

तालस्ताय ने यथार्थ जीवन का तत्त्व कृषकों के सरल जीवन में पाया। इसी से इन्होंने कृषकों के-से कपड़े पहने, उन्हीं का-सा भोजन करना शुरू किया और अपना समस्त आचरण कृषक-सा बना लिया। अपने एक निबंध में उन्होंने लिखा है––"जो उपवास नहीं कर सकता, वह आदमी नहीं बन सकता।" इस कथन की सच्चाई को गांधीजी ने भी व्यावहारिक रूप में परखा था। अंत में इस अनोखे सत्यशोधक ने अपने जीवन को अत्यन्त सरल बना लिया। उसने आखेट करना, मद्य पीना, तम्बाकू पीना––सब बंद कर दिया। रूबल (रूसी सिक्का) देखकर उसे कष्ट होता था! रेल की यात्रा भी उसे पसंद न थी। रूस में अकाल पड़ने पर उसने तन, मन, धन से पीड़ितों का कष्ट-निवारण किया। १८९१ ई० में उसने दूखोबोर नामक एक स्वच्छंद कबीले के सहायतार्थ आन्दोलन किया और उनके प्रति किए गए अत्याचारों को बंद कराया। इसी जाति के सहायतार्थ उसने 'रिसरैक्शन' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें ईसाई कट्टरपंथियों के विरोध में सब कुछ कह डाला! इसी कारण उसे ईसाई संप्रदाय से निकाल दिया गया!

वृद्ध होने पर तालस्ताय को उनके परिवार––विशेषकर उनकी पत्नी––ने बहुत दुःख दिया। जिस बात को इनका दिल गवाही नहीं देता था, उसे यह कदापि नहीं करते थे। इन्हें धन से घृणा थी और इनकी स्त्री को संपत्ति से प्रगाढ़ प्रेम था। इसी से दोनों में अनबन रहती थी। एक दिन निमोनिया की बीमारी में ग्रस्त होने पर भी यह घर छोड़कर चल दिए और फिर जीवित घर लौटकर नहीं आए––रास्ते ही में एक छोटे-से रेलवे-स्टेशन के निकट २८ अक्टोबर, १९१० ई०, के दिन वह इस दुनिया से कूच कर गए! उस समय उनकी आयु ८२ वर्ष की थी––वह उन्नीसवीं सदी के आरंभ में १८२८ ई० में पैदा हुए थे।

तालस्ताय की कृतियाँ

इस महान् लेखक की साहित्यिक देन के संबंध में विशेष विवरण तो आप इस ग्रंथ के 'साहित्य' विभाग के अंतर्गत पढ़ ही चुके हैं––यहां हम उनकी प्रमुख कृतियों के केवल नाम भर गिना देना पर्याप्त समझते हैं। तालस्ताय की सब से महान् कृति 'युद्ध और शांति' (१८६४ ई०) नामक उनका बृहत् उपन्यास है। उनके अन्य प्रख्यात उपन्यास हैं––'अन्ना करेनिना' (१८७५ ई०), 'कनफेशन' (१८७४ ई०) और 'रिसरैक्शन' (१८९९ ई०), जो एक अपूर्ण कृति है। उनकी कहानियों में 'मनुष्य को कितनी जमीन चाहिए' सब से प्रसिद्ध है। अंतिम दिनों में उन्होंने कई एक जोरदार लेख भी लिखे थे––उनमें 'ईश्वर का राज्य तुम्हारे अंतस्तल में ही है' नामक लेख विशेष रूप से समादृत हुआ।

तालस्ताय में अलौकिक शक्ति और स्फूर्ति थी। वह जिस काम को करते, उसमें दैत्य की तरह जुट जाते थे। उनका मस्तिष्क उनके हृदय से अधिक बलवान् था। इसका प्रमाण उनकी समस्त कृतियाँ हैं। उनके बचपन के स्केचों को पढ़िए अथवा कॉसेक जीवन के चित्रण का ही रसास्वादन कीजिए––सब में आपको एक अद्भुत, विलक्षण चमत्कार मिलेगा। तीक्ष्ण दृष्टि, गुणग्राहकता और अनेक प्रकार के मनुष्यों के हृदयों और मस्तिष्कों का विश्लेषण उनकी कृतियों की अपनी विशेषता है। तालस्ताय अपनी कहानियों और उपन्यासों में लम्बे-चौड़े कथानक रचे बिना भी पाठक का मनहरण कर सकते थे। वह मानव-जीवन का विवेचन इस प्रकार से करते थे कि पाठक को बरबस ही उनका साथ देना पड़ता था। उनकी कहानियाँ हृदय पर एकदम चोट करनेवाली और सीधी-सच्ची हैं। जो बात उनकी कहानियों में है, वही उनके उपन्यासों के विषय में भी सच है। तालस्ताय ने जो कुछ भी लिखा, वह अनुभव पर आधारित था।

तालस्ताय जीवन भर भलाई और बुराई के विश्लेषण में ही लगे रहे––भलाई के क्षेत्र को उन्होंने अधिक विस्तृत करने का प्रयास किया और बुराई का डटकर सामना किया। जीवन में संघर्ष ही संघर्ष देखकर सदैव उनका ध्येय यही रहा कि किस प्रकार जीवन में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय।

अनेक कहानियों में तालस्ताय बारम्बार इसी उधेड़-बुन में लगे दिखाई देते हैं कि समाज की कृत्रिम जटिलताओं से किस भाँति पिंड छुटे और जीवन-व्यवहार सरल हो। ऐसा करते समय वह किसी भी बात को नहीं छिपाते एवं जीवन का नग्न रूप एकदम स्पष्ट करके रख देते हैं।

तालस्ताय का जीवन ईसा के जीवन जैसा तपस्या का जीवन था। उन्होंने सत्य के लिए अनेक यातनाएँ सहीं और अपने कष्ट देनेवालों के प्रति सदैव सद्भावना रखी।

अपने में उन्हें जितनी बुराइयाँ मिलीं, उनका उन्होंने त्याग किया और फिर उन्हीं बुराइयों को समाज में से निकाल फेंकने के अनुष्ठान में वह जुट गए। इसीलिए वह 'महात्मा' कहलाने के अधिकारी हुए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'सत्य' और 'अहिंसा' के अवतार :: राष्ट्रपिता महात्मा गांधी

आज भारत ही क्या, समस्त संसार में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जिसने गांधीजी का नाम न सुना होगा! जिस विभूति की ऐसी विश्व-विश्रुत प्रतिष्ठा हो, उसका परिचय देने के लिए विशेष भूमिका बाँधने की आवश्यकता ही क्या है? जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण, महात्मा गौतम बुद्ध और हजरत ईसा मसीह अपने-अपने युग के महान् प्रकाश-स्तंभ थे, उसी प्रकार आज के युग के सब से बड़े महापुरुष की संज्ञा केवल गांधीजी को ही प्रदान की जा सकती है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके 'सत्य' और 'अहिंसा' के महान् संदेश में ही हिंसा की दावाग्नि में झुलस रही आज की दुनिया के परित्राण का यथार्थ उपाय सन्निहित है!

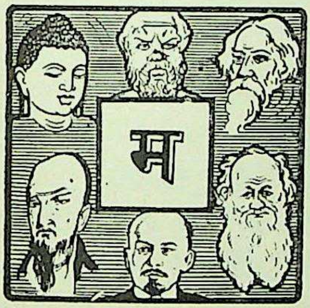

हात्मा मोहनदास करमचंद गांधी का जन्म पोरबन्दर नामक स्थान में २ अक्टूबर, १८६९ ई०, को हुआ था। उनके पिता करमचन्द गांधी पोरबन्दर राज्य के दीवान थे। ७ वर्ष की आयु में वह पिता के साथ राजकोट चले आए। यहीं उनकी स्कूली शिक्षा आरंभ हुई। अपने बचपन के दिनों के बारे में गांधीजी ने स्वयं लिखा है--"मैं बहुत झेंपू लड़का था; मेरी किसी भी लड़के से मित्रता नहीं थी। स्कूल में अपने काम से काम रखता। घंटी बजते ही स्कूल पहुँच जाता और बन्द होते ही घर चल देता। किसी अन्य लड़के के साथ मुझे बातें करना अच्छा नहीं लगता था, क्योंकि मुझे डर लगा रहता था कि कहीं कोई मेरी दिल्लगी न उड़ाए!"

जन्मजात सत्यनिष्ठा :: विद्यार्थी-जीवन के प्रसंग

गांधीजी की माता बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। माँ के इस धार्मिक स्वभाव का गांधीजी पर सहज प्रभाव पड़ा। उनमें बचपन से ही सत्य बोलने का गुण विकसित हो गया। वह कभी भी झूठ नहीं बोलते थे। उन्होंने बचपन में 'श्रवणकुमार' और 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' नामक नाटक देखे थे। इन नाटकों में निहित आदर्शों का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। वह उन्हीं आदर्शों के अनुरूप अपना जीवन बनाने की कल्पना मन में बसाए हुए थे। आरंभ ही से बड़ों की आज्ञा का पालन करना वह परम धर्म मानते थे। यद्यपि विद्यार्थी-जीवन में साथी-संगियों की कुसंगति के दुष्प्रभाव से वह भी दो-एक बार पतन के गर्त के किनारे तक जा पहुँचे थे (जिसका कि उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में खुलकर किया है), तथापि अपने जन्मजात उच्च संस्कारों की बदौलत वह उस गड्ढे में गिरने से बाल-बाल बच गए थे! उदाहरण के लिए, यहाँ उनके किशोर-जीवन के दो-एक प्रसंगों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। गांधीजी के माता-पिता कट्टर वैष्णव थे। उनके घर में मांस वर्जित था। परन्तु मोहनदास ने अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट करने के फेर में पड़कर साथियों के कहने से मांस का प्रयोग किया। इसी प्रकार उन्होंने छिपकर सिगरेट पीना भी शुरू किया था। किन्तु अंत में उन्हें स्वयं ही अपने कर्म पर आत्मग्लानि हुई! उनका हृदय अपने आपको धिक्कारने लगा। उन्होंने पिता के सम्मुख जाकर लिखित रूप में अपना अपराध स्वीकार किया। पुत्र की सत्यनिष्ठा देखकर पिता की आँखों में आँसू छलछला आए! उन्होंने पुत्र को क्षमा कर दिया! इन्हीं संस्कारों ने मोहनदास को अंत में अपने युग का संसार का सब से महान् व्यक्ति बना दिया!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्यार्थी-जीवन में एक बार गांधीजी की कक्षा में इन्स्पैक्टर महोदय निरीक्षण करने आए। कक्षा के विद्यार्थियों से अंग्रेजी में पांच शब्द लिखवाए गए। गांधीजी ने एक शब्द अशुद्ध लिखा था। इस पर अध्यापक ने पैर के इशारे से संकेत करके आगे के लड़के से नकल करके शब्द को शुद्ध करने को उनसे कहा। किन्तु मोहनदास ने इस पर ध्यान नहीं दिया! कक्षा के सभी विद्यार्थियों के पाँचों शब्द ठीक निकले; अकेले गांधीजी के ही शब्द गलत थे। अध्यापक ने इंस्पेक्टर के चले जाने पर उन्हें उनकी 'मूर्खता' समझाई! किन्तु गांधीजी पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। साथ ही अध्यापक के प्रति उनके हृदय में किसी प्रकार की मलिनता का भाव भी नहीं उपजा। सत्यनिष्ठा और सहिष्णुता की इसी असाधारण वृत्ति ने उन्हें एक साधारण विद्यार्थी से युगपुरुष बना दिया!

वकालत का आरंभ :: अफ्रीका में

हाईस्कूल-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् मोहनदास बैरिस्ट्री पास करने के लिए इंगलैण्ड गए। अपने विलायत के आवासकाल में माता को दिए गए वचन का पालन करते हुए उन्होंने कभी भी मांस-मदिरा का प्रयोग नहीं किया! इंगलैण्ड में लगभग तीन वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् आखिर जब वह बैरिस्टर होकर भारत लौटे, तो उन्होंने बम्बई में वकालत प्रारंभ की। यहाँ से कुछ समय पश्चात् वह राजकोट चले गए। इसी बीच अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी नामक एक व्यापारिक फर्म के कार्य से उन्हें अफ्रीका जाना पड़ा। यह प्रदेश अंग्रेजों का उपनिवेश था, फलतः गोरे लोग यहाँ के कृष्णकाय लोगों के साथ बुरा बर्त्ताव करते थे। रंग-भेद के इस घृणित वातावरण में न केवल अफ्रीका के आदिवासियों को ही, बल्कि यहाँ रहनेवाले भारतीयों को भी अत्यन्त अपमानजनक दशा में रहना पड़ता था। उन्हें किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। वे रेलों, ट्रामों, पुस्तकालयों, क्लबों आदि से अपमानित करके निकाल दिए जाते थे। गांधीजी के स्वाभिमानी हृदय पर इसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उन्हें स्वयं भी कई बार इस प्रकार अपमानित होना पड़ा, यहाँ तक कि गोरों के हाथों मार तक खाना पड़ी! उदाहरणार्थ, एक बार जब वह रेल द्वारा डरबन से प्रेटोरिया जा रहे थे और उनके पास प्रथम श्रेणी का टिकट था, तो भी गोरे रेलवे-अधिकारी ने राह में उनसे उतरकर पिछले वान में जाने को कहा! जब गांधीजी ने ऐसा करने से अस्वीकार किया, तो उन्हें धक्का देकर डिब्बे से बाहर उतार दिया गया और उनका सामान भी प्लेटफार्म पर फेंक दिया गया! ठण्डक अधिक थी! चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था! इस विषम क्षण में युवक गांधी के मन में भावनाओं और विचारों का एक तुमुल द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ! उन्हें जो अपमान सहना पड़ा, उसकी ठेस से विचलित हो वह इस दुविधा में पड़ गए कि आया वापस स्वदेश लौट जाएँ अथवा इस अत्याचार का प्रतिरोध करें! इस पशोपेश की दशा में आखिर उन्हें अपनी अन्तरात्मा से यही आदेश मिला कि इस असत्य और पशुता का डटकर विरोध किया जाय, फिर चाहे उसके लिए कुछ भी बलि देना पड़े! यहीं से गांधीजी के जीवन का एक नया अध्याय आरंभ हुआ। उन्होंने उसी रात आजन्म सेवा का व्रत लिया और अपमान के विष की घूंट पी वह जन-कल्याण के कार्य में जुट गए। उन्होंने अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों के हृदय में छाए हुए पराधीनता के भाव को दूर करके शनैः-शनैः उनके आत्म-गौरव को जगाया और उन्हें अपने अधिकारों के लिए लड़ने की प्रेरणा दी। इस संबंध में उन्होंने जो अहिंसात्मक सत्याग्रह-आन्दोलन चलाया, उससे अंग्रेज सरकार के छक्के छूट गए! गांधीजी की इस नवीन संघर्ष-प्रणाली की ओर सम्पूर्ण दुनिया का ध्यान गया और उनका नाम संसार भर में प्रसिद्ध हो गया।

स्वदेश वापस आए :: स्वाधीनता-आन्दोलन

गांधीजी जिस समय अफ्रीका में थे, तभी उनका ध्यान मातृभूमि भारत की ओर भी जा चुका था। जब देश की दुर्व्यवस्था देखकर उनका हृदय विचलित हो उठा, तो वह अफ्रीका से विदा हो १९१५ ई० में लौटकर स्वदेश वापस आ गए और साबरमती के तट पर आश्रम बनाकर रहने लगे। यहाँ निःस्वार्थ देश-सेवकों का एक दल उनके आसपास एकत्रित हो गया। इस समय तक कांग्रेस का विकास हो चुका था। उसके प्रमुख नेता इन दिनों लोकमान्य तिलक, सर फिरोजशाह मेहता और गोखले थे। गांधीजी इन तीनों से मिले और उन्होंने संपूर्ण देश की यात्रा करके यहाँ की आन्तरिक दशा का परिचय प्राप्त किया। उपर्युक्त नेताओं में गोखले उन्हें सबसे ज्यादा जँचे--वह उन्हें गंगा के समान पावन, प्रेरणामय ज्ञात हुए। गांधीजी ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरु स्वीकार किया।

१९१७ ई० में जब नील की खेती करनेवाले किसानों पर अंग्रेजों के अत्याचारों का समाचार गांधीजी को मिला, तो वह बिहार गए। यहीं राजेन्द्र बाबू से उनकी पहलेपहल भेंट हुई। गांधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन की भूमिका सर्वप्रथम यहीं बनी। उन्होंने अपने प्रसिद्ध 'चम्पारन-सत्याग्रह' का उद्घाटन कर संपूर्ण देश का ध्यान अंग्रेजों द्वारा किए जानेवाले अत्याचारों की ओर आकर्षित किया। अंग्रेज सशंकित हो गए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देश के दुर्भाग्य से १ अगस्त, १९२० ई०, को लोकमान्य तिलक का स्वर्गवास हो गया। इसके पूर्व ही मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए एक देशव्यापी सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू करने का निश्चय गांधीजी कर चुके थे। इस असहयोग-आन्दोलन के श्रीगणेश के लिए १ अगस्त, १९२० ई०, की तिथि निर्धारित की गई थी। इस प्रकार तिलक के पश्चात् कांग्रेस का नेतृत्व गांधीजी के ही हाथों में आया। लोकमान्य की उग्रवादी विचारधारा से मोड़कर गांधीजी ने कांग्रेस को अहिंसा के मंत्रों से अभिषिक्त कर दिया। गांधीजी द्वारा आरंभ किया गया यह अहिंसात्मक सत्याग्रह-आन्दोलन दुनिया के इतिहास में अपने ढंग का सब से अनोखा आन्दोलन था। इस अद्भुत संग्राम के सिपाहियों को अहिंसा का तत्त्व समझाते हुए गांधीजी ने कहा था––"सच्ची अहिंसा भय नहीं, बल्कि प्रेम से जन्म लेती है। वह निस्सहायता से नहीं, सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता में क्रोध नहीं, द्वेष नहीं और न असहायता का भाव है, उसके समक्ष बड़ी से बड़ी शक्तियों को भी झुकना ही पड़ेगा।" गांधीजी की यह अहिंसा कोरी राजनीति न थी, वह तो एक साधना थी। वह जीवन को पवित्र बनाने वाला वैसा ही एक नैतिक कार्यक्रम था, जैसा कि महान् धर्मों की शिक्षाओं में निहित है।

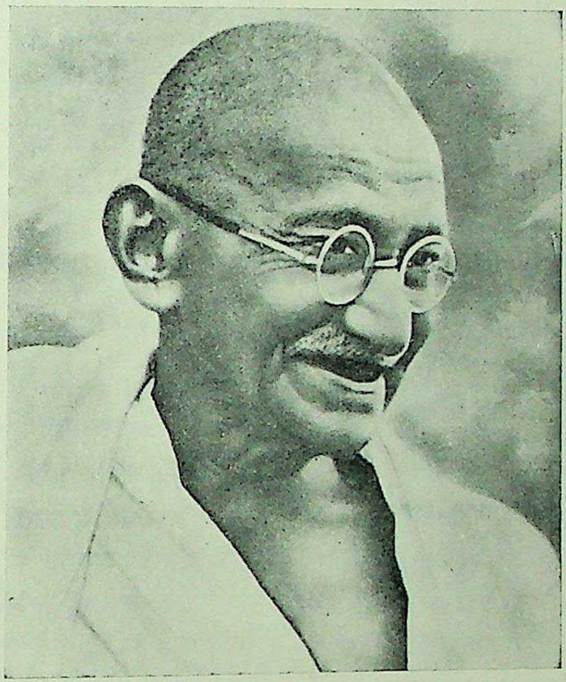

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी।

असहयोग-आन्दोलन का प्रारम्भ होते ही छात्रों ने विद्यालय छोड़ दिए, वकीलों ने वकालत छोड़ी, सरकारी नौकरों ने नौकरी से त्यागपत्र दे दिए। विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई गईं और हजारों नर-नारी सरकारी दमन-चक्र के शिकार बनकर जेलों में भर दिए गए! स्वयं गांधीजी को भी सरकार ने ६ वर्ष के लिए कारागार में ठूँस दिया। उनके सहयोगी भी पकड़े गए। अपने इस कारावास से गांधीजी १९२४ ई० में मुक्त हुए। उसी वर्ष वह बेलगाँव में कांग्रेस के अध्यक्ष मनोनीत हुए। इन्हीं दिनों उन्होंने छुआछूत के फैले हुए विष को मिटाने और खादी का प्रचार करने के लिए सारे देश का भ्रमण किया। यह अछूतोद्धार-आन्दोलन एक सामाजिक क्रान्ति थी। गांधीजी ने अछूतों को हिन्दुओं का अविछिन्न अंग स्वीकार कर एकता बनाए रखने के लिए आमरण अनशन भी किया।

उधर देश की आर्थिक दशा सुधारने और उसे स्वावलम्बी बनाने के लिए, उन्होंने चरखे का प्रचार कर ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन दिया और उनके विकास के लिए जनता को जागृत किया। इस प्रकार उनके नेतृत्व में कांग्रेस धीरे-धीरे किसानों की संस्था बन गई।

१९३० ई० में नमक के प्रश्न को लेकर गांधीजी ने पुनः सत्याग्रह प्रारम्भ किया। उनकी डाण्डी की ऐतिहासिक यात्रा इसी सिलसिले में की गई थी। सारे देश में नमक-कानून तोड़ा गया। गांधीजी को तथा अन्य कानून भंग करनेवालों को पकड़कर दण्ड भी दिया गया।

गांधी जी की लोकप्रियता और प्रभाव धीरे-धीरे संसार में बढ़ने लगा। गोलमेज-कान्फ्रेंस में वह पंचम जार्ज से मिले और वास्तविक अर्थों में उन्होंने देश का प्रतिनिधित्व किया। इंगलैंड से लौटते समय वह रोम्या रोलाँ और मुसोलिनी से भी मिले। मुसोलिनी ने गांधीजी से पूछा कि 'आप मेरी फासिस्टवादी नीति के बारे में क्या विचार रखते हैं?' गांधीजी ने कहा, "आप ताश का महल बना रहे हैं!" विलायत से लौटकर साबरमती-आश्रम छोड़ वह वर्धा-आश्रम में रहने लगे और हरिजन तथा दरिद्रनारायण की सेवा में लग गए।

१९३९ ई० में हिटलर और अंग्रेजों के बीच विश्वव्यापी युद्ध प्रारम्भ हुआ। सारा संसार इस युद्ध की अग्नि से त्रस्त था। अंग्रेज भारत को भी युद्ध में सम्मिलित किए हुए थे। इन्हीं दिनों गांधीजी ने 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' प्रारम्भ किया। वाणी की स्वतंत्रता और लेखनी की स्वाधीनता का प्रश्न उठाकर उन्होंने विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही चुना। तदनंतर भारत में क्रिप्स-मिशन आया। किन्तु गांधीजी इससे किंचित् भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रभावित न हुए। मिशन असफल हुआ और इंगलैण्ड वापस चला गया। १९४२ ई० भारतीय क्रांति के चरम उत्कर्ष का वर्ष था। इसी वर्ष गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" आन्दोलन स्वीकृत किया। सरकार ने गांधीजी को बन्दी बना लिया। वह कस्तूरबा और महादेव भाई के साथ 'आगा खाँ महल' में नजरबंद रखे गए। सारे देश में क्रांति की लहर दौड़ गई और अनेक कार्यकर्त्ता पकड़े गए। परन्तु नेतृत्वहीन होकर भी जनता ने सरकार को उलटने में कसर न रखी। अंग्रेजों ने निहत्थी जनता का निर्दयता के साथ दमन किया! गोलियाँ चलाई गईं! गाँव के गाँव उजाड़ दिए गए! सामूहिक आर्थिक दण्ड वसूल किया गया! चारों ओर भय और आतंक छा गया! किन्तु स्वतंत्रता का युद्ध चलता ही रहा।

महान् शान्ति-दूत

कारागार की दशा में ही गांधीजी के निजी सचिव महादेव भाई का देहान्त हो गया। इससे 'बापू' को अपार क्लेश हुआ। तदनंतर ६ मास पश्चात् उनकी जीवन-संगिनी कस्तूरबा भी इसी प्रकार इहलोक छोड़कर परलोक सिधार गईं! उनकी मृत्यु से 'बापू' को मार्मिक धक्का लगा! उन्होंने कहा—"कस्तूरबा के बिना मेरा जीवन सूना हो गया!" ६ मई, १९४४ ई०, को जब गांधीजी आगा खाँ महल से मुक्त किए गए, तब देश के सम्मुख नई परिस्थिति थी। मुसलमानों के नेता मुहम्मद अली जिन्ना पाकिस्तान की माँग कर रहे थे। हिटलर और मुसोलिनी के पतन से विश्वयुद्ध समाप्त हो गया था। इंग्लैण्ड में चर्चिल की सरकार के स्थान पर मजदूर-दल की सरकार प्रतिष्ठित हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने भारत छोड़ने की घोषणा कर दी थी। गांधीजी ने जिन्ना को अनेक बार समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। तब सम्मिलित सरकार बनाने का निर्णय हुआ। इसी बीच हिन्दू-मुस्लिम द्वेष की विभीषिका से सारा देश जल उठा! इसके फलस्वरूप बंगाल में भीषण रक्तपात हुआ! इसे देख गांधीजी को हार्दिक वेदना हुई। वह शान्ति का सन्देश लेकर नोआखाली की जलती आग में कूद पड़े! उनके लिए मानो यह एक अग्नि-परीक्षा थी, कारण हिंसा ने अहिंसा को ललकारा था! पर सत्य का यह राही अपने पथ से विचलित नहीं हुआ! वह हिमालय की भाँति दृढ़ बना रहा।

बलिदान

अंत में १५ अगस्त, १९४७ ई०, को विभाजन के उपरान्त अंग्रेज भारत से विदा हो गए और यह देश पूर्ण स्वतंत्र हो गया। परन्तु विभाजन के समय पाकिस्तान की कुटिल सांप्रदायिक नीति के फलस्वरूप लाखों नर-नारियों को उखड़कर और बेघरबार होकर स्थानान्तर करना पड़ा! हजारों को न केवल अपनी संपत्ति बल्कि जान भी गँवाना पड़ी! वह इतिहास की एक कटु कहानी बन चुकी है, जिसे यहाँ दोहराना बेकार है। गांधीजी ने इस कटु वातावरण में भी शान्ति-स्थापना के निरन्तर प्रयत्न किए। जिस समय लाल किले पर पहले-पहल भारतीय राष्ट्रध्वज फहराया जा रहा था, उस समय भी मानवता का यह प्रहरी दुःखित मनुष्यों को शान्ति, सहिष्णुता और सहअस्तित्व का सन्देश दे रहा था!

गांधीजी का उद्देश्य देश में 'रामराज्य' अर्थात् वास्तविक रूप में कल्याण-राज्य की स्थापना करना था। परन्तु वह अभी इस लक्ष्य के करीब भी नहीं पहुँचे थे कि एक दिन एक दुष्ट व्यक्ति के हाथों इस लोक से वह सदा के लिए उठ गए! युग-पुरुष नित की भाँति प्रार्थनास्थल की ओर जा रहे थे कि हिंसा के क्रूर हाथों से उनका अन्त कर दिया गया! यह क्रूर घटना ३० जनवरी, १९४८ ई०, के दिन दिल्ली में घटी। मानवता चीख उठी! सम्पूर्ण संसार शोक-संतप्त हो गया!

उनकी महान् देन का अंदाज कोई क्या करे ?

महात्मा गांधी महामानव थे। उनके जीवन का उद्देश्य मानव मात्र में सद्भावना, प्रेम एवं सहअस्तित्व की भावना भरना था। उन्होंने अन्धकार में डूबती हुई मनुष्यता को उबारकर उसे सत्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए अनुप्राणित किया। अपनी मृत्यु के द्वारा भी गांधीजी ने हमें सजग किया! देश की राजनीति में उनसे पहले लोकमान्य तिलक, दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, लाला लाजपत राय, देशबन्धु चित्तरंजन दास, गोपालकृष्ण गोखले आदि अनेक महान् राष्ट्रनेता अवतीर्ण हुए थे, जिनकी देशभक्ति के सम्मुख हमारा शीश सदैव झुकता रहेगा। परन्तु गांधीजी ने देश को एक नवीन चेतना से भर दिया। उन्होंने राजा-महाराजाओं से लेकर दीन-हीन किसान तक, धनी उद्योगपतियों से गरीब मजदूरों तक, सभी को देशभक्ति के पावन स्नेह से आप्लावित कर दिया! उन्होंने हमारे मूर्छित, निर्बल जीवन में आत्मविश्वास, साहस, निर्भयता, तथा शक्ति का संचार किया। निर्धनों को उनसे आश्रय मिला, धनिकों को उनके साहस और निरभिमानता पर आश्चर्य हुआ। वह कराहती मानवता के दुःख में दुःखी हुए और स्वयं दुःख सहकर जीवन भर दूसरों के दुःख का निराकरण करते रहे। उन्हीं की आवाज पर देश की जनता राष्ट्रीय ध्वज के नीचे आई और देश की स्वतंत्रता के लिए उसने अपनी बलि

चढ़ाने का बीड़ा उठाया ! गांधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में आत्म-शक्ति –अहिंसा– के प्रयोग का अभूतपूर्व आयोजन करके इतिहास का सर्वथा नया अध्याय रचा था। उन्होंने ऐसी प्रत्येक शासन-व्यवस्था का विरोध किया था, जो मनुष्य को पशु और परतंत्र बनाती तथा स्वार्थों की सिद्धि के लिए अनैतिकता को बढ़ाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गांधी-युग के उद्भव और विकास के पूर्व सन्तों, महात्माओं और सुधारकों की एक विलक्षण परम्परा हमारे देश में विकसित हुई थी। इन महापुरुषों ने धर्म के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना और विश्व-बंधुत्व का भी स्वर जोरों से निनादित किया था। राजा राममोहन राय, महर्षि दयानंद सरस्वती, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि इसी शृंखला की कड़ी थे। परन्तु महात्मा गांधी मानो इस रत्नमाला के चूड़ामणि जैसे थे। ऐसा लगता था मानो नियति ने इस देश के नवोत्थान की यह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक पृष्ठभूमि गांधी जैसे दैवी पुष्प को उपजाने के लिए ही बनाई थी। इसी पृष्ठभूमि पर अपना आध्यात्मिक-राजनीतिक प्रासाद खड़ा करके साबरमती के इस सन्त ने, पशुबल के समक्ष आत्मबल का प्रयोग कर, भारतीय धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को मानो बाना पहना दिया था। गांधीजी ने अपने जीवन की रचना कठोर साधना और संयम के बल पर की थी। उनके चरित्र में संतों की-सी सरलता, भक्तों की-सी धर्म-आस्था, वैज्ञानिकों की-सी सत्यान्वेषण की उत्कंठा एवं संन्यासियों की-सी त्यागवृत्ति एवं निस्पृहता एक ही जगह एक साथ देखने को मिल सकती थी। जब कभी भी वह राजनीतिक ऊहापोह में पड़ते थे, वह अपने अन्तःकरण को टटोलते थे और उसमें सुनाई पड़नेवाली ध्वनि का ही अनुसरण करते थे। वह ईश्वर पर पूर्ण निष्ठा से विश्वास करते थे। उन्होंने देश के स्वातंत्र्य-आन्दोलन का मार्ग-निदर्शन ईश्वरानुभूति से ओतप्रोत होकर ही किया था। राजनीति में नैतिकता का प्रवेश कराकर गांधीजी ने जीवन की शुचिता और सच्चरित्रता पर विशेष बल दिया था। उन्होंने प्राचीन शास्त्रोक्त सत्यों की साधना करके अपने जीवन को एक आदर्श के रूप में जनता के सम्मुख उपस्थित किया था। इस प्रकार देश के दुर्बल से दुर्बल, निर्धन और अपढ़ व्यक्तियों के भी अन्तःकरण में उन्होंने साहस और आत्म-विश्वास जाग्रत कर दिया था।

गांधीजी का समग्र जीवन एक बृहत् प्रयोगशाला जैसा था, जिसकी रचना उन्होंने निरन्तर आत्मशोधन के बल पर की थी। उन्होंने धर्म के मर्म को बारीकी से समझा था और हिन्दू धर्म को सभी धर्मों का प्राण मानते हुए भी ईसाई मत, इस्लाम, और पारसी धर्म के गूढ़ रहस्यों को आत्मसात करके सभी धर्मों के समन्वय की एक विराट् चेष्टा की थी।

गांधीजी के सिद्धांत कोई आकस्मिक घटना नहीं थे– वे मनन, चिन्तन और अनुभव से निकले हुए अनुभूत सत्य थे। पूर्व और पश्चिम के अनेक विचारकों का गहरा प्रभाव गांधीजी की विचारधारा पर पड़ा था। रूसी संत ताल्सताय के साहित्य से उन्होंने सत्याग्रह का मर्म समझा था और सविनय अवज्ञा के सिद्धान्त की प्रथम किरण उन्हें अमेरिकन दार्शनिक थोरो की रचनाओं में दिखाई पड़ी थी। एमर्सन और रस्किन के सारगर्भित विचारों ने भी उन्हें बहुत प्रभावित किया था। रस्किन की पुस्तक ''अनटू धिस लास्ट'' ने तो गांधीजी के अन्तर में एक ज्वार-सा उत्पन्न कर दिया था। 'सर्वोदय' का विचार इसी पुस्तक को पढ़कर उनके मन में अंकुरित हुआ था।

गांधीजी समस्त मानव जाति की सेवा करके शांति की स्थापना करने की कामना करते थे—उनके मत में समाज-सेवा ही मुक्ति-प्राप्ति का यथार्थ साधन था। उन्होंने कहा है कि ''मेरी राष्ट्र-सेवा ही मुक्ति-प्राप्ति का यथार्थ आध्यात्मिक साधन है, जिसके द्वारा मैं अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन से मुक्त करना चाहता हूँ। विश्व के नश्वर राज्य की मुझे कामना नहीं। मैं तो उस स्वर्ग के राज्य के हेतु साधना में लीन हूँ, जिसे मुक्ति कहते हैं। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए गुफा-सेवन की मुझे आवश्यकता नहीं है। गुफा तो मेरे भीतर ही मौजूद है, यदि उसे मैं जान पाऊँ।''

महात्माजी का संपूर्ण जीवन ''सत्य और अहिंसा''का एक बृहत् प्रयोग था। सत्य ही उनका ईश्वर था और अहिंसा सबसे बड़ा धर्म। उन्होंने कहा है कि ''मेरे लिए सत्य से परे कोई धर्म नहीं है; और अहिंसा से बढ़कर दूसरा परम कर्त्तव्य नहीं है।'' उनके कथनानुसार इस परम कर्त्तव्य की साधना करते-करते मनुष्य 'सत्य' रूपी ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। गांधीजी के मतानुसार सत्य और अहिंसा के पालन के लिए परिवार, कुल तथा देश ही नहीं, बल्कि यदि प्राण को भी त्यागना पड़े, तो इसके लिए साधक को हिचकना नहीं चाहिए। अपने महान् जीवन-बलिदान द्वारा उन्होने इस आदर्श को यथार्थ करके भी दिखा दिया !

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वतंत्र भारत के कर्णधार ::
पं० जवाहरलाल नेहरू

स्वतंत्र भारत के निर्माताओं में हमारी राष्ट्र-नौका के प्रथम कर्णधार पंडित जवाहरलाल नेहरू का अपना विशिष्ट स्थान है। यह प्रतिष्ठा उन्हें न केवल हमारे स्वाधीनता-संग्राम के एक महान् सेनानी होने के नाते ही प्राप्त हुई थी, प्रत्युत इसलिए भी कि राष्ट्रपिता गांधीजी के बाद इस देश के पथप्रदर्शन और नेतृत्व का सारा भार उन्हीं के कंधों पर आ पड़ा था। अपने समय में न केवल भारत के सबसे बड़े लोकनायक वह थे, बल्कि विश्वमंच पर भी उनका महत्वपूर्ण स्थान था। आइए, इस चरित्र-चित्र द्वारा उनका परिचय प्राप्त करें।

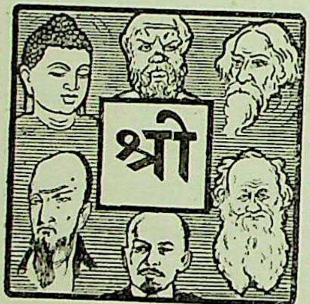

जवाहरलाल नेहरू नए भारत के प्रतीक जैसे थे। उनमें सम्पूर्ण देश मूर्तिमान हो उठा था। दुनिया के राज-मंच पर आज भारत की जो प्रतिष्ठा है, वह उन्हीं के महान् उद्योगों का फल है। ७३ वर्ष की आयु पार करके भी, निरंतर कार्यरत रहकर, वह नए भारत के निर्माण में सतत प्रयत्नशील रहे। उनमें शिथिलता, आलस्य और निराशा के लक्षण कहीं परिलक्षित नहीं होते थे। एक जागरूक प्रहरी की भाँति सजग रहकर देशवासियों को सचेत करना और उनके दुःखों का निवारण करना उन्होंने अपना जीवन-धर्म बना लिया था। पहले जिस लगन, उत्साह और त्याग की भावना से उन्होंने देश के स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया, बाद में उससे कहीं अधिक लगन से वह उसे समृद्ध और गौरवपूर्ण बनाने में प्रयत्नशील रहे। एक समाजवादी राष्ट्र के रूप में इस भूमि के आर्थिक और राजनीतिक गठन का जो आलोकमय स्वप्न उन्होंने चालीस वर्ष पूर्व अपने मन में बसाया था, उसे साकार करने में उन्होंने राष्ट्र के प्रधान मंत्री के रूप में अपने आप को खपा दिया। 'आराम हराम है' उनका प्रसिद्ध नारा था। वह नए भारत के भगीरथ थे। तभी तो आजीवन सम्पूर्ण देश की जनता ने उनका साथ दिया। संसार में कदाचित् ही कोई ऐसा नेता होगा, जिसे जनता का इतना अधिक प्यार और सम्मान प्राप्त हुआ हो।

नेहरूजी विश्व-शान्ति के महान् पृष्ठपोषक थे, उनकी शान्तिवादी नीति को माने बिना आज दुनिया का अस्तित्व संशय में है। तृतीय विश्व-युद्ध के मंडराते हुए काले बादलों को विनष्ट कर वातावरण को निर्मल एवं शांतिमय बनाने को निरन्तर उद्यत इस लोकनायक के आदर्श के प्रति संसार आशा से निहारता था। जवाहरलालजी ने गांधीजी के आदर्शों को दुनिया के रंगमंच पर उद्घोषित करने का स्तुत्य प्रयास किया था। तभी तो उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए राष्ट्रपिता ने उनके बारे में पहले ही कह दिया था—"जवाहरलाल तो रत्न हैं। उनकी सत्यशीलता सन्देह से परे है। राष्ट्र उनके हाथों में सुरक्षित है। धोखेबाजी किसे कहते हैं, वह नहीं जानते। मुझे विश्वास है कि वह कभी किसी को धोखा नहीं दे सकते।"

जीवन की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि

जवाहरलालजी का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ, वे उन्हें महान् बनाने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुईं। मोतीलाल नेहरू का पुत्र और गांधीजी का राजनीतिक उत्तराधिकारी होना कोई कम सौभाग्य की बात नहीं थी। इनका जन्म १४ नवम्बर, १८८९ ई०, को प्रयाग के एक

प्रतिष्ठित एवं सुसंपन्न काश्मीरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज लगभग २०० वर्ष पूर्व काश्मीर से दिल्ली आए थे और मुगल शासन के पतन के बाद वे दिल्ली से आगरा आ गए थे। बचपन में मोतीलाल जी के राजसी ठाठ-बाट के फलस्वरूप जवाहरलाल के जीवन का विकास धन, वैभव एवं पश्चिमी हवा के वातावरण में हुआ। उनकी शिक्षा का आरम्भ घर पर ही एक अंग्रेज शिक्षक के तत्वावधान में हुआ और १५ वर्ष की आयु होने पर वह इंगलैंड भेज दिए गए, जहाँ वह हैरो के प्रसिद्ध विद्यालय में प्रविष्ट कराए गए। उक्त आरम्भिक शिक्षा की समाप्ति पर उच्च शिक्षा पाने के लिए उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रवेश किया, जहाँ साहित्य, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, एवं प्राकृतिक विज्ञान का विशेष अध्ययन उन्होंने किया। पिता की इच्छा उन्हें वकील बनाने की थी, अतः १९१२ ई० में वह बैरिस्टर होकर वापस स्वदेश लौटे।

राजनीति के प्रांगण में :: गांधीजी से भेंट

शिक्षा-दीक्षा के लिहाज से जवाहरलालजी पूर्णतया पाश्चात्य विचारधारा को आत्मसात करके वापस विदेश आए थे। वह पश्चिम की नई रोशनी एवं विचारधारा से पूर्णतया अभिभूत थे तथा योरप-अमेरिका की अद्भुत वैज्ञानिक उन्नति एवं आर्थिक सम्पन्नता से विशेष रूप से प्रभावित थे। अतः स्वदेश वापस आने पर योरप की तुलना में भारत की दुर्व्यवस्था की झाँकी देख वह मातृ-भूमि की उन्नति एवं आजादी का सपना देखने लगे। उस समय देश की राजनीति में लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष की उग्र धारा का विशेष बोलबाला था। इस गरम राजनीतिक वातावरण में चतुर्दिक स्वतंत्रता का जयनाद सुनाई देता था। स्वदेशी आंदोलन भी जोरों पर था। इस परिस्थिति का प्रभाव युवक जवाहरलाल पर भी पड़े बिना कैसे रह सकता था —विशेषकर जब पिता पं० मोतीलाल स्वयं देश की राजनीति में सक्रिय भाग ले रहे थे। परन्तु जहाँ पंडित मोतीलाल उन दिनों 'मॉडरेट या नरम नीति, के ही पृष्ठपोषक थे, वहाँ युवक जवाहर के विचार अपेक्षाकृत उग्र होने लगे। १९१६ ई० में उनका विवाह हुआ और उसी वर्ष लखनऊ-कांग्रेस के अवसर पर महात्मा गांधी से उनकी पहलेपहल भेंट हुई। गांधीजी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए एक देशव्यापी अहिंसात्मक आंदोलन चलाने की योजना बना रहे थे। जब १९१९ ई० के रौलेट ऐक्ट और जलियानवाला बाग के काण्ड ने देश को झकझोर दिया, तो उसके दौर में अन्य देशभक्त युवकों की भाँति जवाहरलाल भी तिलमिला उठे और वह गांधीजी द्वारा शुरू किए गए असहयोग-आंदोलन में कमर कसकर उतर पड़े। यद्यपि पिता मोतीलाल अब तक नरम नीति के ही पृष्ठपोषक थे, पर आवेग में आकर आखिर उन्होंने भी अपनी शान-शौकत को ताक पर रखकर सत्याग्रही का बाना पहन लिया। इस प्रकार पिता-पुत्र दोनों का जीवन सदा के लिए देशसेवा के हेतु समर्पित हो गया। इसके बाद तो अपनी सुख-सुविधा की चिन्ता किए बिना उनका एक पैर बाहर, तो दूसरा कारागार में रहने लगा।

कांग्रेस का नेतृत्व और जेल-यात्राएँ

१९२९ ई० के लाहौर-अधिवेशन में जवाहरलालजी पहली बार कांग्रेस के अध्यक्ष बनाए गए। इस अधिवेशन में उनके द्वारा की गई पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा से सारा देश विद्युताविष्ट हो गया। उनके द्वारा उद्घोषित ध्येय को स्वीकार कर कांग्रेस ने अब पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के बिना चैन न लेने के लिए जनता का आह्वान किया। इसी सिलसिले में जब १९३० ई० में गांधीजी द्वारा प्रसिद्ध नमक सत्याग्रह शुरू किया गया, तो अन्य अनेक देशभक्तों के साथ-साथ जवाहरलाल को भी पुनः कारागार में ठूँस दिया गया। उन्हें गांधी-इरविन समझौता होने पर मुक्त किया गया, पर इसी बीच उनकी पत्नी का स्विट्जरलैंड में स्वर्गवास हो गया, जिससे उनके भावुक हृदय को गहरा आघात पहुँचा। किन्तु देश की आजादी की मांग पर वह सब कुछ भूलकर पुनः राष्ट्र के ही कामों में जुट गए। १९३६-३७ ई० में लखनऊ तथा फैजपुर के अधिवेशनों में उन्होंने पुनः कांग्रेस के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। १९३९ ई० में जब संसार युद्ध की लपटों से जलने लगा, तो भारत भी उससे अछूता न रह सका, कारण अंग्रेजों ने इसे भी अपने गुट का राष्ट्र घोषित कर दिया। कांग्रेस ने इसका विरोध किया और अंत में गांधीजी के नेतृत्व में प्रख्यात 'भारत छोड़ो' का नारा घोषित किया। इससे देश नई चेतना से सजग हो उठा और चारों ओर विप्लव एवं क्रान्ति की ज्वाला जल उठी। देश के सभी नेताओं को कारागार में बन्द कर दिया गया। उसमें जवाहरलाल भी थे। यह १९४२ ई० की बात है। सभी बड़े नेताओं की गिरफ्तारी के बावजूद आंदोलन जारी रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वाधीनता-प्राप्ति :: प्रथम प्रधान मंत्री

१५ जून, १९४५ ई०, को अन्य नेताओं के साथ जब नेहरूजी भी मुक्त हुए, तब तक देश में एक नया ही वातावरण बन चुका था। इस नई हवा में अंग्रेजों ने परिस्थिति की प्रतिकूलता का अनुभव कर २ सितम्बर, १९४६ ई०, को अन्तरिम सरकार की स्थापना की, जिसके उपाध्यक्ष पं० जवाहरलाल चुने गए। इस कालावधि में अंग्रेजों की दुर्नीति और मोहम्मद अली जिन्ना की हठधर्मी के कारण देश में घोर साम्प्रदायिक दंगे हुए। तदुपरांत १५ अगस्त, १९४७ ई०, को देश स्वतंत्र हुआ और उसकी बागडोर पं० नेहरू के ही हाथों में दी गई––वह हमारे प्रथम प्रधान मंत्री बने, जिस पद को उन्होंने ठेठ १९६४ ई० में अपनी मृत्यु की अंतिम घड़ी तक पूरे १७ वर्ष तक योग्यतापूर्वक सँभाला।

नवनिर्माण के भगीरथ

पं० जवाहरलाल नेहरू के संवेदनशील हृदय को देश की दरिद्रता ने सदैव द्रवीभूत किया। वह शुरू ही से यह मत व्यक्त करते रहे कि आर्थिक उन्नति हुए बिना देश प्रगतिशील नहीं हो सकता; न आर्थिक विपन्नता में किसी देश की स्वतंत्रता बहुत काल तक सुरक्षित रह सकती है। इसी भावना से प्रेरित होकर स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद शीघ्र ही हमारे इस कर्णधार ने सब से पहले देश की आर्थिक दशा सुधारने की ओर ध्यान दिया, जिसका मूर्त रूप उन युगान्तरकारी पंचवर्षीय योजनाओं के रूप में सामने आया, जिनके फलस्वरूप पिछले दिनों देश की कई बड़ी नदियों पर बाँध बाँधकर अपरिमित विद्युत्-शक्ति उत्पन्न की जा रही है, सहस्रों की संख्या में नए कल-कारखाने उठ खड़े हुए हैं, लाखों एकड़ भूमि में नई सिंचाई हो रही है तथा देश हरा-भरा और सम्पन्न नजर आने लगा है। राउरकेला, भिलाई, दुर्गापुर के इस्पात के कारखाने इन्हीं योजनाओं के अंतर्गत निर्मित देश के वे नए मंदिर हैं, जहाँ कठोर परिश्रम के बल पर आज हमारे नवनिर्माण का अनुष्ठान आरंभ हुआ है। इस महती निर्माण-यज्ञ के प्रधान पुरोहित नेहरूजी ही थे। वह देश की नूतन विकासधारा को लोक में प्रवाहित करनेवाले हमारे आधुनिक भगीरथ थे।

नेहरूजी किसानों के लिए सदैव चिंतित रहते थे। वह कहते थे कि जब तक देश का किसान सम्पन्न नहीं होगा, हमारी आर्थिक दशा कभी नहीं सुधर पायगी। परन्तु भारत के किसानों को वह आधुनिक विज्ञान की वेदिका पर ला खड़ा करना चाहते थे—वह उन्हें रूस, अमेरिका तथा अन्य उन्नत देशों के किसान के समकक्ष बनाना चाहते थे। इसी प्रकार कुछ वर्गों द्वारा देश की आम जनता के शोषण का द्वार भी वह सदा के लिए रुँध देना चाहते थे, जिसके लिए वह यहाँ प्रजातंत्र की भित्ति पर समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे।

अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व : शान्ति के महान् पृष्ठपोषक

आज की संकटापन्न स्थिति में भारत ने जो निरंतर शांति का पक्ष लिया है और प्रत्येक देश के लिए सदैव मित्रता का ही हाथ बढ़ाया है, उसका प्रधान श्रेय पं० नेहरू को है, जिन्होंने संसार भर में शान्ति का मैत्रीपूर्ण वातावरण स्थापित करने के लिए विदेशों की अनेक सद्भाव-यात्राएँ की थीं और उन देशों के महान् प्रतिनिधियों को अपने देश में आमंत्रित करके एक-दूसरे की सहायता एवं सहयोग का मार्ग खोला था। उनका सुप्रसिद्ध 'पंचशील' का सिद्धांत इसी विश्वबंधुत्व की भावना की उपज था। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर सकता है और उसके कार्यों में अन्य कोई राष्ट्र अकारण हस्तक्षेप नहीं कर सकता। भारत तथा अन्य अनेक देशों द्वारा बरती जानेवाली सुप्रसिद्ध तटस्थता की नीति इसी सिद्धान्त का परिणाम है।

पं० जवाहरलाल नेहरू में पूर्व-पश्चिम का अद्भुत समन्वय था। उनका दृष्टिकोण बृहत् था। यह संकुचित विचारों को लेकर समाज एवं राष्ट्र को आगे बढ़ाने के पक्ष में कभी नहीं रहे। जहाँ एक ओर वह पश्चिमी राष्ट्रों की असाधारण वैज्ञानिक उन्नति से प्रभावित थे, वहाँ दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के मानवतावाद के प्रति भी उनकी गहरी निष्ठा थी। परंतु जहाँ वह भारत के अतीत के गौरव पर गर्व का अनुभव करते थे, वहाँ उसकी बुराइयों की निंदा करने से भी वह नहीं चूकते थे। रूढ़िगत विषमताओं, जातिवाद और साम्प्रदायिकता से उन्हें घृणा थी। ये तत्त्व राष्ट्र को पीछे रखनेवाले और समाजवाद को असफल बनानेवाले उन्हें लगते थे। अपनी पुस्तक 'विश्व-इतिहास की झलक' में उन्होंने जोरों से लिखा है कि रूढ़िवाद की दृष्टि से हमारा समाज आज भी लगभग वहीं है, जहाँ ढ़ाई हजार वर्ष पहले था! वस्तुतः अपनी रचनाओं में नेहरूजी स्पष्टतया एक ऐसे आदर्श

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

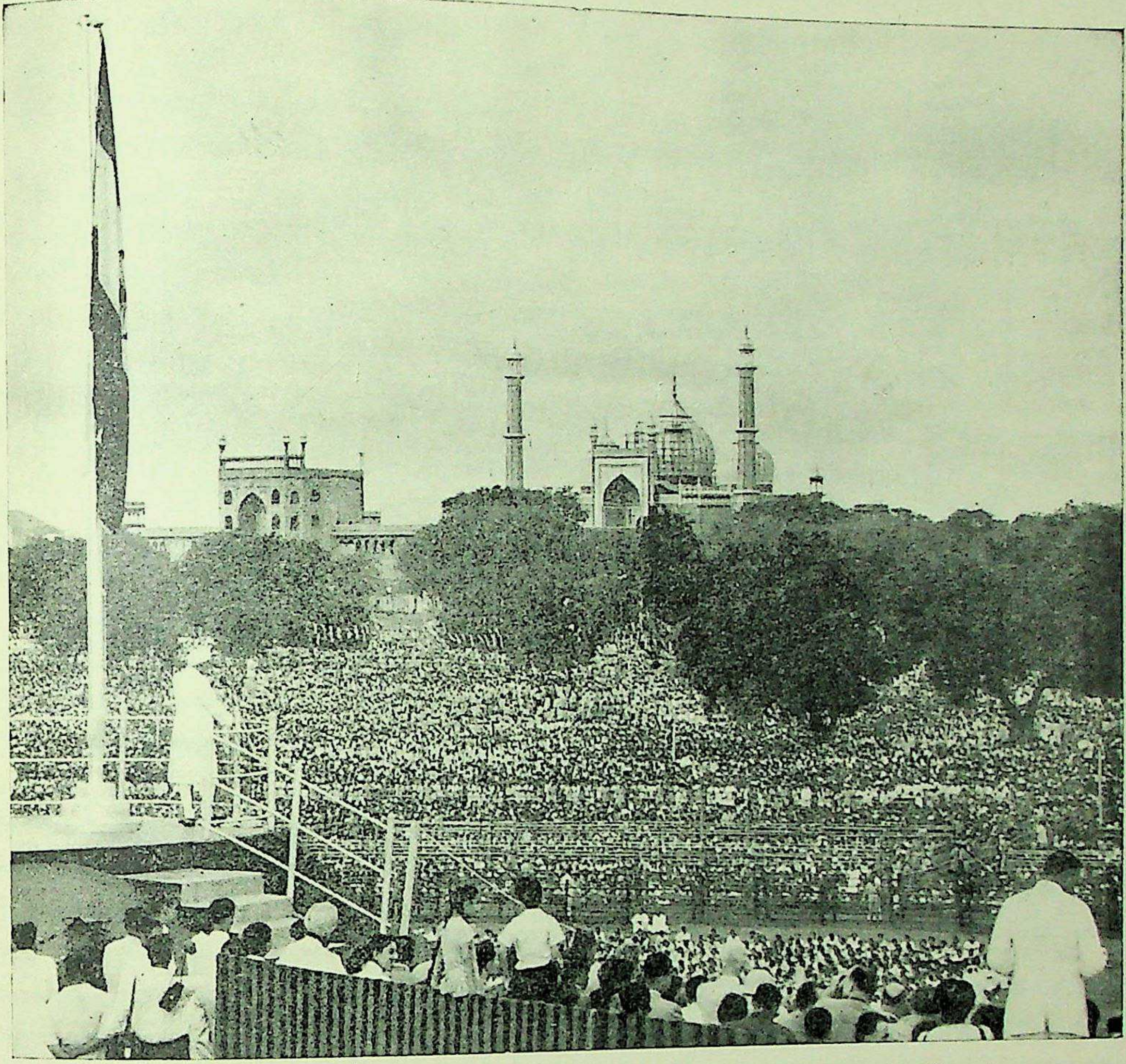

महात्मा गांधी के बाद स्वतंत्र भारत के निर्माण में योग देनेवाले हमारे सब से बड़े जननायक निस्संदेह पं० जवाहरलाल नेहरू ही हैं, जिनकी गणना आज दुनिया के महान् नेताओं में की जाती है । प्रस्तुत: चित्र में पंडितजी 'स्वतंत्रता-दिवस' के ध्वजारोहण-समारोह में दिल्ली के लाल किले की प्राचीर से विराट् जन-समूह के आगे भाषण दे रहे हैं !

समाज एवं राष्ट्र के निर्माण का स्वप्न देखते हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता अक्षुण्ण हो तथा समता की स्थापना हो सके । राष्ट्रवाद की संकुचित विचारधारा अथवा परिधि उन्हें नहीं बाँध सकती । वह संसार भर के शोषितों को मुक्त कराने एवं उन्हें समान अधिकार दिलाने के इच्छुक हैं। वह तो जन्मजात मानवतावादी हैं, फलतः त्रस्त मानवता को देखकर उनका हृदय कराह उठता है । कोरिया, कांगो तथा स्वेज-नहर की कठिन परिस्थितियों में अपने को संकट में डालकर उन्होंने जो सही दिशा निर्धारित की थी, वह उनके इस आदर्श की जीवित साक्षी है ।

साहित्यकार नेहरू

कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ ही नेहरूजी एक माने हुए साहित्यकार और लेखक भी हैं । वह अंग्रेजी भाषा के अन्त-र्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त लेखक माने जाते हैं । उनका साहित्य आज देश-विदेश में सब कहीं सम्मानित है । उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं—'मेरी कहानी', 'विश्व-इतिहास की झलक' और 'हिन्दुस्तान की कहानी'। ये पुस्तकें आज की दुनिया के साहित्य की प्रतिष्ठा-प्राप्त कृतियाँ हैं । नेहरूजी के भावमय गद्य की उन्मुक्त भाषा सहज ही कविता का आनंद देती है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आधुनिक विज्ञान के युग-पुरुष :: अलबर्ट आइन्स्टाइन

आज का मानव दिन-प्रति-दिन विज्ञान की पगडंडी पर अग्रसर होते चले जा रहा है। अपने चमत्कारपूर्ण आविष्कारों की बदौलत आज विज्ञान हमारे जीवन के अंग-प्रत्यग पर छाया हुआ है। इस नवीन वातावरण का सर्जन करने में जिन विभूतियों ने अपने अनुसंधानों-आविष्कारों द्वारा महत्वपूर्ण योग दिया है, उनमें अलबर्ट आइन्स्टाइन मानो शिखर जैसे हैं। उन्हें यदि हम इस काल के विज्ञान के 'युग-पुरुष' के नाम से पुकारें, तो कोई बड़ी बात न होगी। आइए, इस महापुरुष का परिचय प्राप्त करें!

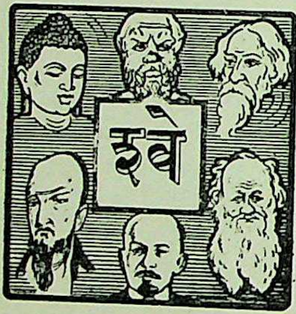

त बिखरे बाल, झुर्री पड़ा चेहरा, कुछ रहस्य ढूँढ़ती हुई-सी पैनी दृष्टिवाली आँखें, कपड़ों से बेपरवाह, अपने विचारों में खोए हुए-से, संसार से उदासीन—ऐसे थे आइन्स्टाइन! भला, पहले-पहल उनसे भेंट होने पर कौन यह कल्पना कर सकता था कि यही व्यक्ति आधुनिक विज्ञान का सब से बड़ा क्रान्तदर्शी महापुरुष था, जिसके सिद्धांतों ने न केवल गणित और भौतिकी तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में ही महान् क्रान्ति प्रस्तुत कर दी, प्रत्युत व्यावहारिक विज्ञान के क्षेत्र में भी, 'परमाणु-बम' के ईजाद की भूमिका तैयार करने में योग देकर, मानव इतिहास की धारा को एक नई दिशा में मोड़ दिया।

प्रारंभिक जीवन की झलक

अलबर्ट आइन्स्टाइन अपने माता-पिता की एकमात्र संतान थे। उनका जन्म एक छोटे-से यहूदी परिवार में १४ मार्च, १८७९ ई०, के दिन जर्मनी के ऊल्म नगर में हुआ था। माता-पिता की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनका सूना घर नवागत बालक की आनंद-किलकारियों से गूँज उठे! परन्तु ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि यह बालक सदा गुम-सुम बना रहता था! दम्पति सोचते कि कहीं बालक गूँगा तो नहीं है! अलबर्ट ने बोलना बहुत दिनों में सीखा और वह बोलता भी तो मानो सोचते हुए रुक-रुककर! पर जब पिता ने इस विचित्र बच्चे को खेलने को एक कुतुबनुमा दिया, तो वह उसे देखकर चौंक गया! कुतुबनुमा की नोक सदैव उत्तर की ओर रहती है, इस बात ने उसे आश्चर्य में डाल दिया और वह गहरे विचारों में डूब गया! कोई क्या जाने कि उस क्षण उसके मन में क्या विचार आए होंगे! वह शुरू ही से आकाश के नक्षत्रों और चन्द्रमा को ध्यानमग्न होकर देखा करता और जब दूसरे बच्चे नगर की गलियों में घूमा या खेला करते, उस समय वह अपने घर में बैठा रहता तथा घंटों सोचा-विचारा करता था! उसका न तो कोई साथी था, न मित्र! वस्तुतः उसके विचार ही उसके सब से बड़े मित्र थे!

कुछ समय बाद अपने पिता के साथ वह ऊल्म से म्यूनिख नगर को चला आया। वहीं उसे पहलेपहल पाठशाला में भर्ती कराया गया। पाठशाला के चंचल छात्रों से अलबर्ट के लजीले और संकोची स्वभाव का मेल बैठना मुश्किल था। सहपाठी उसे बुद्धू और डरपोक कहते थे। उसका वहाँ कोई मित्र न था। वहाँ के अध्यापक भी अपने रूखे स्वभाव और कठोर व्यवहार के कारण अलबर्ट के हृदय से भय का भूत नहीं निकाल सके। अलबर्ट उनसे डरता था। उसका पालन-पोषण यहूदी घर में हुआ था और पाठशाला में कैथोलिक धर्म की शिक्षा दी जाती थी। वहाँ यहूदी और जर्मन बच्चे साथ-साथ तो पढ़ते थे, पर यहूदियों की संख्या कम थी, अतः जर्मन बच्चे उनसे घृणा करते और उनका तिरस्कार करते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आपको यह जानकर कुतूहल होगा कि जिस व्यक्ति के भाग्य में आगे चलकर विज्ञान के क्षेत्र में एक महान् युगांतर प्रस्तुत करना बदा था, वही विद्यार्थी-जीवन में अपने शिक्षकों द्वारा निरा फिसड्डी माना जाता था और उसकी गणना कक्षा के तेज विद्यार्थियों में कभी भी नहीं की गई! इसका कारण यह था कि दूसरे विद्यार्थी जिन विषयों को बड़ी सुगमता से सीख लेते थे, उन्हें सीखने में अलबर्ट को बड़ा समय लगता था——उसकी उनके प्रति कोई दिलचस्पी ही न थी।

परंतु वही अलबर्ट जो स्कूली विषयों की पढ़ाई के दौरान हतप्रभ-सा हो जाता था, अपने मस्तिष्क में कल्पना के पंखों के सहारे न जाने क्या-क्या उड़ानें भरा करता था। उसका मन नई-नई बातें जानने के लिए सदैव लालायित रहता और कोई-न-कोई प्रश्न उसके मस्तिष्क में निरंतर घूमा करता था। इन गुत्थियों को सुलझाने के अलावा यदि किसी और विषय से उसे प्रेम था, तो वह था संगीत! जब उसकी माँ पियानो बजाती, तो वह उसके संगीत को अत्यधिक तल्लीनता से सुना करता था।

तब एक दिन उसने कहीं बीजगणित की चर्चा सुनी और वैसे ही उसे इस विषय को जानने की ऐसी धुन सवार हुई कि जब तक वह कहीं से बीजगणित की एक पोथी न खरीद लाया, उसे चैन न पड़ा! इस कार्य में उसे अपने चाचा याकोब से बड़ी सहायता मिली। इस पुस्तक को पाते ही अलबर्ट ने बिना किसी की मदद के स्वयं ही उसके सारे प्रश्न चटपट हल कर डाले! बीजगणित के साथ-साथ इसी प्रकार से रेखागणित का भी ज्ञान उसने प्राप्त कर लिया। इन दोनों ही विषयों से उसे ऐसा लगाव-सा हो गया कि जब तक वह उनके प्रश्नों को हल नहीं कर लेता था, उसे शान्ति नहीं मिलती थी। अपने इस एकाकी अध्ययन द्वारा उसने क्रमशः न्यूटन, यूक्लिड, आदि महान् गणितज्ञों का घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर लिया और किन्हीं-किन्हीं बातों में तो वह उनकी आलोचना तक करने लगा! फिर भी अचंभे की बात तो यह थी कि इन्हीं दिनों जब म्यूनिख के पॉलीटेकनीक से उसने १०वीं कक्षा की परीक्षा दी, तो उक्त परीक्षा में वह अनुत्तीर्ण घोषित किया गया!

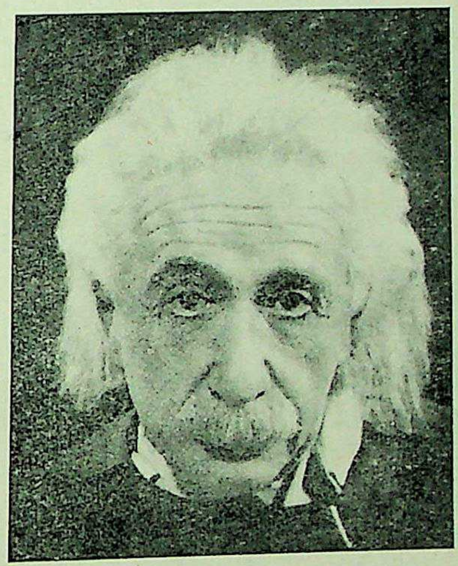

विज्ञानाचार्य अलबर्ट आइन्स्टाइन।

परन्तु इस असफलता से गणित और भौतिक विज्ञान के प्रति उसके अनुराग में कोई कमी नहीं आने पाई और वह इन विषयों की तह में प्रवेश करके उनके नित नए प्रयोग करता रहा। १९०३ ई० में मिलेवा मारिक नामक एक युवती के साथ अलबर्ट का विवाह हो गया। यह एक प्रतिभाशालिनी छात्रा थी, जो अलबर्ट के साथ मिलकर भौतिक शास्त्र और गणित के प्रयोग करती रहती थी। अलबर्ट के कर्मठ जीवन और कार्य-कुशलता से वह बहुत प्रभावित थी। विवाहोपरान्त आइन्स्टाइन को अपने कार्य में उससे बहुत सहारा मिला। कालान्तर में इस दम्पति के दो पुत्र पैदा हुए। इस प्रकार परिवार-वृद्धि होने पर अलबर्ट को नौकरी की चिन्ता लगी। पर उन दिनों भी नौकरी का मिलना कोई आसान काम नहीं था! बड़ी दौड़-धूप के बाद अन्त में बर्न के स्विस पेटेण्ट-विभाग में एक साधारण-सी नौकरी वह पा सका। यद्यपि इस नौकरी से उसे आमदनी कम थी, फिर भी असन्तोष नहीं था, कारण उसका दायित्व निभाते हुए अपने प्रिय विषय विज्ञान से सम्बन्ध बनाए रखने के लिए वहाँ कोई रोक न थी। अलबर्ट नौकरी के साथ-साथ अपने वैज्ञानिक प्रयोगों में निरंतर लगा रहता था और कार्यालय में भी मेज पर घंटों झुके रहकर अपने मस्तिष्क में मँडराते हुए प्रश्नों की गुत्थियाँ सुलझाने का प्रयास किया करता था। अंत में उसने अपनी प्रस्थापनाओं को लेखबद्ध करना शुरू किया और एक दिन एक वैज्ञानिक पत्रिका के संपादक के पास अपना एक लेख भेजकर उससे शर्माते हुए कहा——"मेरा परम सौभाग्य होगा, यदि आप इसे अपने पत्र में छपवा दें"! कहना न होगा कि उसके पहले ही लेख ने विज्ञान के पंडितों को बेतरह चौंका दिया और जब १९०५ ई० के पश्चात् उसने एक के बाद एक गहन वैज्ञानिक लेख लिखने प्रारम्भ किए, तब तो संसार भर के वैज्ञानिकों की दृष्टि उसकी ओर आकर्षित हो चली! अब वह एक साधारण क्लर्क नहीं था, बल्कि एक महान् वैज्ञानिक के रूप में उसकी प्रतिष्ठा कायम हो चुकी थी। उसका एक-एक लेख विज्ञान-जगत् के लिए अमूल्य निधि बन चुका था। इन लेखों ने अनेक धारणाओं को, जो अब तक सत्य समझी जाती थीं,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भ्रमपूर्ण सिद्ध कर दिया और बहुतेरी असम्भव समझी जाने-वाली बातों को सम्भव कर दिखाया। इन निबंधों की प्लांक जैसे विद्वानों ने भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

विज्ञान का महान् मोड़ :: सापेक्षवाद के सिद्धान्त की प्रस्थापना

आइन्स्टाइन ने अपने इन निबन्धों में किसी प्राचीन सिद्धान्त का पिष्टपेषण न करके एक बिल्कुल ही नवीन प्रस्थापना विज्ञान-जगत् के सम्मुख उपस्थित की थी। इन प्रस्थापनाओं ने उन्हें विज्ञान के आँगन में प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया और अब उनके लिए पेटेण्ट-विभाग के एक साधारण कर्मचारी के पद पर कार्य करने की आवश्यकता नहीं रही। १९०९ ई० में वह ज्यूरिख में भौतिक शास्त्र के आचार्य के पद पर नियुक्त हुए। इसके बाद उनकी नियुक्ति प्राग-विश्वविद्यालय में हो गई। १९१४ ई० में वह बर्लिन के प्रख्यात कैसर-संस्थान के निर्देशक के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हो गए।

आइन्स्टाइन की ख्याति उनके द्वारा निर्धारित सुप्रसिद्ध सापेक्षवाद (रिलेटिविटी) के सिद्धान्त पर स्थापित है। इस सिद्धान्त के अनुसार आँखों को दिखाई देनेवाले पदार्थों के आचरण से तीव्र वेगवाली वस्तुओं के बारे में हम सही अनुमान नहीं लगा सकते, कारण 'देश' (स्पेस) केवल लंबाई, चौड़ाई, और गहराई इन तीन प्रकार के परिमाणों की इयत्ता में ही निबद्ध नहीं है, वरन् उसका एक चौथा अनिवार्य आधारभूत परिमाण 'काल' है, जिसके बिना हम 'देश' या 'द्रव्य' की सत्ता की कल्पना भी नहीं कर सकते। इस प्रकार इस युग-प्रवर्त्तक गणितज्ञ ने एक ऐसे दुरूह ब्रह्माण्ड का चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया, जिसकी झाँकी साधारण पार्थिव अनुभव द्वारा हृदयंगम करना संभव नहीं है। आइन्स्टाइन ने यह सिद्ध किया कि देश, काल और द्रव्य सब एक दूसरे से अन्योन्याश्रित भाव से सम्बद्ध हैं और द्रव्य प्रसुप्त ऊर्जा मात्र है, जो केन्द्रित होकर द्रव्य का रूप ग्रहण कर लेती है। सापेक्षता के सामान्य सिद्धान्त के उपरान्त निर्धारित उसी के विशिष्ट सिद्धांत में आइन्स्टाइन ने गति के स्वरूप का अध्ययन किया और बतलाया कि ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा स्थिर प्रमाण नहीं है, जिसके द्वारा 'निरपेक्ष' गति का निश्चय किया जा सके। इसी प्रकार न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त को भी उन्होंने आधारहीन सिद्ध किया और कहा कि किसी भी वस्तु का गिरना गुरुत्वाकर्षण पर आधारित न होकर उसके द्वारा अपनाए जानेवाले मार्ग से सम्बन्धित है। इस तथ्य को दिग्दर्शित करते हुए उन्होंने कहा कि सूर्य की किरणें पृथ्वी पर तिरछी आती हैं। इस बात पर लोगों को पहले तो विश्वास न हुआ, किन्तु जब १९१९ ई० के एक सूर्यग्रहण के समय लिए गए चित्रों में सचमुच किरणों में १$\frac{७}{१०}$ सेकण्ड का टेढ़ापन दिखाई दिया, तो सभी दंग रह गए!

यद्यपि यह महान् वैज्ञानिक जीवन की अन्तिम घड़ियों तक ब्रह्माण्ड के रहस्य के उद्घाटन में ही रत रहा तथापि इस विश्व के पीछे छिपी हुई 'परम शक्ति' के प्रति अविश्वास या अश्रद्धा का भाव उसके मन में कभी भी पैदा न हुआ। उसने लिखा है कि "मेरा धर्म उस महान् अनन्त शक्ति के प्रति विनम्र श्रद्धा से ओतप्रोत है, जो अपने को उन छोटे-छोटे तत्त्वों में व्यक्त करती है, जिन्हें हम अपने दुर्बल मानस से ग्रहण करने में समर्थ हैं। विशाल ब्रह्माण्ड में प्रकट होनेवाली महान् ज्ञान-शक्ति की उपस्थिति की भावनामय मान्यता ही मेरे लिए ईश्वर का यथार्थ रूप है।"

महान् मानवतावादी

आइन्स्टाइन का हृदय मानवमात्र के प्रति गहन संवेदना से परिपूर्ण था! १९१४ ई० में जब योरप में प्रथम महायुद्ध की आग जल उठी थी और चारों ओर हिंसा, विनाश तथा बैर का विषाक्त वातावरण छा गया था, तब इस महान् मानवधर्मी ने कहा था--"यह लड़ाई एकदम गर्हित और जंगली है। मेरे टुकड़े भले ही हो जाएँ, पर मैं इन घृणित कामों में भाग न लूँगा।" इसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध के समय हिटलर की नाजी जर्मनी ने उनके युद्ध-विरोधी विचारों से रुष्ट होकर एक यहूदी होने के नाते जब उनका दमन करने की ठानी थी, तब भी उन्होंने स्वदेश छोड़कर अमेरिका चले जाना स्वीकार किया था, परन्तु अपने विचारों से वह नहीं हिले थे। अमेरिका आने पर उनकी नियुक्ति प्रिंस्टन के "इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी" नामक संस्था में हो गई थी। यहीं वह जीवन के अंतिम समय तक विज्ञान की साधना में रत रहे। यद्यपि प्रथम परमाणु-बम का निर्माण उनके द्वारा निर्धारित ऊर्जा और द्रव्य के प्रख्यात नियम के आधार पर ही हुआ था तथापि विनाश के लिए विज्ञान के दुरुपयोग की हिमायत उन्होंने कभी भी नहीं की, बल्कि जिस समय हिरोशिमा और नागासाकी पर सर्वप्रथम परमाणु-बमों का प्रयोग किया गया, तो इस महापुरुष का हृदय कराह उठा और उसे मर्मान्तक पीड़ा हुई।

विज्ञान-गगन का यह प्रभापूर्ण नक्षत्र ७६ वर्ष की अवस्था में १८ अप्रैल, १९५५ ई०, को अनन्त ब्रह्माण्ड में सदैव के लिए विलीन हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

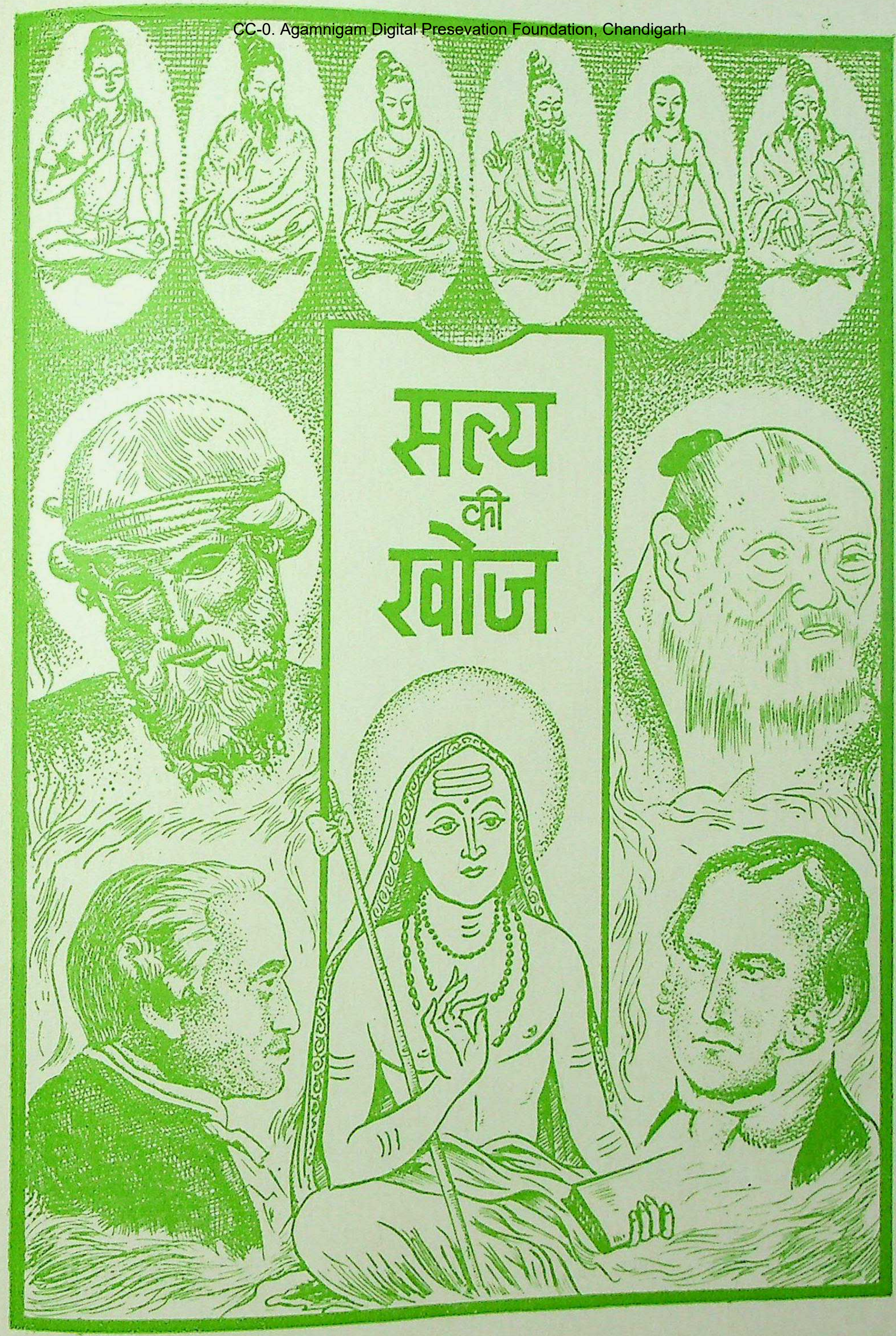

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानवीय जिज्ञासा का अमर प्रतीक––नचिकेता

इस बात में संदेह है कि संसार के दार्शनिक इतिहास में अन्य किसी भी देश में जिज्ञासा के महत्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयास किया गया हो, जैसा कि हमारे दार्शनिक साहित्य में कठ उपनिषद् के नचिकेता-उपाख्यान में मिलता है। वास्तव में, यह एक रूपक है। 'नचिकेता' शब्द यथार्थ जिज्ञासु का सूचक है और यह जिज्ञासावृत्ति मनुष्य में प्रायः मृत्यु (यम) के सन्निकट होने अर्थात् मृत्यु का भय उपस्थित होने पर जागरूक हो उठती है। महाजिज्ञासु बालक नचिकेता ने यम द्वारा प्रदत्त समस्त भौतिक सुखों के प्रलोभनों को ठुकराकर एकमात्र नित्य तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने की अपनी उत्कण्ठा के समाधान ही की याचना की थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'दर्शन'—क्या और क्यों :: तत्त्व-साक्षात्कार की भूख या 'जिज्ञासा'

अनादिकाल से मानवीय मस्तिष्क को चकित-थकित करते चले आ रहे इस अचरजभरे सृष्टि-प्रपंच का रहस्य जानने की उत्कंठा ही दर्शन की जननी है। परन्तु भारतीय विचारधारा के अनुसार निरे बुद्धि-कुतूहल या दिमागी पैंतरेबाजी से तत्त्व का साक्षात्कार संभव नहीं––उसके लिए तो आवश्यकता है सच्ची 'जिज्ञासा' की। यह 'जिज्ञासा' क्या है और हमारे मनीषियों ने 'दर्शन' की क्या परिभाषा की है ? आइए, देखें।

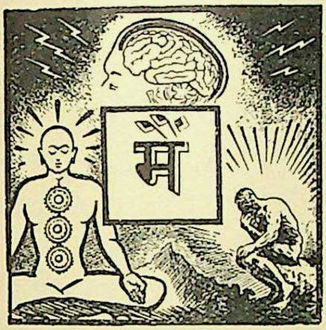

कौन हूँ ? यह सृष्टि क्या है ? इसका बनानेवाला कौन है ? यह कब बनी और कब इसका अन्त होगा ? मैं स्वयं भविष्य में रहूँगा या नहीं ? इससे पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं ? मैं सुखी या दुःखी क्यों हूँ ? कर्मों का फल होता है या नहीं ? सच्चा सुख क्या है ? इंद्रियों से होनेवाला ज्ञान वास्तविक रूप में ज्ञान है या नहीं ? इस प्रकार के असंख्य प्रश्नों की जिज्ञासा से दार्शनिक विचार का जन्म होता है। मनुष्य को जब से अपने इतिहास का ज्ञान है, तब से आज तक कोई भी ऐसा समय नहीं हुआ, जब उसकी मननात्मक प्रवृत्ति ने उसे चैन से बैठने दिया हो। विचारों का बवंडर न केवल संसार के दुःखों से पीड़ित प्राणी को ही झकझोरता है, वरन् कभी-कभी सब प्रकार से सुखी मनुष्य के मन में भी वह उथल-पुथल मचा डालता है। यह आँधी जितनी बलवती होती है, उतनी ही गहराई से मनुष्य विचार करने पर विवश होता है। 'कस्त्वं कोऽहम्' की मीमांसा मनुष्य के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि उसके सामान्य रहन-सहन के लिए अन्नवस्त्रादिक की। गौतम बुद्ध के जीवन से हम इस नियम की सत्यता को समझ सकते हैं। एकछत्र राज्य का अपरिमित वैभव विलास की जो दुर्लभ सामग्री उपस्थित कर सकता है, उसके बीच पाले जाने पर भी राजकुमार सिद्धार्थ को कोई प्रलोभन विषयोपभोग के बंधन में बाँधकर नहीं रख सका। जिस समय मनुष्य के मन में ऊपर कहे हुए विचारों का चक्र चलता है, विषयों का मधुर आस्वाद उसे विष के समान जान पड़ता है। विचारों की यह झंझावात ही सच्ची 'जिज्ञासा' है। इस प्रकार की हूक ही दर्शन की जननी है। यह जिज्ञासा दिव्य अग्नि के समान है। इससे दग्ध मनुष्य का हृदय ही सत्य की प्राप्ति का पुण्यस्थल हो सकता है।

महान् जिज्ञासु नचिकेता

भारतीय दर्शन का सूत्रपात करनेवाले मनीषियों ने जिज्ञासा को बड़ा महत्व दिया है। 'जिज्ञासु' पद हमारे यहाँ एक विशेष अधिकार को सूचित करता है। जो जिज्ञासु नहीं है, जिसमें 'जानने' की भूख नहीं है, वह दार्शनिक ज्ञान का अधिकारी नहीं माना जा सकता। जब हम मृत्यु के नाटक के अति सन्निकट होते हैं, तब हमारी जिज्ञासा-वृत्ति जागरूक हो उठती है। उस समय 'कस्त्वं कोऽहम्' के प्रश्न हमें सच्चे और अत्यावश्यक जान पड़ते हैं। हमारे साहित्य में जिज्ञासा-वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण नचिकेता* है। उसकी भी जिज्ञासा का उदय यम के सान्निध्य में ही होता है। नचिकेता (न + चिकेतस्)

*इसका उपाख्यान कठ उपनिषद् में है। यह वाजश्रवा ऋषि का पुत्र था। एक बार ऋषि ने दक्षिणा में अपना सर्वस्व दे डाला। तब यह पिता से बार-बार पूछने लगा कि 'आप मुझे किसको दे रहे हैं !' पिता ने रोष में कह दिया कि 'मैं तुम्हें मृत्यु को अर्पित करता हूँ ?' इस पर नचिकेता यम (मृत्यु) के पास चला गया। यम से उसने 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में कई प्रश्न किए। यमराज ने तरह-तरह के प्रलोभन देकर उसे इस जिज्ञासा को छोड़ देने के लिए फुसलाया, किन्तु नचिकेता ने अपनी टेक नहीं छोड़ी और तीन दिन तक निराहार रहकर कठोर सत्याग्रह किया। अन्त में यम ने उस जिज्ञासु बालक को 'ब्रह्मज्ञान' का उपदेश दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्द का अर्थ ही है--वह जिसके अंदर जानने की उत्कट इच्छा हो, परंतु जो जानता न हो। जिज्ञासा के वर को नचिकेता सर्वश्रेष्ठ समझता है:--

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् (कठ उपनिषद् १।२२)

अर्थात् मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं; प्राणी का स्वरूप क्षणभंगुर है अथवा नित्य तत्त्ववाला है--इस प्रश्न के समान अन्य कोई प्रश्न नहीं है। इसलिए इस शंका के समाधान का वरदान ही सर्वातीत है। नचिकेता के प्रलोभन के लिए यमराज उसके सामने अनेक कामनाएँ रखते हैं--'चिरजीवी पुत्र-पौत्र, बहुत-से पशु, सवारियाँ, अमित धनराशि, पृथ्वी का राज्य, सुन्दर स्त्रियाँ, कल्पांत आयु, आदि जितने भी मर्त्यलोक के दुर्लभ काम हैं, हे जिज्ञासु, उनको इच्छानुसार तुम चुन सकते हो!' यही वैभव तो गौतम बुद्ध के सामने भी था! परन्तु दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा इस लौकिक सामग्री से कभी संभव नहीं। यम के उक्त प्रस्ताव का नचिकेता ने जो उत्तर दिया था, वह दार्शनिक संसार के तोरणद्वार पर अमिट अक्षरों में प्रत्यांकित है--'यदि मनुष्य का मरण ध्रुव है, तो उसके लिए ये अनित्य पदार्थ किस काम के हैं? इनसे इंद्रियों का तेज क्रमशः क्षीण होता रहता है। जीवन की अवधि स्वल्प है। इसमें नृत्य-गीत के लिए स्थान कहाँ? चाँदी और सोने के रुपहले-सुनहले टुकड़ों से कब मनुष्य का पेट भरा है? सुनहरी दलदल में पड़ने से पहले ही इस संप्रश्न के समाधान का प्रयत्न करना उचित है।'

दर्शन—क्या और क्यों?

यह मनःस्थिति ही सच्ची जिज्ञासा है। हमारे दार्शनिक साहित्य में कठ उपनिषद् का नचिकेता-उपाख्यान इसीलिए महत्वपूर्ण माना गया है कि जिज्ञासा का परिचय जितने ज्वलंत रूप में हमें यहाँ मिलता है, उतना अन्यत्र सुलभ नहीं। यह संदेहास्पद है कि संसार के दार्शनिक इतिहास में अन्य किसी भी देश में जिज्ञासा के महत्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयत्न किया गया हो! जिज्ञासा के साथ दार्शनिक विचारों की उद्भावना व्योमविहारी पक्षिराज गरुड़ की उड़ान के सदृश है। बिना सच्ची जिज्ञासा के तत्त्व-ज्ञान की उधेड़बुन बुद्धि का कुतूहल-मात्र रह जाता है। दिमाग की पैंतरेबाजी से जिस दर्शन का जन्म होता है, उसे भारतीय परिभाषा के अनुसार 'दर्शन' कह सकना कठिन है। हम यह नहीं कहते कि इस प्रकार दिमाग पर जोर डालकर दर्शन की सृष्टि यहाँ कभी की ही नहीं गई। हमारा आशय तो केवल इतना ही है कि जिज्ञासा के बाद तत्त्व-ज्ञान की जो मीमांसा की जाती है, उसके और शुष्क दर्शन के भेद को ठीक तरह से समझ लिया जाय।

उपर्युक्त दो प्रकार की परिस्थितियों में पनपनेवाली दार्शनिक विचारधाराओं के भेद की यदि गहरी छानबीन की जाय, तो हम दो परिणामों पर पहुँचते हैं। पहला भेद तो दर्शन की परिभाषा से सम्बन्ध रखता है और दूसरा उसके फल से। यहाँ पर हमें दर्शन के लिए जो अँगरेजी शब्द है, उसके साथ भी परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। अँगरेजी भाषा में दर्शन को 'फिलासफी' कहते हैं। पश्चिम की अन्य भाषाओं में भी दर्शन के लिए प्रायः यही शब्द व्यवहृत होता है। पाश्चात्य दर्शन का आरंभ प्राचीन यूनान में हुआ था। अतः उक्त 'फिलासफी' शब्द मूलतः यूनानी भाषा ही से लिया गया है। यूनानी शब्द 'फिलोसोफिया' का अर्थ है--ज्ञान का प्रेम। यहाँ ज्ञान का तात्पर्य बुद्धिकृत मीमांसा से है। अतः तत्संबंधी रुचि ही 'फिलासफी' है। इसके विपरीत भारतीय शब्द है 'दर्शन', जिसका अर्थ है 'देखना', अर्थात् तत्त्व का 'साक्षात्कार' करना। हमारे यहाँ ज्ञान के जिस विवेचन में सत्य या तत्त्व को स्वयं न देखा जाय, उसे 'दर्शन' कहना कठिन है। इस अर्थ में वही तत्त्व सत्य है, जिसके संबंध में हम यह कह सकें कि वह हमारा साक्षात्कृत है, अर्थात् अनुभव का विषय है। यही हमारा 'दर्शन' है।

कहते हैं, भगवान् बुद्ध अपने उपदेशों में इस बात पर बहुत जोर दिया करते थे कि मैं जिस मार्ग का शास्ता हूँ, मैंने उसे स्वयं देख लिया है। जब तक किसी उपदेष्टा या ज्ञानी की ऐसी विश्वस्त स्थिति न हो, तब तक वह मानव जीवन के लिए असंदिग्ध या महत्वपूर्ण तत्त्व का व्याख्यान नहीं कर सकता। दर्शन का संबंध जीवन के साथ अति घना है। जीवन में आत्मकृत अनुभव के बिना तेजस्वी दर्शन का जन्म नहीं होता। इस देश में तो जिस समय भी दर्शन की पहली ज्ञान-रश्मियाँ प्रस्फुटित हुई थीं, उसी समय यह बात जान ली गई थी कि दर्शन का अर्थ 'साक्षात्कार' है! हमारी परिभाषा में प्राचीनतम ज्ञानियों का नाम 'ऋषि' है। संस्कृत भाषा में निरुक्त शास्त्र की जो अद्भुत सामर्थ्य है, उसके द्वारा 'ऋषि' शब्द 'दार्शनिक' के अभिप्राय को यथार्थ रूप से प्रकट कर देता है। यास्काचार्य ने लिखा है:--

ऋषिर्दर्शनात् (निरुक्त २।११)

अर्थात् 'ऋषि' शब्द का अर्थ है 'द्रष्टा' या देखनेवाला। शुष्क ऊहापोह करनेवाला तार्किक भारतीय अर्थ में 'दार्शनिक' की पदवी का अधिकारी नहीं बनता। दार्शनिक बनने के लिए 'दर्शन' होना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें, तो यथार्थ दर्शन के लिए 'ऋषित्व' आवश्यक है। इस देश की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिपाटी के अनुसार जो व्यक्ति अपने आपको ज्ञान का अधिकारी कहे, उसे यह कहने का सामर्थ्य पहले होना चाहिए कि 'मैंने ऐसा देखा है।' यजुर्वेद के शब्दों में सच्चा दार्शनिक वही है, जो यह कह सके--'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' अर्थात् 'मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य के समान भास्वर और तम से अतीत है।'

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार 'एवं मयाश्रुतं' कहनेवाले के पास वस्तुतः स्वयं अपने दर्शन का सर्वथा अभाव है। जीवन तो आत्मानुभव का नाम है। दूसरे के दर्शन से अपनी तृप्ति त्रिकाल में भी संभव नहीं।

'फिलासफी' और 'आन्वीक्षिकी' का अर्थ-भेद

हमारे साहित्य में दर्शन के लिए 'आन्वीक्षिकी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विद्याओं का वर्गीकरण करते समय दर्शन के लिए 'आन्वीक्षिकी' पद का ही प्रयोग किया गया है। आन्वीक्षिकी शब्द में भी (अनु+ईक्ष्) ईक्षण या देखने का भाव है। डॉ० बैटी हाइमान ने भारतीय विचार-प्रणाली की विशेषता का अध्ययन करते हुए इन परिभाषात्मक शब्दों के विषय में निम्न सूचक वाक्य लिखे हैं--

"यदि हम पाश्चात्य शब्द 'फिलासफी' और उसके संस्कृत पर्याय पर विचार करें, तो दोनों का मौलिक भेद तुरंत प्रकट हो जाता है। यूनानी शब्द 'फिलोसोफिया' का शब्दार्थ है 'ज्ञान का प्रेम'। इसके प्रतिकूल संस्कृत शब्द 'आन्वीक्षिकी' का तात्पर्य है पदार्थों का ईक्षण, अर्थात् सृष्टि के समस्त पदार्थों में तत्त्व वस्तु की खोज या तत्त्व-निदिध्यासन। संसार के पदार्थ हमारे ईक्षण का विषय इसलिए बनते हैं कि हम उनके द्वारा तत्त्व का ध्यान कर सकें, केवल पदार्थों की छानबीन हमारा ध्येय नहीं।"

निरा बुद्धि-कुतूहल दर्शन नहीं

सच्ची जिज्ञासा के कारण 'कस्त्वं कोऽहम्' जैसे प्रश्नों की जो मीमांसा की जाती है, उसके अनुसार ही 'दर्शन' शब्द की परिभाषा का स्पष्टीकरण ऊपर किया गया है। दर्शन का मानव जीवन पर जो परिणाम या फल होता है, जिज्ञासा के साथ उसका भी गहरा संबंध है। जिज्ञासु के लिए दर्शन बुद्धि का कुतूहल नहीं। वह कमरे के भीतर बंद होकर कुर्सी पर बैठा हुआ अपने कर्त्तव्य की इति श्री नहीं समझता। उपनिषद् में जो यह कहा गया है कि यह आत्मतत्त्व केवल 'मेधा' या बहुत विद्या पढ़ने (बहुश्रुत होने) से नहीं मिलता, वह जिज्ञासु मनोवृत्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए ही है।

महाकवि जायसी ने इसी बात को सीधे-सादे शब्दों में यों कहा है--

> का भा जोग-कथनि के कथे।
> निकसै घिउ न बिना दधि मथे।।

अर्थात् योग की कथा कहने-सुनने से क्या फल होने का? बिना दही को मथे घी नहीं निकल सकता! इसलिए भारतीय परंपरा के अनुसार दर्शन या साक्षात्कार की विधि ऐसी ही है, जैसे कि स्वयं दही को मथकर घी निकालना। इस उक्ति से एक विशिष्ट जीवनक्रम का परिचय मिलता है। दूसरे शब्दों में, दर्शन का फल है 'साधना'। साधना के ही नामान्तर 'तप', 'व्रत' या 'दीक्षा' हैं। इसीलिए उपनिषदों ने कहा है--

> सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
> सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अर्थात् सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार आचरण से ही आत्मतत्त्व का दर्शन हो सकता है।

ये बातें साधना की ओर संकेत करती हैं। जीवन में दर्शन का फल है साधना का उदय। साधना की भावना से सात्विकी श्रद्धा का जन्म होता है। प्रश्नात्मक जिज्ञासा को अश्रद्धा (या श्रद्धा का अभाव) नहीं समझना चाहिए। जिज्ञासा का अभाव ही अश्रद्धा है और जिज्ञास्य विषय को अपने अध्यवसाय की क्षमता से अनुभव का विषय बना सकना ही श्रद्धा का लक्षण है।

दूसरे शब्दों में, आत्मविश्वास ही श्रद्धा है। जिज्ञासु को अपनी दृढ़ता में विश्वास होता है। यही उसका पाथेय है। अपने में अविश्वास का होना अश्रद्धा का रूप है। प्रश्नों का उत्पन्न न होना तो तम या मूर्च्छा है। संदेह या प्रश्नों को परास्त करने की शक्ति ही जिज्ञासु की श्रद्धा कहलाती है। जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर यदि जीवन के क्रम में परिवर्तन नहीं होता, तो जिज्ञासु मानो 'दर्शन' या साक्षात्कार के साथ अपना सीधा संबंध जोड़ने से बचना चाहता है। इस दृष्टि से दार्शनिक का जीवन एकान्ततः नैतिक बन जाता है।

दार्शनिक कांट ने एक स्थान पर कहा है--

'नीतिमय जीवन का प्रारंभ होने के लिए विचारक्रम में परिवर्तन तथा आचार का ग्रहण आवश्यक है।'

भारतीय परिभाषा में इस प्रकार के जीवनक्रम की संज्ञा 'तप' है। इसीलिए तो यहाँ का प्रत्येक दार्शनिक संप्रदाय जीवन की एक-न-एक साधना की शिक्षा देता है। ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा वेदांत, सांख्य, योग सब के साथ एक-न-एक जीवन-मार्ग का घना संबंध है। इसी कारण जीवन से विरहित कोई दर्शन भारतवर्ष में नहीं पनप सका। जिस दर्शन का जीवन के साथ निकट का संबंध था, वही यहाँ सब से अधिक फूला-फला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय दर्शन ::
विविध धाराएँ और सम्प्रदाय

तत्त्व-साक्षात्कार की भूख अर्थात् 'जिज्ञासा' ही 'दर्शन' की जननी है, इस तथ्य को हृदयंगम कर लेने के उपरान्त, आइए, अब पूर्व और पश्चिम की प्रमुख दार्शनिक धाराओं का परिचय प्राप्त किया जाय। पहले हम अपने देश के विविध दार्शनिक संप्रदायों का ही संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने जा रहे हैं, जो कि प्राच्य तत्त्वचिंतन का मूल पीठस्थान रहा है।

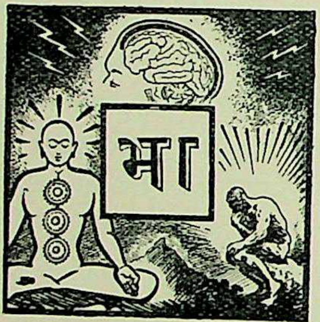

भारतीय दर्शन के इतिहास को साधारणतया दो धाराओं में विभक्त किया जाता है, यद्यपि इनके नामकरण और वर्गीकरण में पर्याप्त भेद है। किसी ने इन्हें वैदिक और अवैदिक, किसी ने आस्तिक और नास्तिक तथा किसी ने ब्राह्मण और श्रमण धाराएँ कहकर एक-दूसरे से पृथक् किया है। तात्त्विक रूप में भारतीय दर्शन के इतिहास को हम निम्न तीन धाराओं में बाँट सकते हैं--

(१) बौद्धिक नैरात्मवादी अनात्मदर्शन।

(२) केवलिक अनन्तधर्मात्मवादी अनेकान्त दर्शन।

(३) औपनिषदिक अध्यात्मवादी आत्मदर्शन।

पहले वर्ग में नास्तिक धारा के लोकायत और बौद्ध दर्शन नामक दो प्रमुख संप्रदायों का, दूसरे वर्ग में जैन दर्शन का और तीसरे में प्रचलित आस्तिक धारा के षड्दर्शनों एवं आगमों का समावेश किया जाता है। लोक-व्यवहार में आगे चलकर इन्हीं का दैवी और आसुरी नामक दो प्रवृत्तियों के रूप में वर्गीकरण किया गया है।

प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से किसी भी तत्त्व (तथ्य) की स्थिति तथा उसके गुणों को निश्चय करने के लिए निश्चयात्मक साधनों की आवश्यकता होती है। इन साधनों को 'प्रमाण' कहते हैं। इनके द्वारा सिद्ध विषयवस्तु ही ज्ञान है। लोकव्यवहार में सामान्यतया ऐसे तीन प्रमाणों का व्यवहार होते देखा जाता है, जो क्रमशः 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शब्द' के नाम से प्रख्यात हैं, पर कुल मिलाकर भारतीय विचारकों ने ऐसे दस प्रमाणों का वर्णन किया है। प्रत्येक दर्शन इनमें से एकाधिक प्रमाणों को स्वीकार करते देखा जाता है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शनों को हम निम्न छः वर्गों में बाँट सकते हैं:--

(१) केवल 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को माननेवाले।

(२) केवल 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' को माननेवाले।

(३) केवल 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शब्द' को माननेवाले।

(४) केवल 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द' और 'उपमान' को माननेवाले।

(५) केवल 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द', 'उपमान' और 'अर्थापत्ति' को माननेवाले।

(६) केवल 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द', 'उपमान', 'अर्थापत्ति' और 'अनुपलब्धि' को माननेवाले।

प्रमाणों की इस न्यूनाधिक स्वीकृति के अनुसार ही इन धाराओं की तत्त्व-विचार (पदार्थ-निरूपण), ज्ञान-मीमांसा एवं नीतिशास्त्र-विषयक प्रमुख विभिन्नताएँ हमारे सामने उपस्थित होती हैं। इन धाराओं के नाम क्रमशः ये हैं:--

(१) लोकायत या चार्वाक दर्शन।

(२) बौद्ध दर्शन।

(३) सांख्य, योग तथा जैन दर्शन।

(४) न्याय और वैशेषिक दर्शन।

(५) मीमांसा दर्शन।

(६) वेदान्त दर्शन।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवल 'प्रत्यक्ष' अर्थात् लौकिक मानवीय बाह्येन्द्रिय मात्र को ही समस्त ज्ञान का साधन मानने तथा अपनी दृष्टि सामान्य दृश्य जगत् (लोक) तक ही सीमित रखने के कारण, यह संप्रदाय 'लोकायत' कहलाता है। उधर ऐन्द्रिक प्रामाण्य की प्रमुखता तथा विशेष रूप से ऐन्द्रिक विषयों की सत्ता को स्वीकार करने के कारण यही भोगवादी मत 'चारुवाक' (मिष्टभाषी) या 'चार्वाक' दर्शन के नाम से अभिहित किया गया है।

इसकी निम्न चार प्रमुख उपधाराएँ मानी गई हैं--

(१) संशयवादी बार्हस्पत्य दर्शन—यह दर्शन-संप्रदाय वृद्ध आचार्य बृहस्पति के नाम से सम्बद्ध है, जिन्हें कोई-कोई देवगुरु बृहस्पति से संबंधित मानते तथा कोई उनसे पृथक् व्यक्ति बतलाते हैं। जो भी हो, इस दर्शन के पहले आचार्य सर्वसम्मति से कोई-न-कोई बृहस्पति ही माने गए हैं और यह दर्शन उन्हीं के द्वारा प्रसूत बताया गया है। इन्होंने 'बार्हस्पत्य सूत्र' की रचना की थी, जो अब उपलब्ध नहीं है। यह मतवाद वेदसम्मत सिद्धान्तों का प्रचण्ड विरोधी था तथा नियतिवाद एवं षष्ठीकारणवाद में इसकी कोई भी आस्था नहीं थी। इस धारा के प्रतिपादकों की कार्यविधि में कोई निश्चयात्मकता नहीं पाई जाती।

(२) स्वभाववादी लोकायत दर्शन—इसके प्रमुख आचार्य अजित केशकम्बलिन माने जाते हैं। यह दर्शन मुख्य रूप से इस लोक की सीमा से परे की किसी भी सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इसे 'सामान्य' और 'अनुमान' प्रमाण भी स्वीकृत नहीं। यह तो केवल व्यक्ति (विशेष) तथा दृश्य (प्रत्यक्ष) ही की सत्ता स्वीकार करता है। इसके अनुसार तत्त्वों की संख्या केवल चार हैं--पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि। इस संप्रदाय में परम सत्ता केवल 'पदार्थ' की मानी गई है और 'विचार' को उक्त पदार्थ का एक निश्चयात्मक गुण एवं मस्तिष्क में पाये जानेवाले कोषाणुओं की गतिविधि का स्वाभाविक परिणाम बतलाया गया है। यह दर्शन कर्मफल, अदृष्ट आत्मा तथा परलोक को बिल्कुल नहीं मानता। इसके मतानुसार प्रार्थना करना दुर्बलता का अन्तिम अस्त्र मात्र है तथा वेदों का वाग्जाल बुद्धि-पौरुषहीन जीवों ने मात्र अपनी धूर्तता से सीधे-सादे लोगों को ठगने के लिए ही प्रस्तुत किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस दर्शन का प्रादुर्भाव भारतीय विचारधारा के उस युगान्तरकाल में हुआ होगा, जिसे हम उपनिषदों के बाद का युग कह सकते हैं। इस काल में भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक विचार-क्रान्ति का दौरदौरा छाया हुआ था, जिसके फलस्वरूप विचार-स्वातंत्र्य की धारा अपनी चरम सीमा पर पहुँच रही थी। कहना अनावश्यक है कि ऐसे वातावरण में जीवन में स्वेच्छाचारिता की भावना का पनपना एक नितान्त स्वाभाविक बात है।

(३) भोगवादी चार्वाक दर्शन—यह दार्शनिक संप्रदाय आचार्य चार्वाक के नाम से संबन्धित किया जाता है, जो मैक्समूलर के मत में आचार्य बृहस्पति के प्रमुख शिष्य थे। इस मत की ऐन्द्रिक विषय-भोग एवं दैहिक सुख में प्रमुख आस्था मानी गई है और सुखोपभोग को छोड़कर देह को पीड़ित करना परम मूर्खता बताई गई है। चार्वाक मतवालों के अनुसार मनुष्य को अपना एकमात्र जीवनोद्देश्य सुख ही मानना चाहिए, क्योंकि यह स्पष्ट है कि सब प्राणी सुख की ही कामना करते हैं और उसकी ही प्राप्ति में निशिदिन विकल रहते हैं; चाहे वे बच्चे, युवक या बूढ़े हों। इस विचारधारा के अनुसार प्राप्त अवसर का भोगों को सुलभ करने के लिए उपयोग करना ही परम पुरुषार्थ है। यदि सुख के बीच में किसी तरह का व्यवधान उपस्थित हो, तो व्यक्ति को अन्य किसी बात से पहले उसे दूर करने की चिन्ता करनी चाहिए। संक्षेप में, यह सिद्धांत स्वार्थवादी तथा भोग, सुख, विलासिता को प्रश्रय देनेवाला मतवाद था और इसका एकमात्र नारा 'मौज करो, खाओ-पियो, चाहे ऋण ही क्यों न लेना पड़े' यही था। ये लोग कहते थे कि इस देह के भस्म हो जाने के पश्चात् सुखभोग का फिर ऐसा अवसर नहीं मिलेगा और जब यह देह नहीं रहेगी तो फिर कौन किससे लेदे सकता है!

(४) आचार्य पुरन्दर का नास्तिक संप्रदाय—इस संप्रदाय ने अपने जमाने में विशिष्ट युक्तियों द्वारा आस्तिक संप्रदाय की मान्यताओं का खण्डन करने में प्रमुख योग दिया था। आगे चलकर इस संप्रदाय के नास्तिक, तन्त्र-मन्त्र तथा भूत-विद्या इत्यादि के प्रतिपादक कई एक चरम रूप सामने आए, जिनके अपने-अपने ग्रंथ भी रहे होंगे; पर उक्त रचनाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं। इस नास्तिक संप्रदाय के अस्तित्व का पता हरिभद्र सूरी के समय तक चलता है, फिर भी आचार्य शंकर ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया है।

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता के मतानुसार चार्वाक भारतीय भौतिकवाद का एक सामान्य नाम मात्र है और बरुआ महोदय इसे केवल एक मिथ्या कल्पना मानते हैं। इस दर्शन के प्रमुख स्वरूप को स्पष्ट करनेवाला एक ग्रन्थ 'चार्वाक-षष्ठी' के नाम से प्रख्यात है, किन्तु उसकी यथार्थता में बहुतों को सन्देह है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध दर्शन

इस दर्शन की आधारशिला महात्मा गौतम बुद्ध द्वारा उद्घोषित चार 'आर्य सत्यों' पर प्रस्थापित की गई है। इनमें पहला सत्य 'दुःख' है। इस दर्शन के अनुसार संसार का स्वाभाविक स्वरूप उसकी अनित्यता है और जन्म का स्वाभाविक परिणाम जरा, रोग, क्लेश और मृत्यु है। जहाँ लोकायत दर्शन संसार में केवल सुख का अस्तित्व मानता है और मनुष्य को चारों ओर सुख की प्राप्ति में ही तन्मय देखता है, वहाँ भगवान् बुद्ध इस "सुख-तृष्णामरीचिका" के पीछे उपस्थित दुःख की विनाशकारी छाया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। उनका कथन है कि वास्तविक सुख तो वह है, जिसका विनाश न हो ! जो क्षणिक है, विनाशशील है, आशंकाओं से भरा है, वह भला सुख कैसे कहा जा सकता है ? अतः विचारवान् व्यक्ति सुख-दुःख का निश्चय सामान्य ऐन्द्रिक 'प्रत्यक्ष' के आधार पर नहीं किया करता। वह तो इन्द्रियों से न दिखाई देनेवाले एवं उनकी सामान्य पहुँच के बाहर छिपे हुए तथ्य का विचारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है। यह केवल 'अनुमान' से ही संभव है। इसीलिए बौद्ध दर्शन 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' इन दो प्रमाणों को ही स्वीकार करता है। 'अनुमान' का प्रमथ प्रयोग दूसरे, तीसरे और चौथे आर्य सत्यों की स्थापना करना है।

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिष्ठित दूसरा आर्य सत्य था--'दुःख का कारण है।' उनके इस सिद्धान्त को 'प्रतीत्य समुत्पाद' भी कहा जाता है। एक वस्तु कारण-रूप से दूसरे का आश्रय है, इसे ही प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। दुःख के अस्तित्व के इस सिद्धान्त के अनुसार बौद्ध दर्शन में बारह निदान माने गए हैं:--

(१) दुःख (जन्म ग्रहण करना)।

(२) जाति—जो जरा और मरण का कारण है।

(३) भव—अर्थात् जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति, जो 'जाति' का कारण है।

(४) उपादान—संसार में लिप्त रहने की अभिलाषा एवं उसे न छोड़ने का मोह, जो 'भव' का कारण है।

(५) तृष्णा—ऐन्द्रिक विषयभोग से प्राप्त सुखानुभूति की शब्दस्पर्शादि वासनाएँ, जो 'उपादान' का कारण हैं।

(६) वेदना—विषय-वस्तु की इन्द्रियानुभूति, स्पर्श तथा संपर्क की भावना, जो 'तृष्णा' का कारण हैं।

(७) स्पर्श—जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मनरूपी 'षड़ायतन' का कारण है।

(८) षड़ायतन—जिनके द्वारा स्पर्श के माध्यम से तृष्णाजन्य वेदना सिद्ध होती है।

(९) नामरूप—जो 'षड़ायतन' का कारण है।

(१०) चैतन्य—जो नाम-रूप से उत्पन्न विज्ञान कहलाता है तथा 'संस्कार' का कारण है।

(११) संस्कार—जो 'अविद्या' नामक बारहवें निदान का जनक है।

(१२) अविद्या—यह संस्कार से उत्पन्न होती है, जिसे साधारण अर्थ में हम नामरूपात्मक विज्ञानप्रसूत 'सांसारिक सुख तथा उसकी तृष्णा' की स्मृति कह सकते हैं। राग-द्वेष, शोक-मोह, बंधन और मोक्ष का यही कारण है।

बुद्ध द्वारा उद्घोषित तीसरा आर्य सत्य था 'दुःख-निरोध'। जब दुःख का कारण है, तो उन कारणों का अन्त ही दुःख का अन्त हो सकता है। यदि वृक्ष को नष्ट करना है, तो उसके कारण बीज का अन्त किए बिना हम उसका (वृक्ष का) अन्त नहीं कर सकते। इसी को 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण की प्राप्ति राग-द्वेषों पर विजय पाकर आर्य सत्यों का ध्यान करते हुए की जा सकती है। निर्वाण जीवन का नाश नहीं है, वह केवल दुःख का नाश है।

बुद्ध ने सांसारिक जीवों को अज्ञानान्धकार से जाग्रत करने के लिए, जिस चौथे आर्य सत्य की घोषणा की, वह यह था-- (१) दुःख है, (२) उसके कारण हैं, (३) उनका निरोध है और (४) उसका मार्ग है। दुःख-निरोध का निश्चित् मार्ग ही चौथा आर्य सत्य था। इसे ही 'निर्वाण-मार्ग' भी कहा गया, जिसका दार्शनिक रूप आगे चलकर 'मध्यम मार्ग' के रूप में उपस्थित हुआ। इसका विस्तार बुद्ध ने निम्न 'अष्टांग मार्ग' के रूप में प्रस्तुत किया :--

(१) सम्यक् दृष्टि, (२) संम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति तथा (८) सम्यक् समाधि।

बुद्ध ने अपने मार्ग की प्रतिष्ठा मनुष्य की योग्यता पर स्थापित की थी। उनका कहना था—"भिक्षुओ, जिस प्रकार पण्डित लोग सोने को कसौटी पर कसकर ही ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार मेरे कथन को बुद्धि से परीक्षित करके ही ग्रहण करो ! इसलिए मैं कहता हूँ, मेरे उपदेशों का अंधानुकरण मत करो। तुम्हारी श्रद्धा नय की तरफ न होकर केवल सत्य ही की तरफ होनी चाहिए। खोजो और पाओ। अपना मार्ग स्वयं बनाओ। तुम्हारे लिए तुम्हारी आत्मा ही अन्तिम शरण है।"

बुद्ध के बाद बौद्ध दर्शन दो प्रमुख शाखाओं में बँट गया, जिन्हें 'हीनयान' और 'महायान' कहा जाता है। बौद्ध दर्शन अनात्मवादी और अनीश्वरवादी कहा गया है। आत्मा का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनस्तित्व तथा उसे अनित्य मानना ही बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद है। इस दर्शन के अनुसार संसार एक निरंतर गतिमान प्रवाह मात्र है। मनुष्य उसमें पूर्वापर तथा अन्य सम्बन्धों का आरोप करता है। उदाहरणार्थ––पिता और पुत्र का संबंध केवल पूर्वापर है, वस्तुतः वे मनुष्य ही हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इस निरन्तर प्रवाहमान संसार में कहीं भी स्थिर, शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता का दर्शन नहीं होता। यही बौद्ध दर्शन का 'क्षणवाद' कहा जाता है।

निर्वाण-प्राप्ति के लिए उपयुक्त ज्ञान का निश्चय हो जाने के पश्चात् मनुष्य के लिए अत्यावश्यक है कि उसे अपने जीवन में धारण करे। इसीलिए बौद्ध धर्म ने 'सब कोई बुद्ध की शरण हों, धर्म की शरण हों, संघ की शरण हों'––यह नारा लगाया है। प्रज्ञा, शील और समाधि के रूप में अष्टांग मार्ग को नियोजित करके एक निश्चित आचार-संहिता को जन्म देना बौद्ध दर्शन की सब से बड़ी देन है।

जैन दर्शन

जैन दर्शन की विशिष्टता यह है कि वह आत्मवाद और अनात्मवाद दोनों के मध्य एक प्रकार के समन्वय की स्थापना करता है। उसके अनुसार सत्य या तथ्य वस्तु अनन्तधर्मा अर्थात् अनेकान्तिक है। प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। सत् परिणामी और नित्य है। अनन्तधर्मा होने के कारण वह पूर्णरूपेण वचनीय नहीं है। यदि कहा जाय कि "है" तो "नहीं है" असिद्ध हो जायगा और यदि कहें कि "नहीं है" तो "है" असिद्ध हो जायगा। फलतः वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता नष्ट हो जायगी, साथ ही नयाभास प्रस्तुत हो जायगा। इसलिए जैन दार्शनिकों ने अपने अनेकान्तवाद का तार्किक विश्लेषण 'स्याद्वाद' के रूप में किया है।

वस्तु या सत्ता के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान जिस पक्ष को प्रस्तुत करता है, उसे जैन दर्शन में 'धर्म' कहा गया है। प्रमुख रूप से प्रत्येक वस्तु उत्पाद, ध्रौव्य और धर्मात्मक है। सत् अपने सही रूप में अनन्तधर्मात्मक है। 'स्याद्वाद' इसी अनंतात्मकता की रक्षा और पुष्टि करता है। कथनीयता की दृष्टि से हम ज्ञान के साधारणतया दो ही विभाग मानते हैं––"है" या "नहीं है"। किंतु ज्ञान की यह दृष्टि अपूर्ण और सापेक्षिक है। अतः जैन दर्शन इसका विस्तार सात अंगों में करता है। इसे ही 'सप्तअंगी नय' कहते हैं। ये हैं––(१) स्यात् अस्ति (शायद है) (२) स्यात् नास्ति (शायद नहीं है) (३) स्यात् अस्ति च नास्ति च (शायद है भी और नहीं भी है)। यदि इन तीनों ही अंगों को मान लिया जाय, तो कहना होगा कि संपूर्ण सत का स्वरूप एवंभूत या इत्थं रूप सुनिश्चित वक्तव्य में प्रकट नहीं हो सकता। अतः जैन तार्किक चौथे अंग को स्वीकृत करते हैं। वे उसे (४) स्यात् अवक्तव्यं कहते हैं। फलस्वरूप पहले तीन अंग भी इसके साथ जुड़ जाएँगे। ये हैं––(५) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यं (शायद है, परन्तु नहीं कहा जा सकता); (६) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं (शायद नहीं है, पर नहीं कहा जा सकता); (७) स्यात् अस्ति च, नास्ति च अवक्तव्यं (शायद है और नहीं भी है, पर नहीं कहा जा सकता)।

यह 'स्याद्‌वाद' संदेहवाद या सापेक्षवाद नहीं है। इसे केवल ज्ञान की पूर्णता का उल्लेख मानना चाहिए। यह वाद मनुष्य के ज्ञान की आंशिकता, अपूर्णता किंवा अल्पज्ञता की घोषणा करते हुए उसके सुनिश्चित पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति की संभावना को निश्चित करता ह। उक्त पूर्ण ज्ञान को जैन दर्शन में 'केवल ज्ञान' कहा गया है। इस 'केवल ज्ञान' का अधिकारी केवल सिद्ध या 'जिन' ही होता है, जिसने ज्ञान का दर्शन किया है और उसे जीवन में धारण किया है। यह सिद्धावस्था एक पूर्ण आचारशास्त्र या व्यवहार-ज्ञान पर आश्रित है।

जैन दर्शनानुसार निर्वाण (मोक्ष) के लिए (१) सम्यक् दर्शन, (२) सम्यक् ज्ञान एवं (३) सम्यक् चारित्र्य रूपी 'त्रिरत्न' का धारण करना आवश्यक है। वस्तु की अनंतधर्मात्मकता एवं स्याद्वाद का सुनिश्चय मनुष्य को प्रेरित करता है कि वह ज्ञान प्राप्त करे और जो कुछ प्राप्त है, उसे ही पूर्ण मानकर नहीं बैठ जाय।

जैनियों के अनुसार द्रव्य के दो भेद हैं––(१) अस्तिकाय (देहधारी) और (२) अनस्तिकाय (देहरहित)। अस्तिकाय दो हैं––(अ) जीव [बद्ध और मुक्त] तथा (ब) अजीव [धर्म, अधर्म, आकाश, एवं पुद्गल]। वासना (आस्रव रूप से) बन्धन का कारण है। उसका निरोध 'संवर' कहलाता है। 'संवर' से 'निर्जरा' (मोक्ष) प्राप्त होती है। इस तरह जैन दर्शन ने निश्चित पुष्ट आचार-मीमांसा के रूप में एक सुगठित धर्म को जन्म दिया है। यह दर्शन अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि की प्रतिष्ठा में तप को महत्व देता है।

जैन धर्म के प्रतिपादकों में वर्धमान महावीर प्रमुख हैं। इसके दो प्रमुख संप्रदाय 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' हैं।

सांख्य दर्शन

भारतीय दर्शन की आस्तिक धारा के जो छः प्रमुख दर्शन माने गए हैं, उनमें 'सांख्य' कदाचित् सब से प्राचीन है। इस दर्शन ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शब्द' इन तीन प्रमाणों को

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

माना है और 'पुरुष' एवं 'प्रकृति' के विभिन्न तत्त्वों को मिलाकर पच्चीस तत्त्व प्रतिपादित किए हैं। सांख्य दर्शन के सिद्धान्त प्रमुख रूप से श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत और कपिल-सूत्रों में निहित हैं। उसका उपलब्ध आधारभूत सिद्धान्त-ग्रंथ ईश्वरकृष्णकृत 'सांख्य-कारिका' है। कुछ लोग योग दर्शन को सांख्य की केवल व्यावहारिक भूमिका मात्र मानते है। किन्तु इन दोनों दर्शनों को स्वतंत्र दर्शनों के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। वस्तुतः आस्तिक धारा के सब से प्राचीन दर्शन ये ही दोनों प्रतीत होते हैं। सांख्य दर्शन की प्रमुख विशेषता उसका सत्कार्यवाद और प्रकृति के विकास का क्रम है। इस दर्शन के अनुसार कार्य और कारण में एक निश्चित संबन्ध है तथा कार्य-कारण की सत् अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से कारण में सूक्ष्म रूप से अंतर्निहित गुणों की स्थूल परिणति ही कार्य है। इसी सिद्धान्त को 'परिणामवाद' कहा गया है। मनुष्य के अज्ञान का कारण सही कारणों और संबन्धों का अज्ञान है। यह अज्ञान ही दुःख का कारण है। यदि मनुष्य को सही-सही कारणों का बोध हो जाय, तो वह स्वयंप्रयत्न से इच्छित फल (परिणाम) अर्थात् 'मोक्ष' को प्राप्त कर सकता है। 'प्रकृति' के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप एवं 'पुरुष' के साथ उसके संबन्ध की सत्यता का निश्चित ज्ञान ही दुःखों से निवृत्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करा सकता है। यह समझना कि 'पुरुष' और 'प्रकृति' के बीच में कोई वास्तविक संबन्ध है, असत्य है। 'प्रकृति' ही बन्धन और मोक्ष को उत्पन्न करती है। 'पुरुष' सर्वदा बन्धन और मोक्ष से मुक्त रहता है। इसीलिए जब 'पुरुष' और 'प्रकृति' के बीच बन्धन और मोक्ष का कार्य-कारण संबंध मान लिया जाता है, तो प्राकृतिक धर्मानुसार होनेवाले संयोग-वियोग, सुख-दुःख, राग-द्वेष, आदि दुःख के कारण बनकर व्यक्ति अपने को सुख-दुःख, शोक-मोह, राग-द्वेष आदि से प्रेरित हुआ मानने लगता है। सांख्य दर्शन की इस व्याख्या को स्वीकृत कर लेने पर 'पुरुष' के अस्तित्व की आवश्यकता केवल प्रारम्भिक और सापेक्षित मात्र प्रतीत होती है। सांख्य दर्शन ने अपनी आचार-मीमांसा में विचार के द्वारा कर्म-शुद्धि के आधार पर मनुष्य की अज्ञान से निवृत्ति का प्रतिपादन किया है।

योग दर्शन

सांख्य की तरह योग भी एक अति प्राचीन दर्शन है। यह दर्शन 'पुरुष', 'प्रकृति' और 'पुरुष-विशेष' (ईश्वर) रूपी तीन स्वतंत्र सत्ताएँ स्वीकृत करता है। इसके अनुसार मनुष्य के बंधन (दुःख) का कारण प्रकृति की स्वाभाविक चेष्टा के अनुरूप बहते रहना है। अतः मोक्ष केवल इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का निग्रह होने पर ही संभव है। संसार में मनुष्य जिन स्वाभाविक परिस्थितियों में अपने को पाता है, उनके बीच वह सामान्य रूप में व्यवहार करने लगता है। किन्तु आवश्यकता यह है कि वह उनके और अपने सम्बन्ध को ठीक तरह से पहचाने और फिर यह निश्चित करे कि उसका मार्ग और ध्येय क्या है! इसके लिए उसे अपनी प्रकृत वृत्तियों का संयम और वैराग्यपूर्वक निग्रह करने का अभ्यास करना पड़ेगा, अर्थात् अनिष्ट से अपने स्वाभाविक योग को हटाकर प्रयत्नपूर्वक इष्ट के साथ योग स्थापित करना होगा। इसीलिए इस दर्शन का नाम 'योग दर्शन' पड़ा है। इस दर्शन में ईश्वर 'पर आदर्श' और 'पर गुरु' के रूप में प्रतिष्ठित है। यह दर्शन बुद्धि को सामान्य ऐन्द्रिक विषयों के अनुराग से पृथक् करके, योग के निश्चित अंगों के साधन द्वारा, समाधि की अवस्था तक पहुँचा देने के क्रम पर बल देता है।

वैशेषिक और न्याय दर्शन

ये दोनों दार्शनिक धाराएँ वास्तविक व्यवहारवादी भूमिका पर स्थापित हैं। न्याय के अनुसार पदार्थों की संख्या सात है, जिन्हें मनुष्य के सांसारिक अनुभवों की वास्तविक गणना के आधार पर 'द्रव्य', 'गुण', 'कर्म', 'सामान्य', 'समवाय', 'विशेष' और 'अभाव' की संज्ञा प्रदान की गई है। यह दर्शन ईश्वर को परमाणुओं के संकलन के लिए प्रकृति के समारम्भ का निमित्त कारण मानता है। इसके मतानुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, धर्माधर्म, संस्कार आदि सब-कुछ आत्मा में प्रतिबिम्बित होते हैं, जो ज्ञान का आश्रय है। जीवात्मा नाना प्रकार के कष्ट अपनी अल्पज्ञता के कारण ही भोगता है और इस भवचक्र के कारण का ठीक-ठीक निश्चय हो जाने पर वह सांसारिक जन्म-मरण की आवश्यकता से मुक्त हो जाता है। उक्त अवस्था में वह सम्पूर्ण रूप से अनुभवशून्य हो जाता है। जब तक मनुष्य संसार में है और उसकी इन्द्रियाँ कार्यरत हैं, वह सुख और दुःख प्राप्त करता ही रहेगा। वासना और कर्म दोनों का आग्रहपूर्वक अतिशय निरस्त हो जाना ही मोक्ष है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयस की ठीक-ठीक सिद्धि अर्थात् धर्म का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाना ही मोक्ष है। इसके लिए प्रमाणों के आधार पर प्रमेय (ज्ञान के विषय) का ठीक-ठीक निश्चय होना आवश्यक है। यह दर्शन ज्ञान के लिए चार प्रमुख प्रमाणों को आवश्यक मानता है। ये हैं--'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' और 'शब्द'। इसके अनुसार मोक्ष मृत्यु के पश्चात् ही संभव है। दूसरे शब्दों में, देह-त्याग के बाद फिर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से देह न धारण करना ही मोक्ष है। यह स्थिति पूर्ण ज्ञान-युक्त आचरण से ही पाना संभव है।

पूर्व मीमांसा दर्शन

कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र द्वारा प्रतिपादित 'पूर्व मीमांसा' वेदमूलक प्राचीन परम्परा का प्रमुख दर्शन है। यह दर्शन ब्राह्मण-ग्रन्थों पर आश्रित है और यज्ञवाद, कर्मफल आदि पर आस्था रखने के कारण 'कर्म-मीमांसा' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा एक अविनाशी तत्त्व है, जो ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञान का विषय है और जिसका अनुभव सांसारिक वस्तु के समान प्राप्त होता है। हम जहाँ सांसारिक वस्तुओं का सीधा ज्ञान प्राप्त करते हैं, वहाँ आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हमें किसी माध्यम ही से उपलब्ध होता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार केवल ज्ञान से ही मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। मोक्ष की उपलब्धि धर्म के यथार्थ ज्ञान से ही हो सकती है, जो हमें वेदों से प्राप्त होता है और जिसका पालन हमारा कर्त्तव्य है। यह दर्शन मनुष्य को संसार में प्रवृत्त करते हुए, वैदिक कर्मकाण्ड (यज्ञ और उपासना) की महत्ता को तार्किक भूमि पर ला खड़ा करता है। वेद में तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन पाया जाता है—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। मीमांसकों के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए मनुष्य को इन कर्मों का विधिवत् पालन करना चाहिए। मोक्ष आत्मा की वह अवस्था है, जो विधिवत् कर्म करने के फलस्वरूप कर्मों की परिपूर्णता के रूप में प्राप्त होती है। उस स्थिति पर पहुँचने पर सब प्रकार के कर्मों का न्यास हो जाता है।

उत्तर मीमांसा या वेदान्त

बादरायण व्यासकृत वेदांत-सूत्रों पर आश्रित दर्शन 'उत्तर मीमांसा' या 'वेदान्त' कहलाता है। इसके प्रमुख प्रतिपादक आचार्य शंकर हैं। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म अविनाशी, अपरिवर्तनशील, सनातन एवं नित्य तत्त्व है। वह सत्, चित् और आनंदस्वरूप है। यह सच्चिदानंदस्वरूप परमात्मा दुःख, अचित् और असत् को उसी तरह प्रस्तावित करता है जैसे प्रकाश सिमटकर अंधकार को फैलने का अवसर देता है। नाम और रूप के माध्यम से इस सच्चिदानंद रूप तत्त्व के नाना प्रकार दिखाई देते हैं—जैसे मिट्टी से कटोरा, प्याला, घड़ा आदि अथवा सुवर्ण से कुण्डल, कंगन, अँगूठी आदि नामरूपात्मक भेद प्रकट होते हैं। इन नामरूपात्मक भेदों की अपनी स्वतंत्र स्थिति (सत्ता) नहीं है, कारण काले या खुरदरे होने पर अथवा लाल या चिकने होने पर भी मिट्टी के प्याले आदि मिट्टी ही रहेंगे। इसी तर्क के आधार पर वेदांत दर्शन ने नित्य सत्तावान् अपरिणामशील परम सत्य अर्थात् ब्रह्म को ही एकमात्र परम आधार माना है। यह ब्रह्म सनातन सत्य, असीम ज्ञान और अनंत आनंदस्वरूप है।

वेदान्त दर्शन संसार को नाशवान्, अनित्य और असत्य मानता है। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके अनुसार संसार की स्थिति ही नहीं है अथवा उसका बोध हमें नहीं होता। यह दर्शन केवल उसकी आत्यंतिक सत्यता का परिहार करता है। जैसे तालाब में लहर और भँवर उसके जल से पृथक् नहीं हैं, वैसे ही यह सुख-दुःखमूलक द्वन्द्वात्मक संसार भी अपने आश्रयस्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसकी भिन्नता (नानात्व) के प्रति दृष्टि रखने से ही हमें विनाश, दुःख अथवा मृत्यु का दर्शन होता है। वास्तविक रूप से सब कुछ उसी एक का विकार मात्र है। वेदान्त द्वारा प्रतिपादित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की इस अखंड एकता का ज्ञान वस्तुतः उपनिषदों के 'तत्त्वमसि', 'अयं आत्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों का ही विस्तार है। वेदान्त के अनुसार सत्य ज्ञान के पूर्व ही हम असत्य को सत्य मानते रहते हैं; एक बार सत्य का निश्चित साक्षात्कार (बोध) हो जाने पर, वह मानी हुई झूठी सत्ता ज्ञानी के लिए हमेशा के लिए समाप्त हो जाती है, जैसे कि सपने में कटे हुए सिर का दुःख जाग्रत अवस्था में समाप्त हो जाता है। अथवा 'यह रस्सी है', ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान देखे हुए सर्प और उसके भय को फिर से उपस्थित नहीं कर सकता, जब तक कि पुनः वैसा ही भ्रम हमें न हो जाय।

सत्य ज्ञान की यह विशेषता है कि वह अज्ञान का ठीक वैसे ही नाश कर देता है जैसे प्रकाश अंधकार का। उस नित्य सत्य के अर्थ में केवल एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है और उससे पृथक् सब कुछ मिथ्या है।

ज्ञानपरक स्थिति को व्यावहारिक स्वरूप देते समय, वेदान्त दर्शन संसार के प्रत्येक जीव में सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्रतिष्ठा करता है। इस तरह वह 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना को फैलाते हुए हमें आत्मा की एकता और समता के आधार पर व्यवहार करने की प्रेरणा देता है। वह मनुष्य को सत्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता और तदनुसार कर्म करने के लिए बाधित करता है। मनुष्य को विद्या और अविद्या, माया और सत्, स्वार्थ-परमार्थ के द्वन्द्व से हटकर एक अद्वितीय सत्य-अनन्त-ज्ञानस्वरूप परमात्मा की उपासना करना चाहिए, यही इस दर्शन की सारभूत शिक्षा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाश्चात्य दर्शन :: प्रमुख चिन्तन-धाराएँ

ढाई हजार वर्षों की अनवरत लेखबद्ध श्रृंखला में उपलब्ध पाश्चात्य दर्शन ऐतिहासिक तारतम्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुगठित और सुसम्बद्ध रूप हमें प्राप्त है। प्रस्तुत विवेचन प्राचीन यूनानी चिन्तकों से लेकर आज तक के प्रमुख पाश्चात्य विचारकों द्वारा प्रतिपादित इस दर्शन की विविध प्रस्थापनाओं के एक सिंहावलोकन जैसा है।

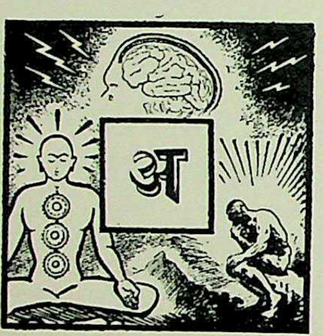

ध्ययन की दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन के इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) आदि काल (लगभग ६०० ईस्वी पूर्व से ५०० ईस्वी के आस-पास तक); (२) मध्य काल (५०० ई० से १६०० ई० तक); और (३) आधुनिक काल (१६०० ई० से आज तक)।

आदि काल :: प्राचीन यूनान की चिन्तन-धारा

पाश्चात्य दर्शन का प्रारम्भ प्राचीन यूनान में हुआ, ऐसा माना जाता है। यूनान के दार्शनिकों ने अपना चिंतन संसार के मूल पदार्थों के विषय में सोच-विचार से आरंभ किया था। उनके समक्ष बहुत दिनों तक मुख्य प्रश्न यही रहा कि वह प्रथम द्रव्य कौन-सा है, जिससे संसार की उत्पत्ति हुई है ? अनुभव प्राप्त करने पर मानव अपनी दृष्टि बाहर से भीतर की ओर मोड़ता है। अतः समय बीतते यूनानी चिंतक भी बाह्य सृष्टि के साथ-साथ आत्मा तथा आचार के संबंध में विचार करने लगे। इस प्रकार आत्मा को दार्शनिक चिंतन का विषय बनाने का एक परिणाम यह हुआ कि बाद के यूनानी तत्त्व-चिन्तकों की दृष्टि विशेषतः नैतिक तथा धार्मिक आवश्यकताओं की ओर मुड़ी, जिससे कालान्तर में आचार-संबंधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन दर्शन का एक प्रमुख विषय बन गया। विकास-क्रम के अनुसार यूनानी दर्शन के इतिहास का निम्न प्रकार से काल-विभाजन किया जा सकता है :—

(१) सुकरात से पूर्व का युग (६०० से ४२५ ई० पू०)।

(२) सुकरात और उसकी शिष्य-परम्परा का काल (४२५ से ३२२ ई० पू०)।

(३) अरिस्टाटल और उसके बाद का युग (३२२ ई० पू० से ५०० ई० तक)।

थेलीज (६२४-५५० ई० पू०)—सुकरात से पूर्व की यूनानी दार्शनिक धारा मुख्यतः भौतिकवादी थी। इस धारा का जनक आयोनिया-निवासी थेलीज माना जाता है। इस चिन्तक ने जल को मूल तत्त्व माना और उसी से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति की प्रस्थापना प्रस्तुत की, यद्यपि वह यह नहीं बता सका कि सब वस्तुएँ जल से किस प्रकार बनीं !

एनैक्षिमैंडर (६११-५४७ ई० पू०)—यह विचारक थेलीज का शिष्य तथा उसका समकालीन था। उसने सृष्टि का मूल कारण जल की तरह कोई विशेष भौतिक पदार्थ नहीं, बल्कि एक ऐसे निर्विशेष द्रव्य को कल्पित किया, जिसका परिमाण अपरिमित है। एनैक्षिमैंडर का कहना था कि यदि किसी विशेष प्रकार के सीमित द्रव्य (जैसे जल) को मूल तत्त्व माना जाय, तो उससे विभिन्न प्रकार के अनेक पदार्थों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः मूल तत्त्व निर्विशेष, असीम तथा अनियत द्रव्य ही हो सकता है।

एनैक्षिमेनीज (५८८-५२४ ई० पू०)—यह पूर्वोक्त एनैक्षिमैंडर का शिष्य था, परन्तु अपने गुरु की भाँति किसी निर्विशेष पदार्थ को नहीं, वरन् थेलीज की तरह एक विशेष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भौतिक द्रव्य--वायु--को मूल तत्त्व मानता था। एनैक्षिमेनीज का कहना था कि वायु में घनीकरण और शैथिल्य ये दो गुण होते हैं। घनीकरण शीतलता से तथा शैथिल्य उष्णता से होता है। वायु की शीतलता से पृथ्वी और उष्णता से अग्नि, तारागण आदि उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार हमारे शरीर को प्राणवायु जीवन प्रदान करती है, उसी प्रकार उपर्युक्त वायु तत्त्व सारे संसार को साधे हुए है।

बाद के २०० वर्षों तक उपर्युक्त तीनों दार्शनिकों के अनुयायी किसी-न-किसी रूप में उनके विचारों का ही प्रतिपादन करते रहे। इनमें हिप्पो, ईडियस तथा डीयोजेनीज के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पाइथागोरस तथा उसके अनुयायी (लगभग ५८०-५०० ई० पू०)—पाइथागोरस का मत था कि संसार की सब वस्तुएँ 'संख्या' के अनुकूल बनी हैं, अतः संख्या ही वस्तुओं का सार है; वही सब पदार्थों में मुख्य तत्त्व है, क्योंकि अन्य गुणों का नाश हो जाने पर भी संख्या बनी रहती है। इस सिद्धान्त को पदार्थों में घटित करने के प्रयास में पाइथागोरस ने ईश्वर को १ की संख्या माना। उसने कहा कि जिस प्रकार १ से ही बाकी सब अंक निकले हैं, उसी प्रकार ईश्वर से समस्त संसार की उत्पत्ति हुई है। उसने सम की अपेक्षा विषम संख्याओं को अधिक महत्वपूर्ण माना। पाइथागोरस के विचार फीलोलोडस आदि उसके अनुयायियों की उक्तियों से ही जाने जा सकते हैं; उसकी अपनी कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है। उसके अनुयाइयों ने भी सम्पूर्ण संसार को सम-विषम आदि दस प्रकार के भेदों से व्याप्त मानकर यह प्रस्थापना प्रस्तुत की कि इनका मेल स्वर-साम्य के अनुसार होता है। इन लोगों का कहना था कि आत्मा एक से दूसरे शरीर में जा सकती है और दस हजार वर्ष के बाद सम्पूर्ण संसार जैसा पहले था, फिर से वैसा ही हो जाता है।

अब तक के सभी यूनानी विचारकों ने किसी-न-किसी रूप में एक और अनेक का ही प्रश्न उठाया था। यही प्रश्न बदलते-बदलते अब चिन्तकों के समक्ष नित्य और अनित्य की समस्या के रूप में प्रस्तुत हुआ। फलतः बाद के विचारकों में एक-दूसरे से विपरीत धारणावाले दो वर्ग हो गए, जिनमें से एक नित्यत्व और दूसरा अनित्यता का प्रतिपादक था। इस काल के दार्शनिकों में जेनोफेनीज, पार्मेनिडीज तथा जीनो मुख्य थे।

जेनोफीनीज (५७०-४८० ई० पू०)—यह एनैक्षिमैंडर का शिष्य था। इसने सृष्टि का आदि कारण एक ईश्वर को माना, क्योंकि ईश्वर ही सर्वोत्तम आचारवाला हो सकता है। उसका कहना था कि ईश्वर वस्तुतः एक ही है और वह अनादि शाश्वत है तथा समस्त सृष्टि उसी का रूप है। इस मतवाद को 'सर्वेश्वरवाद' की संज्ञा दी जाती है।

पार्मेनिडीज (लगभग ४७५ ई० पू०)—इस विचारक ने ईश्वर ही नहीं, बल्कि वस्तुमात्र के एक होने की प्रस्थापना प्रस्तुत की। उसका मत था कि सारा संसार सत्स्वरूप है और असत् की कोई स्थिति नहीं हो सकती। पार्मेनिडीज के अनुसार अभाव की कोई सत्ता ही नहीं हो सकती। उसका कहना था कि सत् अपने में ही पूर्ण है, उसमें विकार और परिवर्तन नहीं हो सकता। असत् का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए सत् की ही वास्तविक सत्ता है। जेनोफीनीज ने जो कुछ धार्मिक शब्दों में व्यक्त किया था, पार्मेनिडीज ने उसे ही दार्शनिक शब्दावली में प्रस्तुत कर दिया। आगे चलकर इसी बात को जीनो (४९० ई० पू०-४३० ई० पू०) ने तर्क द्वारा सिद्ध किया। जब यह सिद्धान्त निश्चित हो गया कि संसार एक ही पदार्थ से निर्मित होता है तथा अपरिवर्तनशील है, तो परिवर्तन की सत्ता ही समाप्त हो गई। इस अवस्था में यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में जो परिवर्तन और अनेकता दिखाई पड़ती है, वह हमारे भ्रम का ही परिणाम है। परिवर्तन को सत् मानने में तमाम विरोधाभास तथा कठिनाइयाँ सामने आती हैं। जीनो ने अपने तर्क द्वारा इन्हीं विरोधाभासों को प्रदर्शित किया। उसने परिवर्तन को भ्रमयुक्त सिद्ध करके अपने गुरु पार्मेनिडीज का मत पुष्ट किया। जीनो योरप में तर्कशास्त्र का प्रथम प्रचारक माना जाता है। बाद में संशयवादियों ने अपना मत उसके ही हेतुओं से सिद्ध किया था। जीनो का ही समकालीन गार्जियस था, जिसने उन्हीं हेतुओं के आधार पर यह दिखाया कि न केवल देश, काल, गति आदि का भेद ही विरोधग्रस्त है, बल्कि स्वयं सत्ता भी कोई वस्तु नहीं है। उसका कहना था कि ठीक मत असत्वाद ही है।

पार्मेनिडीज के समय में ही पाँच अन्य बड़े दार्शनिक हुए, जिनमें चार तो वैज्ञानिक दार्शनिक थे और पाँचवाँ प्रोटेगोरस संशयवादी था। वैज्ञानिक दार्शनिकों में हेराक्लीट्स (५३५-४७५ ई० पू०) का नाम सर्वप्रथम हमारे सामने आता है। उसने अग्नि को मूल तत्त्व माना, क्योंकि अग्नि ही एक ऐसा पदार्थ है, जिसमें प्रति क्षण परिणाम होता रहता है। संसार का मूल वस्तुतः कोई ऐसा ही द्रव्य हो सकता है, जिसमें प्रति क्षण परिणाम होता रहता हो। हेराक्लीटस का कथन था कि संसार अग्नि से ही निकलता है और कल्पांत में जलकर अग्नि में ही प्रवेश करेगा। मनुष्य को संसार की बहुत-सी वस्तुएँ स्थिर जान पड़ती हैं, पर यह इन्द्रियजन्य ज्ञान है, जो निरा भ्रमपूर्ण है। पार्मेनिडीज तथा उसके अनुयाइयों के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जहाँ परिवर्तन या गति की धारणा अपूर्ण थी, वहाँ हेराक्लीटस के लिए स्थिरता ही भ्रममूलक थी। पार्मेनिडीज के लिए एकता और स्थिरता दार्शनिक विचार के परिणाम थे। हेराक्लीटस ने अनेकता तथा अस्थिरता का पक्ष लिया था।

एम्पेडाक्लस (४९५-४३५ ई० पू०)—इस तत्त्वचिंतक ने पूर्वोक्त दो धाराओं के बीच का मार्ग ढूँढ़ा। उसका कहना था कि निरा परिवर्तन असंभव है। वह सृष्टि के मूल तत्त्व ४ भौतिक पदार्थों में निहित मानता था, क्योंकि किसी एक प्रकार के तत्त्व से केवल उसी प्रकार की वस्तुएँ बन सकती हैं, जैसे जल से जलीय वस्तुओं की ही उत्पत्ति संभव है। विश्व में अनेक प्रकार की वस्तुओं को देखकर किसी भी एक तत्त्व को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल ये चार तत्त्व ही ऐसे हैं, जो स्वयं निर्जीव तथा गतिहीन होकर भी समस्त सृष्टि के कारण हैं। इनके अलावा प्रेम और द्वेष नामक दो बाहरी शक्तियाँ भी हैं, जो उन्हें गति प्रदान करती हैं। प्रेम से तत्त्वों का संगठन और द्वेष से विघटन होता है। निर्माण और विनाश का क्रमशः यही कारण है। परन्तु उपर्युक्त शक्तियाँ भी पूर्णतः भौतिक हैं, वे मानसिक या आध्यात्मिक शक्तियाँ नहीं हैं। आधुनिक काल में प्रसिद्धि पानेवाले डारविन के सुपरिचित विकासवादी सिद्धान्त का मूल प्रणेता यही दार्शनिक माना जाता है। इसने स्पष्ट रूप से यह बात बता दी थी कि पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति एक क्रमिक विकास द्वारा हुई है!

ल्युकिपस—इस दार्शनिक के जन्म तथा मृत्यु की तिथि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है, केवल इतना ही निश्चित है कि वह एम्पेडाक्लस तथा एनैक्सागोरस का समकालीन था। इसके दार्शनिक विचारों का पता उसके शिष्य डेमोक्राइटस के लेखों से चलता है। ये दोनों गुरु-शिष्य परमाणुवादी थे। इन्होंने भौतिक परमाणुओं को ही मूल तत्त्व माना और यह प्रतिपादित किया कि परमाणु भौतिक पदार्थों के अत्यन्त सूक्ष्म, निरवयव तथा अविभाज्य टुकड़े हैं, जो अनेक तथा अनश्वर हैं। इनका कहना था कि परमाणुओं में कोई गुणवत् भेद नहीं होता; भेद होता है सिर्फ आकार तथा परिमाण का। ये परमाणुवादी सभी परमाणुओं को गुण में समान मानते थे। उनका मत था कि परमाणु एक दूसरे से अलग रहते हैं और उनकी परस्पर पृथकता तथा गति के लिए रिक्त आकाश की आवश्यकता है। गतिशील होना परमाणुओं का स्वाभाविक गुण है। उत्पत्ति तथा विनाश इसी स्वाभाविक गुण के परिणाम हैं।

एनैक्सागोरस (लगभग ५००-४२८ ई० पू०)—वैज्ञानिक दार्शनिकों की श्रेणी में स्थान पानेवाले इस विचारक ने एम्पेडाक्लस तथा ल्युकिपस के इस मत को स्वीकार करके, कि संसार का सर्वथा आदि या अन्त अचिन्तनीय है, यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि संसार की उत्पत्ति तथा विनाश के लिए वैसे तो यद्यपि किसी भी पृथक् व्यक्ति की अपेक्षा नहीं है, तथापि इस सृष्टि की अपूर्व गति तथा सुन्दर रचना के लिए किसी सर्वशक्तिशाली सत् वस्तु की अपेक्षा अवश्य है। इस प्रकार एनैक्सागोरस ही वह सर्वप्रथम पाश्चात्य दार्शनिक कहा जा सकता है, जिसने दर्शन के क्षेत्र में ईश्वर की प्रस्थापना की। उसके अनुसार संसार की रचना चित्-शक्ति--'नौसा'--से हुई है। यह परम शक्ति शुद्ध और सर्वशक्तिमान है और उसी ने अपनी विवेकशक्ति से सब वस्तुओं की रचना की है। इस विचारक के साथ यूनानी दर्शन के आदि युग का प्रथम चरण समाप्त होता है।

इस समय के विचारकों में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रमाण न मानने की समान प्रवृत्ति थी। अतः शीघ्र ही लोगों को इस बात में सन्देह होने लगा कि जिस बुद्धि द्वारा इन सब मतों का प्रादुर्भाव हुआ है, वह बुद्धि स्वयं सत् ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है अथवा नहीं! उधर यूनान में इन दिनों व्यक्तिवाद की धारणा जोर पकड़ रही थी और विचार-स्वातंत्र्य बढ़ रहा था। प्रायः प्रत्येक महत्वाकांक्षी पुरुष शुल्क देकर भाषण-कला में कुशलता प्राप्त करने के हेतु शिक्षक रक्खा करता था। इस प्रकार की शिक्षा देनेवाले लोग 'सोफिस्ट' कहे जाते थे। इस विचारधारा का प्रथम तथा मुख्य दार्शनिक प्रोटेगोरस (लगभग ४८०-४१० ई० पू०) नामक हुआ।

सुकरात (४७०--४०० ई० पू०)—यूनानी दर्शन का दूसरा युग सॉक्रेटीज या सुकरात से प्रारम्भ होता है, जिसने पूर्वोक्त तार्किकों का खण्डन करके दर्शनशास्त्र को सुदृढ़ नींव पर खड़ा कर दिया। सुकरात स्वयं बहुत बड़ा तार्किक था। पर उसके दार्शनिक विचार उसे किसी गुरु से न मिलकर स्वयं उसी के अपने गम्भीर चिंतन के परिणाम थे। सुकरात के दार्शनिक विचारों की जानकारी हमें प्लेटो तथा जेनोफेन नामक उसके दो शिष्यों के लेखों से ही मिलती है, स्वयं उसकी अपनी कोई कृति उपलब्ध नहीं है। उसका मत था कि मनुष्य को प्रकृतिविज्ञान से उतना लाभ नहीं होता, जितना आचार-विज्ञान से। इसलिए नैतिक तत्त्वों का अन्वेषण ही दार्शनिकों का मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिए। सुकरात के लिए ज्ञान तथा धर्म अभिन्न तत्त्व थे। उसका कथन था कि हमें सदा अपने ज्ञान की परीक्षा करते रहना चाहिए, ताकि उचित प्रकार से लाभ हो। इस महापुरुष के अनुयाइयों में प्लेटो के अतिरिक्त ऐन्टिस्थेनीज, एरिस्टिपस तथा यूक्लिड मुख्य थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्लेटो (लगभग ४२७–३४५ ई० पू०)—प्राचीन यूनान के सबसे महान् तत्त्वचिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित, इस महापुरुष की टक्कर के युगान्तरकारी विचारक न केवल योरप में प्रत्युत संसार भर में गिने-चुने ही हुए हैं। प्लेटो ने दर्शन-शास्त्र की शिक्षा सुकरात तथा केटिलस से पाई थी। यूनानी विचार के क्षेत्र में एक सुव्यवस्थित दार्शनिक धारणा प्रस्तुत करके, अध्ययन के प्रांगण में वैज्ञानिक विधि के प्रयोग का सूत्रपात करने का मुख्य श्रेय प्लेटो को ही है। प्लेटो का दर्शन यूनानी विचारधारा की धुरी माना जाता है। प्लेटो से पहले की यूनानी चिन्तन-धारा उसके ही दर्शन की भूमिका जैसी है और बाद की विचारधारा उसका उपसंहार कही जा सकती है। प्रोटेगोरस की भाँति प्लेटो भी इन्द्रियजन्य ज्ञान को विश्वसनीय नहीं समझता, था, परन्तु वह इतने ही से संतुष्ट न होकर सुकरात की भाँति निश्चित ज्ञान के प्रत्ययों को भी मानता था। उसका मत था कि ज्ञान के प्रत्यय पार्मेनिडीज की 'सत्ता' की भाँति अचल हैं और पाइथागोरस की संख्याओं की तरह वे ही समस्त दृश्य पदार्थों में सारभूत हैं। प्लेटो ने हेराक्लीटस के परिवर्तन तथा डेमोक्राइटस की अनेकता का तिरस्कार नहीं किया, परन्तु उसने यह प्रस्थापना की कि परिवर्तशील सांसारिक दृश्य पदार्थ प्रत्ययों की प्रतिलिपि-मात्र हैं और इनकी सत्ता कुछ सत् और कुछ असत् के बीच की सत्ता है। प्रधान सत्ता केवल सामान्यों की ही होती है, पदार्थों की सत्ता तो गौण है। इस प्रकार प्रत्ययवादी दार्शनिक विचारधारा का जन्मदाता प्लेटो ही माना जाता है। उसने इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा लोकमत का तिरस्कार करके बुद्धिजन्य ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान माना। लोकमत तथा यथार्थ ज्ञान में भी प्रत्येक के दो-दो विभाग उसने किए—एक नीची श्रेणी का और दूसरा उससे ऊँची श्रेणी का। सब से नीची श्रेणी के अयथार्थ ज्ञान को उसने स्वप्न, प्रतिबिम्ब आदि का आभास और सर्वोच्च यथार्थ ज्ञान को सामान्यतम प्रत्यय श्रेणी का ज्ञान माना। प्लेटो ने बुद्धि की तुलना सारथी से की है, कारण मनोविकारों पर वही नियन्त्रण रखती है। आत्मा को उसने अमर माना है, जिसका कर्मानुसार पुनर्जन्म होना वह स्वीकार करता है। उसने आत्मा के तीन भाग माने हैं, जिनमें केवल बुद्धिरूपी प्रथम तथा उच्चतम भाग ही अजर तथा अमर है। प्लेटो के सभी ग्रन्थ प्रायः सम्वादों के रूप में लिखे गए हैं। ऐसे ३५ संवादों तथा १३ पत्रों की जानकारी आज है, जिनमें मुख्य हैं रिपब्लिक, फीडो, पार्मेनिडीज, थिएटेटस, लाज, स्टेट्समैन आदि। प्लेटो के राजनीति तथा कर्तव्य सम्बन्धी विचार उसके उपर्युक्त दार्शनिक विचारों के ही परिणाम हैं। उसका कहना था कि समाज में तीन कोटि के मनुष्य होते हैं, पर उस पर शासन करने का अधिकार उच्चतम वर्ग के मनुष्यों—केवल दार्शनिकों—को ही है, क्योंकि उन्हीं में तद्विषयक योग्यता होती है। प्लेटो द्वारा कल्पित आदर्श समाज व्यक्ति का ही विकसित रूप है, जिसका आधार न्याय है।

अरिस्टाटल (३८४–३२२ ई० पू०)—यूनानी दर्शन के द्वितीय काल का अन्तिम महान् दार्शनिक था अरिस्टाटल, जिसे 'अरस्तू' के नाम से भी पुकारा जाता है। यह प्लेटो का शिष्य था और अपने गुरु के समान सर्वतोमुखी प्रतिभा का विचारक था। दर्शन के क्षेत्र में प्लेटो की तरह अरिस्टाटल की भी देन महान् है। दर्शन के मौलिक स्वरूप के विषय में ये गुरु-शिष्य एकमत थे। वस्तुतः प्राचीन समय का ऐसा कोई भी ज्ञान का विषय नहीं था, जिस पर अरिस्टाटल ने कुछ न कुछ न लिखा हो। यूनानी तर्क की नींव यद्यपि सुकरात के समय में ही पड़ चुकी थी, परन्तु उक्त विद्या को सुबद्ध रूप देने का वास्तविक श्रेय और गौरव अरिस्टाटल ही को प्राप्त है। उसने तर्कशास्त्र को 'एनालिटिक्स' नाम दिया है और उसे यथार्थ विचार का शास्त्र माना है। उसके मतानुसार सामान्य प्रत्ययों की प्राप्ति तर्क द्वारा ही होती है, परन्तु यह प्राप्ति आगमनात्मक न्याय का परिणाम है. निगमनात्मक तर्क से केवल विशेष का ही ज्ञान होता है। उसने विधेय के साधारण 'आकार' के रूप में द्रव्य, गुण, परिमाण, सम्बन्ध, देश, काल, स्थिति, अवस्था, क्रिया और योग आदि १० पदार्थ माने हैं। अरिस्टाटल का कथन है कि जितनी भी प्राकृतिक वस्तुएँ हैं, उन सभी के निर्माण के हेतु ४ कारणों की अपेक्षा होती है। ये ४ कारण हैं—समवायि, असमवायि, निमित्त और लक्ष्य। इनमें भी बाद के ३ कारण 'आकार' में निहित हैं। इस प्रकार 'आकार' और 'द्रव्य' इन्हीं दो पदार्थों से मिलकर सब कुछ बना है। इनमें भी आकार मुख्य है, द्रव्य केवल सहकारी है। आकार वस्तु की पूर्ण सम्भावना है और वही उसकी गति का कारण है। मनुष्य का शरीर द्रव्य और आत्मा आकार है। अरिस्टाटल के अनुसार आत्मा के दो अंश हैं—एक अनुभवाधीन ज्ञानरूप और दूसरा शुद्ध, जो अनुभव-निरपेक्ष स्वयं ज्ञानस्वरूप है। इनमें जो अनुभवाधीन अंश है, वह नश्वर है, पर शुद्ध निरपेक्ष अंश अमर है। आत्मा एक है अथवा अनेक तथा वही साक्षात् ईश्वर है या कोई अन्य पदार्थ, इसका निश्चय अरिस्टाटल ने नहीं किया। हाँ, यह प्रस्थापना उसने अवश्य प्रस्तुत की कि ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण और लक्ष्य है तथा वही संसार की गति को जन्म देनेवाला है, यद्यपि वह स्वयं गतिहीन है। वह शुद्ध और ज्ञानस्वरूप है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सेनेका, गेलेन आदि प्रसिद्ध रोमन दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने संग्रहवादी मत का ही मार्ग ग्रहण किया था।

संग्रहवादियों के साथ अपने विवाद में संशयवादी अभी तक केवल तार्किक युक्तियों द्वारा ही विरोध प्रकट करते आ रहे थे। अब उक्त दार्शनिक तर्कों के अतिरिक्त शरीर-शास्त्र और अन्य अनुभवजन्य विषयों की सहायता से एनेसिडिमस, सेक्लटस, एम्पिरिकस आदि इस धारा के विचारकों ने प्राचीन मतों का नए वैज्ञानिक ढंग से खण्डन करना प्रारम्भ किया। इन लोगों ने दर्शन के साथ-साथ गणित और विज्ञान तक को संशयवादी धारणा का विषय बना डाला।

प्लाटिनस (२०४-२९९ ई०)—यह यूनान का अन्तिम विचारक था, जिसे प्लेटो के दर्शन को नवीन जीवन देने का श्रेय प्राप्त है। प्लाटिनस के ग्रन्थों का प्रकाशन उसकी मृत्यु के बाद उसी के शिष्य पर्फेरी ने किया था। इस तत्त्वचिंतक ने ईश्वर को ही संसार का आदि कर्त्ता तथा रक्षक माना और उसके स्वरूप का ज्ञान ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्रतिपादित किया। उसका कहना था कि ईश्वर प्रज्ञा का विषय है। उसके न तो गुण ही बताए जा सकते हैं, न परिभाषा ही दी जा सकती है, क्योंकि वह निर्विकार है। प्लाटिनस ने कहा कि अद्वितीय ब्रह्म से सर्वप्रथम एक 'मनस्' की उत्पत्ति होती है। उसे ही फाइलो ने 'लोगस' का नाम दिया। मनस् से जीवात्मा की उत्पत्ति होती है, जो समष्टि तथा व्यष्टि दो प्रकार का रूप ग्रहण करता है। आत्मा के बाद मूर्त पदार्थ की उत्पत्ति होती है। प्लाटिनस के अनुयाइयों में पर्फेरी, आयौम्बिलकस तथा प्लोकस मुख्य थे।

मध्यकाल :: ईसाई तत्त्वचिन्तक

विश्वव्यापी होने का दावा करनेवाले किसी भी धर्म के लिए अपने दायरे से बाहर के भी कुछ ज्ञान का समावेश करना अत्यावश्यक होता है। इसी दृष्टि से ईस्वी सन् के आरंभ के बाद निरन्तर बढ़ते चले जा रहे ईसाई धर्म को भी दार्शनिक विचारों की पुष्टि की आवश्यकता प्रतीत हुई। फाइलो और प्लाटिनस जैसे अन्तिम यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्त ऐसे थे, जो ईसाई धर्म में भली-भाँति खप सकते थे। फलतः 'मनस्' या 'लोगस' के सिद्धान्त को ईसाई धर्म की त्रिमूर्ति की परिकल्पना में स्थान मिल गया एवं ईश्वर और उसके पुत्र जीसस क्राइस्ट (ईसा मसीह) के परस्पर सम्बन्ध, पाप की धारणा तथा मनुष्य की स्वतंत्रता आदि प्रश्न मध्यकालीन दार्शनिक विचार के मुख्य प्रश्न बन गए। इस काल के प्रारम्भिक दर्शन को 'पैट्रिस्टिक' तथा बाद की धारा को 'स्कोलैस्टिक' कहते हैं।

सेण्ट आगस्टिन (३५३-४३० ई०)—मध्यकालीन दर्शन का प्रारम्भ वास्तव में इसी ईसाई महापुरुष से होता है, यद्यपि उससे पहले ईसाई धर्म की पुष्टि और व्याख्या करनेवाले तीन सम्प्रदाय जन्म ले चुके थे। पहले सम्प्रदाय के लोग 'एपोलोजिस्ट' अर्थात् मण्डनकर्ता, दूसरे 'नोस्टिक्स' अर्थात् निश्चय ज्ञानवादी और तीसरे 'केटेचिस्ट' अर्थात् प्रश्नोत्तरवाले कहे जाते थे। सेण्ट आगस्टिन को मध्यकाल के दर्शन में यूनानी काल की ज्ञानधारा का समावेश करने का श्रेय दिया जाता है। इस विचारक के प्रधान ग्रंथ 'कन्फेशन्स' और 'सिटी आॅफ गॉड' हैं। उसका मत था कि आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, जिसकी प्राप्ति के एकमात्र साधन धर्मशास्त्र हैं। इस ईसाई विचारक का कहना था कि बुद्धि श्रद्धाजनित ज्ञान को ही समझने का यत्न करती है। अतः हमें चर्च के सिद्धान्तों पर विश्वास करना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि चर्च ही है। आगस्टिन ने सत्य की सत्ता से ईश्वर को सिद्ध किया। उसका कथन था कि ईश्वर निर्गुण तथा निरुपाधिक है, अतः वह अनिवर्चनीय है। मनुष्य स्वतंत्र न होकर ईश्वर के अधीन है। संसार में जो बुराई दिखाई पड़ती है, वह ईश्वरीय कृति नहीं, क्योंकि उस बुराई की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। वह तो केवल भलाई का अभावात्मक पहलू मात्र है। सृष्टि अनादि नहीं, प्रत्युत अनन्त है और वह ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है। आत्मा तथा शरीर दो भिन्न तत्त्व हैं, पर उनका संबंध रहस्यात्मक है। आत्मा अमर है और सदाचार एवं प्रेम का स्थान सब से श्रेष्ठ है।

स्काट्स एरिजेना (८१०-८७७ ई०)—आगस्टिन ने जहाँ श्रद्धामूलक ज्ञान को बुद्धि द्वारा समझने की व्यवस्था की थी, वहाँ आयरलेंड के इस दार्शनिक ने विवेक और धर्म (अर्थात् विश्वास) को एक ही माना। उसका कहना था कि मनुष्यों को विवेकशक्ति ईश्वर ने ही दी है तथा ईश्वर ही सब कार्यों का मूल कारण है। पृथक् व्यक्ति केवल कार्य हैं, कारण नहीं। एरिजेना ने ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म माना और कहा कि मनुष्य को सद्गति इसी से प्राप्त होती है। उसने प्लेटो के सिद्धान्तों को सर्वेश्वरवाद की सीमा तक पहुँचा दिया।

एन्सेलम (१०३३-११०९ ई०)—एरिजेना के बाद होनेवाले सब से अधिक मौलिक विचारवाले इस दार्शनिक का मुख्य उद्देश्य था युक्तियों द्वारा प्राचीन ईसाई धर्मपुस्तकों में निहित तत्त्वों को उपपादित करना। प्लेटो की भाँति एन्सेलम ने भी यह सिद्ध कर दिखाया कि सामान्य प्रत्यय ही वास्तविक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ज्ञान ही उसकी क्रिया है । आचार के संबंध में अरिस्टाटल ने विशेष चिन्तन किया। कारण, आचार का मनुष्य से विशेष सम्बन्ध है। उसके अनुसार आचार में अनुभव तथा विवेक दोनों का समावेश है। धर्म या सदाचार दो प्रकार का होता है--एक कर्म-सम्बन्धी और दूसरा ज्ञान-सम्बन्धी ।

सुकरात, प्लेटो तथा अरिस्टाटल के दार्शनिक विचार आधुनिक पाश्चात्य दर्शन तथा विज्ञान के आदि स्रोत हैं । आचारशास्त्र का उपक्रम जहाँ सुकरात तथा उसके अनुयाइयों से हुआ था, वहाँ सत्ताशास्त्र का प्रारम्भ प्लेटो तथा उसके अनुयाइयों की देन थी और प्राकृतिक विज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं की उत्पत्ति अरिस्टाटल तथा उसके अनुगामियों के विचारों से ही हुई थी।

सुकरात से लेकर अरिस्टाटल तक के ३०० वर्षों का इतिहास यूनान के उत्थान और वृद्धि का महान् युग था। अरिस्टाटल के युग में यूनानी विचार अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। इसके बाद लगभग पाँच शताब्दी तक सामाजिक उथल-पुथल और राजनीतिक उतार का क्रम जारी रहने के कारण, विचार के क्षेत्र में ऊँची उड़ान का दौर घटने लगा। इस काल में पहले २०० वर्षों तक आचार-सम्बन्धी विचारों का प्रभुत्व रहा। तदनन्तर कुछ काल तक आचार तथा धर्म दोनों ही से सम्बन्धित विचार साथ-साथ चलते रहे। इसके पश्चात् धार्मिक विचारों की प्रधानता हो गई और विचार का रूप अधिक क्रियात्मक हो गया। अब सृष्टि का मूल कारणभूत तत्त्व क्या है, जीवन का लक्ष्य क्या है, हमारे कर्त्तव्य क्या हैं, सुख के साधन क्या हैं, आदि प्रश्न विशेष रूप से सामने आए। इन दिनों के नैतिक विचारकों में 'स्टोइक' तथा 'एपीक्यूरियन' दार्शनिक प्रमुख थे।

जीनो (३४२-२७० ई० पू०)—इस विचारक का कहना था कि समस्त ज्ञान का मूल प्रत्यक्ष ही है एवं अनुभव के पूर्व आत्मा को कोई ज्ञान नहीं रहता। जब बाह्य वस्तुएँ आत्मा पर उपयुक्त प्रभाव डालती हैं, तभी यथार्थ ज्ञान होता है, अन्यथा केवल भ्रम और सन्देह होता है। यह विचारक एक ही वस्तु की स्थिति-शक्ति को शरीर और कार्य-शक्ति को आत्मा कहता था। उसका मत था कि संसार भी ऐसा ही एक शरीर है, जिसकी आत्मा ईश्वर है। हेराक्लीटस की भाँति जीनो के अनुयायी, जिनमें क्लिटोंथीज, पसियस आदि मुख्य थे, अग्नि को मुख्य तत्त्व मानते थे। इनका कहना था कि आचार मुख्य है और धर्म ही मानव जीवन का प्रधान उद्देश्य है। इन 'स्टोइक' विचारकों ने मनुष्य की स्वतंत्रता नहीं मानी, क्योंकि उनके विचार से मनुष्य को अपनी और संसार की बुद्धि के अनुकूल ही चलना चाहिए। रोम में भी जीनो के कई एक अनुयायी हुए, जिनमें सिसरो, सेनेका आदि मुख्य थे। रोम का महान् धर्मशील सम्राट् मार्कस ऑरीलियस भी इसी मत का अनुयायी था।

एपीक्यूरस (३४१-२७० ई० पू०)—इसे हम यूनान के चार्वाक की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। इसके द्वारा प्रसारित सुखवादी विचारधारा यूनान तथा रोम दोनों में खूब प्रचलित हुई। एपीक्यूरस जीनो का समकालीन था। उसने डेमोक्रीटस के मत का अवलम्बन करके यह घोषित किया कि सुखमय जीवन बिताना ही आचार-शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। उसका मत था कि मूर्त पदार्थ, जिसे आत्मवादियों ने असत् कहा है, वस्तुतः असत् नहीं है। दरअसल नित्य परमाणुओं से बना हुआ मूर्त संसार ही सत् है और आत्मा भी एक सूक्ष्म मूर्त पदार्थ ही है। परमाणुओं में 'इच्छा-स्वातंत्र्य' की परिकल्पना एपीक्यूरस की ही देन है। उसकी मान्यता थी कि मनुष्य स्वतंत्र है और उसका जीवन पूर्वकर्मों से सर्वथा नियत नहीं है। इसी प्रकार कार्य-कारण का नियम भी अनिवार्य नहीं है। इस मत के दार्शनिक देवता या ईश्वर आदि की धारणा को अनावश्यक समझते थे और कहते थे कि आत्मा कोई चिरजीवी तथा पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाली सत्ता नहीं है--उसका शरीर के साथ ही अन्त हो जाता है। इनकी धारणा थी कि धर्म जीवन का उद्देश्य नहीं, बल्कि सुख का साधन मात्र है।

पीरो (३६५-२७० ई० पू०)—यह विचारक 'संशयवादी दर्शन' का मुख्य प्रणेता माना जाता है। उसका मत था कि किसी भी बात का निश्चय नहीं किया जा सकता। फलतः बिना किसी प्रमाण के मूल तत्त्वों की धारणा करना सर्वथा गलत है। विचारशील दार्शनिक को पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान हो सकता है अथवा नहीं, इस विषय में उसने संदिग्ध रहना ही श्रेयस्कर समझा। एनेसिडिमस के समय में इस संशयवाद का पुनः उत्थान हुआ; यहाँ तक कि प्लेटो के अनुयायी भी संशयवाद का अवलम्बन करने लगे! उन्होंने स्टोइक दर्शन का खण्डन करके इन्द्रियजन्य, बुद्धिजन्य और सामान्य प्रत्यय-रूपी समस्त ज्ञान को असम्भव और भ्रमपूर्ण बताया। इस संशयवादी विचारधारा के प्रतिकूल एक 'संग्रहवादी' विचारधारा का भी प्रचार इन्हीं दिनों चल रहा था। संग्रहवादियों ने संशयवादियों के शुष्क कुतर्कों से उकताकर यह बताया कि विभिन्न मतों में परस्पर विरोध होने के कारण सभी में विश्वास नहीं करना उचित नहीं है। वीथिसस, पेनीटियस, पोसीडियोनिस, जिमिनस, केटो आदि स्टोइकों; मेट्रोडोरस, फाइलो, एंटियोकस आदि प्लेटो के अनुयायियों; अरिस्टोक्रेटियस जैसे अरिस्टाटल के अनुगामियों तथा सिसरो,

सेनेका, गेलेन आदि प्रसिद्ध रोमन दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने संग्रहवादी मत का ही मार्ग ग्रहण किया था।

संग्रहवादियों के साथ अपने विवाद में संशयवादी अभी तक केवल तार्किक युक्तियों द्वारा ही विरोध प्रकट करते आ रहे थे। अब उक्त दार्शनिक तर्कों के अतिरिक्त शरीर-शास्त्र और अन्य अनुभवजन्य विषयों की सहायता से एनेसिडिमस, सेक्सटस, एम्पिरिकस आदि इस धारा के विचारकों ने प्राचीन मतों का नए वैज्ञानिक ढंग से खण्डन करना प्रारम्भ किया। इन लोगों ने दर्शन के साथ-साथ गणित और विज्ञान तक को संशयवादी धारणा का विषय बना डाला।

प्लाटिनस (२०४-२९९ ई०)—यह यूनान का अन्तिम विचारक था, जिसे प्लेटो के दर्शन को नवीन जीवन देने का श्रेय प्राप्त है। प्लाटिनस के ग्रन्थों का प्रकाशन उसकी मृत्यु के बाद उसी के शिष्य पर्फेरी ने किया था। इस तत्त्वचिंतक ने ईश्वर को ही संसार का आदि कर्त्ता तथा रक्षक माना और उसके स्वरूप का ज्ञान ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्रतिपादित किया। उसका कहना था कि ईश्वर प्रज्ञा का विषय है। उसके न तो गुण ही बताए जा सकते हैं, न परिभाषा ही दी जा सकती है, क्योंकि वह निर्विकार है। प्लाटिनस ने कहा कि अद्वितीय ब्रह्म से सर्वप्रथम एक 'मनस्' की उत्पत्ति होती है। उसे ही फाइलो ने 'लोगस' का नाम दिया। मनस् से जीवात्मा की उत्पत्ति होती है, जो समष्टि तथा व्यष्टि दो प्रकार का रूप ग्रहण करता है। आत्मा के बाद मूर्त पदार्थ की उत्पत्ति होती है। प्लाटिनस के अनुयाइयों में पर्फेरी, आयौम्ब्लिकस तथा प्लोकस मुख्य थे।

मध्यकाल :: ईसाई तत्त्वचिन्तक

विश्वव्यापी होने का दावा करनेवाले किसी भी धर्म के लिए अपने दायरे से बाहर के भी कुछ ज्ञान का समावेश करना अत्यावश्यक होता है। इसी दृष्टि से ईस्वी सन् के आरंभ के बाद निरन्तर बढ़ते चले जा रहे ईसाई धर्म को भी दार्शनिक विचारों की पुष्टि की आवश्यकता प्रतीत हुई। फाइलो और प्लाटिनस जैसे अन्तिम यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्त ऐसे थे, जो ईसाई धर्म में भली-भाँति खप सकते थे। फलतः 'मनस्' या 'लोगस' के सिद्धान्त को ईसाई धर्म की त्रिमूर्ति की परिकल्पना में स्थान मिल गया एवं ईश्वर और उसके पुत्र जीसस क्राइस्ट (ईसा मसीह) के परस्पर सम्बन्ध, पाप की धारणा तथा मनुष्य की स्वतंत्रता आदि प्रश्न मध्यकालीन दार्शनिक विचार के मुख्य प्रश्न बन गए। इस काल के प्रारम्भिक दर्शन को 'पैट्रिस्टिक' तथा बाद की धारा को 'स्कोलैस्टिक' कहते हैं।

सेण्ट आगस्टिन (३५३–४३० ई०)—मध्यकालीन दर्शन का प्रारम्भ वास्तव में इसी ईसाई महापुरुष से होता है, यद्यपि उससे पहले ईसाई धर्म की पुष्टि और व्याख्या करनेवाले तीन सम्प्रदाय जन्म ले चुके थे। पहले सम्प्रदाय के लोग 'एपोलोजिस्ट' अर्थात् मण्डनकर्ता, दूसरे 'नोस्टिक्स' अर्थात् निश्चय ज्ञानवादी और तीसरे 'केटेचिस्ट' अर्थात् प्रश्नोत्तरवाले कहे जाते थे। सेण्ट आगस्टिन को मध्यकाल के दर्शन में यूनानी काल की ज्ञानधारा का समावेश करने का श्रेय दिया जाता है। इस विचारक के प्रधान ग्रंथ 'कन्फेशन्स' और 'सिटी ऑफ गॉड' हैं। उसका मत था कि आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, जिसकी प्राप्ति के एकमात्र साधन धर्मशास्त्र हैं। इस ईसाई विचारक का कहना था कि बुद्धि श्रद्धाजनित ज्ञान को ही समझने का यत्न करती है। अतः हमें चर्च के सिद्धान्तों पर विश्वास करना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि चर्च ही है। आगस्टिन ने सत्य की सत्ता से ईश्वर को सिद्ध किया। उसका कथन था कि ईश्वर निर्गुण तथा निरुपाधिक है, अतः वह अनिवर्चनीय है। मनुष्य स्वतंत्र न होकर ईश्वर के अधीन है। संसार में जो बुराई दिखाई पड़ती है, वह ईश्वरीय कृति नहीं, क्योंकि उस बुराई की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। वह तो केवल भलाई का अभावात्मक पहलू मात्र है। सृष्टि अनादि नहीं, प्रत्युत अनन्त है और वह ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है। आत्मा तथा शरीर दो भिन्न तत्त्व हैं, पर उनका संबंध रहस्यात्मक है। आत्मा अमर है और सदाचार एवं प्रेम का स्थान सब से श्रेष्ठ है।

स्काट्स एरिजेना (८१०–८७७ ई०)—आगस्टिन ने जहाँ श्रद्धामूलक ज्ञान को बुद्धि द्वारा समझने की व्यवस्था की थी, वहाँ आयरलैंड के इस दार्शनिक ने विवेक और धर्म (अर्थात् विश्वास) को एक ही माना। उसका कहना था कि मनुष्यों को विवेकशक्ति ईश्वर ने ही दी है तथा ईश्वर ही सब कार्यों का मूल कारण है। पृथक् व्यक्ति केवल कार्य हैं, कारण नहीं। एरिजेना ने ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म माना और कहा कि मनुष्य को सद्गति इसी से प्राप्त होती है। उसने प्लेटो के सिद्धान्तों को सर्वेश्वरवाद की सीमा तक पहुँचा दिया।

एन्सेलम (१०३३–११०९ ई०)—एरिजेना के बाद होनेवाले सब से अधिक मौलिक विचारवाले इस दार्शनिक का मुख्य उद्देश्य था युक्तियों द्वारा प्राचीन ईसाई धर्मपुस्तकों में निहित तत्त्वों को उपपादित करना। प्लेटो की भाँति एन्सेलम ने भी यह सिद्ध कर दिखाया कि सामान्य प्रत्यय ही वास्तविक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। उसका कहना था कि सामान्यतम प्रत्यय ही ईश्वर है और प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है, जो एक या अनेक हो सकता है। इन दोनों ही रूपों में सृष्टि के आदि कारण ईश्वर की ही सिद्धि होती है। एन्सेलम ने ईश्वर को स्वयंभू, पारमार्थिक, निरपेक्ष तथा सर्वशक्तिमान् माना और उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए अपनी प्रख्यात 'आन्टोलाजिकल' युक्ति का प्रयोग किया।

अब ईश्वर आदि के उपपादन में सामान्य प्रत्ययों की इतनी अधिक आवश्यकता पड़ी कि इसके विषय में विचारकों के दो मत हो गए। कुछ लोग सामान्य प्रत्ययों को वास्तविक मानते थे और कुछ उन्हें अवास्तविक समझते थे। एक मत यह था कि 'मनुष्यत्व' कोई एक पृथक् वस्तु है, जिसके विविध व्यक्तियों में रहने के कारण ही सब कोई मनुष्य कहे जाते हैं। दूसरे मत के अनुसार व्यक्तियों से पृथक् जाति नामक कोई वस्तु नहीं थी। पहले मत को 'वस्तुवाद' तथा दूसरे को 'नामवाद' कहकर पुकारा गया। एबेलार्ड नामक विचारक ने इस विवाद को तय करने का स्तुत्य प्रयास किया।

टामस एक्वीनास (१२२५-१२७४ ई०)—इस विद्वान् का मुख्य कार्य था अरिस्टाटल के मत का पुनरुद्धार करना। उसने 'भाव' और 'अभाव' नामक दो पदार्थ माने। उसका मत था कि भाव पदार्थ के दो भेद हैं—द्रव्य तथा आकार। इन दोनों पदार्थों के मिलने से ही यह संसार बना है। आकार वास्तविक है, पर द्रव्य एक प्रकार की योग्यता मात्र है। आकार की अपूर्णता ही अनेकता का कारण है। ईश्वर पूर्ण आकार है, इसीलिए वह एक है। ईश्वर के यहाँ सत्ता और ज्ञान दोनों एक हैं, जबकि मनुष्यों में ये भिन्न हैं तथा सत्ता ही ज्ञान का कारण है। ईश्वर सत्यस्वरूप है, अतः उसकी सत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता। ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए एक्वीनास ने वस्तुओं की गति, अपूर्णता, क्रमबद्धता तथा उद्देश्यपूर्णता के आधार पर चार प्रकार के प्रमाण दिए। आत्मा के पुनर्जन्म आदि के संबन्ध में वह प्लेटो का अनुगामी था। उसने जीवात्मा की तीन शक्तियाँ मानीं—प्रथम संवेदन-शक्ति; द्वितीय बुद्धि की क्रियात्मक शक्ति तथा तृतीय बुद्धि की सम्भावित शक्ति। उसके अनुसार संवेदनात्मक ज्ञान निम्नकोटि का और सामान्य प्रत्यय सम्बन्धी ज्ञान वास्तविक था, जिसे वह संवेदनात्मक ज्ञान से ही प्राप्त मानता था। एक्वीनास मनुष्य की स्वतंत्रता की धारणा को मानता था। उसका कहना था कि अन्य जीवधारी केवल स्वभाववश कार्य करते हैं, पर मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा से कार्य करता है। एक्वीनास ने बुराई को अभावात्मक माना।

डंस स्काट्स (१२६५-१३०८ ई०)—इस विचारक के समय तक दर्शन पुनः धर्म से अलग हो चला, यहाँ तक कि अनेक बातों में दोनों परस्पर विरोधी भी हो गए। स्काट्स के मत में शास्त्र-प्रमाण गौण थे और तर्क ही मुख्य था। एक्वीनास ने ईश्वर की इच्छा को बुद्धि के अधीन अर्थात् पराधीन बताया था। स्काट्स को यह धारणा त्रुटिपूर्ण लगी, क्योंकि इसके मानने से ईश्वर और मनुष्य सर्वथा बुद्धि के अधीन हो जाते हैं। यदि कृतिशक्ति पराधीन है, तो फिर पाप-पुण्य का भेद भी असम्भव है, क्योंकि उस दशा में मनुष्य अपनी इच्छा से तो कुछ कर नहीं सकता। स्काट्स ने इच्छा-शक्ति को स्वतंत्र माना और यह धारणा प्रस्तुत की कि सृष्टि ईश्वर की इच्छा से ही उत्पन्न हुई है।

ओकम (१२८०-१३४७ ई०)—यह एक नामवादी विचारक था और स्काट्स का अनुगामी था। इसने जाति को व्यक्तियों से पृथक् वस्तु नहीं माना। उसका कहना था कि जाति अनेक व्यक्तिगत सदृश धर्मों के सम्प्रदाय का नाम मात्र है। ओकम के साथ ही माध्यमिक दर्शन का दूसरा काल समाप्त हो गया और दार्शनिक युक्तियों द्वारा धार्मिक ग्रन्थों को पुष्ट करने की प्रथा प्रायः उठ-सी गई। टामस एक्वीनास ने यह प्रश्न उठाया था कि कौन-सी बात केवल श्रद्धा और विश्वास पर तथा कौन-सी युक्ति के आधार पर मानी जा सकती है। ओकम ने इस धारणा को स्पष्ट किया कि पदार्थों के धर्म पदार्थों में ही रहते हैं। इससे वस्तुवाद में आस्था बढ़ने लगी।

पुनर्जागरण-काल की विचारधारा

१६वीं शताब्दी के मध्य में योरप में पुनर्जागरण या रेनासाँ का युग प्रारम्भ हुआ। संयोगवश इसी समय मुद्रण-कला का भी आविष्कार हुआ, जिससे हर एक को पुस्तकें मिलना सरल हो गया। इस युगान्तर से योरप में स्वतंत्र चिन्तन की एक जबर्दस्त लहर फैल गई। एक ओर मार्टिन लूथर के प्रोटेस्टेंट आन्दोलन से बढ़ावा पाकर लोग बाइबिल तथा अरिस्टाटल तक के विरुद्ध कहने का साहस करने लगे और प्राचीन रूढ़िवादिता से उनकी आस्था उठ चली। दूसरी ओर गैलीलियो, कॉपर्निकस तथा केप्लर आदि वैज्ञानिकों द्वारा ज्योतिष शास्त्र को नया मोड़ मिलने से विज्ञान के प्रति लोगों की रुचि बढ़ी और नवीन विचारों तथा दर्शनों का उदय हुआ। यद्यपि आधुनिक योरपीय दर्शन का प्रारंभ देकार्त्त से माना जाता है, पर पुनर्जागृति के प्रारंभ से देकार्त्त के समय तक इटली तथा इंगलैंड आदि में ऐसे कई विचारक हुए थे, जिन्होंने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन चिन्तन-पद्धति के विध्वंस एवं आधुनिक दर्शन के उत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। इन संक्रांतिकालीन विचारकों में ब्रूनो, कैम्पानेला, बेकन तथा हॉब्स मुख्य थे।

ब्रूनो (१५४८–१६०० ई०)—इटली का यह ज्योतिषी नक्षत्रों को भी सूर्य समझता था और पृथ्वी को अन्य ग्रहों की भाँति एक ग्रह मानता था। इसी आधार पर उसने यह प्रस्थापना प्रस्तुत की कि विश्व अनंत है तथा सूर्य भी असंख्य हैं। अब तक लोग सृष्टि तथा ईश्वर दोनों को अनन्त मानते थे। ब्रूनो ने कहा कि दो अनंत वस्तुओं की स्थिति असम्भव है। इसलिए उसने ईश्वर को सृष्टि से अभिन्न मानकर उसे संसार का उपादान कारण बतलाया और कहा कि मिट्टी और घड़े की भाँति सृष्टि और ईश्वर अभिन्न हैं। उसका कहना था कि उत्पत्ति और विकास दोनों की धारणाएँ सापेक्ष हैं। वस्तुओं का केवल विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। इसी से उत्पत्ति तथा विनाश की भ्रमपूर्ण धारणाएँ बनती हैं। इसी प्रकार मूर्त तथा अमूर्त का भेद भी वास्तविक नहीं है। सभी वस्तुओं में एक-सा रहनेवाला वास्तविक द्रव्य न तो मूर्त है और न अमूर्त। वह तो अनिर्वचनीय है, जिसके नाना रूप हो सकते हैं। ब्रूनो का मत था कि विश्व वह विराट् शरीर है, जिसकी आत्मा ईश्वर है।

कैम्पानेला (१५६८–१६३९ ई०)—इटली के इस दूसरे संक्रान्तिकालीन विचारक की मान्यता थी कि जब तक ज्ञान-शक्ति की परीक्षा न कर ली जाय, किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन करना उचित नहीं। उसका मत था कि इन्द्रियजन्य ज्ञान अविश्वसनीय है, पर बुद्धि की प्रामाणिकता में अविश्वास नहीं किया जा सकता। उसके मतानुसार मानवीय मस्तिष्क को वस्तुओं का यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान नहीं होता; ऐसा ज्ञान तो केवल ईश्वर में ही है, जो समस्त सृष्टि में व्याप्त है, यहाँ तक कि जड़ वस्तुएँ भी पूर्ण रूप से अचेतन नहीं हैं।

फ्रान्सिस बेकन (१५६१-१६२६ ई०)—पुनर्जागरण-युग की इटैलियन विचारधारा जहाँ आन्तरिक जगत् के प्रति अभिमुख थी, वहाँ इंगलैंड का दर्शन अनुभव के जगत् की ओर झुका हुआ था। इस अनुभवमूलक धारा का महान् प्रवर्तक था फ्रांसिस बेकन, जिसने निरीक्षण और प्रयोग पर आधारित वैज्ञानिक अन्वेषण पर जोर दिया और अरिस्टाटल के तर्क-शास्त्र की तीव्र आलोचना की। उसके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नोवम आर्गेनम' तथा 'एडवान्समेण्ट ऑफ लर्निंग' हैं। बेकन ने मनुष्य की शक्ति का आधार उसका ज्ञान बताया। पर उसका मत था कि यह ज्ञान धैर्यपूर्वक प्रकृति के व्यापारों का अध्ययन करने से ही प्राप्त हो सकता है—केवल अरिस्टाटल के तर्कों की सहायता से प्रकृति के रहस्यों का पता नहीं लगाया जा सकता। बेकन के अनुसार प्रकृति के व्यापारों का अध्ययन करने के दो ढंग हैं—उत्प्रेक्षा (एन्टीसिपेशन) तथा व्याख्या (इन्टर्प्रिटेशन)। उसने कहा कि मानवीय ज्ञान का लक्ष्य वस्तुओं के आकार का बोध है तथा विशेष वस्तुएँ ही यथार्थ हैं और उन्हीं की वास्तविक सत्ता है। ये विशेष वस्तुएँ नियम-पूर्वक व्यापार करती हैं। इन्हीं नियमों का ज्ञान हमें प्राप्त करना चाहिए। बेकन धार्मिक विचारों को केवल श्रद्धा का विषय मानता था, ज्ञान का नहीं।

टामस हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०)—यह बेकन का सचिव था। हॉब्स जड़वाद तथा भाववाद दोनों का आंशिक प्रवर्तक कहा जा सकता है। वह ईश्वर को तो मानता था, पर उसे दार्शनिक चिंतन का विषय न मानकर केवल श्रद्धा की वस्तु बतलाता था। हॉब्स के अनुसार चिन्तन के विषय केवल वही पदार्थ हो सकते हैं, जो बनते-बिगड़ते हैं अर्थात् सावयव हैं। सम्पूर्ण ज्ञान का आधार प्रेक्षण या देखना है। ज्ञान हमारे संवेदनों का योग मात्र है और संवेदन शरीर या इन्द्रियों के विकार हैं। संवेदनों की पुनरावत्ति ही स्मृति है। संवेदनों का कारण है पदार्थों का एकमात्र गुण—गति। डेमोक्राइटस की भाँति हॉब्स ने भी केवल दो स्वतंत्र पदार्थ माने—जड़ तत्त्व तथा उसकी गति। हॉब्स के अनुसार संसार की व्याख्या जड़ तत्त्व की गति के रूप में ही दी जा सकती है और मस्तिष्क के व्यापारों का ही नाम आत्मा है, उसकी कोई अलग सत्ता नहीं है। उसने मनुष्य को भौतिक वातावरण की सृष्टि बतलाया और कर्म करने में उसे सर्वथा स्वतंत्र नहीं माना। हॉब्स के अनुसार समाज-निर्माण का कारण परिस्थितियाँ हैं। ये परि-स्थितियाँ सामाजिक समझौते के रूप में सामने आती हैं। अतः सत्य, नैतिकता आदि मनुष्य में स्वाभाविक नहीं, वरन् समाज की देन है।

आधुनिक काल :: बुद्धिवाद का उदय

पुनर्जागरणकाल की दार्शनिक प्रवृत्ति पुराने सिद्धान्तों तथा धार्मिक वचनों को अकाट्य न मानने के रूप में अग्रसर हुई थी। इससे बुद्धि तथा तर्क पर मनुष्य का विश्वास बढ़ चला था और दर्शन पहले से अधिक स्वतंत्र होकर बुद्धि और तर्क पर निर्भर रहने लगा था। अब सत्य का अनुसंधान ही दर्शन का मुख्य लक्ष्य बन गया था और उसकी विवेचनाएँ प्राकृतिक विज्ञान की नींव पर कायम होने लगी थीं। प्राचीनकाल के दार्शनिकों का दृष्टिकोण प्रायः संवेदनात्मक था तथा मध्य-कालीन दार्शनिकों का धार्मिक। इन दोनों दृष्टिकोणों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विपरीत आधुनिक दर्शन की दिशा वैज्ञानिक हो गई। अब संसार की गूढ़तम समस्याओं पर बुद्धि तथा अनुभव के आधार पर ही विचार किया जाने लगा तथा वस्तुओं को यथार्थ रूप में देखने की प्रवृत्ति काफी बढ़ चली। जहाँ प्राचीन दार्शनिकों के चिंतन का मुख्य विषय संसार था तथा मध्यकालीन दार्शनिकों का ईश्वर, वहाँ आधुनिक दर्शन का केन्द्रविन्दु व्यक्ति (अथवा आत्मतत्त्व) बन गया, क्योंकि इसी के विषय में मनुष्य को सब से अधिक निश्चयात्मक ज्ञान होना संभव है। इस प्रकार की दार्शनिक परम्परा को जन्म देने का श्रेय फ्रान्स के महान् विचारक रेने देकार्त्त को है। उसकी परम्परा को आगे बढ़ाने में प्रमुख रूप से स्पिनोजा, लाइबनिज तथा वुल्फ ने हाथ बँटाया।

देकार्त्त (१५६९-१६५० ई०)—यह महान् विचारक आधुनिक दर्शन तथा बुद्धिवादी प्रवृत्ति दोनों का ही जन्मदाता माना जाता है। बुद्धिवादी सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान का अन्यतम साधन हमारी बुद्धि है, न कि इन्द्रियाँ। इस तथ्य के प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए देकार्त्त ने यह प्रस्थापना की कि बाह्य जगत् का निरीक्षण दार्शनिक चिंतन के लिए आवश्यक नहीं हैं। हम बुद्धि के अंतराल में झाँककर ही दर्शन की गूढ़ पहेलियों का हल कर सकते हैं। उसने बेकन द्वारा प्रतिपादित निरीक्षण एवं प्रयोग पर निर्भर अन्वेषण-प्रणाली को दार्शनिक चिंतन के लिए अनुपयुक्त बतलाया। बेकन की आगमनात्मक पद्धति का बहिष्कार करके देकार्त्त ने निगमनात्मक पद्धति पर जोर दिया। वह दार्शनिक पद्धति को विश्लेषणात्मक तथा संयोगात्मक दोनों ही बनाना चाहता था। देकार्त्त अन्तर्बोध या प्रज्ञा द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानता था। उसका कहना था कि इंद्रियजन्य ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकता है। इसीलिए इस विचारक को मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक दोनों ही रीतियों का प्रवर्तक माना जाता है। वह किसी भी बात को विवेक की कसौटी पर कसकर ही मानना चाहता था। मूलतः गणितज्ञ होने के कारण देकार्त्त दर्शन में भी गणित—विशेषकर रेखागणित—की पद्धति लागू करना चाहता था। रेखागणित में कुछ स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर ही निष्कर्ष निकाला जाता है, तभी हम आगे बढ़ते हैं। देकार्त्त ने उसी प्रकार के स्वयंसिद्ध तथ्यों को दर्शन में भी ढूँढना चाहा। पर वह बिना परीक्षा किए किसी बात को स्वयंसिद्ध मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने अपने तर्क का आरंभ इस प्रकार किया—"यदि यह निश्चित है कि मुझे संशय है, तो यह भी निश्चित है कि मैं सोचता हूँ। पर यदि मैं विचार कर सकता हूँ, तो यह बात स्पष्ट है कि 'मैं' अवश्य हूँ। इससे यह निःसंदेह सिद्ध हुआ कि 'मैं' हूँ।" "मैं सोचता हूँ, इसीलिए मैं हूँ" यह सिद्धान्त ही देकार्त्त के दर्शन की आधारशिला है। उसका कहना था कि जो कुछ भी स्वयंसिद्ध बात हमारे विचार में आती है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी बात पर हमें विश्वास नहीं करना चाहिए। परन्तु स्वयंसिद्ध विचार इन्द्रियातीत होते हैं, अतः वे जन्मगत ही हो सकते हैं। इसी तर्क को लेकर उसने यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर के विषय में हमारा ज्ञान उसकी पूर्ण सत्ता पर आधारित है, एन्सेलम की भाँति ईश्वर की स्थिति हमारे ज्ञान पर आधारित नहीं है। 'मैं हूँ' और 'ईश्वर है' इन दोनों बातों के सिद्ध होने पर यह बात भी स्पष्टतः सिद्ध होती ह कि 'संसार सत् है'। पर इन तीनों में केवल ईश्वर स्वतंत्र है, शेष दोनों ईश्वर के अधीन हैं। देकार्त्त के अनुसार आत्मा का गुण ज्ञान एवं वस्तु मात्र का गुण विस्तार है। इसीलिए शून्य और ऋजु आदि परिमाणहीन वस्तुएँ अभावरूप हैं। यह विश्व अनन्त है और उसके विस्तार के कारण ही वस्तुओं में गति होती है। यह सृष्टि एक यंत्र जैसी है, जिसे पहलेपहल गति ईश्वर द्वारा प्रदान की गई थी। उसी गति से यह अनवरत चल रही है। आत्मा सर्वथा विस्तारशून्य है, शेष बाह्य वस्तुएँ सविस्तर हैं। जो बात आत्मा में है, वह भौतिक पदार्थों में नहीं है। पर मनुष्य के शरीर में दोनों का योग दिखाई पड़ता है। फिर भी यह योग वास्तविक नहीं है। आत्मा तथा शरीर-सम्बन्धी व्यापारों में केवल कालिक सम्बन्ध है। इन दोनों में कार्य-कारण भाव नहीं है। वस्तुतः आत्मा और बाह्य वस्तु अत्यन्त भिन्न तथा परस्पर असम्बद्ध हैं।

स्पिनोजा (१६३२-१६७७ ई०)—देकार्त द्वारा निर्धारित नई दिशा का अनुसरण करते हुए पाश्चात्य दर्शन को बुद्धिवाद की ओर और आगे बढ़ानेवालों में स्पिनोजा अग्रणी था। देकार्त्त की भाँति उसने भी गणित की पद्धति को सर्वोत्तम समझकर दार्शनिक चिन्तन में उसका भरपूर प्रयोग किया। उसका उद्देश्य देकार्त्त के विचारों में निहित विरोध को दूर करके एक तर्कपूर्ण दर्शन का प्रचार करना था। इसके लिए रेखागणित के सिद्धांतों के आधार पर उसने समस्त दार्शनिक विषयों का उपपादन तीन मुख्य परिभाषाओं द्वारा किया। ये थीं—(१) 'द्रव्य वह है, जो निरपेक्ष हो', (२) 'धर्म वह है, जिसके कारण द्रव्य अपने स्वरूप में रहता है' तथा (३) 'वह, जो बिना द्रव्य के समक्ष में नही आ सके'। स्पिनोजा ने यह उद्घोषणा की कि द्रव्य एक ही है, जो स्वयंभू तथा अपरिमित है और विस्तार तथा ज्ञान ये दो परमात्मा के धर्म हैं। इस सृष्टि में अनेक प्रकार हैं। जितने भी जीव हैं, वे सब ज्ञान के प्रकार हैं। जितने पदार्थ हैं, वे सब विस्तार के प्रकार हैं। स्वतंत्र होकर स्वयं ईश्वर भी अपनी नियति के अधीन है। वह शाश्वत, स्वतंत्र

तथा सत्रूप है। यद्यपि ईश्वर जगत् का कारण है, पर उसका कारणत्व सामान्य कारणत्व के सदृश्य नहीं है। जैसे वस्त्र का कारण तन्तु है, वैसे ही जगत् का कारण ईश्वर है, अर्थात् यह जगत् ईश्वर का विवर्त है, उसकी सृष्टि नहीं। वह समस्त संसार में व्याप्त होकर भी निर्गुण है तथा नेति-नेति कहकर पुकारे जाने योग्य है। शरीर तथा आत्मा ईश्वर के ही दो रूप हैं। ये दोनों अर्थात् जीव और शरीर, एक ही वस्तु के विवर्त होने के कारण, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस मत को 'शरीरात्म साहचर्य' कहते हैं। देकार्त्त द्वारा प्रतिपादित गौण द्रव्यों को स्पिनोजा ने ईश्वर का धर्म या गुण मान लिया। इस प्रकार उसने देकार्त्त तथा उसके अनुयाइयों के मत का योग कर दिया। स्पिनोजा के मत में गति और स्थिति 'आकार' के तथा कृति 'ज्ञान' का रूपांतर या परिवर्तन है। इन्हीं चारों तत्त्वों से ज्ञाता और ज्ञेयस्वरूप यह समस्त संसार बना है। अंत में इस दार्शनिक ने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य को दुःख भ्रमात्मक बुद्धि के कारण ही होता है। उससे छुटकारा केवल आध्यात्मिक प्रेम द्वारा ही सम्भव है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाइबनिज (१६४६–१७१६ ई०)—देकार्त्त और स्पिनोजा के बाद बुद्धिवादी धारा का तृतीय महान् चिन्तक लाइबनिज हुआ, जिसका मुख्य ग्रन्थ 'मोनैडोलाजी' है। इस विचारक ने भौतिक पदार्थ और आत्मा सम्बन्धी देकार्त्त की द्वैतवादी गुत्थी को सुलझाने का विशेष रूप से प्रयास किया। डेमोक्राइटस ने अनेकवाद की नींव डाली थी, पर उसके परमाणु जड़रूप थे। लाइबनिज ने चेतन परमाणुओं का अस्तित्व स्वीकार करके यह घोषित किया कि चेतन अणुओं में द्वैतवादी उलझन नहीं है, क्योंकि उनमें विस्तार की भी शक्ति है और चेतनता भी है। ऐसे अणुओं को उसने 'मोनाड' की संज्ञा दी। ये 'शक्त्यणु' अनेक तथा रंध्ररहित हैं, जिससे किसी दूसरी वस्तु का इन पर प्रभाव नहीं पड़ता। ये सभी अणु आत्मरूप हैं और इनमें स्वयं कार्य-ज्ञान आदि की शक्ति है। सृष्टि के सभी बाह्य पदार्थ भी निम्न स्तर के अणु हैं। परन्तु सभी परमाणु एक शक्ति और गुणवाले नहीं हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य की आत्मा तथा अन्य वस्तुओं में यह भेद है कि आत्मा को तो स्पष्ट ज्ञान है, पर अन्य पदार्थों में अस्पष्ट वेदना मात्र है। इसी सिलसिले में लाइबनिज ने शारीरिक और आत्मिक नामक दो प्रकार के 'शक्ति-केन्द्रों' की परिकल्पना की। शारीरिक शक्ति-केन्द्र तथा आत्म-केन्द्र दोनों ही समान भाव से चलते हैं, क्योंकि दोनों में पूर्वस्थापित एकतंत्रता है। इन शक्ति-केन्द्रों में सदा परिणाम हुआ करता है। इसी परिणाम को 'जीवन' कहते हैं। मृत्यु इसी परिणाम की एक विशेष अवस्था है। सब से उत्तम शक्ति-केन्द्र ईश्वर है, जो सब वस्तुओं का निरपेक्ष कारण है। सभी [illegible] अणु है। ईश्वर के नियमों में परिवर्तन नहीं होता और यह संसार उन्हीं से चलता है। मनुष्य का ज्ञान सहज है, वह इन्द्रियों द्वारा नहीं उपजता। स्पिनोजा जहाँ एकवादी था, वहाँ लाइबनिज ने अनेकवाद का प्रतिपादन किया। स्पिनोजा एक से अनेक की ओर चला था। लाइबनिज ने अनेक से एक की ओर अपने कदम बढ़ाए। परन्तु इन दोनों में से किसी के भी मत में वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए स्थान नहीं था। लाइबनिज के मत को प्रायः अध्यात्मवाद या आत्मवाद की संज्ञा दी जाती है। जर्मनी में लाइबनिज के कई अनुयायी हुए, जिनकी विचारधारा काण्ट के दार्शनिक आविर्भाव तक प्रचलित रही। इन सब में क्रिश्चियन वुल्फ मुख्य था। उसका उद्देश्य लाइबनिज के दार्शनिक तत्त्वों का सर्वसाधारण में प्रचार करना था।

प्रत्ययवाद

जान लॉक (१६३२–१७०४ ई०)—जिन दिनों हॉलैंड में स्पिनोजा और जर्मनी में लाइबनिज अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे थे, उन्हीं दिनों इंगलैंड में एक विचारक बिल्कुल नए ढंग से सोच-विचार कर रहा था। यह था जान लॉक, जिसके दर्शन से पाश्चात्य विचारधारा को एक नया मोड़ मिला। अभी तक दार्शनिकों ने ईश्वर और सृष्टि के विषय में केवल कल्पना के सहारे उड़ानें भरी थीं; उन्होंने अनुभवजन्य बातों से बहुत-कुछ मुँह मोड़ रखा था। लॉक ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि पहले हमें ज्ञान का आधार तथा उसकी सीमाएँ निश्चित कर लेना चाहिए, अन्यथा यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान का भेद करना असम्भव होगा। इस प्रकार बुद्धिवादियों के लिए जहाँ तत्त्व-सम्बन्धी विषय प्रधान बना हुआ था, वहाँ बाद के दार्शनिकों के लिए अब ज्ञान-सम्बन्धी विषय प्रधान हो गया।

लॉक ने अपने विवेचन में यह दरशाया कि मनुष्य को ज्ञान बाह्य पदार्थों के अनुभव से ही होता है। ज्ञान में कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो इन्द्रिय-संवेदन से न प्राप्त हुई हो, क्योंकि मनुष्य में ज्ञान सहज नहीं है। उसने यह प्रतिपादित किया कि सहज ज्ञान की बुद्धिवादी धारणा दोषपूर्ण है, क्योंकि यदि ऐसा ज्ञान हो भी तो उसकी परीक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य में न तो ईश्वर, न आत्मा और न जगत् के सम्बन्ध में ही जन्मगत ज्ञान होता है। इस बात को सिद्ध करने के लिए लॉक ने बच्चों, आदिवासियों आदि में इस धारणा की अनुपस्थिति का तर्क उपस्थित किया। उसने कहा कि मन केवल सादे कागज

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की भाँति है, जिस पर अनुभव के पूर्व कुछ भी अंकित नहीं हुआ करता है। सभी ज्ञान का मूल प्रत्यक्ष है, जो मानसिक अथवा बाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है। पर मानस-प्रत्यक्ष का भी मूल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही है। मन में अनेक संवेदनों को जोड़ने-घटाने आदि की शक्ति है, इसलिए प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं--शुद्ध और मिश्रित। 'शुद्ध प्रत्यय' इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं। 'मिश्रित प्रत्यय' इन्हीं के योग से बनते हैं। वे तीन प्रकार के हो सकते हैं--प्रकार, द्रव्य और संबंध। मानसिक बोध को ही 'प्रत्यय' कहते हैं और उन प्रत्ययों के प्रयोजक धर्मों को ही 'गुण' कहते हैं। अतः प्रत्यय चित्तगत हैं और गुण बाह्य वस्तुगत। गति, आकार, विस्तार आदि वस्तुओं के मुख्य गुण हैं। पर वर्ण, रस आदि केवल इन्द्रियों के संबंध से विदित होते हैं। अतः ये गौण गुण हैं। मुख्य गुणों का प्रायः एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा बोध होता है; उधर गौण गुणों का बोध केवल एक ही इन्द्रिय द्वारा होता है। ज्ञान की परीक्षा करने से मनुष्य में संवेदन, धारण, स्मरण, भेद-प्रत्यय, तारतम्य-बोध तथा प्रत्याहरण या विवेचन की शक्तियाँ पाई जाती हैं। इनमें से अंतिम शक्ति केवल मनुष्य में ही होती है। इसी शक्ति द्वारा सामान्य प्रत्यय बनते हैं। इस प्रकार गौण गुण मुख्य गुण पर और मुख्य गुण द्रव्य पर आधारित हैं। मनुष्य की कृतिशक्ति सुख के अधीन है, अतः उसकी स्वतंत्रता का प्रश्न निरर्थक है। दो या अनेक प्रत्ययों में सम्बन्ध या विरोध के अनुभव को ही 'ज्ञान' कहते हैं, जो तीन प्रकार का होता है--प्रत्यक्ष, उपपादित तथा संवेदन-ज्ञान। पहले से आत्मा, दूसरे से ईश्वर तथा तीसरे से जगत् का अनुभव होता है। आत्मा तथा ईश्वर आदि की स्थिति तो है, पर उनकी परीक्षा नहीं हो सकती। इन अप्रमेय विषयों का ज्ञान छोड़कर मनुष्य को उन्हीं बातों के ज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए, जो अनुभव तथा परीक्षा के विषय हो सकें। सुख की इच्छा और दुःख से बचने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है और ईश्वर की इच्छा के अनुकूल चलना ही धर्म है। लॉक द्वारा प्रस्तुत दार्शनिक मत का यही सार था।

बर्कले (१६८५-१७५३ ई०)—लॉक ने अनुभव को ही ज्ञान का साधन मानकर समस्त मानवीय ज्ञान को प्रत्ययों तक सीमित कर दिया था। परन्तु साथ ही उसने एक ऐसी सत्ता की भी स्थिति मानी थी, जिसके प्रत्यय मन से स्वतंत्र रहते हैं, जैसे कि मुख्य गुण। बर्कले ने लॉक के मत को मानते हुए यह प्रमाणित किया कि विषय-वस्तुओं की स्थिति मन से पूर्ण स्वतंत्र रूप में नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार वह 'शुद्ध प्रत्ययवाद' के पृष्ठपोषक के रूप में सामने आया। बर्कले केवल चेतन को ही सत्य मानता है। वह भौतिक वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानता। उसका दर्शन लॉक के सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम था। उसने अपनी प्रस्थापनाएँ लॉक के अनुभववाद पर ही स्थापित की थीं। पर लॉक के स्वतंत्र भौतिक द्रव्य पर उसके द्वारा आपत्ति उठाई गई। बर्कले का कहना था कि किसी भी वस्तु को केवल गुणों के द्वारा ही जाना जा सकता है। साथ ही यह भी असम्भव है कि कोई वस्तु तो हो और वह ज्ञान की परिधि में न आए। ज्ञान के दायरे में आना ही वस्तु की सत्ता है और 'सत्ता ही दृष्टि है'। मन या विचार से स्वतंत्र कोई भी पदार्थ नहीं। हमारे मानसिक विचार या संवेदनों का कारण प्रत्यय ही हैं, अतः वास्तविक सत्ता उन्हीं की है। सब पदार्थ जैसे दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही हैं। यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि तो फिर हमारी अनुपस्थिति में वस्तुओं की सत्ता क्यों नहीं समाप्त हो जाती है? वे फिर भी क्यों देखी जाती हैं? तो इसका समाधान बर्कले यह कहकर करता है कि किसी विशेष व्यक्ति की दृष्टि की परिधि में न होकर भी वे सर्वद्रष्टा और ज्ञाता ईश्वर की दृष्टि में तो हैं ही! वस्तुतः सब पदार्थों की वास्तविकता ईश्वर के ज्ञान की चिरन्तन दृष्टि और ज्ञान में समाई हुई है। बर्कले ने भौतिक द्रव्य के स्थान पर चेतन ईश्वर को स्थापित किया और उसे ही सृष्टि की गति का कारण माना। इस प्रकार उसने आत्मिक द्रव्य का प्रतिपादन किया। पर उसके अनुसार आत्मा का कोई प्रत्यय नहीं होता, उसका केवल अन्तर्बोध होता है।

डेविड ह्यूम (१७११-१७७६ ई०)—बर्कले ने लॉक के अनुभववाद पर चलकर बाह्य पदार्थ की सत्ता का सर्वथा निषेध किया था। फलतः अनुभववाद का स्वाभाविक परिणाम उसके मत में नहीं आया। इसी कमी की पूर्ति करने के लिए ह्यूम का आविर्भाव हुआ। ह्यूम का कहना था कि प्रत्यक्ष और स्मृति के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान नहीं है और स्मृति भी प्रत्यक्ष अनुभव पर ही आधारित है। उसने यह प्रतिपादित किया कि मानव-बुद्धि केवल अनुभवप्रदत्त विषयों को ही संयुक्त तथा पृथक् कर सकती है। इस अनुभव के अतिरिक्त कोई नई बात बुद्धि नहीं बता सकती, यहाँ तक कि मानव-हृदय में ईश्वर-प्रत्यय का आधार भी उत्तमता, सुन्दरता, ज्ञानशक्ति आदि की प्रत्यक्षानुभूति मात्र है। प्रत्यक्षानुभूत वस्तुओं में तीन प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं--सादृश्य, देश-काल सन्निकर्ष तथा कार्य-कारण भाव। ये सभी संबंध अनुभव पर आधारित हैं। फलतः कार्य-कारण भाव, ईश्वर, अलौकिक घटनाएँ आदि अनुभवातीत नहीं हैं। हमारे अनुभव के सभी विषय प्रत्यय ही हैं, क्योंकि अनुभव बाह्य वस्तु के ग्रहण में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

असमर्थ हैं। बर्कले की भाँति ह्यूम ने भी बाह्य वस्तु को नहीं माना। परन्तु जिस युक्ति से बर्कले ने भौतिक द्रव्य का खण्डन किया था, उसी युक्ति से उसने आत्मिक द्रव्य का भी खण्डन कर दिया। दोनों विचारकों में यही भेद है। ह्यूम ने कहा कि जिस प्रकार हमारे संवेदनों का कोई भीतरी आधार नहीं, वैसे ही हमारे प्रत्ययों का भी कोई भीतरी आधार नहीं है। जो कुछ भी सत्ता है, वह मात्र प्रत्यय ही की है। इस प्रकार ह्यूम के लिए न तो ईश्वर रहा, न भौतिक या आत्मिक द्रव्य ही। उसके द्वारा प्रस्तुत जगत् में तो केवल प्रत्यय और संवेदन ही शेष रह गए।

अपने इस चरम सिद्धान्त द्वारा ह्यूम ने लॉक के अनुभववाद की निस्सारता प्रकट कर दी, क्योंकि शुद्ध अनुभववादी के लिए केवल संवेदन ही तथ्य वस्तु हो सकते हैं। ह्यूम ने संशयवाद को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। परन्तु दर्शन इस निराधार डाँवाडोल स्थिति में अधिक काल तक नहीं रह सकता था। विकल्प यह था कि या तो साधारण लोगों की तरह हम सब बातों में विश्वास करें या लॉक के मौलिक सिद्धान्तों की परीक्षा करके उसकी यथार्थता को जाँचें। स्कॉटलैंड के दार्शनिक टामस रीड तथा स्टुअर्ट ने इस विकल्प के प्रथम पक्ष का समर्थन किया। उधर जर्मनी के महान् दार्शनिक काण्ट ने उसके दूसरे पहलू को लेकर ज्ञान के आधार की मौलिक परीक्षा की।

टामस रीड (१७१०-१७९६ ई०)—इस विचारक को ह्यूम के दर्शन के विरुद्ध सामान्य बुद्धिवादी धारणा प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है। लॉक की भूल वैसे तो ह्यूम की प्रस्थापना में ही स्पष्ट हो गई थी, पर रीड ने उस पर यह आरोप लगाया कि उसने दार्शनिक चिंतन 'साधारण विचार' से प्रारम्भ किया था और बिल्कुल साधारण विचार की कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि हर विचार में कोई न कोई सम्बन्ध लगा हुआ है। बाह्य विषय तथा आत्मा दोनों की स्थिति स्वभावसिद्ध है और उनमें विश्वास न करना केवल प्रमाद है। दोनों ही पारमार्थिक वस्तुएँ हैं, जिनका खण्डन नहीं हो सकता। स्कॉटलैंड के अन्य दार्शनिकों में ड्यूगल, स्टुअर्ट, ब्राउन, हैमिल्टन, मैन्सल और फेरियर आदि मुख्य थे। इनमें से पहले तीन विचारक रीड के मतानुयायी थे। हैमिल्टन और मैन्सल ने वस्तुवाद को आधार मानकर उसमें निहित अज्ञेयवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फेरियर ने अज्ञेयवाद तथा सापेक्षतावाद का विरोध किया। उसके मत में न विषय अलग मिलता है, न विषयी ही। हमारा ज्ञान विषय-विषयी से सर्वथा मुक्त है। इसी ज्ञान का अज्ञान अथवा ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी वस्तु का नहीं।

कौंडिलैक (१७१५-१७८० ई०)--यह लॉक का अनुसरण करनेवाला एक शुद्ध प्रत्यक्षवादी दार्शनिक था। उसने प्रतिपादित किया कि लॉक ने प्रत्ययों के जो दो मूल बताए हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस-चिंतन--उनमें इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही मौलिक हैं। अतः सब प्रत्ययों का एक ही मूल मानना उचित है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से प्राप्त अवधान, स्मरण, सुख, दुःख आदि के समूह को ही 'आत्मा' कहते हैं। इस प्रकार कौंडिलैक ने चित्त को एक शुद्ध सादा पत्र-सा सिद्ध कर दिया। चित्त में कितना अंश स्वाभाविक अनुभव-निरपेक्ष होता है, इस बात को सिद्ध करने का प्रयास आखिर महान् जर्मन दार्शनिक काण्ट द्वारा किया गया।

विविध धाराओं के समन्वय का प्रयत्न :: काण्ट, फिख्ते, हेगेल आदि महान् जर्मन तत्त्ववेत्ताओं का युग

१८वीं शताब्दी को योरप में जागृति का महान् युग समझा जाता है। यह जागृति विशेषकर फ्रान्स तथा जर्मनी में हुई थी। फ्रान्स की जागृति का पहला दौर मानसिक जागरण का था। इस काल के प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त संवेदनवाद तथा देहात्मवाद ही थे, जिनके प्रतिनिधि वाल्तेयर, मॉन्टेस्कयू तथा कौंडिलैक समझे जाते हैं। इन सब ने विचार की स्वतंत्रता पर विशेष जोर दिया था। उक्त जागृति का दूसरा पक्ष सामाजिक-सुधार सम्बन्धी था, जिसका मुख्य प्रतिपादक था रूसो। उधर जर्मनी में जो मानसिक जागृति हुई थी, वह तत्कालीन राजनीतिक परिवर्तनों का परिणाम थी। इस राजनीतिक हलचल से उद्भूत मानसिक जागृति का नेता था वुल्फ। जहाँ ह्यूम ने अनुभववाद की अति कर दी थी, वहीं वुल्फ ने अपनी विचार-धारा में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा कर दी। इस अस्वाभाविक परिस्थिति से दर्शन को उबारकर उसे एक नई गति और दिशा देने के हेतु ही आखिर महान् दार्शनिक काण्ट का आविर्भाव हुआ।

इमैनुअल काण्ट (१७२४-१८०४ ई०)—१८वीं शताब्दी में बुद्धिवाद के विरुद्ध लॉक ने जिस अनुभववाद को जन्म दिया था, उसके परिणामस्वरूप ही ह्यूम के संशयवाद का आविर्भाव हुआ था। काण्ट ने उसी शुद्ध अनुभववाद के विरुद्ध अपने दर्शन की रचना की। पर उसने बुद्धिवाद को भी सर्वथा अकाट्य नहीं माना। वस्तुतः उसे उपर्युक्त दोनों ही सिद्धान्तों में आंशिक सत्यता का आभास मिला। अतः काण्ट का दर्शन दोनों वादों के समुचित समन्वय जैसा है। जर्मन 'प्रत्ययवाद' का प्रारम्भ यहीं से होता है। काण्ट के ग्रन्थों में 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा', 'कृत बुद्धि की परीक्षा' तथा 'निर्णय-बुद्धि की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

परीक्षा' ये तीन कृतियाँ मुख्य हैं। यह महान् तत्त्वचिन्तक अपना दर्शन रूढ़िवादी दार्शनिकों की विपरीत बुद्धि की परीक्षा से प्रारम्भ करता है। लॉक की भाँति वह ज्ञान से पूर्व ज्ञानोपार्जन-शक्ति और विधि की परीक्षा करके यह प्रस्थापना हमारे सामने रखता है कि ज्ञान का आकार निर्णय-रूप है, क्योंकि समस्त ज्ञान निर्णय-रूप में लाया जा सकता है। यद्यपि निर्णय में सम्बन्ध-ग्रहण आवश्यक है, पर सम्बन्ध दो में ही हो सकता है। अतः काण्ट के अनुसार निर्णय या प्रतिज्ञा में दो पद होते हैं––उद्देश्य और विधेय। प्रतिज्ञाएँ दो प्रकार की होती हैं; प्रथम को विश्लेषक या वियोजक प्रतिज्ञा कहते हैं, क्योंकि इसका विधेय केवल उद्देश्य का विश्लेषण करना होता है। दूसरी संयोजक प्रतिज्ञाएँ होती हैं, जिनमें विधेय उद्देश्य के विषय में कोई नई बात जोड़ता है। संयोजक प्रतिज्ञाओं में सम्बन्ध आकस्मिक अथवा सर्वकालिक हो सकता है। इसी सम्बन्ध-ग्रहण को 'वास्तविक' ज्ञान कहते हैं। पर संयोजक प्रतिज्ञाओं द्वारा प्राप्त अनुभवजन्य ज्ञान अवश्यम्भावी नहीं हो सकता। फलतः जो ज्ञान वस्तुतः अनुभव से स्वतंत्र हो, वही अवश्यम्भावी तथा निरपेक्ष हो सकता है। किन्तु वास्तविक ज्ञान संयोजक ही होना चाहिए, क्योंकि वियोजक ज्ञान से कुछ लाभ नहीं है। ऐसे अनुभव-स्वतंत्र संयोजक ज्ञान को काण्ट असम्भव नहीं मानता। वरन् वह देखना चाहता है कि किन विषयों में ऐसे ज्ञान की संभावना है। इसी आधार पर उसने अपनी 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' के दो अंग प्रस्तुत किए––एक अनुभवातीत संवेदनशास्त्र और एक अनुभवातीत तर्कशास्त्र। उसने कहा कि संवेदन तथा प्रत्यय या विचार दोनों ही ज्ञान में आवश्यक हैं, अतएव दोनों की परीक्षा होनी चाहिए। हमारे सभी संवेदन 'देश' (स्पेस) और 'काल' (टाइम) इन दो मानसिक चक्षुओं द्वारा प्राप्त होते हैं। 'देश' संवेदनात्मक ज्ञान की बाहरी तथा 'काल' भीतरी खिड़की है। ये देश-काल बाहरी पदार्थ नहीं हैं और वे अनुभवातीत हैं। हमारा सारा ज्ञान इन्हीं के द्वारा होता है, पर इनका ज्ञान अनुभव से स्वतंत्र है। हमारे 'प्रत्यक्ष' शुद्ध नहीं हैं। उनमें बाहरी और भीतरी दोनों अंश वर्तमान हैं। हम यह नहीं जान सकते कि शुद्ध वस्तु क्या है। जो कुछ हम जानते हैं, वह केवल अपना प्रत्यक्ष है। पर हम यह भी जानते हैं कि इनका कुछ-न-कुछ आधार अवश्य है। भीतरी शुद्ध वस्तु भी इसी प्रकार कुछ-न-कुछ अवश्य है। सम्भव है कि दोनों का एक ही आधार भी हो। पर हमारा ज्ञान संवेदनों पर ही समाप्त नहीं हो जाता, इसमें 'सम्बन्ध' भी रहते हैं। ये 'सम्बन्ध' कहाँ से आते हैं, इसका निर्णय अनुभवातीत तर्क द्वारा होता है। प्रज्ञा द्वारा संवेदन तथा प्रत्ययों में 'सम्बन्ध' लगाए जाते हैं। यहीं पर अनुभववाद तथा बुद्धिवाद दोनों का सम्बन्ध हो जाता है और दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं।

आगे चलकर काण्ट कहता है कि हमारा समस्त ज्ञान बुद्धि की १२ संज्ञाओं द्वारा व्यवस्थित होता है। ये संज्ञाएँ हमें तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञाओं से मिलती हैं। निर्णयों के चार मुख्य वर्ग हैं––परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार। इनमें से प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद हैं। परिणाम के भेद हैं––एकात्मक, पूर्ण तथा अपूर्ण व्याप्तिबोधक; गुण के भेद हैं—भावात्मक, अभावात्मक तथा अनिश्चित; सम्बन्ध के भेद हैं––स्वतंत्र, सापेक्ष तथा वैकल्पित; और प्रकार के भेद हैं––सम्भावना, प्रतिपत्ति तथा आवश्यक प्रतिपत्ति। इन्हीं सब के संयोग से एकता, पूर्णता, बहुत्व, सत्ता, अभाव, संकोच, द्रव्य, कार्य-कारणभाव, अन्योन्यभाव, सम्भावना, वास्तविकता तथा अवश्यम्भाविता ये बारह 'संज्ञाएँ' मानी गई हैं। ये ही हमारे ज्ञान को व्यवस्थित करती हैं। जहाँ अनुभववादियों ने ज्ञान में बाहर से अन्दर की ओर की व्यवस्था की थी, वहीं काण्ट ने अन्दर से बाहर की ओर की व्यवस्था करके दार्शनिक जगत् में वैसा ही स्थान ग्रहण कर लिया जैसा कि ज्योतिष के क्षेत्र में कापर्निकस का है। प्रज्ञा की संज्ञाएँ व्यवस्थित करने में काण्ट ने काल को आधार माना, जो भीतरी भी है और बाहरी भी। पर इन संज्ञाओं द्वारा बाह्य तथा भीतरी दृश्य पदार्थ ही अनुभव में आते हैं। इनसे स्वयं अपना वास्तविक स्वरूप हम नहीं देख पाते। फिर भी हमारी संज्ञाओं में अनुभव से बाहर की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप हमारी बुद्धि के प्रत्यय बनते हैं। ये प्रत्यय अनुमान के प्रकारों के आधार पर निर्मित होते हैं। अनुमान तीन प्रकार का होता है—शुद्ध, काल्पनिक और वैकल्पिक। इन्हीं के अनुसार क्रमशः आत्मा, सृष्टि तथा ईश्वर का विचार होता है। ये तीनों तत्त्व बुद्धि के क्षेत्र के हैं, प्रज्ञा के नहीं। यही हमारे विचार के नियामक हैं। इन तीनों से संबंधित विचार दृश्य और अदृश्य में भेद न करने की भूल से संबंध रखते हैं।

इन विचारों के विरोधाभास का स्पष्टीकरण काण्ट ने अनेक तर्कों द्वारा किया है। चूँकि आत्मा, परमात्मा आदि की सत्ता तक पहुँचने के लिए शुद्ध बुद्धि का द्वार उसे बन्द मिला, अतः काण्ट ने इनकी व्याख्या 'कृत बुद्धि' द्वारा दी। उसने बताया कि हमारे आचार का क्षेत्र अनुभव से सर्वथा स्वतंत्र है। काण्ट के मतानुसार कर्त्तव्य वह है, जिसे यदि सब लोग करें, तो भी कोई बाधा न पड़ पाए। कर्त्तव्य किसी उद्देश्य या लाभ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए नहीं, वरन् कर्त्तव्य-बुद्धि से ही करना चाहिए। कर्त्तव्य के आधार पर ही इस तत्त्ववेत्ता ने आत्मा के अस्तित्व, स्वतंत्रता तथा अमरत्व और ईश्वर की सत्ता सिद्ध की। उसके मतानुसार पूर्ण स्वतंत्रता एवं कर्त्तव्य-फल प्राप्त करने के लिए अमरता की आवश्यकता है तथा बुराई-भलाई के नियंत्रण और संसार को कर्त्तव्य-कर्म के योग्य बनाए रखने के हेतु ईश्वर की सत्ता जरूरी है।

फिख्ते (१७६२–१८१४ ई०)——काण्ट के बाद जर्मनी के सब से उल्लेखनीय दार्शनिक फिख्ते, शेलिंग तथा हेगेल हुए। ये तीनों समकालीन थे। इन्हें प्रायः कल्पनाप्रधान दार्शनिक कहा जाता है। फिख्ते के मत में उत्तमता का ज्ञान या 'विवेक' ही आत्मा का स्वरूप है। उसका विश्वास था कि 'कृति-शक्ति' और 'विवेक' दोनों एक ही हैं। कृति-शक्ति ही वास्तविक सत्ता है। दृश्य संसार असत् है। कृति-शक्ति निरपेक्ष तथा कारण-रहित है। काण्ट ने अनुभव और अनुभवातीत सापेक्ष-निरपेक्ष का भेद किया था। इस भेद के कारण कई मत खड़े हो गए थे। कुछ विचारकों ने सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों को पृथक्-पृथक् माना। कुछ ने दोनों को मिला दिया। फिख्ते ने अपनी प्रस्थापना अनुभव और अनुभवातीत को मिलाकर प्रस्तुत की। उसने कहा कि वास्तव में हमारे अनुभव से बाहर कोई सत्ता नहीं हो सकती; अनुभव, अनुभवातीत, सापेक्ष तथा निरपेक्ष सभी का समन्वय आत्मा में ही है। काण्ट की भाँति फिख्ते ने भी मनुष्य में कृति-शक्ति को प्रधान माना। उसने प्रतिपादित किया कि यह संसार आत्मा से कृति-शक्ति के द्वारा ही उत्पन्न होता है। इस दार्शनिक ने ईश्वर को एक ऐसे संस्थान के रूप में माना, जिसके प्रति हमारी धार्मिक भावना होती है। फिख्ते के मत को 'विषयी-प्रधान प्रत्ययवाद' कहा गया है, जब कि बर्कले के प्रत्ययवाद को विषय-प्रधान माना जाता है।

शेलिंग (१७७५–१८५४ ई०)——यह फिख्ते का प्रधान शिष्य था। उसने अपने गुरु की इस प्रस्थापना पर विशेष प्रकाश डाला कि आत्मा की अनुबद्ध अवस्था में संसार की स्वाभाविक सृष्टि होती है। उसने कहा कि आत्मा स्वयंभू है, जिससे स्वभावतः संसार का आभास होता है। पर यह बात विरोधपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि संसार का स्वाभाविक उद्भव आत्मा की अज्ञता सिद्ध करता है और अज्ञ होना आत्मा का निषेध है। अहं-ज्ञान ही तो आत्मा है, फिर अज्ञ को आत्मा कैसे कह सकते हैं? आत्मा तथा अनात्मा दोनों परस्पराधीन हैं। परंतु किससे किसकी उत्पत्ति हुई, इसका निश्चय नहीं हो सकता। अतः स्वयंभू आत्मा एवं अनात्मा से भिन्न कोई वस्तु भी है। आत्मा तथा अनात्मा उसी निरपेक्ष मूल-तत्त्व की सांसारिक सृष्टि हैं। शेलिंग ने यह प्रस्थापना की कि प्रकृति मूक आत्मा है, अनात्मा वाचाल प्रकृति है। ज्ञान में दोनों का सम्बन्ध अपेक्षित है। अतः दर्शन के दो भाग हैं—आत्मशास्त्र एवं प्रकृतिशास्त्र। फलतः ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर विरोधी नहीं, क्योंकि दोनों एक ही मूल तत्त्व से आविर्भूत हुए हैं। इस मूल तत्त्व को शेलिंग ने वेदान्त के 'ब्रह्म' की भाँति तटस्थ माना। उसने कहा कि सम्पूर्ण संसार में आत्म-शक्ति व्याप्त है। वस्तुतः निर्जीव जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। संवेदन, प्रत्यक्ष और चिंतन बुद्धि के ये तीन कार्य हैं। प्रयत्नावस्था में बुद्धि कृति-शक्ति कही जाती है। शेलिंग के बाद जर्मनी में एक और उल्लेखनीय विचारक श्लेयरमेकर (१८२५-१८९१ ई०) नामक हुआ। उसने फिख्ते की प्रत्ययवादी धारणा में सुधार करके शेलिंग की प्रवृत्ति को परिष्कृत रूप में आगे बढ़ाने का स्तुत्य प्रयास किया।

हेगेल (१७७०-१८३१ ई०)——काण्ट के बाद जर्मनी का सब से प्रभावशाली दार्शनिक हेगेल ही हुआ है। उसके ग्रन्थों में 'प्रमेयशास्त्र', 'तर्कशास्त्र' तथा 'दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्वकोष' प्रमुख हैं। उसने फिख्ते तथा शेलिंग के विचारों को विकसित करके उनमें निहित विरोधों को दूर करने की अपने ढंग से महत्वपूर्ण चेष्टा की। फिख्ते का मत था कि वास्तविक पदार्थ आत्मा है, जो स्वभावतः अनात्मा को पैदा करता है। शेलिंग ने एक कदम और आगे बढ़कर इस मूल पदार्थ को आत्मा-अनात्मा दोनों से अतीत ब्रह्म बताया था। उसने आत्मा-अनात्मा दोनों को अन्योन्याश्रित बताकर फिख्ते के विचार की कमी की पूर्ति की थी। इन दोनों का योग उसने ऐसे निरपेक्ष ब्रह्म में किया था, जिसमें भेद के लिए कोई स्थान ही नहीं रह गया था। हेगेल ने ऐसे भेद-शून्य ब्रह्म का कड़ा विरोध किया, क्योंकि उसका लक्ष्य था आत्मा और प्रकृति के इस मूल आधार को अतीत की वस्तु नहीं बनाकर उन्हीं में ओत-प्रोत सिद्ध करना। इस दार्शनिक के अनुसार चित् और अचित् ब्रह्म से बाहर नहीं हो सकते। ब्रह्म मानव-बुद्धि से परे की वस्तु नहीं, बल्कि बुद्धि और विकास ही ब्रह्म है। ब्रह्म तथा ज्ञान पर्यायवाची हैं। काण्ट के विपरीत हेगेल के लिए बुद्धि केवल शक्तिसाधन या पद्धतिमात्र नहीं थी। काण्ट ने बुद्धि की संज्ञाओं को केवल साँचे की तरह रूप-आकार मात्र माना था। हेगेल के लिए ये साँचे ही पदार्थ के निर्माता भी थे, अर्थात् इनको पदार्थ बाहर से नहीं मिलता। उसने कहा कि बुद्धि की इन संज्ञाओं का मुख्य शास्त्र तर्कशास्त्र है। बुद्धि या विवेक-शक्ति के स्वतंत्र कार्य करने के क्रम को द्वन्द्वात्मक तर्क द्वारा निश्चित किया जाता है। यह तर्क दो व्याघातमक वस्तुओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

या विचारों का एक तीसरी वस्तु या विचार द्वारा संयोजन करने में निहित है। बौद्धिक और प्राकृतिक सभी सत्ताओं में यही नियम चलता रहता है। यही तर्क मानसिक विकास का मूल आधार है। चित्त में पहले सत् फिर असत् और अन्त में दोनों विरोधों का समावेश होता है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब इसी सत्-असत् के रूप हैं। इसी प्रकार नए भेद जनमते और उनका तृतीय वस्तु में समावेश होता रहता है। अन्त में सब भेदों का चिद्स्वरूप स्वतंत्र परब्रह्म में समावेश हो जाता है। हेगेल के अनुसार ब्रह्म के मानसिक विकास की तीन और अवस्थाएँ हैं, जो कला के सम्बन्ध में प्रतिभास के रूप में, धर्म के सम्बन्ध में कल्पना के रूप में तथा दर्शन में तार्किक विचार के रूप में प्रकट होती रहती हैं। द्रव्य सत् का सीमित व्यक्तिरूप परिणाम है। द्रव्य और गुण वस्तुतः एक ही हैं। सत्ता और क्रिया दोनों का एक ही आकार है। अपने दृश्य रूपों के अतिरिक्त कोई मूल द्रव्य नहीं है, अतः संसार, मानस शक्ति एवं आत्मा तथा गुणों से अतिरिक्त द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है। कार्य और कारण दोनों एक ही हैं। यह कार्य-कारण-शृंखला ही ब्रह्म है। समष्टि आन्तरिक तथा बाह्य दो स्वरूपों में विभक्त है। आन्तरिक समष्टि से व्यक्ति और जाति में एकता का ग्रहण होता है। समस्त सृष्टि आन्तर-समष्टि का बाह्य आविर्भाव है। सामान्य, विशेष और व्यक्ति आन्तर-समष्टि के तीन रूप हैं। इन तीन पदार्थों का बाह्य आविर्भाव क्रमशः यान्त्रिक संयोग, रासायनिक संयोग और जीवन-रूपों में होता है। स्वातंत्र्य और ज्ञान मनुष्य के चित्त के दो धर्म हैं। वास्तव में, काण्ट के दर्शन से जिस बुद्धि का ह्रास हो गया था, हेगेल ने पुनः उसकी प्रधानता स्थापित कर दी। उसने आवश्यक भेदों को दूर करके दार्शनिक विचार को निश्चेष्टता के दलदल से उबारा और उसे गति प्रदान की।

अन्य धाराएँ

शोपेनहावर (१७८८-१८६० ई०)—हेगेल के विरोध में कई एक प्रतिरोधी आन्दोलन उठ खड़े हुए। प्रत्ययवाद के स्थान में वस्तुवाद तथा एकवाद के स्थान में अनेकवाद की धाराएँ इसी प्रकार उद्भूत हुईं। इसी दौर में कुछ लोगों ने कहा कि संसार का आधार बुद्धि में नहीं है। इन लोगों ने बुद्धि को छोड़कर मन की शक्तियों को प्रधानता दी। इस प्रतिरोधी आन्दोलन के मुख्य प्रतिनिधि थे शोपेनहावर तथा हर्बर्ट। शोपेनहावर ने संसार को दुःखमय मानकर कृति-शक्ति की प्रधानता प्रतिपादित की। हर्बर्ट ने वस्तुवाद की स्थापना करके अनेकवाद का प्रचार किया।

शोपेनहावर अपने को काण्ट तथा भारतीय दर्शन का अनुगामी मानता था। उसका मत था कि केवल अनुभवरूप दृश्य संसार ही हमारे अधीन है। परन्तु इस अनुभव की प्रयोजक पारमार्थिक वस्तु हमारे चित्त के बस में नहीं है। इस स्वतंत्र पारमार्थिक वस्तु की सत्ता काण्ट ने भी मानी थी, यद्यपि उसने कह दिया था कि बाह्य वस्तु कैसी है, यह हम नहीं कह सकते। शोपेनहावर ने कहा कि यद्यपि देकार्त्त से लेकर हेगेल तक के समस्त द्रव्यवादियों ने ज्ञान को आत्मा का स्वभाव माना है, पर यह अनुभव के नितान्त विरुद्ध बात है। कारण सब वस्तुओं में केवल संकल्प-शक्ति ही देखने में आती है। यह संकल्प-शक्ति ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक दोनों प्रकार से हो सकती है। ज्ञानपूर्वक होने पर इच्छा स्वतंत्र कही जाती है, पर सब रूपों में इच्छा एक ही है। शरीर इच्छा का ही परिणाम है। मनुष्य में इच्छा का अस्त्र है बुद्धि, जिसकी सहायता से वह विभिन्न प्रकार के प्रत्यय रचती है। अतः समस्त सृष्टि का कारण संकल्प-शक्ति ही है, जो एक अचेतन तत्त्व है। अंत में शोपेनहावर ने यह नैराश्यमूलक प्रस्थापना प्रस्तुत की कि जीवन दुःखमय है। उसकी जितनी ही उन्नति होती है, दुःख उतना ही बढ़ता जाता है। दुःख का मूल जीवन की कामना में है। यह कामना अशुभ है, अतः इससे बचने का उपाय करना चाहिए।

नीत्शे (१८४४-१९०० ई०)—शोपेनहावर के बाद इसी विचार-प्रवाह को अन्य एक निराशावादी दार्शनिक नीत्शे ने और भी आगे बढ़ाया। इस अनोखे चिन्तक ने शोपेनहावर के मुख्य सिद्धान्तों को मानते हुए भी उनसे कुछ और ही निष्कर्ष निकाला। उसने संसार को दुःखमय तो माना, परन्तु अन्य दुःखवादियों की भाँति उसने अपने मत में दया और संन्यास को स्थान नहीं दिया। इसके मत में मानव जीवन का उद्देश्य केवल स्थिर रहना नहीं, वरन् शक्ति को बढ़ाना है, क्योंकि समस्त संसार शक्ति की ओर गतिमान है। नीत्शे का यह दृढ़ मत था कि संसार का उद्देश्य पूर्ण शक्तिशाली पुरुषों को जन्म देना है। इस दुनिया में कमजोर के लिए कोई स्थान नहीं है। कमजोर पर दया करना स्वयं अपनी कमजोरी है। हमें सदैव शक्ति के प्रयोग के लिए तैयार रहना चाहिए। नीत्शे द्वारा प्रसारित इस विचारधारा से जर्मन राजनीतिक क्षेत्र में आगे चलकर 'नाजीवाद' के उग्र फासिस्ट विचारों के उदय और विकास में काफी बढ़ावा मिला।

हर्बर्ट (१७७६-१८४१ ई०)—इस तत्त्वचिन्तक का मत था कि बाह्य वस्तु का अनुभव ही ज्ञान का मूल है, फलतः दार्शनिक को अनुभव का ही पूर्ण अन्वेषण करना चाहिए। हर्बर्ट की यह प्रस्थापना थी कि सभी दृश्य पदार्थों से वास्त-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विक सत्ता की स्थिति सूचित होती है। फिख्ते ने इस सत्ता को आत्मा बताया था। उधर प्राचीनकाल में हेराक्लाइटस ने भी बाह्य अनुभव के आधार पर प्रतिक्षण होनेवाले परिणाम को ही वास्तविक कहा था। हर्बर्ट का मत था कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध होने से ही परिवर्तन होते जान पड़ता है। ये ही संबंध अनुभव के मूल हैं। सभी संशयवादी दार्शनिक इतना तो निश्चित रूप से अवश्य ही मानते हैं कि प्रत्यक्ष का कुछ-न-कुछ विषय अवश्य है। आत्मा की केवल एक ही शक्ति है--स्वस्वरूप-रक्षण की। साधारण सत्ता के अतिरिक्त एक और सत्ता मूल्यों की भी है। हर्बर्ट ने गणित की रीति का प्रयोग दर्शन में भी किया। उसके अनुयाइयों में मुख्य था फ्रेड्रिक एडवर्ड विनेके। हर्बर्ट ने मनुष्य-बुद्धि के बाहर भी बहुत-से पदार्थ माने थे, फलतः उसने दर्शन को मनोविज्ञान पर ही निर्भर नहीं किया था। विनेके ने मनोविज्ञान को प्रमुखता दी, क्योंकि सभी दर्शन मनोमूलक हैं। उसने कहा कि मन के अतिरिक्त वस्तुतः कोई भी प्रमाण नहीं है, अतः अनुभव ही एकमात्र आधार है। हर्बर्ट ने आत्मा को अपरिणामी तथा निर्गुण माना था--विनेके ने यह शून्यवाद पसन्द नहीं किया। उसने संवित्ति और गति को ही आत्मा का मुख्य गुण माना, जिस पर इच्छा और कृति आधारित हैं। उसका विचार था कि चेतनशक्ति सदा बाह्य वस्तुओं के अन्वेषण में रहती है। इसी धारणा के साथ विकासवाद का प्रारम्भ हुआ।

काण्ट के बाद जहाँ जर्मनी में कल्पनाप्रधान दार्शनिक हुए, वहाँ इंगलैंड और फ्रान्स में अनुभवाश्रित निश्चित ज्ञानवाद का प्रचार हुआ, यद्यपि एक बार इन दोनों प्रवृत्तियों का हेगेल तथा कोंडिलैक द्वारा अंत हो चुका था। पहली दार्शनिक धारा ज्ञाता एवं दूसरी ज्ञेय तत्त्वों की प्रधानता स्थापित करने में प्रयत्नशील थी। प्रत्यक्ष ज्ञानवाद की यह प्रवृत्ति फ्रान्स में कौम्ट तथा इंगलैंड में जान स्टुअर्ट मिल से प्रारंभ हुई।

ऑगस्ट कौम्ट (१७९८–१८५७ ई०)--फ्रान्स के इस प्रत्यक्षवादी दार्शनिक का उद्देश्य था केप्लर, न्यूटन आदि द्वारा खोजे गए वैज्ञानिक तत्त्वों को मिलाकर दार्शनिक विषयों को व्यवस्थित करना। उसने समस्त मानव इतिहास को पौराणिक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक नामक तीन युगों में बाँटकर यह प्रस्थापना प्रस्तुत की कि सभी विज्ञानों को कभी-न-कभी इन तीनों अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा है। उसका कहना था कि दर्शन तथा पुराण के आधिपत्य से सर्वप्रथम गणित और बाद में अन्य शास्त्र स्वतंत्र हुए। कौम्ट के लिए ज्ञान का मुख्य स्वरूप संबंध-ग्रहण है। उसके मतानुसार सम्बन्धरहित विशेष वस्तु के अनुभव को ज्ञान नहीं कहा जा सकता, न उससे कोई निश्चय ही हो सकता है। दर्शन का मुख्य उद्देश्य प्रमेय विषयों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियम ढूँढ़ना ही है। प्रमेयों का सम्बन्ध समकालिक और क्रमिक दो प्रकार का होता है। पहला सम्बन्ध स्थिति एवं दूसरा गति के नियमों के अनुसार होता है। इस तत्त्वचिंतक का मत था कि रूढ़िवादी दार्शनिकों की स्वतंत्र सम्बन्धातीत सत्ता सर्वथा अग्राह्य है। उसने मनुष्यता को उन्नत समाज का आदर्श माना। उसकी विचारधारा के अनुसार ईश्वर और अमरत्व का स्थान अंततोगत्वा मनुष्यता ही ग्रहण करती है।

जान स्टुअर्ट मिल (१८०६–१८७३ ई०)—कौम्ट का मुख्य अनुयायी था उन्नीसवीं सदी का इंगलैंड का प्रसिद्ध विचारक जान स्टुअर्ट मिल। इस तत्त्ववेत्ता ने भी ज्ञान का एकमात्र मूल अनुभव को ही माना और कहा कि अनुभव से परे द्रव्य की वास्तविक सत्ता एवं आत्मा आदि के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उसके मतानुसार वैज्ञानिक परीक्षा का मुख्य उपाय आगमन-पद्धति द्वारा व्याप्तिग्रहण है। मिल ने कार्य-कारण भाव की परीक्षा के लिए अन्वय, व्यतिरेक, सहभावी परिवर्तन तथा पारिशेष्य ये चार प्रकार प्रस्तुत किए हैं। आचार के विषय में वह बेन्थम का अनुगामी था। परन्तु अपनी सुखवादी धारणा में उसने बेन्थम के परिणामभेद के अतिरिक्त गुणगत भेद की भी व्यवस्था की थी। मिल का सुखवाद बेन्थम से अधिक बुद्धिवादी था।

विकासवाद

पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा को योरप की वैज्ञानिक प्रगति सदैव गति प्रदान करती रही है। इसी प्रगति ने यन्त्रवाद को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप जड़वाद को बढ़ावा मिला। देकार्त्त तथा स्पिनोजा ने दार्शनिक क्षेत्र में यंत्रवाद का काफी समर्थन किया था। यह विचारधारा हेगेल के आदर्शात्मक दर्शन की विरोधी थी। १८वीं शती के अन्तिम चरण में योरप में, विशेषतः फ्रान्स में, जड़वाद का काफी जोर था। पर इस जड़वादी विचारधारा के सर्वमान्य बनने में अनेक कठिनाइयाँ भी थीं। प्रश्न यह था कि यदि प्रकृति की दुनिया एक स्वतंत्र कार्य-कारण-शृंखला मात्र है तथा उसके कार्यकलापों में किसी चेतन शक्ति का हाथ नहीं है, तो उसमें तरह-तरह की रचनाएँ कैसे पाई जाती हैं? भला, जीवधारियों के शरीर एवं इन्द्रियों की रचना विशेष प्रयोजनों की पूर्ति कैसे करती है? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर जड़वाद नहीं दे सका। आखिर चार्ल्स डारविन के विकासवाद ने शरीर, इन्द्रिय आदि की प्रयोजनोन्मुखता की एक प्राकृतिक व्याख्या प्रस्तुत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करके इस दिशा में एक नया समाधान प्रस्तुत किया, जिससे जड़वाद को काफी बल मिला।

चार्ल्स डार्विन (१८०९–१८८२ ई०)—अरिस्टाटल ने स्थायी या चिरन्तन नामक वर्गों में बाँटकर प्राणियों की विभिन्न जातियाँ मानी थीं। इस मत की पुनरावृत्ति ईश्वरवादी विचारक भी करते आए थे। डार्विन ने इसके विपरीत मत प्रस्तुत किया। उसने कहा कि एक जाति के जीव धीरे-धीरे बदलकर दूसरी जाति में परिवर्तित होते जाते हैं। 'जीवन-संघर्ष' तथा 'योग्यतम जीवों की विजय' नामक अपने दो प्रसिद्ध सिद्धान्तों द्वारा उसने असंख्य योनियों की व्याख्या कर डाली। फलतः तरह-तरह की जीव-उत्पत्ति के हेतु अब ईश्वर की आवश्यकता नहीं रह गई। डार्विन ने यह प्रतिपादित किया कि जीव-जगत् के परिवर्तन भी भौतिक जगत् की भाँति कुछ नियमों पर आधारित हैं। इस विकासवादी प्रवृत्ति से १९वीं शती की जड़वादी तथा नास्तिक धारणा को काफी प्रोत्साहन मिला। विज्ञान तो पहले से ही ईश्वर-विरोधी था; अब इस विकासवादी धारा के प्रभाव में धर्म तथा व्यवहार-शास्त्र भी आ गए।

हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०–१९०२ ई०)—विकासवाद को सर्वांगपूर्ण दर्शन का रूप प्रदान करने का प्रमुख श्रेय हर्बर्ट स्पेन्सर को प्राप्त हुआ। यह तत्त्वचिंतक सापेक्ष तत्त्व को ही ज्ञान का विषय मानता था और कहता था कि निरपेक्ष तत्त्व——ब्रह्म——सर्वथा अज्ञेय है। यद्यपि स्पेन्सर निरपेक्ष सत्ता में विश्वास करता था, परन्तु उसका कहना था कि उस तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। उसके मत में बाह्य तत्त्व एक शक्ति है, जो हमारी चेतना में संवेदन और प्रत्यय उत्पन्न करती है। ह्यूम की तरह स्पेन्सर भी यह मानता था कि व्यक्तिगत अनुभव द्वारा हम यह निश्चयपूर्वक नहीं जान सकते कि प्रत्येक घटना का कारण होता है, पर उसका कहना था कि स्वयं इस सिद्धान्त का ज्ञान अनुभव-निरपेक्ष नहीं है और दर्शन का एकमात्र कार्य विभिन्न वैज्ञानिक निष्कर्षों को एक समष्टि का रूप देना है। स्पेन्सर के अनुसार विज्ञान अंशतः और दर्शन पूर्णतः एकीकृत ज्ञान है। अतः दर्शन को ऐसे सर्वव्यापी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहिए, जो अनुभव-जगत् के सब क्षेत्रों में समान रूप से लागू हो। विकासवादी सिद्धान्त ऐसा ही नियम है। विकास उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिसके द्वारा अव्याकृत या अविशिष्ट वस्तु तत्त्व विशिष्ट एवं संसृष्ट दशा को प्राप्त होती है। जड़-चेतन दोनों ही अज्ञेय तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं और दोनों के क्षेत्रों में एक ही विकास-नियम का नियन्त्रण है। सहज प्रत्ययों की धारणा व्यक्ति की दृष्टि से अनुभव-निरपेक्ष तथा मानवता की दृष्टि से अनुभव-प्रसूत है। इसी प्रकार सत्-असत् विषयक बुद्धि भी व्यक्ति के लिए उसकी जाति की देन है। स्पेन्सर के आचार-शास्त्र को 'विकासात्मक सुखवाद' की संज्ञा दी जाती है। उसके अज्ञेय-वाद का प्रमुख समर्थक स्काटलैंड का विचारक हैमिल्टन था, जिसके सापेक्षतावाद का स्पेन्सर पर बहुत प्रभाव पड़ा था। १९वीं शती के अन्य अज्ञेयवादियों में हक्सले उल्लेखनीय था।

विलियम हैमिल्टन (१७८८-१८५६ ई०)—यह विचारक अवश्यम्भावी अनुभवातीत सत्य का प्रतिपादक था। इसकी जाँच के मुख्य विषय थे विश्वव्यापकता एवं अवश्यम्भाविता। उसका कहना था कि कार्य-कारण भाव अवश्यम्भावी सत्य नहीं है और ज्ञान सापेक्ष है। उसके मतानुसार सत्ता का ज्ञान निरपेक्ष रीति से नहीं हो सकता। अतः यदि ईश्वर निरपेक्ष है, तो हमें उसका भी ज्ञान नहीं हो सकता। यही नियम मानसिक तथा भौतिक द्रव्य के विषय में भी लागू होता है।

हक्सले (१८२५-१८९५ ई०)--इस विकासवादी का कहना था कि सत्य वही है, जो प्रयोगात्मक जाँच पर ठीक निकले। स्वर्ग, अमरत्व आदि धारणाएँ प्रमाणरहित हैं। कट्टर विज्ञान-समर्थक होने के नाते इस विचारक ने विज्ञान के बाहर की बातों पर राय देना व्यर्थ समझा। उसने स्पेन्सर तथा हैमिल्टन के खण्डनात्मक विचारों को स्वीकार करके निरपेक्ष-सत्तावादियों का उपहास किया। हक्सले के समर्थकों में टिन्डैल एवं हेकेल मुख्य थे।

हेगेल के बाद की जर्मन विचारधारा

हेगेल तथा हर्बर्ट के बाद जर्मनी में स्वतंत्र विचार के दो उल्लेखनीय दार्शनिक हुए——ये थे फेक्नर तथा लोत्से। धार्मिकों और प्रकृतिवादियों ने ईश्वर और संसार को परस्पर भिन्न तथा पृथक् मानकर दो विरोधी विचारधाराएँ चलाई थीं। फेक्नर ने इसे अनुचित मानकर ईश्वर एवं जगत् को आत्मा तथा शरीर की भाँति परस्पर सम्बद्ध बताया और कहा कि समस्त प्रकृति ईश्वर का शरीर है। उसका कहना था कि जीव मृत अथवा निर्जीव तत्त्व से नहीं पैदा हो सकता। मानव-आत्मा सजीव सृष्टि के केन्द्र में है। सब आत्माओं का ऐक्य चित्स्वरूप परमात्मा में ही होता है। शरीर तथा मन के संबंध-अन्वेषण में फेक्नर ने विश्वास पर निर्भर न रहकर शुद्ध वैज्ञानिक रीति से तत्त्व-निश्चय का प्रयत्न किया। हर्बर्ट मन के व्यापारों को साक्षात् नापने में असफल हुआ था। फेक्नर ने इन्द्रिय-व्यापार द्वारा उक्त व्यापारों को नापने में सफलता प्राप्त की। अपने मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों से उसने यह सिद्ध किया कि आत्मा और शरीर नित्य हैं। न तो आत्मारहित शरीर संभव है और न निःशरीर आत्मा ही हो सकती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लोत्से (१८१७-१८८१ ई०)—इस दार्शनिक ने सत् को ही दर्शन का एकमात्र विषय माना। फिश्टे की भाँति उसने श्रेय को प्रधानता दी श्रौर उचित को ही सत् माना। यंत्रवाद को मानकर लोत्से सृष्टि के यंत्रवत् संचालन को ईश्वरीय बुद्धि के व्यंजन का एक प्रकार बतलाता था। शेलिंग, हेगेल, श्रादि की संसार-विषयक व्याख्या की श्रसफलता का कारण वह उनके द्वारा यंत्रवाद के तिरस्कार को मानता था। लोत्से के यंत्रवाद में ईश्वरवाद तथा उद्देश्यवाद का योग था। इसी योग के द्वारा वह एकवाद की स्थिति पर पहुँच गया था। उसके श्रनुसार प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का योग पूर्ण शक्तिसंपन्न ईश्वर में होना चाहिए। दृश्य जगत् किसी स्वतंत्र सत्ता का फल नहीं, वरन् बाह्य उत्तेजकों के प्रति हमारी संवित्ति की क्रिया का फल है। ज्ञान श्रौर सत्ता में कोई भेद नहीं, क्योंकि ज्ञान सत्ता का ही श्रंश है। फेक्नर तथा लोत्से का मुख्य श्रनुगामी एडवर्ड फॉन हार्टमान था। इसका मुख्य लक्ष्य वैज्ञानिक रीति से दार्शनिक कल्पनाओं का उपपादन तथा हेगेल के प्रत्यय एवं शोपेनहावर की कृति-शक्ति का योग करना था। इसी काल का एक अन्य विचारक रुडोल्फ आइकन था, जो जेम्स श्रौर बर्गसाँ की भाँति क्रिया को प्रधानता देता था।

नवीन प्रत्ययवाद

हेगेल के दर्शन में जर्मन प्रत्ययवाद की लहर श्रपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। परन्तु इस प्रवृत्ति का श्रभी श्रन्त नहीं हुश्रा था। उन्नीसवीं शताब्दी के श्रंतिम चरण में यही धारा इंगलैंड श्रौर श्रमेरिका में एक नए रूप से प्रकट हुई। स्पेन्सर तथा मिल के समय में ही स्टर्लिंग के प्रभावशाली ग्रंथ 'हेगेल का रहस्य' प्रकाशित हो जाने के बाद से विचारकों का झुकाव जर्मन दर्शन की श्रोर बढ़ चला था, जिसके फलस्वरूप इंगलैंड के तत्त्ववेत्ता श्रनुभववाद को छोड़ अब प्रत्ययवाद की श्रोर बढ़ने लगे थे। इन विचारकों में ग्रीन, केयर्ड, ब्रेडले, बोझांके, जेम्स वार्ड, क्रोचे, मैक्टगर्ट श्रादि मुख्य थे। श्रमेरिका में इस प्रत्ययवाद का प्रधान व्याख्याता जोशुश्रा रॉइस था।

सी० एच० ग्रीन (१८३६-१८८२ ई०)—इस दार्शनिक का मत 'वस्तुप्रधान प्रत्ययवाद' कहलाता है। इसने ह्यूम के श्रनुभववाद, स्पेंसर के विकासवाद तथा मिल के सुखवाद का खण्डन करके प्राकृतिक विज्ञान के स्थान पर श्रात्मवाद की स्थापना की। ग्रीन काण्ट का प्रबल समर्थक था। उसका मत था कि श्रनुभव या ज्ञान की यन्त्रवादी व्याख्या सम्भव नहीं; उसकी सम्भावना के लिए चेतन तत्त्व की सत्ता श्रपेक्षित है। वह कहता था कि प्राकृतिक परिवर्तन किसी भी समय घटित होते हैं, परन्तु उन्हें जाननेवाली शक्ति स्वयं काल की श्रपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि वह प्रकृति का श्रंश नहीं है। इसी प्रकार नैतिक व्यापार के हेतु भी एक स्वतंत्र चेतन शक्ति की अपेक्षा है, क्योंकि उसकी भी यन्त्रवादी व्याख्या संभव नहीं है।

एफ० एच० ब्रेडले (१८४६-१९२४ ई०)—इस दार्शनिक के विचार उसकी सुविख्यात कृति 'ऐपियरेंस एण्ड रिएलिटी' में दिग्दर्शित हैं। इसमें ब्रेडले ने प्रतिभासिक सत्ता तथा वास्तविक सत्ता की बहुत ही सुन्दर विवेचना की है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य संशय एवं जिज्ञासा की प्रवृत्ति को उत्तेजित करना था। ब्रेडले के श्रनुसार प्रतिभासिक सत्ता से पृथक् वास्तविक सत्ता का ज्ञान श्रथवा विश्व को समग्रता में समझने का प्रयास ही तत्त्वज्ञान है श्रौर दृश्य जगत् की केवल श्राभासिक सत्ता है, जिसकी वास्तविक सत्ता से पृथक् कोई व्याख्या नहीं दी जा सकती। उसके मत में द्रव्य, गुण, गति, विस्तार, श्रनेकता, देश, काल श्रादि व्याघात्मक धारणाएँ हैं, एवं वैज्ञानिकों द्वारा किए गए मुख्य तथा गौण गुण श्रौर गुण तथा गुणी, कार्य-कारण आदि का भेद सारहीन है। जीवात्मा के विचार में एकता तथा श्रनेकता दोनों ही मिली हुई दिखाई देती हैं, पर यह मिलान तर्कसंगत नहीं। शुद्ध एकता ही तर्क के श्रनुकूल हो सकती है। वास्तविक सत्ता का मुख्य गुण पूर्णता है। स्वतंत्र रूप से दृश्य जगत् श्रपूर्ण और श्रसार है, किन्तु ब्रह्म में सभी विरोध एवं श्रपूर्णता का समन्वय हो जाता है। दृश्य जगत् ब्रह्म से बाहर नहीं है। ब्रह्म चेतन श्रनुभवरूप है। वह एक पूर्ण सर्वव्यापक श्रनुभव है, जिसमें सब विरोधात्मक श्रपूर्णताश्रों का साम्य हो जाता है। वास्तविक सत्ता का ज्ञान विचार की साधनता से प्राप्त होता है। ब्रेडले विचार के श्रादर्श को तार्किक स्तर से हटाकर स्फूर्ति या प्रतिभा में मिला देता है। उसका कथन है कि यह ज्ञान श्रव्यवहित श्रनुभव में होता है, जिसमें एक श्रंश से दूसरे श्रंश पर नहीं जाना पड़ता, वरन् प्रत्येक श्रंश में पूर्णता दिखाई पड़ती है श्रौर व्यष्टि में समष्टि की प्रतीति होने लगती है।

जोशुआ रॉइस (१८५५-१९१६ ई०)—इस श्रमेरिकन तत्त्वचिंतक के श्रनुसार हमारे श्रनुभव में ऐसी कोई भी बात नहीं, जो प्रत्ययों से सम्बन्ध नहीं रखती हो। हाँ, कुछ प्रत्यय हमारे बनाए हुए नहीं हैं। उन्हें ही 'जड़ प्रकृति' कहते हैं। पर वास्तव में प्रकृति भी प्रत्ययों ही की एक संस्था है, क्योंकि यदि बाह्य संसार ज्ञेय है, तो अवश्य ही वह एक मानसिक सृष्टि है। यह संसार एक श्रादर्श के श्रनुकूल है। वह श्रादर्श समष्टि के मनस में रहता है। हम चेतन हैं, श्रतः चेतन का कार्य हमारी समझ में श्रा सकता है। संसार को या तो चेतनमय मानना

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पड़ेगा या अज्ञेय। पर नितान्त अज्ञेय कोई वस्तु नहीं हो सकती। अतः वास्तविक संसार कोई एक मनस है। आत्मा एक ही है, जिसमें सारा ज्ञान, सब पदार्थ तथा सभी जीवात्माएँ एक विचारपूर्ण व्यवस्थानुसार वर्तमान हैं। यह परम तत्त्व ही हमें चेतना की प्रतीति कराता है और इसी में हम वर्तमान हैं। अतः यह पूर्ण पुरुष है।

बर्नार्ड बोभांके (१८४८-१९२३ ई०)—यह विचारक ब्रेडले का अनुयायी था। ब्रेडले और बोभांके दोनों ही निरपेक्षवाद के प्रतिनिधि माने जाते हैं। पर बोभांके के निरपेक्षवाद में सत्य का आदर्श शुष्क तार्किक अविरोध की अपेक्षा अधिक पूर्ण है। इसीलिए वह दृश्य जगत् को मात्र आभासिक सत्ता नहीं मानता। उसके अनुसार निरपेक्ष और सापेक्ष में इतना अन्तर नहीं है कि निरपेक्ष की दृष्टि में सापेक्ष का अस्तित्व ही न रहे। इस विचारक ने व्यक्तित्व को ही वास्तविकता का आदर्श माना है। उसके अनुसार निरपेक्ष हमारे जीवन से बाहर नहीं हो सकता। व्यक्ति एक ही है, क्योंकि पूर्णत्व एक ही में हो सकता है। अन्य सब अपूर्ण हैं, इसलिए वे व्यक्ति नहीं कहे जा सकते। पूर्ण व्यापक निरपेक्ष में जीवों का वैसे ही समावेश हो जाता है, जैसे उद्देश्य में विधेय का। जीव निरपेक्ष के अंश हैं। जीवों के परस्पर भेद हैं, पर यह भेद अन्तिम नहीं है। भेद, कमी, बुराई आदि निरपेक्ष की पूर्णता में एक हो जाते हैं। इस निरपेक्षवादी धारा का एक प्रख्यात अनुयायी है प्रिंगिल पैटीसन, जो व्यक्तियों में वास्तविक भेद मानता है। इसी प्रकार एकात्मवाद का अन्य एक समर्थक है बेण्देतो क्रोचे।

उपर्युक्त विवरण में नवीन प्रत्ययवादियों के एकात्मवादी दृष्टिकोण का ही उल्लेख किया गया है। इन सभी विचारकों ने अनेकता को केवल गौण रीति से स्वीकार किया था। पर कुछ दूसरे प्रत्ययवादी भी हुए हैं, जो पूर्ण एकात्मवाद में आस्था नहीं रखते थे, क्योंकि उन्हें इस धारणा से व्यक्ति का ह्रास तथा उसकी स्वतंत्रता में बाधा दिखाई पड़ती थी। इनमें मैक्टगर्ट और जेम्स वार्ड प्रधान थे।

मैक्टगर्ट (१८६६-१९२५ ई०)—यह दार्शनिक हेगेल के तर्क को मानते हुए भी आत्माओं की पृथकता में विश्वास रखता था। उसके अनुसार आत्मा अपने अधिकार से स्थित पदार्थ है, पर वह सम्बन्धरहित और स्वतंत्र होकर स्थित नहीं रह सकती। आत्माओं का एक संघ है। यही उनकी एकता है और इस संघ को ही ब्रह्म कहा जा सकता है। मैक्टगर्ट सत्ता को प्रत्ययवादियों की भाँति ही देखता है। उसके मतानुसार संसार में पुरुषों के सिवा कोई सत् नहीं है। ये पुरुष ज्ञान, संकल्प और भाव से पूर्ण चेतन तत्त्व हैं। मैक्टगर्ट ईश्वर के स्थान में सभी आत्माओं को ही वास्तविक रूप में पूर्ण एवं अनादि मानता है।

जेम्स वार्ड (१८६४-१९३७ ई०)—आत्मवादी होने के कारण यह तत्त्वचिंतक संवित्तिवादी या प्रत्ययवादी भी कहलाता है, पर हेगेल तथा ब्रेडले की भाँति वह एकात्मवादी नहीं था। यद्यपि वह अनेकवादी था, पर मैक्टगर्ट की भाँति कोरा अनेकवादी नहीं। उसने अनेकवाद की न्यूनता को पूर्ण करने के लिए ईश्वरवाद का प्रतिपादन किया था। वार्ड का मत था कि अनुभव के दो अंग होते हैं—विषय तथा विषयी। विषय भी किसी न किसी रूप में चेतन आत्म-पदार्थ ही है। व्यक्ति अनेक हैं, जिनमें ऊँची-नीची अनेकों श्रेणियाँ हैं। इनके भेद को स्पष्ट करने के लिए एक मुख्य संचालक की आवश्यकता होती है। वही ईश्वर है। इस मत के अनुसार सृष्टि को वर्तमान रूप देने में ईश्वर के साथ मनुष्य का भी महत्व का योग है।

उपयोगितावाद, स्फूर्तिवाद, नवीन वस्तुवाद, परीक्षात्मक वस्तुवाद आदि सभी प्रमुख दार्शनिक विचारधाराएँ मनुष्य की प्रधानता, उसकी स्वतंत्रता, ईश्वर की परिमितता, सांसारिक विकास में व्यक्ति का योग तथा ज्ञान की अपेक्षा, क्रिया की प्रधानता आदि प्रवृत्तियों को समान रूप से प्रतिपादित करती हैं। इसीलिए इन सभी धाराओं को प्रायः 'क्रियाप्रधान दर्शन' की संज्ञा दी जाती है।

व्यावहारिक उपयोगितावाद

उन्नीसवीं सदी तक दर्शन के क्षेत्र में अभी तक केवल दो विचारधाराएँ चल रही थीं—एक तो प्रत्ययवादी, दूसरी विकासवादी। आत्मवादियों का नेता हेगेल था और प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के समर्थक थे हेकेल आदि। ये दोनों विचारधाराएँ नियतिवाद की ओर ले जानेवाली थीं, कारण दोनों ही सृष्टि को कार्य-कारण-शृंखला मात्र मानती थीं, जिसमें मनुष्य की स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। ऐसी विचारधारा में बुद्धि का स्थान अप्रधान हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप भावों की भी उपेक्षा हो जाती है। इस संभावना से बचने और सांसारिक उन्नति के क्रम में पुनः भावों की प्रधानता एवं मनुष्य की स्वतंत्रता तथा गौरव को स्थापित करने के लिए कार्यसाधकतावाद अथवा व्यावहारिक उपयोगितावाद का उदय हुआ। इस विचारधारा के मुख्य प्रतिनिधि थे विलियम जेम्स, शिलर तथा जान ड्यूई।

विलियम जेम्स (१८४२-१९१० ई०)—इस अमेरिकन तत्त्वचिंतक ने अपनी विचारधारा के प्रतिपादन के लिए कई ग्रंथ लिखे थे, जिनमें मुख्य हैं—'वैराइटीज ऑफ रिलीजस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक्सपीरियन्स', 'विल टु बिलीव', 'प्रैगमेटिज्म' एवं 'मीनिंग ऑफ ट्रुथ'। जेम्स के अनुसार वस्तु की उपयोगिता ही सत्य की कसौटी है। कोई बात ठीक है अथवा नहीं, इसका उत्तर क्रियात्मक जाँच से ही प्राप्त हो सकता है, तर्क से नहीं। केवल अस्तित्व ही सत्य का प्रमाण नहीं हो सकता। यह विचारक ज्ञान तथा क्रिया में क्रिया को प्रधानता देता है, क्योंकि ज्ञान की सत्ता क्रिया के लिए ही है। जेम्स के अनुसार धर्म तथा विज्ञान दोनों से हमें केवल आंशिक संतोष प्राप्त होता है, क्योंकि जीवन में ज्ञान, भाव और क्रिया तीनों ही आवश्यक हैं। इनमें से किसी एक पक्ष की संतुष्टि से पूरा जीवन संतुष्ट नहीं हो सकता। मानसिक द्रव्य की भाँति प्राकृतिक द्रव्य को भी जेम्स नहीं मानता। उसके अनुसार द्रव्य का द्रव्यत्व उसके गुणों से ही प्रकाशित होता है। गुण ही प्रधान हैं, वस्तु नहीं। यह तत्त्ववेत्ता अनेकवाद का समर्थक था, क्योंकि सांसारिक व्यवहार के लिए अनेकता आवश्यक है। पर यह अनेकता हमारे सम्बन्धों के संघटित होने के साथ-साथ घटती जाती है। अतः जेम्स अनियतिवाद तथा आकस्मिकता को भी मानता है, क्योंकि यदि मनुष्य नहीं होता, तो पूर्वनिर्धारित विश्व में उसका उद्योग निष्फल ही होता। इसी से वह इस बात पर जोर देता है कि हम सब को सांसारिक उन्नति में योग देना चाहिए। इस विचारक के अनुसार संसार को भला बनाना ही पुरुषार्थ है और धर्म का मूल 'भाव' में है। जेम्स ईश्वर के सगुण तथा परिमित रूप को मानता है, जो हमें अपनी उन्नति में सहारा देता है।

जान ड्यूई (१८५९-१९५२ ई०)—जेम्स की भाँति अन्य एक अमेरिकन दार्शनिक जान ड्यूई ने भी पुराने दार्शनिकों की काफी आलोचना की। उसके अनुसार प्राकृतिक विकास के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता की खोज करना व्यर्थ है। वह कहता था कि संसार पूर्ण तथा नियत नहीं है, क्योंकि उसके विकास में नवीनता, उन्नति, प्रयत्न तथा उद्योग आदि की काफी गुंजायश है। विकासवादियों की भाँति ड्यूई सतत् परिवर्तनशील सत्ता को मानता है। उसके अनुसार व्यवहार-आचार और समाज-सम्बन्धी प्रश्न ही वास्तविक प्रश्न हैं।

ड्यूई के मत में सत्ता का ज्ञान भी व्यावहारिक कुशलता के लिए ही है और अनुभव के सदैव दो भाग होते हैं--वर्तमान स्थिति और विचार। विचार स्थिति को हमारे अनुकूल बनाने में समर्थ हों, तभी वे सत्य हैं अन्यथा नहीं। ड्यूई का कहना है कि विचार हमारी स्थिति तथा आशाओं में साम्य स्थापित करते हैं। यही साम्य सत्य की कसौटी तथा लक्ष्य है। विचारों की कार्यसाधकता ही सत्य का आधार है। संकल्प विचारों के प्रेरक हैं। हमें बुद्धि तथा भाव दोनों की अनुकूलता देखनी चाहिए।

इसी काल का अन्य एक उल्लेखनीय विचारक था एफ० सी० एस० शिलर। मानवतावादी दर्शन के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध इस दार्शनिक के अनुसार मानवतावादी धारणा कार्यसाधकतावाद से कहीं अधिक व्यापक है, फलतः वही अधिक उपयुक्त है। अन्य व्यवहारवादियों की भाँति शिलर भी पूर्वनियत पूर्ण सत्ता को नहीं मानता। वह सत्ता के ज्ञान में ही उन्नति नहीं मानकर, ज्ञान के साथ ही स्वयं सत्ता की भी उन्नति स्वीकार करता है। उसके मतानुसार सभी सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों का मुख्य कारण मानवीय व्यवहार है। शिलर आत्मा की अमरता को मानता है।

व्यावहारिक उपयोगितावाद वस्तुतः ब्रिटिश अनुभववादी विचारधारा का अमेरिकन रूप था। परन्तु जहाँ लॉक से रसेल तक के अनुभववादी ज्ञान के पृथक् अवयव--ज्ञाता तथा ज्ञेय--की स्थिति मानते हैं और ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में मन को प्रायः निष्क्रिय मानते हैं, वहाँ व्यावहारिक उपयोगितावादी ज्ञान को एक ऐसी प्रक्रिया मानते हैं, जिसमें मन सक्रिय होता है तथा ज्ञाता और ज्ञेय की स्थिति एक दूसरे पर आधारित होती है, पृथक् नहीं।

स्फूर्तिवाद

इस वाद के समर्थक बुद्धिवाद के विरोधी हैं। वे जीवन और तर्कशास्त्र दोनों में विशुद्ध बुद्धि को गौण स्थान प्रदान करते हैं। इस विचारधारा का मुख्य प्रतिनिधि फ्रेंच विचारक हेनरी बर्गसाँ है, जो बुद्धि के स्थान पर अपरोक्षानुभूति को स्थापित करता है।

हेनरी बर्गसाँ (१८५९-१९४१ ई०)—यह तत्त्ववेत्ता परिवर्तन का प्रबल समर्थक था। उपयोगितावादियों की भाँति इसने भी नवीनता की धारणा को अग्रसर किया। पर इसके अनुसार नवीनता केवल ज्ञान की ही नहीं, वरन् सत्ता की भी नवीनता है। उसका मत था कि सत्ता कभी पूर्ण नहीं होती, उसका सतत् विकास होता रहता है। इस विकासक्रम में वास्तविक रूप से नवीन उत्पत्ति होती रहती है। बर्गसाँ के अनुसार सत्ता का मुख्य स्वरूप परिवर्तन है, जो शाश्वत एवं विश्वव्यापी है। परिवर्तन ही जीवन है और जीवन ही संसार का मूल है तथा इसी की आवश्यकता-पूर्ति के हेतु ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान क्रिया का साधन है एवं दर्शन का मूल उद्देश्य है जीवन को समझना। बर्गसाँ का कथन है कि प्रवाह ही मूल सत्ता है। उक्त प्रवाहित होनेवाली सत्ता हमारी संकुचित दृष्टि के कारण

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ही दृढ़ तथा स्थिर दिखाई पड़ती है, जब कि वास्तव में उसकी स्थिरता निरी भ्रामक है। जिस प्रकार काल अविभाज्य है, उसी प्रकार गति के भी कोई भाग नहीं किए जा सकते। इस जीवित सत्ता का ज्ञान हमें जीवन-प्रवाह में प्रविष्ट होकर ही मिलता है। यह प्रवेश स्फूर्ति द्वारा होता है, जिससे हमें सत्ता के पूर्णतया चलते तथा जीते-जागते दृश्य दिखाई पड़ते हैं। पर सत्ता की कोई स्थिति नहीं है, क्योंकि वह सतत् गतिशील है। वास्तविक सत्ता कवि की स्फूर्ति की भाँति नियतिकृत, नियमरहित और स्वतंत्र है। बर्गसाँ के मत में सर्जनात्मक विकास जीवन-प्रवाह के स्वतंत्र संचालन का फल है।

नवीन वस्तुवाद

प्रत्ययवाद के विरोध में इंगलैंड और अमेरिका में एक वस्तुवादी प्रवाह जारी हुआ, जिसके प्रतिनिधि हैं बर्ट्रेंड रसेल, जी० ई० मूर, एस० एलेक्जेंडर, होल्ट, मार्विन, मान्टेग्यू तथा पेरी आदि विचारक। इनमें पहले तीन विचारक इंगलैंड के हैं। ये लोग विज्ञान को दर्शनशास्त्र से पृथक् करना बुरा समझते हैं। रीड आदि पूर्ववर्ती वस्तुवादियों ने विज्ञान की अवहेलना करके अपने मत को साधारण लोगों के मत से मिला दिया था। नवीन वस्तुवादी इसका विरोध करते हैं और जेम्स तथा बर्गसाँ की भाँति बुद्धि-ज्ञान का तिरस्कार नहीं करते, वरन् उसे प्रधानता देते हैं। वे सम्बन्धों को उतना ही वास्तविक मानते हैं, जितना कि वस्तु को। इस विचारधारा के प्रतिनिधिस्वरूप रसेल तथा एलैक्जेंडर का मत यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

बर्ट्रेंड रसेल (१८७२ ई०)—वर्तमान काल के दार्शनिकों में शायद सब से अधिक कृतियाँ प्रस्तुत करने का श्रेय इसी अंगरेज तत्त्ववेत्ता को प्राप्त है। इसके ग्रन्थों में "प्राब्लम ऑफ फिलासोफी," "लाजिक एण्ड नालेज," "इन्क्वायरी इन्टू मीनिंग एण्ड ट्रुथ," "प्रिन्सिपिल्स ऑफ मैथमेटिक्स" तथा "पाश्चात्य दर्शन का इतिहास" आदि मुख्य हैं। रसेल व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रबल पक्षपाती है। वह तर्कशास्त्र को दर्शन में सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है एवं दर्शन तथा विज्ञान दोनों की एक ही पद्धति मानता है। अपनी ज्ञान-सम्बन्धी प्रस्थापनाओं में रसेल ने गणितशास्त्र के सिद्धान्तों का काफी सहारा लिया है। जेम्स तथा बर्गसाँ के विपरीत वह दार्शनिक क्षेत्र में इच्छा, भावना एवं रुचि आदि को कोई स्थान नहीं देता। इस प्रकार यह विचारक स्फूर्तिवाद तथा उपयोगितावाद दोनों से असहमत है। रसेल अनुभववादी होते हुए भी कुछ बातों का ज्ञान अनुभव से पूर्व मानता है। उसके अनुसार यह ज्ञान प्रायः सामान्य सम्बन्धी होता है। पर सामान्य एवं सम्बन्धों की स्वतंत्र सत्ता मानते हुए इस विचारक का सत्य का आदर्श सम्बन्धों की स्वतंत्रता पर ही निर्भर है, क्योंकि सत्य वास्तविक सम्बन्धों के क्रम का अनुकरण करता है। रसेल का मत है कि वास्तविक सत्ता में जिस प्रकार के सम्बन्धों का क्रम है, उसी के अनुकूल जो ज्ञान हो वही सत्य है। फलतः दृश्य पदार्थ का आधार हमारे मानसिक संवेदन नहीं हैं और पदार्थ-भेद का कारण हमारे मन से नहीं, वरन् भौतिक संसार से सम्बन्धित है। मानसिक संवेदन तथा उनके आधार विभिन्न प्रकार के हैं। यह मत प्रत्ययवादी बर्कले के मत से मेल नहीं खाता। पदार्थ को रसेल सब दृश्यों का समूहरूप मानता है, पर वस्तु की मानी हुई स्थिरता को वह व्यावहारिक कहता है, वास्तविक नहीं। उसके अनुसार पदार्थ के दृश्य-रूप कार्य-कारण-शृंखला में बँधे हुए हैं। नियमों द्वारा इस शृंखला से पीछे हटने पर हमें वस्तु का प्रारम्भिक स्वरूप मालूम होता है। इसी को रसेल ने 'वस्तु' (मैटर) कहा है। उसके मत में यही वस्तु एक प्रकार से स्थिर है और पदार्थ के विभिन्न दृश्यों की एकता का मूल भी यही है।

सैमुएल एलेक्जेंडर (१८५९-१९३९ ई०)—इस दार्शनिक ने सब का मूल देश-विशिष्ट काल को माना है। बर्गसाँ की भाँति एलेक्जेंडर भी यद्यपि काल को प्रधानता देता है, पर वह देश की उत्पत्ति काल से नहीं मानता। वह दोनों को एक दूसरे से सम्बन्धित बतलाता है। उसके अनुसार जो कुछ है, उसकी सत्ता देश-काल से ही है। इस दिग्कालरूप सत्ता का एकमात्र गुण गति है। इन्हीं मूल धारणाओं के आधार पर एलेक्जेंडर ने द्रव्य, कार्य, कारण, सत्ता आदि की व्याख्या की है। इस विचारक के अनुसार सामान्य की व्याख्या भी गति के शब्दों में दी जा सकती है, क्योंकि प्रत्येक गतिभेद के साथ एक प्रकार का व्यापक गुण लगा हुआ है, जो उसके संचालन का नियम है। यही सामान्यता है। एलेक्जेंडर का कहना है कि हमारा मन ज्ञान-प्रक्रियाओं का समूह मात्र है। वह हमारे स्नायुसंस्थान के एक नए गुण के विकास जैसा है। इन गुणों में मुख्य तथा गौण का भेद है और इनकी एक परम्परा है, जिसमें नीचे के गुण ऊपरी गुणों के आधार हैं तथा ऊपर से नीचे की व्याख्या होती है। वास्तव में, ऊपरवाले गुण नीचे के सार जैसे हैं। इस प्रकार गति का सार भौतिकता है तथा शरीर का सार मन है।

उपर्युक्त वस्तुवादी विचारक बहुत-सी बातों में ब्रिटिश वस्तुवादियों से सहमत हैं, किन्तु ज्ञान को वे केवल हमारे शारीरिक व्यवहार का एक प्रकार मानते हैं। इनके मतानुसार ज्ञान मन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में रहनेवाली कोई वस्तु नहीं है। इन सब में पीरी द्वारा प्रस्तुत ज्ञान की व्यावहारिक व्याख्या काफी स्पष्ट है। उसके अनुसार हमारा शरीर और बाह्य जगत् एक ही संस्थान के दो भाग हैं। ये दोनों भाग एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। उनका ज्ञान बाह्य पदार्थों के प्रति शारीरिक प्रतिक्रिया मात्र है। उधर होल्ट ने सत्ता को तार्किक सिद्धान्तों में घटाने का यत्न किया है और गुण को ही वस्तु बनाने की कोशिश की है। अन्य वस्तुवादियों ने जहाँ सामान्य बोधों को वास्तविक सत्ता प्रदान करने की चेष्टा की है, वहाँ होल्ट उक्त सामान्य बोधों को ही वस्तु का स्थान देना चाहता है।

साधारण वस्तुवाद के अतिरिक्त एक अन्य दार्शनिक विचारधारा भी विकसित हुई, जिसे 'परीक्षात्मक वस्तुवाद' की संज्ञा प्रदान की गई है। इस विचारधारा में जानने की क्रिया एवं तत्संबंधी परिस्थितियों की आलोचना द्वारा ज्ञान की परीक्षा करके उसका उचित मूल्य निर्धारित किया जाता है। इसका मुख्य प्रतिपादक ग्रन्थ परीक्षात्मक वस्तुवाद पर एक महत्वपूर्ण निबन्ध है, जो डुरेण्ट ड्रेक, आर्थर ओ० लव ज्वाय, जेम्स बी० प्रेट, आर्थर के० रोजर्स, जार्ज सान्तायन, रॉयवुड सेलर्स तथा जी० ए० स्ट्रांग के सामूहिक प्रयास का फल है।

तार्किक विश्लेषण तथा अनुभववाद

१९०० ई० के बाद पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा की दो मुख्य दिशाएँ हो गईं, जिनमें पहली प्रवृत्ति का आधार तर्कशास्त्र, गणित तथा विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति पर स्थापित था और दूसरी से स्वयं मनुष्य के अपने विषय में दिन-प्रतिदिन अधिक चिंतित होने की भावना प्रदर्शित हुई थी। इन्हें क्रमशः 'तार्किक विश्लेषण' तथा 'अस्तित्ववाद' की प्रवृत्तियों की संज्ञा दी गई।

जिस समय जर्मनी में रोमाण्टिक विचारधारा अपनी चरम सीमा पर थी, ब्रिटेन तथा फ्रांस के कुछ दार्शनिक १८ वीं सदी के अनुभववादी आदर्शों की ओर उन्मुख हो रहे थे। इनमें अग्रणी था जेरेमी बेन्थम (१७४८-१८३२ ई०), जो डेविड हर्टले, हल्वेटस तथा ह्यूम से अधिक प्रभावित था। इसका प्रमुख अनुयायी था जेम्स मिल (१७७३-१८३६ ई०), जो बुद्धिवादी दृष्टिकोण का समर्थक होते हुए भी इस बात से सहमत था कि मानसिक जगत् की व्याख्या प्राकृतिक शब्दावली में की जा सकती है। परिणामस्वरूप दार्शनिक विचारधारा अध्यात्मवाद अथवा बुद्धिवाद को भ्रमपूर्ण समझकर अनुभववाद के तार्किक विवेचन की ओर उन्मुख हुई। जेम्स मिल के सुपुत्र जान स्टुअर्ट मिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिस्टम ऑफ लाजिक' में इस अनुभववादी विचारधारा का समुचित प्रतिपादन किया और आगमन-तर्कशास्त्र को निगमन-तर्कशास्त्र से अधिक उपयोगी सिद्ध करके दार्शनिक चिंतन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग पर जोर दिया।

मिल की तार्किक विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त करके, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निगमनात्मक तर्क की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इन्हीं दिनों जार्ज बूले (१८१५-१८६४ ई०) ने अपने मुख्य ग्रंथ 'मैथमेटिकल एनैलिसिस ऑफ लाजिक' में एक ऐसी प्रवृत्ति का सूत्रपात किया, जिसने सामान्य पाठ्य-पुस्तकों में निहित निगमन-पद्धति के अपूर्ण तथा संकुचित स्वरूप को विकसित होने के हेतु बल प्रदान किया। इन्हीं दिनों गोटलाब फ्रेगे (१८८४-१९२५ ई०) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अंकगणित एवं तर्कशास्त्र एक ही श्रेणी के शास्त्र हैं और अंकगणित की सभी मौलिक मान्यताएँ तर्कशास्त्र के शब्दों में व्यक्त की जा सकती हैं। इस परम्परा में बूले, फ्रेगे, पियानो आदि गणितशास्त्रियों के मौलिक सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से व्यक्त तथा विकसित करने का प्रमुख श्रेय बर्टेंड रसेल एवं व्हाइटहेड की क्रान्तिकारी कृति 'प्रिन्सिपिया मैथेमेटिका' को है। इस ग्रन्थ ने अनुभववादी तथा विश्लेषणात्मक परम्परा को अकेले ही ऐसी गति तथा प्रेरणा प्रदान की कि २० वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सभी दार्शनिक विचारधाराओं को इसका लोहा मानना पड़ा।

परन्तु इस परम्परा का अनुगमन करनेवाले सभी विचारक एक ही दार्शनिक दृष्टिकोण के नहीं थे। वे दो वर्गों में बँटे हुए थे। पहले वर्ग का प्रमुख प्रतिनिधि तथा स्रोत था स्वयं बर्ट्रेंड रसेल। यह वर्ग दर्शन में वैज्ञानिक पद्धति का समावेश करना चाहता था। इस वर्ग के विचारकों का मत था कि तत्त्व-मीमांसा को अर्थहीन घोषित कर देने पर भी कुछ समस्याएँ शेष रह जाती हैं, जिनका समाधान प्राप्त करने की प्रक्रिया केवल आधुनिकतम तार्किक विधियों के पूर्ण प्रयोग तथा एक उपयुक्त एवं स्पष्ट तकनीकी शब्दावली की स्थापना द्वारा ही संपन्न की जा सकती है। रसेल के अतिरिक्त इस वर्ग के अन्य प्रतिनिधि विचारक हैं रूडॉल्फ कार्नेव, नाथोप आदि। दूसरे वर्ग को जन्म देने का श्रेय जी० ई० मूर तथा लुडविग विटगेन्स्टाइन को है। मूर ने सामान्य विवेक के पक्ष का समर्थन करके साधारण मनुष्य की दैनिक मान्यताओं की यथार्थता स्वीकार की। यह धारणा दार्शनिकों की संशयवादी प्रवृत्ति के विपरीत थी। विटगेन्स्टाइन ने अनेक परम्परागत दार्शनिक समस्याओं के थोथे स्वरूप को प्रदर्शित करने की चेष्टा की। उसके मतानुसार बहुत-सी गूढ़ दार्शनिक पहेलियों का मौलिक कारण

केवल भाषा की बहुमुखी शक्ति है। फलतः उनका समुचित समाधान प्राप्त करने के लिए भाषागत निरीक्षण आवश्यक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तार्किक भाववाद

उपर्युक्त तार्किक विश्लेषण सम्प्रदाय के दोनों ही वर्ग इस बात से पूरी तरह सहमत हैं कि दार्शनिक समस्याओं का समाधान भाषा-विश्लेषण-पद्धति से हो सकता है। पर जहाँ प्रथम वर्ग के विचारक एक ऐसी आदर्श भाषा की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, जो सभी दार्शनिक अस्पष्टताओं से रहित हो, वहाँ दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि, विशेषकर विटगेन्स्टाइन, दर्शन में विशेष शब्दावली की सम्भावना ही नहीं मानते। ये दर्शन में विशेष शब्दावली का प्रयोग नितान्त अवांछनीय मानते हैं, क्योंकि इनके अनुसार दार्शनिक का कार्य न तो सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करना है, न सृष्टि की व्याख्या करना ही। उसका कार्य तो केवल वर्णन करना है। यदि दार्शनिक यथार्थ वर्णन करता है, तो तथ्यरहित सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण करने का आकर्षण ही समाप्त हो जाता है। विटगेन्स्टाइन के इस दार्शनिक सिद्धान्त के परिष्कृत रूप को 'तार्किक भाववाद' की संज्ञा प्रदान की गई है।

तार्किक भाववाद का प्रतिपादन १९२० ई० के आसपास विएना में हुआ था। इसके अनुसार वैज्ञानिक ज्ञान ही एकमात्र तथ्यपूर्ण ज्ञान है और परंपरागत दार्शनिक सिद्धांत, जिन्हें तत्त्व-मीमांसा का मुख्य विषय माना जाता है, असत्य ही नहीं, वरन् निरर्थक भी हैं। इस मत के अनुसार दर्शन का वास्तविक स्वरूप द्रव्यात्मक न होकर क्रियात्मक है। वह सिद्धान्त नहीं वरन् क्रिया है—मात्र भाषा-विश्लेषण की क्रिया। अतः भाषा की व्याख्या ही दर्शन है और यह ठीक भी है; कारण, विश्व का वर्णन भाषा के माध्यम से ही सम्भव है। इस विएना-ग्रूप ने मिल तथा मैश के अनुभववाद को अपूर्ण बताया, क्योंकि तर्क तथा गणित सम्बन्धी सत्यों का समुचित निरूपण करने में वह असफल रहा था। १९२१ ई० में विटगेन्स्टाइन की सुविख्यात कृति "ट्रेक्टाट्स-लाजिको-फिलासॉफिकस" के प्रकाशन ने अर्थपूर्णता का एक नया सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो आंशिक रूप में रसेल, ह्वाइटहेड, पियानो, फ्रेगे आदि के अनुसन्धानों पर आधारित था। इस पुस्तक ने विएना-ग्रूप को एक तार्किक नींव प्रदान करके मारिज शिक्लल, रुडोल्फ कार्नप, फ्रेड्रिक वैसमान, ओटो न्यूरथ और हैंस राकेनवेक प्रभृति वैज्ञानिक दार्शनिकों को आकर्षित किया। इस प्रवृत्ति को अग्रसर करने में ए० जे० एयर की पुस्तक 'लैंगुएज, ट्रुथ एण्ड लाजिक' ने भी महत्वपूर्ण योग दिया।

अस्तित्ववाद

अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स पर कभी-कभी प्रतिबुद्धिवादी होने का दोषारोपण किया जाता था, क्योंकि उसने कुछ परिस्थितियों में मनुष्य की भावनात्मक प्रवृत्ति को प्रधानता देने की चेष्टा की थी। हेनरी बर्गसाँ भी प्रतिबुद्धिवादी कहा जाता था, कारण बुद्धि के स्थान पर वह प्रज्ञा को जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने में उपयुक्त साधन मानता था। परन्तु 'अस्तित्ववाद' के नाम से पुकारी जानेवाली बाद की दार्शनिक विचारधारा इनसे कहीं अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिबुद्धिवादी साबित हुई। इस धारा का प्रतिपादक डेनमार्क का विचारक सोरें कीर्केगार्ड (१८१३-१८५५ ई०) माना जाता है, जिसने हेगेल के आशावाद का कड़ा विरोध किया था। उसका कहना था कि चरम सत्य को बुद्धि द्वारा प्राप्त करने की धारणा चाहे जितनी भी परिष्कृत क्यों न हो, वह वास्तविक तथ्यों के समक्ष नहीं ठहर पाती, क्योंकि वास्तविक जगत् में कुछ ऐसे भी अनर्गल तत्त्व विद्यमान हैं, जिनकी समुचित व्याख्या किसी भी बौद्धिक सिद्धान्त द्वारा नहीं दी जा सकती है। इस विचारक के अनुसार निर्णय ही एक ऐसा साधन है, जो इन तत्त्वों का निरूपण कर सकता है। उसका कहना है कि मानव मन को व्यवहार-जगत् के तथ्यों की बौद्धिक ग्राह्यता सम्पूर्ण नहीं बना सकती, चाहे वह कितनी भी बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो। मनुष्य जब कोई निर्णय लेता है, तो उसे स्वयं को उत्तरदायी बनाना पड़ता है और उसकी यह कृति उसे एक ऐसे आधार की ओर ढकेल ले जाती है, जहाँ उसे तुरंत अपना 'अस्तित्व' स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। कीर्केगार्ड का प्रभाव कुछ समय तक तो नगण्य रहा, पर २० वीं सदी में उसके मत का काफी प्रचार हुआ। उसके दर्शन का पुनरुद्धार करने का प्रमुख श्रेय जर्मन दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर को है। इन्हीं दो विचारकों का पल्ला पकड़कर अस्तित्ववादियों ने धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। इस धारा के उत्तरकालीन विचारकों में ज्याँ पाल सार्त्रे, गैब्रियल मार्सेल, कार्ल जास्पर्स आदि मुख्य हैं।

इस प्रकार आधुनिकतम दार्शनिक प्रवृत्तियों का प्रवाह परम्परागत तत्त्व-मीमांसा, नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र आदि से बहुत दूर पहुँच गया है। उसका वर्तमान दौर मुख्य रूप से इस समस्या से जूझ रहा है कि मनुष्य किस प्रकार उत्तरोत्तर वैज्ञानिक उन्नति के पथ पर अग्रसर संसार में जीवित रहकर स्वयं को सृष्टि के अनुकूल बना सकता है, ताकि इस परिवर्तनशील जगत् में विज्ञान की विध्वंसक शक्तियों के बीच वह अपना अस्तित्व बनाए रह सके।

* *

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh